* ॐ तत्सत् *

अथ

ईश्वर देवताओं का संवाद

और

ईश्वर का जीवरूप से देह में प्रवेश

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥

जिसको

श्रीमत्परमहंस स्वामी गुजरसिंहजी महाराज ने अतिपुरुषार्थ से मुमुक्षुजनों के हितार्थ निर्माण किया ।

और

ला० दीवानचन्द पुरी गुजरात

ने

बाम्बे मैशीन प्रेस, मोहनलाल रोड, लाहौर में मैनेजर पं० शरच्चन्द्र लखणपाल के प्रबन्ध से छपवाकर प्रकाशित किया ।

सं० १९८६ वि० सन् १९२९ ई०

द्वितीयावृत्ति १०००] [मूल्य

भूमिका।

तावद्गर्जंति शास्त्राणि जंबुका विपिने यथा । न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदांत केशरी ।

सच्चिदानन्द स्वरूप माया विशिष्ट जो परमेश्वर है सो आकाश से आदि लैकै स्थूल देह पर्यंत जगत की रचना रचि करिकै। तिसी विषे जीव रूप सैं प्रवेश करता भया । तिस तैं पूर्व ही जैसे भांग के पीने हारा पुरुष भांग के पान से प्रथम ही खटाई आदिक ममाद के निवर्तक पदार्थों को अपने पास रख लेता है । तैसे ही ईश्वर परमात्मा संसार के विषय रूप मद के निवर्तक साधन चारों वेदों को श्वासवत अनायास सैं प्रगट करता भया । यह चारों वेद अनादि हैं । तथा ईश्वर रचित होने तैं परम प्रमाण रूप हैं । और जीव रचित नहीं हैं। या तैं अपौरुषय हैं। किंवा पुरुष रचित वाक्य भ्रांति प्रमाद विप्रलिप्सा और साधनों की अपूर्णता इन चारों दोषों करिकै युक्त होने तैं स्वतः प्रमाण नहीं । किंतु वेदानुसारी प्रमाण हैं । और वेद विरुद्ध प्रमाण नहीं है। उक्त चारों दोषों से रहित ईश्वर रचित वेद स्वतः प्रमाण रूप हैं । या तैं अपनी माया सैं संसार दशा को प्राप्त भये परमात्मा को अर्थात जीव रूप सैं देह में प्रवेश से अनन्तर जब शमदमादि साधनों को तथा तिन चारों वेदों को आश्रय करता है । तब जन्म मृत्यु रूप संसार समुद्र तैं पार मोक्ष को प्राप्त होता है।

शंका—परमात्मा का इस देह में जीव रूप से प्रवेश ता मैं कौन प्रमाण है। समाधान—परमात्मा का इस देह में जीव रूप से प्रवेश को साक्षात श्रुति भगवती प्रतिपादन करै है। तहां श्रुति—

यदिदं किंच तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् । तैति॰ उ॰ अनुवाकः ६ ॥

अर्थ—ईश्वर इस सर्व जगत को सृजता भया। यावत यह नाम रूप जगत है। तिस को सृज के तिस ही सृजे हुये नाम रूप प्रपंच में आप परमात्मा प्रवेश करता भया । तिस नाम रूप जगत में प्रवेश करिकै (सच्च) मूर्त रूप तथा (त्यच्च) अमूर्त रूप होता भया । जैसे स्थूल शरीर विषे वात पित्त कफ भेद तैं तीन प्रकार के दोष होवै हैं। वे दोष रोग के कारण हैं । तिन की निवृत्ति वास्तैं धन्वंतरि भगवान नैं आयुर्वेद प्रगट कीया है । तैसे मन विषे मल विक्षेप आवरण भेद तैं दोष तीन प्रकार के होवै हैं। तीनों दोष जन्म मृत्यु रूप संसार के कारण हैं । तिन की निवृत्ति वास्तैं ईश्वर परमात्मा देव नैं चारों वेदों को उत्पन्न किया है तिन में कर्म कांड उपासना कांड और ज्ञान कांड यह तीन कांड हैं । मल नाम पाप का है । ता की निवृत्ति कर्म कांड विषे निष्काम कर्म के अनुष्ठान से होवै है। और विक्षेप नाम चंचलता का है । ता की निवृत्ति उपासना कांड विषे सगुण ब्रह्म की उपासना सैं होवै है। आवरण नाम अज्ञान का है । तिस की निवृत्ति ज्ञान कांड विषे ब्रह्म भिन्नात्मा के ज्ञान से होवै है । या तैं इस जन्म विषे अथवा पूर्व जन्म विषे किये कर्म उपासना सैं जिन के मल तथा विक्षेप दोष निवृत्ति हुये हैं । तिन को

विवेक, वैराग्य, षट संपति, और मुमुक्षुता यह चारों साधन प्राप्त होवै है। केवल आवरण दोष ही शेष रहै है। तदनन्तर हाथ में भेटा लेकर समित्पाणि हो कर गुरु के समीप जावै है। तहां श्रुति—

तद्विज्ञानार्थं सगुरु मेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

ऐसे अधिकारी पुरुष इस उपनिषद् ज्ञान कांड को ब्रह्म निष्ठ गुरुद्वारा श्रवण करिकै। तिस श्रवण किये ब्रह्मात्मा की एकता रूप अर्थ कामनन निदिध्यासन करिकै स्वरूप के साक्षात्कार से सर्व अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ उपनिषत नहीं है। तथापि इस ग्रन्थ में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरेय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कैवल्य, तेजोबिंदु, मैत्रेय, निरालंब, परमहंस, आत्मबोध, ब्रह्मविंदु, परब्रह्म, योगतत्त्वो, वज्रसूचि, शुक्रो, वराहादिक १०८ उपनिषदों के मन्त्र तथा तिन के अर्थ लिखे हैं। या तैं यह ग्रन्थ भी उपनिषद रूप ही है। और गीता, आत्मपुराण, योग वशिष्ठ, अपरोक्षानुभूति, पंचदशी, भागवत ११ स्कंध कल्किपुराण, ब्रह्म गीता, अध्यात्म रामायण, के प्रमाणों से आत्मा की अद्वितीय रूपता सिद्ध की है। इस लिये ऐसा ग्रन्थ इस से प्रथम भाषा के पाठकों की दृष्टि गोचर नहीं हुआ है। जैसे हस्ति के पाद में सर्व गौ आदिकों के पाद अन्तर गत ही होवै हैं। तैसे इस ईश्वर देवताओं के सम्वाद रूप ग्रन्थ में सर्व वेदांत ग्रन्थ अन्तर गत ही हैं। इस एक ग्रन्थ के विचार करने से सर्व वेदांत ग्रन्थों का विचार प्राप्त होवै है। जैसे मूल सिंचन न्याय की न्याई एक विष्णु [illegible] के पूजन से सर्व देवताओं का पूजन होता है। तथा जैसे एक गंगा जी के स्नान से सर्व तीर्थों का स्नान होता है। तैसे ही इस ईश्वर देवताओं के संवाद के विचार सैं सर्व वेद उपनिषद् गीता आत्मपुराण ब्रह्म सूत्र मनुस्मृति ब्रह्म गीता यावत ब्रह्म विद्या के प्रकरण हैं। तिन सर्व का ही विचार प्राप्त होता है। इस लिये यह ग्रन्थ सर्व भाषा ग्रन्थों से अत्यंत श्रेष्ठ है। और जैसे विष्णु भगवान नैं क्षीर सागर को मथन करिकै १४ रत्न निकाल करिकै देवताओं की तृप्ति की तथा अमृत पान करा के अमर किया था। और अमृत को पान करिकै ही देवता विजय को प्राप्त हुये थे। और दैत्य पराजय को प्राप्त हुये थे। तैसे ही उपनिषद् गीता आत्मपुराण योगवशिष्ठ कल्किपुराण ब्रह्म गीतादिक समुद्र को मथन करिकै हमने अति परिश्रम से ब्रह्माभिन्नात्मा के बोधक वाक्य रूप अमृत को निकाल कर आप महात्मा सज्जन पुरुषों के नैवेद किये हैं। आप सज्जन महात्मा देवता रूप हैं। ब्रह्मा भिन्ना आत्मा की एकता रूप अमृत को पान करिकै अज्ञान रूप शत्रु राजा को तथा काम क्रोधादिक सैना को पराजय करोगे। और आप सज्जन महात्मा विजय को प्राप्त होइकै मोक्ष रूप स्वराज्य को प्राप्त होवैगे। तहां श्लोक—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। प्रपन्नात्मतया जीवः स्वराज्यमधि गच्छति। मनु० अ० १२॥

और क्षीरसागर के मथन से प्राप्त अमृत के पान से आयु वृद्ध ही होती है। जन्ममृत्यु की निवृत्ति रूप मोक्ष नहीं होता। और इन

ब्रह्माभिन्नात्मा के ... वाक्य रूप अमृत के पान करने से जन्ममृत्यु तथा अध्यात्मिक अधि भौतिक अधिदैविक तापरूप सर्व अनर्थों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। यातैं क्षीरसागर से निकाले अमृत से यह अद्वितीय आत्मा के बोधक वाक्य रूप अमृत असन्त श्रेष्ठ हैं। काहे तैं ब्रह्माभिन्नात्मा के ज्ञान से ही सर्व अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति श्रुति में लिखी है। तहां श्रुति—

एकोहꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।

श्वेताश्वे० उ० अ० ६ मं० १५॥

अर्थ—इस जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप भुवन के मध्य में एक अद्वितीय ब्रह्मरूप हंस है। (एकामवस्थां हत्वा अवस्थांतरं गच्छतिति हंसः। एक जाग्रत अवस्था को हनन करके दूसरी स्वप्नावस्था को प्राप्त होवे जो वस्तु सो हंस कही जावे है। और यह चेतन जीव जाग्रत अवस्था अथवा स्थूल प्रपंचावस्था को हनन करके स्वप्नावस्था वा विराटावस्था की बीजरूप हिरण्यगर्भावस्था को प्राप्त होता है है। पुनः गुरू उपदेश से (अहं ब्रह्मपरिपूर्णात्मास्मीति।) इस बोध को प्राप्त हो करके सुषुप्ति अवस्था को और तिसके कारण अज्ञान को तथा अज्ञान जन्य द्वैत प्रपंच भ्रम को नाश करके परिपूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। इस वास्तैं हंस नाम से कहाता है। सोई ही हंस (सलिले) कहिये प्रकृति तथा तिसके कार्य रूप वर्ग में (संनिविष्टः) स्थित हुआ अग्निवत होने तैं अग्नि है। जैसे काष्ठ में वर्तमान अग्नि काष्ठों करके तिरस्कृत हुई मथन रूप उपाय से निकाली हुई उन काष्ठों को दग्ध करके शांत होती है। तैसे प्रकृति तथा तिसके कार्य में वर्तमान तिन से तिरस्कृत तुल हुआ जब गुरु शिष्य रूप दो काष्ठों से मथन करके प्रगट होता है। तब सर्व कारण कार्य वर्ग को दग्ध करिकै स्वस्वरूपावस्था रूप मोक्ष को प्राप्त होता है। इस वास्तैं चिन्मात्र वस्तु को अग्नि शब्द से बोधन किया है। तिस चिन्मात्र वस्तु को जान करिकै (मृत्युम्) जन्म मरण प्रवाह को (असेति) तर जाता है। (आयनाय) मोक्ष के वास्तैं (अन्यः पंथा न विद्यते) अन्य मार्ग नहीं है। तात्पर्य यह है। पूर्व उक्त एक तत्त्व के ज्ञान सैं विना दूसरा कोई मोक्ष का रस्ता नहीं है कलिकाल में पुरुष अनेक दुःखित रहिते हैं। और सभी चाहते हैं कि हमारा दुःख निवृत्त हो जावै। इस विषय मैं यह विचार है कि संसार के दुःख यद्यपि क्षण घडी पक्ष मास वर्ष इत्यादिक नियमित काल की औषधी मन्त्रादिकों से भी निवृत्ति हो सकते हैं। परन्तु असन्त निवृत्त नहीं हो सकते। कि जिससे मुक्त होजावे। क्योंकि मुक्ति तो ब्रह्मज्ञान से विना कदापि नहीं हो सक्ती है।

न योगेन न सांख्येन न कर्मणा नो न विद्याया। ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धियति नान्यथा।

इसलिये दुःखों की असन्त निवृत्ति के

वासतैं पुरुष को महान पुरुषार्थ का आश्रय करके ब्रह्मज्ञान को ही सम्पादन करना चाहिये जिससे पुनः दुःखों का दर्शन नहीं होवे। इस ग्रन्थ मैं द्वैष करके कोई पन्थ की निंदा नहीं है और पक्ष करके किसी पंथ की स्तुति नहीं है। तैसे न इस [illegible] या धर्म का प्रतिपादन है। किंतु या मैं केवल आत्मज्ञान का ही प्रतिपादन है जों सर्व का निज धर्म है। तिसका प्रकार ही अनेक श्रुति तथा युक्तियों करके दिखाया है।

इति श्रीमत्परमहंस स्वामी गुज्जरसिंह विरचिता भूमिका समाप्त।

...ओं के सम्वाद के श्लोकों की अनुक्रमणिका।

श्रीस्वामी गुज्जरसिंहजी महाराज ।

* ओं श्रीगणेशायनमः *

हरिः ओं तत्सत् ।

अथ ईश्वर देवताओं का संवाद ।

ऐश्वर्यं परमं तत्वमादिमध्यांत वर्जितम् । आधारं सर्वलोकानामना धारम विक्रियम् ॥१॥

अर्थ—परमशुद्धतत्वरूपजो ईश्वर है तथा आदि मध्य तथा अन्तसे जो रहित है । और सर्वस्थावर जङ्गम रूप लोकोंका अधार है आप अनाधार है तथा क्रिया रहित है ॥१॥

सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णायाक्लिष्ट कर्मणे । नमोवेदांतवेद्याय गुरुवेबुद्धिसाक्षिणे ॥२॥

अर्थ—सत्‌चित् अनन्दरूप तथा उत्पत्ति पालन संहार अक्लिष्टकर्मके करने वाले तथा वेदांतविद्यासे जानने योग्य तथा सर्वके गुरुरूप तथा बुद्धिके साक्षि श्रीकृष्णको मेरी नमस्कार होवे ॥२॥

ओं चित्सदानन्द रूपाय सर्वधीवृत्ति साक्षिणे । नमोवेदांत वेद्याय ब्रह्मणे ऽनन्तरूपिणे ॥३॥

अर्थ—सतचित् आनन्दस्वरूप तथा सर्वबुद्धिकी वृत्तियों के साक्षी तथा वेदांत विद्या करिकै जानने योग्य तथा देश काल वस्तुके परिच्छेद से रहित ऐसे ब्रह्म को मेरी नमस्कार होवे ॥३॥

सच्चिदानन्दस्वरूप मायाविशिष्ट जो परमेश्वर है सो अकाश से आदि लैकै समष्टि व्यष्टि स्थूल देहपर्यन्त जगत्‌की रचना रचि करिकै तिस विषे जीवरूप से आप परमात्मा प्रवेश करता भया । तिसतैं पूर्व ही जैसे भांगके पान करने हारा पुरुष भांगके पानसे प्रथम ही भांग के प्रमादके निवर्तिक खट्टाई आदिक पदार्थोंको पास त्यार करिकै रखलेता है । तैसे ही ईश्वर परमात्मा संसारके विषयरूप मदके निवर्त्तिक साधनच्यारिवेदोंको श्वासवत् अनायाससे प्रकट करता भया । तहां श्लोक ॥

खंवायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषिसत्त्वानिदिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४॥

एकादशस्कन्ध भा० अ० २ श्लोक ॥४१॥

अर्थ—अकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नक्षत्रादिक ज्योति जीवजन्तु दिशायें वृक्षादिक नदियां समुद्र और दूसरा भी जो कुछ नामरूप पदार्थ है वह सर्व ही भगवत् का शरीर है ॥४॥

यह च्यारि वेद अनादि हैं तथा ईश्वर रचित है यातैं परमप्रमाणरूप हैं। जीव रचित नहीं हैं यातैं अपौरुषय हैं। किंवा पुरुष रचित वाक्य भ्रांति प्रमाद विप्र लिप्सा और साधनों की अपूर्णता इन च्यारों दोषोंसे युक्त होनेतैं स्वतः प्रमाण नहीं किंतु वेदानुसारी प्रमाण हैं और वेद विरुद्ध अप्रमाण हैं। इस ग्रन्थ में ईशादिक अष्टोत्तरशतोपनिषदूके १०८ मन्त्र प्रमाणसे तथा गीता तथा अन्य ब्रह्मगीता योगवासिष्ठ आत्मपुराण तथा कल्किपुराण अध्यात्मरुमैणादिक अन्य ग्रन्थोंके वाक्य प्रमाणों से आत्मा की अद्वितीयरूपता सिद्धकी है। मोक्षार्थी पुरुषों के वास्ते यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। काहेतैं ज्ञानसे विना मोक्षका होना अत्यन्त असम्भव है जैसे (रिते ज्ञानान्न मुक्तिः) इस ग्रन्थके पाठ मात्रसे ही ज्ञान अवश्य होवेगा। यातैं मोक्षमें संशयं नहीं है। और जैसे आत्मासजातीय विजातीय स्वगत भेदसे रहित अद्वितीयरूप है तैसे तिस आत्मा का प्रतिपादक यह ग्रन्थ भी अद्वितीय रूप है। अर्थात इस ग्रन्थका अध्यायरूप विभाग नहीं किया केवल श्रुति स्मृति आदिक प्रमाणोंसे तथा नाना प्रकारके दृष्टांतोंसे एक अद्वितीय आत्माका ही निरूपण किया है। इसलिये इस ग्रन्थके अध्यायरूप विभाग नहीं किये। इस ग्रन्थ में मूल श्रुति स्मृति श्लोक सर्व ग्रन्थोंके संग्रह करिकै ॥१८३३॥ प्रमाण दिये हैं। तहां परमकृपालुजो परमेश्वर है सो सृष्टिकै आदि काल विषे जीवोंके मोक्षके वास्ते वेदों को रचिता भया। तहां प्रथम कर्मकाण्ड विषे जीवोंके चित्तशुद्धिके वास्तेवर्णाश्रमोंके धर्मोंको निरुपण करता भया। तहां श्रुति ॥

स्ववर्णाऽऽश्रमधर्मेणत पसागुरुतोषणात्। साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादि चतुष्टयम् ॥५॥

वराह० उ० अ० २ मं० २॥

अर्थ—आपनै २ वर्णाश्रमके धर्मोंको धारण करनेसे अर्थात् ब्राह्मणोंको वेद पढ़ना वेद पढ़ाना यज्ञ करना यज्ञ कराना दान लेना दान देना। इन छः कर्मोंको करिकै तथा क्षत्रियोंको प्रजा पालन करनेसे वैश्यको कृषिव्यापार कर्म करने सें शुद्रको ब्राह्मणादिक चारों वर्णोंकी सेवा करनेसे आश्रम धारण करनेसे अर्थात् ब्रह्मचर्य अवस्थामें गुरुकी सेवा करनेसे गृहस्थाश्रममें पुत्र उत्पन्न करनेसे वानप्रस्थाश्रममे स्त्री सहित वा अकेला वनमें जाकर ब्रह्मचर्य धारण करिकै अग्नि होत्रादिक कर्म तथा ईश्वरका अराधन करनेसे संन्यासाश्रममें सर्वकर्म त्याग करने से और हरिः का कीर्तन कर ईश्वरको प्रसन्न करने से तथा गुरुको प्रसन्न करनेसे मनुष्योंको वैराग्य नित्यानित्य वस्तुका विवेक शमदमादिक षट सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता यह च्यारि साधन प्राप्त होवै हैं ॥५॥

स्ववर्णाश्रम घर्मेण तपसाहरितोषणात्। साधनं च भवेत्पुंसां वैराग्यादि चतुष्टम् ॥६॥ अपरोक्षा०

दूसराजो उपासना कांड है ताविषे जीवों के चित्तशुद्धि अर्थात विक्षेपताकी निवृत्तिके वास्ते नाना प्रकारकी उपासनाको निरूपण करता भया। तीसराजो उपनिषदूरूप ज्ञानकांड है तांविषे निषकामकर्म उपासना करिकै शुद्ध

भया है चित्त जिन्होंका ऐसे जो मुमुक्षु हैं। तिनोंके ब्रह्मभावकी प्राप्ति वास्ते तथा जन्म मरणकी निवृत्तिरूप मोक्षके वास्ते जीवब्रह्मके अभेद को प्रतिपादन करता भया । यह कहनेतैं यह अर्थ सिद्ध भया कि संपूर्णवेद जीवब्रह्मके अभेदके ही प्रतिपादक हैं। जीवब्रह्मके भेदके प्रतिपादक नहीं हैं । काहेतैं जीवब्रह्मके भेदको देखने वाला जो पुरुष है ताको वेद विषे भय की प्राप्ति कही है तहां श्रुति ॥

द्वितीयाद्वैभयं भवति मृत्योः स मृत्यु माप्नोतिय इहनानेव पश्यति । अन्योऽसावन्यो हमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम् ॥७॥ कठोप० ।

अर्थ—जो पुरुष इस परमात्मा विषे नाना की न्याई देखता है सो मृत्युतैं मृत्युको प्राप्त होता है । अहं मैं अन्य हूं सो परमात्मा देव अन्य है ऐसे पुरुष यथार्थ नहीं देखता जैसे पशु देखता है सो देवताओं का पशु है ॥७॥

यस्य श्रवणमात्रेणा श्रुतमेव श्रुतं भवेत । अमतं च मतंज्ञातमविज्ञातं च शाकल ॥ ८ ॥ एकेनैव तु पिण्डेन मृतिकायाश्च गौतम । विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नही कार्यकम् ॥९॥ एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा । विज्ञातं स्यादथैकेन नखानं कृतंनेन च ॥ १० ॥ कारणाभिन्न रूपेण कार्य कारणमेवही ॥ ११ ॥

पंचब्रह्मोपनिषद् २८ । २९ । ३० । ३१ ।

अर्थ—जिस एक ब्रह्म के श्रवण मात्र से जो अश्रुत पदार्थों का भी श्रवण होजाता है। तथा अमनन पदार्थों का भीमनन होजाता है तथा हे शाकल अज्ञात पदार्थ भी ज्ञात होजाते हैं ॥८॥ हे गौतम जैसे एक मृत पिण्ड के ज्ञान से सर्वेही मृतिकाके कार्य घटशरादादिकों का मृतिका रूपसे ही ग्रहण और ज्ञान होवे है और मृतिका से अभिन्न ही मृतिका का कार्य घट-शरावादिक होवैं हैं ॥९॥ तथा जैसे एक लोह मणियों के सर्व कार्य लोहमय नखानं कृतनी ना हेरना कैंचि आदिकों को लोहमणि रूपसे एक वस्तु का ही ज्ञान होवे है भिन्न नहीं ॥१०॥ तथा कार्य कारण की अभेद रूपसे ही स्थिति देखने में आति है भेद नहीं ॥११॥ मन्त्र २८–२९–३०–३१ किंवा जीव ईश्वरके भेद को ही जो वेद बोधन करे तो वेद अप्रमाण होवेगा । काहेतैं जीव ईश्वर का भेद मैं ईश्वर नहीं हूं, यह लोकों के अनुभव करके सिद्ध ही है । लोकों करके नहीं जान्या हुआ जो अर्थ है तथा जो अर्थ फलवाला होवे तांको बोधन करके ही वेदों की परमाणता शास्त्र विषे कही है । जीवब्रह्मका भेद लोक विषे प्रसिद्ध ही है । और भेदज्ञान से मोक्षरूप फलकी भी प्राप्ति होवे नहीं । उलटा जन्म मरणरूप दुःखकी ही प्राप्ति होवे है । यातें भेदके जनावणे में वेदों का तात्पर्य नहीं है । यह परमेश्वर का तात्पर्य है । जैसे एक सुवर्ण से भूषण उत्पन्न होवे हैं ते भूषण सुवर्णरूप ही होवे हैं । तथा जैसे एक मृतिकासे घटशरावरूप कार्य उत्पन्न होवे हैं । तेघटश रावा (पियाला) दिककार्य मृतिकारूप ही होवे हैं । तैसे ही एक अद्वितीय परमात्मा

देवसे सर्व नामरूप प्रपंच की उत्पत्ति हुई है तो यह प्रपंच ईश्वररूप ही ही है। ईश्वरसे यह प्रपंच भिन्न नहीं है ॥ तहांश्रुति ॥

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१२॥ ईशा० उ० मं० १

अर्थ—ईश जो परमात्मा है तिसने यह जगतव्याप्तकरा है जैसे मृतिकाने घटशरावादिक कार्य व्याप्तकरे हैं। अभिप्राय यह है जैसे मृतिका ही घटशरावादिकरूपसे स्थित हो रही है। मृतिकासे भिन्न कदाचित् भी घटशरावादिक नहीं हैं। तैसे परमात्मा ही जगत रूपसे स्थित हो रहा है। यातैं जो कुछ नाम रूप जगत इस पृथवी मण्डलमें प्रतीत होता है सो ईश्वरसे पृथक् नहीं है। और ईश्वररूप ही जीवात्मा है। यातें जीवात्मासें भी यह जगत् पृथक् नहीं। ऐसे आपने स्वरूप आत्मासे विमुख करने हारे जो स्त्री पुत्र धनादिक पदार्थ हैं। तिनमे रागको त्यागके आपने आत्माका पालनकरो। किसीके धनकी इच्छा मतकरो। धनतो झूठा होने से किसी का भी नहीं है। जैसे गंधर्व नगर अकाशसे भिन्न नहीं तैसे यह जगत् परमात्मासे भिन्न नहीं है। ऐसे अधिकारी पुरुषों को वेद भगवान उपदेश करे हैं। इसप्रकार वेदकी आज्ञामानो ॥१२॥

ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१३॥ गीता अ० १४ श्लोक ३ ॥

अर्थ—हे भारतमैं कृष्ण भगवानकी योनि स्थान महान माया है तिस ब्रह्म रूप माया विषे संकल्प रूप वा चिदाभास रूप गर्भको धारण करता हूं (सोऽकाम यत । बहुस्यां प्रजायेयेति) (नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति ।) इस संकल्परूप गर्भको धारण करता हूं। तिस संकल्परूप गर्भतें सर्वनामरूप प्रपंच की उत्पत्ति होवै है ॥१३॥

सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवंति यः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥१४॥ गीता अ० १४ श्लोक ४ ॥

अर्थ—हे कौंतेय देवादिक सर्वयोनियों विषेजो शरीर उत्पन्न होवै हैं तिन शरीरोंका सामायाही मातारूप है। मैं परमेश्वर तो गर्भाधानका कर्ता पितारूप हूं ।.१४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवः । निबध्नंति महाबाहो देहेदेहिन मव्ययं ॥१५॥ गीता अ० १४ श्लोक ॥५॥

अद्वैतपरमा नन्दलक्षणस्यादि नारायणस्योन्मेषनिमेषाभ्यां । मूलाविद्योदयस्थितिल याजा यन्ते ॥ १६ ॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषत् ॥ अ० २

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगत भेदसें रहित अद्वितीय परमात्मा नारायण सत् चितानन्दरूप लक्षणयुक्त नारायणसें उनमेषनिमेषत। मूला अविद्या उत्पन्न स्थित लय को प्राप्त होवै है ॥१६॥

कदाचिदात्मारामस्याखिल परिपूर्णस्यादिनारायणस्य । स्वेच्छानुसारेणोन्मेषो जायते तस्मात्परब्रह्मणोसर्व कारणे

मूलकारणाव्यक्ताविर्भावो भवति॥१७॥

अ० २

अर्थ--कदाचिदात्मारामसें अखिलपरिपूर्ण आदि नारायणसें। स्वेच्छानुसार उनमेष उत्पन्न होवै है। तिस परब्रह्मसें सर्व कारणोकामूल कारण अव्यक्त माया प्रगट होवै है ॥१७॥

अव्यक्तान्मूलाविर्भावो मूलाविद्याविर्भावश्च। तस्मादेवसच्छन्दवाच्यं ब्रह्माविद्याशबलं भवति ॥१८॥ अ०२

अर्थ—(तिसअव्यक्तसें मूलाविद्या परगट होती भई। तथा तिस मूलाविद्याके अवर्भावते तिस कारणसे परमात्मादेव सत शब्दका वाच्यार्थ होता भया। तथा ब्रह्म अविद्या सबल अर्थात माया वासिष्ठ होता भया ॥१८॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।१९।

(गी०अ० ९ श्लो० १०)

अर्थ–हे कौन्तेय प्रकाशरूप मैं परमेश्वरने प्रकाशित करी हुई मायारूप प्रकृति ही इस चराचर सहित जगतको उत्पन्न करे है, इसी प्रकाशकत्व निमित्त करके यह जगत विविध प्रकार तैं परिवर्तमानहोता है ॥१९॥

ततो महत् महतोऽहंकारः। अहंकारात्पंच तन्मात्राणि पंच तन्मात्रेभ्यः पंचमहाभूतानि ॥ २० ॥

(त्रिपाद्विभूति० अ० २)

अर्थ–तिस मायासबल नारायणसे महतत्त्व होता भया, तिस महतत्त्व से अहंकार होता भया, तिस अहंकारसे पञ्चतन्मात्रा पंचतन्मात्रा से पंचमहाभूत होते भये ॥ २० ॥

पंचमहाभूतेभ्यो ब्रह्मैकपादव्याप्तमेकमविद्याण्डं जायते। तत्र तत्त्वतो गुणातीतशुद्ध सत्त्वमयोलीलागृहीत निरतिशयानन्दलक्षणो मायापाधिको नारायण आसीत् ॥ २१ ॥

(त्रिपाद्वि० अ० २)

अर्थ–तिन महाभूतोंतें ब्रह्मका एकपादव्याप्त होकर तिस एकपादमें ही अविद्या से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता भया। सो तत्त्वशुद्ध गुणातीत शुद्ध सतोगुणमें ये लीलाविग्रह निरतिशयानन्द लक्षणयुक्त मायोपाधिवाला नारायण होता भया ॥२१॥

स एव नित्यपरिपूर्णः पादविभूति वैकुण्ठनारायणः। सचानंतकोटिब्रह्माण्डानामुदयस्थितिलयाद्याखिल कार्यकारण जालपरमकारण कारणभूतो महामायातीतस्तुरीयः परमेश्वरो जयति ॥ २२ ॥

त्रिपाद्वि० अ० २

अर्थ–सो नारायण इसप्रकार नित्य परिपूर्ण वैकुण्ठरूपपाद्विभूतिसहित नारायण सचचितानन्द परमात्मादेव अनेककोटि ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न स्थिति लयादिक अखिल कार्यकारणजाल सर्वका परारूप अकारणरूप हुआ भी सर्वका कारणरूप महामाया से अतीत परमेश्वर तुरीयारूप की जय होवे ॥ २२ ॥

तस्मात्स्थूलविराट् स्वरूपोजायते। स सर्वकारणमूलं विराटस्वरूपो भवति ॥ २३ ॥

अर्थ–तिस नारायण से ही स्थूल समष्टि विराटरूप जायते सो सर्वव्याष्टि स्थूल का मूलकारण विराटस्वरूप होता भया ॥ २३ ॥

स चानन्तशीर्षापुरुष अनन्ताक्षि पाणिपादो भवति । अनन्त श्रवणः सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥ २४ ॥

त्रिपा० अ० २

अर्थ–सो परमात्मादेव अनन्त शिरोंवाला होता भया, तथा सो परमात्मा पुरुष अनन्त अक्षिवाला होता भया, तथा सो नारायण अनन्त हाथ पांव वाला होता भया, तथा सो परमात्मादेव अनन्त श्रोत्रवाला होकर सर्व को व्याप्त करके स्थित है ॥ २४ ॥

सर्वव्यापको भवति सगुणनिर्गुण स्वरूपो भवति । ज्ञानबलैश्वर्यशक्तितेजा स्वरूपो भवति ॥२५॥

सो परमात्मादेव सर्वव्यापक होता भया तथासो नारायण सगुण निर्गुणरूप होता भया । तथा सर्वज्ञता ज्ञानरूप बल वाला होता भया तथा ऐश्वर्य रूप सर्व शक्ति तथा तेज रूप होता भया ॥२५॥

विविधविचित्रानन्त जगदकारो भवति । निरतिशयानन्द मयानन्त-परमाविभूति समष्ठ्याविश्वाकारो भवति ॥२६॥ त्रिपा० अ० २

अर्थ—नाना प्रकार और विचित्र अनन्त प्रकार के जगदाकार को प्राप्त होता भया और निरतिशय आनन्दमय अनन्त परमसमष्टि विभूति तथा प्रतिबिम्बाकार को प्राप्त भया ॥२६॥

निरतिशयंनिरंकुश सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वनियंतृत्वाद्यनंतकल्याण गुणाकारो भवति । वाचामगोचरानन्त दिव्यतेजो-राश्याकारो भवति ॥२७॥ त्रिपद्वि० अध्याय२

अर्थ–निरतिशय निरंकुश सर्वज्ञसर्वशक्ति सर्वका नियन्तारूप तथा अनन्त कल्याणरूप गुणवाला होता भया, और मनबाणी का अविषय अनन्त दिव्यतेजोंका राशीरूप होता भया ॥ २७॥

समस्ताविद्याण्डव्यापको भवति । सचानन्त महामाया विलासा नाम धिष्ठानविशेष निरतिशयाद्वैत परमान-न्दलक्षण परब्रह्मविलास विग्रहो भवति ॥ २८ ॥ त्रिपाद्वि० अ० २ ॥

अर्थ–समस्त अविद्यारचित ब्रह्माण्डमें व्यापकरूपसे स्थित होता भया सो । नारायण अनन्त महामायाका कार्यप्रपञ्चका अधिष्ठानरूपसे तथा स्थित होताभया । विशेष करके निरतिशय अद्वैत परमानन्द लक्षणयुक्त परब्रह्मका विलासरूप विग्रह होता भया ॥ २८ ॥

अस्यैकैक रोमकूपां तरेष्वनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानिस्थावराणि च जायन्ते । तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैक नारायणावतारो जायते ॥२९॥ त्रिपद्वि० अ० २ ॥

अर्थ—इस सर्व के अधिष्ठान नारायण के एक एक रोम कूपांतर में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती भई तथा स्थावर जंगम चारों खाणी होते भये । तिन सर्व ब्रह्माण्डों विषे एक एक ब्रह्मण्ड में नारायण के राम कृष्णादिक

अवतार होते भए ॥२९॥

नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते। नारायणादण्डविराट्स्वरूपो जायते । नारायणादखिल लोकस्रष्टृ प्रजापतियो जायते ॥३०॥ त्रिपाद्वि० अ० २ ॥

अर्थ—तिस नारायण से ही हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती भई। तथा तिस नारायण से ही ब्रह्मण्डरूप विराट की उत्पत्ति होती भई। तथा तिस नारायण से ही सम्पूर्ण लोकों का करता ब्रह्मा उत्पन्न होता भया ॥३०॥

नारायणादेकादशरुद्राश्च जायंते । नारायणाद खिललोकाश्च जायंते । नारायणादिंद्रो जायते। नारायणात्सर्वे देवाश्च जायंते ॥३१॥ त्रिपाद्वि० अ०२॥

अर्थ—तिस नारायण से ही एकादश रुद्र उत्पन्न होते भये । तथा तिस नारायण से ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते भये । तथा तिस नारायण से ही देवराजइन्द्र उत्पन्न होता भया। तथा तिस नारायण से ही सम्पूर्ण देवता उत्पन्न होते भए ॥३१॥

नारायणाद्वादशादित्याः सर्वेवसवः सर्वे ऋषयः सर्वाणि भूतानि सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यंते । नारायणात्प्रवर्तंते । नारायणे प्रलीयंते ॥३२॥ त्रिपाद्वि० अ० २ ॥

अर्थ—तिस नारायण से ही द्वादश आदित्य सर्व वसू तथा सर्व ऋषि सर्व भूत प्राणि तथा सर्व वेद तथा तिस नारायण से ही सर्वकी उत्पत्ति होकर तिस नारायण से ही सर्व की आपने २ कार्य में प्रवृत्ति होवे है। तथा तिस नारायण में ही प्रलयकाल में सर्व काल होवे ॥३२॥

प्रकृतिं पुरुषंचैव विद्धयना दीउभावपि । विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धिप्रकृति संभवान् ।३३। कार्य करण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः रुच्यते ॥३४॥ गी० अ० १३ श्लोक ॥१९–२०॥

ब्रह्मानारायणः । शिवश्च । नारायणः । शक्रश्च नारायणः । दिशश्च नारायणः । विदिशश्च नारायणः कालश्च नारायणः । कर्माखिलं च नारायणः ॥३५॥ त्रिपाद्वि० अ० २ ॥

अर्थ—ब्रह्मा नारायण रूप है तथा शिव नारायण रूप है तथा इन्द्र नारायण रूप है। तथा पूर्वादिक चारो दिशा नारायण रूप हैं। तथा चारों उपदिशा भी नारायण रूप हैं। तथा सर्वका मृत्यु रूप काल भी नारायण है तथा सम्पूर्ण कर्म भी नारायण रूप हैं ॥३५॥

मूर्तीमूर्तं च नारायणः । कारनात्मकं सर्व कार्यात्मकं सकलं नारायणः। तदुभयं विलक्षणो नारायणः । परं ज्योतिः स्वप्रकाश मयो ब्रह्मानन्दमयो नित्या निर्विकल्पोनिरंजनो निराख्यातः शुद्धोदेव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित ॥ ३६ ॥ त्रिपाद्विभूति-

महानारायणोपनिषत् ॥ अ० २ ॥

अर्थ—जोकुछ मूर्तिमा न तथा अमूर्तिमान पदार्थ है सो सर्वही नारायण रूप हैं।तथा कारण रूप सर्व कार्य रूप हैं सो सर्वही नारायण रुप हैं तथा कार्य कारण दोनों से विलक्षण नारायण रूप है। परम ज्योति स्वयं प्रकाश मये ब्रह्मानंद मये नित्य निर्विकल्प निरंजन निराकार शुद्ध देव एको नारायणही है दूसरी वस्तु किंचित मात्र भी नहीं है ॥३६॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावर जंगमं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात्तद्विद्धिभरत-र्षभ॥३७॥ गी० अ० १३ श्लोक ॥२६॥

अर्थ—यह प्रकरण कल्कि पुराण विषे भी लिखा है। कल्कि भगवान की प्रेरणा से कल्कि जी के पिता विष्णु यशा की सभा में देवताओं से पूजत महर्षि नारद जी तथा तुंवरु दोनों आते भए। तिन दोनों महर्षियों का महा यशवान विष्णु यशा ने प्रसन्न हृदय से विधिवधान से पूजन किया उत्तम प्रकार से दोनों महर्षियों की पूजा करिकै। विनययुक्त हृदय से विष्णु जी के भक्त वीणा पाणी महामुनि नारदजी की प्रीति सहित पूजा करिकै मुक्ति के वास्ते प्रश्न करता भया॥ तहां श्लोक॥

तं पूज्यामास मुदापित्रा सह यथा विधि। तौसं पूज्यविष्णु यशाः प्रोवाच विनयन्वितः। नारदं वैष्णवं प्रीत्या वीणापाणिं महां मुनिम् ॥३८॥

अर्थ—महां यशवान विष्णु यशाने प्रसन्न हृदय से दोनों महर्षियों की विधि विधान से पूजा की। उत्तम प्रकार से दोनों की पूजा करिकै विनय युक्त हृदय से विष्णु जी के भक्त वीणा पाणि महामुनि नारदजी की प्रीति सहित पूजा की ॥ ३८ ॥

॥ विष्णु यशा उवाच ॥

अहोभाग्य महोभाग्यं मम जन्म शतार्जितम्। भवद्विधानां पूर्णानां यन्मे मोक्षाय दर्शनम् ॥३९॥

अर्थ—विष्णु यशा ने कहा हमारा कैसा सौभाग्य है शत जन्म में इकट्ठा किया हुआ मेरा भाग्य कैसा अद्‌भुत। आप लोग सर्वत्र परिपूर्ण हैं हमारे कल्याण के वास्ते ही आप लोगों के दर्शन प्राप्त हुए हैं ॥३९॥

अद्याग्नयश्च सुहुतास्तृप्ताश्च पितरः परम्। देवाश्च परि संतुष्टास्तवा वेक्षण पूजनात्। ४०॥

अर्थ—आज आप के दर्शन पाने से वा आप की पूजा करने से हमारे पितृ गण तृप्त हुए। मैंने जो अग्नि में अहुति दी है सो सफल हुई। आज देवता लोग भी संतुष्ट हुए हैं ॥४०॥

यत्पूजायां भवेत्पूज्यो विष्णुर्यन्मम दर्शनम्। पापसंघं स्पर्शनाच्च किमहो साधुसंगमः ॥४१॥

अर्थ—जिस की पूजा करने से विष्णु जी पूजत होते हैं। जिन का दर्शन करने से फिर जन्म नहीं होता जिसके स्पर्श से पाप पुञ्ज का क्षय होता है। ऐसे साधुवों का समागम किया ही अदभुत है ॥४१॥

साधुनां हृदयं धर्म्मोवाचो देवः सनातनः। कर्मक्षयाणि कर्माणि यतः साधुर्हरिः स्वयम् ॥४२॥

अर्थ—साधूवोंका हृदय ही धर्म है, साधूवों का वाक्य ही सनातन देव है,साधूवों के कर्मही कर्म क्षय होनेके कारण हैं। अतएव साधुलोग स्वयं ही नारायणजी की मूर्त्ति हैं ॥४२॥

मन्येनभौतिकोंदेहो वैष्णवस्य जगन्त्रये। यथावतारे कृष्णस्य सतो दुष्टविनिग्रहे ॥४३॥

अर्थ—दुष्टोंको दंड देनेके लिये कृष्णावतार में कृष्णजीका निस शरीरभी जैसे भौतिक ज्ञात नहीं होता है वैसेही इस त्रिलोकीमें वैष्णव शरीरभी पांचभौतिक ज्ञात नहीं होता है ॥४३॥

पृच्छामि त्वामतो ब्रह्मन्माया संसार वारिधौ। नौकायाविष्णुभक्त्याश्चकर्णधारोऽसिपारकृत् ॥४४॥

अर्थ—हे ब्रह्मन मायामय संसार समुद्रसे आप विष्णुभक्तिरूप नौकाके पार करने वाले कर्णधाररूप हैं। इसी कारण मैं आपसे कुछ पूछता हूं ॥४४॥

केनाहं यातनागारांन्निर्वाणपदमुत्तमम्। लप्स्यामीहजगद्बंधो कर्म्मणा शर्म्मतद्वद ॥४५॥

अर्थ—हे जगद्बंधो नारद मैं किस कर्मके करनेसे इस संसाररूप दुःखके स्थानसे छुटकारा पाय श्रेष्टताका साधन उत्तम निर्वाणपद प्राप्त कर सकूंगा सो आप कहिये ॥४५॥

नारद उवाच।

अहो बलवतीमाया सर्वाश्चर्य्यमयी शुभा। पितरंमातरंविष्णुनैवं मुंचति कर्हिचित् ॥४६॥

अर्थ—नारदजी बोले-माया कैसी शुभायमान है, माया कैसी बलवान है, माया सर्वको कैसी विस्मित करती है। क्या आश्चर्य है कि विष्णुजी पिता माताको भी इस मायासे मुक्त नहीं करते हैं ॥४६॥

पूर्णो नारायणो यस्य सुतः कल्किर्जगत्पतिः। तं विहाय विष्णुयशामतो मुक्तिमभीप्सति ॥४७॥

अर्थ—साक्षात्सनातन भगवान् परिपूर्ण जगत्के करता हरता नारायणजी जिनके पुत्र हैं तिसको साग करके विष्णुयशा हमसे मुक्तिकी कामना करता है ॥४७॥

विविच्येत्थं ब्रह्मसुतः प्राहुर्ब्रह्मयशाः सुतम्। विविक्तेविष्णुयशसं ब्रह्मसंपद्विवर्द्धनम् ॥४८॥

अर्थ—ब्रह्माजी के पुत्र नारदजी ने यह सोच विचारकर ब्रह्मयशाके पुत्र विष्णुयशा को निरजन देशमें ब्रह्मज्ञान उपदेश देनेके निमित्त यह वक्ष्यमाण वाक्य कहा ॥४८॥

नारद उवाच

देहावसाने जीवंसद्दृष्ट्वा देहावलंबनम्। माया ऽहंकर्त्तुमिच्छंतं यन्मेतच्छृणु मोक्षदम् ॥४९॥

अर्थ—नारदजी बोले जब देहका अंत होने पर जीवने फिर देहका आश्रय करनेकी इच्छा की तब उस कालमें मायाने जो कुछ कहा था सो मैं कहता हूं। आप श्रवण करो इस माया जीवके संवादके श्रवणसे मुक्ति प्राप्त होती है।४९

विंध्याद्रौ रमणीभूत्वामायो वाचयथेच्छया ॥५०॥

अर्थ—आपनी इच्छाके अनुसार विंध्या पर्वत पर स्त्री का रूप धारण करके मायाने जीव से कहा ॥ ५० ॥

मायो वाच।

अहं माया मया त्यक्ताः । कथं जीवतु मिच्छसि ॥५१॥

अर्थ—माया बोली, मैं माया हूं हे जीव मैंने तुमको त्याग दिया है। तुम मेरे विना कैसे जीवनेकी इच्छा करेगा ॥५१॥

जीवोवाच।

नाहं जीवाम्यहं माये कायेऽस्मिञ्जीवनाश्रये । अहमित्यन्यथा बुद्धिर्विना देहं कथं भवेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जीवने कहा हे माये, मैं नहीं जीवूंगा शरीरही जीवनका आश्रय है। अहं इस अभिमानरूप भेद ज्ञानसे बिना किस प्रकारसे देह धारण कर सकता हूं ॥५२॥

मायोवाच।

देहबंधे यथा श्लेषास्तथाबुद्धिः कथं तव । मायाधीनां विना चेष्टां विशिष्टां तेकुतोवद ॥५३॥

अर्थ—माया बोलीं, देह धारण करने पर जब भेदज्ञान होता है, तब तुमारी बुद्धि ग्रहण त्याग करने वाली उस समय क्यों होती है, जितनी इंद्रय विषयों का सम्बन्धरूप व्यापाररूप चेष्टा है सो सर्व ही मैं माया के अधीन है। अब मैं माया से बिना तुमारी चेष्टा कैसे होवेगी ॥५३॥

जीवोवाच।

मां विना प्राज्ञतामाये प्रकाश विषय स्पृहा ॥ ५४ ॥

अर्थ—जीव बोला हे माये, मेरे बिना तुमारी प्राज्ञता का प्रकाश नहीं होवेगा तथा न विषयों में स्पृहा होवेगी ॥५४॥

मायोवाच

मायया जीवति नरश्रेष्टते हतचेतन। निःसारः सारवद्भाति गजभुक्त कपित्थवत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—मायाने कहा हे जीव तुम तो मेरे करके ही यंत्रके समान कार्य और चेष्टा करता है और मेरे करके ही तुम जीवन धारण करता है और जैसे हाथीका खाया कपित्थफल बीच से निःसार और देखने में सार होता है, तैसे तुम भी मेरे करके ही सार और मेरे बिना असार हैं ॥ ५५ ॥

जीवोवाच

मम संसर्ग जाता त्वं नानानाम स्वरुपिणी । मां विनिंदसि किं मूढे स्वैरिणी स्वामिनं यथा ॥५६॥

अर्थ—जीवने कहा हे माया मूढे, तुमने हमारे संसर्ग से उत्पन्न होकर बहुतसा नाम रूपात्मक जगत् धारण किया है। जैसे स्वैरिणी स्त्री अपने पतिकी निंदा करती है, वैसे तुम किस कारण से हमारी निंदा करती है, तुम बहुत ही कृतघ्न हैं ॥ ५६ ॥

ममाभावे तवाभावः प्रोद्यत्सूर्य्येतमो यथा । मामावर्य्य विभासित्वं रविं नवघनो यथा ॥५७॥

अर्थ—जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार

नहीं रहिता। तैसे ही हमारे अभाव सें तुमारा भी अभाव होता है। जैसे नवीन नीरध (बादल) सूर्य को ढककर प्रकाशमान होता है। तैसे ही हे माया तुम हमको अच्छादन करिकै शोभायमान होती हैं। तथा भासमान होती हैं ॥५७॥

लीलाबीजकुशूलासि मम माये जगन्मये। नाद्यंते मध्यतोभासि नानात्वादिंद्रजालवत् ॥५८॥

अर्थ—हे माया तुम लीलामय बीज की कुशूला भुसिरूप हैं अर्थात् जगत के नानात्व होनेमें धानके तुषकी न्याईं हमारे ऊपर अवरणरूप हैं। तुम जगत के आदि अंत और मध्य में इन्द्रजाल के समान मेरी सत्ताको पाकर शोभायमान होती हैं ॥ ५८ ॥

एवं निर्विषयं नित्यं मनो व्यापारवर्जितम्। अभौतिकमजीवं च शरीरं वीक्ष्यसाऽत्यजत् ॥५९॥

अर्थ—इस प्रकार विषय इन्द्रियोंके व्यापार से रहित तथा मानसिक व्यापारसे रहित अभौतिक जीवन रहित अर्थात् शुद्ध अजर अमर निरविकार साक्षि चिन्मय शरीरको देखकर माया ने जीवको त्याग दिया ॥ ५९ ॥

त्यक्त्वामां साददौ शापमिति लोकतवाप्रिया। न स्थितिर्भाविति काष्टकुड्योपम कथंचन ॥६०॥

अर्थ—जीवने कहा मायाने मुझको त्याग कर इस प्रकार का शाप दिया कि हे अप्रिय हमको जान पड़ता है कि तुम मेरेसें बिना काष्ट कुडके समान असन्त चेष्टा हीन हैं। इस पृथवी में किसी काल और किसी रूपसे तुमारी स्थिति का प्रत्यक्ष न होगा ॥ ६० ॥

सामाया तवपुत्रस्य कल्केर्विश्वात्मनः प्रभो। तं विज्ञाययथाकामं चरगां हरिभावनः ॥ ६१ ॥

अर्थ—नारदजीने यह माया और जीवका संवाद कहकर विष्णुयशा सें बोले हे देव विश्व रूप परमदेवता तुम्हारे पुत्र कल्किजी सें ही इस मायाकी उत्पति होई है। तुम उस मायाका स्वरूप जानो तथा उस मायाके अधिष्ठान चिन्मय वस्तुको जानो, और नारायणजी अपने पुत्र कल्किजीका ध्यान करते हुए इच्छानुसार पृथ्वी पर विचरते हुए तुम मुक्ति कों प्राप्त होवोगे ॥६१॥

निराशोनिर्ममः शांतः सर्वभोगेषु निस्पृहः। विष्णौ जगदिदं ज्ञात्वाविष्णु जगति वासकृत्। आत्मानात्मानमवेक्ष्य सर्वतो विरक्तोभव ॥ ६२ ॥

अर्थ—नारदजी बोले। हे विष्णुयशा तुम आशा और ममताको त्याग शब्दादिक सर्वविषयों की वासना को जलांजलि देकर शांति रस में अभिषेकित होवो। तब समझ सकोगे कि यह जगत विष्णुजीके विराट्स्वरूप में ही स्थित है। और भगवान विष्णुजी आपही इस नामरूप जगतमें प्रवेश करिकै जीवरूपसे स्थित हुए हैं। इस प्रकार ज्ञानका उदय होनेसे जीवात्माका परमात्मासे अभेद निश्चय करके सर्वकामनाओं से विरक्त होना ही उचित है ॥ ६२ ॥

एवं तं विष्णुयश समामंत्र्य च मुनीश्वरौ। कल्किं प्रदक्षिणीकृत्य जग्मतुः कपिलाश्रमम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—विष्णुयशा को इस प्रकारका उपदेश करके नारद तुंबरु दोनों महर्षि कल्किजीकी प्रदक्षिणा करके कपिलजीके आश्रम को चले गये ॥ ६३ ॥

कल्किपुराणे तृतीयांशे नाम षोडशोऽध्यायः।

अब अधिकारीके लक्षण निरूपण करै हैं। पठन करै हैं वेद जिसने तथा गुरुने कहा जो अर्थ ताके धारणेमें है बुद्धि समर्थ जाकी और कृपा करिकै युक्त है मन जाका तथा शम दमादि साधनों करिकै युक्त है। ऐसा जो कोईक मुमुक्षु है सो पांच प्रकार के भेदके ज्ञान करिकै भय को प्राप्त भयाजो जगत् है ताको देखि कै एककाल विषे विचार करता भया। सो पांच प्रकारका भेद यह है। जीव ईश्वरका भेद १ जीवों का परस्पर भेद २ जीव जड़का भेद ३ ईश्वर जड़ का भेद ४ जड़ जड़ का भेद ५

ब्रह्माणमुवाच।

तहां श्रुति। पैप्पलादं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्य चित्। नास्ति कायकृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥ ६४ ॥ शरभोपनिषत

अर्थ—ब्रह्माजी बोले हे पैप्पलादिक ऋषियो यह उपनिषतरूप महाशास्त्र जैसे कैसे मनुष्यको न उपदेश करना चाहिये। नास्तिक को कृतघ्न को दुर्वृत्ति वालेको दुरात्माको ऐसे पुरुषों को उपदेश न करना चाहिये ॥ ६४ ॥

दांभिकाय नृशंसाय शठाया नृतभाषिणे। सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने ॥ ६५ ॥

अर्थ—दंभिको संशययुक्त को शठको अनृतभाषि को ऐसे दोषयुक्त पुरुषोंको भी उपदेश न करना चाहिये। श्रेष्ठव्रत धारण करने वाले को श्रेष्ठ ईश्वरभक्त को श्रेष्ठ वृत्तिवाले को सुशील सुभाववाले को ऐसे शुभगुण सम्पन्नको उपदेश देना चाहिये ॥ ६५ ॥

गुरुभक्ताय दांताय शांताय ऋजुचेतसे। शिवभक्ताय दातव्यं ब्रह्मकर्मोक्त धीमते ॥ ६६ ॥

अर्थ—गुरुका भक्त होवे शम दमादिक साधन युक्त होवे सरल सुभाव वाला होवे। शिव भक्त होवे और वेदके अनुसार कर्म करने वाला होवे बुद्धिमान होवे ऐसे शुभ गुणयुक्त पुरुष को उपदेश देना चाहिये ॥ ६६ ॥

स्वभक्ताय दातव्यमकृतघ्नायैव सुव्रतान् दातव्यं सदागोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम ॥ ६७ ॥ (शरभोपनिषत् ॥ मंत्र ३२, ३३, ३४, ३५)

अर्थ—उपदेष्टा का भक्त भी होवे कृतघ्न ना होवे उत्तमवृत्ति वाला होवे ऐसे शुभगुणवान को उपदेश देना चाहिये। शुभगुणसे रहित पुरुष को नहीं देणेयोग है। हे द्विज उत्तम इसको यतन करके ही गुप्त रखना चाहिये ॥ ६७ ॥

अब अधिकारीके विचार के स्वरूप को दिखावे हैं ॥ बड़ा कष्ट है संपूर्ण देहधारी जीव यहां संसार रूप शूल करके जन्म मरण रूप दुःखको प्राप्त हो रहे हैं। कैसाहै यह संसार रूप शूल कामक्रोधादिक रूपका कोंका है वास जिस विषे और स्त्री रूप वृक्ष करके सुखको प्राप्त भयाहै। यद्यपि स्त्रीरूप वृक्ष यां के सुखका कारण नहीं है। उलटा यांके दुःखका कारण है तथापि जैसे मार्ग के चलनेतें परिश्रमको प्राप्त भया जोपुरुषहै ताको दुःखका कारणजो पादों का परिहार है सोभी सुखका कारण होवे हैं तैसे

विषयों विषे है प्रीती जाकी ऐसाजो विषयी पुरुष है ताको दुःखका कारण जो स्त्री है सो सुखका कारण प्रतीत होवे है । ऐसे संसार रूप शूल तैं सर्व प्राणीयोंको भय किस वास्ते नहीं होवे है । अब अधिकारीके साधनोंका निरूपण करेहैं ॥

वैराग्यका स्वरूप ।

ब्रह्मादिस्थावरांतेषु वैराग्यं विषयेष्वनु । यथैव काकविष्ठा यद्वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार संसारी पुरुष काककी विष्ठामें घृणा करतेहैं तिसीप्रकार ब्रह्मासे आदि लैके स्थावर पर्यंत विषयोंमें जो वैराग्य है सो निर्मल वैराग्य है ॥ ६८ ॥ अपरोक्षानुभूति ॥

विवेकका स्वरूप ।

नित्यमात्मस्वरूपंहि दृश्यंतद्विपरीतगम् । एवं यो निश्चयः सम्यग्विवेकोवस्तुनःसवै ॥ ६९ ॥

अर्थ—आत्मा नित्य है और जोकुछ संसारी वस्तु देखनेमें आवे है सो अनित्य है इसप्रकारका जो दृढ़ निश्चय है सो वस्तुका विवेक कहावे है ॥ ६९ ॥

शम दम का स्वरूप ।

सदैव वासनात्यागः शमोयमिति शब्दितः । निग्रहोबाह्यवृत्तिनां दम इत्यभिधीयते ॥ ७० ॥

अर्थ—शब्दादिक विषयों की वासनाओंका जो त्यागहैसो शमकहावेहै । और बाह्यवृत्तयोंको रोकना अर्थात् नासिका आदि इन्द्रियोंको गंधादिक विषयों से निवृत्त करिकै वशमें करना दम कहा वै है ॥७०॥

उपराति का स्वरूप तथा तितिक्षा का ।

विषयेभ्यःपरावृत्तिः परमोपरतिर्हिस सहनं । सर्व दुःखानां तितिक्षासा शुभामता ॥ ७१ ॥

अर्थ—विषयोंसे असन्त चित्तको निवृत्त करनेका नाम उपरति है । और सम्पूर्ण प्रकार के दु.खोंका सहारना सो तितिक्षा कहावै है ॥ ७१

श्रद्धा तथा समाधान का स्वरूप ।

निगमाचार्य वाक्येषुभक्तिः श्रद्धेति विश्रुता । चित्तैकाग्र्यंतु सल्लक्षे समाधानमितिस्मृतम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—वेद शास्त्र और गुरुके वाक्योंमें जो भक्ति करनी है सो श्रद्धा कहावै है और शब्दादिक विषयोंसे अन्तःकरण को निवृत्त करिकै मोक्षके साधन श्रवन मनन निदिध्यान द्वारा निरंतर नित्यानित्यके विचारको समाधान कहे हैं॥७२

मुमुक्षुता का स्वरूप ।

संसारबंधनिर्मुक्तिः कथं मेस्यात्कदाविधे । इति या सुदृढाबुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥ ७३ ॥

अर्थ—हे ईश्वर किस प्रकार इस संसार बन्धनसे मेरी मुक्ति होवेगी । इस प्रकार जो असन्त दृढ़ बुद्धि है सो मुमुक्षुता कहावै है ॥७३॥ अपरोक्षा०

तहां गीता श्लोका ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् । आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्माविनिग्रहः ॥ ७४ ॥ इंद्रियार्थेषु वैराग्य मनहंकार एव च । जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥७५॥ असक्तिर्नाभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्व मिष्टानिष्टोपपात्तिषु ॥७६॥ मयिचानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्त देशसेवित्व मरतिजनसंसदि ॥७७॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमितिप्रोक्त मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥७८॥

गी० अ० १३ -श्लोक ॥ ७-८-९-१०-११ ।

अर्थ—जो विद्यमान गुणों करके तथा अविद्यमान गुणोंकरके अपनी श्लाघाकरे सो पुरुष मानी होवे है । तिससे रहित होना अमानित्वरूपज्ञानका १ साधन है । और जोलाभ पूजा तथा ख्यातिके वास्ते आपने धर्मको प्रगटकरै सो दम्भी है । तिससेरहित होना अदम्भित्वरूप ज्ञानका २ साधन है । मनवाणी शरीरकरिकै प्राणीयोंको पीडादेना हिंसा है । तिनसेरहित होना अहिंसारूपज्ञानका ३ साधन है । किसीके अपराधसें चित्तमें विकार न होना क्षांति है यह क्षांतिरूपज्ञानका ४ साधन है । कुटिलतासें रहित होना आर्जवरूपज्ञानका ५ साधन है । मोक्षका उपदेशक इस स्थानमें आचार्य है तिसकी सेवा करनी ज्ञानका ६ साधन है । और शरीरकी मल तथा विषयवासना रूप चित्त जलमृत्तिकासें तथा विषयदोष दर्शन से निवृत्ति करनी यह शौचरूप ज्ञानका ७ साधन है । और क्ष के साधनों विषे प्रवृत्त हुए पुरुषको अनेक प्रकारके विघ्नोंके प्राप्त हुए भी तिस उद्यमका न परित्याग करिकै जो पुनः पुनः प्रयत्न की अधिकता है ताका नाम स्थैर्य है सो यह स्थैर्य ज्ञान का ८ साधन है । और देह इन्द्रियोंकी मोक्षके साधनों से अन्य में प्रवृत्तिका निरोधरूप आत्मविनिग्रह ज्ञानका ९ साधन है ॥७४॥ और दृष्टादृष्ट विषयों की जो इच्छासे रहित रूप इंद्रियार्थोंनमें वैराग्य ज्ञानका १० साधन है । और आत्मश्लाघा रहित होने परभी जो मनमें मैं सर्वोत्कृष्ट हूं इस प्रकार का अहंकार है तिससे रहित होना ज्ञानका ११ साधन है और जन्म मरण जरा ज्वर आदिक व्याधि त्रिविध दुःख वात पित्त कफरूप दोष इन सबका शरीरमें देखना यह भी वैराग्य का कारण होनेसे ज्ञानका १२ साधन है ॥ ७५ ॥ और पुत्र दारा आदिक तथा गृह धनादिकों में प्रीति न होना भी ज्ञानका १३ साधन है । और पुत्रादिकन के सुखी दुःखी होनेसे आपने आप भी सुखी दुःखी होता है तिसका पुत्रादिकों में असन्त प्रीतिरूप अभिष्वंग होता है तिससे रहित होना अभिष्वंग भी ज्ञान का १४ साधन है । और आपने इष्टकी प्राप्तिमें हर्ष और अनिष्टकी प्राप्तिमें शोक इनसे रहित होना समचित स्वरूप ज्ञानका १५ साधन है ॥ ७६ ॥ और जो मैं सर्वांतर्यामी ईश्वरमें असन्त अचल प्रीतिरूपभक्ति है सो भी ज्ञानका १६ साधन है और एकांत देशका सेवन करना यहभी ज्ञानका १७ साधन है और कुसंगी बहिर्मुखजनोंकी सभामें प्रीतिसे रहित होना भी ज्ञानका १८ साधन है॥७७-७८॥ यह वार्ता अन्य शास्त्रविषे भी कथन करी है ॥

तहां श्लोका ।

संगः सर्वात्मना हेयः स चेत्त्यक्तं न शक्यते । स सद्भिः सहकर्तव्यः सतां संगोहिभेषजम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—इस अधिकारी पुरुषनै सर्वप्रकार करिकै संगका परित्याग करणा और जो कदाचित् सर्वप्रकारतै ता संगका परित्याग नहीं किया

जावे तौभी इस अधिकारी पुरुषने विषयी बहिर्मुख पुरुषोंका संग कदाचित् भी नहीं करना। किंतु महात्मा जनोंके साथ संग करना। कियों कि सो महात्माजनोंका संग इस संसाररूप रोग के निवृत्ति करने के वास्ते औषधि है। और अध्यात्म शास्त्रका नित्य विचार तथा श्रवण करना यहभी ज्ञानका १९ साधन है। और तत्त्वज्ञान का जो सर्वदुःखकी निवृत्ति पूर्वक परमानंदकी प्राप्तिरूप फल है तिसको देखना भी ज्ञानका २० साधन है ॥७९॥

तहां श्रुति।

वराह रूपिणं मां ये भजंति मयि भक्तितः। विमुक्ता ज्ञानतत्कार्या जीवन्मुक्ता भवंति ते ॥ ८० ॥

वराहोपनि० अं० १६। अ० १॥

अर्थ—वराहजी महाराज आज्ञा देते हैं कि जो अधिकारी पुरुष मैं वराहरूप अवतारका श्रद्धा प्रेमसे मेराभजन तथा भक्ति करता है सो अधिकारी पुरुष अज्ञान तवकार्यसे मुक्त होकर जीवन मुक्त होजाता है ॥८०॥

चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विनाविष्णु भक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विनाकार्यं नो देति भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते ॥ ८१ ॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० अ० ८॥

अर्थ—चतुर्मुख ब्रह्मासे आदि लेकर सर्व प्राणीमात्र की निश्चय कारिकै विनाविष्णु भक्तिसें अनेक कोटिकल्पभी भटिक्का फिरेगा तौभी मोक्ष नही होवैगी। कारणसे विना कार्यकी उत्पत्ती नही होवैगी। भक्तिसें विना ब्रह्मज्ञान कदापि न जायते ॥८१॥

तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठोभव। भक्त्यासर्वसिद्धयः सिध्यंति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति ॥८२

त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० अ० ८॥

अर्थ—तिस कारण से हे ब्रह्मा आप भी और सर्व उपावोंको परित्याग कारिकै एक भक्ति का ही आश्रय करो। भक्तिमें ही निष्ठा वाला हो भक्ति में ही निष्ठा वाला हो। भक्तिसे सर्व सिद्धि सिद्ध होसक्ती है। भक्तिसे कोई वस्तु किंचितमात्र भी असाध्य नहीं है किंतु सर्व ही साध्य है ॥८२॥

सर्वतो मनसो ऽसंगमादौ संगं च साधुषु। दयामैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धायथोचितम् ॥ ८३ ॥

भा० ११ स्कंध। अ० ३ श्लोक २३

अर्थ—प्रथम मनमें सर्व विषयोंसे वैराग्य, साधू पुरुषोंका संग, आपनी अपेक्षासे ग्रीबों में दया समानके साथ मैत्री और उत्तम के साथ नम्रता इनको सीखना ॥ ८३ ॥

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वंद्वसंज्ञयो ॥ ८४ ॥

भा० ११ स्कंध अ० ३ श्लोक २४॥

अर्थ—मृत्तिका और जलादिकोंसे शरीर की पवित्रता हंकारादिकोंसे रहित मनकी पवित्रता उपनिषद गीतादिकोंका पाठ ईश्वर का अराधन शास्त्रानुसार अचार क्षमा वृथा बोलनेका त्याग सरलता ब्रह्मचर्य अहिंसा सुखदुःख तथा शीत

उष्णादिक द्वंद्वोंका सहारना, हर्ष शोकसे रहित होना ॥ ८४ ॥

श्रुतौभक्तिर्गुरौभक्तिः शिवे भक्तिश्च देहिनम्। साधनं सत्यविद्यायाः सत्यमेव मयोदितम् ॥८५॥

सूत गीता अ० ५ श्लोक ७१।

अर्थ—यह अधिकारी वेद का भक्त होवे गुरुका भक्त होवे ईश्वरका भक्त होवे तथा चतुष्टय साधन सम्पन्न होवे अर्थात् विवेक वैराग्य षटसंपत्ति मुमुक्षुता इन चार साधनों के सहित होवे। ब्रह्मविद्या संपन्न होवे तथा सत्यही बोलना रूप धर्मका उदपादक होवे ॥ ८५ ॥

पुत्रमित्र गृहक्षेत्र भ्रातृबंधुजनेरातिः। अरतिर्गुरुपादे च ज्ञानानुत्पत्ति कारणम् ॥ ८६ ॥

सूत संहिता मुक्ति खंड अ० ६ श्लोक २४।

अर्थ—जिस अधिकारी पुरुष की पुत्र में मित्रमें घरमें क्षेत्रमें तथा भ्रातामें और संबंधियों में प्रीति है। और गुरुके चरणोंमें प्रीति नहीं है यह सर्व दोष ज्ञानकी न उत्पत्तिके कारण हैं ८६

अभक्ष्यभक्षणश्रद्धा तथाऽभक्ष्यस्यभक्षणम्। अभक्ष्यभक्षणस्पृष्टिर्ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ८७ ॥

सूत संहिता मुक्ति खंड अ० ६ श्लोक २५।

अर्थ—अभक्ष्य जो मांसादिक हैं तिन में भक्षण करनेकी जो श्रद्धा है तथा अभक्ष्य को भक्षण निश्चय करता है तथा अभक्ष्य में भक्षण प्रीति करता है। यह सर्वदोष ज्ञानकी न उत्पत्ति के कारण हैं ॥ ८७ ॥

ज्ञानलाभायवेदोक्त प्रकारेणसमाहितः। महाकारुणिकं साक्षाद् गुरुमेव समाश्रयेत् ॥ ८८ ॥

सूत गीता अ० ५ श्लोक ॥ ७४ ॥

अर्थ—ज्ञान की प्राप्ति में मुख कारण वेद के अनुसार ध्रुव महाकारण गुरुही है इसलिये मुक्ति की इच्छा वाला अधिकारीपुरुष गुरुकाही आश्रय लेवे ॥ ८८ ॥

वेदवेदान्तनिष्ठस्य महाकारुणिकस्य च। गुरोः शुश्रूषणंनित्य वरिष्ठं परिकीर्तितम् ॥ ८९ ॥

सूतगीता अ० ८ श्लोक १५ ॥

अर्थ—वेदरूप जो वेदान्त शास्त्र है उस में स्थित है कि ज्ञान की प्राप्ति में मुखकारण गुरु ही है इसलिये अधिकारी मुक्तिकी इच्छावाला नित प्रति गिलानी को त्यागके गुरुकी सेवा करै ऐसा वेदमें श्रेष्ट प्रकारसे कहा है ॥ ८९ ॥

न चेमां विद्यामश्रद्दधानाय ब्रूयान्नासूयावते नानूचानाय नाविष्णुभक्ताय। नानृतिने नातपसे नादांताय नाशांताय नादीक्षिताय नाधर्मशीलाय न हिंसकाय ना ब्रह्मचारिण ॥९०॥

अव्यक्तोपनिषत्की समासके मंत्र हैं।

अर्थ—यह ब्रह्म का श्रद्धासे रहत पुरुषको ना उपदेश करना चाहिये। तथा ईश्वर और गुरुकी निंदा करने वालेको भी ना उपदेश करने योग है तथा जो विष्णुका भक्त ना होवे तिस को भी उपदेश ना करना चाहिये। तथा जो झूठ बोलनेवाला होवै तथा जो तपस्वी ना होवै तिसको भी उपदेश ना करना चाहिये, और जिसके इंद्रय दमन ना होवे तथा जिस का मन

विषय वासना से रहित ना होवे तिस को भी उपदेश ना करना चाहिये। और जिसने शिक्षा नहीं लई होवै और जिसका धर्म शील स्वभाव नहीं है तिसको उपदेश करने योग नहीं हैं। और हिंसकको तथा जो ब्रह्मचारी ना होवै तिसको भी उपदेश करने योग नहीं है। ॥४८

गुरौ प्रीते शिवः साक्षात्प्रसन्नः प्रति भासते। गुरोर्देहे महादेवः साम्बः संनिहितः सदा ॥ ९१ ॥

ब्रह्म गी० अ० १८ श्लोक ३४।

अर्थ—गुरुके साथ प्रेम करनेसे महादेवजी साक्षात् प्रसन्न होते हैं। स्वयं ब्रह्माजी कहिते हैं गुरुका शरीर महादेवका ही शरीर जाने और सदा ही समीप रहे ॥ ९१ ॥

गुरोरनिष्टं मोहाद्यान कुर्यात्कुरुते यदि। पच्यते नरके तीव्रे यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ९२ ॥

ब्रह्म गी० अ० ९२ श्लोक ३३

अर्थ—जो शिष्य अज्ञानसे गुरुका अनिष्ट करता है सो अनिष्ट करने वाला शिष्य जबतक पांचभूतहैं तबतक नरककी तीव्र अग्निमें पचेगे॥९२॥

शिवेक्रुद्धे गुरुस्त्राता गुरौक्रुद्धेन कश्चन। तस्मादिष्टंगुरोः कुर्यात्कायेन मनसागिरा ॥ ९३ ॥

ब्रह्म गी० अ० १२ श्लो० ३६।

अर्थ—महादेवजी के क्रोध होने से गुरु तार लेता है। और गुरुके क्रोध होने से कोई नहीं तार सकता। तिस कारणसे हे शिष्य मन वाणी शरीर करिके गुरु का इष्ट ही चिंतन करो ॥ ९३ ॥

इदमष्टोत्तरशतं नदेयं यस्य कस्यचित्। नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररतायवै ॥ ९४ ॥

मुक्ति को० अ० १ मन्त्र ४७।

अर्थ—इन १०८ उपनिषदोंका जो उपदेश है जैसे कैसे अनाधिकारी को न देना चाहिये। नास्तिक को कृतघ्न को दुराचारी पुरुषको उपदेश न देना चाहिये ॥ ९४ ॥

मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते। गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन ॥ ९५ ॥

मुक्ति को० अ० १ मन्त्र ४८।

अर्थ—रामचन्द्रजी महाराज कहिते हैं, हे हनुमान मेरी भक्तिसे जो विमुख है तथा शास्त्ररूपी गर्तमें मोह को प्राप्त हो रहा है। और गुरुकी भक्तिसे रहित है ऐसे पुरुषों को कदाचित भी उपदेश न ही देने योग है ॥ ९५ ॥

सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते। मद्भक्तायसुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे ॥ ९६ ॥

मुक्ति को० अ० १ मन्त्र ४९।

अर्थ—हे वायु पुत्र जो शिष्य सेवा करने वाला होवै जैसे शिष्यको अधिकार है, ऐसा शिष्य होवै, पुत्रकी न्याई हित करने वाला होवे तथा मेरा भक्त होवे सुशील स्वभाव वाला होवे उत्तम कुलका होवे तथा बुद्धिमान होवे ॥९६॥

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजीमां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यंते प्रति जाने प्रियोसिमे ॥ ९७ ॥

गी० अ० १८ श्लो० ६५।

अर्थ—हे अर्जुन तू मेरे विषे मनवाला हो तथा मेरा भक्त हो तथा मेरेको यजन कराऊ तथा मैं परमेश्वर कुं नमस्कार कर ऐसे करता हुआ तूं, मैं परमेश्वरको ही प्राप्त होवेगा तुम्हारे समीप मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूं जिस कारणते तूं हमारे को प्रिय हैं ॥ ९७ ॥

ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च । शाश्वतस्यच धर्मस्य सुखस्यकांतिकस्य च ॥ ९८ ॥

गी० अ० १४ श्लोक २७ ।

अर्थ—हे अर्जुन जिस कारणतैं अमृतरूप तथा अव्ययरूप तथा शाश्वतरूप तथा धर्मरूप तथा अव्यभिचारी सुखरूप ऐसे सौपाधिककारण ब्रह्मका मैं निरुपाधिक वासुदेव वास्तव स्वरूप हूं तिस कारणतैं मैं परमेश्वरकी भक्तितैं मोक्षकी प्राप्ति युक्त ही है ॥ ९८ ॥

मांच योऽव्यभिचारणे भक्तियोगेण सेवते । सगुणान्समतीत्यै तान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९९ ॥

गी० अ० १४ श्लोक २६ ।

अर्थ—हे अर्जुन पुनः जो पुरुष मैं परमेश्वर को अनन्य भक्तियोग करिकै चिंतन करे है सो मेराभक्त इन पूर्व उक्त सत्त्वादिक गुणोंको अतिक्रमण करिकै ब्रह्म होने वास्ते समर्थ होवै है । ९९

तुल्यनिंदा स्तुतिर्मौनी संतुष्टोयेन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमति भक्तिमान्मे प्रियोनरः ॥ १०० ॥

गी० अ० १२ श्लोक १९ ।

अर्थ—हे अर्जुन तुल्य है निंदा स्तुति जिसको तथा जो पुरुष मौन वाला है तथा जिस किस अन्न वस्त्रादिकों करिकै संतुष्ट है तथा गृहतैं रहित है तथा स्थित है मति जिसकी ऐसा भक्तिमान पुरुष मैं परमेश्वरको प्रिय है तहां श्रुति ॥ १००

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाच्युतः । न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ १०१ ॥

योगशिखो० अ० ५ मन्त्र ५७ ।

अर्थ—गुरु ब्रह्मारूप हैं तथा गुरु विष्णु रूप हैं तथा गुरु सदा अच्युतरूप हैं । तथा गुरु से अधिक तीनों लोकोंमें कोई नहीं है ॥ १०१ ॥

तहां श्रुति ॥

दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम् । पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञान फलंभवेत् ॥ १०२ ॥

योगशिखो० अ० ५ मंत्र० ५७ ।

अर्थ—आत्मा का ज्ञानरूप दिव्य उपदेश करने वाला जो देशिक है । उसका परमभक्ति से पूजन करने से ही मुक्तिरूपी फल की प्राप्ति होती है ॥ १०२ ॥ तहां श्रुति

यथागुरुस्तथैवेशो यथैवेस्तथागुरुः । पूजनीयो महाभक्त्या न भेदोविद्यतेऽनयोः ॥ १०३ ॥

योगशिखो० अ० ५ मंत्र ५८ ।

अर्थ—जैसे गुरु है तैसे ही ईश्वर है यथा ईश्वर है तैसे ही गुरु है । गुरुका महा भक्ति करके पूजन करने योग है । गुरुमें तथा ईश्वरमें अन्य भेदोनविद्यते ॥ १०३ ॥ तहां श्रुति ।

नाद्वैतवादंकुर्वीत गुरुणा सह कुत्रचित् । अद्वैतभावयेद्भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः ॥ १०४ ॥

योगशिखो० अ० ५ मंत्र ५९ ॥

अर्थ—गुरुके साथ किसी काल में भी द्वैत भाव न करो । अद्वैतभाव से ही गुरु की परम-भक्ति करो आपना आत्मादेव ही है ॥ १०४॥

यदासर्वे प्रमुच्यते कामायेऽस्यहृदि-श्रिताः । अथा मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुत इति १०५ ॥

अर्थ—जिसकाल में सर्व कामना इस अधि-कारीके हृदयदेश में स्थित प्रमुच्यन्ते नाश हो जाती हैं तिसते अनन्तर मृत्यु को प्राप्त होता हुआ यह जीव अमृतभाव को प्राप्त होता है । अर्थात् सो जीव व्यापक ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

अब ज्ञान विना शास्त्र का पढ़ना अर्थाव विवेकसे बिना शास्त्रका पठन करना भाररूप है तथा आत्मज्ञान विषय रागी पुरुष को भार है । तथा शांतिसे रहित पुरुषको मन भार है । तथा जिसको आत्मज्ञान नहीं है । उसको देह भार-रूप है ।

भारोविवेकीनः शास्त्रंभारो ज्ञानं च रागीणः । अशांतस्य मनोभारो भारोऽनात्म विदोवपुः ॥ १०६ ॥

योo वा वैराग्य प्रo सo श्लो० १३ ॥

अर्थ—अविवेकी पुरुषोंको शास्त्रका पढ़ना भार है । संसार में लिप्त पुरुषके लिये ज्ञान भार है । अशांत पुरुष को मन भार है । जिस को आत्मज्ञान नहीं है उसको देह भार है ॥ १०६॥

तहां श्रुति ।

भारोविवेकिनः शास्त्रंभारो ज्ञानं च रागिणः । अशांतस्य मनोभारो भारोऽनात्मविदोवपुः ॥ १०७ ॥

महोपनिषत अ० ३ मंत्र १५ ।

रुपमायुर्मनो बुद्धिरहंकारस्तथैहितम् । भारोभारधरस्येव सर्वं दुःखाय दुर्द्धियः१०८

अर्थ—भार ढोने वालेको जैसे भार दुःख का हेतु होवै है । तैसे अज्ञानी पुरुष का रूप, आयु बुद्धि अहंकार तथा चेष्टा सर्व भार स्वरूप दुःखका ही कारण है ॥ १०८ ॥

प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनात-रम् । आखुनेवजरच्छभ्रं कालेन विनि-हन्यते ॥ १०९ ॥

अर्थ—प्रति दिन श्रम के खेद से अशांत पुरुषकी आयुको काल ऐसे नष्ट करता है । जैसे मूसा उत्तम पृथिवी को ॥ १०९ ॥

अविश्रांतमनापूर्ण मापदां परमा-स्पदम् । नीडं रोगविहंगाना मायुशया सनंदृढम् ॥ ११० ॥

यो० वा० वै० प्र० स० १४ श्लो० १४-१५-१६ ।

अर्थ—जिस का मन अशांत है उस की आयु सम्पूर्ण अपत्तियोंका स्थान है । रोगरूपी पक्षियों का निवास स्थान तथा प्रबल दुःख का कारण है ॥ ११० ॥

तस्मात्पुरुष यत्नेन विवेकं पूर्वम श्रयेत् । आत्मज्ञानं महार्थानि शास्त्राणि प्रविचारयेत् ॥ १११ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रथमही नित्यानित्य वस्तु का विवेक १ इहां पुत्रार्थ फलभोगसे वैराग २

शम दमादि षट् सम्पत्ति और मोक्षकी इच्छा ४ इन चारों साधनोंका आश्रय पुरुष प्रयत्नसे लेना चाहिये। और गंभीर अर्थ युक्त वेदांतशास्त्र को विचारना चाहिये ॥ १११ ॥

चित्ते चिंतयतामर्थं यथा शास्त्रं निजेहितैः। असंसाधयतामेव मूढानां धिग्दुरीपिसतम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो पुरुष शास्त्र के अनुसार श्रवण मनन निदिध्यासन के दृढ़ अभियास से आत्मतत्त्वका चिंतन नहीं करते। ऐसे पुरुषार्थ त्यागी मूढ़ पुरुषों के भोगादिक की इच्छा को धिक्कार है। क्योंकि मनुष्य जन्म पाके जब आपने कल्याण के वास्ते यत्न न किया तो इससे अधिक और शोक क्या है ॥ ११२ ॥

पौरुषं च नवानंतं न यत्नमभिवांछयेत्। न यत्नापि महित प्राप्यते रत्नमशमतः ॥ ११३ ॥

अर्थ—आत्मतत्त्व प्राप्ति के लिये अनन्त पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु आत्मतत्व साक्षात्कार पर्यन्त ही प्रयत्न अपेक्षित है। क्योकि (प्रत्यक्षावगमंधर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्) यह आत्मतत्व साक्षात्कार पर्यन्त नाश रहित सुख से करने योग्य है। यह गीता वाक्य है। क्योंकि रत्नतत्त्व परीक्षा में जो कुशल है उनको बिना श्रम ही रत्नलाभ होता है ॥ ११३ ॥

यथा घटः परिमितो यथा परिमितः पटः। नियतः परिमाणस्थः पुरुषार्थस्तथैव च ॥ ११४ ॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० ५ श्लो० २१-२२-२३-२४

अर्थ—जिस प्रकार घट जलसे परिमित है और पट दृढ्यादि प्रमाणसे परिमित है। इस प्रकार आत्मतत्त्वके साक्षात्काररूप फलकी अवधि में पुरुष प्रयत्न भी परिमित है ॥ ११४ ॥

बुद्धैव पौरुषफलं पुरुषत्वमेतदात्मप्रयत्न परतैव सदैवकार्यम्। नेयस्ततः सफलतां परमार्थसेवी सच्छास्त्र साधुजन पंडितसेवनेन ॥११५॥

अर्थ—पुरुषार्थ से आत्मज्ञानरूप फल की प्राप्ति ही मनुष्य जन्म का फल है। नहीं तो मनुष्य जन्म निष्फल है। इस प्रकार जानिके सदैवकाल आत्मज्ञान के प्रयत्नमें तत्पर रहै। और आत्मज्ञानकी प्राप्ति द्वारा प्रयत्नको सफल करना ही उचित है। यह सफलता सच्छास्त्रके विचार से तथा महात्माओं की तथा पंडितों की सेवासे प्राप्त होती है ॥ ११५ ॥

दैवपौरुषविचारचारुभिश्चेदमाचरति चात्मपौरुषम्। नित्यमेव जयति तिभावतैः कार्य आर्यजनसेवयोद्यमः॥११६

अर्थ—दैव क्या है पुरुषार्थ क्या है इस विचार में कुशल और शम दमादिक सम्पत्ति सहित जो पुरुष है। वे यदि पुरुषार्थ करे तो वह अवश्य दैवको जीतलेते हैं। इसलिये आपना कल्याण चाहने वाले अधिकारी जन को श्रेष्ठ सन्तोंकी सेवासे श्रवण मननादिसे उद्यम अवश्य करना चाहिये ॥ ११६ ॥

जन्म प्रबन्धमयमामयभेषजीवो बुद्धैहिकं सहजपौरुषमेवसिद्धये। शां-

तिर्नियत्ववितथेनवरौषधेन मृष्टेनतुष्ट-पर पंडितसेवनेन ॥११७॥

योο वा७ मुमुο प्रο सο ६ श्लोο ४१-४२-४३।

अर्थ—इस जन्म में कीया हूआ शास्त्र के अनुसार पुरुपार्थ ही मुक्ति के वास्ते समर्थ होता है। इस प्रकार जान के यह जीव जन्म मरणरुप संसार रोग की शांति आत्म ज्ञान से संतुष्ट तथा उत्तम संतों के सेवन रुपी सत्य मिष्ट तथा श्रेष्ट औषधि से करें ॥ ११७ ॥

सच्छास्त्रादि गुणोमत्या सच्छास्त्रादिगुणान्मतिः । विवर्धेते मिथोऽभ्यासात्सरोऽब्जाविवकालतः ॥११८

अर्थ—शुद्ध बुद्धि से सच्छास्त्र के अर्थ का ज्ञान और सच्छास्त्र अभ्यास तथा संतों की संगत से बुद्धि आत्मतत्त्व का ज्ञान यह परस्पर के अभ्यास से ऐसे बढते हैं। जैसे तलाव का जल और कमल। तात्पर्थ यह है कि ज्यों २ यह मनुष्य गुरु की सेवा करता है और सच्छास्त्र के अभ्यास में तत्पर होता है। त्यों २ आत्मज्ञान दृढ होता जाता है। और ज्यों २ ज्ञान की वृद्धि होती है त्यों २ गुरु की सेवा और सच्छास्त्र में विश्वास दृढ होता जाता है। और उससें उत्तरोत्तर सुख की वृद्धि रुप भूमिका में पहुचाता है ॥११८॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीयातु तृतीया तनुमानसी ॥११९॥

सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभावनाषष्ठी सप्तमीतुर्यगास्मृता॥१२०॥महोο अο ५मंत्र२४-२५॥

आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्संगमादिभिः । गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थ संपद्यते हितः ॥१२१॥

मुमुο प्रο श्लोο २९।

अर्थ—बाल्यावस्था से अत्यंत अभ्यास कीये हूये शास्त्र और संतसमागमादि गुणों से पुरुपार्थ द्वारा हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है ॥ १२१ ॥

पौरुषेणजितादैत्याः स्थापिता भुवनक्रियाः। रचितानि जगंतीह विष्णुनां नच दैवतः ॥१२२॥

मुमु प्रο श्लोο ३०।

अर्थ—विष्णु भगवानने पुरुषार्थसेही दैत्योंका जीता है तथा पुरुार्थ से ही लोकोंके कर्म नियत किये हैं। और पुरुषार्थसे ही अनेक जगत रचें हैं। और दैव से कुछ भी नही हूआ ॥१२२॥

जगतिपुरुषा कारकारणेऽस्मिन्कुरुरघुनाथचिरं तथा प्रयत्नम् । व्रजसितरुसरीसर्पाभिधाना सुभग यथा न दशा मशकएव ॥१२३॥

मुमुο प्रο श्लोο ३१।

अर्थ—हे रघुनाथ इस संसार में दीर्घ काल तक वैसा पुरुषार्थ करे कि जिस से पुनः वृक्ष तथा सर्पादियोनियो में न प्राप्त होवे ॥ १२३ ॥

नमूर्तस्तेन संगोऽस्ति नभसैव वपुष्मतः। मूर्तं च दृश्यतेलग्नं तस्माद्दैवं न विद्यते ॥१२४॥

योο वाο मुमुο प्रο सο ८ श्लोο १३।

अर्थ—अकाश के समान मूर्ति रहित का

मूर्ति सहित के साथ संयोग संभव नहीं । जो मूर्ति सहित है उन्हीं का परस्पर संयोग देखा गया है । इसलिये दैव नहीं है ॥१२४॥

विनियोक्रथभूतानामस्त्यन्यच्चेज्जगत्रये । शेरतेभूतवृंदानिदैवं सर्वं करिष्यति ॥१२५॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० ८ श्लो० १४ ।

अर्थ—क्रिया में तत्पर भूतोंसे अन्य यदि तीन लोकमें कोई दैव होवेतो सर्व जीवोंके समूह व्यापार रहित होकर पुरुषार्थ को त्यागकर सो रहैं । सर्व कार्य दैव करलेवेगा ॥१२५॥

दैवेनत्व भियुक्तऽहंतत्करोमीदृशं स्थितम् । समाश्वासनवागेषा न दैवं परमाथतः ॥१२६॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० ८ श्लो० १५ ।

अर्थ—दैव की प्रेरणा से दैवके संकल्प से सिद्ध मैं इस कार्य को करता हूं । यह वचन केवल धैर्य्यमात्र है यथार्थ में पुरुषार्थ के सिवाय दैव कोई पदार्थ नहीं है ॥१२६॥

मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परस्ते क्षयंगताः । प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुच्चमंतां गताः ॥१२७॥

यो० वा० मुमु० प्र० स ८ श्लो० १६ ।

अर्थ—मूढ पुरुषोंने दैवकी कल्पना की है और जो दैवका आश्रय लेते हैं वे नष्ट होगये हैं और बुद्धिमान तो आपने पुरुषार्थ का आश्रय लेकर इस लोकमें उत्तम पदको मोक्षरूप फल को प्राप्त हुए हैं ॥१२७॥

अनपायि निराशंकं स्वस्थयं विगत विभ्रमम् । न विना केवली भावाद्विद्यते भुवनत्रये ॥१२८॥

अर्थ—नाश रहित शंका रहित शांत तथा भ्रमशून्य केवलीभाव को छोड़के तीनोंलोकों में और कोई मोक्षका साधन नहीं है ॥१२८॥

तत्पराप्तावुत्तम प्राप्तौ न क्लेशउपजायते । न धनान्युपकुर्वंति न मित्राणि न बांधवा ॥१२९॥

अर्थ—उस केवलीभाव के प्राप्त होने से कैवल्य मुक्तिकी प्राप्तिमें कुछभी क्लेश नहीं होता और ज्ञानके सिवाय धन मित्र और बंधु कोई भी काम नहीं आता ॥१२९॥

न हस्त पाद चलनं न देशांतर संगमः । न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयाः ॥१३०॥

अर्थ—आत्मज्ञानके लिये हाथ पैर चलाने की आवश्यकता नहीं । न देशांतर में जाना पड़ता है, न शरीरको क्लेश देना पड़ता है । न तीर्थोंमें निवास करना पड़ता है ॥१३०॥

पुरुषार्थैकसाध्येन वासनैकार्थ कर्मणा । केवलं तन्मनोमात्रजयेनासाध्यते पदम् ॥१३१॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १ श्लो० ३० ।

अर्थ—वेदांत श्रवण मनन निदिध्यासन रूप पुरुषार्थ से द्वैत वासना को निरुद्ध करके ब्रह्माकार दृढ अभ्यास से और मन के जीतनेसे मनुष्यके आत्मज्ञानरूपपदकी प्राप्ति होती है॥१३१

विवेकमात्र साध्यंत विचारैकांत

निश्चयम् । त्यजता दुःखजालानि नरैणैतदवाप्यते ॥१३२॥

अर्थ—देह तथा इंद्रयादिकों को आत्मासे पृथक जाननेसे विचार तथा एकांतके सेवनसे तथा दुःखोंके मूलजो विषयजाल हैं उनके त्याग तैं मनुष्यको परमपदकी प्राप्ति होती है ॥१३२॥

सुखसेव्यासनस्थेन तद्विचारयता स्वयम् । न शोच्यते पदंप्राप्य न स भूयोहि जायते ॥१३३॥

अर्थ—सुखासन पर बैठ के और स्वयं ब्रह्म विचार करनेसे जो ब्रह्मपद को प्राप्त होता है वह शोचके योग्य नहीं रहता है और पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता ॥१३३॥

तत्समस्त सुखासारसीमांतं सधवोविदुः। तदनुत्तमनिष्पदंपरमाहूरसायनम् ॥१३४॥

अर्थ—महात्माजन ब्रह्मानन्द की प्राप्तिको ही समस्त अनन्दों की परमावधि कहते हैं और उसीसे ध्यान करने वाले योगियों को सर्वोत्तम तथा अनिर्वचनीय परमानंदकी प्राप्ति होती है।१३४

क्षयित्वात्सर्व भावानां स्वर्गमानुष्ययोर्द्वयोः । सुखं नास्त्येवसलिलं मृगतृष्णास्विवैतयोः ॥१३५॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १३ श्लो० ४१-४२-४३-४४

अर्थ—मनुष्यलोक तथा देवलोक के सर्व पदार्थ नाशवान हैं । इसलिये जैसे मृगतृष्णामें जल नहीं है, तैसे ही इन तीनों लोकोंके पदार्थों में सुखका लेशभी नही है ॥१३५॥

अतो मनोजयश्चिंत्यः शमसंतोष साधनः । अनंतसमसंयोगस्तस्मादानंद आप्यते ॥१३६॥

अर्थ—इसलिये शम तथा सन्तोष साधन सहित अनंत परमात्माकी प्राप्तिके वास्ते मनके जयकी चिंता करनी चाहिये । क्योंकि मनके जयसे ही परमानंदकी प्राप्ति होती है ॥१३६॥

तिष्टता गच्छता चैव पतता भ्रमता तथा । रक्षसा दानवेनापि देवेन पुरुषेण वा ॥१३७॥

अर्थ—चाहे चलता हो वा बैठता हो गिरता हो वा भ्रमण करता हो राक्षस हो, दानव हो देव हो वा मनुष्य हो ॥१३७॥

मनः प्रशमनोद्भूतं तत्प्राप्यं परमंसुखम् । विकासि शमपुष्पस्य विवेकोच्चतरोः फलम् ॥१३८॥

अर्थ—केवल मनकी शांतिसे ही विकास शील शमरूप पुष्पसे शोभित विवेकरूपी वड़े वृक्षका फल परमपदरूप सुख प्राप्त होता है॥१३८

व्यवहारपरेणापि कार्यं वृदंमविंदता। भानुनेवांबरस्थेन नोज्झयते न च वांछयते ॥१३९॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १३ श्लो० ३५-४६-४७-४८

अर्थ—परमपदकी प्राप्तिसे व्यवहारमें तत्पर होने पर भी जीव का संसारी कार्योंमें सम्बन्ध नहीं रहता । प्रकाशमें स्थित सूर्यके समान ना तो वह किसी पदार्थकोत्यागता है, ना किसी को ग्रहण करता है ॥१३९॥

मनः प्रशांतमत्यच्छं विश्रांतं विगत

भ्रमम्। अनीहं विगताभीष्टं नाभि वांछति नोज्झति ॥१४०॥

अर्थ—जो मन प्रशांत निर्मल विश्रांत भ्रम तथा चेष्टा रहित और विषयकी अभिलाक्षा से रहित है। वह न तो कुछ चाहता है और ना कुछ त्यागता है, क्योंकि वह चारों ओर से पूर्ण है ॥१४०॥

मोक्षद्वारेद्वारपालानि मांशृणु यथा क्रमम्। येषामेकतमासक्त्या मोक्षद्वारं प्रविश्यते ॥१४१॥

अर्थ—मोक्ष के चार द्वार पर द्वारपाल हैं, उन को क्रम से विस्तार पूर्वक सुनो उन में से एक के साथ भी मेल होने से मुक्ति रुप मंदर में मनुष्यका प्रवेश हो सकता है ॥ १४१ ॥

सुखदोषदशादीर्घा संसारमरुमण्डली। जंतो शीतलतामेति शीतरश्मेः समप्रभा ॥१४२॥

अर्थ—सुख की आशा रुप ताप के समान और दोष दशाको तथा संसाररुपी मरुस्थलीरुप भ्रमको निवृत करने के वास्ते यह शमचंद्रमा के किरण के समान मुमुक्षुके लिये अतिशीतल हैं ॥ १४२ ॥

शमेनासाद्यते श्रेयः शमोहिपरमं पदम्। शमः शिवः शमः शांतिः शमो भ्रांति निवारणम् ॥१४३॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १३ श्लो० ४९-५०-५१-५२

अर्थ—क्योंकि शम से ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, शमही परमपद है। शमही शिव है शम ही शान्ति का मूल है और शमही भ्रमका निवारण करने वाला है ॥ १४३

पुंसः प्रशम तृप्तस्य शीतलाच्छतरात्मनः। शमभूषितचित्तस्य शत्रुरप्येति मित्रताम् ॥१४४॥

अर्थ—जो पुरुष शमसे तृप्तहो रहा है और शमसे जिसका चित भूषित है उस का शत्रु भी मित्र हो जाता है ॥ १४४ ॥

शम चन्द्रमसा येषा माशयः समलंकृतः। क्षीरोदानामिवोदेति तेषां परम शुद्धता ॥१४५॥

अर्थ—शमरूपी चंद्रमा से जिसका अन्तःकरण अलंकृत है उस को समुद्र के समान परम शुद्धता प्राप्त होती है ॥१४५॥

हृत्कुशेशय कोषेषु येशां शमकुशेशयम्। सतां विकासितं तेहि द्विहृत्पद्माः समाहरेः ॥१४६॥

अर्थ—जिन सज्जन महात्माओं के हृदय कमलमें शमरूपी कमल विकिसित हुआ है वह महात्माजन दो कमलधारी विष्णुभगवान के समान हैं ॥१४६॥

शमश्रीः शोभते येषां मुखेंदावकलंकिते। सकुलीनेंदवो वंद्याः सौंदर्य विजितेंद्रियाः ॥१४७॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १३ श्लो० ५३-५४-५५-५६

अर्थ—जिनके कलंक रहित मुख पर शमरूपी लक्षमी शोभित हो रही है। वे आपनी सुंदरतासे इन्द्रियोंको जीतने वाले आपने कुल के चन्द्रमा वंदनीय हैं ॥१४७॥

त्रैलोक्योदरवर्तिन्यो नानंदाय तथा श्रियः साम्राज्यसम्पत्प्रतिमा यथा शम विभूतयः ॥१४८॥

अर्थ—त्रैलोक्य की संपत्तियों में कोई भी इतना आनंद नहीं देती जितना कि सम्राज्य संपत्तितुल्य शम को ऐश्वर्य सुख देता है १४८

यानिदुःखानि यातृष्णा दुःसहाये दुराधयः। तत्सर्वं शांतचेतः सुतमोर्केष्विवनश्यति ॥१४९॥

अर्थ—संसार के दुःख तथा तृष्णा तथा मन की अनेक पीड़ा सर्व शांति चित्त वाले के ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे महान अंधकार सूर्य के प्रकाश से ॥ १४९ ॥

मनोहि सर्वभूतानां प्रसादमाधिगच्छति। न तथेंदोर्यथा शांते जने जनित कौतुकम् ॥१५०॥

अर्थ—आश्चर्य जनिक सर्व प्राणियों का चित्त चंद्रमा से वैसा प्रसन्न नहीं होता। जैसा कि एकशांत मनुष्य के देखने से ॥ १५० ॥

शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जंतुषु । सुजने परमं तत्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥१५१॥

अर्थ—जो मनुष्य शम से शोभायमान है। और सर्व प्राणियों पर कृपा करने वाला है तथा सज्जन है उस के ऊपर परमात्मा आप ही कृपा कर के प्रसन्न होता है ॥ १५१ ॥

मातरीव परंयांति विषमाणि मृदूनि च। विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥१५२॥

अर्थ—जो मनुष्य शम से शोभाय मान है उस के ऊपर क्रूर और कोमल हृदय वाले संपूर्ण प्राणी विश्वास करते हैं। जैसे पुत्र माता पर ॥ १५२ ॥

न रसायन पानेन न लक्ष्यम्यालिंगनेन च। तथा सुखमवाप्नोति शमनां तर्यथा मनः ॥१५३॥

अर्थ—अंतः करण में जो सुख शम से प्राप्त होता है वह ना तो इंद्र हो कर के अमृत के पान से होता है और ना विष्णु हो कर के लक्ष्मी के अलिंगन से होता है ॥ १५३ ॥

सर्वाधि व्याधि चलितं क्रांतं तृष्णा वरत्रया। मनः शमामृतासेकैः समाश्वासय राघव ॥१५४॥

अर्थ—हे राम जो यह मन जो शरीर तथा मानसिक अनेकदुः खोंसे चलाय मान हो रहा। और तृष्णारूपी रस्सी से इधर उधर खैंचा हुआ है उस को शमरूप अमृत से सींच कर शांत करो ॥ १५४ ॥

यत्करोषि यदश्नासि शम शीतलयाधिया। तत्राति स्वादते स्वादुनेतरत्तातमानसे ॥१५५॥

अर्थ—हेतात जहां बुद्धि शाम से शीतल है जो कुछ करते हो खाते हो वह मन को अत्यंत स्वादिष्ट लगता है ॥ १५५ ॥

शमामृतरसाच्छन्नं मनो यामेति निर्वृतिम्। छिन्नान्य पितयांगानि मन्ये रोहंति राघव ॥१५६॥

अर्थ—हे राम जी शमरूपी अमृत से संचित्त मन से ऐसा सुख प्राप्त होता है कि जिस से कटे हुये भी अंग पुनः जुड़ जाते हैं ॥१५६॥

न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः। न च व्याघ्र भुजंगावाद्विषंति शमशालिनम् ॥१५७॥

अर्थ—शम से शोभायमान पुरुष से पिशाच राक्षस दैत्य व्याघ्र और सर्व कोई भी द्वेष नहीं करता ॥ १५७ ॥

सुसन्नद्धसमस्तांगं प्रशमामृतवर्मणा। वेधयंति न दुःखानि शरा वज्र शिलामिव ॥१५८॥

अर्थ—उत्तम शमरूपी कवच से जिस के समस्त अंग रक्षित हैं उस को कामना ऐसे नहीं छेदन कर सकती जैसे वज्र की शिलाको बाण ॥ १५८ ॥

न तथा शोभते राजा अप्यंन्तः पुरसंस्थितः। समया स्वच्छया बुद्धया यथोपशमशीलया ॥१५९॥

योः वाः मुमुः प्रः सः १३ श्लोः ५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८ ॥

अर्थ—आपने राज महल में विराजमान राजा भी वैसा शोभत नहीं होता जैसे शम से शोभायमान स्वच्छ और समान बुद्धि से साधारण पुरुष शोभित होता है ॥ १५९ ॥

प्राणात्प्रियतरं दृष्ट्वा तुष्टिमेति नवै जनः। यमायाति जनः शांति मवलोक्य शमाशयम् ॥१६०॥

अर्थ—प्राण से भी प्रियजन जो स्त्रीपुत्रादि को देख कर मनुष्य वैसा प्रसन्न शांत नहीं होता। जैसा शमयुक्त अन्तःकरण वाले पुरुष को देखकर होता है ॥ १६० ॥

समया शमशालिन्या वृत्त्या यः साधुवर्तते। अभिनंदितयालोके जीवतीह स नेतरः ॥१६१॥

अर्थ—समता युक्त सर्व मनुष्यों से प्रशंसित शम से शोभित वृत्त से इस संसार में जो उत्तम व्यवहार करता है। उसी का जीवन सफल है दूसरे का नहीं ॥ १६१ ॥

अनुद्धतमनाः शांतः साधु कर्म करोति यत्। तत्सर्वमभिनंदंति तस्येमा भूतजातयः ॥१६२॥

अर्थ—नम्रता युक्त शांत चित्त हो कर साधु महात्मा जो कार्य करते हैं वही सर्व को प्रशसनीय होता है। और सर्व प्राणीमात्र उस के वश में रहते हैं ॥ १६२ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वाः च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्। न हृष्यति ग्लायाति यः स शांति इति कथ्यते ॥१६३॥

अर्थ—जो शुभा शुभ को सुना कर स्पर्श करके देखकर के भोजन करके तथा स्नान कर के न प्रसन्न होता है। तथा नग्लानो को प्राप्त होता है उस को शांत कहते हैं ॥ १६३ ॥

योः वाः मुमुः प्रः सः १३ श्लोक ६९-७० ७१-७२ ॥

यः समः सर्वभूतेषु भावि कांक्षति नोज्झाति। जित्वेंद्रियाणि यत्नेन स शांत इति कथ्यते ॥१६४॥

अर्थ—जो पुरुष प्रयत्न से सर्व इंद्रियों को जीत कर सर्व जीवों में समता से वर्तता है। और सुखादि की इच्छा नहीं करता उस को शांति कहते हैं ॥ १६४ ॥

स्पृष्ट्वा वदातया बुद्धया यथैवांस्तथा बहि। दृश्यंते यत्र कार्याणि स शांत इति कथ्यते ॥१६५॥

अर्थ—अपनी शुद्ध बुद्धि से दूसरे की कुटिलता आदि को जान कर भी जो भीतर और बाहर से एकरस रहता है और जिस में मोक्षोपाय के संपूर्ण कर्त्तव्य देख पड़ते हैं उसको शांत कहते हैं ॥१६५॥

तुषारकरबिंबाभंमनो यस्यानिराकुलम् । मरणोत्सवयुद्धेषु स शांति इति कथ्यते ॥१६६॥

अर्थ—मृत्यु आदि के भय से उत्सव में और क्रोध के समय में जिस का मन व्याकुल नहीं होता किंतु चंद्रमाके बिंबके समान निर्मल रहता है उसको शांत कहते हैं ॥१६६॥

स्थितोऽपि न स्थित इव न हृष्यति न कुप्यति । यः सुषप्तसमः स्वस्थः स शांति इति कथ्यते ॥१६७॥

यो० वा० मुमु० प्र० १३ श्लो० ७३-७४-७५-७६ ॥

अर्थ—हर्ष तथा शोक के स्थान में वर्तमान भी जो ना तो प्रसन्न होता है और ना क्रोध करता है। और जो सुषुप्त पुरुषकी न्याई स्वस्थ चित्त रहता है उसको शांत कहते हैं ॥१६७॥

अमृतस्यंदसभगा यस्य सर्वजनं प्रति। दृष्टिः प्रसरति प्रीतास शांत इति कथ्यते ॥१६८॥

अर्थ—अमृतके प्रवाहके समान सुख देने वाली प्रसन्नता युक्त जिसकी दृष्टि सर्व प्राणियों के ऊपर पड़ती है उसको शांत कहते हैं १६८

योतः शीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति । व्यवहारीन संमूढः स शांत इति कथ्यते ॥१६९॥

अर्थ—जिसका अंतःकरण शीतल है और जो संसारके विषयों में व्यवहार करता हूं भी उस में अत्यंत असक्त नहीं होता और न मूढ़ होता है उस को शांत कहते हैं ॥ १६९ ॥

अप्यापत्सु दुरंतासु कल्पांतेषु महत्स्वपि । तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शांत इति कथ्यते ॥१७०॥

अर्थ—दीर्घ कालकी बड़ी २ आपत्तियों मे भी मिथ्या और नश्वर देह आदि में जिसके मन में अहं बुद्धि नहीं है उसको शांत कहते हैं ॥ १७० ॥

अकाशसदृशा यस्य पुंसः स व्यवहारिणः । कलंकमेति न मतिः स शांत इति कथ्यते ॥१७१॥

अर्थ—व्यवहार करते हूये भी जिस पुरुष की बुद्धि अकाशके सदृश विकार रहित है और रागादिककलंकों से रहित है उसको शांत कहते हैं ॥ १७१ ॥

तपस्विषुबहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च। बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते१७२

अर्थ—संसारमें तपस्वियों में पंडितोंमें यज्ञ करने वालोंमें राजाओंमें बलवानोंमें और बड़े २ गुणियों में जो शांत है वही शोभायमाम होता है ॥ १७२ ॥

शमसंसक्तमनसां महतां गुणशालिनाम् । उदेति निर्वृतिश्चित्ताज्ज्योरनेवसितरोचिषः ॥१७३॥

अर्थ—हे राम जी शम में असक्त महाने गुणों से शोभायमान महात्माओंके चित्तमें शांति ऐसे उदय होती है जैसे चंद्रमा से चंद्रका १७३

सीमांतोगुण पूगानां पौरुषैकांत भूषणम्। संकटेषुभयस्थाने शमः श्रीमान् विराजते ॥१७४॥

अर्थ—सर्व गुण समूहों की अवधि सर्व पुरुषार्थों का मुख्य भूषण अनेक संपत्तियों से युक्त जो शम है वह संकटों में और भय के स्थानों मेंभी शोभित होता है ॥ १७४ ॥

शममृतमहार्यमार्यगुप्तं परमवलंब्य परं पदं प्रयाताः। रघुतनय यथा महानुभावाः क्रममनु पालयः सिद्धये तमेव ॥१७५॥

अर्थ—हेराम चंद्रजी यह शम रूपी अमृत सर्वस उत्तम है। इसको दूसरे हरसक्के नहीं। श्रेष्ट पुरुषोंने इसकी बड़ी सावधानी से रक्षाकी है और महात्मा जन इसी शमका ही आश्रय ले कर परम पदको प्राप्त हुए है पुरुषार्थ आत्मज्ञान की सिद्ध के लिये आपभी उसी क्रम का पालन करो ॥ १७५ ॥

शंका—हे भगवन जैसे कोई अंध पुरुष महान वनविषे प्राप्त होइ के अनेक दुःखों को प्राप्त होवे हैं। और ताअंध पुरुष को दुःखी देखके कोई दयालु पुरुष मार्गका उपदेश करके ताअंध पुरुष को बनते बाहर निकासे हैं। तैसे संसाररूप महान वनविषे मैं प्राप्त होइके अनेक दुःखों को अनुभव करता हूं। आपके दयालु स्वभावको देखि करिकै ता संसाररूपी बनतैं बाहर निकसने कामार्ग मैं आपसे पूछता हूं। आप कृपा कर के तामार्ग का उपदेश करो। जैसे लोक प्रसिद्ध वनविषे भयानक सर्प होवे हैं। तथा अनेक गर्तोकरिकै युक्त होवे है। तथा अनेक वृक्षो करके युक्त होवे हैं। तथा अनेक सिंहोंके शब्दो करके पूर्ण होवे है। तथा अग्नि करके दग्ध होवे है। तैसे यह संसाररूप बनभी कामरूप सर्पों करके युक्त है तथा स्त्रीरूपी महान गर्तो करके युक्त है। तथा नेत्रादि इंद्रियोंरूपी वृक्षों करके युक्त है। तथा अहंकार रूपी सिंहके शब्दों करके पूर्ण है तथा क्रोधरूपी अग्नि करके चित्तरूप भूमि तथा शुभगुणरूपी वृक्ष जिसके दग्ध भये हैं। और हे भगवन जैसे लोक प्रसिद्ध वनविषे व्याधपुरुष श्वानों को हाथविषे लैकै तथा धनुष बाणको हाथविषे लैकै। तथा श्वानो करके तथा धनुषबाण करके मृगों को हनन करे है तैसे या संसाररूपी वनविषे कालरूपी व्याधमनरूपी श्वानों को लैकै तथा क्षण लवादी कालरूप धनुषविषे जरा व्याधिरुप बाणोंको संधान करके अस्मादादिक जीवरूप मृगों को हनन करे है। यातें तां मृत्युरूप व्याध का जरा व्याधिरूप बाण जबतक हमारे सन्मुख नहीं भया है। तब पर्यंत शीघ्रही हमारे कोब्रह्म विद्यारूप मार्गका उपदेश करो। विलंब करनेका यहसमय नहीं है मैं आपकी शरण हूं समाधान। हेशिष्य अज्ञानके निवृत्तका उपाय एक आत्मज्ञान ही है और कर्म उपासनादिक अज्ञान के निवृत्ति के कारण नहीं हैं।

शंका—हे भगवन मैंने आपसे संसाररूप शूल के निवृत्तिका उपाय पूछा है आपने अज्ञान के निवृत्ति का उपाय कहा। यांते हमारे प्रश्न के अनुसार उत्तर नहीं है ॥ समाधान—हे शिष्य काम क्रोधादिक रूपकाकों का और स्त्रीरूप वृक्ष का है निवास जांविषे ऐसा जो संसाररूप शूल है। परमेश्वर ने आपनी माया करिकै उत्पन्न किया है। आत्मज्ञान से मायाकी निवृत्ति हुए तैं ताका कार्यजो संसाररूपी शूलकी भी निवृत्ति

बनै है। जैसे तंतु के नाश से पटका नाश होवै है। सो जब पर्यंत नित्यानित्य का विचार नहीं करता तब पर्यंत आत्मज्ञानकी प्राप्ति और अज्ञान की निवृत्ति होवै नहीं। तहा श्रुति।

नित्यः शुद्धो निरंजनो विभुरद्वयः शिव एकः स्वेनभासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्ड वदेकं भिन्नवदवभासते। तद्भासकं किमितिचेदुच्यते। सच्छब्दवाच्यमविद्या शबलं ब्रह्म॥ १७६॥

त्रिशिखि ब्रह्मणोपनिषत।

अर्थ—नित्यरूप शुद्ध निरंजन विभू अद्वय एक शिव आप ही इस सर्व का प्रकाशक ईश्वर कारण को देखता भया जिस का ज्ञान ही तप है तिस ज्ञानरूप तपसे एक पिंडकी न्याई आपने से भिन्न ईश्वर देखता भया। तिसका देखना क्या है इति कहते हैं। ब्रह्म अविद्या सबल होने से सत शब्द का वाच्य होता भया॥१७६॥

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकरात्पंचतन्मात्राणि। पंचतन्मात्रेभ्यः पंचमहाभूतानि पंचमहांभूतेभ्योऽखिलं जगत्॥१७७॥

त्रिशिखि ब्रह्मणोपनिषत्।

अर्थ—तिस माया सबलब्रह्म की इच्छासे अव्यक्त उत्पन्न होती भई। तिस अव्यक्त से महतत्त्व उत्पन्न होता भया। तिस महतत्त्व से समष्ठि अहंकार उत्पन्न होता भया, तिस अहंकार से पंचतन्मात्रा अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गंध यह पंच तन्मात्रा उत्पन्न होती भई, तिन पंचतन्मात्रों तैं पंचमहाभूत अर्थात आकाश वायु तेज, जल, पृथवी यह पंचमहाभूत उत्पन्न होते भये, तिन भूतों तैं सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत उत्पन्न होता भया॥१७७॥

शंका—हे भगवन्! पूर्व आपने आत्मज्ञान करके अज्ञानकी निवृत्ति कही और ज्ञान करके मायाकी निवृत्ति कही। यातैं पूर्व उत्तर कहने का विरोध होवै है॥ समाधान—माया तथा अज्ञान यह दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। तहां श्रुति।

अनादिमत्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानिभुवनानि विश्वा। मायांतु प्रकृतिंविद्यान्मायिनंतु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तुव्याप्तं सर्वमिदंजगत्॥१७८

श्वेताश्वतरोपनिषत् अ० ४ मंत्र ४-१०।

अर्थ—विभुरूप होने तैं वर्तमान है जिस माया से सर्व भुवनानिरूप विश्व उत्पन्न होवै है तिसके नाम माया है पुनः प्रकृति है तथा अविद्या है तिस माया वाला महेश्वर है अर्थात ईश्वर संज्ञा वाला होवे है। तिस ईश्वर के अवयवरूप से यह सर्व नामरूप जगत व्याप्त होरहा है॥ १७८॥

जैसे घट और कलस यह दोनों शब्दएक ही अर्थ के वाचक हैं यातै विरोध नही है। शंका। पूर्व आपने ज्ञान तें अज्ञान की निवृत्ति कही सोबनै नहीं। काहेतैं घटपटादिक पदार्थों का अज्ञान ज्ञान तो सर्व लोकों को है परंतु किसीकें अज्ञान की निवृत्ति होवे नहीं।

समाधान—वेदांतशास्त्र के श्रवणतैं उत्पन्न भया जो ज्ञान है सोई अज्ञान का निर्वृत्तक है। तिसतैं भिन्न जितने ज्ञान हैं ते सम्पूर्ण अज्ञान रूप ही हैं यातैं तिनों तैं अज्ञानकी निवृत्ति होवै नहीं, जैसे सन्निपात करिकै भ्रम को प्राप्त भया जो पुरुष है तिसने कहा मेरेको भेरी का शब्द

श्रवण होवै है। तां ज्ञान को कोई लोक विषे यथार्थ मानता नहीं, यां तै नित्यानित्य के विचार द्वारा सन्तोष तथा सत्संग द्वारा विचार करिकै मैं ब्रह्मरूप हूं ऐसा जो वेदांत के श्रवण तैं और गुरु की कृपा करिकै उत्पन्न भया जो ज्ञान है सोई ही मोक्ष के प्राप्ति का मार्ग है। तातैं हे शिष्य संसाररूप शूलका परित्याग करके ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति मंडप है ताको प्राप्त होवो। और आपने स्वरूपके अज्ञानकी निवृत्ति वास्ते मैं ब्रह्म हूं यां ज्ञान को वेदांत श्रवण तैं अवश्य संपादन करो, और आत्मज्ञान तैं भिन्न देहरूप बंधन के देने हारे जो यज्ञादिक काम्य कर्म हैं तिनोंका परित्याग करके आत्मज्ञान को संपादन करो, सो आत्मज्ञान कैसा है संसाररूप शूलका जो कारण अज्ञान है ताका नाश करने हारा है, और पांच प्रकार के भेद तैं रहित जो आत्मस्वरूप ब्रह्म है ताकी प्राप्ति करने हारा है यां तै आत्मज्ञान ही सर्व तैं अधिक है।

किं ज्ञानं। देहेंद्रियंनिग्रहसद्गुरुपासनश्रवणमनन निधिध्यासनैर्यद्यदृग्दृश्यस्वरुपं सर्वांतरस्थं सर्व समंघटापटादिपदार्थ मिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किचन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम् ॥१७९॥ (निरालंभोपनिषत)

अर्थ—ज्ञान किया है स्थूलदेह श्रोत्रादिक इन्द्रियों को निग्रह करके सद्गुरु की सेवा में तत्पर हो करके महावाक्य के श्रवण मनन निदिध्यासन द्वाराजो ज्ञान प्राप्त हुआ है जो द्रष्टाको दृश्यरूप सर्वांतर स्थित सर्व स्थावर जंगम देहों में सम एकरस देखता है और जो घटपटादिकों की न्याई विकार रहित है। ऐसा चिन्मय वस्तु से विना किंचित्मात्र भी नहीं है अर्थात सर्व नामरूप प्रपंच चिन्मय यही है इस प्रकार के साक्षात्कार अनुभव को ज्ञान कहते हैं ॥१७९॥

तहां श्रुति। चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्त न कर्हिचित्। जीवत्वं च तथा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पग्रहो यथा ॥१८०॥

योगशिखोप० अ० ४ मं० १।

अर्थ—अस्ति भाति प्रियरूप चेतन एकरूप होने तैं भेद कदाचित भी युक्त नहीं है तथा जीवको ब्रह्ममें ऐसा जानो जैसे रज्जु में सर्प भ्रांति से प्रतीत होता है ॥१८०॥

रज्ज्वज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी। भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥१८१॥

योगशिखोप० अ० ४ मं० २।

अर्थ—जैसे रज्जू के ज्ञानतैं एक क्षणमें ही जैसे सर्व रज्जूरूप है तैसे ही चेतन के ज्ञानतैं साक्षात प्रपंच केवल ब्रह्मरूप ही होवै है ॥१८१

उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोऽन्यन्नविद्यते। तस्मात्सर्व प्रपंचोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥१८२॥

योगशिखोप० अ० ३ मं० ३।

अर्थ—इस नामरूप प्रपंचका उपादान ब्रह्म ही है अन्य कोई कारण नहीं है। तिस कारण तैं यह सर्प प्रपंच ब्रह्म ही है और नहीं है ॥१८

व्याप्य व्यापकता मिथ्या सर्व मात्मेति शासनात्। इति ज्ञाते परे तत्वे भेदस्य वसरः कुतः ॥१८३॥

योग शि० उ० अ० ४ मं० ४।

अर्थ—जीव व्याप्य है ब्रह्म व्यापक है यह दोनों शब्द मिथ्या हैं, सर्वत्र परिपूर्ण आत्माही

है यह वेद की (शासनात्) आज्ञा है। इस प्रकार परम तत्वके ज्ञानसे भेदको अवसर कहां है १८३

ब्रह्मणः सर्वभूतानिजायंते परमात्मनः तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवंतीति विचिंतय ॥१८४॥

योग शिखोप० अ० ४ मं० ५।

अर्थ—ब्रह्मरूप परमात्मा तैं सर्व नामरूप भूतों की उत्पत्ति होई है तिस कारणतैं यह सर्व नामरूप प्रपंच ब्रह्मरूप ही हो सकते हैं, इस प्रकार से चिंतन करो ॥१८४॥

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च। कर्माण्यपि समग्राणि विभर्तीति विभावय १८५॥

योग शिखोप० अ० ४ मं० ६।

अर्थ—यह सर्व नामरूप प्रपंच ब्रह्म ही है और नाना प्रकारके कर्म भी समग्र अस्ति भाति प्रियरूप पालन पोषन करने वाला ब्रह्म ही है॥

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्। ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथाभवेत १८६॥

योगशि० उ० अ० ४ मं ७।

अर्थ—सुवर्णसे जायमान भूषण सुवर्णरूप ही एकरस होवै हैं, तैसे ब्रह्मतैं उत्पन्न यह नाम रूप प्रपंच ब्रह्मरूप ही है ॥१८६॥

स्वल्पमप्यंतरं कृत्वा जीवात्म परमात्मनोः। यस्तिष्ठति विमूढात्मा भयं तस्यापि भाषितम् ॥१८७॥

योगशिखो० अ० ४ मं० ८।

अर्थ—जो थोड़ाभी जीवमें तथा परमात्मा में अन्तरा करता है सो पुरुष जिस जगह में भी मूढात्मा स्थित होवै है तिसको भय होवेगा यह वेद कहता है ॥१८७॥

किं ग्राह्यम्। देशकालवस्तुपरिच्छेद रहित चिन्मात्रस्वरूपंग्राह्यम् ॥१८८॥

निरालंबो०

अर्थ—देश काल वस्तुके परिच्छेदतैं रहित चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप ही ग्रहण करने योग्य है अन्य त्यागने योग्य है ॥१८८॥

शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया। कर्त्तव्यः कराणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥१८९॥

अर्थ—वासिष्ठजी बोले कि अर्थ १ अनर्थ के संबंधका विचार २ प्रमाण ३ तात्पर्यका विचार ४ और आत्मतत्वकी परीक्षा ५ यह पंच प्रकारके विचार हैं उन मेंसे विषयोंमें स्वाभिक प्रवृत्ति अनर्थका हेतु होवे है। और शास्त्र तथा वैराग्यादि में प्रवृत्ति परम पुरुार्थका हेतु होवे हैं। इस प्रकारका विचार करना यह प्रथम १ विचार है। स्त्री पुत्र तथा देहादि स्वाभावसे बीजसे परिणाम अशुद्ध मलमूत्रादि सहित अमंगल रूप हैं और ब्रह्म लोक पर्यंतका सुख अनित्य है। तथा दुःख मिलते हैं। ऐसा विचार करना द्वितीय २ विचार है। यह दोनों विचार वैराग्यकी तथा मोक्षकी इच्छाके कारण हैं। मोक्षकी इच्छाके अनंतर भी क्या मोक्षका साधन कर्म है वा उपासना है वा कर्म उपासना सहित ज्ञान है अथवा केवल ज्ञानही मोक्षका साधन है ऐसा विचार करना तृतीय ३। विचार है यदि ज्ञान है तो वह सांख्य योग है वा वैशेषिकादि शास्त्रोंका है वा कपिल गौतिमादिकों ने जो ज्ञान कहा है। सो ज्ञान है

अथवा श्रुति प्रति पाद्य जो ज्ञान है। यदि श्रुतियोंका ज्ञान मोक्षका साधन है तो श्रुतियों का तात्पय द्वैतमें है वा अद्वैत में है सो सविशेष आत्मामें है वा निर्विशेष आत्मा है इत्यादि विचार करना चतुर्थ ४ विचार है। इसीको श्रवण भी कहते हैं अद्वैत श्रुतियोंका ब्रह्ममें तात्पर्य निश्चय होजाने परभी वह आत्मामें यथार्थ संभव है वानहीं इस प्रकार रत्न परीक्षा न्याय से अनुभव गुरुके संवाद से जीव ईश्वर और जगत्तत्वका शोधन जब तक निश्चय नहीं होता तब तक विचार करना पंचम ५ विचार कहते हैं, इसलिए संशय पूरपक्ष अक्षेप और सिद्धान्त के विभाग के जानने वाले पुरुष को चाहिये कि शास्त्रजन्य ज्ञान सहित निर्मल तथा पवित्र बुद्धि से नित्य प्रति आत्मा का विचार करे॥ १८९॥

विचारात्तीक्षणतामेत्यधीः पश्यति परंपदम्। दीर्घसंसार रोगस्य विचारोहि महौषधम् ॥१९०॥

अर्थ—विचार से बुद्धि तीक्षण हो करके परमपदको देखती है, क्योंकि संसाररूपी महान रोगका विचार ही उत्तम औषधी है ॥१९०॥

आपद्वनमनंतेहा परिपल्लविताकृति विचारक्रकचच्छिन्नंनैव भूयः प्ररोहति १९१

अर्थ—अनेक प्रकार के राग द्वेषादि बड़ी अकृति वाला यह दुःखरूप बन विचाररूपी काष्ट फोरवा नाम पक्षी से काटा हुआ पुनः नहीं जमता॥१९१॥

मोहेन बंधुनाशेषु संकटेषु शमेषुच। सर्व व्याप्तं महाप्राज्ञविचारोहि सतां-गतिः ॥१९२॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १४ श्लो० १-२-३-४-५।

अर्थ—बन्धुनाश तथा अन्य भय और संकट के स्थान अज्ञानसे व्याप्त है, इसलिये हे महामते राम सज्जनोंकी शरण विचार ही है॥११२

न विचारं विना कश्चिदुपायोस्ति विपश्चिताम्। विचारादशुभंत्यक्त्वा शुभमायाति धीःसताम् ॥१९३॥

अर्थ—हे रामजी बुद्धिमानको विचार छोड़ के दूसरा कोई उपाय नहीं है। विचारसे बुद्धि अशुभ पदार्थ को त्यागकर शुभको ग्रहण करती है॥ १९३॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रति पातिः क्रिया फलम्। फलंत्येतानि सर्वाणि विचारे-णैव धीमताम् ॥१९४॥

अर्थ—बल बुद्धि तेज समय के अनुकूल स्फुरण क्रियाओं के अनुष्ठान और उनका फल यह सर्व बुद्धिमानों को विचार से ही सिद्ध होवै है ॥१९४॥

युक्तायुक्तमहादीप मभिवांछितसा-धकम्। स्फारं विचारमाश्रित्यसंसार जलधिं तरेत् ॥१९५॥

अर्थ—उचित अनुचित के प्रकाश करनेमें महा दीपकके समान वांछित अर्थ का साधकजो महान विचार है ता विचार का आश्रय लैके संसाररूपी समुद्र के पार उतरना मनुष्य को आवश्यक है ॥१९५॥

आलून हृदयाम्भोजान् महामोह

मतंगजान्। विदारयति शुद्धात्मा विचारोनाम केसरी ॥१९६॥

अर्थ—हृदय के विवेकरूपी कमलों को जिनोंने छिन्न कर दिया है, ऐसे महा अज्ञानरूपी हस्तियों को शुद्ध विचाररूपी सिंह नष्ट कर देता है ॥१९६॥

मूढाः कालवशेनेह यद्गताः परमं पदम् । तद्विचारप्रदीपस्य विजृम्भितमनुत्तमम् ॥१९७॥

अर्थ—जो लोक संसार के पार उतरने के मार्ग में मूढ़ थे, वे जो कालकी गति से परमपद को प्राप्त होगये हैं वह केवल विचारका ही उत्तम फल है ॥१९७॥

राज्यानि संपदःस्फारा भोगो मोक्षश्चशाश्वतः । विचारकल्पवृक्षस्य फलान्येतानि राघवः ॥१९८॥

अर्थ—हे रामजी राज और बड़ी बड़ी सम्पत्तियों को भोग तथा नित्य मोक्ष यह सर्व ही विचाररूपी कल्पवृक्ष के फल हैं ॥१९८॥

या विवेकविकासिन्यो मतयो महतामिह। न ता विपदि मज्जंति तूंबकानीव वारिणि ॥१९९॥

अर्थ—जो महात्माओं की बुद्धियां विचार से विकसित हो रही हैं, वे विपत्तियों में ऐसे नहीं डूबती जैसे जल में तूबियां ॥१९९॥

विचारोदयकारिण्या धिया व्यवहरंति ये । फलानामत्युदाराणां भाजनंहि भवंति ते ॥२००॥

अर्थ—जो पुरुष विचारयुक्त बुद्धिसे कार्य करते हैं वे बड़े बड़े श्रेष्ठ फलोंके पात्र हैं ॥२००॥

मूर्खहृत्काननस्यानामाशा प्रथमरोधिनाम् । अविचारकरंजानां मजर्योदुःखरीतयः ॥२०१॥

अर्थ—मूर्खों के हृदयरूपी बन में उत्पन्न होने वाली मोक्ष की इच्छा को प्रथम ही रोकने वाली अविचाररूपी तथा दुःखरूपी लता विकसित हो रही है ॥२०२॥

कज्जलक्षोदमालिनी मदिरामदधर्मिणी। अविचारमयीनिद्रा यातुते राघवक्षयम् ॥२०२॥

अर्थ—कज्जल के चूर्ण के समान मलिन मदिराके सदृश भ्रांत पतनादि कार्योंका कारण यह अविचाररूपी आप की निद्रा विचाररूपी जाग्रत से नष्ट होवे ॥२०२॥

महापदति दीर्घेषु सद्विचारपरोनरः। न निमज्जतिमोहेषु तेजोराशिस्तमस्विव ॥२०३॥

अर्थ—महां अपत्तियों सहितजो महां अज्ञान है उस में विचारवान ऐसे नहीं डूबता जैसे अंधकार में सूर्य ॥२०३॥

मानसे सरिसस्वच्छे विचारकमलोत्करः । नूनंविकासितोयस्य हिमवानिवभातिसः ॥२०४॥

यो० व० मुमु० प्र० स० १४ श्लो० १३-१४-१५-१६

अर्थ—जिस के मनरूपी मानसरोवर में विचाररूपी कमल का समूह विकसित हुआ है, वह शीतलता उन्नति और स्थिरतादि गुणों से हिमालय के समान शोभायमान होता है ॥२०४॥

विचारविकालयस्य मतिर्मांद्यमुपेयुषः।

तस्यो देत्यशनिश्चंद्रान्मुधायक्षः शिशोरिव ॥२०५॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि मुर्खता करके विचार से रहित है उसके प्रकाश करनेके योग्य मन रूपी चंद्रमासे भी बज्र ऐसे उत्पन्न होता है जैसे बालककी मूर्खतासे वेताल प्रगट होता है २०५

दुःखखंडकमस्थूलं विपन्नवलतामधुः। रामदूरे परित्याज्यो निर्विवेको नराधमः ॥२०६॥

अर्थ—हेरामजी जो विचार रहित अधम नर हैं वह दुःखरूपी बीजों को धारण करने के लिये अति स्थूल पृथ्वी पर कुशूल है और विपत्तिरूप नवीन लतायों केलिये वसंत ऋतु है। इसलिये उसको दूर से ही त्यागना योग्य है ॥ २०६ ॥

यें केचन दुरारंभा दुराचारा दुराघयः। अविचारेण तेभांति वेतालास्तमसा यथा ॥२०७॥

अर्थ—अपनेको तथा दूसरेको दुःखदायक कर्म ओर शास्त्र से निषिद्ध जो दुराचरण तथा अनेक मानसी पीडायें यह सर्व अविचार से ही ऐसे प्रगट होते हैं जैसे अंधकारसे वेताल २०७

अविचारिणमेकांतवनद्रुमस धर्मकम्। अक्षमं साधुकार्येषु दूरेकुरु रघूद्वह ॥२०८॥

अर्थ—हेरामजी जोपुरुष विचार रहित हैं वह कंटकसहित बन वृक्षके समान हैं। इसी से उत्तम पुरुषोंको सहायता देने से वा उत्तम पुरुषार्थ करने में असमर्थ हैं उन को दूर से त्यागो ॥ २०८ ॥

विविक्तंहि मनोजंतोराशा वैवश्यवर्जितम्। परांनिर्वृत्तिमभ्येति पूर्णचंद्र इवात्मनि ॥२०९॥

अर्थ—जिसका मन विचारसहित है तथा आशाकी पराधीनतासे वर्जित हैं उसको पूर्ण चंद्रमा के समान आत्मा में परमसुख प्राप्त होता है ॥ २०९ ॥

विवेकितोदिता देह सर्वं शीतलयत्मलाम्। अलंकरोति चात्यंतं ज्योत्स्नेवभवनं यथा ॥२१०॥

अर्थ—जब शरीरमें विचारउदय होता है वह संपूर्ण शरीरको ऐसे शीतल करता है। जैसे घामसे पीडत को शीतल जल। और सर्व शरीरों को ऐसे शोभित करता है जैसे चंद्रमा की चांदनी संपूर्ण जगत को ॥ २१० ॥

परमार्थ पताकाया धियो धवलचामरश्च। विचारो राजते जंतोरजन्यामिव चंद्रमाः ॥२११॥

अर्थ—मोक्षके अधिकारी पुरुषके ऊपर परम पुरुषार्थ बाली बुद्धिरुप पताका तथा विचार रुपी चामर राजाका चिह्न शोभित होता है जैसे रात्रि में चंद्रमा ॥२११॥

विचारचारवो जीवाभासयंतो दिशो दश। भांतिभास्करवन्नूनं भूयोभवभयापहाः ॥२१२॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १४ श्लो० २१-२२-२३-२४।

अर्थ—विचार से शोभायमान जीवन्मुक्त प्राणी दशों दिशा प्रकाश करते हुए और अनेक जीवों के संसारके भयरूपी अंधकार को नाश करतेहुए निःसंदेह सूर्यके समान प्रकाश करते हैं २१२

बालस्य स्वमनो मोह कल्पितः प्राणहारकः । रात्रौ नभसि वितालो विचारेण विलीयते ॥२१३॥

अर्थ—यह प्राण नासिक संसार अपने मनके अज्ञानसे ऐसे कल्पित है जैसे रात्रिमें बालकको बाहर जाने केलिये अकाशमें वेताल की कल्पना होती है । और वह विचाररूपी सूर्यसे ही नाश को प्राप्त होता है ॥ २१३ ॥

सर्व एव जगद्भावा अविचारेण चारवः । अविद्यमान सद्भावा विचार विशारवः ॥२१४॥

अर्थ—संपूर्ण जगतके पदार्थ विचारके न होनेसे ही उत्तम जान पड़ते हैं । विचारके उदय होनेसे ही सर्व मिथ्या प्रतीत होते हैं । २१४ ।

पुंसो निजमनो मोह कल्पितोऽनल्पदुःखदः । संसार चिरवेतालो विचारेण विलीयते ॥२१५॥

अर्थ—पुरुषने यह दुःखदायी संसाररूपी दीर्घ कालका वेताल अपने मनके अज्ञान सेही कल्पना करलिया है वह केवल विचार सेही नष्ट होता है ॥ २१५ ॥

समं सुखं निराबाधमनंतमनपाश्रयम् । विद्धिमं केवलीभावं विचारोच्चतरोः फलम् ॥२१६॥

योo वाo मुमुo प्रo सo १४ श्लोo २५-२६-२७-२८ ।

अर्थ —जंगतके विषमतारूप दोषसे वर्जित स्वाधीन और निरतिशय सुख कैवल्य मुक्ति विचाररूपी बड़े वृक्षका ही फल है ॥ २१६ ॥

अचलस्थिततोदारा प्रकटाभोगतेजसा । तेन निष्कामतोदेति शीतते वेंदुनोदिता ॥२१७॥

अर्थ—विचारसे प्राप्त परमानंदके सामर्थ्य से जब चंचलताका हेतु अज्ञान नष्ट होजाता है तब अचलस्थिति वाली पूर्णानंदरूप निष्कर्त्तव्यता ऐसे उदय होती है जैसे चंद्रमासे शीतलता ॥ २१७ ॥

स्वविचारमहौषध्या साधुश्चिचानिषण्ण । तयो त्तमत्वप्रदया नाभिवांछति नोज्झति २१८॥

अर्थ—पूर्णानंद की अचल स्थिति रूप उत्तमता को देने वाली आपने चित्तमें स्थिति विचाररूपी महान औषधिसे साधुपुरुष अप्राप्त वस्तुकी ना तो इच्छा करते है और न प्राप्तको त्यागते हैं । अर्थात कृत्य कृत्य हो जाते हैं २१८

तत्पदालंबनं चेतः स्फारमाभासमागतम् । नास्तमेति न चोदति खमिवाति ततांतरम् ॥२१९॥

अर्थ—विचारसे उत्पन्न ज्ञान युक्त चित्त जब परम पदका आलंबन करता है तब वह चित्त भूंजित बीज के समान भासता है परन्तु उसमें अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रहती न अस्त होता है और न रागादि वृत्ति उदय होती है । इससे जीवनकी स्थिति होवे है और विक्षेपका अभाव होवे है ॥ २१९ ॥

न ददाति न चादत्ते न चोन्नमति शाम्यति । केवलं साक्षिवत्पश्यज्जगदाभोगि तिष्ठति ॥२२०॥

योo वाo मुमुo प्रo सo १४ श्लोo २९-३०-३१-३२ ।

अर्थ—क्योंकि वह जगतके विषयमें पक्षी के सदृश उदासीनरूपमें देखता हुआ रागादिकों केवशीभूत नहीं होता। न परमार्थ दृष्टिसे भोग करता है न उद्धत होता है न शांत होता है २२०

नच शाम्यति नाप्यंतर्नापिबाह्ये-वतिष्ठति। नच नैष्कर्म्य मादत्ते नच कर्मणि मज्जति ॥२२१॥

अर्थ—तो वह चित्त सुषुप्तिके समान उपादिके शांत होजानेसे शांत हो जाता है। न स्वप्नके समान वासनामय अंतःकरणमें लीन होता है। और जगतमें मूढ़जनोकी अवस्थाके समान बाह्य पदार्थोंमें निमग्न होता है। किंतु उदासीनरूपसे स्थित रहता है॥ २२१ ॥

उपेक्षते गतंवस्तु संप्राप्तमनुवर्तते। न क्षुब्ध नचवाक्षुब्धोभाति पूर्ण इवार्णवः ॥२२२॥

अर्थ—नागत वस्तुकी अपेक्षा करता है। अर्थात उनकी प्राप्ति केलिये प्रयत्न नहीं करता। और प्राप्तसे अपना व्यवहार करता है। न वह क्षोभको प्राप्त होता है और न अशोभ को किंतु पूर्ण समुद्रके समान शोभायमान होता है २२२

एवं पूर्णेन मनसामहात्मने महाशया जीवन्मुक्ता जगत्यस्मिन् विहरंतीह योगिनः ॥२२३॥

अर्थ—इस प्रकार महाविचार वाले योगि महात्माजन पूर्ण मनसे जीवनमुक्त हो करके संसारमे विहार करते हैं॥ २२३ ॥

उषित्वा सुचिरंकालंधीरास्ते याव-दीप्सतम्। तेतमंते परित्यज्य यांति केवलतांततम् ॥२२४॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १४ श्लो० ३३-३४-३५-३६

अर्थ—वह धीरजवान महात्माजन अपनी इच्छापूर्वक दीर्घ कालतक इस संसार में निवास करके अंतमें उपाधिके अभासको त्यागके अनंत कैवल्य पद को प्राप्त होते हैं॥ २२४ ॥

कोऽहं कस्य च संसार इत्यापद्यपि धीमता। चिंतनयंप्रयत्नेन सप्रतीकार मात्मना ॥२२५॥

अर्थ—मैं कौन हूं यह संसार कहां से उत्पन्न हूआ है ऐसा कुटंबादिको में असक्तभी तथा आपत्तिमें ससारके दुःख नाशक श्रवण मननादिक अनुष्ठान सहित सदा चिंतन करते रहना ॥२२५॥

कार्य संकटसंदेह राजाजानाति राघव। निष्फलं सफलंवापि विचारेणैव नान्यथा ॥२२६॥

अर्थ—हे राघव अवश्य कर्त्तव्य कार्य संकटों में संधि विग्रहयानद्वैधीभाव और समश्रयादि को राजा विचारसे ही जानता है अन्यथा नहीं।२२६

वेदवदांत सिद्धांत स्थितयः स्थिति-कारणम्। निर्णीयंते विचारेण दीपेन च भूवोनिशि ॥२२७॥

अर्थ— हे रामजी वेद और वेदांतकी स्थिति अर्थात् धर्म्मज्ञान और ब्रह्म का साक्षात्कार तथा जो परम पुरुषार्थ का कारण है वह सर्व विचार से ही ऐसे निश्चित होते हैं जैसे रात्रि में दीपक से पृथ्वी के पदार्थ ॥२२७॥

अनष्टमंधकारेषु बहुतेजः स्वाजि-

ह्यतम् । पश्यत्यपि व्यवहृतं विचारश्चारुलोचनम् ॥२२८॥

अर्थ—यह साधारण नेत्र तो अंधकार में नष्टके समान हो जाते हैं और सूर्यादिके अधिक तेजसे बंद हो जाते हैं। दूरके तथा अव्यावहित के पदार्थों को नहीं देखते, परन्तु विचाररूपी नेत्र ऐसे नहीं हैं। वह तो व्यावहित पदार्थों को भी देखते हैं ॥२२८॥

विवेकांधोहिजात्यंधः शोच्याःसर्वस्य दुर्मतिः। दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्याखिलवस्तुषु ॥२२९॥

अर्थ—जो पुरुष विचाररूपी नेत्र से हीन है उस को जन्मांध समझना चाहिये और वह दुर्मति सर्व को शोचनीय है और जिस विवेकात्मा को विचाररूपी दिव्यचक्षु हैं वह पुरुष सम्पूर्ण पुरुषार्थ को प्राप्त करता है ॥२२९॥

परमात्ममयी मान्या महानंदैक साधिनो । क्षणमेकं परित्याज्या न विचार चमत्कृतिः ॥२३०॥

अर्थ—जिसमें सदा परमात्मा ही का विचार होवे है इसीसे ही सर्व विचारोंसे अति प्रतिष्ठाके योग्य है और परमानंद को सिद्ध करने वाली विचार का चमत्कार है, इस विचाररूपी चमत्कार को क्षणमात्र भी मनुष्य को त्यागना नहीं चाहिये अर्थात निरंतर आत्मा चिंतन करना चाहिये ॥२३०॥

विचारचारुपुरुषो महतामपि रोचते परिपक्कचमत्कारं सहकारफलं यथा ।२३१

अर्थ—विचार से शोभायमान पुरुष महात्माओंको भी ऐसे अच्छे लगते हैं जैसे परिपक्क चमत्कार जनक आम्र का फल ॥२३१॥

विचारकांतमतयो ना नेकेषु पुनः पुनः । लुठंति दुःखश्वभ्रेषु ज्ञाताध्वगतयो नरः ॥२३२॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १४ श्लो० ४१-४२-४३-४४ ।

अर्थ—विचार से सुन्दर बुद्धि वाले पुरुष दुःखरूपी गढ़े में बार २ ऐसे नहीं गिरते जैसे मार्ग को जानने वाले पुरुष ॥२३२॥

न च रौति तथा रोगी नानर्थशत जर्जरः । अविचार विनष्टात्मा यथाज्ञः परिरोदिति ॥२३३॥

अर्थ—अनेक रोगों से पीड़ित और विष देने से तथा शस्त्रादि अनर्थों से शिथिल शरीर वाला वैसा नहीं रोता जैसे अविचार से नष्टात्मा अज्ञानी पुरुष अनेक जन्मोंकी परम्परा से सदा रोया करता है ॥२३३॥

वरं कर्दमभेकत्वं मलकीटकतावरम् वरमंधगुहाहित्वं न नरस्या विचारिता२३४

अर्थ—क़ीचड़ोंमें मेडक होना श्रेष्ट है और अंधेरी गुहामें सर्प होनाभी श्रेष्ठ है परन्तु मनुष्य को विचारसे रहित होना श्रेष्ट नहीं है ॥२३४॥

सर्वानर्थ निजावासं सर्वसाधु तिरस्कृतम् । सर्वदाःस्थित्यसीमांतमाविचारं परित्यजेत ॥२३५॥

अर्थ—संपूर्ण अनर्थोंके रहनेका मुख्य स्थान सर्व महात्माओंका तिरस्कार तथा सर्व दुर्दशाओंकी सीमा जो अविचार है । उसे त्यागना चाहिये ॥ २३५ ॥

नित्यं विचारमुक्तेन भवितव्यं महात्मना। तथांधकूपें पततां विचारोह्यवलंबनम् ॥२३६॥

योo वाo मुमुo प्रo सo १४ श्लोo ४५-४६-४७-४८।

अर्थ—मनुष्यको उचित है कि सदैवकाल विचार युक्त होके महात्मा बनैं क्योंकि रागद्वेषादिक रूप अंध कूपमें गिरने वालोंको केवल विचारही अलंबन है ॥ २३६ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानमवष्टभ्य विचारतः। संसारमोहजलधेस्तारयेत्स्वमनोमृगम् ॥२३७॥

अर्थ—रागद्वैषादिके परवाहसे खेंचे हूएभी अपने आत्माको स्वयं विचारसे स्थिर करके अपने मनरूपी मृगको संसार समुद्रसे पार करो २३७

कोऽहं कथमयंदोषः संसाररुयउपागतः न्यायेनेतिपरामर्शो विचार इति कथ्यते ॥२३८॥

अर्थ—मैं कौन हूं क्या मैं शरीर हूं या शरीरसे विलक्षण हूं। यह संसार क्या है और किस प्रकारसे अधिष्ठान आत्मामें स्थित है। इस प्रकार श्रुति तथा गुरुसे तथा अनुभवसे विचार का नाम परामर्श है ॥ २३८ ॥

अंधांधमोहसुघनं चिरं दुःखाय केवलम् । कृतं शिलाया हृदयं दुर्मतेश्चाविचारिणः ॥२३९॥

अर्थ—विचार रहित दुर्मतिका हृदय अंधसेभी अंध तर अज्ञानसे अज्ञात तर है। मानो वह केवल दुःख सहन करनेके लिये पषाणसे बना है ॥ २३९ ॥

भावाभाव ग्रहोत्सर्ग दृशामिहहि राघव । न विचारा हतेतत्त्वं ज्ञायते साधुकिंचन ॥२४०॥

अर्थ—हे रामजी सत्य के ग्रहण करने के लिये असत्यके त्यागने के लिये बुद्धिमान पुरुषों को विचार से श्रेष्ट और कोई पदार्थ संसार में नहीं है ॥४०॥

विचाराजज्ञायते तत्वं तत्वाद्विश्रांतिरात्मनि । अतोमनसि शांतत्वं सर्वदुःखपरिक्षयः ॥२४१॥

अर्थ—विचार से ही आत्मारूप तत्त्व जाना जाता है और तत्त्वज्ञान से ही आत्मा में विश्रांति होती है और आत्मा विश्रांति से मन में सर्व वासना का अभावरूप शांति होती है और शांति से सर्व दुःखों का नाश होता है ॥२४१॥

सफलताफलते भूविकर्मणां प्रकटतां किल गच्छतिउत्तमम् । स्फुटविचारदृशैव विचारिता शमवते भवते च विरोचताम् ॥२४२॥

योo वाo मुमुo प्रo सo १४ श्लोo ४९-५०-५१-५२-५३-५४ ॥

हे रामजी अधिक कहने से क्या प्रयोजन है स्वच्छ विचारदृष्टि से ही लौकिक तथा वैदिक कर्मों की सफलता होती है और विचार से ही आत्मतत्त्व की वक्ष्यमाण सप्त भूमिका मनुष्य को प्राप्त होती है इसलिये समाधि के साधन शम सहित आपकी भी विचार में ही प्रबल रुचि होवे ॥ २४२ ॥

संतोष का निरुपण

संतोषोहि परंश्रेयः संतोषः सुख

मुच्यते । संतुष्टः परमभ्येति विश्रांम-मरिसूदन ॥२४३॥

अर्थ—श्रीवशिष्ठ जी बोले हे अरिसूदन रामजी संतोष ही मोक्ष तथा परम सुख है जो संतुष्ट मनुष्य है वह सर्वथा दुःख विक्षेपसे रहित शांति को प्राप्त होता है ॥२४३॥

संतोषैश्वर्यसुखीनां चिरविश्रांतचेत-साम् । साम्राज्यमपि शांतानां जरतृण-लवायते ॥२४४॥

अर्थ—संतोषरूपी ऐश्वर्य के प्रभाव से जो सुखी है और संतोष के द्वारा जिन का चित्त दीर्घकाल स्वस्थ है तथा संतोषसे जिन का आत्मा शांत है। ऐसे महानुभावोंको त्रैलोक्यका सम्राज्य भी पुराने तृण के समान प्रतीत होता है ॥२४४

संतोषशालिनी बुद्धि राम संसार वृत्तिषु। विषमास्वप्यनुद्विग्मान कदाचन-हीयते ॥२४५॥

अर्थ—हे रामजी संतोष से शोभायमान जो बुद्धि है वह दैव इच्छा से दरिद्री तथा वियोगसे दुःखदाई संसार की दशा होने पर भी सुख से रहित नहीं होता ॥२४५॥

संतोषामृत पानेन येशांतास्तृप्तिमा-गताः । भोगश्रीरतुलातेषामेष प्रति विषायते ॥२४६॥

योo वाo मुमुo प्रo सo १५ श्लोo १-२-३-४ ॥

अर्थ—संतोषरूपी अमृतके पानसे जो तृप्त होगये है उन शांत पुरुषों को अनन्त भोग की लक्ष्मी विष के समान भान होती है ॥२४६॥

न तथा सुखयंत्येताः पीयूषरसवी-चयः । यथातिमधुरास्वादाः संतोषो दोषनाशनाः ॥२४७॥

अर्थ—अमृतरस की तरंगें ऐसी सुखदायी नहीं हैं जैसे सर्व दीनता तथा आशादि दुःखों का नाशक अनंदमय अस्वादयुक्त संतोष सुख-दायी होता है ॥२४७॥

अप्राप्तवांछा मुत्सृजसंप्राप्तेसमतां गतः । अदृष्टखेदा खेदोयः स संतुष्ट इहोच्यते ॥२४८॥

अर्थ—अप्राप्त वस्तु की इच्छा से वर्जित तथा प्राप्त वस्तुके मिथ्यात्व से उसमें हर्ष विषाद से रहित और प्रसन्न तथा शोक रहित पुरुष को इस शास्त्र में संतुष्ट कहते हैं ॥२४८॥

आत्मनाऽऽत्मनि संतोषंयावद्याति न मानसम् । उद्भवंत्यापदस्तावल्लता इव मनोबिलात् ॥२४९॥

अर्थ—जब तक अपने आत्मा ही में मन सतुष्ट नहीं होता तबतक मनरूप बिलसे लताके समान अपत्तियां उत्पन्न हुआही करती हैं २४९

संतोष शीतलचेतः शुद्धविज्ञान दृष्टिभिः । भृशं विकासमायातिसूर्यां शुभिरिवांबुजम् ॥२५०॥

योo वाo मुमुo प्रo सo १५ श्लोo ५-६-७-८ ॥

अर्थ—रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान द्वारा संतोषसे शीतल चित्त अत्यंत विकासको ऐसे प्राप्त होता है । जैसे सूर्यके किर्णोंसे कमल २५०

आशावैवश्य विवशे चित्ते संतोष वर्जित । म्लानेवक्त्रमिवादर्शेना ज्ञानं प्रतिबिंबति ॥२५१॥

अर्थ—आशासे व्याकुल तथा संतोषसे रहित मलिन चित्तमें उपदेश ऐसे नहीं प्रतिबिंबित होता जैसे मलिन दर्पणमें मुख ॥ २५१ ॥

अकिंचनोऽप्यसौ जंतुः साम्राज्य सुखमश्नुते । आधिव्याधिविनिर्मुक्तं संतुष्टं यस्य मानसम् ॥२५२॥

अर्थ—जिस प्राणीका मन शरीरक और मानसिक पीड़ासे रहित तथा संतुष्ट है वह दरिद्री होने परभी साम्रज्यका सुख भोगता है २५२

अज्ञानघनयामिन्या संकोचं न नराम्बुजम् । यात्यसावुदितो यस्य नित्यं संतोषभास्करः ॥२५३॥

अर्थ—जिस पुरुषरूप कमलके विकसित करनेके लिये संतोषरूपी सूर्य उदित हूआ है वह पुरुष अज्ञानरूपी गाढ़ अंधकारयुक्त रात्रिमें संकुचित नहीं होता ॥ २५३ ॥

नाभिवांच्छत्य संप्राप्तं भूंक्ते यथाक्रम् यः सुसौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते ॥२५४॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १५ श्लो० ९-१०-११-१२

अर्थ—अप्राप्त वस्तुकी इच्छा नहीं करता तथा प्राप्त सुख दुःखको क्रमसे भोगता है और जिसके शुद्ध आचरण सर्व जगतको आनंददायक हैं उसको संतुष्ट कहते हैं ॥ २५४ ॥

संतुष्टि परतृप्तस्य महतः पूर्णचेतसः। क्षीराब्धेरिव शुद्धस्य मुखे लक्ष्मीर्विराजते ॥२५५॥

अर्थ—संतोषके परायण और चित्त जो महात्मापुरुष क्षीर समुद्रके समान निर्मल अंतः कारण है उसके मुखपर लक्ष्मी सदा शोभायान रहती है ॥ २५५ ॥

पूर्णता मलमाश्रित्य स्वात्मन्येवात्मना स्वयम् । पौरुषेणप्रयत्नेन तृष्णां सर्वत्र वर्जयेत ॥२५६॥

अर्थ—पुरुषार्थसे स्वयं आत्मासे आत्मामें ही पूर्णताका भली भांति अनुभव करके तृष्णा के सर्व स्थानोंको रोके ॥ २५६ ॥

संतोषामृत पूर्णस्य शांतशीतलयाधिया । स्वयं स्थैर्यं मनोयांति शीतांशोरिव शाश्वतम् ॥२५७॥

अर्थ—चंद्रमा के समान संतोषरूपी अमृत से पूर्ण मनुष्य का मन शांत और शीतल बुद्धि से निस स्थिरता को प्राप्त होता है ॥२५७॥

संतोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः। राजानुमुपतिष्ठंति किं करत्वमुपागता ॥ २५८ ॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १५ श्लो० १३-१४-१५-१६

अर्थ—जिस प्राणिं का मन संतोष से पूर्ण है उसके निकट सम्पूर्ण संपत्तियां अपने आप ऐसे आती हैं जैसे राजा के निकट सेवाके लिये सम्पूर्ण सेवक ॥२५८॥

आत्मनैवात्मनिस्वस्थे संतुष्टेपुरुषे स्थिते । प्रशाम्यंत्याधियः सर्वे प्रावृषीवाशु पांसवः ॥२५९॥

अर्थ—अपने आप ही आत्मा में संतुष्ट हो कर जब पुरुष स्थित होता है तब संपूर्ण मानसी पीड़ा शीघ्र ऐसे शांत हो जाती हैं, जैसे वर्षाकाल में धूली ॥२५९॥

नित्यं शीतलया राम कलंक परि भिन्नया । पुरुषः शुद्धया वृत्या भाति पूर्णतयें दुवत् ॥२६०॥

अर्थ—हे राम की कलंक से रहित सन्तोष युक्त शुद्ध शीतल वृत्ति से पूर्ण चन्द्रमा के समान मनुष्य शोभायमान होता है ॥२६०॥

समता सुन्दरं वक्त्रपुरुषस्यावलोकयन् । तोषमेति यथा लोको न तथा धन संचयै ॥२६१॥

अर्थ—सर्वत्र सन्तोष होने से समता से अति सुन्दर पुरुष के मुख को देख कर संसार जैसा प्रसन्न होता है वैसा धन के एकत्र करने से भी नहीं होता ॥२६१॥

समतया मतया गुण शालिनां पुरुषराडिह यः समलं कृतः । तममलं प्रणमंति नभश्चरा अपि महामुनयो रघुनन्दन ॥२६२॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १५ श्लो० १७-१८-१९-२०

अर्थ—हे रघुनन्दन इस संसार में जो श्रेष्ठ पुरुष महात्माओं के प्रिय जो सर्वत्र समान भाव में शोभित हैं उस को अकाशगामी देवता तथा मुनिजन भी प्रणाम करते हैं ॥२६२॥ अब सतसंग को कहिते हैं ।

श्रीवशिष्ठ उवाच—

विशेषेण महाबुद्धे संसारोत्तरणे नृणाम् । सर्वत्रोपकरोतीह साधुः साधुसमागमः ॥२६३॥

अर्थ—श्री वसिष्ठ जी बोले हे महाबुद्धेराम जी । संसार के पार उतारने में उत्तम साधु समागम मनुष्यों को सर्वत्र अवस्था में विशेष करि कै उपकारी होता है ॥२६३॥

साधु संगतरो जीतं विवेक कुसमंसितम् । रक्षंति ये महात्मानो भाजनं फलश्रियः ॥२६४॥

अर्थ—जो महात्मा साधु संग रूपी वृक्ष में उत्पन्न विवेक रूपी निर्मल पुष्प की रक्षा करते हैं ते मोक्ष रूपी फल संपति के पूर्ण पात्र होते हैं ॥२६४॥

शून्यमा कीर्णतामेति मृतिरप्युत्सवायते । आपत् संपादिवा भाति विद्वज्जनसमागमे ॥२६५॥

अर्थ—उत्तम विद्वान सज्जन संत महात्माओं के मिलने से स्वजन धनादि से रहित दुःख के स्थान भी संपति के समान प्रतीत होता है ॥२६५॥

हिममा पत्सरोजिन्या मोहनीहार मारुतः । जयत्येको जगत्यस्मिन् साधुः साधु समागमः ॥२६६॥

यो० वा० मुम० प्र० स० १६ श्लो० १-२-३-४

अर्थ—आपत्ति रूप कमलनी के लिये हिम के समान और अज्ञान रूपी कुहरे को प्रबल वायु के सदृश उत्तम साधु समागम संसार में सर्व से उत्कृष्ट है ॥२६६॥

परं विवर्द्धनं बुद्धेर ज्ञान तरुशातनम् । समुत्सारणमाधीनां विद्धि साधु समागमम् ।२६७॥

अर्थ—हे राम जी । आप साधु समागम को विवेक ज्ञान का वृधिक और अज्ञान रूपी वृक्ष के काटने वाला और संपूर्ण मानसी पीडाओं

को निवृत्ति करने वाला जानो ॥२६७॥

विवेकः परमो दीपो जायते साधु संगमात् । मनोहरोज्ज्वलो नून मासेकादिव कुच्छकः ॥२६८॥

अर्थ—साधु महात्माओं के संग से परम विवेक रूपी दीपक ऐसे उत्पन्न होता है जैसे वाटिका के सींचने से मनोहर और उज्ज्वल पुष्प तथा फल का गुच्छा ॥२६८॥

निरपायां निराबाधां निर्वृतिं नित्य पीवरीम् । अनुत्तमां प्रयच्छंति साधु संगविभूतयः ॥२६९॥

अर्थ—साधु समागम की विभूतियां विघ्न और नाश रहित निरन्तर वर्द्धन शील अनन्त और सर्व से उत्तम सुख को देती हैं ॥२६९॥

अपि कष्टतरां प्राप्तैर्दशां विवशतां गतैः । मनागपि न संत्याज्यामानवैः साधु संगति ॥२७०॥

अर्थ—अति कष्टदायी दशा को प्राप्त और पराधीनता में विवश मनुष्यों को भी उचित है कि क्षणभर के लिये भी साधु संगति ना छोड़े ॥२७०।

साधु संगतयो लोके सन्मार्गस्य चदीपिकाः हार्दांधकार हारिण्यो भासो ज्ञान विवस्वतः ॥२७१॥

अर्थ—साधु महात्माओं की संगति अज्ञान रूप रात्रि को नष्ट करने वाली है । तथा सत् मार्ग का दीपक है और हृदय के अन्धकार को हरने वाली ज्ञान रूपी सूर्य की दीप्ति है ॥२७१॥

यः स्नातः शीतसितया साधु संगति गंगया । किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभि किमध्वरैः ॥२७२॥

अर्थ—जिस मनुष्य ने ताप और मलिनता को नाश करने वाली शीतल और निर्मल संतों की संगति रूप गंगा में स्नान किया है उस को दान तीर्थ तप तथा यज्ञ से क्या प्रयोजन है ॥२७२॥

नीरागाश्छिन्न संदेहा गलितं ग्रन्थ योऽनघ । साधवो यदि विद्यंते किं तपस्तीर्थ संग्रहैः ॥२७३॥

अर्थ—हे पाप रहित राम जी यदि संसार में राग द्वेश रहित संदेह रहित तथा अन्तः करण की ग्रंथियों से रहित साधुजन हैं तो तप तथा तीर्थों के संग्रह से क्या प्रयोजन है ॥२७३।

विश्रांतमनसो धन्याः प्रयत्नेन परेण हि । दरिद्रेणेव मणयः प्रेक्षणीया हि साधवः ॥२७४॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १६ श्लो० ९-१०-११-१२ ॥

अर्थ—जिन का चित्त परमात्मा के स्वरूप में विश्रांत है ऐसे धन्यवाद के योग्य महात्मा संत लोगों को बड़े परिश्रम से इस प्रकार ढूंढना चाहिये जैसे निर्धन को मणी ॥२७४॥

सत्समागम सौंदर्य शालिनी धीमतां मतिः । कमले वाप्सरो वृंदे सर्वदैव विराजते ॥२७५॥

अर्थ—साधु समागम की सुंदरता से शोभायमान महात्माओं की बुद्धि सदा ऐसे शोभित होती है जैसे अप्सराओं के समूह में लक्ष्मी ॥२७५॥

तेनामल विचारस्य पदस्या प्राव चूलिता ॥ प्रथिता येन धन्येन न

त्यक्तासाधु संगति ॥२७६

अर्थ—जिस धन्य पुरुष ने प्रसिद्ध साधु संगति को नहीं त्यागा उस ने निर्मल विचार से प्राप्त ब्रह्म पदरूपी चूडामणी को मानो आपने सीस का भूषण बनाया है ॥२७६॥

विच्छिन्न ग्रन्थ यस्तज्ज्ञाः साधु वः सर्वसमताः । सर्वोपायेन संसेव्यास्ते ह्युपायाभवां बुधौ ॥२७७॥

अर्थ—जिन के हृदय की ग्रंथियां छिन्न हो गई हैं और जिन्हों ने परमात्मा के स्वरूप को जान लिया है ऐसे सर्व के माननीय साधु महात्माओं की दानमानादि सर्वो पायों से सेवा करनी चाहिये क्यों कि संसार रूपी समुद्र से पार उतरने के लिये सत्संग ही उपाय है ॥२७७।

तेऐतेनरकाग्निनां सशुष्कैंधनता गताः । यैर्दृष्टाहेलया सन्तो नरकान्नलवारिदाः ॥२७८॥

अर्थ—नरक रूपी अग्नि को शांत करने में मेघों के समान साधुजन महात्माओं का जिन पुरुषों ने अनादर किया है वे पुरुष नरक की अग्नि के शुष्क इंधन हुये हैं । अर्थात् वे नरक की अग्नि में अच्छी तरह से जलाये जावैंगे ॥२७८।

दारिद्र्यंमरणं दुःख मित्यादिविषयो भ्रमः । संप्रशाम्यत्यशेषेण साधु संगम भेषजैः ॥२७९॥

अर्थ—दरिद्रता मरण और अनेक प्रकार का दुःख इत्यादि विषयों का जो सन्निपात रोग वह साधु संगत रूप औषधि से सर्वथा शांत हो जाता है ॥२७९॥

संतोषः साधु संगश्च विचारोऽथ शमस्तथा । एतएव भवाम्भो धावुपायास्तरण नृणाम् ॥२८०॥

अर्थ—संतोष साधु संगम विचार और शम येही चारों संसार रूपी समुद्र से मनुष्यों को पार उतारने के लिये उत्तम उपाय हैं ।।२८०॥

सन्तोषः परमोलाभः सत्संगः परमा गतिः । विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥२८१॥

अर्थ—संतोष ही परम लाभ है साधु संगति ही परम गति है । विचार ही सर्व से उत्तम ज्ञान है और शम ही परम सुख है ॥२८१॥

चत्वारएते विमला उपाया भवभेदेन । यैरभ्यस्तास्त उतीर्णा मोहवारिभवार्णवात् ॥२८२॥

यो० वा० मुमु० प्र०स० १६ श्लो० १७-१८-१९-२०॥

अर्थ—यह चारो निर्मल उपाय संसार के भेदन करने के लिये जिन को अभ्यस्त हैं वे अज्ञान रूप जलमय इस संसार समुद्र से मानो पार ही हो गये हैं ॥२८२॥

एकस्मिन्नेव वैतेषां मभ्यस्ते विमलोदये । चत्वारोऽपि किलाभ्यस्ताभवंति सुधियां वर ॥२८३॥

अर्थ—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राम जी इन चारों में सें उतमता से एक का भी अभ्यास करनें सें चारों का अवश्य हो जाता है ॥२८३॥

महां श्रुति—

मोक्षद्वारेद्वारपालाश्चत्वारः परि कीर्तिता । शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः

साधु संगमः ॥२८४॥

महोपनिषत् ॥ अ० ४ मं० २ ॥

अर्थ—मुक्ति के द्वारे में चार द्वारपाल कहे जाते हैं। एक शम है दूसरा विचार है तीसरा संतोष है चतुर्थ साधु संगम है ॥२८४॥

एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत्। एकस्मिन्वशगे यांति चत्वारोऽपि वशंगताः ॥२८५॥

महोप० अ० ४ म० ३ ॥

अर्थ—इन चारों में से एक का यत्न से भली प्रकार से आश्रयकरो दूसरे तीनों को त्यागो इन चारों में से एक वशी भूत होने से दूसरे तीन भी वश में हो जाते हैं ॥२८५॥

नाभि नन्दत्य संप्राप्तं प्राप्तं भुंक्ते यथेप्सितम् । यः स सौम्य समाचाराः संतुष्ट इति कथ्यते ॥२८६॥

अर्थ—जो प्राप्त वस्तु की निंदा नहीं करता ईश्वर इच्छा से जो वस्तु प्राप्त हो गई है उस को भोगता है। तिसको हे सौम्य ऐसा अचार करने वाले को संतुष्ट इस नाम से कहिते हैं ॥२८६॥

एकोऽप्येकोऽपि सर्वेषामेषां प्रसवभूरिह। सर्व संसिद्धये तस्माद्यत्नेनैकं समाश्रयेत् ॥२८७॥

अर्थ—इन चारों में से एक एक भी चारों की उत्पत्ति का स्थान है इस लिये सर्व की सिद्धि के लिए एककाही यत्न से आश्रय लेवो ॥२८७॥

सत्समागम संतोष विचारः सुविचारितम्। प्रवर्तंते शमस्वच्छे वाहना नीव सागरे ॥२८८॥

अर्थ—जब शम से विक्षेप रूप तरंग नष्ट हो जाते हैं और अन्तः करणरूपी समुद्र स्वच्छ होजाता है और उस में रागद्वेष आदि ग्रहों का उपद्रव नहीं रहिता तब साधु समागम संतोष विचार रूपी जहाज निर्विघ्नतां से चलते हैं ॥२८८॥

विचार संतोष शम सत्समागमशालिनि। प्रवर्तंते श्रियो जंतौ कल्प वृक्षाश्रिते यथा ॥२८९॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १६ श्लो० २१-२२-२३-२४

अर्थ—विचार सन्तोष शम सत्संगम इन चारों से शोभायमान जो मनुष्य है उस को ज्ञान की तथा लोक की संपूर्ण संपत्तियां ऐसे प्राप्त होती हैं जैसे कल्प वृक्ष के आश्रित मनुष्य को लक्ष्मी ॥२८९॥

विचार शम सत्संग संतोषवति मानवे। प्रवर्तंते प्रपूर्णेंदौ सौंदर्याद्या गुणा इव ॥२९०॥

अर्थ—विचार शम सन्तोष साधु समागम इन चारों से पूर्ण मनुष्य में प्रसन्नता आदि सर्व गुण ऐसे प्राप्त होतेहैं जैसे पूर्णचन्द्रमा में सुन्दरता आदि हैं ॥२९०॥

सत्संग संतोष शम विचारवति सन्मतौ। प्रवर्तंते मंत्रिवरे राजनीव जयश्रियः ॥२९१॥

अर्थ—सत्संग सन्तोष शम विचार वाले सद् बुद्धियुक्त मनुष्य को सम्पूर्ण विजय लक्ष्मी ऐसे प्राप्त होती है जैसे उत्तम मन्त्र से राजा को सर्व विजय की शोभा ॥२९१॥

तस्मादेक तमं नित्य मेतेषां रघुनंदन । पौरुषेण मनो जित्वा यत्नेनाभ्याहरेद्गुणम् ॥२९२॥

अर्थ—हे रघुनन्दन । इस लिए पुरुषार्थरूपी प्रबल यत्न से मन को जीत कर इन चारों में से एक गुण तो अवश्य सर्वदा आत्मा में धारण करना चाहिये ॥२९२॥

परं पौरुष माश्रित्य जित्वा चित्तमतंगजम् । यावदेको गुणो नांतस्तावन्नास्त्युत्तमा गतिः ॥२९३॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १६ श्लो० २५-२६-२७-२८

अर्थ—परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर मन रूपी मतंगज को जीत कर जब तक इन चारों में से एक भी गुण आत्मा में नहीं प्राप्त होता तब तक उत्तम गति कदाचित भी नहीं होती ॥२९३॥

पौरुषेण प्रयत्नेन दंतैर्दंतान्विचूर्णयेत् । यावन्नाभिनिविष्टंते मनो राम गुणार्जिने ॥२९४॥

अर्थ—हे रामजी । अत्यन्त प्रबल पुरुषार्थ का आश्रय लेकर और दांतों से दांतों को लगा कर जब तक इन गुणों को उपार्जन करने में चित्त नहीं लगाता ॥२९४॥

देवो भवाथ यक्षो वा पुरुषोः पादपोऽथवा । तावत्तव महाबाहो नोपायोऽस्तीह कश्चन ॥२९५॥

अर्थ—तब तक हे महाबाहो । चाहे आप देव हो वा यक्ष वा पुरुष हो वा कोई वृक्ष होवो परन्तु संसार से पार उतरने के लिए और कोई भी उपाय नहीं है ॥२९५॥

एकस्मिन्नेव फलदे गुणे बलमुपागते । क्षीयंते सर्व एवाशु दोषा विवश चेतसः ॥२९६॥

अर्थ—इन में से एक भी अभ्यास से फल दायक होता है । और दृढ़ता से प्राप्त होने पर व्याकुल चित्त के सम्पूर्ण दोष शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥२९६॥

गुणे विवृद्धे वर्द्धंते गुणा दोषजयप्रदाः । दोषे विवृद्धे वर्द्धंते दोषा गुण विनाशनाः ॥२९७॥

यो० वा० मुमु० प्र० स० १६ श्लो० २९-३०-३१-३२

अर्थ—हे रामजी । गुणों के बढ़ने पर दोषों को जीतने वाले सर्वगुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं और दोषों के बढ़ने पर गुणनाशक सर्व दोष बढ़ते हैं ॥२९७॥

मनो मोहवने ह्यस्मिन्वेगिनी वासना सरित् । शुभाशुभ बृहत्कूला नित्य वहिति जंतुषु ॥२९८॥

अर्थ—मन के अज्ञानरूपी बन में बासनारूपी बड़ी प्रबल नदी शुभाशुभ रूप दो तटों कर के प्राणियों पर सदा बहा करती है ॥२९८॥

साहिखेन प्रयत्नेन यास्मिन्नेव निपात्यते । कूले तेनैव वहिति यथेच्छसि तथा कुरु ॥२९९॥

अर्थ—वह वासना रूप नदी पुरुषार्थ से जिस शुभाशुभ तट की ओर झुकाई जाती है । उसी ओर बहिति है अब जैसे आप की इच्छा

होवे वैसा करो ॥२९९॥

पुरुषयत्न जवेन मनोवने शुभतटानुगतां क्रमशः कुरु। वरमतो निजभावमहानदी महहतेन मनागपिनोह्यसे ॥३००॥

योο वाο मुमुο प्रο सο १६ श्लो ३३-३४-३५

अर्थ—हे श्रेष्ठ बुद्धिमान रामजी । पुरुषार्थ के वेग से मनरूपी बन में इस वासना रूपी नदी को क्रम से शुभ प्रवाह की ओर चलावो इस प्रकार करने से किंचित् भी अशुभ प्रवाह आप को अपनी तरफ नहीं बहावेगा ॥३००॥

किं सुखम् । सच्चिदानंदस्वरूपं ज्ञात्वा नंदरुपायास्थितिः सैवसुखम् ॥ किं दुःखम् । अनात्मरूप विषय संकल्प एव दुःखम् ॥ कः स्वर्गः । सत्संसर्गः स्वर्गः ॥ को नरकः । असत्संसार विषय जनसंसर्ग एव नरकः ॥३०१॥

निरालंबोपο

उक्तसाधन युक्तेन विचारः पुरुषेणहि । कर्त्तव्यो ज्ञानसिद्धयर्थमात्मनः शुभमिच्छता ॥३०२॥

अर्थ—ऊपर के कहे हुए विवेक वैराग्यादिक साधनों करिकै युक्त आपने शुभ की इच्छा करने वाले पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति के वास्ते विचार करना योग्य है । (शांतोदांतः) ऐसी वेद की श्रुति है अर्थात् शम दम युक्त पुरुष ही वेदांत का अधिकारी है ॥३०२॥

यह अन्य शास्त्र विषे भी कहा है ।

प्रशांतचित्ताय जितेंद्रियाय प्रक्षीण दोषाय यथोक्तकारिणे । गुणान्विता यानुगतायसर्वदा प्रदेयमे तत्सकलं मुमुक्षुवे ॥३०३॥

अर्थ—शांत चित्त जितेन्द्रिय दोष रहित शास्त्रोक्त कार्य करने वाले तथा शास्त्रोक्त गुणों करिकै युक्त शुभ आचरण करने वाले तथा मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष को यह वेदांत शास्त्र देना चाहिये ॥३०३॥

ज्ञान की आवश्यकता—

नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्य साधनैः । यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥३०४॥

अर्थ—बिना ज्ञान के और साधनों के नित्य नित्य वस्तु का विचार नहीं होवे है जैसे सूर्य दीपकादिकों के प्रकाश के विना घटपटादिक पदार्थों का भान होवे नहीं ॥३०४॥

इस वेदांत शास्त्र का अधिकारी चतुष्टय साधन सम्पन्न होना चाहिये किसी जाति का इस में अधिकार नहीं, तहां श्रुति ॥

का जातिः । न चर्मणो न रक्तस्य न मासस्य न चास्थिनः । न जाति रात्मनो जातिर्व्यवहार प्रकल्पता ॥३०५॥ निरोलंबपानο

अर्थ—जाति न चर्म का धर्म है न रुधिर का धर्म है तथा न मांस का धर्म है तथा न अस्थियों का धर्म है तथा न जाति आत्मा का धर्म है जाति जैसे २ पुरुष व्यवहार करता है तैसे २ ही तिसकी जाति कही जाति है ॥३०५॥

हे शिष्य एक काल विषे अनधिकारी पुरुषों विषे प्राप्त भई ब्रह्म विद्या असंत खेद को प्राप्त होती भई ॥ और ब्रह्मवेता ब्राह्मणों के समीप जाय के ब्रह्मविद्या कहितीभयी हे ब्राह्मणों जैसे वेश्या सर्व पुरुषों करके सेवित होवे है तैसे धन के लोभ करके मुझ ब्रह्म विद्या को वेश्या के समान तुम मतकरो । किंतु कुलीन स्त्री की न्याई हमारे को तुम गुह्य राखो और श्रद्धा तैं हमारा सेवन करो । इसवास्ते मैं ब्रह्म विद्या तुमारे को इस लोक में तथा परलोक में अक्षय निधि के समान हूं और हे ब्राह्मणों । जो तुम ऐसा कहो सम्पूर्ण जनों के उपकार विषे हमारी प्रीति है । और उदारता करके हम युक्त हैं और दीनजनों के उपर हमारी असंत कृपा है । यांतै ब्रह्म विद्या को हम गुह्य राख सकते नहीं । तथापि हे ब्राह्मणो गुणहीन पुरुषों के तांई हमारे को कदाचित् तुमने नहीं देना ॥ द्रष्टांत ॥ जैसे अत्यंत रूपवान आपनी पुत्री नपुंसक को कोई देता नहीं और हे ब्राह्मणों इतने दोष सर्वदा हमारे को दुःखदेणे हारे हैं गुणवान पुरुषों विषे दोषों का अरोपण रूप-निंदा (१) और कुटिलता (२) और इन्द्रियों की अधीनता (३) और नित्य ही स्त्रियों का संग (४) अनम्रता (५) और शरीर करके वचन करके मन करके गुरु की भक्तितैं रहित होना (६)

नै तत्त्वाय दांभिकाय नास्तिकाय शठाय च । अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥३०६॥

भाग० स्कंध ११ अ० २९ श्लो० ३० ॥

अर्थ—हे उद्धव बुद्धिमान को चाहिये कि यह ज्ञान दम्भी नास्तिक धूर्त गुरु की सेवा करने वाला न होवे तथा गुरु का भक्त न होवे। तथा नम्रता से रहित होवे । जिसकी श्रद्धा न होवे जिसकी श्रवण की इच्छा न होवे ऐसे अनधिकारी को न सुनावे ॥३०६॥

इसतें आदि लेके दोष जिस पुरुष विषे होवे जिस पुरुष के तांई मुझ ब्रह्म विद्या को कदाचित् तुमने नहीं देना किंतु इतने दोषों से रहित जो पुरुष होवे शम दमादिक गुणो करके युक्त होवे। तिसके तांई हमारे को देणा । अथवा हमारे को गुह्य राखणा । इन दोनों पक्षों विषे किसी भी पक्षको जो तुम अंगीकार करोगे तब तुमारे को कामधेनु की न्यांई मनवांछित पदार्थ की मैं प्राप्ति करोंगी । और जो तुम धन के लोभ करके गुण हीन पुरुष तांई मुझ ब्रह्म विद्या को देवोगे तो फलते रहित लता की न्यांई मैं ब्रह्मविद्या होवोगी इस प्रकार श्रुति विषे भी कहा है । तद्यांश्रुति ।

विद्याहवै ब्रह्मणमाजगाम गोपाय माशेवधिष्टे हमस्मि । असूय कायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया अवीर्यवति तथा स्याम् ॥३०७॥

(शाट्यायनीयोपनिषत् मं० ३३)

अर्थ—एक काल विषे अनधिकारी पुरुषों को प्राप्त होई के खेद को प्राप्त हुई ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा ब्राह्मणों के समीप जाय के यह वचन कहती भई । हे ब्राह्मणों तुम हमारे को गुह्यराखो ता करके मैं ब्रह्मविद्या तुमारे को भोग मोक्ष दोनों की प्राप्ति करूंगी । और जो कदाचित् लोकों ऊपर कृपादृष्टि करके तुम हमारे को गुह्य

नहीं राख सकते होवै तौ भी जो पुरुष गुणों विषे दोषों का अरोपण रुप असुया दोष वाला है तथा नम्रता भाव से रहित है तथा मन सहित इन्द्रियों को निग्रहते रहित है। ऐसे अनधिकारी पुरुषों के तांई तुमने कदाचित् भी हमारा उपदेश नहीं करना। जो तुम धनादिक पदार्थों के लोभ करके ऐसा अनधिकारी पुरुषों के तांई हमारा उपदेश करोगे तो मैं ब्रह्मविद्या बन्ध्या स्त्री की न्याई निष्फल होवोंगी। किंतु जो पुरुष असूया दोष ते रहित है तथा नम्रताभाव वाला है तथा इन्द्रियों के निग्रह रुप तप वाला है तथा गुरु की सेवा भक्ति वाला है तथा ईश्वर विषे अनुराग वाला है ऐसे अधिकारी पुरुषों के तांई तुमने हमारा उपदेश करना ॥३०७॥

यस्य देवे पराभक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ। तस्येते कथिता ह्यर्था प्रकाशंते महात्मनः ॥३०८॥

(श्वे० श्व० उ० अ० ६ मं० २३)

अर्थ—जिस पुरुष की परमात्मा देव विषे परमभक्ति है तथा जैसे परमात्मादेव विषे परमभक्ति है तैसे ही ब्रह्म विद्या के उपदेश कर्ता गुरुविषे परमभक्ति है तिस महात्मा पुरुष को ही यह वेदांत प्रतिपादित अर्थ ही बुद्धि विषे प्रकाशमान होवे है ॥३०८॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चा शुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥३०९॥

(गी० अ० १८ श्लो० ६७)

अर्थ—हे अर्जुन। तुम्हारे हित वास्ते हम ने कथन किया हुआ यह गीता शास्त्र इन्द्रियों के निग्रह रहित पुरुष के तांई कदाचित् भी नहीं उपदेश करने योग्य है तथा गुरु की सेवा भक्ति तें रहित पुरुष के तांई भी नहीं उपदेश करने योग्य है। तथा जो पुरुष में परमेश्वर विषायक असूया करे है तिस के तांई भी नहीं उपदेश करने योग्य है ॥३०९॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैस्यत्य संशयः ॥३१०॥

(गी० अ० १८ श्लो० ६८)

अर्थ—हे अर्जुन जो पुरुष मैं परमेश्वर विषे पराभक्ति को करके इस ब्रह्मविद्या रूप परमगुह्य शास्त्र को मेरे भक्तों विषे स्थापन करे है सो पुरुष में परमेश्वर को ही प्राप्त होवे है ॥३१०॥

नच तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता नच मे तस्मादन्यः प्रियतरोभुवि ॥३११॥

गी० अ० १८ श्लो० ६९॥

अर्थ—हे अर्जुन! तथा सर्व मनुष्यों के मध्य विषे तिस पुरुष तैं अन्य कोई भी मनुष्य मैं परमेश्वर विषयक अतिशय प्रीति वाला नहीं है नहीं होवेगा तथा मैं परमेश्वर को भी तिस तैं न्या पुरुष इस पृथ्वी विषे अत्यन्त प्रिय नहीं है ॥३११॥

एतैर्दोषैर्विहीनायःब्रह्मण्याय प्रियाय च। साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोपितम् ॥३१२॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० २९ श्लोक ३१॥

अर्थ—हे उद्धव जो इन दोषों से रहित हो ब्राह्मण हो अति प्रिय साधु हो शुद्ध हो जो मेरा तथा गुरु का भक्त हो स्त्री हो शूद्र हो उस

को यह ज्ञान उपदेश करना चाहिये ॥२१२॥

और हे ब्राह्मणो! पूर्वोक्त दोषवान पुरुष को विद्या नहीं देनी। या अर्थ विषे सर्व जीवों के उपकार वास्ते युक्ति सहित वचन को हम कथन करे हैं तुम श्रवण करो। शिष्य के हृदय विषे स्थित जो अज्ञान रूप अन्धकार है तांको सूर्यादिक देवता भी नाश नहीं कर सकते हैं ऐसे शिष्य के अज्ञान रूप अन्धकार को जो गुरु आत्म साक्षात्कार करिकै नाश करे है और तूं ब्रह्म रूप है यां महा वाक्य रूप अमृत को जो गुरु पान करावै है तां महा वाक्य रूप अमृत करिकै शिष्य के कर्णों को दुःख तैं रहित करै है। और जो गुरु अनन्त युक्तियों करिकै शिष्य को सर्वदा आत्मा का बोध न करे है। सो गुरु ही मुमुक्षु पुरुषों का पिता तथा माता है गुरु तैं भिन्न दूसरा कोई माता पिता है नहीं। काहे तैं गुरु के ब्रह्मविद्या रूप संप्रदाय विषे प्रवेश तैं ही संपूर्ण जन्म मरणादिक दुःखों का नाश होवे है। और लौकिक माता पिता के संतिति विषे प्रवेश तैं पुत्र को जन्म मरणादिक दुःखों की निवृत्ति होवे नहीं उलटा जन्म मरणादिक दुःखों की प्राप्ति होवे है। यां तैं जन्म मरण रूप दुःख की निवृत्ति का उपाय ब्रह्म विद्या रूप गुरु संप्रदाय तैं विना दूसरा कोई है नहीं। किन्तु ब्रह्मविद्या रूप गुरु संप्रदाय ही जन्म मरण रूप दुःख की निवृत्ति का उपाय है। यां तैं गुरु ही मुमुक्षु जनों का माता पिता है। किं वा माता पिता शब्द का अर्थ भी गुरु विषे ही घटे है लौकिक माता पिता विषे घटना नहीं। काहे तैं रक्षा करने हारे का नाम पिता है और पूजा करने हारे का नाम माता है। आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति करिकै जन्म मरण रूप संसार के भय तैं मुमुक्षु जनों की गुरु रक्षा करै है। यां तैं गुरु ही पिता है। और आनन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति रूप स्वराज्य विषे शिष्य को गुरु ही स्थापन करै है ॥ यां तैं गुरु ही माता है। तहां श्रुति ॥

ते तमर्चयं तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माक मविद्याया परं पारं तारय सीति नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ॥२१३॥

प्रश्न० उ० षष्ट प्रश्न मं० ८ ॥

अर्थ—तिस गुरु के ताईं ब्रह्मविद्या के प्रति उपकार को नहीं देखते हुए तिस गुरु को दोनों पादन विषे पुष्पांजलि के देने सें और मस्तक करिकै प्रणिपात सें पूजन करते हुए कहिते भये। हे गुरो आप हमारे नित्य अजर अमर अभय ब्रह्म रूप शरीर के विद्या सें जनक होने तैं पिता हो आप ही जन्म मरण जरा रोग और दुःखादिक मकरों करिकै युक्त अविद्या रूप महान समुद्र तैं विद्या रूप नौका सें महान समुद्र के पार की न्याईं अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष रूप परपार हम को तारते हो यां तैं मिथ्या आत्मा रूप शरीर के जनक पिता सें आप को अधिक पितापना है। जब मिथ्या आत्मा रूप शरीर के पिता लोक में पूजनें योग्य हैं। तब सत् चित् आनन्द स्वरूप मुख्य आत्मा रूप शरीर के अत्यन्त अभय के दाता गुरु रूप पिता के पूजनें की योग्यता विषे क्या कहना है यां तैं ब्रह्म विद्या के संप्रदाय के कर्ता परम ऋषिन के ताईं नमस्कार होवे परम ऋषियों के ताईं नमस्कार होवे ॥२१३॥

हंस विद्यामृते लोके नास्ति नित्य त्वसाधनम्। यो ददाति महाविद्यां

हंसाख्यां परमेश्वरीम् ॥३१४॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० २६॥

अर्थ—इस लोक में अमृत रूप हंस विद्या सें अधिक मुक्ति रूप नित्य वस्तु का साधन नहीं है। यो गुरु इस महाविद्या परमेश्वरी को तथा हंसरूप अर्थात ब्रह्मविद्या को देता है ॥३१४॥

तस्यदास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञा परया सह। शुभं वा ऽशुभमन्यद्वायदुक्तं गुरुणाभुवि ॥३१५॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० २७ ॥

अर्थ—सो शिष्य तिस गुरु का सदैव काल ही दास बन्या रहे और सो परम बुद्धिमान शिष्य श्रेष्ट बुद्धि के सहित जो गुरु शुभ कार्य के वास्ते आज्ञा करे वा अशुभ कार्य के लिये इस पृथ्वी में आज्ञा करे सो कार्य सर्व ही शिष्य को करने चाहियें ॥ ३१५

तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोष संयुतः। हंसविद्या मिमांलब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥३१६॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० २८ ॥

अर्थ—सो बुद्धिमान शिष्य तिस शुभा शुभ कार्य को विचार पूर्वक तथा संतोष युक्त होकर करे ॥ यह हंस विद्या अधिकारी पुरुष को गुरु की सेवा भक्ति से ही प्राप्त होती है ॥ ३१६ ॥

वेद शास्त्राणि चान्यानि पदपांशुमिवत्यजेत। गुरुभक्तिं सदाकुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥३१७॥

ब्रह्मविद्योप० मं० ३० ॥

अर्थ—इस अधिकारी पुरुष को चाहिये कि वेद शास्त्रों के पठन पाठन को तथा और भी सर्व कार्यों को पाओं की धूली की न्याईं त्याग करिकै अपने कल्याण की इस संसार में इच्छा करने वाला गुरु की सेवा भक्ति को सदा करे ३१७

गुरु रेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३१८॥

ब्रह्मविद्योप० मं० ३१ ॥

अर्थ—गुरु ही साक्षात् हरि है अन्य नहीं है यह श्रुति कहती है ॥ ३१८ ॥

नापुत्राय प्रदातव्यं ना शिष्याय कदाचन। गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्ति पराय च ॥३१९॥

ब्रह्मविद्योपनि० मं० ४७ ॥

अर्थ—जो शिष्य पुत्रभाव तें रहित है तथा जो शिष्यभाव तें रहित है ऐसे अनधिकारी को कदाचित भी ब्रह्मविद्या ना देने योग्य है। और जो शिष्य गुरु की ईश्वर की न्याईं नित्य ही भक्तिपरायण है तिस शिष्य को ही उपदेश करना चाहिये ॥ ३१९ ॥

गुरुभक्ति समायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः। एवं लक्षण संपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥३२०॥

अद्वयतारकोपनिषत्। अंत में ॥

अर्थ—विशेष करके पुरुष ज्ञानवान होवें गुरु की सेवा भक्ति में युक्त होवे। इस प्रकार के लक्षण संपन्न होवे गुरु इस नाम से कहा जाता है ॥ ३२० ॥

गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु शब्दस्तन्निरोधकः। अंधकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥३२१॥

अद्वयतारकोप० अंत का मं०

अर्थ—गु शब्द अंधकार का वाच्यक है

और क शब्द तिस अंधकार का निरोधक है। अंधकार निरोध करने वाला होने तें गुरू इस नाम से कहा जाता है ॥३२१॥

गुरुरेव परंब्रह्म गुरुरेव परागतिः। गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम् ॥३२२

अर्थ—गुरू ही परमब्रह्म रूप है गुरू ही परमगति मुक्तिरूप है गुरू ही परमविद्यारूप है गुरू ही के परायण होना चाहिये ॥३२२॥

गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परंधनम्। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरु तरो गुरुरिति ॥३२३॥

अद्वयतारकोपनिषत्। अंत के मंत्र हैं ॥

अर्थ—गुरु ही परम काष्ठारुप अर्थात् जगत की समाप्ति रुप शुद्ध चैतन्य मुक्ति रुप हैं। तथा गुरु ही परम सम्पदारुप है। जिस कारणते सो गुरु तत्व का उपदेश देने वाले हैं। तिसकारण ते गुरु से अधिक गुरु ही हैं ॥३२३॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियंते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परागति ॥३२४॥

शाठ्यायनीयोपनिषत् मं० ३४

अर्थ—जो ब्रह्मविद्या का अध्यापिक गुरु है तिसको शिष्यमन वांणी शरीर करके आदर नहीं करता उसकी सर्व विद्या निष्फल हो जाती है मुक्ति रुप फल को नहीं देती। शिष्य का गुरु ही परम धर्म रुप है तथा गुरु ही शिष्य की परम गति रुप है ॥३२४॥

एकाक्षर प्रदातारं यो गुरुं नाभिनंदति। तस्य श्रुतं तथा ज्ञानं स्रवत्यामघटांबुवत् ॥३२५॥

शाठ्यायनीयोपनिषत् मंत्र ३६ ॥

अर्थ—जो गुरु ब्रह्मविद्या का एकाक्षर भी शिष्य को उपदेश करता है तिस गुरु की जो शिष्य निंदा करता है। तिस शिष्य की श्रवण की हुई ब्रह्मविद्या तथा ज्ञान इसप्रकार निष्फल होजाते हैं जैसे घट में जल भरा होवे और स्रवता हो वह जैसे घट में जल नहीं ठहरता तैसे तिसकी विद्या निष्फल हो जाती है ॥३२५॥

त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरोवसेन्मोक्षाश्रमे चिरम्। मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥३२६॥

शाठ्यायनीयोपनिषत् ॥ मं० २८ ॥

अर्थ—शिष्य को अवश्य ही चाहिये कि चिरकाल पर्यंत मोक्षा श्रम में निवास करै"और धीर्यवान शिष्य और सर्व ही आश्रमो का परित्याग करै॥ यदि मोक्षाश्रम का परित्याग करैगा तो उभय भ्रष्ट हो जाने से तिसकी मुक्ति नहीं होवेगी ॥३२६॥

अमानित्वादि संपन्नो मुमुक्षुरेकविंशति कुलं तारयति। ब्रह्म विन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति ॥३२७॥

पैंगलोपनिषत अ० ४ ॥ मं० १ ॥

अर्थ—अमानित्वादिक गुण सम्पन्न अर्थात् चुतुष्ट साधन सम्पन्न मुमुक्षु २१ इक्कीस कुलों को तारता है। और ब्रह्माभिन्न आत्मा के साक्षात्कार से १०१ एकोत्तरशत कुल को तारता है ॥३२७॥

यातें ऐसे गुरु के साथ शरीर करके तथा वाणी करके तथा मन करके कदाचित् भी मुमुक्षु जनद्रोह नहीं करे। ताडनादिक शरीर कृत द्रोह

है अनुचित वचन का उच्चारण वाणी कृत द्रोह है। और अनिष्ट का चिंतन मन कृत द्रोह है। वाणीकृत द्रोह का फल यह शास्त्र विषे कहा है। तहां श्लोक।

गुरुं हं कृत्य तूं कृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः। श्मशाने जायते वृक्षः कंक गृध्रोपसेवितः ॥३२८॥

अर्थ—जो पुरुष आपने गुरु को हूंकार कर के बोलता है अथवा तूं कार कर के बोलता है और जो पुरुष ब्रह्माणों को वाद करके जीतता है। सो पुरुष शमशान भूमि विषे वृक्ष शरीर को प्राप्त होवे है। मांस के भक्षण करने वाले जो कौवे गृध्रादिक पक्षी हैं। तिन्हो करके सो वृक्ष सेवत होवे है। तात्पर्य यह है यद्यपि सम्पूर्ण वृक्ष शरीर पाप का फल है तथापि शमशान भूमि विषे वृक्ष शरीर की प्राप्ति असन्त उग्र पाप का फल है। काहेतैं शमशान भूमि का वृक्ष सर्वदा शमशान के अग्नि करके दाह को प्राप्त होवे है यातैं किसी प्रकार करके पुरुष ने गुरु का द्रोह नहीं करना किंतु गुरु की सेवा ही करनी यह जो वचन हमने कहा है सो ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा गुरु विषे कहा है ॥३२८॥

और वेदका तो यह तात्पर्य है। लौकिक विद्या के उपदेश करने हारे जो गुरु हैं। तिनों के साथ भी पुरुष ने कदाचित द्रोह नहीं करना इस वास्ते ही लोक विषे जिस अध्यापक पुरुष ने जिन शिष्यों को लौकिक विद्या अध्यापन कराई है तिस अध्यापकको ते शिष्य गुरु करके मानै तात्पर्य यह है ब्रह्मविद्या के देनेहारे जो गुरु हैं तथा लौकिक विद्या के देणेहारे जो गुरु हैं तिनों विषे जो जो शिष्य श्रद्धाभक्ति करे हैं तिसकी विद्या सफल होवे है। और जो जो शिष्य श्रद्धाभक्ति तें रहित हैं तिसकी विद्या निष्फल होवे है। यां तें हे ब्राह्मणों जो तुमारे को ब्रह्मविद्या के उपदेश करने की इच्छा होवे और मेरे रक्षा करने विषे आपका अभिप्राय होवे तो ऐसे गुणवान शिष्य के ताई तुमने ब्रह्म विद्या का उपदेश करना। जो शिष्य गुरु का भक्त होवे तथा ब्रह्मविद्या के श्रवण विषे जांकी श्रद्धा होवे तथा प्रमादतें रहित होवे और अर्थ के धारण करने विषे जांकी बुद्धि कुशल होवे और ब्रह्मचर्य करके युक्त होवे ऐसे अधिकारी शिष्य के ताई तुमने ब्रह्मविद्या का उपदेश करना।

हे शिष्य सृष्टि के आदि काल विषे ब्रह्मा सनकादिकों को उत्पन्न करता भया कैसे हैं ते सनकादिक पुरुषों के तर्क का नहीं विषे जो वेदका अर्थ है ताको जाननेहारे हैं। और चक्षु आदिक जो वाह्य इन्द्रिय हैं और मन रूप जो अन्तर इन्द्रिय हैं। तिनों को जिनों ने वश किया है। और यथा लाभ करके सन्तोष को प्राप्त भये हैं। और शीत उष्णादिक जिनों ने सहिन किये हैं और आत्मज्ञान करके युक्त हैं। और लोकों के कल्याण वास्ते जिनों ने शरीर धारण करा है ऐसे जो सनकादिक हैं ते प्रजा को मोक्ष का साधन आत्म ज्ञान ते रहित देखिके और विषयों में आसक्त देखके कृपा करके कहते भये। हे प्रजा आत्मज्ञान ही तुमारे को सुख का साधन है। तिसते भिन्न सर्व ही दुःख का साधन है ऐसा सनकादिकों का वचन श्रवण करके पूर्व संस्कार के वशतें मोहको प्राप्त भयी जो प्रजा तां सनकादिकों के वचनों का अनादर करके विषय सुख वास्ते ही कर्मों को करते भये। तां प्रजा विषे भी उत्तम मध्यम कनिष्ट यह तीन

प्रकार की जो तांमसी प्रजा है सो पाप करके युक्त हुए वेदकी आज्ञाको न मानते भये। और पूर्व मलिन संस्कारतें उत्पन्न भई जो बुद्धि है तां करके शब्दस्पर्शादिक विषयों को सुखका साधन मानते भये। तां शब्दादिक विषयों में सुखसाधनता बुद्धितें तिनों के मन वाक् शरीर विषे दोष उत्पन्न होते भये। ताविषे भी परधनादिको की इच्छादिक मन के दोष हैं कठोर वचन और मिथ्या वचन यह वाक् इन्द्रिय के दोष है। और चोरी से आदि लेके शरीर के दोष हैं। तिन दोषों करके तीन प्रकार के शरीर को पावते भये। कोई अकाश में विचरणे हारे पक्षी आदिक होते भये। कोई भूमि विषे वृक्षादिक होते भये। कोई सर्पादिक होते भये। कैसे पक्षी आदिक शरीर हैं मनुष्यों करके भोग्य हैं। और नाशकरणे योग्य हैं। और छेदन करणे योग्य हैं और हस्तपाद वागादिक इन्द्रिय जिनों विषे नहीं है। और सुख से रहित हैं। अतिशय करके दुःखी हैं। तिनों विषे भी पक्षी हस्तों तें रहित है और वृक्ष ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इन्द्रियों तें रहित हैं। यद्यपि पंचज्ञान इन्द्रिय पंच कर्म पंच प्राण मन बुद्धियां सप्तदश तत्व रुपलिंग शरीर वृक्षों विषे भी हैं। यातें इन्द्रियों का वृक्षों विषे अभाव कहना बने नहीं। तथापि जैसे मनुष्यादिकों के इन्द्रिय प्रसिद्ध हैं तैसे वृक्षादिकों के नहीं हैं किंतु सूक्ष्म हैं यांतें न हुए के समान हैं और ग्राम और बन विषे रहिणेहारे जो पशु हैं ते स्पष्ट वाणी तें रहित हैं। काहे तें जिनों की वाणी तें अर्थ का बोध होवे नहीं और सर्पादिक पादादिकों ते रहित हैं यह वार्ता सर्वलोकों को प्रसिद्ध ही है या प्रकार तामस पुरुषों की गति कही। अब सात्त्विकी पुरुषों की गति को कहिणे वास्ते प्रथम राजस सात्त्विक पुरुषों के प्रकृति को दिखावें हैं दूसरी प्रजा आत्मज्ञान का परित्याग करिकै वेद ने बोधन करे जो यज्ञादिक कर्म हैं अग्नि सूर्यादिक देवताके उपासना तिनों को सुख का साधन मान करके करते भये। और भिन्न भिन्न फल के बोधक वेद के वाक्यों को देख करके कर्म उपासना करणेहारी प्रजा का दो प्रकार का भेद होता भया। तहां राजसी प्रजा स्वर्गादिकों के सुखवास्ते कर्म उपासना को करते भये। और सात्त्विकी प्रजा इसप्रकार परस्पर विचार करके कर्म उपासना को करते भये। ता विचार के स्वरुप को दिखावे हैं। वेदों को जानणेहारे जो सनकादिक हैं तिनों ने हमारे को पूर्व मोक्ष का साधन आत्मज्ञान कहा था ता ज्ञान विषे अभी हमारा अधिकार है नहीं। काहे ते जाका ज्ञान सुख का साधन है ऐसा जो त्वं पदका लक्ष साक्षी कुटस्थ है। और तत्पद का लक्ष परब्रह्म है तिनों को हमने देहादिकों ते भिन्न किया नहीं है। और वेदों को जानणेहारे जो पूर्व हमारे पितादिक थे तिनों के वचनों करके भी सो परमात्मा हमने जाणा नहीं है। और अपनी बुद्धि करके भी सो परमात्मा हमने नहीं जाणा और मनकी वृत्ति में कुशल जो हम हैं तिनों ने मन करके भी परमात्मा नहीं कल्पना करा। और यां देहरुप मन्दिर विषे सो परमात्मा घ्राण इन्द्रिय करके भी हमने नहीं जाणा। और चक्षु आदिक इन्द्रियों करके स्वप्न विषे भी सो परमात्मा हमने नहीं जाणा। और श्रुति वाक्यों करके भी सो निर्गुण परमात्मा हमने नहीं जाणा। और हमने अपने श्रद्धावान शिष्यों के ताईं भी कभी निर्गुण

परमात्मा का उपदेश नहीं करा । और स्थूल शरीर ते भिन्न कर्त्ता पुण्य पाप के फल का भोगता आत्मा है। ऐसा आत्मा का स्वरुप हमने जाणा है। और श्रुति ने भी आत्मा श्रोता दृष्टा विज्ञाता कहा है ।

तहांश्रुति ।

जाग्रतमस्वप्नमसुषुप्त व्यभिचारीणं नित्यानन्दं सदेक रसं ह्येव चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्यद्रष्टा वाचोद्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धे द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा ॥३२९॥ नृसिंहोत्तरतापि न्युप० खं० १

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति यह तीनों अवस्था आत्मा की अपेक्षा से व्यभिचारी हैं आत्मा सत् चित आनन्द स्वरूप एक है एक रस व्यापक है चक्षु का द्रष्टा है श्रोत्र का द्रष्टा है वाक्य का द्रष्टा है बुद्धि का द्रष्टा है प्राण का द्रष्टा है अज्ञान का द्रष्टा है सर्व का द्रष्टा है ॥३२९॥

और वाक् प्राण के व्यापार विषे परस्पर लय चिंतनरुप अन्तर अग्निहोत्र को जानणेहारे कश्यप मुनि के पुत्र जैसे बाह्य अग्नि होत्रते वैराग्य कों प्राप्त होते भये थे तैसे यज्ञादिक कर्मों विषे हम वैराग्य को प्राप्त भये नहीं । याते गुरु के समीप जायं के अपने स्वरुप के निर्णय करणे विषे भी हमारा अधिकार नहीं है। और जो हमतां परमात्मा को ना जान करके स्वर्गादिकों की प्राप्ति वास्ते कर्मों को ही करेंगे तो हमारा जन्म निष्फल जावेगा । काहे ते सर्व जीवों का शरीर परमात्मा ने निर्गुण ब्रह्म के जानणे के वास्ते ही रचा है। विषय भोग के वास्ते नहीं । यां कारण ते ही श्रुति विषे पादके नखाग्रते लेके मस्तक पर्यंत उरु उदर हृदय आदिक स्थानों विषे ब्रह्म का प्रवेश कहा है।

तहांश्रुति ।

यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरे संचरन् यं मनो न वेद । यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धि मंतरे संचरन्न यं बुद्धिर्न वेद ॥३३०॥ सुवालोप० खंड ७ ॥

अर्थ—जिस आत्मा का मन शरीर है जो आत्मा मनके अन्तर विचरता है । जिस आत्मा को मन नहीं जान सकता । तथा जिस आत्मा का बुद्धि शरीर है जो आत्मा बुद्धि के अन्तर विचरता है जिस आत्मा को बुद्धि नहीं जान सकती ॥३३०॥

यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकार मंतरे संचरन् यमहंकारो न वेद । यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्त मंतरे संचरन् यं चित्तं न वेद ॥३३१॥ सुवालोप० खंड ७ ॥

अर्थ—जिस आत्मा का हंकार शरीर है जो आत्मा हंकार के अन्तर विचरता है । तथा जिस आत्मा को हंकार नहीं जान सकता। तथा जिस आत्मा का चित्त शरीर है जो आत्मा चित्त के अन्तर विचरता है । जिस आत्मा को चित्त नहीं जान सकता ॥३३१॥

अंतः शरीरे निहतो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथ्वी मन्तरे संचरन् यं पृथ्वी न वेद । यस्यापाः शरीरं योऽपोन्तरे संचरन्यमापोनविदुः ॥३३२॥ सुवालोप० खंड ७ ॥

अर्थ—इस पुरुष के शरीर में बुद्धि रूप गुहा में गुप्त है अज है एक है अर्थात सजातीय

विजातीय स्वगत भेद सें रहित है इस लिये एक है नित्य है जिस आत्मा का पृथ्वी शरीर है जो आत्मा पृथ्वी के अंतर विचरता है जिस आत्मा को पृथ्वी नहीं जाण सकती। जिस आत्मा का जल शरीर है जो आत्मा जल के अंतर विचरता है जिस आत्मा को जल नहीं जाण सकता ॥३३२॥

यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायु मन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद ॥३३३॥ सुवालोप० खं० ७॥

अर्थ—जिस आत्मा का तेज शरीर है जो आत्मा तेज के अंतर विचरता है। जिस आत्मा को तेज नहीं जानसकता। जिस आत्मा का वायु शरीर है जो आत्मा वायु के अंतर विचरता है जिस आत्मा को वायु नहीं जान सकता ॥३३३॥

यस्याकाशः शरीरं यं अकाश मंतरे संचरन यमाकाशो न वेद। यस्या व्यक्तं शरीरं योऽव्यक्त मंतरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद ॥३३४॥सुवालोप०खंड०७

अर्थ—जिस आत्मा का अकाश शरीर है जो आत्मा अकाश के अंतर विचरता है जिस आत्मा को अकाश नहीं जाण सकता। और जिस आत्मा का अव्यक्त शरीर है तथा जो आत्मा अव्यक्त के अंतर विचरता है जिस आत्मा को अव्यक्त नहीं जाण सकता ॥३३४॥

यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षर मन्तरे संचरन यमाक्षरं न वेद। यस्य मृत्यु शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन यं मृत्यु र्न वेद ॥३३५॥ सुवालोपनि० खंड० ७॥

अर्थ—जिस आत्मा का अक्षर जो माया शरीर है जो अक्षर के अंतर विचरता है जिस आत्मा को माया नहीं जाण सकती। और जिस आत्मा का मृत्यु शरीर है जो आत्मा मृत्यु के अंतर विचरता है जिस आत्मा को मृत्यु नहीं जान सकता ॥३३५॥

स एष सर्व भूतांतरात्मा पहत पाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥३३६॥ सुवालोप० खंड ७॥

अर्थ—सो आत्मा इस सर्व नाम रूप प्रपंच के अन्तर आत्मा रूप है आपने साक्षात्कार सें सर्व पापों का नाश करने वाला है दिव्य रूप है सर्व का स्वामी एक नारायण है ॥३३६॥

नारायण परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः। नारायण परोध्याता ध्यान नारायणः परः ॥३३७॥ नारायणोपनिषत्॥

अर्थ—नारायण ही पर ब्रह्म रूप है नारायण ही परम तत्त्व रूप है नारायण ही परम ध्याता रूप है नारायण ही ध्यान रूप है नारायण ही सर्व का परा रूप है ॥३३७॥

यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रुयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थिताः ॥३३८॥ नारायणोपनिषत्

अर्थ—जो कुछ नाम रूप प्रपंच चक्षु सें देखा जाता है और श्रोत्र सें श्रवण होता है सर्व प्रपंच के अन्तर बाह्य सर्वत्र व्यापक नारायण ही स्थित है ॥३३८॥

तिन देहों विषे भी गुरु शास्त्रादिक साधनों करि के युक्त पुरुष का देह ही स्पष्ट आत्म ज्ञान

वास्ते है काहेतैं श्रुतिनैं या पुरुष शरीर विषे ही आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान कहा है।

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनं जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते ॥३३९॥

अर्थ—निष्काम शुभ कर्मों के परिपाक सें बहुत ही जन्म के अन्त जन्म में मनुष्य को मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है ॥३३९॥

और पूर्वसनकादिकों नैं हमारे ताईं श्रुति करि कै सिद्ध और मोक्ष का साधन आत्मा का ज्ञान ही तुमारे को संपादन करने योग्य है। ऐसा कहा था और सनकादिकों नैं कहा जो आत्म ज्ञान ताके संपादन में आपणे समर्थ्य को न देख करि कै और या ज्ञान विषे हमारे को किस प्रकार अधिकार होवैगा ऐसे चिन्ता करि कै मौन को प्राप्त हुये। सनकादिकों के समीप जाते भये तांते विवेकादिक साधन चतुष्टय रूप अधिकार की प्राप्ति वास्ते कर्म उपासना को हम करैं ऐसा विचार करि कै प्रजा उपासना को तथा कर्मों कूं फल की इच्छा सें रहित होइ कै करते भये। ता कर्म उपासना करि कै अंतः करण शुद्ध भया है जिनों का और शमदमादिक साधनों करि कै युक्त और आत्मज्ञान सें रहित ऐसे जो मुमुक्षु हैं ते पुनः सनकादिक ऋषियों को प्राप्त होई कै ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिवास्ते तिनों के ताईं आपणा सर्पूण अभिप्राय कहिते भये तिनों के वचनों को श्रवण करि कै कृपा करि कै युक्त सर्वज्ञ सनकादिक आत्मज्ञान की प्राप्ति वास्ते तिनों को कहते भये।

सनकादिक उवाच। हे प्रजा वाणी का का तथा मन का आत्मा विषयन नहीं काहे तैं जाति गुण क्रिया करि कै युक्त वस्तु का ही शब्द बोधन करै है। जैसे घट यह शब्द घटत्व जाति वाले घट को बोधन करै है और नील घट यां स्थान में नील शब्द नील गुण वाले का बोधन करै है। और पाचक यह शब्द पाक रूप क्रिया वाले पुरुष को बोधन करै है। तहां श्रुति।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह

इसी रीति सें किसी धर्म को ग्रहण करि कै ही शब्द आपणे अर्थ को बोधन करै। और आत्मा जाति आदिक धर्मों तैं रहित है। यांतैं शब्द की आत्माविषे प्रवृत्ति होवै नहीं। इस रीति तैं मनवाणी का आत्मा अविषय है। और सत चितानन्द आत्मा को यद्यपि हम कहणे को समर्थ नहीं हैं और तुम भी जानणे को समर्थ नहीं हो। तथापि निर्गुण परमात्मा विषे जगत का अरोपण करि कै तां जगत का निषेध रूप जो अध्यारोप अपवाद है तां करि कै सिद्ध जो भाग साग लक्षणा है तां लक्षणा करिकै परमात्मा को हम बोधन करै हैं। दृष्टांत जैसे सोये हुये राजा को बंदी पुरुष जगावै हैं तैसे वास्तवतैं शुद्ध और अज्ञान रूप निद्रा करिकै सोया हुआ परमात्मा को वेदांत शास्त्र भाग्य साग लक्षणा करिकै बोधन करै है॥ तहां श्रुति॥

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। कार्यं कारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽव शिष्यते ॥३४०॥ शुकोप०मं०१२॥

अर्थ—अंतः करण रूप कार्य उपाधि वाला जीव है वा प्रकृति का कार्य रूप अविद्या उपाधि वाला जीव है और माया रूप कारण उपाधि वाला ईश्वर है और कार्य कारण रूप दोनों उपाधियों की भाग साग लक्षणा करि कै (हित्वा) कहिये साग के जो त्वंपद का

लक्षार्थ तथा तत्पद का लक्षार्थ अद्वैयनंद चिन्मात्र शेष रूप का बोध होवै है ॥३४०॥

प्रजा उवाच—हे भगवन् पूर्व आप नैं कहीं शुद्ध आत्मा को वेदांत शास्त्र बोधन करै नहीं सोवनैं नहीं काहेतैं आत्मा हंकारादिकों करिकै विशिष्ट है। यातैं प्रत्यक्षादिक प्रमाणों करिकै सिद्ध है।

सनकादिक उवाच—हे प्रजा आत्माविषे जो सकारपणा है सो माया करि कै कल्पित है यातैं मिथ्या है और सर्व कल्पना का अधिष्ठान वस्तु ही आत्म शब्द का अर्थ है ॥ तहां श्रुति ॥

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्यु पाधि द्वितयमितरथैकं सच्चिदानन्दरुपम्। उभय वचन हेतू देश कालौ चहित्वा जगति भवति सोयं देव दत्तो यथैकः ३४१

शुकोप० मं० ११ ॥

अर्थ—जैसे सोयं देवदत्तः इन दोनों वचनों का कारण देश काल के सागणे सें पुरुष का पिंडमात्र एक है। अर्थात पूर्व देश पूर्व काल को साग करि कै वर्तमान देश वर्तमान काल को त्याग करिकै ॥ पुरुष पिंडमात्र सो शब्द का तथा अन्य शब्द का लक्षार्थ एक है ॥ तैसे माया उपाधिको त्याग के तथा अविद्या को त्याग के जो दोनों जीव ईश्वर में चेतन वस्तु है सो एक है इस लिये तत्त्व मसि महावाक्य में [illegible] तूं हैं सत चितानन्द रूप ब्रह्म एक है ॥३४१॥

यां अर्थ को स्पष्ट करिकै दिखावैं हैं। हे बुद्धिमान प्रजा शास्त्र संस्कार तैं रहित जो पुरुष है और शास्त्र संस्कार सहित जो बुद्धिमान पुरुष है तिनोनैं लोक विषे दो प्रकार का शब्द और दो प्रकार का ज्ञान निश्चय किया है तहां अहं या शब्द का और अहं या ज्ञान का अंतर आत्मा अर्थ है न अहं या शब्द का और न अहं या ज्ञान का बाह्य अनात्म वस्तु अर्थ है। तहां अहं या शब्द और अहं या ज्ञान तैं आत्मा रूप अर्थ भिन्न है इस रीति सें परस्पर भिन्न जो शब्द ज्ञान अर्थ तिनों को एक रूप जान करि कै भ्रांत पुरुष आत्मा को अहं या शब्द और अहं या ज्ञान का विषय मानैं हैं। और अनात्म पदार्थों को न अहं या शब्द का और न अहं यां ज्ञान का विषय मानैं हैं। यातैं अहं और न अहं यह सर्व व्यवहार भ्रम रूप हैं। इस रीति सें घट ऐसा शब्द तैं और घट ऐसा ज्ञान तैं घट रूप अर्थ भिन्न है ताविषे घट ऐसा जो लोकिका व्यवहार है सो भी शब्द ज्ञान और अर्थ रूप है यातैं भ्रम रूप है। काहेतैं लौकिक पुरुष तैं किसी नैं पूछा यह कौण वस्तु है तब घट यह उत्तर लौकिक पुरुष कहै है। और कैसा ज्ञान तुमारे को भया है ऐसा किसी नैं पूछा तब भी घट यह उत्तर कहै है और कौण शब्द तुम नैं श्रवण करा है ऐसा किसी नैं पूछा तब भी घट ऐसा उत्तर कहै है। इस रीति सैं परस्पर भेद वाले शब्द ज्ञान अर्थों को एक रूप करिकै जानणा भ्रांति सैं विना बनैं नहीं। यातैं सर्व लोकों का व्यवहार भ्रम रूप है। और यह लोकों का व्यवहार युक्ति को भी नहीं सहारता यातैं भी भ्रम रूप है। काहे तैं वाक इंद्रिय विषे शब्द रहै है। और हृदय विषे ज्ञान रहै है। अर्थ जो घटादिक हैं सो भूमि विषे रहै हैं। तां अर्थ शब्द और ज्ञान को एक रूप मानणा। यह पुरुषों के भ्रांति सें विना बनैं नहीं। किंवा शब्द ज्ञान अर्थ यां तीनों को एक रूप मानने मैं व्याघात दोष की

प्राप्ति होवै है। काहेतैं जब शब्द ज्ञान प्रकाशक होवै और शब्द ज्ञान का जो अर्थ सो प्रकाश्य होवै तब शब्द और अर्थ दोनों का परस्पर भेद ही सिद्ध होवै है। काहेतैं लोक विषे प्रकाशक और प्रकाश्य का परस्पर भेद ही देखा है जैसे किसी पुरुष नैं पिता और पुत्र एक स्थान विषे देखे होवैं। और दूसरे देश में तां पुत्र को देखि के ताके पिता का स्मरणता पुरुष को होवै है। यां स्थान में पुत्र प्रकाशक है और पिता प्रकाश्य है। तिनों का भेद लोक विषे प्रसिद्ध है। तैसे प्रकाशक जो शब्द और ज्ञान है तिनों को प्रकाश्य रूप अर्थतैं जो अभेद मानोगे तो आपने तैं आपणा भेदकहना व्याघात दोष प्राप्त होवैगा।

अब पूर्व कहा जो अर्थ तां अर्थ को सिद्धांत विषे जोड़े हैं।

इस प्रकार व्यवहार काल विषे अहं या शब्द का अहं या ज्ञान का लोकों नैं आत्मा विषय माना है। और न अहं या शब्द और ज्ञान का अनात्म वस्तु विषय माना है। तहां अहं या शब्द और ज्ञान का परित्याग करिकै तिनों का जो अर्थ भेद ते रहित बाकी रह्या सोई ही भेद तैं रहित सर्वशक्ति संपन्न परमात्मा जगत की उत्पत्ति तैं पूर्व होता भया। और लोक प्रसिद्ध जो शब्द और ज्ञान और अनात्मा सो पूर्व नहीं होते भये। दृष्टांत—जैसे अंधकार का विरोधी सूर्य भगवान् अंधकार की निवृत्ति करिकै अंधकार तैं और तां विषे विचरणे हारे पिशाचादिकों तैं रहित हुआ प्रकाशे है। तैसे परमात्मदेव भी आपणा कार्य प्रपंच आपणे विषे लय करिकै अद्वितीय रूप तैं पूर्व स्थित होवै है॥ तहां श्रुति—

पुनर्वत्सरशतं तस्य प्रलयो भवति। तदा जीवाः सर्वे प्रकृतौ प्रलीयन्ते। प्रलये सर्वं शून्यं भवति ॥३४२॥

त्रिपाद्विभूति महा नारायणोपनिषत् ॥ अ० ३॥

अर्थ—पुनः ब्रह्मा जी की आयु सौ १०० वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् तिस ब्रह्मा के सहित सर्व प्रपंच की प्रलय होवै है। तदनंतर सर्व जीव प्रकृति में लय होवै हैं। प्रलय में सर्व प्रपंच का अभाव है। एक परमात्मा ही प्रलय करता शेष रहे है ॥३४२॥

यां अर्थ को ही स्पष्ट करके दिखावै हैं। दिन दिन विषे जैसे सूर्य विषे अंधकार लय भाव को प्राप्त होवै है। और जैसे संपूर्ण रात्रियों विषे सूर्यका अच्छादन करिकै अंधकार अविद्या तैं उत्पन्न होवै है। तैसे सतचित आनंदस्वरूप आत्मा को अच्छादन करिकै आत्मा से विरुद्ध स्वभाव वाला असत जड़ दुःख अनात्मस्वरूप जगत उत्पन्न होवै है।

अन्य दृष्टांत—जैसे सर्प की उत्पत्ति तैं पूर्व रज्जु ही स्थित है और सर्प अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं है। तैसे अनात्मा जगत की उत्पत्ति तैं पूर्व आनंदस्वरूप आत्मा ही स्थित होता भया और अनात्मा जगत अपनी उत्पत्ति तैं पूर्व नहीं स्थित होता भया।

प्रजा उवाच—हे भगवन्! सृष्टि तैं पूर्व आपने अद्वितीय परमात्मा कहा सो बनै नहीं काहे तैं सृष्टि तैं पूर्व यद्यपि कार्यरूप प्रपंच का अभाव है तथापि सर्व जगत का कारणरूप माया विद्यमान है॥

सनकादिक उवाच—हे प्रजा! आत्मा तैं भिन्न होइकै माया प्रतीत होवै है। यां तैं माया को सत मानो हो। अथवा प्रमाण करिकै माया

सिद्ध है यातैं माया को सत मानो हो । तहां प्रथम पक्ष बनै नहीं काहे तैं जैसे सुषुप्ति को प्राप्त भया पुरुष जाग्रत स्वप्नके अनंत संस्काररूप गर्भ करिकै युक्त अविद्या को देखता हुआ भी आपने तैं ता अविद्या को भिन्न देखता नहीं। इस प्रकार माया वाला महेश्वर अनंदस्वरूप आत्मा भी संपूर्ण जगत् रूप गर्भ करिकै विशिष्ट माया को देखता हुआ भी आपने तैं भिन्नता कूं देखता नहीं। सुषुप्ति विषे और प्रलय विषे संस्काररूप होइकै जगत अज्ञान विषे रहे हैं।

दृष्टांत—जैसे वर्षा के निवृत्त हुए मंडूकों के सूक्ष्म अवस्थारूप संस्कार भूमी विषे रहे हैं। और वर्षा के हुए पुनः तिनों का प्रादुर्भाव होवै है। ऐसे ही संस्काररूप से अज्ञान विषे रहा जो जगतता का सृष्टिकाल में प्रादुर्भाव होवे है।

तहां श्रुति—

नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति । नारायणात्प्राणो जायते ॥३४३॥

अर्थ—सृष्टि के आदिकाल विषे नारायण को इच्छा होती भई कि मैं प्रजा को सृजूं इस इच्छा से नारायण से ही प्राण उत्पन्न होते भये ३४३

मनः सर्वेंद्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणि । नारायणाद्ब्रह्मा जायते । नारायणाद्रुद्रो जायते ॥३४४॥

अर्थ—नारायण से मन और सर्व इंद्रियों की उत्पत्ति होई है। और नारायण से आकाश वायु, तेज, जल, पृथिवी सर्वविश्व के धारण करने वाली की उत्पत्ति होती भई। तथा नारायण से ही ब्रह्मा उत्पन्न होता भया। नारायण से ११ रुद्र उत्पन्न होते भये ॥३४४॥

नारायणादिंद्रो जायते । नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते । नारायणाद्द्वादशादित्यारुद्रावसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते । नारायणात्प्रवर्तंते । नारायणे प्रलीयन्ते ॥३४५॥

नारायणोपनिषत् ॥

अर्थ—नारायण से इंद्र की उत्पत्ति होती भई। नारायण से प्रजापति की उत्पत्ति होती भई। नारायण से ही १२ आदित्य तथा रुद्र सर्व वसु उत्पन्न होते भये। और सर्व वेदों की उत्पत्ति होती भई। नारायण से सर्व देवताओं की उत्पत्ति होती भई। नारायण से ही चारों खाणी की प्रवृत्ति होती है अर्थात चौरासीलक्ष योनीयों में भ्रमण नारायण से ही होवे है। और नारायण में ही लय होवे है ॥३४५॥

और माया प्रमाण करिकै सिद्ध है यां तैं माया सत्य है। यह दूसरा पक्ष भी बनै नहीं। काहे तैं माया है ऐसी जो माया की सिद्धि है सो भी माया तैं ही माया की सिद्धि है। प्रमाण तैं माया की सिद्धि विवेकी पुरुषों ने अंगीकार करी नहीं।

दृष्टांत—जैसे सुषुप्त पुरुष की सुषुप्ति। सुषुप्ति करिकै ही सिद्ध है। किसी प्रमाण करिकै सिद्ध नहीं। और जो प्रमाण अंगीकार करे हैं। ताकूं यह पूछे हैं। सुषुप्तिरूप अविद्या विषे प्रत्यक्ष प्रमाण है अथवा अनुमान प्रमाण है अथवा शब्द प्रमाण है अथवा इनों तैं कोई भिन्न प्रमाण है तहां प्रत्यक्ष प्रमाण है यां प्रथम पक्ष में भी सुषुप्त पुरुष के प्रत्यक्ष प्रमाण करिकै सिद्ध है अथवा अन्य पुरुष के प्रत्यक्ष प्रमाण करिकै सिद्ध है। यह दोनों पक्ष बनै नहीं। काहे तैं इंद्रिय

जन्य ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष नैयायिक मानै हैं। सुषुप्ति विषे इंद्रियों का लय होवै है। यातैं सुषुप्त पुरुष प्रत्यक्ष प्रमाण करिकै सुषुप्ति को जानता नहीं। तैसे जाग्रत हुआ जो अन्य पुरुष है सो भी अन्य पुरुष के सुषुप्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण करिकै जानता नहीं। काहे तैं जैसे एक पुरुष के ज्ञान का दूसरे पुरुष को प्रत्यक्ष होवै नहीं। यातैं प्रत्यक्ष प्रमाण तैं सुषुप्ति की सिद्धि होवै नहीं॥

शंका—हे भगवन्! यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण तैं सुषुप्ति की सिद्धि बनें नहीं। तथापि यह पुरुष सुषुप्ति वाला है। इंद्रियों की क्रिया तैं रहित होनेतैं या अनुमान करिकै सुषुप्ति रूप साध्य के अभाव वाले जो स्वप्न और समाधि हैं तिनों विषे भी इंद्रियों के क्रिया का अभाव रूप हेतु रहै है। यां तैं व्यभिचारी है। साध्य को छोड़ के जो हेतु कभी रहे नहीं सो हेतु साध्य की सिद्धि करै है या तैं अनुमान प्रमाण भी सुषुप्ति का साधक नहीं है। शास्त्ररूप शब्द प्रमाण सुषुप्ति रूप अज्ञान का साधक है। यह तीसरा पक्ष भी बनै नहीं। काहे तैं पुरुषों करिकै रचा हुआ शास्त्र अविद्या रूप सुषुप्ति विषे प्रमाण है। अथवा अपौरुषे वेदता विषे प्रमाण है। तहां प्रथम पक्ष तो बनै नहीं। काहेतैं प्रत्यक्षादि प्रमाणों करिकै सिद्ध पदार्थों को ही पुरुषों करिकै रचा हुआ शास्त्र प्रतिपादन करै है। प्रत्यक्षादिक प्रमाण अविद्या के साधक है नहीं। या तैं लौकिक शास्त्र भी तां विषे प्रमाण नहीं है। और वेद प्रमाण है। यह दूसरा पक्ष भी बनै नहीं काहे तैं फल वाले अर्थ विषे ही वेद प्रमाण होवै है। फल नाम सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का है। सो सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति जीव ब्रह्मके अभेदज्ञान तैं होवै है। अविद्या के ज्ञान तैं होवै नहीं। या तैं अविद्या विषे वेद शास्त्र प्रमाण नहीं।

शंका—वेद विषे माया अविद्या के बोधक वाक्य और अविद्यातैं जगत् की उत्पति के बोधक वाक्य बहुत देखि तैं हैं। तिनों का क्या अभिप्राय है। समाधान। फल के अभाव तैं अविद्या के बोधन विषे वेद का तात्पर्य नहीं है। किंतु अद्वितीय सत् चित अनंदस्वरूप आत्मा के बोधनवास्ते ही अविद्या और तासें जगत की उत्पति का वेदविषे कथन है। सो कैसी अविद्या है। जैसे दीपक करि कै अंधकार का ज्ञान होवै नहीं। तैसे प्रमाण करिकै अविद्या का ज्ञान होवै नहीं। किंतु अविद्या तैं ही अविद्या की सिद्धि होवै है। इस प्रकार प्रलयकाल विषे परमात्मा कार्य कारण परिणाम को नहीं प्राप्त भई जो माया है तां माया करि कै सो परमात्मा विशिष्ट भी है। तहां श्रुति—

मायांत प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतेस्तु व्याप्तं सर्व मिदं जगत् ॥३४६॥

श्वेताश्वतरोप० अ० ५—मं० १०॥

अर्थ—पुनः "माया प्रकृति विद्यात" मायिनं माया वाला महेश्वर है अर्थात् प्रलय काल विषे माया विशिष्ट परमात्मा को महेश्वर इस नाम से कहते हैं सृष्टि काल में जगतेश्वर कहिते हैं। तिस कारण सें तिस माया के अवयवरूप सें अर्थात् व्यष्टि अविद्या की अंशों से यह सर्व जगत् व्याप्त है ॥३४६॥

तौभी परमात्मा माया तैं रहित ही कहा जाता है।

दृष्टांत—जैसे सूर्य भगवान अंधकार का कारण जो अज्ञान है ता करिकै विशिष्ट भी

है। तो भी दिन विषे कार्य रूप अंधकार तैं रहित है यां तैं सूर्य अंधकार तैं रहित ही कहिये है। या प्रकार स्थित हुआ परमात्मा सृष्टि के आदि काल विषे ऐसा विचार करता भया कैसा है सो परमात्मा देव पूर्व पूर्व कल्पों विषे सृष्टि को विषय करने हारा। ज्ञान माया की वृति रूप है तातैं उत्पन्न भये जो संस्कार हैं। तिनों करिकै युक्त है। और जीवों के पुण्य पापरूप अदृष्ट करि कै प्रगट हुये हैं संस्कार जिस परमात्मा के सो परमात्मा विचार करता भया।

तहां श्रुति—

सूर्याचन्द्र मसौधाता यथा पूर्व मकल्पयत्। दिवंच पृथ्वीं चांतरिक्षमथो सुवः। यत्पृथिव्या ँ रजस्वमांतरिक्षे विरोदसी। इमा ँ स्तदापोवरुणाः पुनात्वघमर्षणः। पुनंतु वसवः पुनातु वरुणः पुनात्वघमर्षणः। एष भुवनस्य मध्ये भुवनस्य गोप्ता ॥३४७॥

नारायणोपनिषत् ॥ मं० १४ ॥

अब परमात्मा के स्वरूप को दिखावै है। माया उपहित मैं परमात्मा विषे भूत और ताका कार्य ब्रह्मांड संपूर्ण सूक्ष्म रूप होइ कै रहा है। यां तैं इस प्रकार स्पष्ट करिकै स्वर्ग अकाश और भूमि या तीनों लोकों को रचो।

तहां श्रुति—

(सोऽकामयत वहुस्यां प्रजा येयेति)

तैतिरी०

यहां स्वर्ग करिकै ऊपर के सर्व लोकों का ग्रहण करना और भूमि लोक करिकै नीचे के सर्व लोकों का ग्रहण करना। इस प्रकार विचार करिके सत संकल्प जो परमेश्वर है। सो ब्रह्मांड को रचता भया। कैसा ब्रह्मांड है विराट् भगवान् का शरीर है और हिरण्यगर्भ का शरीररूप जो पंच सूक्ष्म भूत हैं तिनों विषे स्थित है। और भूरादि चतुर्दश लोकों करिकै युक्त है। और चेतन की सत्ता तैं भिन्न सत्ता जां की नहीं है और नाम रूप क्रिया है शरीर जाका। तहां नाम करिकै शब्दरूप प्रपंच का ग्रहण करना। और रूप करिकै अर्थ रूप प्रपंच का ग्रहण करना। और क्रिया करि कै नाम रूप का कारण जो कर्म है तिनों का ग्रहण करना। इस प्रकार सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान परमेश्वर संपूर्ण जगत् को रच करिकै ऐसा विचार करता भया।

दृष्टांत—जैसे असुरों का वालक रागद्वेष से रहित हुआ आपनी माया करिकै पदार्थों को रचता है। तैसे परमेश्वर जगत को रचता भया।

तहां श्रुति—

यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनविच्छिन्नं परंब्रह्म तस्माज्जाता पराशक्तिः स्वयं ज्योति रात्मिका ॥ आत्मन अकाशः संभूतः। अकाशाद्वायुः। वायोरग्नि। अग्नेरापः। आद्भ्यः पृथ्वी। एतेषां पंचभूतानां पतयः पंच सदा शिवेश्वर रुद्रविष्णु ब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्माविष्णु रुद्रश्चोत्पत्ति स्थिति लयकर्तारः। राजसो ब्रह्मासात्त्विको विष्णुस्तामसोरुद्र इति ॥ एते त्रयो गुण युक्तः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव।

धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चन्द्र इति ॥३४८॥

योग चूडामण्युपनिषत् ७२ ॥

अर्थ—जो परमात्मा देव भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों करिकै सर्वदा अनविच्छिन्न है तिस कारण तैं परब्रह्म में सृष्टिकाल में परमशक्ति सर्वज्ञता स्वयं ज्योति रूपता प्रगट होवै है। तिस सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ स्वयं ज्योति सर्वात्मादेव परमात्मा सें । अकाश की उत्पत्ति होवै है अकाश से वायु, वायु सें अग्नि,अग्नि सें जल, जल सें पृथ्वी । इन पंच भूतों का पति सदा शिवेश्वर सें रुद्र विष्णु तथा ब्रह्मा यह सर्व तीनों ब्रह्मा विष्णु तथा रुद्र यह तीनों उत्पात्ति स्थित लय के करता हैं रजो गुण ब्रह्मा सतो गुण विष्णु तमो गुण रुद्र है । यह तीनों गुण युक्त हैं । ब्रह्मा सर्व देवताओं से प्रथम उत्पन्न हुआ है इस लिये सृष्टि की उत्पत्ति करने से धाता है तथा विष्णु सृष्टि की स्थिति का हेतु है तथा रुद्र नाशका हेतु है । चन्द्रमा का भोग हेतु है ॥३४८॥

तां विचार के स्वरूप को दिखावे हैं। यह पंचभूत हैं और जल है प्रधान जिनों विषे ऐसे पंचभूतों विषे स्थित जो यह ब्रह्मांड है। और तां ब्रह्मांड विषे स्थित जो यह चतुर्दश लोक हैं यह सम्पूर्ण अचेतन हैं। यातें क्षणमात्र विषे नाश को प्राप्त होवेंगे। दृष्टांत—जैसे स्वामी तें रहित गृहनाश को प्राप्त होवे हैं। और जैसे प्राणों ते रहित हुआ शरीर नाश होवे है। ऐसा विचार करके पिता की न्यांई पालन करनेहारा जो परमेश्वर है। सो पूर्व आप ने सत्वगुणादिक कारणों ते उत्पन्न भये जो सम्पूर्ण इन्द्रिय और ताके देवता आदिक ताके प्रगट करणे वास्ते तां अंड विषे नाना प्रकार के छिद्रों को करता भया । तहां मुख छिद्ररूप गोलक को प्राप्त होइके शब्द व्यवहार करणेहारा वाक्य इन्द्रिय प्रगट होता भया । तां वाक्य इन्द्रिय ते वैदिकयज्ञादिक कर्मों के सिद्ध करणे हारा अग्निदेवता प्रगट होताभया । और नासिका छिद्ररूप गोलक को प्राप्त होइके घ्राण इन्द्रिय प्रगट होताभया । तां घ्राण इन्द्रियते गंध गुण उपाधि वाला वायुदेवता प्रगट होताभया । और अक्षि छिद्ररूप गोलक को प्राप्त होइके चक्षु इन्द्रिय प्रगट होताभया । तां चक्षु इन्द्रिय ते सूर्य भगवान देवता प्रगट होताभया । और कर्ण छिद्ररूप गोलक को प्राप्त होइके श्रोत्र इन्द्रिय प्रगट होताभया तां श्रोत्र इन्द्रियतें सम्पूर्ण दिशा प्रगट होती भई और सम्पूर्ण देहविषे अतिसूक्ष्म जो अनन्त छिद्र हैं। तिनों ते सर्व शरीर विषे व्यापक जो चर्मरूप त्वचा है सो प्रगट होताभया । तां त्वचारूप गोलक को प्राप्त होइके लोम और केश सहित स्पर्श इन्द्रिय प्रगट होता भया । तां स्पर्श इन्द्रिय सहित लोम और केशनते सम्पूर्ण औषधि आदिक स्थावर प्रगट होते भये । और स्थावररूप उपाधि वाला वायुदेवता प्रगट होता भया । कैसे वे स्थावर हैं। सर्वजीवों के उपकार वास्ते दिन रात्रि विषे जिनोंने आपने में कलेशको धारण करा है। और मांस का कमलरूप हृदय गोलक उत्पन्न करताभया । सो हृदय कैसा है। पांच छिद्रों करके युक्त है। और अन्तर अकाश विषे जाका निवास है । तां हृदय रूप गोलक को प्राप्त होइके मन प्रगट होताभया । तां मनते जगत के आनन्द करनेहारा चन्द्रमा देवता प्रगट होता भया । और तां नाभीरूप छिद्र गोलक को प्राप्त

होइके अपानवायु होताभया। कैसा अपान है दुःख से सहिन किया जावे है। यां कारण ते ही प्राणायाम शास्त्र विषे अतिशय कठिन कहा है। और मुखद्वारते प्राप्त भया जो अन्न और जल तिनों को नीचे देश विषे लेजावे हैं। यांते जाकूं अपान कहे हैं। ता अपानतें महान मृत्यु प्रगट होताभया। कैसा मृत्यु है सर्व प्राणियों को भय को देनेहारा है। अपान मृत्यु का कारण है। यह वार्ता लोक विषे भी प्रसिद्ध है। काहेतें अन्न के दोषों तें बिना किसी स्थान विषे भी प्राणि मरते नहीं। किंतु अन्न के दोषों तें ही सर्वत्र प्राणि मरते हैं। अन्नादिकों को यह अपानवायु ग्रासे है। यां कारणते अपानते मृत्यु का प्रगट होना कहा है। उपस्थ छिद्ररूप गोलक को प्राप्त होइके वीर्य सहित उपस्थ इन्द्रिय प्रगट होता भया। कैसा सो वीर्य है। जरा युज अंडज देहों को विस्तार से करता हुआ लोक विषे भी प्रसिद्ध है। और पंचम आहुति का साधन है और षट् कोश वाला जो शरीर है ताका कारण है। तिन कोशों विषे त्वचा और रुधिर तथा मांस यह तीन कोश माता के अंशते होवे हैं। और नाडी अस्थि मज्जा यह तीन कोश पिता की अंशते होवे हैं। और वीर्य सहित ता उपस्थ इन्द्रिय ते जल है प्रधान जिनों विषे ऐसे पंचभूत हैं सोई है शरीर जाका ऐसा जो प्रजापति देवता सो प्रगट जो होता भया इसप्रकार ऐतरेय उपनिषद् विषे इन्द्रिय और तिनों के देवताओं का प्रगट होना कहा है। बाकी रहे जो देवता तथा इन्द्रियां तिनों का भी श्रुति विषे प्रगटहोना कहा है और जो वाक्य और अग्नि आदिक शब्द तिन शब्दों का लक्षणाते ग्रहण का प्रकार दिखावे हैं। पूर्व कहा जो मृत्यु का कारण अपान है सो वायु छिद्रतें स्पष्ट होवे है। यां कारण ते ही सो अपान वायु देवता सहित पायु इन्द्रिय होवे है। तात्पर्य यह है कि अपान करके देवता सहित पायु इन्द्रिय होवे है। ताका भी प्रगट होना ग्रहण करना। और घ्राण इन्द्रिय को प्राप्त होइके गंधते रहित भी वायु गंधवाला होवे है। यां कारणतें घ्राण इन्द्रिय पृथ्वी है या स्थान विषे गंध सहित वायु करके पृथ्वी देवता का ग्रहण करना। और पूर्व त्वचाते लोमों का प्रगट प्रगट होना कहा। सो लोम कम्प करके युक्त है। और लोमों विषे कम्प वायु करके जन्य है। यांते ऐसा निर्णय होवे है। लोम और स्पर्श इन्द्रिय करके युक्त त्वचारूप गोलक तैं वायु देवता प्रगट होताभया। और श्रवर्ण का विरोधी अवकाशरूप लक्षण अकाश और दिशाके समान है। याते पूर्व कही जो दिशा सो अकाश स्वरूप है। और पूर्व हृदय विषे मन का प्रगट होना कहा तहां मनके प्रगट हुए बुद्धिका तथा चित्त का तथा अहंकार का भी प्रगट होना जान लेना। काहे तैं श्रुति विषे मन करके ही पूर्व जगत की उत्पत्ति कही है। और पूर्व मन का देवता चन्द्रमा का प्रगट होना कहा। तां चन्द्रमा करके बुद्धिचित्त अहंकार के जो देवता ब्रह्मा रुद्र महेश इनों का भी प्रगट होना ग्रहण करना और पूर्व अपान का प्रगट होना कहा। तां अपान करके क्रिया शक्ति वाले सर्व प्राणों का ग्रहण करना। और पूर्व मुखरूप गोलक से वाक्य इन्द्रिय का प्रगट होना कहा। और ताका देवता अग्नि का प्रगट होना कहा था। ता वाक्य इंद्रिय करके मुखरूप एक स्थान विषे रहनेहारी रसना इंद्रिय का भी प्रगट होना जानना। और अग्निदेवता करके वरुण-

देवता का भी प्रगट होना ग्रहण करना। इस प्रकार अनंत प्रकार के छिद्र हैं। और हस्तों तैं इन्द्रदेवता को प्रगट करता भया। और पादों तैं उपेंद्रदेवता को प्रगट करता भया। इस प्रकार विराट के देह में जो मुखादिक छिद्र हैं। तिन छिद्रों विषे जैसे श्रुति विषे कहा है। तिस प्रकार संपूर्ण देवता को और संपूर्ण वाक् से आदि लेके इन्द्रियों को परमेश्वर प्रगट करता भया। जभी निष्काम कर्म और उपासना करके प्राप्त भया जो देवशरीर सो भी दुःखों करके युक्त है तो अन्य शरीर का क्या कहना है।

तहां श्रुति—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥३४९॥ ऋग्वे० ऐ० उ० मं० १॥

अर्थ—प्रसिद्ध यह सर्वते पर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान क्षुधा आदिक सर्व संसार के धर्मों से रहित नित्य शुद्ध नित्य बुद्ध नित्य मुक्तस्वभाव वाला अजन्मा अजर अमर अमृत अभय अद्वैत रूप एक आत्मा ही होता भया। जैसे जल से भिन्न फेन नामरूप वाला होवै है। जब जल इस एक शब्द और वृत्ति का विषय होवे है। जब जल तैं भिन्न नामरूप के भेद तैं प्रगट होवे है। तब जल और फेन से अनेक शब्द तथा वृत्तियों का विषय होवे है। जैसे जल एक शब्द तथा वृत्ति का विषय होवे है। फेन नहीं, ताकी न्याई अन्य कुछ भी व्यापार वाला वा व्यापार रहित नहीं था। सो आत्मा सर्वत्र व्यापक अपनी माया में स्थित होने तैं एकरूप हुआ इच्छा को करता भया। मैं जलादिक प्राणियों के पूर्व सृष्टि के कर्मों के अनुसार सुख दुःखरूप फल भोग के वास्ते स्थानरूप लोकों को निश्चय करके रचो। इस प्रकार आत्मा इच्छा को करके सो परमात्मा इन लोकोंको रचता भया ॥३४९॥

स इमाँ लोकान् सृजत। अम्भो मरीचर्मरमाणोऽदोऽम्भः ॥ परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः पृथ्वी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥३५०॥

ऋग्वे० ऐ० उ० मं० ८॥

अर्थ—जैसे बुद्धिमान शिल्पी गृहादिकोंको मैं सृजूं ऐसे संकल्प को करता है। तदनंतर गृहादिकों को रचता है। तैसे परमात्मादेव भी सर्व लोकों को रचता भया॥

शंका—हे भगवन! काष्ठादि उपादान के सहित शिल्पी गृहादिकों को रचता है। परन्तु उपादान से रहित जो आत्मा है सो कैसे लोकों को सृजता है। समाधान—जैसे मायावी पुरुष अपने से भिन्न उपादानसे रहित हुआ अपने से अभिन्न आपको नाना प्रकारका विस्तार करता है। तैसे सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान महामाया वाला आत्मादेव भी अपने से ही अपना विस्ताररूप होता है। सो आत्मादेव किनको रचता भया तहां कहे हैं। अंभ मरीचियां मर और आप इन को सृजता भया। आकाशादिकके क्रमसे ब्रह्मांड को उत्पन्न करके जलादिकों को सृजता भया। यह जो जलशब्दका वाचक लोक है। सो स्वर्ग लोक तें परे जो महरादिक लोक हैं। और जो तिस जलरूप लोकका आश्रय स्वर्गलोक है तिन महरादिकलोक विषे वृष्टि जलके विद्यमान होने तैं। और जो स्वर्गलोक तें नीचे अंतरिक्ष है सो मरीचियां हैं। यहां सूर्यकी किरणों करके वाची मरीचियां शब्दसे लखाया। जो अंतरिक्ष सो एक हुआ भी अनेक स्थानोंके भेदवाला होने तें बहुत वचन का भागी होवे है। वा सूर्य के

किरणरूप अनेक मरीचियों के सम्बंध तें सो अंतरिक्षलोक बहुवचन का भागी होवे है। और जिस विषेभूत मारते हैं ऐसी जो पृथ्वी सो मर है। और जो पृथ्वीके नीचेलोक हैं वे लोक आप कहिये है। यद्यपि इन लोकों का पंचभूतों का सम्बंधीपना है तथापि तिन में जलादिकों की बाहुल्यता तें वे लोक जलादिक नामसे ही अंभ· मरीची मर और जल इस नामसे कहिये ॥३५०॥

स ईक्षते मेनुलोका लोक पालान्नु सृजा इति। सोद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्या मुर्च्छयत् ॥३५१॥ ऋग्वे० ऐ० उ० मं० ३ ॥

अर्थ—सर्व प्राणियों के कर्म फल के अनुसार और उनके उपादान रूप साधन सें पूर्वोक्त च्यारी लोकों को सृज के सो ईश्वर अनन्त ऐसा विचार करता भया। यह लोक जलादिक है। मुख्य लोक पालों से विना नाश को प्राप्त होवेंगे। यां तैं इन के रक्षा के वास्ते मैं परमेश्वर लोक पालों को रचो। इस प्रकार ईश्वर इच्छा करता भया। तिन लोकन तैं ही पुरुष के अकार सें युक्त शिर तथा हस्तादिक अंग वाले विराट् पुरुषको ग्रहण करके पृथ्वी में मृत्पिंडके ग्रहण की न्याई कुलालवत मूर्छित करता भया। भूतोंके अंगों से अपने अंगों को संयुक्त करता भया ३५१

तमभ्यत पत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येताम्॥ नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुर क्षिणीनिरभिद्येताम्। अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णोनिरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रम्॥ श्रोत्राद्दिशस्त्वङ निरभिद्यत॥ त्वचो लोमानि। लोमभ्य औषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत॥ हृदयान्मनो मनस श्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत। नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युःशिश्नं निरभिद्यत॥ शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥३५२॥

ऋग्वेद ऐतरे उ० मं० ४॥

अर्थ—तिस पुरुष अकार वाले पिंड को उद्देश करके च्यारी और तैं तपताभया। कहिये ताके संकल्परूप ज्ञानको करता भया। (जाका ज्ञानमय तप है) इस श्रुति तैं तिस ईश्वर के ज्ञानरूप तपसे चारों ओर तें तप्त ज्ञानको प्राप्त भये पिंडका मुखरूप छिद्र भेदको पावता भया अर्थात छिद्र होता भया। जैसे पक्षी का अंड छिद्रयुक्त होता है। तैसे छिद्रयुक्त होता भया। इस प्रकार छिद्रको प्राप्त भये मुख तैं वाक्य इंद्रिय रूप करण होता भया। और तां वाक्तैं वाकका अधिष्ठाता अग्नि लोकपाल देवता होता भया। तैसे दो नासिकारूप छिद्र होते भये। तिन नासिकारूप छिद्र तैं प्राणगोलकरूप होता भया। यहां प्राणशब्द तैं प्राणवृत्ति सहित घ्राण इन्द्रिय का ग्रहण है। तां प्राण तैं वायुदेवता होता भया। तैसे दोनों नेत्ररूप गोलक छिद्र होते भये तिन नेत्रों तैं चक्षुरूप करण होता भया। तिस चक्षु तैं सूर्यरूप देवता होता भया। तैसे दोनों कर्णरूप गोलक छिद्र होते भये। तिन कर्णों तैं श्रोत्र इन्द्रियरूप करण होता भया। तिस श्रोत्र तैं दिशारूप देवता होता भया। तैसे त्वचारूप गोलक छिद्र होता भया। तां त्वचा तैं लोम (रोम) होते भये। यहां रोम शब्द तैं रोम सहित त्वचा इन्द्रिय का ग्रहण करना। तिन लोमन तैं औषधि और वनस्पति होती भई।

यहां औषधि और वनस्पति शब्द तैं तिन का अधिष्ठाता देवता वायु का ग्रहण है। तैसे हृदय कमलरूप गोलक छिद्र होता भया। तिस हृदय तैं मनरूप अंतःकरण होता भया। तिस मन तैं चंद्रमा देवता होता भया। तैसे नाभिरूप सर्व प्राणोंके रहनेका स्थानरूप छिद्र होता भया। तिस नाभि तैं अपानवायु इन्द्रिय होता भया। तिस अपान तैं मृत्युरूपदेवता होता भया। तैसे शिश्न कहिये उपस्थ इन्द्रियका स्थानरूप छिद्र होता भया। तिस शिश्न तैं रेत उपस्थ इन्द्रिय होता भया। यहां रेत शब्द तैं शिश्न इन्द्रियरूप स्थान वाला रेत का सम्बंधि उपस्थ इन्द्रिय का ग्रहण है। ताको रेतके त्यागरूप अर्थ वाला होने तैं रेत का सम्बंधिपना है। तिस रेत तैं जल कहिये प्रजापतिरूप देवता होता भया ॥२८२॥

इस अभिप्राय करके विराट् शरीरको समुद्र रूप करके वर्णन करैं हैं। अनंत कोटियों को अनंत कोटिवार गणना करने से जो संख्या होवै इतने योजन विस्तारवाला विराटका देहरूप समुद्र है। यद्यपि समुद्र संख्या का शास्त्र विषे नियम लिखा है। तथापि प्रलयकाल विषे नियम लिखा नहीं। काहे तैं प्रलयकाल विषे योजनोंके गिनती करनेहारा कोई है नहीं। यद्यपि ईश्वर प्रलयकाल विषे भी है तथापि ईश्वरका गिनतीसे कोई प्रयोजन है नहीं। यातैं योजनोंकी गिनती करै नहीं। और जैसे समुद्र देखने करके सर्व प्राणियों को भयकी प्राप्ति करै है। तैसे सर्वात्मा विराट मैं हूं। ऐसा जो विराटका ज्ञान है तातैं परिच्छिन्न दृष्टि वाले अज्ञानी पुरुष हैं सो भयको प्राप्त होवे हैं। और पंचमहाभूतरूप जल है जिस विषे और चतुर्दशलोक रूपमाला है जिस विषे। और जैसे समुद्र शक्तियों और शंखों करके शोभायमान है। तैसे यह विराट भगवानका शरीर भी जरायुज अंडज स्वेदज उद्भिज यां चार प्रकार के शरीर रूप शुक्ति तथा शंखों करके शोभायमान हो रहा है। और काम क्रोधादिक रूप मकरोंका आश्रय है। काहे तैं जैसे समुद्रके मगर आपने तंतुयोंसे पुरुष को बांध करके यां संसाररूप समुद्र विषे गिरावे है। तैसे काम क्रोधादिक भी वासनारूप तंतुयोंसे बांध करके यां पुरुषको संसाररूप समुद्र विषे गिरावै हैं। यातैं मगरके समान हैं। और जैसे समुद्र विषे नाना प्रकारके बंधन करने हारे हैं। तिनों में भी कोई तो समुद्रके पारजाने में प्रतिबंधक हैं। जैसे हनुमान के छाया के ग्रहण करने हारे राक्षस हैं। और कोई समुद्र विषे तरने में प्रतिबंधक हैं। जैसे जलों के भ्रमण हैं और कोईक बाहर निकसने में प्रतिबंधक है। जैसे ग्राहोंके मुख है इस प्रकार बंधन के करने हारे संचित और क्रियमाण और प्रारब्ध कर्म हैं। जिस विषे ऐसा विराट भगवानका शरीर है। और त्वचा आदिक धातुओं करके दुर्गंध है और विष्ठा मूत्र मल का आश्रय है। यद्यपि दुर्गंधादिक अन्न के दोष विराट के शरीर विषे कहना श्रुति से विरुद्ध है तथापि व्यष्टि शरीर द्वारातां विषे जानने। स्वभाव तैं तां विषे दुर्गंधादिक नहीं हैं। ऐसे विराट शरीर विषे प्राप्त भये जो वागादिक देवता हैं सो क्षुधा तथा तृषा करिकै व्याकुल हुए। और विराट शरीर सें भिन्न तृप्ति करिने योग्य अन्न तथा जल को न देखते हुए अपना पिता जो परमेश्वर है तिस को कहिते भये। हे भगवन संपूर्ण जगत जांका शरीर आपनैं उत्पन्न करा है। यां शरीर से भिन्न कोई अन्न और जल दीखता नहीं। और यां शरीर विषे हमारे को भोजन करने योग्य अन्नादिक नहीं देखीते। और पान

करने योग्य जल नहीं देखीते। तातैं हे भगवन हमारे सुख वास्ते थोड़े अन्न और जल करिकै जाकी तृप्ति होवे ऐसा कोई शरीर उत्पन्न करो। जिस विषे स्थित होइके हम अन्न और जल को प्राप्त होवे। इस प्रकार वागादिक देवताओं करिकै कह्या हुआ सो परमात्मा गौ के शरीर को रचता भया। तहां श्रुति—

अब सृष्टि के देवतादिक के अर्थ स्थान का प्रदान।

ता एतादेवताः सृष्टा अस्मिन्महत्पर्णवे प्रापतं स्तमशनाया पिपासाभ्या मन्ववार्जत्। ता एवमब्रुमन्नायतनं नः प्रजानीहि। यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामिति ॥३५३॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० खं० २ मं० १)

अर्थ—वह अग्नि आदिक देवता लोकपाल पनैं करिकै कल्पना करे हुए ईश्वर करिकै रचे हुए अविद्या काम कर्म करिकै उत्पन्न भये दुःख की अधिकता वाले तथा तीव्र रोग जरा मृत्यु रूप महान ग्राह वाले और अनादि अनन्त अपार निराश्रय तथा विषय इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख के लेश रूप विश्रांति वाले और पंच इन्द्रियों के विषय तथा विषयों की तृष्णा रूप वायु के किये क्षोभ सें उठे सैंकड़ों अनर्थ रूप बड़ी लहरियों वाले और महारौरवादिक अनेक नरक गत हाहाकारादिक शब्दों के पुकार से प्रगट हुए महान शब्दों वाले। इस बड़े संसार रूप समुद्र विषे पतन होते भये। इस प्रकार निश्चय करिकै सर्व संसार दुःख की निवृत्ति वास्ते आपना पिता जो परमेश्वर है। तिस विराट भगवान को क्षुधा तथा तृषा वाला करता भया। तिस कारण रूप विराट को क्षुधा तृषा वाला होने तैं ताके कार्य रूप देवता को भी क्षुधा पिपासा होवे है। या तैं वह देवता क्षुधा तथा पिपासा करिकै पीड़ा को प्राप्त हुए। ते देवता आपने पिता महापुरुष परमेश्वर सें यह वक्ष्यमान वचन कहिते भये। हे परमात्मादेव हमारे वास्ते किसी परच्छिन्न शरीर को उत्पन्न करो जिस विषे स्थित हुए हम देवता अन्न जल को भक्षण करैं ॥३५३॥

ताभ्यो गामान यत्ता अब्रुवन्न वैनोऽयमल मिति। ताभ्योऽश्व मान यत्ता अब्रुवन्न वैनोऽयमल मिति ॥३५४॥

ऋग्वे० ऐ० उ० खं० २ मं० २॥

अर्थ—इस प्रकार जब संपूर्ण देवताओं ने प्रार्थना की तब परमेश्वर तिन देवतावों के वास्ते गौ शरीर को रचकरिकै दिखावता भया। देवता तिस गौ के शरीर वाले पिंण्ड को देखि करिकै कहिते भये। कि इस गौ के शरीर में हम देवता स्थित होईकै अन्न जल को भक्षण नहीं करसकते। काहे तैं यां गौ के शरीर को ऊपर के दांतों के अभाव से दुर्वादिक तृण के मूल को उखाड़ने को असमर्थ होने तैं और इस शरीर में पूर्व कीये हुये कर्म ही भोगे जाते हैं। नवीन कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। इस लिये यह शरीर हमारे योग्य नहीं है। इस प्रकार गौ के शरीर का निषेध करन सें। कृपा करिकै युक्त परमेश्वर देवतावों के वास्ते दोनों ओर से दांतों वाले अश्व को उत्पन्न करिकै दिखावता भया। तब देवता अश्व को देखिके प्रसन्न नहीं हुए। काहे तैं अश्व विषे भी ज्ञान के तथा कर्म के साधनों का अभाव है। और इस में भी पूर्व कर्म ही भोगे जाते हैं नवीन नहीं किये जाते। सच्छास्त्र तथा सत्संग

शुभ कर्मों का संपादन इस अश्व शरीर विषे होवे नहीं ॥२५४॥

इस प्रकार पुत्रों की प्रीति वास्ते परमेश्वर चौरासी लक्ष देहों को रचता भया। परन्तु किसी शरीर विषे भी तिनों की प्रीति नहीं होती भई। तापश्चात् मनुष्य शरीर को परमेश्वर रचता भया। तामनुष्य शरीर को उत्पन्न हुआ देखिकै देवता तिस मनुष्य शरीर विषे प्रीति करते भये। और हर्षवान होइकै परमेश्वर के प्रति कहिते भये। हे पिता यह मनुष्य शरीर आपने ही साक्षात रचा है किसी द्वारा नहीं रचा यां तैं हर्ष के करने हारा है।

दृष्टान्त—जैसे बुद्धिमान तक्षादिक जो आपने हस्तों सें वस्तु को रचे है। सो रमणीक होवे है। और जो आपने भृत्यों सें वस्तु करावे है। सो रमणीक नहीं होवे है। यह लोक विषे प्रसिद्ध है। और यह मनुष्य शरीर विषे साक्षात ईश्वर का कार्य्य पना युक्त है। काहे तैं यह मनुष्य वस्तु को जानि करिकै कथन करै है। तात्पर्य यह है ज्ञान इन्द्रिय तथा कर्म इन्द्रिय करिकै युक्त है यद्यपि वानारादिक शरीरों विषे भी चक्षु आदिक इन्द्रियों सें ज्ञान होवे है। यातैं मनुष्य शरीर विषे तिनों तैं विशेषता बनै नहीं। तथापि मनुष्य सें भिन्न वानरादिकों के इन्द्रियों का वस्तु के साथ सम्बन्ध हुए भी सर्व प्रकार करिकै अज्ञान की निवृत्ति होवै नहीं। और घटादिक अर्थ के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध हुए भी बहुत स्थान में मनुष्य अज्ञान तैं रहित होवै है। यां तैं वानरादिकों से मनुष्य श्रेष्ट है। और कैसा यह मनुष्य शरीर है इस लोक के जो सुख हैं और सुख के साधन तिनों को जाने है। स्वर्गादिक लोकों के जो सुख हैं और तिनों के जो यज्ञादिक कर्म तिनों को भी शास्त्र सें जाने है। और अतीत काल विषे जो हुआ कार्य्य और आगे होने वाला जो कार्य ताको जाने है। और सुख की प्राप्ति के और दुःख की निवृत्ति के जो साधन हैं। तिनों को जानने के वास्ते साधनों को जानने हारे जो महात्मा हैं तिनों के समागम का प्रकार भी यह मनुष्य जाने है। और महात्माओं के समागम हुए यह मेरे को करने योग्य है यह नहीं करने योग्य यह सम्पूर्ण प्रमाण से जाने है। और यां मनुष्य शरीर विषे ही वेद वाक्यों सें आत्मा का साक्षात्कार होवे है। ऐसे मनुष्य शरीर विषे ही सम्पूर्ण देवता सन्तोष को मानते भये। इस प्रकार हर्ष करिकै युक्त हुए पुत्रों को परमात्मा आज्ञा करता भया। हे देवताओ यां व्यष्टि शरीर विषे अपने अपने गोलकरूप स्थान विषे तुम प्रवेश करो। तहांश्रुति

ताभ्यः पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन सुकृतं वदेति॥ पुरुषोवाच सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥२५५॥ (ऋग्वे० ऐ० उ० खं० २ मं० ३)

अर्थ—तिन देवताओं के प्रवेश के वास्ते विराट की देह के समान जाति वाला देह को उत्पन्न करिकै परमात्मा देव दिखलाता भया। वह देवता तिस मनुष्य शरीर को देख के विक्षेप सें रहित हुए। यह शरीर निश्चय करिकै सुकृत है शोभा वाला है ऐसे कहते भये। या तैं पुरुष ही सर्व पुण्य कर्म का हेतु होने तैं सुकृत है वा आप परमेश्वर ने अपने स्वरूप सें उत्पन्न किया है या तैं अत्यन्त उत्तम है। तदनन्तर ईश्वर के चित्त में विचार हुआ कि यह मनुष्य शरीर इन देवताओं को अत्यन्त प्रिय है। इस प्रकार निश्चय

करिकै तिन देवताओं को परमेश्वर कहते भये। हे देवताओ जिस २ स्थान सें तुमारी उत्पत्ति हुई है तिसी २ स्थान में तुम इस मनुष्य शरीर विषे प्रवेश करो। देवता ऊचुः।

हे भगवन! इंद्रियों के निवास स्थान विषे हमारा प्रवेश बनै नहीं। काहेतैं हम देवता व्यापक हैं और यह इंद्रिय अल्प हैं। किंवा इन इंद्रियों करिकै ही कार्य की सिद्धि होवैगी। हमारे प्रवेश का कुछ प्रयोजन भी नहीं है। ईश्वर उवाच—हे देवताओ! तुमारे संबंधि जो इंद्रिय हैं तिनों विषे भेद भाव को छोड करिकै एकता अभिमान सें प्रवेश करो।

दृष्टांत—जैसे सांचे में ढाले हुए ताम्रादिक धातु एकता भाव को प्राप्त होवै हैं इहां यह अभिप्राय है एक दूसरे की अपेक्षा को न करिकै जो आपने आपने कार्य को करैं तिनों का एक अधिकरण में रहिणा होवै नहीं। इंद्रिय तथा देवतावों को परस्पर अपेक्षा है। काहेतैं चक्षु से विना प्रकाश रूप सूर्य सिद्ध होवै नहीं। और सूर्य सें विना चक्षु इंद्रिय सिद्ध होवै नहीं। काहेतैं सूर्य सें विना चक्षु इंद्रिय रूपादिक वस्तुवों के ज्ञान को उत्पन्न करे नहीं या कारण तैं ही अंधकार में रूप का चक्षु जन्य ज्ञान होवै नहीं। और रूपादिक वस्तु के ज्ञान रूप कार्यतैं चक्षु इंद्रिय का अनुमिति ज्ञान होवै है। काहेतैं इंद्रियों का इंद्रियों करिकै प्रत्यक्ष होवै नहीं। यातैं यह सिद्ध भया जब सूर्य होवै तब रूपादिकों का प्रत्यक्ष ज्ञान होवै है। तां ज्ञान रूप कार्यतैं करण रूप चक्षु का अनुमिति रूप ज्ञान होवै है। इस प्रकार परंपरा करिकै सूर्य चक्षु इंद्रिय का साधक है। इस प्रकार संपूर्ण इंद्रिय और तिनों के देवता परस्पर अपेक्षा वाले हैं। या तैं इंद्रियों सें मिल करिकै देवतावों का व्यष्टि शरीर विषे प्रवेश बनै है। इस प्रकार परमेश्वर करिकै प्रेरे हुये संपूर्ण देवता तैसे ही करते भये। तिनों विषे अग्नि देवता पूर्व उत्पन्न भया जो वाक् इंद्रिय तासें एकता भाव को प्राप्त होई कै मुख रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और जल का पति जो वरुण है सो रसना इंद्रिय के साथ एकता भाव को प्राप्त होइकै जिह्वा का अग्र भाग रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और गंध-विशिष्ट वायु देवता घ्राण इंद्रिय के साथ एकता भाव को प्राप्त होइकै नासिका छिद्र रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और सूर्य देवता चक्षु इंद्रिय के साथ एकता अभिमान करिकै अक्षि रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और दिग् देवता श्रोत्र इंद्रिय के साथ एकता अभिमान करिकै कर्ण छिद्र रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और स्थावर रूप उपाधिवाला जो वायुदेवता है सो लोम सहित स्पर्श इंद्रिय विषे एकता भावको प्राप्त होइकै त्वचा रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और चन्द्रमा देवता मन के साथ एकता भाव अभिमान करिकै हृदय रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और मृत्यु रूप देवता पायु इंद्रिय के साथ एकता अभिमान करिकै गुदा छिद्र रूप गोलक विषे प्रवेश करता भया। और प्रजापति देवता उपस्थ इंद्रिय के साथ एकता अभिमान करिकै शिश्न छिद्र गोलक विषे प्रवेश करता भया।

इतने देवताओं का प्रवेश श्रुति विषे कहा है। इसप्रकार से दूसरे भी देवता अध्यात्म इन्द्रियों विषे और अधिदेवों विषे वर्तमान जो भेद है। तासे रहित हुए इन्द्रियों के साथ एकता अभिमान को प्राप्त हुए आपने आपने स्थान विषे

प्रवेश करते भये । या प्रकार व्यष्टि शरीर विषे प्रवेश करके अधिदेव अध्यात्म अधिभूत यह त्रिपुटि सिद्ध होवे है । तहांश्रुति ।

अग्नि र्वाग्भूत्वा मुख प्राविशद्वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्रविशदादित्य-श्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशाद्दिशः श्रोत्रं-भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानिभूत्वा त्वचं प्राविश चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्न प्राविशन् ॥३५६॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० खं० २ मं० ४)

अर्थ—जैसे राजा की आज्ञा को पाय के तथा अस्तु ऐसे कहके सेनापति आदिक नगरी विषे प्रवेष करते हैं । तैसे ईश्वर परमात्मदेव की आज्ञा को पाय के वाक का अभिमानी अग्नि देवता वाक् रूप होई के अपनी योनिरूप मुख में प्रवेश करता भया । तैसे वायु प्राण कहिये घ्राणरूप होइके नासिका में प्रवेश करता भया । तैसे सूर्य चक्षुरूप होइके नेत्र में प्रवेश करता भया । तैसे दिशा श्रोत्ररूप होइके कर्णगोलक में प्रवेश करता भया । तैसे औषधि और वन-स्पतियां रोमरूप होइके त्वचा में प्रवेश करते भये । तैसे चन्द्रमा मनरूप होइके हृदय में प्रवेश करता भया । तैसे मृत्यु अपानरूप होइके वायु इन्द्रिय में प्रवेश करता भया । तैसे जल रेतरूप होइके उपस्थ इन्द्रिय होइके शिश्न में प्रवेश करता भया ॥३५६॥

तहां सूर्यादिक देवता अधिदेव है । और चक्षु इंद्रिय अध्यात्म है और रूप विषय अधिभूत है । और दिशा का अभिमानी देवता अधिदेव है और श्रोत्र अध्यात्म है । शब्द अधिभुत है । और वायुदेवता अधिदेव है। त्वचा अध्यात्म है स्पर्श अधिभूत है । और वरुण देवता अधिदेव है रसना अध्यात्म है । रस अधिभुत है । और अश्विनी कुमार अधिदैव है घ्राण इंद्रिय अध्यात्म है गंध दुर्गंध अधिभूत है। तहां श्रुति—

चक्षुर ध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूत मादित्य स्तत्राधिदैवतम् ॥३५७॥

अर्थ—चक्षु अध्यात्म है देखने योग्य रूप अधिभूत है । तिस का सूर्य अधिदेव है ॥३५७॥

श्रोत्रं मध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥३५८॥

अर्थ—श्रोत्र अध्यात्म है श्रवण करने योग्य पदार्थ आधिभूत है दिशा तिस का अधिदैव है ॥३५८॥

नासाध्यात्मं घ्रातव्यमाधिभूतं पृथ्वी तत्राधिदैवतम् ॥३५९॥

अर्थ-नासिका अध्यात्म है सूंघने योग्य पदार्थ अधिभूत है पृथ्वी तिसका अधिदेव है ॥३५९॥

जिह्वाध्यात्मं रसयितव्य माधिभूतं वरणस्तत्राधिदैवतम् ॥३६०॥

अर्थ—रसना अध्यात्म है ग्रहण करने योग्य रस अधिभूत है बरुण तिसका अधिदैव है ॥३६०

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्य मधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥३६१॥

अर्थ—त्वचा अध्यात्म है स्पर्श करने योग्य पदार्थ अधिभूत है तिसका वायु अधिदैव है ॥३६१

मनोऽध्यात्मं मंतव्यमधिभूतं चंद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥३६२॥

अर्थ—मन अध्यात्म है मनन करनेयोग्य पदार्थ अधिभूत है तिसका चन्द्रमा अधिदैव है ३६२

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ॥३६३॥

अर्थ—बुद्धि अध्यात्म है निश्चयात्मकरूप पदार्थ अधिभूत है ब्रह्मा तिसका अधिदैव है ॥३६३

अहंकारोऽध्यात्म महं कर्त्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥३६४॥

अर्थ—अहङ्कार अध्यात्म है अहङ्कार करने योग्य पदार्थ अधिभूत है रुद्र तिसका अधिदैव है३६४

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञ स्तत्राधिदैवतम् ॥३६५॥

अर्थ—चित्त अध्यात्म है चिंतन करने योग्य पदार्थ अधिभूत है क्षेत्रज्ञ साक्षी आत्मा तिसका अधिदैव है॥३६५॥

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूत मग्निस्तत्राधिदैवतम् ॥३६६॥

अर्थ—वाक् अध्यात्म है वक्तव्य करने योग्य पदार्थ अधिभूत है अग्नि तिसका अधिदैव है ॥३६६

हस्ता व ध्यात्ममदातव्यमधिभूत मिंद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥३६७॥

अर्थ—हाथ अध्यात्म है अदादान तव्य पदार्थ अधिभूत है इन्द्रिय तिसका अधिदैव है ३६७

पादाव ध्यात्मं गंतव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥३६८॥

अर्थ—पाद अध्यात्म है गन्तव्य अधिभूत है विष्णु तिस का अधिदैव है ॥३६८॥

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतम् ॥३६९॥

अर्थ—पायु इन्द्रिय अध्यात्म है मल का त्यागना अधिभूत है। धर्मराज तिस का अधिदैव है ॥३६९॥

उपस्थोऽध्यात्ममानंदयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम् ॥३७०॥

(सुबालोप० खं० ५)

अर्थ—उपस्थ इन्द्रिय अध्यात्म है स्त्री का आनन्द अधिभूतहै प्रजापति तिसका अधिदैवहै३७०

नारायणश्चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो ॥३७१॥

अर्थ—अब त्रिपुटी को नारायण रूप करिकै कथन करै है। चक्षु नारायण है तथा देखिने योग्यरूप नारायण है। श्रोत्र नारायण रूप है तथा श्रवण करने योग्य शब्द नारायण है तथा घ्राण नारायण है तथा सुगंधि दुर्गंधि नारायण है ॥३७१॥

जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मतव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहं कारश्चाहं कर्तव्यं च नारायणश्चित्तं ॥३७२॥

अर्थ—जिह्वा तथा ग्रहण करने योग्य रस नारायण है तथा त्वक् तथा स्पर्श करने योग्य शीत उष्ण कोमल कठिनादिक स्पर्श नारायण तथा मन तथा मन्तव्य करने योग्य पदार्थ नारायण है। तथा बुद्धि और ज्ञान होने योग्य नारायण

है। तथा अहङ्कार नारायण है तथा अहङ्कार करने योग्य पदार्थ नारायण है ॥३७२॥

चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणः ॥३७३॥

अर्थ—तथा चित्त और चिंतन करने योग्य पदार्थ नारायण है। तथा वाक् और वक्तव्य करने योग्य पदार्थ नारायण है। हाथ तथा देने योग्य पदार्थ नारायण है ॥३७३॥

पादौ च गंतव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायणः। उपस्थश्चानंदयितव्यं च नारायणो ॥३७४॥

अर्थ—दोनों पाद तथा गंतव्य करने योग्य मारग नारायण है। तथा पायु इन्द्रिय और मल का त्याग नारायण है। तथा उपस्थ इन्द्रिय नारायण है। तथा स्त्रीका आनन्द नारायण है ३७४

धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायण आदित्या रुद्रा मरुतो वसवो ॥३७५॥

अर्थ—धारण करने वाला तथा ना धारण करने वाला तथा कर्त्ता तथा अकरता दिव्य रूप एकोदेव नारायण है। तथा आदित्य रुद्र वायु सर्व वसू नारायण रूप हैं ॥३७५॥

मंत्रो ऽग्निराज्याहुति र्नारायण उद्भवः संभवा दिव्यो देव। एको नारायणो माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गति र्नारायणो ॥३७६॥ (सुबालोप० खं० ६)

अर्थ—मन्त्र अग्नि राजा अहुति नारायण रूप है उत्पन्न होने वाला दिव्य रूप देव। एक नारायण है। तथा माता पिता भ्राता "निवासः शरणं सुहृद गतिः" नारायणरूप है ॥३७६॥

इस प्रकार परमेश्वर रूप पिता ने सर्व देवताओं को यथा योग्य स्थान दिये तब मुख भूख पिपास देवता आपने से वृद्ध सर्व देवताओं को स्थान की प्राप्ति देखिकै परमेश्वर से स्थान को याचते भये। ताक्षुधाता पिपासा देवताओं का पूर्व २ देवताओं के स्थान से भिन्न स्थान को न देखिकै परमेश्वर अध्यात्म अधिदैवरूप देवताओं के विषे ही तिनोंको स्थान देता भया और परमेश्वर कहिता भया। हे अशन पिपासा इन देवताओं की तृप्ति करिकै तुमारी भी तृप्ति होवेगी। इस प्रकार परमेश्वरने तिनोंको स्थान दियासो अभी भी ऐसाही है सूर्यादिक देवतावों के ताई घृतादिक रूप हविष दीये हुये तिन देवतावों के भूख पियास की शांति होवै है। और अध्यात्म इंद्रियों के प्रति रूपादिक विषय रूप हविष दिये हुये किंचित काल तिनों के आशन पिपसा की शांति होवै है। यह ही तिनों की तृप्ति है। इस प्रकार तिन देवतावों को स्थान दे करकै अन्न प्राप्ति की इच्छा वाले जो देवता हैं॥ तिनों के उपकार वास्ते तिन देवतावों करकै न ही कह्या हुआ भी पिता जो परमेश्वर है। सो ऐसा विचार करता भया।

दृष्टांत—जैसे लोक विषे पिता पुत्रों करिकै नहीं कह्या हुआ भी तिनों का अन्न वस्त्रादिकों से पालन करे है। यह जो इन्द्रिय तथा देवता हमारे पुत्र हैं सो क्षुधा पियासा करके युक्त हैं। यातें इनके वास्ते में परमेश्वर अन्न को रचौं। ऐसा विचार करके परमात्मादेव नानाप्रकार के उपायों करके पंचभूतों तें बहुत प्रकार का अन्न रचिता भया। काहेतें एक प्रकार के अन्न तें सर्व प्राणियों की तृप्ति होवै

नहीं। जैसे मनुष्यादिकों का व्रीहो और तृणादिक स्थावर रूप अन्न है। और सिंहादिकों का मृगादिक रूप जंगम अन्न है। और सर्पादिकों का वायु तथा मूषकादिक अन्न है। इस प्रकार अन्नों को उत्पन्न करके तुम यां अन्न को ग्रहण करो। इसप्रकार परमेश्वर करके कहे हुए भी सम्पूर्ण देवता अपानवायु से विना तां अन्न को ग्रहण कहने को समर्थ न होते भये। यां कारण ते ही श्रुति विषे सर्वदेवताओं का ईश्वर और अन्नादिक अपानवायु कहा है। अन्न को जो देवे सो अन्नादि कईये है। यद्यपि यह अपानवायु हमारे तांई अन्नको देने हारा है ऐसा मान करके सर्व देवतावों ने अपानवायु को आश्रायण करा है। तथापि सो अपानवायुः सर्वव्यवहार का साधक नहीं है। किन्तु अंतर्यामी आत्मा से विना अन्न ग्रहण करने को समर्थ नहीं हैं।

दृष्टांत—जैसे चेतन पुरुष तें विना कुठार छेदनरूप कार्य को करने विषे समर्थ होवे नहीं। ऐसा देख करके परमेश्वर तिन देवताओं करके नहीं कह्या हुआ भी सो परमात्मा विचार करता भया। यह अधिदैवादि रूप जगत् प्राणवायु करके युक्त प्रगट भया भी है। तौ भी प्रकाशरूप मैं परमात्मादेव से विना यह जड़ जगत किसी प्रकार सिद्ध होवे नहीं। यां कहने तें यह सिद्ध भया जो जो जड़ वस्तु है सो सो प्रकाश की अपेक्षा करे है।

दृष्टांत—जैसे यह अन्न भोजन करने योग्य है। और यह शब्द कहने योग्य है और रूपादिक देखने योग्य हैं। यां प्रकार के ज्ञान भोक्ता वक्ता द्रष्टारूप प्रकाशक आत्मा से विना सिद्ध होवे नहीं। एक ही आत्मा प्राण विशिष्ट हुआ भोक्ता कहिये है। और वाक् इन्द्रिय विशिष्ट हुआ वक्ता कहिये है। और चक्षु विशिष्ट हुआ द्रष्टा कहिये है। यां रीतीसे श्रोत्रादिक भी जान लेने। यह शास्त्र रीती से दृष्टांत कहा है। अबी लौकिक प्रसिद्ध दृष्टांत कहे हैं। जैसे प्रकाश विना अन्धकार विषे रूपवान घटादिक पदार्थों को यह लोक देखें नहीं। तहांश्रुति—

ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता। स्वयमाविर्भावतिरोभावरहित स्वयं ज्योतिः साक्षीत्युच्यते ॥३७७॥ (सर्वसारोपनिषत्)

अर्थ—ज्ञाता ज्ञान ज्ञे यां नामो से आविर्भाव तथा तिरोभाव वाले जो त्रिपुटीरूप अन्तःकरण का अथवा अविद्या का परिणाम जो ज्ञाता ज्ञान ज्ञे प्रमाण प्रमेय तथा ध्याता ध्यान ध्येय इन त्रिपुटियों के उत्पत्ति नाशका जो ज्ञाता है तथा स्वयं उत्पत्ति नाश से जो रहित है तथा स्वयं प्रकाश है सो साक्षि इस नाम से कहा जाता है ॥३७७॥

ब्रह्मादि पिपीलिकापर्यंतं सर्वप्राणि बुद्धिष्व वशिष्टतयो पलभ्यमानः। सर्व प्राणि बुद्धिस्थो यदा तदा कुटस्थ इत्युच्यते ॥३७८॥ (सर्वसारोप०)

अर्थ—ब्रह्मा से आदि लेकर चीटी पर्यंत सर्व प्राणियों की बुद्धि में बुद्धि विशिष्ट रूप से उपलब्धि को प्राप्त होवे जो वस्तु और सर्वप्राणियों की बुद्धि में स्थित जो वस्तु है सो वस्तु ही कुटस्थ इस नाम से कही जावे है ॥३७८॥

कुटस्थोपहित भेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव। सर्वक्षेत्रेष्व

नुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदां तर्यामीत्युच्यते ॥३७९॥ (सर्वसारोपनित्)

अर्थ—कुटस्थ उपाधियों के भेद से स्वयं स्वरूप के लाभ के वास्ते होने तैं मणियों के समह की न्याईं जैसे सर्व मणियों में सूत्र एक ही होता है। तैसे सर्वदेहों में अनुस्यूत रूप से अर्थात सर्व का प्रकाशक जो आत्मा है सोई ही अन्तर्यामी इस नाम से कहा जाता है ॥३७९॥

सत्यं ज्ञान मनंत मानंदं सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं कटक मुकुटाद्युपाधिरहित । सुवर्ण घन वद्विज्ञान चिन्मात्र स्वभावात्मा यदाभासते तदा त्वं पदार्थः ३८०

(सर्वसारोपनिषत्)

अर्थ—सो अन्तर्यामी आत्मा सत् रूप है ज्ञानरूप है तथा देश काल वस्तु के प्रच्छेद तें रहित अनन्तरूप है तथा सर्व उपाधियों से मुक्त है जैसे सुवर्ण कटक कुंडल मुकुटादिक सर्वउपाधियों से रहित सुवर्णरूप ही है। तैसे सर्वनामरूप प्रपंच उपाधियों से रहित अकाश की न्याईं चिन्मात्र ज्ञानस्वभाव आत्मा यदाभासते जो भास्यमान है सो त्वं पदार्थ है। अर्थात् सो ही त्वं पदार्थ का लक्षार्थ है ॥३८०॥

सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म । सत्यमविनाशि अवनाशि नाम देशकाल वस्तु निमित्तेषु विनश्यत्सु यन्न विनश्यति तद विनाशि। ज्ञानं नामोत्पत्ति विनाशरहितं नैरंतर्यं चैतन्यं ज्ञानामित्युच्यते ॥३८१॥

(सर्वसारोपनिषत्)

अर्थ—तत पदका वाच्यार्थ ब्रह्म कैसा है सत् रूप है ज्ञान रूप है तथा अनन्त रूप है सत् नाम त्रैकालवाच्य अर्थात तीन काल में जिसका नाश ना होवे सो सत् है। अवनाशि नाम देशकाल वस्तु के निमित्त से जो नाश होवे ना तदा विनाशि है। तथा ज्ञान नाम क्रिया है। उत्पत्ति विनाश रहित निरंतर चैतन्य ज्ञान इस नाम से कहा जाता है ॥३८१॥

अनंतं नाम मृद्विकारेषु मृदिव स्वर्णविकारेषु स्वर्णमिव । तंतु विकारेषु तंतु रिवा व्यक्तादि सृष्टि प्रपंचेषु पूर्णव्यापकं चैतन्यमनंतमित्युच्यते ॥३८२॥

(सर्वसारोपनिषत्)

अर्थ—अनन्त नाम इति मृद्विकार जो घटसराव हैं सो घटसराव मृत्तिकारूप ही होवै हैं। तथा स्वर्ण के विकार जो कडा कुंडल हैं सो कडा कुंडल स्वर्ण रूप ही होवे हैं। तथा तन्तु विकार की न्याईं तन्तु के विकार पटादिक कार्य तन्तु रूप ही होवे हैं। तैसे अव्यक्तादि पंचभूतक सृष्टि में व्यापक पूर्ण चैतन्य अनन्त इस नाम से कहा जाता है ॥३८२॥

अनंदं नाम सुख चैतन्यस्वरूपोऽपरिमित्तानंद समुद्रोऽवशिष्ट सुखस्वरूपआनंद इत्युच्यते । एतद्वस्तुचतुष्टयस्य लक्षणं देशकाल वस्तु निमित्तेष्व व्यभिचारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते ॥३८३

(सर्वसारोपनिषत्)

अर्थ—अनन्दनाम सुख स्वरूप चैतन्य अपरिमित्त आनन्द का समुद्र अर्थात देश काल वस्तु के प्रच्छेद से रहित निरतशयानन्द अविशिष्ट सुख स्वरूप जो वस्तु हैं सो आनन्द इस

नाम से कही जावे है। यह चतुष्टय वस्तु इस परमात्मा के लक्षण हैं। देश काल वस्तु निमित्तों से अव्यभिचारी तत्पदार्थ परमात्मा इस नाम से कहा जाता है ॥३८३॥

त्वं पदार्थादौपाधिकात्तत्पदार्थादौपाधिक भेदाद्विलक्षण माकाशवत्सूक्ष्मं केवल सत्तामात्र स्वभावं परं ब्रह्मेत्युच्यते ॥३८४॥ (सर्वसारोपनिषत्)

अर्थ—त्वं पद का वाच्यार्थ जीव की उपाधि व्यष्टि अज्ञान वा अन्तः करण को त्याग करिकै तथा तत् पद का वाच्यार्थ तत् पदार्थ ईश्वर की माया उपाधि को त्याग करिकै इन दोनों जीव ईश्वर की उपाधियों से विलक्षण अकाश की न्याईं सूक्ष्म केवल सत्तामात्र स्वभाव है जिस का सो परब्रह्म इस नाम से कहा जाता है ॥३८४॥

शंका—हे भगवन्! पूर्व आपने यह नियम कहा जो जो जड़ वस्तु है सो सो आपनी सिद्धि में प्रकाश की अपेक्षा करे है। सो नियम यद्यपि घटादिकों में तो बने है। तथापि अंधकार विषे ता नियम का व्यभिचार है। काहे तैं अन्धकार जड़ तो है। परन्तु आपनी सिद्धि में प्रकाश की अपेक्षा करे नहीं उलटा प्रकाश से निवृत्त होवे है। समाधान—अन्धकार यद्यपि सूर्यादिक प्रकाश की अपेक्षा करे नहीं। तथापि चक्षुरूप प्रकाश की अपेक्षा करे है। यां कारण तैं ही चक्षु से रहित पुरुष अन्धकार को नहीं देखे हैं। तहां श्रुति—

तमशना पिपासे अब्रूतामावाभ्यामभि प्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवता स्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्मैकस्यै च देवतायै हवि र्गृह्यते भागिन्या वेवास्या मशना पिपासे भवतः ॥३८५॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० खं० २ मं० ५)

अर्थ—इस प्रकार देवताओं को स्थान के प्राप्त हुए स्थान तैं रहित हुई क्षुधा पिपासा ईश्वर परमात्मा देव के प्रति कहती भई। हे पिता! हमारे वास्ते स्थान को चिंतन करो। इस प्रकार जब कहा तब सो ईश्वर तिन क्षुधा और पिपासा के ताईं कहिता भया। तुम को भाव रूप होने तैं तथा चेतन रूप आश्रय तैं रहित होने तैं। भोक्तापना संभवै नहीं। यां तैं इन अध्यात्म व्यष्टि देह में और अधिदैव समष्टि विराट के देह रूप अग्नि आदिक देवता विषे ही तुम को वृत्ति के विभाग से अनुग्रह करता हूं अर्थात इन देवताओं विषे ही तुम को भाग वाली करता हूं। जिस देवता को जो हवि आदिक रूप भाग है तां देवता के भाग सें तुम को भाग वालियां करता हूं। यां तैं सृष्टि के आदि काल विषे परमात्मादेव इस प्रकार करता भया। यां तैं जिस किसी देवता के वास्ते चरु आदि ग्रहण करिये है। उसी देवता विषे यह क्षुधा पिपासा दोनों भाग वालीयां होवे हैं ॥३८५॥

स ईक्षतेमेनु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति। सोऽपोभ्यतपत। ताभ्योंभिऽतप्ताभ्योमूर्तिरजायत यावै सा मूर्त्तिरजायताऽन्नंवैतत् ॥३८६॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० १—२)

अर्थ—सो ईश्वर इस प्रकार इच्छा करता भया कि यह लोक और लोकपालक हम ने रचे हैं। तथा क्षुधा पिपासा से युक्त किये हैं। यां तैं

इन की स्थिति अन्न से विना नहीं होवेगी। तां तैं इन लोक पालकों के वास्ते अन्न को सृजूं ऐसे इच्छा करता भया। इस प्रकार ही लोक विषे ईश्वरों को आपने किंकरादिकों को अनुग्रह विषे तथा निग्रह विषे स्वतन्त्रपना ही देखा है तैसे परमेश्वर को भी सर्वका ईश्वर होने तैं सर्व के प्रति निग्रह और अनुग्र में स्वतन्त्रपना ही है सो ईश्वर अन्न को सृजने की इच्छा करता हुआ तिन पूर्व उक्त जल अर्थात् पंच भूतोंन के ताईं ही उद्देश करिकै संकल्प को करता भया। तिन ईश्वर के संकल्प को प्राप्त भये उपादान रूप जल तैं कठिन रूप और शरीर धारण के समर्थ चर अचर रूप मूर्त्ति उत्पन्न होती भई। जो प्रसिद्ध मूर्त्ति उत्पन्न भई है सो निश्चय करिकै अन्न है। जो उत्पन्न भया अन्न है सो मूर्ति रूप है। जो मूर्त्ति उत्पन्न भई है सो यह अन्न है ॥३८६॥

तदेतदभि सृष्टम्। पराङ्त्यजिघांसत्। तद्वाचा जिघृक्षत्तन्ना शक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। सयद्धेनद्वाचाऽग्रहैष्यदभि व्याहृत्य हैवान्न मत्रप्स्यत ॥३८७॥ तत्प्राणेना जिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। सयद्धेनत्प्राणेनाग्र हैष्यदभि प्राण्यहै वान्नमत्रप्स्यत् ॥३८८॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० ३—४)

अर्थ—सो यह अन्न लोक पालकों के सन्मुख छोड्या हुआ यह मेरा अन्न है इस प्रकार निश्चय करिकै ताकै पीछे जाते भये। आपने भोक्ता के पाङ्मुख हुआ सो अन्न भोक्ता को उल्लंघन करने की इच्छा करता भया अर्थात आपनी रक्षा करने के वास्ते भोक्ता के आगे भागा। तिस अन्न अभिप्राय को जानिके सो लोक पालादिक तिस अन्न को वचन क्रिया रूप वाणी से ग्रहण करने की इच्छा करते भये परन्तु ताको वाणी से ग्रहण करने को समर्थ नहीं भये। यातैं सो इस को वाणी से ग्रहण करते भये। तातैं सर्व लोक भी तिन का कार्य होने तैं अन्न को वाचिक शब्द से कथन करिकै ही तृप्त होते भये ॥३८७॥

तिस अन्न को प्राण से ग्रहण करने की इच्छा करते भये। ताकू प्राण से ग्रहण करने को समर्थ नहीं भये। या तैं सो इस को प्राण से ग्रहण करते भये। तां तैं सर्व लोक भी इस अन्न को सूंघ के ही तृप्त होते भये ॥३८८॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्तन्ना शक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। सयद्धैनच्च क्षुषाऽग्रहैष्य दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३८९॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० १ अ० खं० ३ मं० ५)

अर्थ—ताको चक्षु से ग्रहण करने की इच्छा करते भये। ताको चक्षु से ग्रहण करने को समर्थ नहीं भये यातैं सो इस को चक्षु से ग्रहण करते भये। तातैं सर्व लोक भी इस अन्न को देखिकै ही तृप्त होते भये ॥३८९॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। सयद्धैनच्छ्रोत्रेण ग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमात्रप्स्यत् ॥३९०॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० ६)

अर्थ—ताको श्रोत्र से ग्रहण करने की इच्छा करते भये। ताको श्रोत्र से ग्रहण को समर्थ नहीं भये। या तैं सो इस को श्रोत्र से ग्रहण करते भये। तां तैं सर्व लोक भी इस अन्न को श्रवण करिकै तृप्त होते भये ॥३९०॥

तत्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्वचा-

ग्रहीतुम् । सयद्धैनत्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३९१॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० ७)

अर्थ—ताको त्वचा से ग्रहण करने की इच्छा करते भये। ताको त्वचा से ग्रहण करने कों समर्थ नहीं भये। यातैं सो इस को त्वचा से ग्रहण करते भये। तातैं सर्व लोक भी इस अन्न को स्पर्श करिकै ही तृप्त होते भये ॥३९१॥

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसाग्रहीतुम् । सयद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वाहै वान्नमत्रप्स्यत् ॥३९२॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० ८)

अर्थ—ताको मन सें ग्रहण करने की इच्छा करते भये । ताको मन सें ग्रहण करने को समर्थ नहीं भये । यातैं सो इस को मन सें ग्रहण करते भये। तातैं सर्व लोक भी इस अन्न को चिंतन करिकै ही तृप्त होतै भये ॥३९२॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नो च्छिश्नेनग्रहीतुम् । सयद्धैनच्छिश्नेना ग्रहैष्यद्विसृज्य हैवरन्नमत्रप्स्यत् ॥३९३॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० ९)

अर्थ—ताको शिश्न सें ग्रहण करने की इच्छा करते भये । ताको शिश्न सें ग्रहण करने को समर्थ नहीं भये । यातैं सो इस को शिश्न सें ग्रहण करते भये । तातैं सर्व लोक भी इस अन्न को त्याग के ही तृप्त होते भये ॥ ३९३॥

तदपानेना जिघृक्षत् तदावयत । सै एषो ऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नमायुर्वा एष यद्वायु ॥३९४॥

(ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० १०)

अर्थ—पीछे ताको अपान वायु कहिये मुख छिद्र सें ग्रहण करने की इच्छा करते भये। तब तिस अन्न को भक्षण करते भये । तिस हेतु करिकै सो यह अपान वायु अन्न का ग्राहक है जो वायु अन्नतैं जीवने वाला प्रसिद्ध है। सो यह जो वायु है ॥३९४॥

अंधकार को प्रकाश की अपेक्षा है । या अर्थ को अत्र अनुमान प्रमाण सें सिद्ध करै हैं। जैसे घटादिकों के ज्ञान विषे घटादिकों तैं भिन्न सूर्यादिक प्रकाश कारण हैं। तैसे अंधकार तैं भिन्न चक्षु का प्रकाश अंधकार के ज्ञान में कारण है। अनुमान प्रमाण का प्रकार यह है। अंधकार जो है । सो प्रकाश की अपेक्षा करै है । काहेते जड़ होने तैं घट की न्यांई जैसे अंधकार जड़ है यातैं चक्षु आपनी सिद्धि के वास्ते प्रकाश की अपेक्षा करै है । तैसे चक्षु आदिक भी जड़ हैं यातैं तिनका भी दूसरे प्रकाश तैं प्रकाश करीता है । सो चक्षु आदिकों के प्रकाश करनेहारा आत्मा है।

शंका—हे भगवन् ! चक्षु का प्रकाशक आत्मा है आपने कह्या सो बनैं नहीं काहेतैं सूर्य करिकै ही चक्षु का प्रकाश बनै है। समाधान—जैसे विषय रूप घटतैं सूर्य का प्रकाश नहीं करीता तैसे विषय रूप भी चक्षु का प्रकाश नहीं करता या कारणतैं यह अनुमान सिद्ध भया। चक्षु आदिक जो प्रकाश हैं सो अपनी सिद्ध में दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करै हैं काहेतैं जड़ होने तैं । जो आपनी सिद्धि में दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करै हैं सो जड़ भी नहीं होवै है । जैसे स्वयं प्रकाश आत्मा है किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करे नहीं या तैं जड़ भी नहीं है किंतु चेतन है। तहां श्रुति—

श्रोताघ्राता रसयिता नेता कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राणीति श्रवण घ्राणा कर्षण कर्म विशेष कर्म विशेषणं करोत्येषोऽन्तरामा ॥३९५॥

आत्मोपनिषत् ।

अर्थ—श्रवण करना सूंघना रस लेना प्रेरककर्ता आत्मज्ञान पुरुष को ही होते हैं । तथा पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्र यह सर्व श्रवण शब्द का सूंघना दुर्गंधि सुगंधि नासिका से अकर्षण रूप कर्म जावत यह सर्व विशेषण हैं अंतरात्मा ही सर्व का कर्त्ता है ॥३९५॥

शंका—हे भगवन ! पूर्व आपने यह कहा जो चक्षु आदिक प्रकाश जड़ हैं यातैं दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करे हैं । सो बनै नहीं काहेतैं चक्षु आदिक प्रकाश जो हैं सो आपनी सिद्धि में दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करै नहीं । काहेतैं प्रकाश रूप होनै तैं दीपककी न्यांई । या अनुमान का विरोध होवैगा । समाधान—जैसे दीपक सजातीय दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करै है यह नियम नहीं । काहेतैं मणी आदिक प्रकाशों विषे प्रकाश रूपता तो है परंतु सजातीय दूसरे प्रकाश की अपेक्षा का अभाव नहीं । किंतु अपेक्षा ही है । यह सर्व वादियों को संमत है ।

शंका—हे भगवन् ! प्रकाशपना चक्षु आदिक संपूर्णों में समान ही है परंतु कोईक प्रकाश दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करै हैं और कोईक प्रकाश दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करै हैं या मैं क्रिया प्रमाण है । समाधान—प्रकाश्य पणा तथा प्रकाशकपणा विषे प्रछिन्नपणा और व्यापकपणा ही कारण है । जो जो प्रकाश्य प्रच्छिन्न हैं सो सो प्रकाश्य हैं । जैसे दीपक की अपेक्षा करिकै मणी आदिक प्रच्छिन्न हैं यातैं प्रकाश्य हैं । और जो जो व्यापक प्रकाश है सो सो प्रकाशक हैं जैसे मणी आदिकों की अपेक्षा करिकै दीपादिक प्रकाशक व्यापक हैं यातैं मणी आदिकों के प्रकाशक हैं । या कहने तैं यह सिद्ध भया जो व्यापक होवै तथा प्रकाशक रूप होवै सोई ही दूसरे प्रच्छिन्न प्रकाशको प्रकाशें है । सो प्रकाश पणा और व्यापकपणा मैं कुटस्थ विषे ही है । यातैं मैं ही सर्व प्रकाशकों का प्रकाशक हूं । या कहने तैं यह अनुमान सिद्धि भया । आपने तैं भिन्न सर्व को प्रकाशक करने हारी जो बुद्धि है सो मैं कुटस्थ करिकै ही प्रकाश्य है । काहेतैं प्रच्छिन्न होने तैं ।

दृष्टांत—जैसे व्यापक और प्रकाश स्वरूप बुद्धि करिकै सूर्य तथा घटादिक रूप जगत प्रकाश्य है । जाका प्रकाश करिये सो प्रकाश्य होवै है । पांच भूतों के सतोगुण का कार्य होने तैं बुद्धि प्रकाश रूप है । और हृरण्यगर्भ का उपाधि रूप है यां तैं व्यापक है । इस प्रकार श्रुति विषे कथन करी जो आत्मा की व्यापकता सो व्यापकता असम्भावनादिक दोषों तैं बुद्धि विषे आरूढ़ होवे नहीं । तहां श्रुति—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च ॥३९६॥

गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत् मं० १८ ॥

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगतभेद तैं रहित जो वस्तु है सो एक है देवसर्व को अपने अधीन रखने वाला है तथा सर्वभूतों विषे गूढ है अर्थात् गुप्त है तथा सर्व नामरूप प्रपंच में

व्यापक है तथा सर्वभूतों के अंतर आत्मारूप है तथा शुभाशुभ कर्मोंका आश्रय है तथा सर्वभूतों को अपने में वास देने वाला वा सर्वभूतोंमें वसने वाला तथा जीवके शुभाशुभ कर्मोंका आश्रय तथा जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंका साक्षी तथा चेतन है केवल है तथा रजो सतो तमो गुणों से रहित है तथा क्रिया से रहित है ॥३९६॥

यातैं तिन दोषों की निवृत्ति वासते तीन परिच्छेदों का अभाव आत्मा विषे दिखावे हैं। जैसे गौ व्यक्तिरूप एक देश विषे गोत्व जाती रहे है। अश्वादिको विषे रहे नहीं। तैसे मैं परमात्मा किसी एक देश विषे स्थित नहीं हूं। काहे तैं जो मैं किसी एक देश विषे स्थित होवौंगा तो तिससे भिन्न देश के पदार्थों की सत्ता और प्रकाश नही होगा। यातैं मैं सर्वत्र व्यापक हूं। या कहने तैं देश परिच्छेद का अभाव आत्मविषे दिखाया और जैसे भूत भविष्यत वर्त्तमान पदार्थ किसी काल विषे है और किसी काल विषे नही हैं। यातै काल परिच्छेदवाले हैं। तैसे मैं परमात्मा भी किसी एक कालविषे नही हुं किंतु तीनों कालोंविषे हूं। या कहने से कालपरिच्छेद का अभाव आत्माविषे दिखाया और जैसे अस्ति या शब्द और ज्ञानका विषय भूमि है। घट तैं भिन्न प्रतीत होवै है। और नास्ति यां शब्द और ज्ञान का विषय बंध्यापुत्र घट तैं भिन्न प्रतीत होवै हैं। यातैं घटादिक वस्तु परिच्छेद वाले हैं। तैसे मैं परमात्मा से भिन्न। अस्ति नास्ति या शब्द और ज्ञानका विषय कोई है नहीं। काहे तैं मैं ही सर्व का आत्मा हूं। या कहने तैं वस्तु परिच्छेद का अभाव आत्मा विषे दिखाया। अभी अद्वितीय आत्मा की सिद्धि वासते प्रपंचको मिथ्यारूप कर के निरूपण करे हैं। मैं परमात्मा विषे यह संपूर्ण जगत कल्पित हैं। कैसा जगत है और कालादक है स्वरूप जाका और नामरूप क्रिया करके युक्त है।

दृष्टांत—जैसे रज्जु विषे सर्प कल्पित होवै है। तातैं मैं परमात्मा ही सर्वत्र व्यापक हूं। मेरे से भिन्न वस्तु कोई नहीं है।

शंका—हे भगवन्! जगत का भेद आत्मा विषे मत होवै परन्तु जैसे घट विषे रहे जो रूपादिक गुण तिनों तैं घट भिन्न होवै है। तैसे सत चित्तानंद धर्मों तैं आत्माभिन्न क्यों नहीं होवै है। तातैं वस्तु परिच्छेद आत्माविषे है। समाधान—सत चिदानंद यह जो धर्म हैं। सो मैं अंतरयामी परमात्मासे जो भिन्न होवै तो अपने सत चिदानंद स्वरूपसे ही रहित होवौंगा। काहे तैं मैं व्यापक रूप परमात्मासे जो अनंद भिन्न होवै तो वस्तु परिच्छेदवाला होवौंगा। जो परिच्छिन्न है सो आनंद रूप नहीं होवे है। श्रुति ने व्यापकको ही सुखरूप कहा है। इसी प्रकार सत जो मैं प्रकाशरूप आत्मा तैं भिन्न होवै तो असत ही होवैगा। और चित्त जो मैं सतस्वरूप परमात्मा तैं भिन्न होवै तो असत् होवैगा। काहे तैं मेरे तैं भिन्न इनोंका कोई सिद्ध करनेहारा है नहीं। या तैं सत् चिदानंदस्वरूप आत्मा है। आत्मा तैं भिन्न नहीं हैं। तहां श्रुति—

ॐ नमः शिवाय गुरुवे सच्चिदानंद मूर्तिये। निष्प्रपंचाय शांताय निरालंबाय तेजसे ॥३९७॥

(निरालंबोपनिषत् मं० १)

अर्थ—ब्रह्मा जी बोले हे शिव! कल्याण रूप सर्व के गुरुरूप तथा सत्चित आनंद मूर्तिमान सर्वका आत्मारूप निष्प्रपंचरूप शांतरूप निरालंब रूप अर्थात निराश्रयरूप और सर्व का आश्रयरूप और तेजरूप परमात्मा आपको नमस्कार होवै३९७

निरालंबं समाश्रित्य सलंबं विजहाति यः। स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते ॥३९८॥

(निरालंबोपनिषत् मं० २)

अर्थ—निरालंब जो शुद्ध सतचित् आनंद स्वरूप परमात्मा को आश्रय करने वाला और सलंबको परित्याग करने वाला है। सो संन्यासी है तथा योगी है तथा सो पुरुष "कैवल्यं पदमश्नुते" अर्थात् कैवल्यपद को प्राप्त होता है ॥३९८॥

शंका—हे भगवन! सतचित् आनंद धर्म जो आत्मा तैं भिन्न मानोंगे तो आत्माधर्मी होवेगा और सत्चिदानंद धर्म हैं यह धर्म धर्मी व्यवहार नहीं होवैगा। काहे तैं भिन्नोंका ही धर्म धर्मीभाव लोक विषे देखा है। समाधान—हे देवताओ! असंत भिन्नों का और असन्त अभिन्नों का धर्म धर्मीभाव होवै नहीं। काहे तैं असन्त भिन्नोंका जो धर्म धर्मीभाव होवै तो गौ तैं अश्व असन्त भिन्न है या तैं अश्व गौका धर्म होना चाहिये और होवे नहीं। तैसे असन्त अभिन्नों का जो धर्म धर्मीभाव होवै तो घट और कलश का असन्त अभेद है। या तैं कलश घट का धर्म होना चाहिये। और होवै नहीं। यां तैं परस्पर भिन्न और अभिन्नस्थल विषे ही धर्म धर्मी व्यवहार होवै है।

शंका—हे भगवन! एक अधिकरण विषे एक वस्तुका भेद और अभेद विरुद्ध है। समाधान—एक सत्तावाले भेद और अभेद का परस्पर विरोध होवै है। भिन्न सत्ता वाले भेद और अभेद का परस्पर विरोध होवै नहीं। तैसे ईहां सत् चिदानंद धर्मों का आत्मा तैं अभेद तो परमार्थिक सत्तावाला है और भेद कल्पित सत्तावाला है। यातैं तिनों का परस्पर विरोध नहीं। कल्पत भेद को अंगीकार करके ही धर्म धर्मी व्यवहार सिद्ध होवे है।

दृष्टांत—जैसे किसी राजाने दूसरे राजा को बन्दीखाना में राक्ख के पश्चात् छोड़ दिया और एक ग्राम दिया। ता ग्राम को पाय के सो राजा सन्तोष को प्राप्त होवे है। तैसे कल्पित भेद को ही अंगीकार करके धर्म धर्मीभाव व्यवहार सिद्ध होवै है सत्यभेद की अपेक्षा नहीं। और कल्पितभेद करके द्वैत भी होवे नहीं। यां तैं मैं परमात्मा से कल्पितभेद वाले जो सत् चिदानन्द धर्म हैं सो रज्जु सर्प की न्याई भेद को उत्पन्न करे नहीं। और परमार्थि तैं तो सत् चिदानन्द मेरा स्वरूप ही हैं यातैं व्यापक और प्रकाश स्वरूप मैं परमात्मा करके ही सूर्य चन्द्रमादिक और घटादिक सर्व जड़ जगत् का प्रकाश युक्त ही है।

यदादित्य गतंतेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥३९९॥

(गी० अ० १५ श्लो० १२।)

अर्थ—हे अर्जुन आदित्य विषे स्थित जो तेज है तथा चन्द्रमा विषे स्थित जो तेज है तथा अग्नि विषें स्थित जो तेज है जो तेज इस सर्व जगत् को प्रकाश करता है तिस तेज को तूं मेरा स्वरूप ही जान ॥३९९॥

और सर्व का प्रकाशक मैं परमात्मा का दूसरे वस्तु करके प्रकाशयुक्त नहीं है।

दृष्टांत—जैसे घट करके सूर्य का प्रकाश होवे नहीं और सम्पूर्ण या जड़ संघात की मेरे अधीन ही सिद्धि है इसी कारण तें असत जड़ दुःखरूप या देहादिकों को आपने तदात्म्य अध्यास तें सत् चिदानन्द रूप करने वास्ते यां कलेवर विषे मैं परमात्मा ही प्रवेश करेगा। ता संघात विषे मैं परमेश्वर का जो प्रवेश है ता के दो प्रयोजन हैं। एक तो भोग की सिद्धि है और

दूसरा अपने स्वरूप का ज्ञान है। तहां प्रथम प्रयोजन का विचार कह्या। अभी दूसरे प्रयोजन का विचार निरूपण करे हैं इसी प्रकार चिंतन करके पुनः या प्रकार परमेश्वर चिंतन करता भया। यां संघात विषे ज्ञानशक्ति रूप बुद्धिवाला मैं परमेश्वर के प्रवेश का द्वार कौन है।

शंका—हे भगवन् जिस किसी मार्ग करके प्रवेश करो या में विचार का क्या प्रयोजन है। समाधान—यां संघात विषे पाद का जो नख है। ताके अग्रभाग रूप मार्ग करके पूर्व प्राण प्रवेश करता भया है। काहेतें प्राण क्रिया शक्ति वाला है और ज्ञान शक्ति से रहित है। यातें या सर्व से नीचे मार्ग करके प्राण का प्रवेशयुक्त है। और मैं ज्ञान शक्ति परमात्मा सर्व से उत्कृष्ट हूं यातें प्राण इन्द्रियादिक भृत्यों के प्रवेश का जो मार्ग है। ता मार्ग करके हमारा प्रवेश बने नहीं। और मैं चेतन से बिना या सर्व जड़ों की चेष्टा होवे नहीं। यातें मैं परमात्मा इन इन्द्रियादिकों से श्रेष्ठ हूं।

दृष्टांत—जैसे चेतन अश्व सें बिना रथ विषे चेष्टा होवै नहीं। इस प्रकार प्रवेश के मार्ग का विचार करिकै पुनः परमेश्वर दूसरा विचार करता भया। या तैं मैं ज्ञान शक्ति वाला हूं तातैं अपने ईश्वर स्वरूप को ना विचार के कैसे प्रवेश करूंगा। किंतु आपने स्वरूप को भी विचार करिकै ही हमारा प्रवेश युक्त है। तहां आपने स्वरूप के बोध की इच्छा करिकै परमात्मा ऐसा विचार करता भया।

देवता उवाच—हे भगवन। अनात्म रूप करिकै देह प्रसिद्ध है या तैं विचार का कुछ प्रयोजन नहीं है। काहेतैं अप्रसिद्ध वस्तु का ही विचार होवै है।

ईश्वरोवाच—यद्यपि शास्त्र के तात्पर्य को जानने हारे जो विद्वान हैं। तिनों की दृष्टि विषे देह अनात्मा प्रसिद्ध है। तथापि मंद बुद्धि पुरुषों के उपकार वास्ते देह की अनात्मता दृश्यत्वादिक हेतुओं करिकै आत्मज्ञानी पुरुषों नैं जनावने को योग्य है। या तैं विचार सफल है। या कहिने तैं यह अनुमान सिद्ध भया यह देह जो है सो अनात्मा है। काहेतैं दृश्य होने तैं और परिच्छिन्न होने तैं और जड़ होने तैं जो अनात्मा नहीं है सो दृश्य परिच्छिन्न जड़ भी नहीं है। जैसे आत्मा है और देह अनिर्वचनीय है। या तैं भी आनात्मा है। या अर्थ को विस्तार सें निरूपण करै हैं। अनुभव के विषे जो वस्तु है तिनों विषे कौन देह है।

शंका—हे भगवन। संघात का नाम देह है यह लोको को प्रसिद्ध है। समाधान—हे देवताओ केवल लोक प्रसिद्धि सें ही अर्थ की सिद्धि होवै नहीं। जो केवल लोक प्रसिद्धि सें ही अर्थ की सिद्धि होती होवै तो देह भी आत्मा होना चाहिये। काहेतैं विचार हीन बहुत पुरुष देह को ही आत्मा मानैं हैं। या तैं प्रमाण और युक्ति सें अविरुद्ध लोक प्रसिद्धितैं ही अर्थ की सिद्धि होवै है। और विचार करिकैं संघात को देखिये तो देह की सिद्धि होवै नहीं। काहेतैं समान धर्म वालों का जो परस्पर संबंध है ताका नाम संघात है सो संघात बहुत हैं। तिनों विषे किस संघातका नाम देह है। तहां श्रोत्रत्वक् चक्षु घ्राण रसना यह पंच ज्ञानइन्द्रियों का संघात है (१) और वाक् पाणी पाद उपस्थ पायु यह पंच कर्मइन्द्रियों का संघात है (२) और प्राण अपान समान व्यान उदान यह पंच प्राणोंका संघात है (३) और त्वचा रुधिर मांस

मेद मज्जा अस्थि रेत यह सप्त धातुओंका संघात है (४) कफ वात पित्त यह तीन दोषों का संघात है (५) और विष्टा मूत्र यह दोनों का संघात है (६) और कदाचित उत्पत्ति वाले स्वेद पूय यह दोनों का संघात है (७) और केश लोमादिकों का असंख्यात संघात है (८) यह जो भिन्न भिन्न अष्ट संघातोंका समुदाय है तिनों विषे किस संघातका नाम देह है। और संघातोंको जो वादी देह मानै है। तासें यह पूछे हैं। पूर्व कहे जो अष्ट संघात तिन सम्पूर्णों का जो संघात है ताका नाम देह है। अथवा एक २ संघात का नाम देह है। यह दोनों पक्ष बनैं नहीं। काहे तैं जिस समुदाय को तुम देह मानों हो सो समुदाय ही निर्वचन करनेको योग्य नहीं। पूर्व कहे जो अष्ट संघात तिनों का जो समुदाय सो महासमुदाय कहियै है। और पंच ज्ञानइन्द्रिय आदिकों का भिन्न भिन्न जो समुदाय है। सो अवांतर समुदाय कहिये है। यह दोनों प्रकारके समुदाय का निर्वचन होवै नहीं। काहे तैं सो दो प्रकारका समुदाय समुदायियों तैं भिन्न है अथवा तिनों तैं अभिन्न है तिनों विषे प्रथम पक्ष तो बनै नहीं। काहे तैं समुदायियों तैं भिन्न समुदायका स्वरूप युक्ति करके सिद्ध होवै नहीं। और दूसरा जो अभिन्न पक्ष है सो भी बनै नहीं। काहे तैं महासमुदाय का नाम देह है। यां पक्ष में महासमुदाय के समुदायी जो अष्ट अवांतर समुदाय तिनों से जबी महासमुदाय अभिन्न भया तबी एक एक अवांतर समुदाय विषे भी महासमुदाय व्यवहार तथा देह व्यवहार होना चाहिये। और होवै नहीं। अवांतर अष्ट समुदाय हैं तिनों विषे एक एक समुदायका नाम देह है। यां पक्ष में अवांतर समुदायी जो एक एक इन्द्रियादिक हैं तिनों से जब अवांतर समुदाय अभिन्न भया तबी एक एक इंद्रियादिकों विषे समुदाय व्यवहार तथा देह व्यवहार होना चाहिये। और होवै नहीं या तैं अभिन्न पक्ष भी बनैं नहीं। समुदाय के घटकका नाम समुदायी है। महासमुदाय के घटक अवांतर समुदाय हैं यातैं ताके समुदायी हैं। तैसे अवांतर समुदाय के घटक एक एक इन्द्रियादिक हैं। यां तैं ताके समुदायी हैं।

शंका—हे भगवन्! पूर्व अपने समुदाय समुदायियों से भिन्न है और अभिन्न है या दोनों पक्षों विषे दोषक है यातैं तिन पक्षों को हम अंगीकार करैं नहीं। किंतु पूर्व कहे जो इन्द्रियादिक सो संपूर्ण मिले हुये समुदाय होवै हैं। या तैं यां पक्षविषे दूषण नहीं। समाधान—हे देवताओ। यां पक्षविषे भी पुनरुक्ति दोष होवै है। काहे तैं सर्व समुदायियों का एक बुद्धि करके विषय करनारूप जो मेलन है सो समुदाय है। यह सर्वत्र शास्त्रका सिद्धांत है। संपूर्ण मिले हुये समुदाय होवै हैं या कहने से यह अर्थ सिद्ध भया। मेलनरूप समुदाय करके विशिष्ट जो है सो समुदाय है। जैसे देवदत्त धनी उत्पन्न भया है। या स्थानविषे विशेष जो देवदत्त ताके विषे उत्पत्ति का अन्वय होवै नहीं। किंतु विशेषण जो धन है ताके विषे उत्पत्ति का अन्वय होवै है। तैसे मेलनरूप समुदाय विशिष्ट जो है सो समुदाय है या स्थान विषे भी मेलनरूप जो समुदाय सो विशेष है ताके विषे जो समुदाय का अन्वय करिये तो समुदाय समुदाय है यह प्रतीत होवै है। जैसे घट घट है। इहां पुनरुक्ति होवै है। तैसे समुदाय समुदाय है इहां भी पुनरुक्ति स्पष्ट है। इहां अन्वय नाम सम्बंध का है।

शंका—हे भगवन्! मेलन विशिष्टों का

नाम समुदाय है। यां पक्षविषे अपने दोषकह्या यां तैं यह पक्ष अंगीकार करने योग्य नहीं है। किंतु इन्द्रियादिकों का जो परस्पर मेलन है तो मेलन का ही नाम समुदाय है। समाधान—हे देवताओ! मेलन नाम सम्बंध का है सो तदात्म्य सम्बन्ध है वा संयोग है वा समवाय है। तिनों विषे प्रथम तदात्म्य सम्बन्ध तो बनै नहीं। काहे तैं भेद को सहारने वाला जो अभेद है सो तदात्म्य सम्बन्ध कहिये है। तहां निरपेक्ष जो भेद है सो तो वास्तव है। और धर्मी प्रतियोगी की अपेक्षा करनेहारा जो भेद है सो कल्पित है। यह सिद्धांत है। या तैं वास्तव तैं अभिन्न वस्तुओं का मेलन करना मेरे मुख विषे जिह्वा नहीं है। यां वाक्य के समान है। इस रीती से प्रथम तदात्म्य पक्ष तो बने नहीं। और संयोग सम्बन्ध का नाम मेलन है। यह दूसरा पक्ष भी बने नहीं काहे तैं दो द्रव्यों का संयोग सम्बन्ध होवै है। सो संयुक्त दो द्रव्योंसे भिन्न प्रतीत होवे नहीं। यां कारण तैं ही प्रभा करोनैं संयोग को विकल्प मात्र कह्या है। और समवाय सम्बन्ध का नाम मेलन है। यह तीसरा पक्ष भी बनै नहीं। काहे तैं गुणगुणी आदिकों का नैयायिक समवाय सम्बन्ध माने हैं। सो समवाय आपने सम्बन्धी जो द्रव्य गुणादिक तिनों विषे संयोग सम्बन्ध करिकै रहे है। अथवा समवाय सम्बन्ध करिकै समवाय रहे है। आदि पक्ष तो बनै नहीं। काहे तैं दो द्रव्यों का संयोग होवै है। समवाय द्रव्य है नहीं। यां तैं ताका संयोग बनै नहीं। और समवाय सम्बन्ध करिकै आपने सम्बन्धीयों विषे समवाय रहै है। यह दूसरा पक्ष भी बनै नहीं। काहे तैं जा समवाय सम्बन्ध करिकै समवाय रहै है सो समवाय प्रथम समवाय प्रथम समवाय तैं अभिन्न है वा भिन्न है। प्रथम अभिन्न पक्ष तो बनै नहीं। काहे तैं आपनी स्थिति विषे आपनी अपेक्षा रूप आत्मा आश्रय दोष की प्राप्ति होवे है। और भिन्न है यह दूसरा पक्ष भी बनै नहीं। काहे तैं सो दूसरा समवाय आपने सम्बन्धीयों विषे किस समवाय करिकै रहै है। जो तो प्रथम समवाय करिकै दूसरा समवाय आपने सम्बन्धीयों विषे रहे है। तो अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होवैगा। काहे तैं प्रथम समवाय दूसरे समवाय करिकै आपने सम्बन्धीयों विषे रह्या और दूसरा समवाय प्रथम समवाय करिकै आपने सम्बन्धीयों विषे रह्या या दोष की निवृत्ति वास्ते दूसरा समवाय तीसरे समवाय करिकै आपने सम्बन्धीयों विषे रहै है। यह अंगीकार करोगे तो सो तीसरा समवाय किस समवाय करिकै आपने सम्बन्धीयों विषे रहै है। जो तो प्रथम समवाय करिकै सम्बन्धीयों विषे रहै है। तो चक्र का दोष की प्राप्ति होवैगी। काहे तैं प्रथम समवाय दूसरे करिकै रह्या यह चक्र की न्याईं भ्रमण होवे है। जो तीसरे समवाय की स्थिति वास्ते चतुर्थ समवाय और चतुर्थ समवाय वास्ते पंचम। या प्रकार समवायों की धारा मानोंगे तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होवेगी। या तैं समवाय सम्बन्ध रूप मेलन का नाम समवाय नहीं। किंवा जो संयोग और समवाय सम्बन्ध रूप मेलन का नाम समवाय होवे तो वृक्षों का जो समदाय सो बन कहिये है। या स्थान विषे वृक्षों को परस्पर संयोग और समवाय सम्बन्ध है नहीं या तैं समुदाय व्यवहार न होना चाहिये। और समुदाय व्यवहार होवै है। या तैं भी संयोग समवाय सम्बन्ध रूप मेलन का नाम समुदाय नहीं। सम्बन्ध को जो वादी समुदाय माने है। तासैं

यह पूछे हैं सम्बन्ध इहां दो पद हैं एक तो सं यह पद है और दूसरा बन्ध यह पद है। तहां सं पद का क्या अर्थ है बन्ध पद का क्या अर्थ है। यह वादी को कह्या चाहिये।

शंका—हे भगवन्! सं या शब्द का सम्यक् पणा अर्थ है। और बन्ध यां शब्द का बन्धन अर्थ है। समाधान—हे देवताओ! यह अर्थ तुमारे वचन तैं विना किसी भी संसार वस्तु विषे हम देखिने नहीं। किंतु तुमारे वचन विषे ही है। यां अर्थ को स्पष्ट करिकै निरूपण करें हैं। जो वस्तु तीन काल विषे न परिणाम को प्राप्त होवे सो सम्यक् कहिये है और यह सम्पूर्ण जगत जड़ है या तैं रज्जु सर्प की न्याईं परिणाम को प्राप्त होवे है। और श्रुति विषे भी आत्मा तैं भिन्न सर्व जगत को मिथ्या कहा हैं। यां तैं आत्मा तैं भिन्न किसी वस्तु विषे भी सम्यक् पना नहीं है। तहां श्रुति—

आत्मा तर्याम्यमृतोऽन्यदार्तं ॥

तैसे बन्ध या पद का अर्थ जो बन्धन सो भी बने नहीं। काहे तैं लोक विषे बन्धायमान जो वस्तु है तिनों तैं बन्धन भिन्न देखा है। जैसे बंधायमान जो दो गौ है तिनों तैं रज्जु रूप बन्धन भिन्न है किंवा मूर्तिमान ही वस्तु लोक विषे बन्धन देखा है। अमूर्त वस्तु बन्धन होवे नहीं। यां कारण तैं ही अमूर्त्त अकाश नैं घट-पटादिक पदार्थ नहीं बन्धीतैं तैसे यां देह विषे इन्द्रियादिकों के परस्पर बन्धन करने हारा और इन्द्रियादिक सर्व संघात तैं भिन्न रज्जु आदिकों की न्याईं कोई मूर्त्त पदार्थ नहीं देखीता यां तैं सम्बन्ध पद का अर्थ कोई प्रसिद्ध है नहीं। इस प्रकार संघात देह है यां पक्ष का खण्डन किया। अभी संघात के घटक जो इन्द्रियादिक हैं तिनों के अनात्मता को भी निरूपण करे हैं। मुमुक्षु के आत्म बोधके वास्ते एक एक इंद्रियादिकों के अनात्मता का भी विचार करने योग्य है और विद्वान् पुरुष ने इंद्रियादिकों की आत्मता कहीं भी नहीं अनुभव करी। काहे तैं सर्व सें जो अन्तर होवे। सो आत्मा कहिये है और इंद्रिय बाह्य हैं। यां तैं घटादिकों की न्याईं अनात्मा हैं। इस प्रकार विद्वान के अनुभव प्रमाण करिकै इन्द्रियों की अनात्मता कही। अभी अनुमान प्रमाण तैं भी इन्द्रियों की अनात्मता सिद्ध करै हैं। वाकादिक इन्द्रिय जो हैं सो अनात्मा होने को योग्य है। काहे तैं दृश्य रूप होने तैं और परिच्छिन्न होने तैं जो जो वस्तु दृश्य और परिच्छिन्न होवे है सो सो वस्तु अनात्मा ही होवे है जैसे देह है। तहां श्रुति—

सर्वेंद्रिय गुणाभासं सर्वेंद्रिय विवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥४००॥ श्वेता० अ० ३ मं० १७॥

अर्थ—सर्व जो श्रोत्रादिक इन्द्रियों के गुण शब्दादिक विषय और इंद्रिय हैं इन सर्व का प्रकाशक अर्थात् त्रिपुटी प्रकाशक और वास्तव सें सर्व इंद्रियों सें रहित है और सर्व का प्रभू है तथा ईश्वर है तथा सर्व की महान शरण योग्य है। अर्थात् सर्व का आश्रय रूप है ॥४००॥

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्चपरं मनः। मनसश्चपरा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥४०१॥ कठो० वल्ली ३ मं० १०॥

अर्थ—सर्व इंद्रियों तैं शब्दादिक विषय परे हैं विषय रूप अर्थों तैं मन परे है मन तैं भी बुद्धि परे है और बुद्धितैं सर्वांतर्यामी प्रत्यगात्मा रूप महान देश कालवस्त के प्रच्छेदतैं रहित परे है ॥४०१॥

शंका—हे भगवन्! कर्त्ता का नाम आत्मा है यह शास्त्र विषे कह्या है और स्वतंत्र का नाम कर्त्ता है सो स्वतंत्रपणा आपने आपने व्यपारों विषे इंद्रियों को भी है यातैं इंद्रियां ही आत्मा हैं। समाधान—हे देवतावो! जो जो स्वतंत्र होवै है सो सो चेतन होवै है। चेतनता सें विना स्वतंत्रपणा रहै नहीं जैसे अग्नि सें विना धूम रहै नहीं या तैं मैं परमात्मा चेतन सें विना संपूर्ण इंद्रियों विषे चेतनता का अभाव है। यां कारणतैं अचेतन इंद्रियों की किसी आपने व्यापार विषे स्वतंत्रता नहीं।

दृष्टांत—जैसे अचेतन रथादिक चेतन अश्वादिकों सें विना स्वतंत्र गमन करैं नहीं। और ज्ञान इंद्रिय और अंतःकरण के जो ज्ञान रूप व्यापार हैं और कर्म इंद्रिय और प्राणों के जो क्रिया रूप व्यापार हैं सो संपूर्ण व्यापार मैं परमात्मा रूप कुटस्थ की समीपता करिकै ही सिद्ध होवै है। या तैं स्वतंत्रपणा में चेतन आत्मा विषे ही है जड़ इंद्रियों विषे स्वतंत्रता है नहीं। अथवा वाकादिक इंद्रियों का शब्द का उच्चारणादिक जो आपने आपने व्यापार है तिनों विषे स्वतंत्रता है भी तथापि अन्य व्यापारों विषे इंद्रियादिक समर्थ है नहीं। या तैं तिनों विषे आत्मता बनैं नहीं। या अर्थ को स्पष्ट करिकै निरूपण करैं हैं। शब्द का उच्चारण वाक इंद्रिय का व्यापार है और ग्रहण हस्त इंद्रिय का व्यापार है और गमन करना पाद का व्यापार है और मल का परित्याग पायु इंद्रिय का व्यापार है और स्त्री का अनंद उपस्थ इंद्रिय का व्यापार है। जैसे राजा आपने आपने कार्य विषे भृत्यों को जोडता है तैसे मैं परमात्मा रूप साक्षी नैं आपने आपने व्यापारों विषे संपूर्ण इंद्रिय स्थापन करैं हैं। तात्पर्य यह है जड़ इंद्रियों के व्यापार का जो नियम है सो मैं परमात्मा अंतर्यामी को बोधन करै है। काहेतैं चेतन से विना जडों की नियम करिकै प्रवृत्ति नहीं किंतु वायुकरिकै चलाया हुआ सूके पत्र की न्यांई नियम सें रहित प्रवृत्ति होवै है। यह रीती ज्ञान इंद्रियों प्राणादिकों विषे भी जानलेनी। और रूपादिकोंका ज्ञान शब्द ज्ञान गंधज्ञान इंद्रियों के नियम करिकै व्यापार है। पूर्व कही रीती सें इन व्यापारों का नियम भी मैं सर्वांतर्यामी आत्मा को बोधन करै है। और प्राणों का भी इंद्रियों की न्यांई नियम करिकै व्यापार है। काहेतैं अन्न और जल को सूक्ष्म नाड़ी छिद्रों विषे स्थापन प्राण करै है या तैं प्राणों का एक तो यह अश्चर्य रूप क्रिया है और दूसरा बागादिक इंद्रियों की स्थिति की कारणता रूप जीवन भी प्राणों का कार्य है। इन दो व्यापारों सें विना अन्य किसी व्यापार का प्राण कारण है नहीं। और संकल्प निश्चय अभिमान स्मरण यह चारों क्रम तैं मन बुद्धि चित्त अहंकार के नियम करिकै व्यापार हैं। तहां श्रुति—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्रींधीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएव ॥४०२॥

बृहदारण्यकोप०। पंचम ब्राह्मणम् ॥

अर्थ—अबी पंच भूतों के और विषयों के व्यापारों का निरूपण करै हैं। जैसे पात्र घृत को धारण करै तैसे जगत् का धारण करना पृथ्वी का व्यापार है। और क्लेदन जल का व्यापार है। और तंडुलादिकों का पकाना तेज का व्यापार है। संकोच विकाश रूप क्रिया वायु का व्यापार है। और स्थिति में चलने में अनु-

कूल जो अवकाशता सो अकाश का व्यापार है । या व्यापारों सें भिन्न पृथ्वी आदिकों का कोई व्यापार है नहीं । और श्रोत्रादिक इंद्रियों का जीव से बंधन करने का जो स्वभाव है। ता स्वभाव का जो प्रगट करना । यह ही शब्द स्पर्श रूप रस गंध विषयों का व्यापार है। काहेतैं विषय संबंधतैं विना केवल इंद्रियों विषे बंधन की कारणता है नहीं या कारणतैं ही श्रुति विषे विषयों को अतिग्रह कह्या है ॥४०२॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्ध मेव च । अशुद्धं काम संकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥४०३॥

ब्रह्म विंदूप ॥ मं० १ ।

अर्थ—मन को दो प्रकार का श्रुति विषे कहा है । एक मन शुद्ध है तथा एक मन अशुद्ध है । विषयों की कामना वाला मन अशुद्ध है । तथा विषयों की कामना सें रहित मन शुद्ध है ॥४०३॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो । बंधाय विषया सक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥४०४॥

ब्रह्मविंदूपनिषत्० मं० २ ॥

अर्थ—मनुष्यों का मन ही बंध मोक्ष का कारण है । विषयों में असक्त मन बंध है। और मन जो विषयों की कामना सें रहित है अर्थात विषयों सें विरागी मन मुक्त कहा है ॥४०४॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते । तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥४०५॥ ब्रह्मविंदूप० मं०३ ॥

अर्थ—जिस का मन विषयों सें वैराग्य वाला है सो मन मुक्त है । तिस कारणतैं नित्य प्रति मन को विषयों सें रहित करे । जो मन निर्विषय है उस मन का कार्य मोक्ष है ॥४०५॥

पुत्रदारादि संसारः पुंसां संमूढ चेतसां । विदुषां शास्त्र संभारः सद्योगाभ्यास विघ्नकृत् ॥४०६॥ अग्नि पुराण ॥

अर्थ—पुत्र स्त्री आदिक संसार पुरुषों के चित्त को मूढ़ करते हैं । पंडितों को शास्त्र भार रूप है तातकाल ही योगाभ्यास में विघ्नकारक हैं ॥४०६॥

इदं ज्ञेय मिदं ज्ञेयं यः सर्वं ज्ञातु मिच्छति । अपि वर्षशते नापि शास्त्रांतं नाधि गच्छिति ॥४०७॥ अग्नि पुराण।

अर्थ—इस का ज्ञान हो जावै जो सर्व के ज्ञान की इच्छा करता है । यद्यपि शत सौ वर्ष की आयु पर्यंत भी पढ़ता रहै तो भी शास्त्र के अंत को प्राप्त नहीं हो सक्ता ।।४०७॥

विज्ञायाक्षर तन्मात्रं जीवितं चापि संचलम् । विहाय शास्त्र जालानि पारलौकिकं माचरेत् ॥४०८॥ अग्नि पुराण ॥

अर्थ—चिन्यमात्र रूप जो तत्व वस्तु है तिसके साक्षात्कार में पुरुषार्थ करो । क्योंकि जीवन अति बिजली की न्याईं चंचल है शास्त्र जाल को त्याग करके पारलौकिक में विचरो अर्थात परिमार्थ को सिद्ध करो ॥४०८॥

इदं ज्ञान मिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातु मिच्छति । अपि वर्ष सहस्रायुः शस्त्रांतं नाधि गच्छति ॥४०९॥ पैंगलोपनिषत्॥मं०१६॥

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चंचलम् । विहाय शास्त्र जालानि यत्सत्यं तदूपास्यताम् ॥४१०॥
पैंगलोपनिषत् ॥ मं० १७॥

अनंतकर्म शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च । तीर्थ यात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विंदति ॥४११॥ पैंगलोपनिषत् अ० ४ मं० १८

अर्थ—अनेक प्रकार के कर्म्म करे तथा शौच क्रिया करे तथा जप करे तथा अनेक प्रकार यज्ञ करे तथा अनेकतीर्थ यात्रा करे इन से मोक्ष नहीं होती जब तक तत्त्व को नहीं जानता तब तक मुक्ति नहीं होवेगी ॥४११॥

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्ष हेतुर्महात्मनाम् । द्वेपदे बन्ध मोक्षाय नममेति ममेति च ॥४१२॥ पैंगलोपनिषत् अ० ४ मं० १९

अर्थ—महात्मा पुरुषों को नियम करके मुक्ति का हेतु अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार का अभ्यास है। और द्वे पदमें बन्ध मोक्ष है नाममेति मुक्ति है और मेरी स्त्री है मेरे पुत्र हैं मेरा घर पृथ्वी है मेरा बाग है इसप्रकार की ममता करने से जीव को बन्ध है ॥४१२॥

सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्म संभव । पतिताः शास्त्र जालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥४१३॥ योगशिखोपनिषत् मं० ४

अर्थ—सिद्धि कहिये अन्तःकरण की शुद्धि रूप मार्ग करके ही कमल से उत्पन्न हुए हे ब्रह्मा! मुक्ति को प्राप्त होता है ना अन्यथा। जो पुरुष शास्त्र जाल में पतित है शास्त्र जाल में ही जिस की बुद्धि मोह को प्राप्त हो रही है तिसकी मुक्ति नहीं होती ॥४१३॥

तृष्णा लज्जाभयं दुःखं विषादो हर्ष एव च । एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सजीवः शिव उच्यते ॥४१४॥ योगशिखोपनिषत् मं० ११

अर्थ—तृष्णा लज्जा भय दुःख विषाद हर्ष इन सर्व दोषों से जब जीव रहित होजावे तब जीव शिव रूप हो जाता है ॥४१४॥

असौ दोषैर्विनिर्मुक्तः कामक्रोध भयादिभिः । सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ॥४१५॥ योगशिखोप० मं० १६

अर्थ—जब इन काम क्रोधादिक दोषों से रहित होवे तो तब मुक्ति को प्राप्त होता है। काम क्रोधादि सर्व दोषों से जीव अवृत्त है कैसे वाचिक ज्ञान से मुक्त होसक्ता है किन्तु नहीं मुक्त हो सक्ता हैं ॥४१५॥

शंका—हे भगवन्! इन्द्रियादिकों विषयों विषे स्वतन्त्रता का अभाव है यातें आत्मा नहीं है तौ भी ज्ञानशक्ति होने तें आप सर्वज्ञ परमात्मा की उपाधि जो बुद्धि हैं सो स्वतन्त्र है यातें बुद्धि आत्मा काहेतें नहीं है। समाधान—बुद्धि विषे मैं सर्वज्ञ परमात्मा का उपाधिपणा यद्यपि प्रसिद्ध है तथापि सो बुद्धि आत्मा नहीं है काहेतें बुद्धि विषे जो सर्व वस्तु के विषय करने की सामर्थ है सो मैं परमात्मा की समीपता के अधीन है। स्वतन्त्र बुद्धि विषे नहीं। इहां यह अभिप्राय है। सर्व जगत के प्रकाश करने हारा एक चेतन ज्ञान शब्द का मुख्यार्थ है और जैसे जल आपने सम्बन्ध करके अस्वच्छ घटादिक पदार्थों विषे सूर्यादिकों के प्रतिबिंब ग्रहण करने की योग्यता प्रगट करे है। तैसे बुद्धि भी आपने सम्बन्ध करके घटादिक पदार्थों विषे चेतन के प्रतिबिंब ग्रहण करने की योग्यता को प्रगट करे है। और

अवरण की निवृत्ति करे है। और आप भी बुद्धि चेतन के प्रतिबिंब को ग्रहण करे है। यातें बुद्धि ज्ञान शब्द का गौण अर्थ है। या कहिणे तें यह सिद्ध भया जैसे सूर्य के प्रतिबिंब करके युक्त हुआ दर्पण भित्तादिक पदार्थों को प्रकाशे है। तौ भी दर्पण आप प्रकाश रूप नहीं। तैसे मैं चेतन के प्रतिबिंब को ग्रहण करके बुद्धि सर्व पदार्थों को प्रकाशे हैं। तथापि आप प्रकाश रूप नहीं। यातें मैं परमात्मा की समीपता करके ही बुद्धि विषे सामर्थ्य है। और मैं परमात्मा से विना बुद्धि विषे सामर्थ्य है नहीं। जैसे श्रीकृष्ण भगवान् की समीपता तें ही अर्जुन विषे सामर्थ्य है श्रीकृष्ण जी से विना अर्जुन विषे सामर्थ्य है नहीं। यातें बुद्धि आत्मा नहीं। और मैं व्यापक परमात्मा ने तां बुद्धि की जड़ता भी निश्चय करी है। काहेतें बुद्धि विषयाकार परिणाम को प्राप्त होवे है। जो परिणाम को प्राप्त होवे है सो जड़ होवे है। जैसे मृतिकादिक हैं और चेतन परिणाम को प्राप्त होवे नहीं। तहांश्रुति—

अहेय मनुपादेयम सामान्य विशेषणम्। ध्रुवंस्तिमिति गंभीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥४१६॥ मैत्र्प्युपनिषत्। अ०१मं०१०

अर्थ—हेय उपादेय विशेषणों से रहित सामान्य रूप से एक रस अचल स्थिति वाला गंभीरं क्षोभ रहित न तेज शब्द का वाच्य है तथा न तिस तम शब्द का वाच्य है।४१६॥

निर्विकल्पं निराभासं निर्वाण मय संविदम्। नित्यः शुद्धोबुद्ध मुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभूश्चाद्वितीयः। आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीति रस्ति ॥४१७॥

मैत्र्प्युपनिषत् ॥ अ० १ मं० ११ ॥

अर्थ—सर्व प्रकार की कल्पना से रहित निराभासं दृश्यत्व धर्म तें रहित निर्वाण मय दुःख सम्बन्ध से रहित सं भली प्रकार सें जानों। निजरूप है अविद्यामल सं रहित शुद्ध है बुद्धि का साक्षी है मुक्त स्वरूप है सत्य स्वरूप है अति सूक्ष्म है अर्थात् अति इन्द्रिय है। तथा विभु है अद्वितीय है तथा अनन्द की अब्धि है बुद्धि आदिक संघात से परे। सो ब्रह्म मैं हूं प्रत्यग रूप हूं इस में संशय नहीं हैं ॥४१७॥

यातें भी आत्मा नहीं। और मैं आत्मा ही बुद्धि की वृत्ति में आरूढ़ होइके आत्मा आश्रय आवरण का तथा घटादिक विषया वच्छिन्न चेतन के आश्रित चेतन के आश्रित आवरण का नाश करू हूं। तहांश्लोक—

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजंतमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपने भास्वता ॥४१८॥ गी० अ० १० श्लो० ११

अर्थ--हे अर्जुन तिन भक्तजनों के ही अनुग्रह अर्थ तिन्हों के आत्माकार वृत्ति विषे स्थित हुआ मैं परमात्मा चिदाभास युक्त तिस वृत्तिज्ञान रूप दीपक करके तिन्हों के अज्ञान जन्य आवरणरूप तम को नाश करू हूं ॥४१८॥

० अबी पूर्व कही जो प्राणों की अनात्मता ताको श्रुति प्रमाणतें सिद्धकरे हैं। यद्यपि प्राण जीवन का हेतु हैं और इन्द्रियों की अपेक्षा करके अन्तर हैं। तथापि मैं परमात्मा की सामर्थ्य तें ही जीवन विषे प्राण हेतु हैं। और श्रुति विषे भी कहा है। प्राण करके तथा अपान करके कोई प्राणी नहीं जीवे हैं किंतु प्राण और अपान का अधिष्ठान जो आत्मा है ता करके

प्राणी जीवते हैं। यातें प्राण आत्मा नहीं। यां कहने तें यह सिद्धभया पूर्व कहे जो वाक् इन्द्रिय से आदि लेके तिनों को किसी प्रकार करके भी एक एक को आत्मता नहीं है। काहेतें जो सम्पूर्ण वाकादिकों का प्रयोजक होवे सो आत्मा कहिये है। तात्पर्य यह है जो आपनी समीपता करके वाकादिकों को आपने आपने व्यापार विषे प्रवृत्त करावे है और जिसके वास्ते यह सर्व वाकादिक प्रवृत्त होवे हैं सो आत्मा कहिये है। तहांश्रुति—

यतो वा इमानि भूतानि जायंते। येन जातानि जीवंति ॥४१९॥

तैत्तिरीयोप० प्रथमोऽनुवाकः॥

अर्थ—जिस परमात्मदेव से यह सर्व पंच भौतिक प्रपंच उत्पन्न होता है। और जिससे उत्पन्न होकर जिस परमात्मादेव से जीवताहै ४१९

यह आत्मा का लक्षण वाकादिक इन्द्रियों विषे है नहीं। काहेते वाकादिक इन्द्रिय सर्व अर्थ के साधक है नहीं। किन्तु आपने २ व्यापार की सिद्धि करें हैं। याते आत्मा नहीं। और वाकादिक सम्पूर्ण मिल करके संघातरूप हैं। यातें मैं परमात्मा के वास्ते हैं। जैसे गृहादिक पदार्थ मृतिका काष्टादिक पदार्थों के समुदाय रूप हैं। यातें गृहपुरुष के वास्ते हैं। और जो जो पदार्थ परके वास्ते होवे हैं सो सो अनात्मा ही होवे है। जैसे गृहादिक पदार्थ अनात्मा हैं। यातें मेरे स्वरूप के साधन जो वाकादिक हैं तिनों विषे मैं परमात्मा की आत्मता कैसे होवे। तात्पर्य यह है। सो वाकादिक आत्मारूप नहीं है। और यह वाकादिक सम्पूर्ण मिल करके आपने वासते नहीं हैं और एक एक भी आपने वासते नहीं हैं किन्तु मैं परमात्मा के वास्ते हैं। यातें यह सम्पूर्ण वाकादिक मेरा स्वरूप नहीं हैं। जबी सम्पूर्ण वाकादिक मिल करके मेरा स्वरूप नहीं भये। तबी एक एक वाकादिक मेरा स्वरूप कैसे होवेगे किन्तु नहीं होवेगे।

शंका—हे भगवन्! हम सम्पूर्ण वाकादिक आप परमात्मा के भृत्य हैं यातें आपकी प्रेरणा से बिना ही आप का भय करके हम शब्द को उच्चारणादिक जो आपने २ व्यापार हैं तिनों को करेंगे।

दृष्टांत—जैसे राजा के भय करके भृत्य आपने २ कार्यों को करे हैं। यातें संघात विषे आपके प्रवेश का कोई प्रयोजन नहीं है। समाधान—यद्यपि यह वाकादिक हमारे भय करके आपने २ व्यापारों को करेंगे। तथापि मैं परमात्मा को त्वं पदका अर्थ रूप करके तुम वाकादिक जानने नहीं। और सर्व जगत का कारणरूप जो मैं परमात्मा तत् पदका अर्थ ताकूं कभी तुम वाकादिक जानते नहीं जबी त्वं पदार्थ और तत् पदार्थ को तुम वाकादिक नहीं जानते। तभी तिनों की एकता को कैसे जानेगे याते मैं परमात्मा ही यां संघात में प्रवेश करके मैं कौन हूं ऐसा विचार करेंगा। इहां वाकादिक इन्द्रियों के साथ तदात्म्य अध्यास करके मैं शब्द को उच्चारण करु हूं और मैं देखूं हूं या प्रकार का अभिमान ही मैं परमेश्वर का प्रवेश है। याही को प्रतिबिंब वाद और अवच्छेद वाद करके शास्त्र विषे कथन किया है।

शंका—हे भगवन्! जिस आपने स्वरूप का विचार आपने करना है सो बिचार या शरीर के प्रवेश से विना ही करो। किस वास्ते यां दुःखरूप शरीर विषे प्रवेश करते हो। समाधान—जैसा मेरा स्वरूप है तैसे होवो इस

काल विषे आपने स्वरूप की चिंता करके कुछ प्रयोजन सिद्ध होवे नहीं। यातें संघात विषे प्रवेश करके इन वाकादिकों को सुख की प्राप्ति करके आपने स्वरूप का निर्णय करेंगा। इहां वाकादिकों को सुख की प्राप्ति और आपने स्वरूप का निर्णय यह दो प्रयोजन प्रवेश के हैं। इसी प्रकार परमात्मा चिंतन करके आपने स्वरूप के चिंतनको परित्याग करके शरीर विषे प्रवेश के वास्ते द्वार को विचार करता भया। सर्व देवतावों का पिता परमेश्वर आपने भृत्यों के प्रवेश के जो मुखादिक द्वार हैं तिनों विषे आपनी योग्यता को न देख के आपनी समीपता करके मूर्धसीमा को भेदन करके यां शरीर विषे प्रवेश करता भया। शिर विषे जो वाम दक्षण मध्य यह तीन कपाल हैं तिनों के मध्य भाग का नाम मुर्धसीमा है। केशोंते रहित कृश पुरुषों के मस्तक विषे प्रसिद्ध ही दीखे है। अथवा स्त्रियों के केश विभाग की जो रेखा है सो जहां समाप्त होवे ता स्थान का नाम मूर्धसीमा है। यह सर्व पुरुषों को प्रसिद्ध है। और जैसे प्रसिद्ध द्वारका पुरी विषे प्रवर्षण नामा पर्वत तें कूद करके अकाशरूप ऊर्ध्वमार्ग तें श्रीकृष्ण परमात्मा प्रथम प्रवेश करते भये हैं। तैसे यां मनुष्य शरीररूप द्वारका पुरी विषे श्रीकृष्णरूप परमात्मा ऊर्ध्व मार्ग तें प्रवेश करता भया। यातें सर्व मनुष्यों का शरीर द्वारका पुरी है। इहां मनुष्य शरीर विषे ही आत्मसाक्षात्कार की योग्यता है यातें मनुष्य शरीरविषे प्रवेश कह्या। ता मनुष्य शरीर करिकै सर्व शरीरों का ग्रहण करना।

शंका—हे भगवन! श्रुति विषे तथा स्मृति विषे नवद्वार प्रसिद्ध हैं यह मूर्धद्वार प्रसिद्ध नहीं है। यातैं या द्वार करिकै शरीर को द्वारा वति पुरी कैसे कह्या। समाधान—जिस कारण तैं परमेश्वर मस्तक को भेदन करिकै या शरीर रूप पुरी विषे प्रवेश करता भया या तैं मस्तक के ऊपर ऊर्ध्व भाग विषे जो द्वार है सो द्वार उपासिक पुरुषोंनैं विद्दत या नाम करिकै कथन कीया है। और लोक विषे भी मस्तक विषे कटु तैल के धारणे तैं कटुता का बुद्धिमान पुरुषोंनैं अनुभव करीता है। और मूढ पुरुषों करिकै श्रीकृष्ण और ताका द्वार दोनों जानने को अशक्य हैं। यातैं परमेश्वर के प्रवेश का द्वार प्रसिद्ध नहीं है। और वाकादिक भृत्यों के प्रवेश के जो नवद्वार हैं। तिनों के समान यह परमेश्वर के प्रवेश का द्वार है नहीं। या तैं तिन नवद्वारों के साथ या द्वार की श्रुति स्मृति विषे गिनती नहीं करी और या कारण तैं योगी पुरुष या ऊर्ध्व द्वार सें निकस के ब्रह्म लोक की प्राप्ति द्वारा मुक्ति का कारण जो देवयान मार्ग है। ताको प्राप्त होवै हैं। ता कारण तैं यह ऊर्ध्व द्वार नंदन है। जिस करिकै आनंद की प्राप्ति होवै सो नंदन कहिये है। यद्यपि इंद्र के बन का नाम नंदन है। तथापि नीचे पतन की भीती जन्य दुःख करि कै इंद्र का वनयुक्त है या तैं ता विषे सुख की कारणता का संशय है। अब या ऊर्ध्व द्वार की नंदन वन के समानता को कहै हैं। जैसे स्वर्ग विषे प्राप्त भय जो कर्मी पुरुष हैं तिनों के सुख का कारण नंदन वन है। तैसे यह ऊर्ध्व द्वार भी ब्रह्मलोक द्वारा मुक्ति रुप सुख का कारण है। इस प्रकार जीव रूप करिकै परमात्मा का प्रवेश कह्या। उपाधि के अभिमान करिकै ता परमात्मा को संसार की प्राप्ति का निरूपण करै हैं।

प्रसिद्ध जो नवद्वार और नाभी और ऊर्ध्व द्वार यह एकादश द्वार हैं । जिस विषे ऐसा जो शरीर रूप पुरी को प्राप्त होइकै अग्नि आदिक देवतावों का प्रभु जो परमेश्वर इंद्र है । सो आपने वासतैं तीन ग्रह को करता भया १. चक्षु इंद्रिय के रहने का जो गोलक है तां गोलक विषे प्रथम निवास और चित्त जो स्थान हृदय कमल के दल है तिनों दलों विषे दूसरा निवास और हृदय कमल के अंतर अकाश विषे तीसरा निवास । या तीनों गृहों विषे अहंकार रूप सहजा ऊपर चैतन्य मैं परमात्मा के प्रतिबिंब रूप गर्भ को धारने हारी जो ज्ञान शक्ति रूप स्त्री बुद्धि है ताके साथ शायन को प्राप्त होइकै मैं इंद्रि रूप आत्मा जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप तीन स्वप्नों को देखता हूं ।

शंका हे भगवन ! स्वप्न तो यद्यपि स्वप्न रूप हैं तथापि जाग्रत और सुषुप्ति को स्वप्न रूपता कहना बनै नहीं । समाधान—यह इंद्र रूप जीवात्मा आपने स्वरूप ज्ञान सें रहित है या तैं जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति यह तीनों या को स्वप्न रूप हैं। काहेतैं जो जैसा वस्तु का स्वरूप होवै तैसा ही ताको देखे । जाका नाम जाग्रत है और मैं जीवात्मा अद्वितीय अनंद रूप आपने स्वरूप को भूलाय कै दुःखी कर्ता भोक्ता आप को मानों हूं। या तैं अज्ञान रूप निद्रा करिकै जो जो वस्तु देखता हूं। सो सर्व स्वप्न है । तहां प्रथम जाग्रत रूप स्वप्न को निरूपण करै हैं। वास्तव तैं शुद्ध परमात्मा शब्द स्पर्शादिक बाह्य स्थूल भोगों की प्राप्ति वास्ते अनादि अज्ञान करिकै भोग का कारण धर्माधर्म को जिस काल विषे अंगीकार करै है। ताका नाम जाग्रत है तिस जाग्रत काल विषे वाम दक्षण दोनों नेत्रों विषे भगवान स्त्री पुरुष या दोनों रूप करिकै प्रगट होवै है । तहां दक्षण नेत्र विषे रह्या जो रूप सो अधिक प्रकाश रूप बलवाला है । या तैं भोक्ता पुरुष रूप है और वाम नेत्र विषे रह्या जो रूप सो अधिक प्रकाश रूप बलवाला नहीं है । या तैं भोग्य स्त्री रूप है। या रीती सें भोक्ता तथा भोग्य रूप सें परमेश्वर की उपासना श्रुति विषे कही है इस प्रकार व्यष्टि शरीर विषे अभिमान करिकै आपने को परिच्छिन्न मानता हुआ भगवान वाकादिक सर्व इंद्रियों को अंगीकार करिकै कर्म के फल को स्वीकार रूप भोग्य को प्राप्त होता भया । तहां श्रुति—

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । सईक्षत यदि वा चाऽभि व्याहृतं यदि प्राणेनाभि प्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहं मिति ॥४२०॥

ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० ११ ॥

अर्थ—सो परमात्मा लोक पालों के संघात की स्थिति करिकै पुर के स्वामी की न्यांई इच्छा करता भया । कि जो यह कार्य कारण रूप संघात है । सो स्वामी विना पुरकी न्यांई मेरे विना निश्चय करिकै किस प्रकार कार्य करैगा जब वाणी सैं कथन किया होवै जब प्राण सैं कहिये घ्राण सैं सूंघिया होवै जब चक्षु सैं देखा होवै जब श्रोत्र सैं श्रवण होवै जब त्वचा सैं स्पर्श किया होवै जब मन सैं चिंतन किया होवै जब अपासन सैं भक्षण किया होवै जब शिश्न सैं

त्याग किया होवै। तब मैं कौन हूं ऐसे परमात्मा इच्छा करता भया। पूर्व उक्त वाक्य का यह अर्थ है भोक्ता रहित केवल वाणी आदिक सैं उच्चारणादिक जो व्यापार हैं सो व्यर्थ होने तैं किसी भी अर्थ के साधक नहीं हैं जैसे बंदी जनों करिकै किये स्तुति आदिक स्वामी के वास्ते ही होवै हैं स्वामी सैं विना व्यर्थ हैं। तातैं पुर के अधिष्ठाता राजा की न्याईं मुझ को इस संघात विषे स्वामी रूप सैं तथा अधिष्ठाता रूप सैं और शुभाशुभ कर्म के फल के साक्षी रूप भोक्ता करिकै प्रवेश करना योग्य है। इस प्रकार सो परमात्मा इच्छा करता भया। यातैं मैं किस द्वार सैं इस संघात विषे प्रवेश करूं। अर्थात इस संघात के प्रवेश के मार्ग पाद का अग्रभाग और मस्तक हैं। इन दोनों विषे किस मार्ग सें मैं प्रवेश करूं। इस प्रकार परमात्मा इच्छा करता भया। तदनंतर हमारे किंकर रूप प्राण के प्रवेश के मार्ग रूप दोनों पादों को अग्रभाग रूप नीचे मार्ग सैं मैं नहीं प्रवेश करूंगा किंतु इस पिंड रूप शरीर के मस्तक को विदारण करिकै मैं प्रवेश करूंगा इस प्रकार निश्चय करिकै ॥४२०॥

स एतमेव सीमानं विदार्य्यैं तया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विहृतिर्नामद्वास्त देतन्नां दनम्। तस्य त्रय अवस्थास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथो ऽयमावसथ इति॥४२१॥

ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० १२॥

अर्थ—जीव की न्याईं इच्छा करता जो ईश्वर है यह जो स्त्री के केशों के विभाग पर्यंत मस्तक की सीमा है तिसी ही सीमा को विदारण करिकै इस द्वाररूप मार्ग से इस शरीर विषे परमात्मा प्रवेश करता भया। सो द्वार विदारण करने सेविहृति नाम वाला प्रसिद्ध द्वार है। अन्य श्रोत्रादिरूप द्वार तो राजा के किंकर स्थानी होने तैं देवन के प्रवेश के साधारण मार्ग होने तैं समृद्धि वाले नहीं अर्थात आनन्द के हेतु नहीं हैं। यह द्वार तो केवल परमेश्वर का ही है। या तैं सो द्वार नांदिन कहिये है। आनन्द का हेतु है। जिस द्वार से निकसकै परब्रह्म विषे जाय के आनन्द को प्राप्त होता है सो द्वार नांदिन कहिये है। तिसी ही आपने शरीर रूप पुरु विषे राजा की न्याईं जीव रूप से प्रवेश भए परमात्मा के तीन स्थान हैं। जाग्रत कालविषे दक्षिण चक्षु का गोलक रूप स्थान है। स्वप्न काल विषे भीतर मन का आश्रय कण्ठ स्थान है। सुषुप्ति काल विषे हृदयाकाश स्थान है ॥४२१॥

सृष्ट्वाऽऽत्मनेदं मनुविश्य विहृत्य चांते संहृत्य चाऽऽत्ममहि नोपरतः स आस्ते ॥४२२॥ भाग०स्कन्ध११अ०३१श्लो०११

अर्थ—हे राजा परीक्षित! यादवों में भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र का जन्म माया द्वारा ऐसे है जैसे नट निर्विकार है परन्तु नानारूपों से अनुकरण करता है इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान आप ही इस जगत को उत्पन्न करिकै आप ही अन्तर्यामी रूप से उस में प्रवेश करिकै अन्त काल में संहार करते हैं। परन्तु आप आपनी महिमा से निर्विकार हैं ॥४२२॥

यदिदं किं च तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥४२३॥ तैत्तिरी० उ० अनुवाकः ॥ ६॥

अर्थ—ईश्वर इस जगत को सृजता भया। यावत यह नाम रूप जगत है। तिस को सृज के तिसी ही सृजे हुए जगत में आप परमात्मा

प्रवेश करता भया। तिस नाम रूप जगत में प्रवेश करिकै (सच्च) मूर्त रूप तथा (त्यच्च) अमूर्त रूप होता भया ॥४२३॥

स जातोभूतान्यभिव्यैरव्यत्। किमिहान्यं वावदिषादिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तत मम पश्य दिदम दर्शमिति ॥ ॐ ।४२४॥ ऋग्वे०ऐ०उ०अ०१खं०३मं०१३

अर्थ—यह ईश्वर रूप परमात्मा तिन जाग्रतादि तीन स्थान क्रम करिकै आत्म भाव से वर्तमान हुआ स्वाभावक अविद्या से दीर्घ काल पर्यंत गाढ निद्रा को प्राप्त हुआ ज्ञान को प्राप्त नहीं होता है। और बारं वार जन्म मृत्यु को अनुभव करता है यातैं चक्षु आदिक स्थान आत्मा के गृह कहिये हैं। सो परमात्मा प्रगट ही भूतन को ही अपना आत्मा मानता हुआ कहता है। मैं मनुष्य हूं मैं काना हूं मैं सुखी हूं इत्यादिक तदात्म्य अध्यास करिकै जानता भया और इस शरीर विषे ही आत्मबुद्धि को करता भया। जब सन्त महात्माओं की संगत करिकै तथा सत् शास्त्र के विचार से आपने स्वरूप के ज्ञान से इस शरीर रूप पुरी विषे रहिने वाले आत्मा रूप पुरुष को अकाश की न्याईं परिपूर्ण ब्रह्म रूप देखता भया। कि अहो इस ब्रह्म रूप को मैं देखता हूं मैं आपने ब्रह्म रूप स्वरूप को सर्वांतर ब्रह्म को अपरोक्षरूप से देखता हूं ॥४२४॥

अब बाह्य नाना प्रकार के भोगों को निरूपण करे हैं। तिस तैं मैं उत्पन्न भया हूं। यह मेरा पिता है यह मेरी माता है यह मेरा भ्राता है यह मेरी भगनियां हैं यह मेरे बांधव हैं यह मेरे भृत्य हैं यह मेरी स्त्री है यह मेरे पुत्र हैं यह मेरी पुत्रियां हैं। यह मेरे मित्र हैं यह मेरे शत्रु हैं यह मेरे उदासीन हैं मित्र और शत्रु भाव से रहित का नाम उदासीन है यह मेरे नियामक हैं धर्म मर्यादा विषे जो स्थापन करै ताकू नियामक कहै हैं। जैसे पिता गुरू राजादिक हैं यह मेरे ऋत्विक हैं यज्ञ के करावने हारे ब्राह्मणों को ऋत्वक कहे हैं। यह मेरे गुरु हैं यह स्त्री है यह पुरुष है यह नपुंसक है इस प्रकार चेतन शरीर विषे भोगों को कहा। अब जड़ों विषे भोगों को कहे हैं। यह गृह मेरे हैं यह भूमी मेरी है यह अन्न मेरे हैं यह सुवर्ण मेरे है यह पशु मेरे हैं यह वस्त्र मेरे हैं यह भूषण मेरे हैं यह सेहजा मेरी है यह सुन्दर यह असुन्दर है यह अधिक है यह थोड़ा है यह समीचीन है यह असमीचीन है यह सामीप है यह दूर है। अब ज्ञान कर्म इन्द्रियों के विषय रूप भोगों को निरूपण करै हैं। यह शब्द है यह स्पर्श है यह गन्ध है यह रस है यह रूप है यह शब्द कहने योग्य है यह हस्तों करिकै ग्रहण करने योग्य है यह पादों करिकै चलने योग्य है यह आनन्द है यह मलादिकों के त्याग हैं। अब जिस करिकै विषय बन्धन पुरुष को करै हैं तिन भोगों को कहै हैं। यह हमारे सुख के कारण हैं यह हमारे दुःख के कारण हैं। अब विषयों का फल रूप भोगों को कहै हैं यह सुख है यह दुःख है अभी काल भोगों को कहै हैं यह पूर्व होता भया यह वर्तमान है यह आगे होवैगा। इस प्रकार अपने विषे स्वामीपने का अध्यासरूप जो बाह्य भोग हैं। ताको कथन करा। अबी तदात्म्य अध्यासरूप शरीर के भोगों को कहे हैं। मैं पुरुष हूं मैं स्त्री हूं मैं नपुंसक हूं मैं मनुष्य हूं मैं पशु हूं मैं जरायुज हूं मैं स्वेदज हूं मैं उदभिज्ज हूं। मैं अंडज हूं। इस प्रकार शरीर विषे स्थित जो अन्नका परिणाम सम्पूर्ण

विकार तिन विकारों को अज्ञानरूप निद्रा करके सोया हुआ आत्मा माया करके अपना स्वरूप मानैं हैं और वास्तव तैं तो देशकाल वस्तु के परिच्छेद सें रहित है। अब शरीर के धर्मों का अध्यास निरूपण करे हैं। मैं बालक हूं मैं युवा हूं मैं वृद्ध हूं मैं रोगी हूं मैं रोग रहित हूं मैं रूपवान हूं मैं कुरूप हूं और मैं शास्त्रविहित आचार वाला हूं मैं शास्त्रनिषिद्ध अचार वाला हूं। याकार देह के धर्मों को आत्माविषे अज्ञान करके मानैं है। अभी चारों वर्णों का और चारों आश्रमों का आत्माविषे अध्यास निरूपण करै हैं। मैं ब्राह्मण हूं मैं क्षत्रिय हूं मैं वैश्य हूं मैं शूद्र हूं और मैं ब्रह्मचारी हूं मैं गृहस्थी हूं मैं वानप्रस्थ हूं मैं संन्यासी हूं या प्रकार वर्णाश्रम के साथि अध्यास हुये पश्चात तिस तिस वर्णाश्रम के जो अवांतर जातियां और धर्म और तिस तिस देश के अचार यह सम्पूर्ण देह धर्मों को अज्ञान करके आत्मा अपने विषे मानै है। जैसे ब्राह्मणत्व जाति दश प्रकार के ब्राह्मणों विषे रहे है। और एक एक ब्राह्मण विषे रहे जो गौडत्व द्राविडत्वादिक जातियां सो अवांतर जातियां हैं। और दक्षिणदेश विषे मातुलिं कन्या के साथ विवाह और गुजरात देश विषे मरे से पीछे सर्व सम्बंधियों का मिलके भोजन और मारवाड में चर्मपात्र के जल का ग्रहण यह देशों के अचार हैं। अभी इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास आत्मा विषे निरूपण करै हैं। मैं अधिक दृष्टि वाला हूं मैं मंद दृष्टि वाला हूं इत्यादिक इन्द्रियों के धर्मों को अपने विषे मानता है। काहे तैं मैं अंध हूं मैं काणा हूं मैं बधिर हूं इत्यादिक वचनों करके अंतर अध्यास को प्रगट करे है। इहां यह तात्पर्य है जिस वस्तुको मन करके ध्यान करता है तिस वस्तु को वाक इन्द्रिय करके कथन करे है। यह नियम शास्त्रविषे कह्या है। और यह पुरुष मैं अंध हूं मै काणा हूं ऐसा कथन करे है सो कथन चक्षु इन्द्रियादिकों के साथ आत्मा के अध्यास से विना सिद्ध होवै नहीं। या तैं मैं अंध हूं इत्यादिक कथन पुरुषों के भीतर अध्यास का अनुमान करावै है। यह रीति सर्व अध्यास विषे जाननी और व्यापक आत्मा को परिच्छिन्न मानना। यह देह आदिक अध्यास तैं विना बने नहीं। काहे तैं यह पुरुष एक देह का अभिमान करके दूसरे देह का अभिमान नहीं करता। जैसे मैं ब्राह्मणत्व जाति वाला हूं और क्षत्रियत्व जाति वाला मैं नहीं हूं और ब्राह्मणत्व जाति वाले जो दूसरे ब्राह्मण हैं सो भी मैं नहीं हूं। किंतु मेरे से भिन्न हैं। यह परिच्छिन्नपना भी देहादिकों के अध्यास को बोधन करे है। और अहं यां शब्द का लक्षार्थ शुद्ध आत्मा है और अहं यां वृत्ति ज्ञान का विषय भी शुद्ध आत्मा है। सो आत्मा अहं यां शब्द और ज्ञान से वास्तव तैं भिन्न है। काहे तैं शब्द और ज्ञान से अर्थ भिन्न होवै है इस प्रकार आत्मा का बोधक अहं शब्द का आत्म साक्षात्कार से रहित पुरुष देहादिक अर्थ मानै है। यां कहने से यह अर्थ सिद्ध भया। अन्य वस्तु के वाचक शब्द का अन्य वस्तु विषे कथन करना यह अध्यास से विना होवै नहीं। जैसे रजतरूप अर्थ का वाचक रजत शब्द का सन्मुख शुक्ति विषे यह रजत ऐसा कथन रजत अध्यास से विना होवै नहीं। तैसे यह पुरुष भी आत्मा का वाचक अहं यां शब्द की देहादिकों विषे अहं गौर ऐसा कथन करे है। यां तैं शरीरादिकों विषे अहं शब्द का कथन मैं गौर हूं यां

प्रकारके ज्ञानों की भ्रमरूपता सिद्ध करे है। इस प्रकार देहादिकों के साथि तदात्म्य अध्यास करके आत्माविषे भेद ज्ञान का निरूपण करा। अबी तां अध्यास करके बहिर वस्तुओं को विषय करनेहारा भेदज्ञान को निरूपण करे है। यह पिता मेरा है यह माता मेरी है इससे भिन्न कोई मेरी माता तथा पिता नहीं है। और यह देवताओं के मन्दिर हैं और नदियों के तीर से आदि लैके वस्तु सर्वलोकों के वास्ते हैं। इससें आदि लैके भेदोंको अज्ञानरूप निद्रा करके सोया हुआ आत्मा स्वप्न की न्यांई देखे हैं। और किसी स्थानाविषे हर्ष को प्राप्त होवै है। अब प्राणों के अध्यास को जनावनेहारा जो प्राणों के धर्मों का आत्मा विषे अध्यासता को निरूपण करे हैं। मैं क्षुधावान हूं मैं तृषावान हूं या प्रकार प्राणों के धर्मों को क्षुधा पिपासाको आत्माविषे मानै है। अबी मनके धर्मों का आत्माविषे अध्यासता को निरूपण करे हैं। काम संकल्प संशय श्रद्धा अश्रद्धा धीरज अधीरज लज्जा वृत्तिज्ञान भय यह श्रुति विषे कहे जो मनके धर्म सो आत्माविषे मान कर के यह पुरुष तपायमान होवै है और वास्तव तैं तो आत्मा असंग है और निर्गुण है। तहां श्रुति—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएव ॥४२५॥ बृहदारण्यको०पंचम ब्राह्मणम्

अर्थ—और देश काल वस्तुके परिच्छेदसे रहित है। और सत् चिदानंदस्वरूप है। सोई ही आत्मा अपने स्वरूप के अज्ञान करके आकाशादिक पंचभूतों विषे और ताका कार्य प्रपंचविषे यह वस्तु समीचीन है और यह वस्तु असमीचीन है। इस रीति से नाना प्रकारके भेद बुद्धियों को करता हुआ नाना प्रकार के सुख तथा दुःखों को इस लोक विषे प्राप्त होवै है। यह भेदज्ञान का अवांतर फल है और मुख्य फल तो श्रुति विषे कह्या हुआ जन्म मरण का प्रवाह है। तहां श्रुति—

द्वितीया द्वैभयं भवति मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति अन्योऽसावन्यो हमस्मीति न स वेद यथा पशु रेव स देवानाम् ॥४२६॥ कठोप०

अर्थ—जो पुरुष इस परमात्मा विषे नाना की न्यांई देखता है सो मृत्युतें मृत्यु को प्राप्त होता है। अहं अन्य हूं सो परमात्मादेव अन्य है ऐसे पुरुष यथार्थ नहीं देखता जैसे पशु देखता है। सो देवताओं का पशु है॥४२६॥ और पूर्व कहे जो ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इन्द्रियों के व्यापार और अकाशादिक पंचभूतों के व्यापार और भूतों का कार्य प्रपंच के व्यापार या सर्व व्यापारों को अज्ञान करके आत्मा आपने विषे माने हैं। और पूर्व कहे जितने जाग्रत अवस्था के ज्ञान सो सम्पूर्ण अध्यास करके व्याप्त हुए है। यातें सत्चिदानन्द अनन्तरूप आत्मा की जो यह जाग्रत है सो सम्पूर्ण स्वप्न है! काहेतें प्रबोध का जहां अभाव होवे और मिथ्या वस्तु का जहां दर्शन होवे ताका नाम स्वप्न है। यह स्वप्न का लक्षण जाग्रत विषे भी घटे हैं। काहेतें अज्ञान अवस्था विषे आत्मज्ञान रूप प्रबोध का अभाव है और मैं ब्राह्मण हूं मैं क्षत्रिय हूं और मैं अंध हूं या प्रकार अनात्म देहादिकों के धर्मों का आत्मा विषे अरोपणरूप मिथ्या दर्शन भी है। यातें जाग्रत स्वप्न रूप है यां अर्थ को लोक प्रसिद्धि से भी स्पष्ट करे हैं। जो पुरुष चक्षु इन्द्रिय से आदि लेके जितनी प्रत्यक्षज्ञान की

समग्री है तिस सामग्री करके युक्त होवे और सो पुरुष जबी घटादिक वस्तुओं को घटादिक रूप करके ना जाने किन्तु घटादिकों को पटादिक रूप करके जाने है तां भ्रांत पुरुष को जाग्रत अवस्था विषे भी लोक सोया हुआ कहे हैं यातें या लोक व्यवहार ते भी विपरीत दर्शन का नाम स्वप्न सिद्ध होवे है। सो लक्षण जाग्रत विषे भी पूर्व कही रीती से घटै है। या प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी विपरीत दर्शन करके विशिष्ट है यातें ताका जाग्रत भी स्वप्न स्वरूप है। यद्यपि स्वप्न विषे इन्द्रियों की उपरामता होवे है सो उपरामता जाग्रत विषे है नहीं तथापि मिथ्या दर्शनरूप धर्म जाग्रत स्वप्न विषे समान है याते जाग्रत भी स्वप्न रूप है इसी प्रकार मिथ्या दर्शन जाग्रत अवस्था विषे निरूपण किया। अबी स्वप्नावस्था का निरूपण करे हैं। या प्रकार जाग्रत अवस्था विषे नाना प्रकार के स्वप्नों को देख करके इन्द्राणी सहित परमात्मा रूप इन्द्र दूसरा स्थान जो हृदय कमल के दल हैं ता विषे प्रवेश करता भया। इहां आत्मा विषे कर्ता भोक्ता की उपाधि जो बुद्धि है ताका नाम इन्द्राणी है। ता स्थान विषे इन्द्र और इन्द्राणी के समीप पूर्व पूर्व कर्मों के अनुसार करके नट की न्याईं अनन्त प्रकार के आपने रूपों को मन दिखावे है। तात्पर्य यह है ज्ञानाकार और विषयाकार परिणाम को प्राप्त होवे है। और अनन्त जन्मों विषे उत्पन्न भये जो पदार्थों के संस्कार हैं तिन संस्कारों करके मन युक्त है यां कारण ते मन विषे सामर्थ्य है। अबी प्रसिद्ध जाग्रत स्वप्न विषे इन्द्रियों की उपरामता रूप विलक्षणता दिखावे हैं। तिस स्वप्न अवस्था विषे मन करके उत्पन्न किये जो नाना प्रकार के कार्यरूप स्वांग हैं तिनों को परमात्मा रूप इन्द्र देखे है। कैसा परमात्मा है ज्ञान इन्द्रिय कर्म इन्द्रियों से रहित है। और जाग्रत संस्कार करके विशिष्ट है। और स्वप्नभोग के देनेहारे कर्मों करके विशिष्ट है। या स्थान विषे दो प्रकार की प्रक्रिया शास्त्र विषे कही है। स्वप्न विषे मन ही रथादिक विषयाकार और ज्ञानाकार परिणाम को प्राप्त होवे है। ऐसा कोई ग्रन्थकार माने हैं। और कोई ग्रन्थकार मन विषे रहे जो वासना ता करके विशिष्ट अज्ञान ही स्वप्न विषे रथादिक विषयाकार और ज्ञानकार परिणाम को प्राप्त होवे है ऐसा माने हैं। अभी जाग्रत से दूसरी भी विलक्षणता स्वप्न विषे दिखावे हैं। ता स्वप्न अवस्था विषे द्रष्टा आपने स्वरूप विषे और दृश्य पदार्थों विषे स्वरूप नियम देश नियम काल नियम कारण नियम यह चारों प्रकार के नियमों के अभाव को देखता है। अबी दृश्य पदार्थों विषे स्वरूप नियम के अभाव को दिखावे है। स्वप्न विषे प्रतीतभया जो हस्ती सो क्षण पीछे वृक्ष होइके प्रतीत होवे है। और सो वृक्ष क्षण पीछे पर्वत हुआ प्रतीत होवे। और सो पर्वत क्षण पीछे तृण हुआ प्रतीत होवे है। इसप्रकार स्वप्न विषे दृश्य पदार्थों के स्वरूप का नियम होवे नहीं। अबी द्रष्टा विषे स्वरूप नियम के अभाव का निरूपण करे हैं। इसप्रकार स्वप्न विषे ब्राह्मण द्रष्टा क्षण पीछे आपको देखता हुआ देखे है और क्षण पीछे आपको महाराजा हुआ देखे है। या प्रकार द्रष्टा के स्वरूप विषे भी नियम का अभाव है। अबी स्वप्न विषे देशनियम के अभाव को दिखावे हैं। सूक्ष्म जो स्वप्न वाहिनामा नाडियां हैं तिनों विषे स्थित हुआ द्रष्टाता सूक्ष्म स्थान विषे समुद्र को और सुमेरू पर्वत

को और सप्तद्वीपों करके युक्त पृथ्वी को देखे है। यातें स्वप्न विषे देश नियम का अभाव है। अबी काल नियम के अभाव को दिखावे हैं। सिहजा उपर स्थित हुआ यह पुरुष रात्रि विषे सूर्य सहित दिन को देखे है। यातें काल नियम का भी स्वप्न विषे अभाव है। अभी कारण नियम के अभाव को दिखावे हैं। या भारतखंड विषे स्थित हुआ पुरुष या पुरुष शरीर करके ही सूर्य चन्द्रमा को स्वप्न विषे भक्षण करे है। और भक्षण का कोई कारण है नहीं। काहेतें वस्तु के भक्षण में तीन कारण होवे है। एक तो भक्षण करणे योग्य वस्तु का मुख के साथ सम्बन्ध और दूसरा मुख की अपेक्षा करके वस्तु विषे स्वल्पता और तीसरा भोक्ता पुरुष का सामर्थ्य। या तीनों कारणों का स्वप्न विषे अभाव है। तौ भी स्वप्न विषे पुरुष सूर्य चन्द्रमा को भक्षण करे है। और स्वप्न विषे रथ के कारण तक्षाकाष्ट वा स्थानादिकों का अभाव है। तौ भी संकल्पमात्र तें रथको उत्पन्न करे है। यातें कारण का भी स्वप्न विषे नियम नहीं। इस वास्ते माया से बिना स्वप्न का कोई कारण है नहीं किन्तु माया ही ताका कारण है। यातें श्रुति के तात्पर्य को जानने हारे वेद व्यास भगवानादिकों ने स्वप्न को माया मात्र कह्या है। अभी सुषुप्ति अवस्था रूप तीसरे स्वप्न को निरूपण करे हैं। सोई इन्द्र द्रष्टा रूप आत्मा स्वप्न को देख करिकै अथवा जाग्रत को देख करिकै इंद्राणी के सहित तीसरा जो हृदय कमल के अन्तर अकाश रूप स्थान है ता विषे प्रवेश करता भया। इहा यह तात्पर्य है जाग्रत से उत्तर काल में स्वप्न होवे है और स्वप्न से उत्तर सुषुप्ति होवे है यह नियम नहीं है। काहे तैं कभी जाग्रत से उत्तर सुषुप्ति होवे है। और सुषुप्ति तैं उत्तर स्वप्न होवे है। और कभी जाग्रत से उत्तर स्वप्न होवे है। और स्वप्न से उत्तर सुषुप्ति होवे है। और तिस हृदयाकाश विषे भोग्य रूप इन्द्राणी को अलिंगन करिकै तां इन्द्राणी के साथ अभेद को प्राप्त होवे है। तात्पर्य यह है तहां भोक्ता भोग्य पणा भिन्न होइकै प्रतीत होवे नहीं।

शंका—हे भगवन! सुषुप्ति विषे यद्यपि अज्ञान का कार्य रूप भोग्य नहीं है तथापि अज्ञान रूप भोग्य तहां है। यातें भोक्ता भोग्य का अभेद बने नहीं। समाधान—सुषुप्ति विषे आवरण रूप माया को यह द्रष्टा देखता हुआ भी नहीं देखे है। इहां यह तात्पर्य है जैसे दीपक से अन्धकार का ज्ञान होवे नहीं। तैसे किसी प्रमाण से अज्ञान की सिद्धि होवे नहीं। किंतु साक्षी चेतन करिकै ही अज्ञान की सिद्धि होवे है। सो साक्षी सुषुप्ति अवस्था विषे भी है। या तैं द्रष्टा चेतन सुषुप्ति विषे अज्ञान को देखे है। तहां श्रुति—

त्रिषुधामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः ॥४२७॥ कैवल्योप०मं०१८

अर्थ—जाग्रत स्वप्नादिक तीन अवस्थारूप धामों विषे जो भोग्य तथा भोग्य के इंद्रियादिक साधन तथा विश्व तैजस प्राज्ञ जो भोक्ता है तिनों तैं मैं विलक्षण सत्य रूप साक्षी चिन्मात्र शिव कल्याण स्वरूप हूं ॥४२७॥

और सुषुप्ति से जाग्रत हुआ पुरुष मैं कुछ नहीं जानता भया ऐसा अज्ञान का स्मरण करै है। और जो जो स्मृति ज्ञान होवे है। सो सो पूर्व अनुभव करिकै जन्य होवे है यह नियम है।

या तैं मैं कुछ ना जानता भया ऐसा जो जाग्रत विषे अज्ञान का स्मरण है सो स्मरण सुषुप्ति विषे अज्ञान के अनुभव को सिद्ध करै है। यां रीति से सुषुप्ति विषे समान्य तैं अज्ञान कूं देखता हुआ भी स्पष्ट करिकै अज्ञान को नहीं देखता। या तैं सुषुप्ति विषे भोक्ता भोग्य का अभेद कह्या।

शंका—हे भगवन् ! जभी अज्ञान रूप आवरण सुषुप्ति विषे स्पष्ट करिकै नहीं है तभी प्रतिबन्धक के अभाव होने तैं यह पुरुष आपने स्वरूप को सुषुप्ति विषे जानेगा या तैं सुषुप्ति मात्र करिकै ही सर्व जीवों का मोक्ष होना चाहिये। समाधान—सुषुप्ति अवस्था विषे यह द्रष्टा अद्वितीय आनन्द स्वरूप आपने स्वरूप को जानता नहीं काहे तैं सुषुप्ति विषे विशेष ज्ञान का अभाव है तात्पर्य यह है सुषुप्ति विषे प्रतिबन्धक का यद्यपि अभाव है तथापि शास्त्र और गुरु से आदि लैकै ज्ञान की सामग्री तहां नहीं है। या तैं सुषुप्ति विषे मोक्ष का साधन आत्म ज्ञान होवे नहीं और सुषुप्ति विषे आपने स्वरूप का अज्ञान विद्यमान है। या कारण तैं आत्म साक्षात्कार कै अभाव होने तैं और साक्षी भाष्य मिथ्या अविद्या की विद्यमानता होने तैं सुषुप्ति स्वप्न रूप है। ऐसा श्रुति विषे कथन करा है। काहे तैं बोध का जहां अभाव होवे और मिथ्या वस्तु का दर्शन होवे सो स्वप्न कहिये है। यह पूर्व कह्या स्वप्न का लक्षण सुषुप्ति विषे भी घटे है। इस प्रकार जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति यह तीन हैं स्वप्न जा के और चक्षु हृदय कमल और हृदय कमल के अन्तर अकाश यह तीन हैं गृह जा के अथवा पिता का शरीर और माता का शरीर पुनः पिता का शरीर यह तीन है ग्रह जा के और या शरीर रूप द्वारा वती पुरी विषे है स्थिति जाकी और देहादिक को विषे है अहं मम अभिमान जा का और अहं मम अभिमान रूप जन्म को प्राप्त भया ऐसा जो परमात्मा देव है। सो गुरु की कृपा करिकै अज्ञान रूप निद्रा से जाग्रत हुआ ऐसा विचार करता भया। वास्तव तैं उत्पत्ति तैं रहित मैं परमात्मा जिनों पंच भूतों तैं विशेष रूप करिकै प्रगट भया हूं सो यह अकाशादिकैं पंच भूत मैं परमात्मा के उपाधि रूप करिकै उत्पन्न भये हैं। कैसे यह पंच भूत हैं। शरीरादिक भेद करिकै अनन्त प्रकार के है। और संक्षेप तैं दो प्रकार के हैं। कोई जड़ रूप है कोई अजड़ रूप हैं। तहां भोग्य रूप करिकै जड़ है और भोक्ता रूप करिकै अजड़ हैं और भूतों विषे भोग्य पणा और भोक्ता पणा स्पष्ट करिकै निरूपण करै हैं। बाह्य अकाशादिक पांच भूत स्थावर जंगमों करिकै केवल भोग्य रूप हैं। और वृक्षादिक स्थावरों का मनुष्यादिक जंगमों का परस्पर भोक्ता भोग्य पणा नियम से नहीं है। कभी स्थावर भोक्ता होवै है और जंगम भोग्य होवे हैं। और कभी स्थावर भोग्य होवे हैं। और जंगम भोक्ता होवे हैं। इहां जो उपकार करै सो भोग्य होवे है। और जा के ऊपर उपकार करिये सो भोक्ता कहिये है। जैसे मनुष्यादिक जल का सिंचन रूप उपकार वृक्षों के ऊपर करै है। या तैं मनुष्यादिक जंगम भोग्य हैं और वृक्षादिक स्थावर भोक्ता है। और वृक्षादिक छाया काष्ठ फलादिकों की प्राप्ति रूप उपकार मनुष्यादिकों के ऊपर करै हैं। या तैं मनुष्यादिक जंगम भोक्ता हैं। और वृक्षादिक स्थावर भोग्य हैं। यह सर्व को प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार भोक्ता रूप करिकै और भोग्य रूप करिकै दो प्रकार का प्रपंच है यह पूर्व कह्या। अभी विचार करिकै

देखीये तो मैं चेतन विषे ही भोक्ता और भोग्य पणा घटिता हुआ मेरे अद्वितीयता को शोधन करै है या अर्थ को निरूपण करै हैं। जड़ वस्तुओं को भोक्ता पणा तीन काल विषे बनें नहीं। काहे तैं जो कर्ता होवै है सोई ही भोक्ता होवे है। जड वस्तुवों को भोग्य रूप क्रिया का कर्तापणा है नहीं। या तैं भोक्ता पणाभी जडवस्तुवों को बनै नहीं। इहां यह तात्पर्य है यह वस्तु मेरे सुख का साधन है यह वस्तु मेरे दुःख का साधन है या प्रकारके ज्ञान का नाम भोग्य है सो चेतन आत्मा विषे ही घटे है। काहेतैं सर्व जडवस्तु चेतन आत्मा के सुखवास्ते है। जडवस्तु के सुख का साधन होवै नहीं या तैं भोग्य का आश्रय रूप भोक्ता आत्मा है। और भोग्य रूप क्रिया का कर्ता भी जडवस्तु होवै नहीं। काहेतैं स्वतंत्र का नाम कर्ता होवै है सो स्वतंत्रता आत्मा सैं भिन्न जडवस्तु में बनै नहीं। या तैं कर्ता भी आत्मा ही है या अर्थ को पूर्व निरूपण करि आये हैं। अबी जड वस्तु भोग्य भी नहीं या अर्थ को निरूपण करै है। यह वस्तु मेरे सुख का साधन है या अंतः करण की वृत्ति विषे अरूढ जो फल चेतनता की आश्रयता रूप भोक्ता भी जडवस्तु विषे बनै नहीं। तात्पर्य यह चेतन जड के संबंध को करणे हारा जो अज्ञान है सो विचार काल विषे निवृत्त होवै है। यातैं यह वस्तु मेरे सुख का साधन है या अन्तः करण की वृत्ति विषे जो फल चेतन रूप प्रकाश सो मैं आत्मा हूं मेरे सें भिन्न कोई प्रकाश रूप नहीं। और अन्तः करण की वृत्ति विषे जो प्रकाश है सो मैं परमात्मा के संबंध तें है स्वतंत्र अन्तः करण की वृति में नहीं है। जैसे सूर्य के प्रति बिंब को ग्रहण करिकै दर्पण भित्तादिकों को प्रकाशे है दर्पण आप प्रकाश रूप नहीं है तैसे बुद्धि भी मैं परमात्माके प्रकाश को पाय कै प्रकाशे है यह पूर्व कहि आये हैं। या तैं समष्टि व्यष्टि देहों का मैं परमात्मा ही प्रकाशक हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥४२८॥ गी० अ० १३—श्लोक २॥

अर्थ—हे भारत! अर्थात हे भरत राजा के वंश विषे उत्पन्न हुआ अर्जुन सर्व क्षेत्रों विषे स्थित क्षेत्रज्ञ को तूं मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप ही जान। ऐसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनों का जो ज्ञान है सो ज्ञान ही मैं परमेश्वर को अभिमत है ॥४२८॥

और संपूर्ण दृश्य मेरे ही अधीन है। जैसे महाराज की सभा विषे राजा की आज्ञा सैं विना कोई पुरुष स्वतंत्र वचन उच्चारण करै नहीं। तैसे मैं परमात्मा सैं रहित कोई भी चक्षु आदिक इंद्रिय और सूर्यादिक देवता दृश्य वस्तु स्वतंत्र क्रिया को करै नहीं। किंतु मैं तुर्यात्मा की सत्ता को पाय कै ही सर्व दृश्य क्रिया करै है। और सर्व रूप करिकै अर्थात सूर्य चंद्रमा वरुण कुबेर धर्म राज ब्रह्मा शिव यावत स्त्री पुरुष प्रतीती गोचर स्थावर जंगम प्रपंच है सो मैं परमात्मा का ही स्वरूप है।

ब्रह्मोवाचासर्वात्मा शंकरोनाम साक्ष्येव सकलस्य तु। साक्ष्यभावे जगत्साक्ष्यं कथं भाति सुरोत्तमाः ॥४२९॥

ब्रह्म गी० अ० ३॥ श्लो० १॥

अर्थ—ब्रह्मा जी बोले हे देव उत्तम सर्व स्थावर जंगम देहो का अर्थात ब्रह्मा सें लेकर स्तंभपर्यंत सर्व का ही साक्षी महादेव है। सर्व शरीरों विषे आत्मा रूप से स्थित परमेश्वर है। जो परमेश्वर इस सर्व जड प्रपंच का भासिकः

साक्षी चिन्मात्र स्वरूप है ॥ ४२९॥

नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति। नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेंद्रियाणि च। खं वायु ज्योंतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥४३०॥

अर्थ—सृष्टि के आदि काल में नारायण इच्छा करता भया कि मैं प्रजा को सृजों इस इच्छा सें ही जैसे मृतिका सें घट शरावादिक कार्य मृति का सें अभिन्न रूप होवै हैं। तैसे नारायण सें अभिन्न रूप प्राण उत्पन्न होते भये। तथा नारायण से मन तथा दश इंद्रिय उत्पन्न होते भये। तथा अकाश वायु तेज जल तथा सर्व विश्व को धारण करने हारी पृथ्वी उत्पन्न होती भई ॥४३०॥

नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते। नारायणादिंद्रो जायते। नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते ॥४३१॥

अर्थ—नारायण सें ब्रह्मा जी उत्पन्न होते भये। नारायण सें रुद्र उत्पन्न होते भये। नारायण सें इंद्र उत्पन्न होते भये। नारायण सें प्रजा पति उत्पन्न होते भये ॥४३१॥

नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छंदांसि नारायणादेव समुत्पद्यंते। नारायणात्प्रवर्तंते। नारायणे प्रलीयंते ॥४३२॥

(नारायणोपनिषत् मं० १—२—३)

अर्थ—नारायण सें द्वादश आदित्य उत्पन्न होते भये। नारायण सें रुद्र वसू तथा सर्व वेद यह सर्व नारायण सें ही सुवर्ण से कटक कुंडल की न्यांई उत्पन्न होते भये तथा नारायण सें ही चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण रूप प्रवृत्ति होति है। तथा प्रलयकाल में सर्व कालय भी नारायण में ही होवे हैं ॥४३२॥

ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शुक्रश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः ॥४३३॥ नारायणो० मं० ४

अर्थ—अब यह श्रुति सर्व रूप नारायण है यह प्रतिपादन करै है। ब्रह्मा जी नारायण हैं शिव नारायण है तथा इंद्र नारायण है तथा काल नारायण है तथा पूर्व दक्षण पश्चम उत्तर दिशा नारायण है। तथा विदिशा नारायण है ॥४३३॥

ऊर्ध्वं च नारायणः। अधश्च नारायणः॥ अंतर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ४३४

नारायणो० मं० ५॥

अर्थ—ऊपर नारायण है तथा नीचे नारायण है। तथा सर्व स्थावर जंगम चारो खाणी के अन्तर तथा वाह्य नारायण है। तथा ब्रह्मा सें आदि लेकर स्तंभपर्यंत यह दृश्य मान प्रपंच सर्व नारायण है। तथा भूत भविष्य वर्तमान जो नाम रूप प्रपंच है सो सर्व नारायण है ॥४३४॥

निष्कलंको निरंजनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित। य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति ॥४३५॥ नारायणो० मं० ६॥

अर्थ—निष्क लंक रूप है निरंजन रूप है विकल्प रूप है निराकार रूप है शुद्ध रूप है एक देव है नारायण सें भिन्न भी कोई भी द्वितीया नास्ति नहीं है । यो पुरुष इस प्रकार सर्वनाम रूप को ब्रह्मरूप देखता है सो विष्णुरूप होता है सो विष्णुरूप होताहै ॥४३५॥

विहाय सूक्ष्मं देहादि मायां तं तुविवेकतः ॥ सर्व साक्षिणमात्मानं यः पश्यति स पश्यति ॥४३६॥

(ब्रह्म गी० अ० ३ श्लो० ६०)

अर्थ—निसा निसका विवेक करके देह से आदि लेकर माया पर्यंत सूक्ष्म को त्यागके । स्तंभ से आदि लेकर ब्रह्मा पर्यंत सर्व कार्य वर्ग का आत्मासाक्षि है इसप्रकार देखने वाला ही देखता है ॥४३६॥

रुद्रनारायणादिनां स्तम्बांतानां च साक्षिणम् । एवं तर्क प्रमाणाभ्यां यः पश्याति स पश्याति ॥४३७॥

(ब्रह्म गी० अ० ३ श्लो० ६१ ॥)

अर्थ—रुद्रनारायण से आदि लेकर स्तंब तक सर्व का ही नारायण साक्षि है । इसप्रकार युक्तियों और प्रमाणों से जो पश्यति सो पश्यति ॥४३७॥

यथा सुवर्णं रुचकं सृजति ग्रसते स्वयम् । तथा शंभुरिदं सर्वंसृजाति ग्रसते स्वयम् ॥४३८॥

(सूत संहिता ज्ञानयज्ञ । अ० १४ श्लोक ४५ ॥)

अर्थ—अब दृष्टांत से सृष्टि की उत्पात्ति संहार कहते हैं । जैसे सुवर्ण को राजितकार कटक कुंडलादिकों को रचिता है पुनः गिलानेसे विलापने साति कारणभूतं सुवर्ण मात्र ही हो जाता है । तद्वतपरमेश्वर भी आप ही सृष्टि रूप हो जाता है प्रलयकाल में आपने में ही लयकरलेता है ॥४३८॥

यथोर्णनाभिः सृजति तंतु गृह्णाति च स्वयम् । तथा शंभू रिदं सर्वं सृष्ट्वा च ग्रसते स्वयम् ॥४३९॥

सूत० ज्ञान यज्ञ अ० १४ । श्लो० ४६ ॥

अर्थ—जैसे उर्णनाभि जन्तु आपने सुख से तन्तु को सृजता है तथा आप ही उस तन्तु को खाजाता है । तैसे परमेश्वर भी इस सर्व नाम रूपात्मक जगत को सृजके आपने में ही लय कर लेता है ॥४३९॥

भूमिः सृजति गृह्णाति यथौषधि वनस्पतीन् । तथा शंभुरिदं सर्वं सृष्ट्वा च ग्रसते स्वयम् ॥४४०॥

सूत सं० ज्ञानयज्ञ अ० १४ श्लो० ४७ ॥

अर्थ—जैसे भूमि सर्व वनस्पति को और औषधि को आपने से उत्पन्न करके फिर आपने में ही लयकर लेती है । तैसे ही परमेश्वर इस सर्व नामरूपात्मक ब्रह्मांड को आपने से उत्पन्न करके फिर आपने में ही ग्रसलेता है ॥४४०॥

स्वयमेव यथा स्वप्नं सृष्ट्वा गृह्णाति चेतनः । तथा शंभुरिदं सर्वं सृष्ट्वा च ग्रसते स्वयम् ॥४४१॥

सूत सं० ज्ञानयज्ञ अ० १४ । श्लो० ४८ ॥

अर्थ—इसप्रकार जगत अविद्या का कार्य रूप होने तें मिथ्या रूप से प्रति पादन करते हैं । जैसे स्वप्नावी चेतनपुरुष आप ही स्वप्न प्रपंच को रचिता है । तथा तिसको आप ही ग्रस लेता है ॥४४१॥

स्वस्वप्नः स्वप्रबोधेन स्वात्ममात्रं

यथा भवेत्। तथैव स्वस्वप्नप्रपंचोऽपि स्वयं स्यात्स्वप्रबोधतः ॥४४२॥

सूत सं० ज्ञानयज्ञ अ० १४। श्लो० ४९ ॥

अर्थ—आपने स्वप्न से निद्रा कीनिवृत्ति जब होती है तब जाग्रत होती है तब स्वप्न का प्रपंच जैसे आत्मा रूप ही होजाता है। तैसे जाग्रत रूप प्रपंच का ज्ञान होने से तब स्वप्न का प्रपंच आपना आत्मा रूप ही हो जाता है ॥४४२॥

स्वस्वरुपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः। स धीरः स तु सर्वज्ञः स शिवः स तु दुर्लभः ॥४४३॥

सूतसं० अ० १४ श्लो० ५० ॥

अर्थ—जो पुरुष आपने स्वरूप सर्व प्रपंच को आत्मारूप से स्वयानुभव करके जानता है सो धीर पुरुष है तथा सो सर्वज्ञ है तथा सो शिव है तथा सो ऐसा महात्मा दुर्लभ है ॥४४३॥

लोकवासनया जंतोः शास्त्रवासनयाऽपि च। देह वासनया ज्ञानं यथा वन्नैव जायते ॥४४४॥

सूत सं० ज्ञानयज्ञ अ० १४ श्लो० ५१ ॥

अर्थ—अब तीन प्रकार की वासना की निवृत्ति से विना आत्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती यह स्पष्ट करके कहे हैं। जिस अधिकारी पुरुष को लोक वासना है तथा शास्त्र वासना है तथा निश्चय करके देह वासना है इन तीन प्रकार की वासना के सदभाव से यथावत अपरोक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न होता ॥४४४॥

ईश्वर उवाच—

अहं हि सर्वं न च किंचिदन्यन्निरुपणायाम निरुपणायाम्। इयं हि वेदस्य परा हि निष्ठा ममानुभूतिश्च न संशयश्च ॥४४५॥ ब्रह्मगी० अ० ५ ॥

अर्थ—ईश्वर उवाच-अहं ही सर्व रूप हैं अन्य किंचित मात्र भी नहीं है। निरूपण करने से भी तथा ना निरूपण करने से भी मैं ही सर्व कुछ हूं। यह ही वेद विषे परा नेष्ठा है मम अनुभूति है अर्थात महादेव जी कहते हैं मेरा यह ही अनुभव है इस में संशय नहीं हैं ४४५

अहं सदाऽधश्च तथाऽहं मूर्ध्वं त्वहं पुरस्ताद हमेव पश्चात्। अहं च सव्येतर मास्तिकास्तथा त्वहं सदैवोत्तरतोऽन्तरालम् ॥४४६॥ ब्रह्मगीता अ० ५ ॥

अर्थ—अहं सदा ही अधश्च तथा ऊर्ध्व हूं तूं अहं पूर्व भी अहं हूं पश्चात भी मैं ही। अहं सर्व इतर आस्ति का तथा त्वं अहं सदैव उत्तर दिशा में हूं तथा जो अन्तराय वाले पदार्थ हैं सो सर्व ही मैं हूं ॥४४६॥

परोक्ष रूपेण सुसंस्थितोऽहं तथाऽपरोक्षेण सुसंस्थितोऽहम्। अनात्मरूपेण सुसंस्थितोऽहम् सदात्मरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४४७॥ ब्रह्मगी० अ० ५ ॥

अर्थ—परोक्ष रूप से मैं ही स्थित हूं तथा अपरोक्ष रूप से भी मैं ही स्थित हूं। अनात्म रूप से भी मैं ही स्थित हूं तथा सदैवकाल आत्मा रूप से भी मैं ही स्थित हूं ॥४४७॥

जैनेवरूपेण सुसंस्थितोऽहं तथेशरूपेण सुसंस्थितोऽहम्। अज्ञानरूपेण सुसंस्थितोऽहं विज्ञानरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४४८॥ ब्रह्मगी० अ० ५ ॥

अर्थ—जीवरूप से मैं स्थित हूं तथा ईश्वर रूप से मैं स्थित हूं तथा अज्ञान रूप से मैं स्थित हूं तथा विज्ञानरूप से मैं स्थित हूं ॥४४८॥

संसाररूपेण सुसंस्थितोऽहं कैवल्यरूपेण सुसंस्थितोऽहम् । शिष्यादिरूपेण सुसंस्थितोऽहं गुर्वादिरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४४९॥ ब्रह्मगी० अ० ५ ॥

अर्थ—संसार रूप से मैं स्थित हूं तथा कैवल्य विदेहमुक्ति रूप से मैं स्थित हूं । तथा शिष्यादि रूप से मैं स्थित हूं तथा गुरू आदिक रूप से मैं स्थित हूं ॥४४९॥

वेदादिरूपेण सुसंस्थितोऽहं स्मृत्यादिरूपेण सुसंस्थितोऽहम् । पुराणरूपेण सुसंस्थितोऽहं कल्पादिरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४५०॥ ब्रह्मगीता अ० ५ ॥

अर्थ—वेदादि रूप सें मैं स्थित हूं तथा स्मृति आदि रूप सें मैं स्थित हूं तथा पुराण रूप सें मैं स्थित हूं तथा कल्पादि रूप सें मैं स्थित हूं ॥४५०॥

प्रमातृरूपेण सुसंस्थितोऽहं प्रमाणरूपेण सुसंस्थितोऽहम् । प्रमेयरूपेण सुसंस्थितोऽहं मितिस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४५१॥ ब्रह्मगी० अ० ५ ॥

अर्थ—प्रमातृ रूप सें मैं स्थित हूं तथा प्रमाण रूप सें मैं स्थित हूं । प्रमेय रूप सें मैं स्थित हूं तथा मिति स्वरूप सें मैं स्थित हूं ॥४५१॥

कर्तृस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं क्रियास्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् । तद्धेतुरूपेण सुसंस्थितोऽहं फलस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४५२॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—कर्त्ता रूप सें मैं स्थित हूं तथा क्रिया रूप सें मैं स्थित हूं तथा हेतु रूप सें मैं स्थित हूं । तथा फल रूप सें मैं स्थित हूं ॥४५२॥

भोक्तृस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं भोगस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् । तद्धेतुरूपेण सुसंस्थितोऽहं भोग्यस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४५३॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—भोक्तृ रूप सें मैं स्थित हूं तथा भोग रूप सें मैं स्थित हूं । तथा तिस का हेतु रूपेण मैं स्थित हूं तथा भोग्य रूप सें मैं स्थित हूं ॥४५३॥

पुण्यस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं पापस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् । सुखस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं दुःखस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४५४॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—पुण्यरूप सें मैं स्थित हूं तथा पापरूप से मैं स्थित हूं। तथा सुखरूप सें मैं स्थित हूं तथा दुःख रूप सें मैं स्थित हूं ॥४५४॥

रुद्रप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं विष्णुप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । ब्रह्मप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं देवप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४५५॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ रुद्र भेद सें मैं स्थित हूं विष्णु भेद सें मैं स्थित हूं तथा ब्रह्मा भेद सें मैं स्थित हूं तथा देवता भेद सें मैं स्थित हूं ॥४५५॥

मर्त्यप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं तिर्यक-

प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । कृमिप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं कीटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४५६॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—मृत्यु रूप सें मैं स्थित हूं तथा तिर्यक्य रूप सें मैं स्थित हूं । तथा कृमि भेद सें मैं स्थित हूं तथा कीट भेद से मैं स्थित हूं ॥४५६॥

वृक्षप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं गुल्म प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । लताप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं तृणप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४५७॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—वृक्ष के भेद सें मैं स्थित हूं तथा फूल के भेद सें मैं स्थित हूं । लता के भेद सें मैं स्थित हूं तथा तृण भेद से मैं स्थित हूं ॥४५७॥

कालप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं घटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । पटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं कुड्यादिप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४५८॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—काल भेद सें मैं स्थित हूं घट भेद सें मैं स्थित हूं तथा पट भेद सें मैं स्थित हूं तथा कुड्यादि रूप सें मैं स्थित हूं ॥४५८॥

अन्नप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं पानप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । वनप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं गिरप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४५९॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—अन्न भेद से मैं स्थित हूं पान भेद सें मैं स्थित हूं वन भेद मे मैं स्थित हूं तथा गिर भेद सें मैं स्थित हूं ॥४५९॥

नदीप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं नदप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । समुद्रप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं तटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६०॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—नदी भेद सें मैं स्थित हूं । नद भेद सें मैं स्थित हूं । समुद्र भेद से मैं स्थित हूं। तथा तट भेद सें मैं स्थित हूं ॥४६०॥

तडागभेदेन सुसंस्थितोऽहमभ्रप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । नक्षत्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं ग्रहप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६१॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—तडाग भेद सें मैं स्थित हूं तथा अभ्र भेद सें मैं स्थित हूं तथा नक्षत्र भेद से मैं स्थित हूं तथा नव ग्रह भेद सें मैं स्थित हूं ॥४६१॥

मेघप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं विद्युत्प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । यक्षप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं रक्षः प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६२॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—मेघ भेद सें मैं स्थित हूं तथा विद्युत् भेद सें मैं स्थित हूं तथा यक्ष भेद सें मैं स्थित हूं तथा राक्षस भेद से मैं स्थित हूं ॥४६२॥

गंधर्वभेदेन सुसंस्थितोऽहं सिद्धप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । अण्डप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं लोकप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६३॥ ब्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—गंधर्व भेद सें मैं स्थित हूं तथा

सिद्ध भेद सें मैं स्थित हूं। तथा अण्डभेद सें मैं स्थित हूं तथा लोकभेद सें मैं स्थित हूं ॥४६३॥

देशप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं ग्रामप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । गृहप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं मठप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६४॥ व्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—देश भेद सें मैं स्थित हूं तथा ग्राम भेद सें मैं स्थित हूं तथा गृह भेद सें मैं स्थित हूं तथा मठभेद सें मैं स्थित हूं ॥४६४॥

कटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं प्राकार भेदेन सुसंस्थितोऽहम् । पुरप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं पुरी प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६५॥ व्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—कट भेद सें मैं स्थित हूं तथा प्रकार भेद सें मैं स्थित हूं तथा पुर भेद सें मैं स्थित हूं तथा पुरी भेद सें मैं स्थित हूं ॥४६५॥

व्योमादिभेदेन सुसंस्थितोऽहं शब्दादिभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । शरीरभेदेन सुसंस्थितोऽहं प्राणप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६६॥ व्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—आकाशादिक भेद सें मैं स्थित हूं तथा शब्दादि भेद सें मैं स्थित हूं। तथा शरीर भेद सें मैं स्थित हूं। तथा प्राण भेद सें मैं स्थित हूं ॥४६६॥

श्रोत्रादिभेदेन सुसंस्थितोऽहं पादादिभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । मनः प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं बुद्धिप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६७॥ व्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—श्रोत्रादि भेद सें मैं स्थित हूं तथा पादादि भेद सें मैं स्थित हूं "मनः प्रभेदेन" मैं स्थित हूं तथा बुद्धि भेद से मैं स्थित हूं ॥४६७॥

अहं प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं चित्तप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । संघात भेदेन सुसंस्थितोऽहं जन्मादि भेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६८॥ व्र० गी० अ० ५॥

अर्थ—अहंकार भेद से मैं स्थित हूं चित्तभेद से मैं स्थित हूं। संघातभेद से मैं स्थित हूं तथा जन्मादि भेद से मैं स्थित हूं ॥४६८॥

जाग्रतप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं स्वप्नप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । सुषुप्तिभेदेन सुसंस्थितोऽहं तुरीयभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥४६९॥ व्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—जाग्रत भेद से मैं स्थित हूं स्वप्न भेद से मैं स्थित हूं तथा सुषुप्ति भेद से मैं स्थित हूं तुरीय भेद से मैं स्थित हूं ॥४६९॥

दृश्य प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं द्रष्टृ प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । साक्षिस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं सर्वस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥४७०॥ व्र० गी० अ० ५ ॥

अर्थ—दृश्य भेद से मैं स्थित हूं द्रष्टृ भेद से मैं स्थित हूं साक्षि स्वरूपेण मैं स्थित हूं सर्व स्वरूप से मैं स्थित हूं ॥४७०॥

अब जिस रोज श्रीरामचन्द्र जी पिता की आज्ञा को पाय के दण्डकवन को पधारे थे। उससे एक रोज प्रथम महर्षि नारद जी ब्रह्माजी का संदेशा लेकर अयुध्या में श्रीरामचन्द्र जी के समीप आये थे। श्रीरामचन्द्र और नारद के सम्वाद को निरूपण करे हैं। श्रीमहादेव उवाच—

एकदासुखमासीनं रामं स्वांतः पुराजिरे। सर्वाभरण संपन्नं रत्नसिंहासने स्थितम् ॥४७१॥

अर्थ—श्रीमहादेवजी बोले। कि हे पार्वती! एक समय अति सुख सहित आपने रनवास में श्रीरामचन्द्र जी सर्वप्रकार भूषण पहिने रत्न सिंहासन पर बैठे थे ॥४७१॥

नीलोत्पलदल श्यामं कौस्तुभामुक्त कंधरम्। सीतया रत्न दंडेन चामरेणाथ वीजितम् ॥४७२॥

अर्थ—नीले कमलदल के समान श्यामरंग वाले गले में कौस्तुभ मणि पहरे हुए जिस में रत्नजड़ित दण्डी लगी हैं ऐसे चांवर को जानकी जी श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर दुला रही है ॥४७२॥

विनोदयंतं तांबूल चर्वणादि भिरादरात्। नारदोऽवतरद्दृष्ट मंबराद्यत्र राघवः ॥४७३॥

अर्थ—इसप्रकार श्रीरामचन्द्रजी तांबूल चर्वणादि कार्य करते हुए राज भोगद्वारा सुख भोग कर रहे थे। उसी समय परम भागवत देवर्षि नारद जी श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन करने के लिए आकाश मार्ग से उस स्थान में उतरते हुए ॥४७३॥

शुद्धस्फटिक संकाशः शरच्चन्द्रइवामलः। अतर्कितमुपायातो नारदोदिव्य दर्शनः ॥४७४॥

अर्थ—शरद ऋतु के विमल अर्थात् स्वच्छ चन्द्रमा के समान निर्मल क्रांति वाले और शुद्ध स्फटिक मणि के समान उस दिव्य दर्शन मुनि को अचानक आया हुआ ॥४७४॥

तं दृष्ट्वा सहसो स्थायरामः प्रीत्या कृतांजलिः। ननाम शिरसा भूमौ सीतया सह भक्तिमान् ॥४७५॥

अर्थ—देखकर श्रीरामचन्द्रजी अति शीघ्र आपने आसन से उठ हाथ जोड़ कर खड़े हुए और सीताजी के सहित प्रीति वा भक्ति के सहित पृथ्वी में शिर निवाय प्रणाम कर ॥४७५॥

उवाच नारदं रामः प्रीत्या परमया युतः। संसारिणां मुनिश्रेष्ठ दुर्लभ तव दर्शनम्। अस्माकं विषयासक्त चेतसां नितरांमुने ॥४७६॥

अर्थ—नारदजी से परम प्रसन्नता के साथ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा। हे मुनियों में श्रेष्ठ! संसारि लोगों को तो आपके दर्शन दुर्लभ हैं और हे मुने! विशेष करके विषय अर्थात माया मोह में जिनका चित्त आसक्त हो रहा है। ऐसे हम लोगों को तो आप का दर्शन होना अत्यन्त ही असम्भव है ॥४७६॥

अवाप्तं मे पूर्व जन्म कृतपुण्यमहोदयैः। संसारिणाऽपि हि मुने लभ्यते सत्समागमः ॥४७७॥

अर्थ—क्योंकि अवकाश न होने से धर्म की चिंता हम लोगों के मन से सम्पूर्णतः निवृत्त हो गई है तो भी पहिले जन्म के किये हुए महापुण्य के फलसे आपका दर्शन पाया है, हे मुने! संसारी मनुष्य भी पुण्य समूह के फल से साधुओं के संग को प्राप्त होते हैं ॥४७७॥

अतस्त्व दर्शनादेव कृतार्थोऽस्मि

मुनीश्वर। किं कार्यं तेमया कार्यं ब्रूहि तत्करवाणि भोः ॥४७८॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! आज मैं आपके दर्शनों से कृतार्थ हो गया हूं इस समय आपका कौनसा कार्य करना होगा सो आप आज्ञा दीजिये मैं उस काम को सिद्ध करता हूं ॥४७८॥

अथ तं नारदोऽप्याह राघवं भक्त वत्सलम्। किं मोहयसि मां राम वाक्यै र्लोकानुसारिभिः ॥४७९॥

अर्थ—परम ज्ञानी नारदजी भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्रजी का यह मनुष्य व्यवहार देखकर बोले—हे राम! मनुष्योंके समान वचन कह कर हम को मोहित काहे को करते हो ॥४७९॥

संसार्य हमितिप्रोक्तं सत्य मेतत्त्वया विभो। जगता मादिभूतायासा माया गृहणी तव ॥४८०॥

अर्थ—आप के प्रसाद से हम सर्व कुछ जानते हैं। हे प्रभो! आपने जो आपने को संसारी बताया है यह कहना भी आप का सत्य है कारण यह इस त्रिलोकी रूप बड़े भारी घर में केवल आप ही एक गृहस्थ हैं और समस्त संसार की आदि यह माया आप की घरवाली है ॥४८०॥

त्वत्सन्निकर्षाज्जायंते तस्यां ब्रह्मादयः प्रजाः। त्वदाश्रयासदाभाति माया या त्रिगुणात्मका ॥४८१॥

अर्थ—इस महामायारूप प्रकृत्ति के साथ आप का संग होने से ब्रह्मादि पुत्र पैदा हुए हैं। सत्वगुण रजगुण और तमोगुण वाली माया जो आपके अधीन है उसके ही गुणानुसार विष्णु जी सत्वगुण ब्रह्माजी रजोगुण और महादेवजी तमोगुण को प्राप्त हुए हैं ॥४८१॥

सूतेऽजस्रं शुक्लकृष्ण लोहिताः सर्वदा प्रजाः। लोकत्रये महागेहे गृहस्थस्त्व मुदाहृतः ॥४८२॥

अर्थ—सर्व ब्रह्मांड आप का गृह है आप प्रधान गृहस्थ हैं ॥४८२॥

त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्तं जानकी शिवा। ब्रह्मात्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा ॥४८३॥

अर्थ—आप विशुद्ध पुरुष सीतादेवी परम प्रकृति और पुरुष के सिवाय संसार में कुछ भी नहीं है। आप विष्णु हैं सीता लक्ष्मी है आप शिव हैं सीता पार्वती है। आप ब्रह्मा हैं जानकी जी सरस्वती है आप सर्व जगत में प्रकाश करने वाले सूर्य हैं सीता जी प्रभा है ॥४८३॥

भवां श्छशांकः सीता तु रोहिणी शुभ लक्षणा। शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहाऽनलोभवान् ॥४८४॥

अर्थ—आप चन्द्रमा हैं सीता जी सर्व शुभ लक्षण युक्त रोरिणी है आप इन्द्र हैं सीता शची है अर्थात् इन्द्राणी है आप अग्नि हैं सीता जी स्वाहा है ॥४८४॥

यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो। निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा ॥४८५॥

अर्थ—हे जगदीश्वर! आप समस्त प्राणीयों के कालरूपी यम हैं सीता संयमनी है, हे जगन्नाथ!

आप निर्ऋति हैं सीता जी तामसी है ॥४८५॥

रामत्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा । वायुस्त्वं राम सीता तु सदा गति रिति ॥४८६॥

अर्थ—हे राम ! आप वरुण हैं सीताजी भर्गवी है आप पवन हैं जानकीजी सादागती है ॥४८६॥

कुबेरस्त्वं राम सीता सर्व संपत्प्रकीर्तिता । रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोक नाशकृत् ॥४८७॥

अर्थ—हे राम ! आप कुबेर हैं तो सीताजी सर्व संपत्ति रूप है । आप साक्षात् सर्व संहारक रुद्रदेव हैं सीता जी रुद्राणी है ॥४८७॥

लोके स्त्री वाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा । पुमान् वाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं ही राघव ॥४८८॥

अर्थ—हे नाथ ! अधिक क्या कहूं संसार में स्त्री वाचक जो कुछ वह समस्त ही भगवती जानकी जी है । और पुरुष वाचक जो कुछ भी दिखलाई देता है वह सर्व ही हे राम ! आप ही हो ॥४८८॥

तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किंचन ॥४८९॥

अर्थ—हे देवदेव ! इस त्रिलोकी में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है । जो आप राम और सीता जी से दोनों से अलग हो ॥४८९॥

त्वदाभासो दिता ज्ञान मव्याकृत मितीर्यते । तस्मान्महांस्ततः सूत्रं लिंग सर्वात्मकं ततः ॥४९०॥

अर्थ—हे परमात्मन् ! आपके साथ सम्बन्ध होने से जगत् की उत्पत्ति करने वाली माया अव्याकृत कही जाती है । इस माया से महत्तत्त्व महत्तत्त्व से अहङ्कारादिकों की उत्पत्ति हुई है ॥४९०

अहंकारश्चबुद्धिश्च पंच प्राणेंद्रियाणि च । लिंगमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्म मृत्यु सुखादिमत् ॥४९१॥

अर्थ—पंडित लोग इस अहङ्कार से बुद्धि पंच प्राण पंच तन्मात्रा और पंच ज्ञानेन्द्रियों को ही जन्म मृत्यु सुख दुःखादि युक्त लिंग देह कहते हैं ॥४९१॥

स एजीव संज्ञश्च लोके भाति जगन्मयः । अवच्या ना द्यविद्यैव कारणो पाधि रुच्यते ॥४९२॥

अर्थ—इस लिंग शरीर में मिला हुआ आत्मा ही जीव रूप है । यही हिरण्यगर्भ रूप से प्रकाशित हो रहा है । यही अनर्वचनीय अनादि अविद्या . संसार का कारण रूप और शुद्ध ब्रह्म की उपाधि है ॥४९२॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्य मुपाधि त्रितयं चितेः । एतैर्विशिष्टो जीवाः स्याद्धि युक्तः परमेश्वरः ॥४९३॥

अर्थ—स्थूल सूक्ष्म कारण यह त्रितय शरीर रूप उपाधियों से संयुक्त होकर हे राम ! आप जीव संज्ञा को धारण करते हो । जब आप इन उपाधियों से रहित हो जाते हैं । तब शुद्ध परमेश्वर कहलाते हो ॥४९३॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या संसृतिर्या प्रवर्तते । तस्या विलक्षणः साक्षि चिन्मात्रस्त्वं रघूत्तम् ॥४९४॥ त्वत्त एव

जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम् ४९५

अर्थ—हे सर्व साक्षीन राम इस समस्त जगत में जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्था में समस्त प्राणी जो कार्य करते हैं। उन सर्व को आप द्रष्टा रूप से जानते हैं। इन सर्व कार्यों के साक्षी और फल देने वाले हो ॥४९४॥ आप से ही यह जगत उत्पन्न हुआ है आप में ही स्थित हो रहा है। और अन्त समय आप में ही लीन हो जावेगा इसलिये आपही सर्व के मूलकारण हो ४९५

रज्जावहि मिवात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवेत् । परमात्माऽहमिति ज्ञात्वा भयदुःखैर्विमुच्यते ॥४९६॥

अर्थ—भ्रम के वश होकर रज्जु में सर्प भ्रम की न्याईं ब्रह्म को जीव रूप से निश्चय करता है। जब शरीर के अधिष्ठान चेतन आप को साक्षात्कार करता है तब तत्काल ही समस्त भय निवृत हो जाते हैं ॥४९६॥

चिन्मात्र ज्योतिषा सर्वः सर्वदेहेषु बुद्धयः। त्वया यस्मात्प्रकाश्यंते सर्वस्या-त्माततोभवान् ॥४९७॥

अर्थ—हे राम! आप ही चिन्मात्र ज्योति स्वरूप हैं। सर्व देह में वर्तमान अन्तःकरणादि बुद्धि समूह के चलाने वाले साक्षी आप हैं इस कारण आप ही अन्तर्यामी रूप हैं ॥४९७॥

अज्ञानान्न्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजंगवत। त्वज्ज्ञाना लीयते सर्वं तस्मा-ज्ज्ञानं सदाभ्यसेत ॥४९८॥

अर्थ—अज्ञान के अधीन हुए जीव जैसे रज्जु में सर्प भ्रम को देखे है। वैसे ही मूढ लोग आप चिन्मय वस्तु को अज्ञान से आप के स्वरूप में इस समस्त संसार का अरोप करते हैं। परन्तु जब आप शरीर के अधिष्ठान साक्षी का ज्ञान होता है तब सर्व भ्रम निवृत्ति होजाता है। इस लिए सर्वदा काल ज्ञान का ही अभ्यास करना चाहिये ॥४९८॥

त्वत्पाद भक्ति युक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात्। तस्मात्वद्भक्ति युक्ताये मुक्ति भाजस्त एव ही ॥४९९॥

अर्थ—हे जगदीश्वर! आत्मज्ञान की प्राप्ति करने का और कोई उपाय नहीं है केवल आप के चरण कमल में एकांत भक्ति होने से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होसक्ती है आत्मज्ञान से मुक्ति होती है ॥४९९॥

अहं त्वद्भक्तिभक्तानां तद्भक्तानां च किंकरः । अतो मामनुगृह्णीष्वमोह यस्व न मां प्रभो ॥५००॥

अर्थ—मैं आप के भक्तानुभक्त और उन के भी भक्तों का दास हूं इस लिए मुझ पर अनुग्रह कीजिये । आपनी माया से बारंबार मुझ को मोहित न कीजिये ॥५००॥ तहां श्रुति—

तस्मादिदिंद्रोनामेदंद्रो हवै नाम तमिदिद्रं संत मिंद्रमित्या चक्षते। परो-क्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्ष-प्रिया इव हि देवाः ॥५०१॥

ऋग्वे० ऐ० उ० अ० १ खं० ३ मं० १४॥

अर्थ—या तैं सर्वांतर ब्रह्मको अपरोक्ष प्रत्यगात्मा रूप से देखता भया तातैं परमात्मा इदं इदं इदिंद्र हुए इंद्र नाम वाला होता भया। लोक विषे ईश्वर इंद्र नाम वाला प्रसिद्ध है । तिस ऐसे इंद्र हुए

परमात्मा को प्रत्यक्ष नाम ग्रहण के भय तैं सम्यक व्यवहार के वास्ते परोक्ष नाम सें इंद्र सें कहितै हैं या तैं देव परोक्ष प्रिय परोक्ष नाम ग्रहण से प्रीती वाला है । देव परोक्ष प्रिय की न्यांई है तब सर्व देवन का भी देव जो महेश्वर है परोक्ष प्रिय परोक्ष नाम ग्रहण सें प्रीति वाला है ॥५०१॥

ईश्वर उवाच—हे देवताओ ! जाग्रतादिक तीन अवस्थाओं की अपेक्षा करिकै जो तुरीय अवस्था है ता तुरीय अवस्था विषे आत्मा रूप ज्ञेय वस्तु ज्ञाता रूप योगी पुरुष सें भिन्न होइ कै प्रतीत होवै है। तिस मैं आत्मा के ज्ञान सें ही इस जीव को सर्व दुःखों की निवृत्ति रूप फल तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति होवै है। काहेतैं सो योगी पुरुषता योगाभ्यास के बल तैं संप्रज्ञात समाधि को तथा असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त होवै है। या समाधि विषे ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय तथा ध्याता ध्यान ध्येय या प्रकार की त्रिपुटी प्रतीत नहीं होवै है। तां समाधि का नाम असंप्रज्ञात समाधि है । और यां समाधि विषे सा त्रिपुटि प्रतीत होवै है ता समाधि का नाम संप्रज्ञात समाधि है । जिस काल विषे ता योगी पुरुष को त्रिपुटि के भान पूर्वक ब्रह्माकार वृत्ति होवै है। तिस काल विषे सो योगी पुरुष तुरीय अवस्था वाला कह्या जावै है । और जिस काल विषे सा त्रिपुटि मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप नाद विषे लयभाव को प्राप्त होवै है । तिस काल विषे सो योगी पुरुष तुरीयातीत अवस्था वाला कह्या जावै है तात्पर्य यह है कि ओंकार रूप प्रणव विषे अकार उकार मकार विंदु नाद यह पांच अवयव होवै हैं । अकार उकार मकार यह तीन अवयव तो यथाक्रम तैं विश्व तैजस प्राज्ञ या तीनों के वाचक होवै हैं और अर्द्ध मात्रा रूप जो विंदु नाद है ते विंदु नाद दोनों मैं परब्रह्म के वाचक होवै हैं । तिन दोनों विषे भी विंदु तो सविशेषब्रह्म का वाचक होवै है। और नाद निर्विशेष ब्रह्म का वाचक होवै है । हे देवतावो ! ऐसी तुरीयातीत अवस्था वाला अनेक विरक्त पुरुषों विषे भी किसी एक विरक्त पुरुष को ही प्राप्त होवै है । सर्व को प्राप्त होवै नहीं । या तैं सा तुरीया तीत अवस्था अत्यंत दुर्लभ है। तहां श्रुति।

अकारः प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति। मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति। विंदुः पंचमाक्षरो भवति। नादः षष्टाक्षरो भवति ॥५०२॥

रामोत्तरतापिन्युपनिषत् ॥ तहां श्लोक—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥५०३॥

गी० अ० ७ श्लोक ३ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मनुष्यों के अनेक सहस्रों विषे कोई एक मनुष्य ही ज्ञान की उत्पत्ति वास्ते प्रयत्न करै हैं और तिन प्रयत्न करने हारे अधिकारी मनुष्योंकै मध्य विषे भी कोई एक मनुष्य ही मैं परमेश्वर को वास्तव रूप करिकै जाने है ॥५०३॥ कैसा यह तुरीयात्मा है ताको साक्षात् श्रुति प्रतिपादन करे है । तहां श्रुति—

नांतः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्य मलक्षणमचिंत्य

मव्यपदेश्यमेकात्म्य प्रत्ययसारं प्रपंचो पशमं शांतं शिव मद्वैतं चतुर्थं मन्यंते स आत्मा स विज्ञेयः ॥५०४॥ माण्डूक्योप०

अर्थ—अंतः प्रज्ञा भीतर की प्रज्ञावाला नहीं बहिः प्रज्ञा बाह्य की प्रज्ञावाला नहीं। उभयता प्रज्ञा दोनों ओर की प्रज्ञावाला नहीं। प्रज्ञान धन नहीं प्रज्ञा नहीं अप्रज्ञ नहीं अदृष्ट है अव्यवहार्य है अग्राह्य है अलक्षण अचिंत्य है अव्यपदेश्य है कहने के योग्य नहीं जीव ईश्वर अभेद ज्ञानका सार है। प्रपंचके उपशमवाला है शांत है शिवस्वरूप है। अद्वितीय जो वस्तु है ताको चतुर्थपाद तुरीय ब्रह्मरूप करके महात्मा वेदव्यास वासिष्ठादिक मुनि मानते हैं। सो आत्मा है सो जानने योग्य है तिस के ज्ञान से परमानन्द की प्राप्ति सर्व अनर्थों की निवृत्ति होवे है ॥५०४॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि-सर्वस्य धिष्ठितम् ॥५०५॥

गी० अ० १३ श्लोक १७॥

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञेय ब्रह्म सूर्यादिक ज्योतियों का भी ज्योति है। जाग्रतादिक तीनों अवस्था रूप तम से परे कहा है। अथवा स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर रूप तम से परे है। तथा ज्ञान स्वरूप है तथा ज्ञेय स्वरूप है तथा ज्ञान करिकै प्राप्त होने योग्य है तथा सर्व स्थावर जंगम रूप प्राणियों की बुद्धि विषे साक्षी रूप करिकै स्थित है तिस साक्षी आत्मा के ज्ञान से ही जन्म मृत्यु प्रवाह से पार होसक्ता है ॥५०५॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः। तमेव विदित्वाऽति मृत्यु मेति नान्यः पंथा विद्यतेऽय नाय ॥५०६॥

श्वेताश्वे० उ० अ० ६ मं० १५॥

अर्थ—इस जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप भवन के मध्य विषे एक अद्वितीय ब्रह्म रूप हंस है। (एकमावस्था हत्वा अवस्थां तरं गच्छतितिहंसः) एक जाग्रत अवस्था को हनन करिकै दूसरी स्वप्न अवस्था को प्राप्त होवे जो वस्तु सो हंस कही जावे है। और यह जीव चैतन्य जाग्रत अवस्था अथवा स्थूल प्रपंचावस्था को हनन करिकै स्वप्नावस्था वा विराटावस्था का बीज रूप हिरण्यगर्भावस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ स्वप्न रूप सूक्ष्मावस्था को हनन करिकै कारणावस्था को प्राप्त होता है। पुनः गुरु उपदेश से (अहंब्रह्म परिपूर्णात्मास्मीति) इस बोध को प्राप्त हो करिकै सुषुप्ति अवस्था को और तिस के कारण अज्ञान को तथा अज्ञान जन्य द्वैत प्रपञ्च भ्रम को नाश करिकै परिपूर्ण ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है। इससे हंस नाम से कहते हैं। सोई (सलिले) प्रकृति तथा तिस के कार्य्य रूप वर्गमें (संनिविष्टः) स्थित हुआ अग्निवत होनेतैं अग्नि है। जैसे काष्ठ में वर्तमान अग्नि काष्ठों करिकै तिरस्कृत हुई मथनरूप उपाय से निकाली हुई उन काष्ठों को दग्ध करके शांत होती है। तैसे प्रकृति तथा तिसके कार्य्य में वर्तमान तिन से तिरस्कृत तुल्य हुआ जब गुरु शिष्य रूप दो लकड़ी से मथन करके प्रगट होता है। तब सर्व कारण कार्य्य वर्ग को दग्ध करके स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। इस वास्ते चिन्मात्र वस्तु को अग्नि शब्द से बोधन किया है। तिस चिन्मात्र वस्तु को जानकर (मृत्यु) जन्ममरण प्रवाह को (अत्येति) तरजाता है। (अयनाय) मोक्ष के

वास्ते (अन्यः पंथा न विद्यते) अन्यमार्ग नहीं है। तात्पर्य यह है पूर्वोक्त एक तत्व के ज्ञान से विना दूसरा कोई मोक्ष का रास्ता नहीं है ॥५०६॥

अब सिद्ध गीता जो राजा जनक ने श्रवण करके ज्ञान को प्राप्त किया था तिसको निरूपण करे हैं।

तहां श्लोक—श्रीवसिष्ठ उवाच।

अस्त्यस्तमितसर्वा यदुद्यत्संपदुदारधीः। विदेहात्मा महीपालो जनको नाम वीर्यवान् ॥५०७॥

अर्थ—श्रीवसिष्ठजी बोले। हे रामजी संपूर्ण आपत्तियों से रहित और सर्व प्रकार की सम्पत्तियों की उदयता को प्राप्त उदार बुद्धि पराक्रमी विदेहों का राजा जनक नाम था ॥५०७॥

कल्प वृक्षोर्थि सार्थानां मित्राब्जानां दिवाकरः। माधवो बन्धुपुष्पाणां स्त्रीणां मकरकेतनः ॥५०८॥

अर्थ—वह याचकों के समूह का कल्पवृक्ष मित्ररूप कमलों का सूर्य बन्धु रूप पुष्पों का बसंत ऋतु स्त्रियों को कामदेव रूप था ॥५०८॥

द्विज कैरवशीतांशुर्द्विषांतिमिरभास्करः। सौजन्य रत्नजलधि र्भुवि विष्णुरिवास्थितः ॥५०९॥

अर्थ—ब्राह्मण रूप कुमदों का चन्द्रमा शत्रु रूप अन्धकार का सूर्य और सुजनता रूप रत्नों का समुद्र और आप विष्णु के सदृश पालन के अर्थ अवतार लिये हुए महाराजा था ॥५०९॥

प्रफुल्लबालाति के मंजरी पुंजपिंजरे। सकदा चिन्मधौ मत्ते कोकिलालापलासिनि ॥५१०॥

अर्थ—कदाचित विकासित कोमल लताओं से शोभित तथा लता के पुजों से पिंजर के समान। और मत्त कोकिल के अलाप से नृत्य करते हुए के समान स्थित बसंत ऋतु में ॥५१०॥

ययौ कुसुमिताभोगं सुविलासलतांगमनम्। निलीयो पवनं कांतं नंदनं वासवो यथा ॥५११॥

अर्थ—पुष्पों से परिपूर्ण उत्तम विलासवती लता रूप अंगन सहित और अतिरमणीय बन में क्रीडा के लिये वह राजा जनक ऐसे गया जैसे आपने नन्दन वन में इन्द्र ॥५११॥

तस्मिन् वरवने हृद्ये केसरोद्दाममरुते। दूरस्थानुचरः सानु कुंजेषु विचचारह ॥५१२॥

अर्थ—रमणीक तथा केशरों से सुगन्ध युक्त शीत मन्द तथा सुगन्ध वायु से शोभित बन में आपने अनुचरों को दूरभाग के पर्वतों के कुंजों में विचरने लगा ॥५१२॥

विविक्त वासीनां नित्यं शैलकंदरचारिणाम्। इमः कमल पत्राक्ष गीतात्मभावनाः ॥५१३॥

अर्थ—हे कमल नेत्र राम जी! इसके अनंतर किसी तमाल बन में एक शाल्मिली वृक्ष के ऊपर सात सिद्ध अदृश्य एकांत निवासी और पर्वतों की कन्दराओं में विहार करने वाले सिद्धों से आपने प्रसंग से कही हुई और श्रुति स्मृति प्रतिपादित आत्मा का साक्षात्कार करने वाली इन वक्ष्यमाण गाथाओं को श्रवण किया ॥५१३॥

सिद्धाऊचुः—

द्रष्टृ दृश्य समायोगात्प्रत्ययानन्द निश्चयः। यस्तं स्वमात्म तत्वो त्थं निःस्पंदं समुपास्महे ॥५१४॥

अर्थ—सिद्ध बोले चक्षु आदिक इन्द्रियों के द्वारा स्रक चन्दन वनिता आदिक विषयों के संयोग से विषयाकार बुद्धि की वृत्ति में प्रसिद्ध जो आनन्द स्वरूप का निश्चय है उसी निरतिशय भूमानन्द से आविर्भूत आत्मस्वरूप को हम निर्विकल्प समाधि से बाह्य तथा अन्तःकरण की चेष्टा को रोक करके निरंतर अनुभव करते हैं ॥५१४॥ अन्ये उचुः—

द्रष्टृ दर्शन दृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शन प्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे ॥५१५॥

अर्थ—दूसरा सिद्ध बोला द्रष्टा दर्शन दृश्य रूप त्रिपुटी तथा वासना को त्याग करके चक्षु वा मानसिकादि वृत्ति के पूर्व ही चक्षु आदिक इन्द्रिय जनित अथवा मानसी ज्ञान के उत्पत्ति का साक्षी रूप से भासमान जो आत्मारूप हैं। हम उस आत्मा की नित्य उपासना करते हैं ॥५१५॥ तद्दांश्रुति—

द्रष्टृ दर्शन दृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शन प्रथमा भासमात्मानं केवलं भज ॥५१६॥ मैत्रे० उ० अ० २ मं० २९

अर्थ—द्रष्टा दर्शन दृश्य इस त्रिपुटि के सहित वासना को त्याग करके जो द्रष्टा दर्शन दृश्य इस त्रिपुटि का प्रकाशक और त्रिपुटि से प्रथम भासमान अद्वितीय आत्माको भजो ॥५१६॥ अन्ये उचुः—

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमास्ति नास्तिपक्षयोः। प्रकाशनं प्रकाश्यानामात्मानं समुपास्महे ॥५१७॥

अर्थ—दर्शन चक्षु आदिक ज्ञान के प्रथम भासमान साक्षी रूप की सत्ता के विषय में जो अस्ति नास्ति है उनकी भी अस्तिता तथा नास्तिता साक्षी विना प्रगट नहीं होसक्ती इसलिये अस्ति नास्ति इन दोनों पक्षों में साक्षी रूप से चिन्मात्र आत्म तत्व की हम नित्य उपासना करते हैं ॥५१७॥ अन्ये उचुः—

यस्मिन् सर्वं यस्यसर्वं यतः सर्वं यस्मायिदम्। येन सर्वं यद्धि सर्वं तत्वसत्यं समुपास्महे ॥५१८॥

अर्थ—जिस परमात्मा में सर्व कुछ है जो सर्व का स्वामी है जो सर्व की उत्पत्ति का अधिभूत है जिसके वास्ते सर्व कुछ है अर्थात् जगत संघात पुरुष के वास्ते है जो सर्व का कारण है और परमार्थ से सत्यरूप है जो सम्पूर्ण जगत के व्यवहार का निरवाहिक है तथा सर्व रूप है हम उस सत्यरूप परमात्मा की उपासना करते हैं ॥५१८॥ अन्ये उचुः—

अशिरस्कं हकारांतमशेषाकारसंस्थितम्। अजस्रमुच्चरंतं स्वंतमात्मानुपास्महे ॥५१९॥

अर्थ—सकार है जिसके आदि में और हकार है जिसके अन्त में ऐसे सोऽहंपद के वाच्य और अशेष वस्तुओं के प्रकाशक जो वेदशास्त्रादि शब्द जाल के प्रकृतिभूत सम्पूर्ण अक्षरों का अकार से आदि लेके हकारांत समुदाय के अन्तरगत होने से सर्व का स्वरूप से संस्थित अथवा हनन के अयोग्य सर्वत्र व्याप्त वा

जिस में आकार का शेष नहीं है ऐसे निर्गुण ब्रह्म में स्थित और क्रियमाण व्यवहारों में निरंतर अहंकार की उपाधि के त्याग सें अहंपद के लक्षार्थ आपने आत्म स्वरूप की हम उपासना करते है ॥५१९॥ अन्ये उचुः—

संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयांतिये । ते रत्नमभि वांछति त्यक्तहस्तस्थितकौस्तुभाः ॥५२०॥

अर्थ—हृदय रूपी गुहा का स्वामी (अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः) इस श्रुति के अनुसार अंगुष्ठ मात्र सर्व का अंतरात्मा पुरुष सर्व स्थावर जंगम जीवों के हृदय में प्रविष्ट है । ऐसे आत्मदेव को त्याग करिकै जो अन्य देवके पानेकी इच्छा करता है। वोह पुरुष हस्त में स्थित कौस्तुभमाणि को त्याग के अन्य रत्नों के पाने की इच्छा करता है ॥५२०॥

सर्वाशाः किल संत्यज्य फलमेतदवाप्यते। येनाशा विषवल्लीनां मूलमाला विलूयते ॥५२१॥

अर्थ—संपूर्ण आशाओं को त्याग करिकै हृदय में स्थित ज्ञान स्वरूप ब्रह्म प्राप्त होता है। और जिस निरतिशयानंद के लाभ सें आशा रूप विष की लताओं की भूल माला हृदय की ग्रंथीयों का मूल ही छिन्न हो जाता है ॥५२१॥ अन्ये उचुः—

बुद्धाप्यत्यंत वैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः । बध्नाति भावनां भूयो नरो नासौ स गर्दभः ॥५२२॥

अर्थ—जो पुरुष पदार्थों विषे अत्यंत निरसताको जानकर भी पुनः पदार्थों विषे भावना करता है वह दुर्बुद्धि पुरुष नहीं है किंतु गदहा है ॥५२२॥ अन्ये उचुः—

उत्थिता नुत्थितानेता निंद्रियाहीन्पुनः पुनः । हन्याद्विवेकदंडेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥५२३॥

अर्थ—जब २ इंद्रिय रूप सर्प उत्थान होवै तब उनको विवेक रूप दंड सें ऐसे नाश करै जैसे इंद्र वज्र सें पर्वतों को ॥५२३॥ अन्ये उचुः—

उपशम सुखमाहरेत्पवित्रं सुशमवतः शममेति साधु चेतः । प्रशमित मनसः स्वके स्वरूपे भवति सुखेस्थिति रुत्तमा चिराय ॥५२४॥

अर्थ—बाह्य तथा अंतर इंद्रियों के व्यापारों के उपशम सें विक्षेप जनित दुःख के अभाव सें आत्म सुख को संपादन करना चाहिये और मन के उपशम सें ईंधन रहित अग्नि के समान चित्त भली भांति शांत हो जाता है और जिस का चित्त शांत हो गया है उस की सुख रूप परमार्थ भूत आपने आत्मा में चिरकाल के लिये उत्तम स्थिति होती है ॥५२४॥ उपशम प्र० स० ८ । राजा जनक का निश्चय—

एतावंत मिमं कालं मनोमुक्ता फलं मम । अविद्ध मासीदधुना विद्धंतु गुणमर्हति ॥५२५॥

अर्थ—इतने कालतक यह मेरा मन रूप मुक्ता फल विधा नहीं था अब तो विधा है गुणों के योग्य हुआ है ॥५२५॥

मनस्तुषारकणिका विवेकातपेनमे । चिरप्रवृत्तये नूनमाचिरालय मेष्यति ५२६

अर्थ—मन रूपी तुषार की कणिका मेरे

विवेक रूपी सूर्य्य के ताप सें अनादि ब्रह्म तत्त्व में प्रतिष्ठा के लिये चिरकाल वास्ते लय को प्राप्त होगा ॥५२६॥

विविधैः साधुभिः सिद्धैरहं साधु प्रबोधतः। आत्मान मनुगच्छामि परमानंद साधनम् ॥५२७॥

अर्थ—साधु तथा सिद्ध महात्माओं के अनेक प्रकार के उपदेशों सें बोधित मैं परमानंद के साधनी भूत पर ब्रह्म की शरण में प्राप्त होता हूं ॥५२७॥

आत्मान मणि मेकांते लब्ध्वैवा-लोकयन्सुखम्। तिष्ठाम्यस्तामतान्येहः शारदी वाचलेंबुदः ॥५२८॥

अर्थ—आत्मा रूपी मणि को हृदय रूप गले में पहिर करिकै उस को देखता हुआ अन्य चेष्टाओं को त्याग करिकै हिमालयादिक पर्वतों के ऊपर मेघ के समान एकांत में सुख पूर्वक स्थित होवेगा ॥५२८॥

अयमह मिदमाततं ममेति स्फुरत मपास्य बलादसत्यमंतः। रिपुमति बलिनं मनोनिहत्य प्रशममुपोमि नमो-स्तुते विवेक ॥५२९॥ उपशम प्र० स० ९॥

अर्थ—यह शरीर मैं हूं यह राजादि मेरा है इत्यादि असत्य जो स्फुर्ति है तिनों को बल सें निकाल के अति बली मन रूप शत्रु को मार करिकै विवेक के द्वारा सप्तम भूमि का रूप शांति में स्थित होवोगा इस लिये हे विवेक तुम को नमस्कार है ॥५२९॥ तहां श्रुति—

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते। तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात्प्रज्ञया परया विधे ॥५३०॥

योगशिखोपनिषत् अ० ६ मं० ५८॥

अर्थ—महादेव जी बोले हे ब्रह्मा! चित्त के चलायमानता सें जन्म मरण रूप संसार है। और चित्त की स्थिरता सें मोक्ष होती है। तिस कारण सें परम बुद्धिमान मुक्ति की इच्छावान पुरुष मन को स्थित करै ॥५३०॥

मनोहं गगनाकारं मनोहं सर्वतो-मुखम्। मनोहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥५३१॥

योगशिखोपनिषत् अ० ६ मं० ६०॥

अर्थ—मन ही आपका आकार को प्राप्त होता है। तथा मन ही सर्व कार्य करने में मुख कारण है। तथा मन ही सर्वात्मा प्रत्यक्ष रूप है। केवल मन ही सर्व रूप है और नहीं है ॥५३१॥

मनः कर्माणि जायंते मनोलिप्यति पातकैः। मनश्चेदुन्मनीभूयान्न पुण्यं न च पातकम् ॥५३२॥

योगशिखोपनिषत् अ० ६ मं० ६१॥

अर्थ—मन सें ही सर्व कर्म उत्पन्न होते हैं। तथा मन ही सर्व पापों में लिपायमान होता है। तथा यदि मन अमनीभाव को प्राप्त होता है। अर्थात् जब मन वासना सें रहित होता है तब ना पुण्य है ना पाप है ॥५३२॥

मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत्। ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥५३३॥

योगशिखो० अ० ६ मं० ६२॥

अर्थ—जिस काल में मन को अमनीभाव देखता है अर्थात इस लोक के भोगों की

वासना सें रहित तथा ब्रह्म लोक के भोगों की वासना सें रहित हो जाता है। सर्व प्रकार की वृत्तियों से शून्य हो जाता है। तिस सें परं परब्रह्म का साक्षात्कार होता है सो दुर्लभ है ॥५३३॥

चित्तं कारण मर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम्। तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥५३४॥

योगशिखो० अ० ६ मं० ५९ ॥

अर्थ—मन सर्व पदार्थों का कारण है तथा तीनों लोकों का सो मन ही कारण है। तिस मन के नाश सें जगत भी नाश हो जाता है तिस मन की चिकित्सा अत्यंत प्रयत्न सें करनी चाहिये ॥५३४॥

ईश्वरोवाच—हे देवताओ! अन्तरमुख का नाम मोक्ष है। और वाह्य मुख का नाम बन्ध है। सो अन्तरमुखपणा सर्वदा कारण विषे ही रहै है। और वाह्यपणा सर्वदा कार्य विषे ही रहै है। अब मैं परम कारणरूप परमात्मादेव विषे मोक्ष रूपता सिद्ध करने वास्ते प्रथम कारणों की परंपरा निरूपण करै हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गंध यह पांच विषय अकाशादिक पंच भूतों का सार रूप हैं। या तैंते शब्दादिक पंच विषय अकाशादिक पंच भूत रूप करिकै श्रोत्रादिक पंच ज्ञान इन्द्रियों के कारण हैं। यां कारणतैं तिन श्रोत्रादिक इंद्रियों तैं ते शब्दादिक विषय पर हैं। अर्थात् श्रेष्ठ हैं। और तिन श्रोत्रादिक इन्द्रियों के शब्दादिक विषयों के ग्रहण करने विषे यह मन ही प्रवृत्ति करै है। या तैं जैसे समुद्र लहरीयों का कारण होवे है। तैसे शब्दादिक विषय भाव को प्राप्त हुए जो श्रोत्रादिक इंद्रिय हैं तिनों का यह मन ही कारण है। यातैं सो मन तिन शब्दादिक विषयों तैं परे है। तात्पर्य यह है जैसे शब्दादिक विषया काशादिक भूत रूप करिकै श्रोत्रादिक इंद्रियों तैं परे हैं। तैसे श्रोत्रादिक इंद्रिय भाव को प्राप्त हुए जो शब्दादिक विषय हैं तिन शब्दादिक विषयों तैं मन को भी परे रूपता संभवे है। और मेरे को सुख की प्राप्ति होवे मेरे को दुःख की प्राप्ति नहीं होवे। या प्रकार की इच्छा रूप सो मन है। या तैं सो इच्छारूप मन आपनी उत्पत्ति वास्ते निश्चय रूप बुद्धि की अवश्य अपेक्षा करे है। निश्चयरूप बुद्धि तैं बिना इच्छा की उत्पत्ति होवे नहीं या तैं सा निश्चयरूप बुद्धि तां इच्छारूप मन का कारण है। यां कारण तैं ही सा निश्चय रूप बुद्धि तां इच्छा रूप मन तैं पर है। और सा निश्चय रूप व्यष्टि बुद्धि भी आपनी उत्पत्ति विषे समष्टि रूप हिरण्यगर्भ की बुद्धि की अपेक्षा करे है। सो हिरण्यगर्भ की बुद्धि सर्व स्थूल जगत् का निमित्त कारण है। तथा जा बुद्धि को श्रुति विषे महत्तत्त्व या नाम करिकै कथन करा है। या तैं ताव्यष्टि बुद्धि का हिरण्यगर्भ की महत्तत्त्व नामा समष्टि बुद्धि कारण है। यां कारण तैं ही ता व्यष्टि बुद्धि तैं सा महत्तत्त्व नामा समष्टि बुद्धि परहै। और सो महत्तत्त्व रूप समष्टि बुद्धि भी आपनी उत्पत्ति विषे माया सहित समष्टि सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा करे है। कैसा है सो माया सहित समष्टि सूक्ष्म शरीर यां स्थूल शरीर तैं विलक्षण है। या तैं ता सूक्ष्म शरीर को श्रुति विषे अव्यक्त या नाम करिकै कथन करा है। या तैं ता महत्तत्त्व रूप समष्टि बुद्धि का सो माया सहित सूक्ष्म शरीर रूप अव्यक्त कारण है यां कारण तैं ही ता महत्तत्त्व रूप समष्टि बुद्धि तैं सो अव्यक्त पर है। और सो अविद्या रूप माया आपने आश्रय

विषय की प्राप्ति वास्ते मैं चेतन रूप पुरुष की अपेक्षा करे है। यां कारण तैं ता अविद्या रूप माया तैं मैं चेतन रूप पुरुष पर हूं। और मैं चेतन रूप पुरुष आपनी उत्पत्ति विषे तथा आपने ज्ञान विषे किसी दूसरे की अपेक्षा करता नहीं। या कारण तैं मैं चेतन पुरुष के बोध करावने वास्ते ही शास्त्र वेत्ता पुरुषों ने इन्द्रियों तैं आदि लेके मैं चेतन पुरुष पर्यंत यह कारणों की परंपर कथन करी है। तहां श्रुति—

इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धे रात्मा महान्परः ॥५३५॥ महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषाः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥५३६॥

कठ उ० अ० १ वल्ली ३ मं० १०—११

अर्थ—पूर्व कही रीती से श्रोत्रादिक इंद्रियों से शब्दादिक अर्थ पर है। और तिन शब्दादिक अर्थों तैं मन पर है। और तिस मन तैं व्यष्टि बुद्धि पर है। और ता व्यष्टि बुद्धि तैं महत्तत्त्व रूप समष्टि बुद्धि पर है। और ता महत्तत्त्व रूप समष्टि बुद्धि तैं अव्यक्त पर है। और ता अव्यक्त तैं चेतन पुरुष पर है। और ता चेतन पुरुष तैं परे कोई वस्तु नहीं। किंतु सो चेतन पुरुष ही काष्टारूप है तथा परागति रूप है ॥५३५-५३६॥

आकाशमेकं संपूर्ण कुत्र चिन्नैव गच्छति। तद्वत्स्वात्मविभुत्वज्ञा कुत्र चिन्नैव गच्छति ॥५३७॥

ब्रह्म गी० अ० ७ श्लोक ८० ॥

अर्थ—जैसे आकाश एक है सर्वत्र पूर्ण है किसी जगा आता जाता नहीं। तैसे ही आपना आत्मा विभू है ऐसा निश्चय करने से किसी जगा में आता जाता नहीं है ॥५३७॥

इंद्रियाणि पाराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धेः पर-तस्तुसः ॥५३८॥ गी० अ० ३ श्लोक ४२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन वेद की श्रुतियां इस स्थूल शरीर तैं श्रोत्रादिक इंद्रियों को पर कहे हैं। तथा तिन इंद्रियों तैं मन पर है तथा ता मन तैं बुद्धि पर है और जो बुद्धि तैं भी परे स्थित है सोई ही परमात्मा है ॥५३८॥

ईश्वर उवाच—हे देवताओ ! मैं स्वयं प्रकाश चेतन पुरुष रूप संवित ही तुम ने सर्व तैं परे जानना। दिशा कालादिकों के कल्पना का भी अधिष्ठान रूप हूं। तथा सर्व जगत का विवर्त उपादान कारण हूं। तहां श्रुति—

ब्रह्मैव सर्वं नामानि रूपाणिविवि-धानि च। कर्मण्यपि समग्राणि बिर्भ-तीति विभावय ॥५३९॥

योग शिखोप० अ० ४ मं० ६ ॥

अर्थ—नाना प्रकार का सर्वनाम रूप प्रपञ्च ब्रह्म से ही सुवर्ण से भूषण की न्याई उत्पन्न हुआ है। तथा समग्र कर्म भी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। तथा सर्व भाव पदार्थ ब्रह्म की सत्ता स्फुरती से भासमान है ॥५३९॥

सुवर्णाज्जाय मानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्। ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत ॥५४०॥

योग शिखोप० अ० ४ मं० ७ ॥

अर्थ—जैसे सुवर्ण से उत्पन्न भूषण सुवर्ण रूप ही हैं। तैसे ब्रह्म से उत्पन्न यह नाम रूप जगत ब्रह्म रूप ही है ॥५४०॥

स्वुल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमा-

त्मनोः । यस्तिष्ठति विमूढात्मा भयं तस्यापि भाषितम् ॥५४१॥

योग शिखोप० अ० ४ मं० ८ ॥

अर्थ—जो मूढात्मा आपनें आत्मा में तथा परमात्मा व स्वल्प भी अन्तरा करता है जिस जगा में स्थित है तिस को भये होवेगा यह कहिते हैं ॥५४१॥

यथामृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा । शुक्तौ हि रजत ख्यातिर्जीव शब्दस्तथा परे ॥५४२॥

योग शिखोप० अ० ४ मं० १४॥

अर्थ—जैसे मृत्तिका में घट नाम है तथा सुवर्ण में कडाकुण्डलादिक नाम हैं तथा जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीती होती है तैसे परब्रह्म में जीव शब्द है ॥५४२॥

यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले। पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥५४३॥ योगशिखोप०अ०४मं०१५

अर्थ—जैसे अकाश में नीलता है तथा जैसे मारूस्थल में जल प्रतीती होता है । तथा जैसे स्थाणु में पुरुष भ्रम होता है । तैसे ही चेतन आत्मा में विश्व की प्रतीती है ॥५४३॥

यथैव शून्यो वेतालो गंधर्वाणां पुरं यथा। यथा काशे द्वि चन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थितिः ॥५४४॥

(योगशिखोप० अ० ४ मं० १६)

अर्थ—जैसे शून्य में बालक को वेताल भ्रम होता है तथा जैसे अकाश में गंधर्व नगर प्रतीत होता है । जैसे अकाश में द्वि चंद्रमा प्रतीत होते हैं तैसे ही सत्य ब्रह्म में जगत् स्थित है ॥५४४॥

यथा तरंगकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम् । घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्नाहितं तवः ॥५४५॥

(योगशिखोप० अ० ४ मं० १७)

अर्थ—जैसे जल में तरंग जल से भिन्न नहीं जलरूप ही स्फुरती है तथा जैसे पृथ्वी में घटनाम है तथा जैसे तन्तु में पटनाम है तैसे ब्रह्म में जगत है ॥५४५॥

जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् । यथावंध्या सुतोनास्ति यथा नास्ति मरौ जलम् ॥५४६॥

(योगशिखोप० अ० ४ मं० १८)

अर्थ—जैसे वंध्या का पुत्र नहीं है जैसे मारुस्थल में जल नहीं है । तैसे ही ब्रह्म में जगत नाम से भासता है सर्व नाम रूपात्मक जगत् केवल ब्रह्म रूप ही है ॥५४६॥

गृह्यमाणे घटेयद्वन्मृत्तिकाभातिवैबलात् । वीक्ष्यमाणे प्रपंचे तु ब्रह्मैवा भातिभासुरम् ॥५४७॥

(योगशिखोप० अ० ४ मं० १९)

अर्थ—जैसे घटके ग्रहण काल में ही मृत्तिका का बलातकार से ज्ञान होता है । तैसे इस प्रपंच के देखने से ही ब्रह्म का बलातकार से ज्ञान होता है ॥५४७॥

मैं चेतन रूप संवित तें परे कोई गति नहीं है । काहेतें श्रोत्रादिक इन्द्रियों तें शब्दादिक अर्थ पर हैं । और शब्दादिक अर्थों तें मन पर है मनतें बुद्धि पर है । यां प्रकार की काणों की परम्परा मैं चेतन पुरुष पर्यंत ही प्राप्त होवे है । मैं चेतन पुरुष तें परे कोई कारणों की परम्परा

जावे नहीं। यां कारण तें श्रुतिभगवति मैं चेतन पुरुष को परमकाष्ठा यां नाम करके कथन करे है। और मैं चेतन पुरुष विषे कोई कारण है नहीं। यातें मैं चेतन पुरुष तें परे कोई दूसरी गति है नहीं। या कारण तें श्रुतिभगवति मैं चेतन पुरुष को परमगति या नाम करके कथन करे है। और हे देवताओ जैसे अग्नि सर्व काष्ठों विषे गुह्य होइके रहे है। तैसे मैं आत्मादेव भी सर्व शरीरों विषे गुह्य होइके रहूं हूं। और जैसे तिन काष्ठों के मथन रूप उपाय से पूर्व सो अग्नि तिन काष्ठों विषे प्रतीत होवे नहीं। तैसे ब्रह्म वेत्ता गुरू के उपदेश तैं पूर्व मैं आत्मादेव भी या शरीरों विषे स्पष्टरूप करके प्रतीत होवौं नहीं। और जैसे तिन काष्ठों के मथन तैं सो अग्नि प्रत्यक्ष होवे है। तैसे ब्रह्मवेत्ता गुरू ने उपदेश करे जो तत्त्वमसि आदिक महावाक्य हैं तिन महावाक्यों तें उत्पन्न भई जा ब्रह्माकार रूप सूक्ष्मबुद्धि है तां सूक्ष्मबुद्धि करके यां अधिकारी पुरुषों को मैं ब्रह्मात्मादेव स्पष्ट प्रतीत होवौं हूं। तहांश्रुति—

एकाग्रमनसा योमां ध्यायंते हरि मव्ययम्। हृत्पंकजे च स्वात्मानं स मुक्तो नात्र संशयः ॥५४८॥

(वासुदेवोपनिषद्)

अर्थ—जो पुरुष मैं परमात्मादेव को एकाग्रमन करके आपने हृदय रूपीकमल में आपना आत्मारूप से ध्यान करता है सो पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं है ॥५४८॥

मद्रूपमद्वयं ब्रह्म आदि मध्यांत वर्जितम्। स्वप्रभं सच्चिदानंदं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥५४९॥

(वासुदेवोपनिषद्)

अर्थ—आदि मध्य अन्त से रहित जो अद्वितीय ब्रह्म रूप मेरे स्वरूप को स्वयं प्रकाश सत चित् आनन्द अव्यय को भक्ति से जानता है सो मुक्त होता है ॥५४९॥

एको विष्णुरनेकेषु जङ्गम स्थावरेषु च। अनुस्यूतो वसत्यात्मा भूतेष्वह मवस्थितः ॥५५०॥ (वासुदेवोपनिषद्)

अर्थ—एक सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित जो विष्णु है सो स्थावर जंगम रूप चारो खाणी अनेक में सर्व का आत्मा रूप सें अनुस्यूयत है सर्व भूतो विषे मैं स्थित हूं। तथा सत्यरूप हूं ॥५५०॥

तैलंतिलेषु काष्टेषु वह्निः क्षीरेघृतं यथा। गंधः पुष्पेषु भूतेषु तथात्मावस्थितोह्यहम् ॥५५१॥ (वासुदेवोपनिषद्)

अर्थ—मैं वासुदेव सर्व प्राणियों में ऐसे स्थित हूं जैसे तिलों में तैल है तथा काष्ठों में अग्नि है तथा जैसे दूध मैं घृत है तथा पुष्पों में गन्ध है तैसे सर्वभूतों विषे मैं आत्मा निश्चय करके स्थित हूं ॥५५१॥

चिज्जडानां तु योद्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानाविग्रहः। स एवहि महादेव सएवहि महाहरिः ॥५५२॥ (स्कंधोपनिषद्। मं० ४।)

अर्थ—जो चेतन तथा जड़ का द्रष्टा है सो अच्युत ज्ञान रूप विग्रहः है। तथा सोई ही महादेवरूप है तथा सोई ही महाहरिः महाविष्णुरूप है ॥५५२॥

स एव ज्योतिषां ज्योतिः स एव परमेश्वरः स एव ही परब्रह्म तद्ब्रह्माहं न संशय ॥५५३॥ (स्कंदोपनिषद् मं० ५)

अर्थ—सोई ही ज्योतियों का ज्योति है सोई ही परमेश्वर है। तथा सोई ही परब्रह्म है सो परब्रह्म मैं हूं इसमें संशय नहीं है ॥५५३॥

जीवः शिवः शिवोः जीवः स जीवः केवलः शिवः । तुषेण बद्धो ब्रीहिः स्यात्तु षाभावेन तण्डुलः ॥५५४॥

(स्कंदोपनिषद् मं ६।)

अर्थ—जीव शिव है शिव जीव है सो जीव केवल शिव है जैसे तुष करके बन्धायमान ब्रीही है तुषाभावेन तण्डुलः तुषके आभाव से चावल होता है ॥५५४॥

एवं बद्धस्तथा जीवः कर्म नाशे सदाशिवः । पाश बद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥५५५॥

(स्कंदोपनिषद् मं० ७)

अर्थ—कर्मों से बन्धाय मान जीव है तथा निश्चय करके कर्मों के नाश से सदैव काल जीव शिव है। कर्म रूपी पाश से बन्धाय मान जीव है। तथा कर्मरूपी पाश से मुक्त सदैव काल शिव है ॥५५५॥

शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे । शिवस्य हृदयं विष्णु र्विष्णो-श्चहृदयं शिवः ॥५५६॥ स्कंदोपनिषद् मं० ८

अर्थ—शिव विष्णु रूप है विष्णु शिवरूप है । शिव का हृदय विष्णु है तथा विष्णु का हृदय शिव है ॥५५६॥

एष सर्वेषु भूतेषु गुढो आत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दार्शिभिः ॥५५७॥

कठोप० अ० १ वल्ली २ मं० १२॥

अर्थ—सर्व भूतों विषे गुह्य होइकै रह्या हुआ यह आत्मा देव यद्यपि विचार हीन पुरुषों को स्पष्ट प्रतीत होवै नहीं । तथापि गुरू के उपदेश तैं उत्पन्न भई जो ब्रह्मा कार सूक्ष्म बुद्धि की वृत्ति है ता वृत्ति करिकै सूक्ष्म दर्शि अधिकारी पुरुषों नैं यह आत्मादेव स्पष्ट देखता है ॥५५७॥

ज्ञान पूर्वक विचार का स्वरूप—

कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्त्तास्य विद्यते । उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥५५८॥

अर्थ—मैं कौन हूं यह संसार किस प्रकार उत्पन्न हुआ है कौन इस जगत का कर्त्ता है। और संसार का उपादान कारण कौन है। इस प्रकार नाना प्रकार का जो विवेक रूप विचार है सो विचार है ॥५५८॥

नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्ष-गणास्तथा । एतद्विलक्षणः किश्चिद्वि-चारः सोऽयमीदृशः ॥५५९॥

अर्थ—भूतगण समष्टि रूप देह नहीं हूं मैं समष्टि इंद्रियों का समूह नहीं हूं इन सें विलक्षण कोई हूं। सो विचार कहाव है ॥५५९॥

अहमेकोपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः । तदहं नात्र संदेहो विचारः सोऽयमीदृशः ॥५६०॥

अर्थ—अहं शब्द का वाच्यार्थ अद्वितीय आत्मा अति सूक्ष्म जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं का साक्षी नित्य मुक्त अविनाशी ब्रह्म मैं हूं। इस में कोई संदेह नहीं है । इस प्रकार जो

तत्त्व का निर्णय है सो विचार कहावै है ॥५६०॥

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः । तयो रैक्यं प्रपश्यंति किमज्ञान मतः परम् ॥५६१॥

अर्थ—आत्मा निष्कल है अर्थात अवयव हीन है इसी वास्ते एक है और देह बहुत अवयवों सें बनी है । तब भी संसारी बंधन में फंसे हुये पुरुष आत्मा और देह की एकता करिकै व्यवहार करते हैं इस सें अधिक क्या अज्ञान होगा ॥५६१॥

आत्मा नियामकश्चांतर्देहो बाह्यो नियम्यकः । तयो रैक्यं प्रपश्यंति किमज्ञान मतः परम् ॥५६२॥

अर्थ—आत्मा अंतर स्थित है और प्रेरणा करने वाला है देह बाह्य है तथा प्रेर्य है तब भी संसारी बंधन में फंसे हुये अज्ञानी जीव देह और आत्मा की एकता करिकै व्यवहार करै हैं इस में अधिक और क्या अज्ञान है ॥५६२॥

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांस मयोऽशुचिः । तयो रैक्यं प्रपश्यंति किमज्ञान मतः परम् ॥५६३॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान मय पवित्र है और देह मांस रुधिर अस्थि चर्बी मज्जा इत्यादिकों सें बना हुआ है इसी कारण अपवित्र है तबी भी संसारी बंधन में फंसे हुये अज्ञानी जीव देह और आत्मा की एकता करिकै व्यहार करै हैं इस सें अधिक और क्या अज्ञान होगा ॥५६३॥

अपरोक्षानुभूति—

आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते । तयो रैक्यं प्रपश्यंति किमज्ञानमतः परम् ॥५६४॥

अर्थ—आत्मा सर्व का प्रकाशक है अर्थात सूर्य्यादिक ज्योतियों का भी ज्योति स्वरूप है और अविद्या मल सें रहित स्वच्छ है अर्थात जिस आत्मा में स्थावर जंगम रूप सृष्टि मारू मरीचिकाकी न्यांई प्रतीत होती है । वास्तव में आत्मा निर्मल है और देह सदैव तमोगुण करिकै युक्त है तबी भी संसारी जीव देह तथा आत्मा की एकता करिकै व्यवहार करै हैं । इस सें अधिक और क्या अज्ञान होगा ॥५६४॥

आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः । तयो रैक्यं प्रपश्यंति किमज्ञान मतः परम् ॥५६५॥

अर्थ—आत्मा नित्य है व्यापक है अर्थात आदि मध्य अंत करिकै रहित है इस वासतैं सत चित् आनंद स्वरूप एक रस है और देह अनित्य उत्पत्ति नाशवाली है देह बालक होवै है युवा होवै है वृद्ध होवै है तथा रोगी होवै है तथा सुख दुःख करिकै ग्रस्त रहै है । तो भी संसारी अज्ञानी जीव देह और आत्मा की एकता करिकै व्यवहार करैं हैं । इस सें अधिक और क्या अज्ञान होगा ॥५६५॥

ज्ञान का स्वरूप—

ब्रह्मैवाहं समः शांतः सच्चिदानंद लक्षणः । नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञान मित्युच्यते बुधैः ॥५६६॥

अर्थ—मैं सम एक रस सर्व में व्यापक ब्रह्म हूं । तथा शांत निर्विकार हूं मैं त्रैकाल विद्यमान चेतन रूप ब्रह्म हूं मैं नाशवान देह नहीं हूं । इस प्रकार ज्ञान को महात्मा जन तत्त्व ज्ञान कहै हैं ॥५६६॥

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यमुक्तोऽहम हम च्युतः। नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञान मित्युच्यते बुधैः ॥५६७॥

अर्थ—मैं रजो सतो तमो गुण सें रहित हूं। तथा क्रिया तैं रहित हूं नित्य हूं नित्य मुक्त हूं अच्युत अर्थात सर्वदा परिणाभाव सें रहित हूं ज्ञान स्वरूप हूं मैं नाशवंत देह नहीं हूं। इस प्रकार ज्ञान को महात्मा जन तत्त्व ज्ञान कहै हैं ॥५६७॥

निरामयो निराभासो निर्विकल्पो ऽहमाततः। नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञान मित्युच्यते बुधैः ॥५६८॥

अर्थ—मैं रोग रहित हूं मुझे फल की अभिलाषा नहीं है। मैं कल्पना रहित हूं और मैं सर्व व्यापी हूं मैं नाशवान देह नहीं हूं इस प्रकार ज्ञान को महात्मा जन तत्त्व ज्ञान कहै हैं ॥५६८॥

निर्मलो निश्चलोऽनंतः शुद्धोऽहम जरोऽमरः। नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञान मित्युच्यते बुधैः ॥५६९॥

अर्थ—मैं अविद्या मल तैं रहित निर्मल हूं अर्थात सर्व दोष तै रहित हूं और चलायमानता सें रहित अचल हूं तथा अनंत हूं अर्थात देश काल वस्तु के परिच्छेद सें रहित हूं तथा शुद्ध अजर अमर हूं मैं नाशवान देह नहीं हूं ऐसा जो ज्ञान है उस को महात्मा जन तत्त्व ज्ञान कहै हैं ५६९॥ अपरोक्षानुभूति—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयो र्ज्ञान यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥५७०॥ गी० अ० १३ श्लोक २॥

अर्थ—हे भारत पुनः सर्व क्षेत्रों विषे स्थित क्षेत्रज्ञ को तूं मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप ही जान ऐसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनों का जो ज्ञान है सो ज्ञान ही मैं परमेश्वर को अभिमत है ॥५७०॥

सर्वेंद्रिय गुणाभासं सर्वेंद्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुण भोक्तृ च ॥५७१॥ गी० अ० १३ श्लोक १४॥

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञेय ब्रह्म सर्व इंद्रियों तैं रहित है तथा सर्व इंद्रियों के व्यापारों करिकै भास मान है तथा सर्व संबंध तैं रहित है तथा सर्व के धारण करने हारा ही है तथा सत्वादिक गुणों तैं रहित है तथा तिन सत्वादि गुणों का भोक्ता है ॥५७१॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्ततोऽवस्तुतोऽपि च। तथैव ब्रह्मविज्ज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥५७२॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषत् मं० २७॥

अर्थ—जिस काल विषे ज्ञानवान पुरुष वास्तव अवास्त को ब्रह्म रूप सें साक्षात् ही विद्यते तिस काल विषे ही यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष किस वस्तु को ग्रहण करै तथा किस वस्तु का त्याग करै सर्व रूप आत्मा ही है ॥५७२॥

ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानंदं परमं चैव पश्चात्। ब्रह्मानंदं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानंदं परमं चोत्तरे च ॥५७३॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषत् मं० ३०॥

अर्थ—अमृत रूप ब्रह्म को जानने सें क्या निश्चय होता है। सो ब्रह्म पूर्व में है तथा सो परमानंद ब्रह्म पश्चम में है। तथा सो परमानंद ब्रह्म दक्षण में है। तथा सो परमानंद ब्रह्म उत्तर में है ॥५७३॥

स्वात्मत्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति

निर्भयः। तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता ॥५७४॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषत् मं० ३१ ॥

अर्थ—जिस काल विषे सर्व को आपना आत्मा रूप ही सदा पश्यति देखता है तब निर्भय होता है। तिस काल विषे ना कोई बंध है न कोई मुक्त है और बंध की ही मुक्ति होनी है ॥५७४॥

एवं रूप पराविद्या सत्येन तपसापि च। ब्रह्मचर्यादिभि धर्मैर्लभ्या वेदांत वर्त्मना ॥५७५॥

पाशुपत ब्रह्मोप० मं० ३२ ॥

अर्थ—इस प्रकार आपने परम रूप आत्मा को सत्य बोलने सें तथा तप करने सें तथा ब्रह्म चर्यादिक धर्मों को प्राप्त हो कर ही वेदांत शास्त्र के अवलोकन सें साक्षात्कार कर सक्ता है। अन्य था नहीं ॥५७५॥

स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं पारमार्थिकम्। क्षीणदोषाः प्रपश्यंति नेतरे मायया वृताः ॥५७६॥

पाशुपत ब्रह्मोप० मं० ३३ ॥

अर्थ—आपने शरीर में स्वयं ज्योति स्वरूप पारिमार्थिक है जिस काल विषे रागादिक दोष निवृत हो जावैंगें तिस काल विषे आपने अंतर आत्मा को व्यापक ब्रह्म रूप सें जानेगा और माया सें अवृत्त अर्थात काम क्रोध मोह लोभादिकों के संयुक्त नहीं जान सक्ते ॥५७६॥

एवं स्वरूप विज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः। कुत्र चिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्ण रूपिणः ॥५७७॥

पाशुपत ब्रह्मोप० मं० ३४ ॥

अर्थ—एवं इस प्रकार जिस किसी विद्वान को आपने स्वरूप का ज्ञान हुआ है ऐसे सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म रूप विद्वान का जिस किसी जगा में जाना आना नहीं है ॥५७७॥

अकाशमेकं संपूर्णं कुत्र चिन्न हि गच्छति। तद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्टः कुत्र चिन्नैव गच्छति ॥५७८॥

पाशुपत ब्रह्मोप० मं० ३५ ॥

अर्थ—जैसे अकाश सर्वत्र व्यपक एक है किसी जगा में आता जाना नहीं है। तैसे ही ब्रह्म भिन्न आत्मा का श्रेष्ट वेता किसी जगा में आता जाता नहीं ॥५७८॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम्। आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥५७९॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० १५ ॥

अर्थ—जैसे देहात्मा के ज्ञान की न्याईं अंतर चिन्मय ब्रह्म रूप आत्मा का ज्ञान हो जावै तब देह में आत्मा ज्ञान बाध हो जाता है। जिस मुमुक्षु पुरुष को देह की न्याईं आत्म ज्ञान हुआ है सो न इच्छा करता हुआ भी मुक्त होता है ॥५७९॥

गवामनेक वर्णानां क्षीरस्याप्येक वर्णता। क्षीरवत्पश्याति ज्ञानी लिङ्गनस्तु गवां यथा ॥५८०॥

वराहोपनिषत् अ० ५ मं० १९ ॥

अर्थ—जैसे गौ अनेक वर्ण की होवै है और तिन गौवों का क्षीर एक वर्ण का होता है। तैसे शरीर भिन्न २ है क्षीर की न्यांई ज्ञान वान सर्वत्र पूर्ण आत्मा को सत चित अंनद रूप सें सर्व देहो में देखता है। जैसे गौवां लिङ्ग

युक्त हैं ऐसे आत्मा नहीं ॥५८०॥

ग्रंथमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञान तत्परः । पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रंथ मारोषतः ॥५८१॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकार सें आत्मा को सर्वत्र पूर्ण एक रस अजर अमर मुक्त ब्रह्म रूप जान करिकै बुद्धिमान पुरुष ज्ञान विज्ञान के तत्पर हुआ जैसे धान्यार्थी अशेष पलाल को त्याग देता है तैसे आत्मा के ज्ञान सें अनंतर ग्रंथ अभ्यास को त्याग देवै ॥५८१॥

ईश्वर उवाच—हे देवताओ ! जिस ध्यान रूप उपाय करिकै मैं आत्मादेव का साक्षात्कार होवै है ता उपायको तुम श्रवण करो । जैसे लोक प्रसिद्ध पिप्पलादिक वृक्षों विषे पक्षी रहै हैं तैसे या शरीर रूप वृक्ष विषे दो पक्षी रहै हैं । एक तो तत्पदका वाच्य मैं ईश्वर रूप पक्षी हूं और दूसरा त्वंपद का वाच्य जीव रूप पक्षी है । तहां जीव रूप पक्षी तो या शरीर रूप वृक्ष विषे पुण्य पाप रूप कर्म के सुख दुःख रूप फल को भोगे है । और दूसरा में अंतर्यामि रूप ईश्वर रूप पक्षी तोता सुख दुःख रूप फल को भोक्ता नहीं किंतु मैं ईश्वर रूप पक्षी ता जीव रूप पक्षी को सो सुख दुःख रूप फल भोगावौं हूं । कैसे है तेजी ईश्वर दोनों पक्षी बुद्धि रूप उत्कृष्ट स्थान विषे एकठे स्थित है तथा भोक्ता अभोक्ता रूप करिकै तथा अल्पज्ञता सर्वज्ञता रूप करिकै परस्पर विरुद्ध धर्म वाले हैं तहां श्रुति—

द्वासुपर्णासुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ५८२

तृतीय मुंड० खं० १ मं० १ ॥

अर्थ—जीव तथा ईश्वर दोनों शोभा युक्त गमन वाले होने तैं वा पक्षी के समान होने तैं वृक्ष को आश्रायण करने तैं पक्षी हैं ते सर्वदा एकठे ही वर्तमान हैं या तैं तुल्य प्रख्याति वाले हैं । तथा तुल्य प्रकाश के कारण हैं या तैं परस्पर सखा हैं । दोनों के ज्ञान का स्थान होने तैं एक जो वृक्ष की न्याई छेदन रूप धर्म की तुल्य ता सें शरीर रूप वृक्ष है तिस एक वृक्ष के फल भोग वास्ते दोनों पक्षीयों की न्याई बुद्धि रूप वृक्ष को आलिंगन करते भये । तिनों के मध्य एक जो लिंग शरीर रूप उपाधि वाला क्षेत्रज्ञ नामा जीव है सो बुद्धि रूप वृक्ष को आश्रय करता हुआ कर्म जन्य सुख दुःख रूप फल को अनुभव रूप स्वाद को अविवेक तैं भोगता है और दूसरा जो नित्य शुद्ध नित्य बुद्ध नित्य मुक्त स्वभाव वाला सर्वज्ञ सर्व शक्ति मान शुद्ध सत्त्व गुण प्रधान माया उपाधि वाला ईश्वर है सो भोगता नहीं । या तैं परमात्मा देव नहीं भोगता हुआ बुद्धि रूप वृक्ष सें न्यारा होइ कै केवल देखता ही है तथा प्रकाशता है ॥५८२॥

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयो रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ५८३॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् । अ० ४ मं० ६ । द्वौसुपर्णौ शरीरेऽस्मज्जीवशाख्यौ सह स्थितौ । तयो जीवाः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥५८४॥ ब्रह्म गी० अ० ८ श्लो० ४९।

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः ।

प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥५८५॥ ब्रह्मगीता अ० ७ श्लो० ५०। यथाकाशो घटाकाश महाकाश प्रभेदतः। कल्पितः परचिज्जीवः शिवरूपेण कल्पितः ॥५८६॥ ब्रह्मगी० अ० ७ श्लो० ५१।

अर्थ—जैसे एक अकाश उपाधि भेद सें घटाकाश महाकाश प्रभेद करिकै कल्पित है। तैसे चिद्रूप ब्रह्मो पाधिगत विद्याद्विभ्यां अर्थात माया अविद्या दोनों उपाधियों सें सो जीवेश्वर भेदेन परिकल्पते ॥५८६॥

द्वौसुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ। तयोर्जीवः फलं भुंक्ते-कर्मणो न महेश्वरः ॥५८७॥ रुद्र हृदयोपनिषद् मं० ४१। केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः। प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥५८८॥ रुद्र हृदयोपनिषद्। मं० ४२। घटाकाश मठाकाशौ यथाकाश प्रभेदतः। कल्पितौ परमौ जीवशिवरूपेण कल्पितौ ॥५८९॥

(रुद्र हृदयोपनिषद् मं० ४३।)

अर्थ—जैसे महाकाश का कल्पित भेद करने वाले घट उपाधि तथा मठ उपाधि हैं। तद्वतही परम शुद्ध व्यापक ब्रह्म जीव शिव रूप करिकै कल्पित भेद करिने वाली माया अविद्या दोनों उपाधि है वास्तव नहीं है ॥५८९॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशमस्य महिमानामिति वीतशोकः ॥५९०॥ तृतीय मुं० खं० १। मं० २।

अर्थ—उक्त प्रकार के शरीर रूप एक वृक्ष विषे पुरुष जो भोक्ता जीव है सो अविद्या काम कर्म के फलरागादिक रूप बडे बोझ सें दबाया हुआ समुद्र में तूंबे की न्याईं निमग्न भया है और यह ही मैं अमुक का पुत्र हूं अमुक का पौत्र हूं पतला हूं मोटा हूं गुणवान हूं गुण रहित हूं सुखी हूं दुःखी हूं इस प्रकार का ज्ञान जाकूं होवै है इस सें अन्य ज्ञान नहीं है ऐसे ही जन्मता हूं मरता हूं तथा संबंधीयों सें संयोग वियोग को पावता हूं या तैं मोह युक्त हुआ अनेक प्रकार के अनर्थों सें अविवेकी होने तैं चिंता को प्राप्त हुआ मैं किसी भी कार्य के करने विषे समर्थ नहीं हूं मेरी भार्या मरगई है अब मुझ को जीवने सें क्या प्रयोजन है इस प्रकार की दीनभाव रूप जो अनीशा असमर्था है ता सें संताप रूप शोक को पावता है। सो ऐसे प्रेत तिर्यक तथा मनुष्यादिक योनियों विषे प्राप्त भया जीव कदाचित् अनेक जन्म विषे संचय किये शुद्ध धर्म रूप निमित्त तैं कोईक गुरूनैं दिखलाये योग मार्ग विषे अहिंसा सत्य ब्रह्म चर्य सर्वका त्याग शमदमादिक करिकै युक्त एकाग्र चित्त वाला हुआ जिस काल विषे अनेक योगीजन करिकै सेवन किये देह रूप वृक्ष उपाधि के लक्षण तैं अन्य साक्षी आत्मा विलक्षण है। क्षुधा तृषा शोक मोह जरा मृत्यु तैं रहित असंसारी ईश्वर को आपना आत्मा रूप करिकै निश्चय करता हुआ मैं सर्व जगत का आत्मा हूं। सर्व में मैं समान हूं सर्व भूतों में मैं स्थित हूं। और अन्य अविद्याकृत उपाधि सें परिच्छिन्न मिथ्या आत्मा देह नहीं हूं। और यह जो जगत है सो मेरा ही स्वरूप है। इस प्रकार की विभूति रूप आपने महिमा को ध्यावता हुआ देखता है।

तब वीत शोक होवै है अर्थात सर्व शोक के सागर तैं मुक्त कृत्य कृत्य होवै है ॥ ९०॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक ॥५९१॥ श्वेताश्वेत० उ० अ० ४ मं० ७

हे देवताओ ! जिन अधिकारी पुरुषों नैं मैं परमात्मा की उपासना करिकैं विक्षेप दोष की निवृत्तिकरी है ॥ तथा निष्काम पुण्य कर्म करिकै मलरूप दोष कीं निवृत्तिकरी है । ते अधिकारी पुरुष ही ता उपासना के बल तैं शुद्ध अंतः करण वाले हुये ते जीव ईश्वर दोनों के स्वरूप को प्राप्त होवैं हैं। तहां श्रुति—

वराह रुपिणं मांये भजंति मयिभक्तितः। विमुक्ता ज्ञानतत्कार्या जीवन्मुक्ताभवंति ते ॥५९२॥

(वराहोपनिषद् अ० १ मं० १६।)

अर्थ—जो आधिकारी पुरुष मैं वराह अवतार रूप ईश्वर को भक्ति पूर्वक भजता है । सो पुरुष अज्ञान तत्कार्य सें विमुक्त हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है ॥५९२॥

शंका—हे भगवन ! ईश्वर की उपासना करने हारे तथा निष्काम पुण्य को करने हारे जो कर्मी उपासक पुरुष हैं तिनों को अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति देखने में आवती नहीं। उलटा ते कर्मी पुरुष जीव ब्रह्म के भेद को ही कथन करै हैं । समाधान—तेसगुण ब्रह्म की उपासना करने हारे तथा निष्काम पुण्यों को करने हारे कर्मी पुरुष यद्यपि विशेष करिकै ब्रह्मज्ञान सें रहित ही होवैं हैं। तथा जीव ईश्वर के भेद को ही कथन करै हैं । तथापि ते कर्मी पुरुष तब पर्यंत ही जीव ईश्वर के भेद को कथन करै हैं। जब पर्यंत तिन कर्मी पुरुषों को ब्रह्म वेत्ता गुरुका समागम नहीं भया और जबी तिन कर्मी पुरुषों को ब्रह्म वेत्ता गुरू का समागम होवै है । तबी प्रणव की उपासना के अनुष्टान करिकै तथा निष्काम पुण्य के अनुष्ठान करिकै शुद्ध अंतःकरण वाले हुए ते कर्मी पुरुष तिसी कालविषे ता अभय ब्रह्म को प्राप्त होवैं हैं। कैसा है सो ब्रह्म जैसे प्रसिद्ध नदीयों का सेतु या जीवों को ता नदी तैं पार की प्राप्ति करै है। तैसे मैं ईश्वर की उपासना करने हारे तथा निष्काम पुण्य करने हारे तथा या संसार समुद्र तैं पार होने की इच्छा वाले जो अधिकारी पुरुष हैं तिन अधिकारी पुरुषों को मैं ब्रह्म तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वर रूप करिकै या संसार समुद्र तैं पार करने हारा सेतु रूप हूं । ब्रह्म वेत्ता गुरूके समागमतैं ते कर्मी पुरुष जिस विचार करिकै ब्रह्म भाव को प्राप्त होवे है। ता विचार को तुम श्रवण करो। पुण्य पापरूप कर्म के फल का भोक्ता जो यह त्वं पदार्थ रूप जीवात्मा या शरीर करके ही संसार को तथा मोक्ष को प्राप्त होवे है। यातें यह जीवात्मा तो रथवाला है और ता जीवात्मा का यह शरीर रथरूप है। और जैसे लोक प्रसिद्ध रथका चलावणे हारा सारथि होवे है। तैसे यां शरीर रूप रथके चलावने हारा बुद्धि रूप सारथि है और जैसे लोक प्रसिद्ध रथ विषे अश्व होवे हैं। तथा तिन अश्वों के साथ बांधी हुई रज्जु ता सारथि पुरुष के हाथ विषे होवे है। तैसे यह नेत्रादिक इन्द्रिय यां शरीर रूप रथ के अश्व हैं और मन रूप रज्जु है। और जैसे प्रसिद्ध रथ के अश्व भूमी विषे चाले हैं तैसे यह इन्द्रिय रूप अश्व भी

शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध विषय रूप भूमि विषे चाले हैं। और जैसे प्रसिद्ध रथ करके प्राप्त होने योग्य ग्रामादिक स्थान होवे हैं। तैसे बुद्धि आदिक संघात से रहित जो शुद्ध आत्मा है या शरीर रूप रथ करके प्राप्त होने योग्य स्थान है। और हे देवताओ! यां रथके दृष्टांत कहने का यह प्रयोजन है। कर्म उपासना करके जिन अधिकारी पुरुषों का चित्त शुद्ध भया है ते अधिकारी पुरुष ही ता बुद्धि रूप सारथि द्वारा तिन इन्द्रिय रूप दुष्ट अश्वों को जैय करे हैं। तिसतें अनन्तर ते अधिकारी पुरुष कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप पूर्वदेश का परित्याग करके ब्रह्म-भाव की प्राप्ति रूप उत्तर देश को प्राप्त होवे हैं। अर्थात् तिसका गन्तव्यस्थान ब्रह्म ही है। तहांश्रुति—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेनगंतव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥५९३॥ शरभोपनिषद् मं० २९।

अर्थ—अर्पण भी ब्रह्म ही है तथा हवि भी ब्रह्म ही है तथा ब्रह्म रूप अग्नि विषे ब्रह्मरूप कर्त्ता ने जो हवन करिया है सो हविन भी ब्रह्म ही है। तथा तिस हविन करके प्राप्त होने योग्य स्वर्गादिक भी ब्रह्मरूप ही हैं। तथा कर्म विषे ब्रह्म बुद्धि वाले पुरुषों ने भी परमानन्द स्वरूप ब्रह्म ही गन्तव्य है ॥५९३॥ तहांश्लोक—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा-हुतम्। ब्रह्मैवतेनगंतव्यं ब्रह्मकर्म समा-धिना ॥५९४॥ गी० अ० ४ श्लो० २४।

अर्थ—हे अर्जुन! अर्पण भी ब्रह्म ही है तथा हवि भी ब्रह्म ही है तथा ब्रह्मरूप अग्निविषे ब्रह्मरूप कर्त्ता ने जो हवन करिया है सो हवन भी ब्रह्म ही है। तथा तिस हवन करके प्राप्त होने योग्य स्वर्गादिक भी ब्रह्मरूप ही हैं। तथा कर्म विषे ब्रह्म बुद्धि वाले पुरुषों का गंतव्य-स्थान भी परमानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है ॥५९४॥

तात्पर्य यह है रथवाले पुरुष ने जिस देश विषे जाना होवे तिस देश ते भिन्न दूसरे किसी देश विषे राग का अभाव होवे है। तथा अश्वादिकों के चलावणे का तथा निग्रह करने का जो ज्ञानरूप कुशलता है। यह दोनों ही प्रकार के गुण जिस सारथि पुरुष विषे रहे हैं। सोई ही सारथि पुरुष तिस रथवाले पुरुष को तिस देशे प्राप्त करे है। ता दोनों गुणों तें रहित सारथि पुरुष तां देश की प्राप्ति करे नहीं। तैसे यह बुद्धिरूपी सारथि भी जबी तिन दोनों गुण वाला होवे है तबी ही यह बुद्धिरूपी सारथि यां जीवात्मा को ब्रह्म भाव की प्राप्ति करे है। और जिस बुद्धिरूप सारथि विषे ते दोनों गुण नहीं होवे हैं। सो बुद्धिरूप सारथि यां जीवात्मा को ब्रह्म भाव की प्राप्ति करे नहीं उलटा यां जीवात्मा को संसार रूप दुःख की ही प्राप्ति करे है। हे देवताओ! जिस अधिकारी पुरुष का यह बुद्धि रूप सारथि वैराग्य रूप कवच को प्राप्त भया है सो अधिकारी पुरुष ही ता बुद्धिरूप सारथि द्वारा मनरूप दृढ़ रज्जु करके ता इन्द्रिय रूप अश्वों को आपने वश करके मैं परमात्मा रूप देश को प्राप्त होवे है। और जैसे यां लोक विषे दुष्ट अश्व सारथि पुरुष के वशवर्ती होवे नहीं। सो पुरुष गर्त विषे ही गिरे है ग्राम को प्राप्त होवे नहीं। तैसे बहिर्मुख पुरुष यां शरीर रूप रथ करके मैं परमात्मा रूप देशको प्राप्त होवे नहीं। और जैसे या लोक विषे श्रेष्ठ गुणों वाले अश्वता साराथि पुरुष के सर्वदा वशवर्त्ति रहे

हैं। तैसे जिस अधिकारी पुरुष का बुद्धि रूप सारथि विषयों तें वैराग्य के प्राप्त भया है तथा जिस अधिकारी पुरुष का मन रूप रज्जु धैर्यरूप बल करके युक्त है। तिस अधिकारी पुरुष के ही यह इन्द्रिय रूप अश्व वशवर्त्ति रहे हैं। यां कारण तें ही सो अधिकारी पुरुष ही ब्रह्मभाव को प्राप्त होवे है। और जिस पुरुष का बुद्धिरूप सारथि विवेक तैं रहित होवे है। तथा जिस पुरुष का मनरूप रज्जु बहिर्मुख होवे है तथा जो पुरुष सर्वदा अशुचि रहे है। ऐसा विवेक ही नमूढ़ पुरुष ता ब्रह्मरूप देशको प्राप्त होवे नहीं। किंतु सो वैराग्य ही नमूढ़ पुरुष उलटा जन्म मरण रूप संसार को ही प्राप्त होवे है। और जिस अधिकारी पुरुष का बुद्धिरूप सारथि विवेक वाला होवे है। तथा जिस अधिकारी पुरुष का मनरूप रज्जु अन्तर्मुख होवे है। तथा जो अधिकारी पुरुष सर्वदा शुचि रहे है। ऐसा अधिकारी पुरुष ही या शरीर रूप रथ करके मैं अद्वितीय ब्रह्मरूप पदको प्राप्त होवे है। जिस मैं अद्वितीय ब्रह्मरूप पदको प्राप्त होइके सो अधिकारी पुरुष पुनः जन्म को प्राप्त होवे नहीं। हे देवताओ! इसप्रकार जिस अधिकारी पुरुष का बुद्धिरूप सारथि विवेक वाला है। तथा जिस पुरुष ने मनरूप रज्जु करके नेत्रादिक रूप दुष्ट आश्वों को आपने वश किया है। सो अधिकारी पुरुष ही या संसार रूप समुद्र ते मैं परमात्मा रूप पार को प्राप्त होवे है। यां कारण ते यह अर्थ सिद्धभया। विषयों तें वैराग्य वाली जो बुद्धि है तथा विषयों के प्राप्त हुए भी धैर्य वाला जो मन है यह दोनों ही यां अधिकारी पुरुषों को मोक्ष का साधन होवे है। और विषयों विषे रागवाली जो बुद्धि है तथा धैर्य तें रहित जो मन है यह दोनों या जीवों के बन्धन का कारण होवे हैं। यातें आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष के प्राप्त की इच्छा वाले मुमुक्षुजनों ने वैराग्य को तथा धैर्य को अवश्य सम्पादन करना। तहांश्रुति—

आत्मान ँ रथिनं विद्धिशरीर ँ रथमेवतु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥५९५॥

अर्थ—तिन दोनों जीव ईश्वररूप पक्षियों विषे कर्म के फलका भोक्ता संसारी आत्मा को रथ का स्वामी जान और शरीर को तो रथ ही जान और बुद्धि को सारथिजान और संकल्प विकल्प वृत्तिरूप मन को अश्वन के बंधन की रस्सी ही जान ॥५९५॥

इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषयाꣳ स्तेषु गोचरान्। आत्मेंद्रिय मनोयुक्तं भोक्ते त्याहुर्मनीषिणः ॥५९६॥

अर्थ—चक्षु आदिक इन्द्रियों को अश्व कहते हैं रथ के खींचने वाले अश्वों की न्याई शरीर के खींचने वाले होने तैं इन्द्रिय अश्व हैं। तिन इन्द्रियों के रूपादिक विषयों को मार्ग जान और शरीर इन्द्रिय तथा मन सहित आत्मा को विवेकी पुरुष भोक्ता संसारी ऐसे कहते हैं ५९६

यस्त्व विज्ञानवान् भवत्य युक्तेन मनसा सदा। तस्येंद्रियाण्या वश्यानि दुष्टाश्वा इवसारथेः ॥५९७॥

अर्थ—रथके चलावने विषे लोक प्रसिद्ध सारथि की न्याई जो बुद्धिरूप सारथि प्रवृत्ति विषे तथा निवृत्ति विषे अविवेकी होवै हैं। तथा एकाग्रतारहित वाग स्थानी मन सें सदा युक्त होवै है तिस अकुशल बुद्धिरूप सारथि के अश्व

स्थानी इन्द्रिय लोक प्रसिद्ध सारथिके अस्वाधीन हुये दुष्ट अश्वों की न्याईं विषयों से निवारण करने को अयोग्य होवै हैं ॥५९७॥

यस्तु विज्ञानवान्न भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येंद्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥५९८॥

अर्थ—जो पूर्वोक्त सारथि सें विपरीत विवेकवान सारथि होवै और एकाग्रता वाले मन से सदायुक्त होवै है ता बुद्धिरूप सारथि के अश्वस्थानी इन्द्रियको प्रसिद्ध साराथि के स्वाधीन हुये। श्रेष्ठ अश्वों की न्याईं प्रवृत्ति करावने को निवृत्ति करावने को शक्य होवे है ॥५९८॥

यस्त्व विज्ञानवान भवत्य मनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति स ९ सारं चाधिगच्छति ॥५९९॥

अर्थ—तिन दोनों विषे पूर्वोक्त विवेक रहित बुद्धिरूप सारथि वालेको यह फल होवे है। जो विवेक रहित बुद्धिरूप सारथि वाला होवै है। तथा मन की एकाग्रता से रहित तथा सदा ही मलीन रथका स्वामी सो ता अक्षर परब्रह्मरूप परमपद को ता साराथि द्वारा प्राप्त होता नहीं। किंतु जन्ममरणरूप संसार को ही प्राप्त होता है ५९९

यस्तु विज्ञानवान् भवति स मनस्कः सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥६००॥

अर्थ—जो विवेकवान सारथिसे युक्त विद्वान और एकाग्रता वाला और सदा शुचि जो रथ का स्वामी होवै है। सो ता अक्षर ब्रह्म परमपद को प्राप्त होता है। सो पद कैसा है जिस पदको प्राप्त होई के पुनः जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त नहीं होवै है ॥६००॥

विज्ञान सारथि र्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः परिमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥६०१॥

कठोप० अ० १ वल्ली ३ मं० ४, ५, ६, ७, ८, ९॥

अर्थ—सो पद कैसा है जो तिस पद विषे विवेकयुक्त बुद्धिरूप साराथि वाला और एकाग्रचित्त वाला हुआ जो पूर्वोक्त शुद्ध बुद्धि विद्वान है सो संसार की गति परब्रह्मरूप ही को प्राप्त होता है। तथा सर्व संसार के बंधनों तैं मुक्त होवै है। जो व्यापक ब्रह्म परमात्मा वासुदेव नाम वाले विष्णु का परमपद सर्व सें उत्कृष्ट स्थान है ता पदको ही विद्वान प्राप्ति होता है ६०१

आत्मानं रथिनं विद्याच्छरीरं रथमेवतुः। बुद्धिंतु सारथिं विद्यान्मनः प्रग्रहमेवच ॥६०२॥ इन्द्रियाणि हयान्विद्या द्विषयानपि गोचरान्। आत्मेंद्रियमनोयुक्तं विद्याद्भोक्तारमास्तिकाः ॥६०३॥ यस्त्वविज्ञान वान्मर्त्योऽयुक्तेन मनसा सदा। तस्येंद्रियाण्य वश्यानि दुष्टाश्वा इवसारथेः ॥६०४॥ ब्रह्म गी० अ० ११ श्लोक १६। १७। १८। यस्तु विज्ञानवान्मर्त्यो युक्तेन मनसा सदा। तस्येंद्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६०५॥ यस्त्व विज्ञानवान्मर्त्यो ह्यमनस्कः सदाऽशुचिः। नसतत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥६०६॥ यस्तु विज्ञान वान्मर्त्यः स मनस्कः सदा

शुचिः। स तुतत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥६०७॥ ब्रह्म गी० अ० ११ श्लो० १९।२०।२१। विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवन्नरः। सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम् ॥६०८॥ पदं यत्परमं विष्णोस्तदेवा खिलदेहिनाम्। पदं परममद्वैतं स शिवः साम्बविग्रहः ॥६०९ इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अथर्भ्येश्च परंमनः। मनसस्तु पराबुद्धि बुद्धेरात्मा महान्परः ॥६१०॥ महतः परमव्यक्ता मव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्साकाष्टा सा परागतिः ॥६११॥ पुरुषो नाम सम्पूर्णः शिवः सत्यादिलक्षणः। साम्बमूर्त्ति धरो नान्यो रुद्रो विष्णुरजोऽपिवा ॥६१२॥ एष सर्वेषु भूतेषु गुढात्मान प्रकाशते दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्म या सूक्ष्म दर्शि भी ॥६१३॥ ब्रह्म गी० अ० ११ श्लोक २२।२३।२४।२५।२६।२७।२८

अर्थ—अब ता अनंदस्वरूप वासुदेव नाम वाले आत्मा के साक्षात्कार वास्ते श्रवणादिक साधनों का निरूपण करे हैं।

ईश्वर उवाच—हे देवताओ! जिन अधिकारी पुरुषों को करामलक की न्याईं संशय विपर्यय तैं रहित आत्मा के साक्षात्कार की इच्छा होवे तिन अधिकारी पुरुषोंने प्रथम विवेक वैराग्य शम दमादि षट संपत्ति मुमुक्षुता या चारी साधनों को संपादन करना। तिस तैं अनंतर या अधिकारी पुरुषों ने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ट गुरु के समीप जाना। तहां जायके या अधिकारी पुरुष ने तां गुरु के मुख तैं (अयमात्मा ब्रह्म) (ब्रह्माहमस्मि) इस तैं आदि लेके अनेक श्रुति वचनों का वारंबार श्रवण करना और उपक्रम उपसंहारादिक षटलिंगों करके या अधिकारी पुरुष ने वेदांत वचनों का अद्वितीय ब्रह्मविषे तात्पर्य निश्चय करना या का नाम श्रवण है।

शिष्य उवाच—

यस्य श्रवणेन सर्वबन्धः प्रविनश्यंति। यस्य ज्ञानेन सर्वरहस्यं विदितं भवति। तत्स्वरूपं कथमिति ॥६१४॥

अर्थ—शिष्योवाच—हे भगवन्! जिस एक वस्तु के श्रवण से सर्व जन्मरणादिक बन्धन नाश होजाते हैं तथा जिस एक वस्तु के ज्ञान से सर्व वेद का रहस्य जाना जाता है। तिसके स्वरूप को कथन करो। इति ॥६१४॥

शांतो दांतोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्टः शिष्यो ब्रह्मनिष्टं गुरुमासाद्य प्रदक्षिण पूर्वकं दण्डवत्प्रणम्य प्राञ्जलिर्भुत्वा विनयेनोप सङ्गम्य भगवन् गुरो मे परम तत्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति ॥६१५॥

त्रिपाद्विभूति महा नारायणोपनिषद्।

अर्थ—शम दमादिक साधनयुक्त अतिविरक्त सुशुद्ध अन्तःकरण वाला गुरु का भक्त तप में निष्ठा वाला ऐसा शिष्य ब्रह्मनिष्ट गुरु के पास जाय के प्रदक्षिणा पूर्वक दण्डवत प्रणाम दोनों हाथ जोड़ करके विनययुक्त गुरुके समीप जाय के हे भगवन! हे गुरो! मेरे को

१ अर्धनारी।

परम तत्व परम रहस्य विवेचन वक्तव्य कथन करो इति ॥६१५॥

अब षट् लिंगों का निरूपण करे हैं—

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्याऽऽदावंते प्रतिपादनम् । उपक्रमोपसंहारौ तदैक्यं कथितंबुधैः ॥६१६॥

अर्थ—प्रकरण करके प्रतिपादन करने के योग्य जो ब्रह्मरूप अद्वितीय वस्तु है ताका प्रकरण के आदि विषे तथा अन्त विषे जो प्रतिपादन सो उपक्रम और उपसंहार है। तिन में आदि विषे जो प्रतिपादन है सो उपक्रम है और अन्त विषे जो प्रतिपादन है सो उपसंहार है। तिन दिनों की एक रूपता बुद्धि मानों ने कही है ॥६१६॥

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य पठनं च पुनः पुनः। अभ्यासः प्रोच्यते प्राज्ञैः स एवाऽऽवृत्ति शब्दभाक् ॥६१७॥

अर्थ—प्रकरण करके प्रतिपादन करने योग्य अद्वितीय वस्तुका तिस प्रकरण के मध्य विषे जो पुनः पुनः पठन है सो पण्डितों ने अभ्यास कहा है। सोई अभ्यास आवृत्ति शब्द का वाच्य है ॥६१७॥

श्रुतिभिन्नप्रमाणेना विषयत्वमपूर्वता। कुत्र चित्स्वप्रकाशत्व मप्यमेयतयोच्यते ॥६१८॥

अर्थ—प्रकरण करके प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु की जो श्रुतितैं भिन्न प्रत्यक्षादिक लौकिक प्रमाण करके अविषयता है सो अपूर्वता है। और किसी २ स्थल में अद्वितीय वस्तु की स्वप्रकाशता भी अमेयता सर्व प्रमाणों की अविषयता रूप हेतु करके अपूर्वताकही है ॥६१८

श्रुयमाणं तु तज्ज्ञानात्तत्प्राप्त्यादि प्रयोजनम् । फलं प्रकीर्त्तित प्राज्ञैर्मुख्यं मोक्षैकलक्षणम् ॥६१९॥

अर्थ—और प्रकरण करके प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु के ज्ञान तें प्रकरण विषे श्रूयमाण (श्रवण क्रिया) जो अर्थ तिसकी प्राप्ति रूप प्रयोजन है। सो पण्डितों ने मोक्ष रूप एक लक्षण वाला मुख्य फल कहा है ॥६१९॥

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमथापिवा । निंदातद्विपरीतस्य ह्यर्थवादः स्मृतो बुधैः ॥६२०॥

अर्थ—प्रकरण करके प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का जो प्रशंसन है अथवा तिसतें विपरीत द्वैतकी निंदाभी पण्डितों ने अर्थ वाद कहा है ॥६२०॥

वस्तुनः प्रतिपादस्य युक्तिभिः प्रतिपादनम् । उपपत्तिः प्रविज्ञेया दृष्टांताद्या ह्यनेकधा ॥६२१॥

अर्थ—प्रकरण करके प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का युक्ति से जो प्रतिपादन है सो दृष्टांत अनेक प्रकार की युक्ति रूप उपपत्ति जानने को योग्य है ॥६२१॥

एतल्लिंग विचारेण भवेत्तात्पर्य निर्णयः। तात्पर्यं यस्य शब्दस्य यत्र स स्यात्तदर्थकः ॥६२२॥

अर्थ—उक्त प्रकार के षट लिंगों के उपनिषदों विषे विचार से उपनिषदों का अद्वैत प्रत्येक अभिन्न ब्रह्म विषे जो तात्पर्य है ताका

निश्चय होवे है । और जिस शब्द का जिस अर्थ विषे तात्पर्य होवे है सो ता शब्द का अर्थ होवे है । अन्य केवल वाच्यार्थ नहीं ॥६२२॥

या श्रवण करके अधिकारी पुरुष की प्रमाणगत असंभावना निवृत्त होवे है । तहां वेदांत वाक्य जीव ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादक हैं अथवा भेद के प्रतिपादक हैं यां प्रकार के संशय का नाम प्रमाणगत असंभावना है । अब मनन का स्वरूप निरूपण करे हैं । हे देवता मो ! यां प्रकार गुरू के मुख तें वेदांत वचनों को श्रवण करके यह अधिकारी पुरुष एकांत देश विषे स्थित होइके श्रुति तें अविरुद्धतर्क करके तिन वचनों के अर्थ का मनन करे । सो तर्क यह है । जैसे या लोक विषे एक ही मृतिका आदिक कारण घट शरावादिक अनेक कार्य रूप करके स्थित होवे है । तैसे एक ही आद्वितीय परमात्मादेव अज्ञान के सम्बन्ध तें नाना जगत् रूप होइके स्थित हुआ प्रतीत होवे है । तहांश्रुति—

यथा मृदिघटो नाम कनके कुण्डलाभिधा । शुक्तौ हि रजतख्याति र्जीवशब्दस्तथा परे ॥६२३॥

योगशिखोपनिषद् । अ० ४ मं० १४ ।

अर्थ—जैसे मृतिका में घटनाम है तथा सुवर्ण में कडा कुण्डलादिक नाम हैं तथा जैसे शुक्ति ही रजत रूप से प्रतीत होवे है तैसे ही परब्रह्म में जीव शब्द है ॥६२३॥

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावर जंगमम् । तस्मिन्नेव लयं यांति स्रवंत्याः सागरे यथा ॥६२४॥

अर्थ—जिस परब्रह्म में यह सर्व नामरूप प्रपंच धागा में मणियों की न्यांई प्रोते हुए हैं । तिस ब्रह्म में ही स्थित हैं तथा तिसी में लय होजावेंगे जैसे समुद्र में नदियां ॥६२४॥

यस्मिन्भावाः प्रलीयंते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः । पश्यंति व्यक्ततांभूयो जायंते बुद्बुदा इव ॥६२५॥

मंत्रिकोपनिषत् मं० १७, १८ ॥

अर्थ—जिस परब्रह्म में यह भाव पदार्थ लय भाव को प्राप्त होते हैं । और जिस में लय होकर प्रगट होते हैं तथा प्रगट होकर के दीखते हैं पुनः पाणी में बुद्बुदा की न्यांई उत्पन्न होते हैं ॥६२५॥

मन्त्रिकोपनिषद् । मं० १७ । १८ ।

अस्य त्रैलोक्य वृक्षस्यभूमौ विटप शाखिनः । अग्रं मध्यं तथा मूलं विष्णु ब्रह्ममहेश्वराः ॥६२६॥

रुद्र हृदयोपनिषद् । मं० १४ ।

अर्थ—इस ब्रह्मरूप त्रैलोक्य बटके वृक्षकी शाखा का अग्रभाग मध्यम भाग तथा मूल विष्णु ब्रह्मा महादेव हैं ॥६२६॥

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः । प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्त्तिरेका त्रिधा कृता ॥६२७॥

रुद्रहृदयोप० मं० १५ ॥

अर्थ—कार्यरूप तो विष्णु है तथा क्रिया रूप ब्रह्मा है तथा कारणरूप महेश्वर है । प्रयोजनार्थं अर्थात् उत्पत्ति पालन संहार करने के वास्ते रुद्रजी ने एक मूर्त्ति से तीन प्रकार की कर दिया ॥६२७॥

धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः सर्वं ज्ञानं पितामहः । श्रीरुद्र रुद्र रुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः ॥६२८॥ रुद्रहृदयोप० मं १६

अर्थ—धर्माधर्म से उत्पन्न सृष्टि धर्मरूप रुद्र है जगतरूप विष्णु हैं सर्वज्ञता ज्ञान ब्रह्मा जी हैं। और जो बुद्धिमान पुरुष श्रीरुद्र रुद्र रुद्रेति इस प्रकार से जो तिन नामों को उच्चारण करता है ॥६२८॥

कीर्तनात्सर्व देवस्य सर्व पापैः प्रमुच्यते। रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः ॥६२९॥

रुद्रहृदयोप० मं० १७॥

अर्थ—सर्व देवताओं के नामोंके कीर्तन तैं सर्व पापों तैं मुक्त हो जाता है। जो नर हैं सो रुद्र हैं जो नारी सो उमा है तिस कारण तैं तिन स्त्री पुरुष दोनों को नमस्कार होवै नमस्कार होवै ॥६२९॥

रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै तस्यै नमो नमः। रुद्रो विष्णु रुमा लक्ष्मी-स्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥६३०॥

रुद्रहृदयोपनि० मं० १८॥

अर्थ—रुद्र ब्रह्माजी है वाणी उमा है तिस कारण तैं तिसको नमस्कार होवै नमस्कार होवै। रुद्रो विष्णु उमा लक्ष्मी है तिस कारण तैं तिस को नमस्कार होवै नमस्कार होवै ॥६३०॥

रुद्रः सूर्य उमा छाया तस्मै तस्यै नमो नमः। रुद्रः सोम उमा तारा तस्मै तस्यै नमो नमः ॥६३१॥

रुद्रहृदयोप० मं० १९॥

अर्थ—रुद्र ही सूर्यरूप है उमा छायारूप है रुद्र सोमरूप है उमा तारारूप है तिस कारण तैं तिसको नमस्कार होवै नमस्कार होवै ॥६३१॥

और जैसे घट शराबादिक कार्य मृत्तिका आदिक कारणों विषे लयभाव को प्राप्त होवै है। तैसे यह संपूर्ण जगत मैं अधिष्ठान परमात्मा देव विषे लयभाव को प्राप्त होवै है। और जैसे मालाके पुष्पों में सूत्र का तो अन्वय है और पुष्पों का परस्पर व्यतिरेक है। तैसे जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति बाल्य यौवन वृद्ध इत्यादिक अवस्थाओं विषे आत्मा का तो अन्वय है और तिन अवस्थाओं का परस्पर व्यतिरेक है। इस तैं आदि लैके अनेक प्रकार की तर्कों करके यह अधिकारी पुरुष वेदांत वचनों का अर्थ मनन करे। ता मनन करके या अधिकारी पुरुष की प्रमेयगत असंभावना निवृत्त होवै है। आत्मा व्यापक है अथवा परिच्छिन्न है इत्यादिक संशयों का नाम प्रमेयगत असंभावना है। अब निदिध्यासनका स्वरूप निरूपण करे हैं। हे देवताओ! यह मन अत्यंत चंचल है या तैं ता मन को यह अधिकारी पुरुष प्रथम किसी बाह्य प्रिय पदार्थ विषे एकाग्र करै। तिस तैं अनंतर यह अधिकारी पुरुष ता शिक्षित मन को अंतर आत्मा विषे एकाग्र करै। यां आत्मा विषे एकाग्रता को प्राप्त हुआ यह मन पुनः बहिर्मुखता को प्राप्त होवै नहीं। या का नाम निदिध्यासन है। तां निदिध्यासन कर के या अधिकारी पुरुष की विपरीत भावना निवृत्ति होवै है। अन्य वस्तु विषे अन्य बुद्धि का नाम विपरीत भावना है। तहां श्लोक—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चा युक्तस्य भावना। न चाभावयताः शांति रशांतस्य कुतः सुखम् ॥६३२॥

गी० अ० २ श्लो० ६६॥

अर्थ—जिस पुरुष ने अपने चित को वश नहीं करा है। ता पुरुष का नाम अयुक्त है। ऐसे अयुक्त पुरुष का श्रवण मननरूप वेदांत

विचार करके जन्य आत्म विषयक बुद्धि उत्पन्न होवै नहीं। और ता बुद्धि के अभाव हुए तिस अयुक्त पुरुष को विजातीय वृत्तियों के व्यवधान तैं रहित सजातीय वृत्तियों का प्रवाहरूप निदिध्यासनरूप भावना उत्पन्न होवै नहीं। और तां निदिध्यासनरूप भावना तैं रहित पुरुषको कार्य सहित अविद्या के निवृत्ति करने हारी तथा तत्त्वमसि आदिक वेदांत वाक्यों तैं जन्य जीव ब्रह्म के अभेद को विषय करनेहारी साक्षात्काररूप शांति उत्पन्न होवै नहीं। और ता साक्षात्काररूप शांति तैं रहित पुरुषको मोक्षानंदरूप सुख प्राप्त होवै नहीं ॥६३२॥

इस प्रकार श्रवण मनन निदिध्यासन करके असंभावना विपरीत भावना तैं रहित होइके अंतर आत्म विषे एकाग्रताको प्राप्त हुआ यह शुद्ध मन गुरुउपदिष्ट महावाक्यरूप प्रमाण तैं आत्मा के साक्षात्कार को उत्पन्न करे है। तहां श्रुति—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन सत्य विज्ञानेनेद ँ सर्वं विदितम् ॥६३३॥

बृहदारण्यकोप० अ० ४ मं० ५॥

शंका—हे भगवन्! महावाक्यरूप शब्द प्रमाण तैं विना ही मन स्वतंत्र आत्म साक्षात्कार को किस वास्ते नहीं उत्पन्न करता। समाधान—जैसे नेत्रादिक बाह्य इन्द्रिय कदाचित यथार्थ ज्ञानरूप अप्रमा को भी उत्पन्न करे है और कदाचित नेत्र इन्द्रिय दोष के वश्य तें यथार्थ ज्ञानको ही हम उत्पन्न करे हैं। अयथार्थ ज्ञान को हम नहीं उत्पन्न करें। यां प्रकार का आग्रह तिन नेत्रादिक इन्द्रियों विषे होवै नही। तैसे सर्व वृत्तियों का उपादान कारण जो यह मन है। सो मन भी कदाचित यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा को उत्पन्न करे है। और कदाचित् सो मन दोष के बल तैं अयथार्थ ज्ञानरूप अप्रमा को भी उत्पन्न करे है। यथार्थ ज्ञानको ही मैं उत्पन्न करों। अयथार्थ ज्ञानको मैं नहीं उत्पन्न करों या प्रकार का आग्रह ता मन विषे होवे नहीं और सर्व दोषों तैं रहित यह महावाक्यरूप शब्द प्रमाण तो केवल यथार्थ ज्ञानरूप प्रमाको ही उत्पन्न करे है। यां तैं आत्म साक्षात्कारकी उत्पत्ति विषे महावाक्य रूप शब्द प्रमाण ही प्रधान कारण है।

शंका—हे भगवन्! आत्माके साक्षात्कार विषे जो महावाक्यरूप शब्द प्रमाणको ही प्रधानता होवै तो मनकी सहायता तैं बिनाही सो महावाक्य रूप शब्द प्रमाण आत्म साक्षात्कारको किस वास्ते नहीं उत्पन्न करता। समाधान—जैसे नेत्रादिक बाह्य इंद्रिय करिकै जन्य जो घटपटादिक पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान है ता ज्ञान विषे नेत्रादिक इंद्रियों का घटपटादिक विषयों के साथ संयोग संबंध कारण है। विषय इंद्रय के संबंध तैं विना प्रयत्क्ष ज्ञान होवै नहीं। तैसे महावाक्य शब्द प्रमाण तैं मन विषे उत्पन्न भई जो आत्माकार वृत्ति है ता वृत्ति रूप ज्ञान विषे साक्षात्कारता तभी सिद्ध होवै जभी आत्मा के साथ मन का संयोग संबंध होवै आत्मा के साथ मन के संबंधतैं विना ता वृत्ति ज्ञान विषे साक्षात्कार रूपता सिद्ध होवै नहीं। या कारणतैं महावाक्य जन्य आत्म साक्षात्कार विषे आत्मा के साथ शुद्ध मन का संबंध भी अवश्य अपेक्षित है। या तैं यह अर्थ सिद्ध भया श्रवण मनन निदिध्यासन या तीन साधनों करिकै युक्त जो शुद्ध मन है सो मन गुरू उपदिष्ट महावाक्य रूप शब्द प्रमाण तैं अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार को उत्पन्न करै है।

शंका—हे भगवन्! आत्म साक्षात्कार के उत्पन्न हुए या अधिकारी पुरुष को कौन फल की प्राप्ति होवै है। समाधान—हे देवताओ! या अधिकारी पुरुष को जभी श्रवणादिक साधनों करिकै आत्म साक्षात्कारी प्राप्ति होवै है। तभी या अधिकारी पुरुष के आज्ञान रूप अविद्या की निवृत्ति होवै। और ता अविद्या कारण के नाश हुये तैं अनंतर या अधिकारी पुरुष के कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक संपूर्ण दुःखों की निवृत्ति होवै है। इस प्रकार कार्य सहित अविद्या के निवृत्त हुये तैं अनंतर या अधिकारी पुरुष के हृदय विषे स्वयं ज्योति अनंद स्वरूप अद्वितीय मैं आत्मा प्रादुर्भाव होवौं हूं।

दृष्टांत—जैसे मेघादिकों के निवृत्ति हुये केवल शुद्ध आकाश प्रतीत होवै है। तैसे कार्य सहित अविद्या के नाश हुए या अधिकारी पुरुष को आनंद स्वरूप अद्वितीय आत्मा प्रतीत होवै है। जैसे स्वप्न अवस्था तैं जाग्रत अवस्था को प्राप्त हुआ यह पुरुष ता स्वप्न के दुःखों को मिथ्या मानै है। तैसे आत्म साक्षात्कार करिकै अविद्या रूप निद्रातैं जागृत हुआ यह विद्वान पुरुष संपूर्ण दृश्य प्रपंच को मिथ्या मानै है। जैसे भयतैं रहित चक्रवर्ती महाराजा स्वप्न विषे जाय के नाना प्रकार के भय को आपने विषे मानै है। और स्वप्न तैं जागृत हुआ सो महाराजा स्वप्न के भय को अपने विषे माने नहीं। तैसे वास्तव तैं सर्व दुःखों तैं रहित हुआ भी यह पुरुष आपने आत्म स्वरूप के अज्ञान तै आपने विषे नाना प्रकार कै दुःखों को मानै है और आत्मा के साक्षात्कार हुये तैं अनंतर यह विद्वान पुरुष आपने स्वरूप विषे तिन संपूर्ण दुखों को मिथ्या मानै है। अब आत्मा के ज्ञान तैं सर्व प्रपंच के ज्ञान की सिद्धि करने वास्ते प्रथम अनेक दृष्टांतों करिकै प्रपंच में मिथ्यापना निरूपण करै हैं। जैसे शुद्ध आकाश विषे अविद्या करिकै गंधर्व नगर उत्पन्न होवै है। तैसे या शुद्ध आत्मा विषे भी अविद्या करिकै ही जगत उत्पन्न होवै है। और जैसे वास्तवतैं विचार करिकै देखिये तो ता अकाश विषे सो गंधर्व नगर तीन काल विषे उत्पन्न नहीं भया। तैसे वास्तवतैं विचार करिकै देखीये तो अद्वितीय आत्मा विषे भी यह दुःख रूप जगत तीन काल विषे उत्पन्न नहीं भया। जैसे नेत्र के तिमर दोष करिकै युक्त यह पुरुष एक चंद्रमा को अनेक देखे हैं तैसे अविद्या रूप दोष करिकै यह अज्ञानी जीव एक अद्वितीय आत्मा को अनेक रूप देखे। और जैसे मूढ बालक अपनी अंगुली सैं नेत्रों को निरोध करिकै निरमल अकाश विषे मयूर के पुच्छ समान विचित्र रूप को देखे है। तैसे यह मूढ अज्ञानी जीव भी अविद्या रूप दोष करिकै आनंद स्वरूप आत्मा विषे इस दुःख रूप जगत को देखे हैं।

शंका—हे भगवन्! जिन पुरुषों को आत्मा का साक्षात्कार नहीं भया। ऐसे अज्ञानी जीव जो कदाचित या जगत् को देखे तो या के विषे कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु आत्म साक्षात्कार करिकै जिन पुरुषों की कार्य सहित अविद्या निवृत्त भई है ऐसे विद्वान पुरुष भी या प्रपंच को देखे है। यह हमारे को बहुत आश्चर्य होवै है।

ईश्वर उवाच—हे देवताओ! जैसे या लोक विषे पूर्वादिक दिशावों विषे पश्चिमादिक दिशावों का भ्रम अज्ञानी जीवों को होवै है। तैसे शास्त्र

वेत्ता पुरुषों को भी सो दिशा भ्रम होवै है इस प्रकार जैसे या अज्ञानी पुरुषों को अद्वितीय आत्मा विषे नाना प्रकार का जगत प्रतीत होवै है। तैसे प्रारब्ध कर्मों करिकै रक्षित जो अविद्या का लेश है ता करिकै तिन विद्वान पुरुषों को भी शरीर के नाश पर्यंत कल्पित रूप करिकै जगत का भान होवै है। जैसे या लोक विषे जिस पुरुष नैं शंख को शुक्ल रूप वाला जान्या है तिस पुरुष को भी नेत्रों के पित्त दोष करिकै सो शंख पीत रूप वाला प्रतीत होवै है। तथा जिस पुरुष नैं गुड को मधुर रस वाला जान्या है। तिस पुरुष को भी जिह्वा दोष तैं सो गुड तिक्त रस वाला प्रतीत होवे है। तैसे जिस विद्वान पुरुष नैं अद्वितीय आत्मा का निश्चय किया है। तिस विद्वान पुरुषको भी अविद्या लेशके वशतैं प्रारब्ध कर्म के नाश पर्यंत यह जगत कल्पित रूप करिकै प्रतीत होवै है। अब विद्वान पुरुष को अज्ञानी जीवों तैं विलक्षणता बोधन करने वास्ते। अज्ञानी जीवों को प्रपंच दर्शन का अनेक दृष्टांतों करिकै निरूपण करै हैं। हे देवताओ! जैसे वास्तव तैं जल तैं रहित जो ऊषर भूमि है। ता ऊषर भूमि विषे तृषा आतुर मृगादिक जीवों को नाना प्रकार की लहिरीयों संयुक्त जल प्रतीत होवै है। तैसे वास्तवतैं भेद प्रपंचतैं रहित जो यह अद्वितीय आत्मा है। ता विषे विषयासक्त अज्ञानी पुरुषों को यह भेद प्रपंच प्रतीत होवै है। और जैसे वास्तवतैं रजत भावतैं रहित जो शुक्ति है ता शुक्त विषे लोभी पुरुषों को रजत प्रतीत होवै है। तैसे वास्तवतैं प्रपंच भावतैं रहित जो यह अद्वितीय आत्मा है। ता के विषे विषयासक्त अज्ञानी जीवों को यह जगत प्रतीत होवै है। और जैसे मंद अंधकार विषे यह पुरुष भय रूप दोष के वशतैं सर्प भावतैं रहित रज्जु विषे सर्प को देखे है। तथा चोर भावतैं रहित स्थानु विषे चोर को देखे है। तहां श्रुति—

उत्पन्ने तत्त्व विज्ञाने प्रारब्धं नैव मुंचति। तत्त्व ज्ञानोदयाद्रूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥६३४॥ नादबिंदूपनि० मं० २२

अर्थ—व्यवहारक सत्ता को मानने से अर्थात् चेतन की परिमार्थ सत्ता को ग्रहण करिकै। और प्रपंच की व्यवहारक सत्ता को ग्रहण करिकै। और रज्जु आदिकों में कल्पित सर्पादिकों की प्रातिभासक सत्ता ग्रहण करिकै। आत्मसाक्षात्कार से अनन्तर प्रारब्ध नैव मुंचति नहीं नाश होवे है। और यदि चेतन से सर्वभिन्न पदार्थों की प्रातिभासक सत्ता के ग्रहण से। आत्मसाक्षात्कार से अनन्तर प्रारब्धं नैव विद्यते प्रारब्ध नहीं रहिती ६३४

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः। उपादानं प्रपंचस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥६३५॥

नादबिंदूपनि० मं० २५॥

अर्थ—जो अध्यस्त वस्तु है तिसका कहां जन्म है जन्म के अभाव से स्थिति कहां है। उपादान प्रपंच की घट मृत्तिका की न्याईं देखती है ॥६३५॥

यथा रज्जुं परित्यज सर्पं गृह्णाति वैभ्रमात्। तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ॥६३६॥ नादबिंदूप० मं० २६

अर्थ—जैसे भ्रमके वश तैं रज्जु के स्वरूप को परित्याग करके मूढ बुद्धि पुरुष सर्प को देखे हैं। तिसी प्रकार सत चिदानंद अद्वितीय

स्वरूप ब्रह्म को न जान के जगत् को सत्तरूप मानै हैं ॥६३६॥

रज्जु खण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति। अधिष्टाने तथा ज्ञाते प्रपंचः शून्यतां गतः ॥६३७॥ नादविंदूप० मं० २७

अर्थ—जैसे रज्जु के स्वरूप का ज्ञान होने तैं सर्प ज्ञान तथा सर्प नहीं रहे हैं। तिसी प्रकार प्रपंच के अधिष्टानभूत परमात्मा के ज्ञान होने तैं प्रपंच मिथ्या प्रतीत होवै है ॥६३७॥

देहस्यापि प्रपंचत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः। अज्ञानजन बोधार्थं प्रारब्ध मिति चोच्यते ॥६३८॥ नादविंदू० मं० २८

अर्थ—दृष्टि सृष्टि वाद की रीति से जैसे प्रपंच प्रतीती मात्र है तैसे देह भी प्रतीतीक होने तैं प्रारब्ध की स्थिति कहां हो सकती है। अज्ञानी जनों के बोधार्थ प्रारब्ध कथन करी है ॥६३८॥

श्री देव्युवाच—

कटक त्वं यथा हेम्नि तरंगत्वं यथांभसि। सत्य त्वं च यथा स्वप्न संकल्प नगरादि ॥६३९॥

अर्थ—श्री देवी जी बोली जैसे सुवर्ण में कटक कुंडलादिक भूषण हैं तथा जैसे जल में तरंग हैं तथा जैसे स्वप्न संकल्प के नगरादिक सत्य हैं ॥६३९॥

नास्त्येव सत्यनुभवे तथा नास्त्येव ब्रह्मणि। कल्पना व्यतिरिक्तात्मतत्स्वभावादनामयात् ॥६४०॥

अर्थ—वास्तव अधिष्टान का ज्ञान होने तैं कल्पत वस्तु का अभाव हो जाता है तैसे आत्मा के अपरिणामी स्वभाव का अनुभव करने सें आत्मा सें पृथक् कोई कल्पना नहीं है। जैसे रज्जु में सर्प के विकार मिथ्या भूत सें ॥६४०॥

यथा नास्त्येम्बरेपांसुः परे नास्ति तथा कला। अकला कलनं शांतदमेकमजंततम् ॥६४१॥

अर्थ—जैसे अकाश में धूली नहीं है इसी प्रकार परब्रह्म में कोई द्वैत की कल्पना नहीं है। यह आत्मा विषय शून्य शांत अजन्मा अद्वैत एक रस सर्वव्यापक है ॥६४१॥

यादिदं भासते किंचित्तत्तस्यैव निरामयम्। कंचनंकाच कस्येव कांतस्यऽतिमणेरिव ॥६४२॥

यो० वा० उत्पत्ति प्र० स० २१ श्लोक ६५।६६-६७-६८।

अर्थ—यह सर्व नाम रूपात्मक जगत् भास मान है। यह शुद्ध आत्मा का ही प्रतिबिंब है। जैसे शुद्ध मणि का बिना विचारे कांच के सदृश्य प्रतीत होवै है ॥६४२॥

हेम्न्यर्मिकारूपधेरर्म्यर्मिकात्वं न विद्यते। यथा तथा जगद्रूपे जगन्नास्ति च ब्रह्मणे ॥३४३॥

अर्थ—जैसे अंगूठी के रूप धारण किये हुवे सुवर्ण से पृथक् अंगूठीपना कोई वस्तु नहीं है। तैसे ही जगतरूप धारी ब्रह्म में जगतपना कोई पदार्थ नहीं है ॥६४३॥

जगदाकाशमेवेदं ब्रह्मैवेहतु दृश्यते। दृश्यते काचिदप्यत्र धूलारंबु निधाविव ॥६४४॥

अर्थ—ब्रह्म ही इस जगदाकाश रूप सें दिखाई देता है इस ब्रह्म में भी माया ऐसे देख

पड़ती है जैसे धूलि विरोधि समुद्र में धूलि ॥६४४॥

अयं प्रपंचो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमद्वयम् । अत्र प्रमाणं वेदांता गुरवोऽनुभवस्तथा ॥६४५॥

अर्थ—इस ब्रह्मांड का जो कुछ यह प्रपंच है वह सर्व मिथ्या है । केवल अद्वैत ब्रह्म ही सत है इस में मुख्य प्रमाण वेदांत है । और वेदांत के तात्पर्य को अनुभव करने के वास्ते गुरू महात्मा लोग हैं और अंत में फली भूत अपना अनुभव प्रमाण है ॥६४५॥

ब्रह्मैव पश्यति ब्रह्म ना ब्रह्मब्रह्म-पश्यति । सर्वादिनाम्ना प्रथितः स्वभावोऽस्यैव चेदृशः ॥६४६॥

यो० वा० उत्पत्ति प्र० स० २१ श्लोक ३३।३४।३५।३६

अर्थ—ब्रह्म ही ब्रह्म को देखता है । ब्रह्म सें अन्य ब्रह्म को नहीं देखता । ब्रह्म ही सृष्टि आदि के नाम सें प्रसिद्ध है । ऐसा इस ब्रह्म का स्वभाव है ॥६४६॥

अर्थ—तैसे यह अज्ञानी जीव अविद्या रूप दोष के बल तैं निर्दुःख चेतन आत्मा विषे असत् जड दुःख अनात्मा रूप जगत को देखे हैं । जैसे स्वप्न अवस्था विषे या स्वप्न द्रष्टा पुरुष को जितना कि पति जायादिक जगत प्रतीत होवै है । सो जगत ता द्रष्टा पुरुष तैं भिन्न नहीं । तैसे जाग्रत अवस्था विषे भी जितना कि पति जायादिक जगत प्रतीत होवै । सो जगत् आनंद स्वरूप आत्मा तैं भिन्न नहीं किंतु सो जगत् आत्मा रूप ही है। या तैं हे देवताओ ! ऐसे अद्वितीय आनंद स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार को तुम श्रवणादिक साधनों युक्त शुद्ध मन करिकै तथा महावाक्य रूप शब्द प्रमाण करिकै सिद्ध करौ । ऐसे आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति तैं अनंतर तुम पुनः संसार दुःखों को नहीं प्राप्त होवोगे किंतु ब्रह्म को ही प्राप्त होवोगे ।

शंका—हे भगवन् ! मन की अशुद्धि क्या है । समाधान का—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति ॥६४७॥

मैत्रायणुपनिषद् । मं० ११

अर्थ—यह मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है । विषयों में असक्त मन बंध है और विषयों से विरक्त मन मुक्त कहा है ॥६४७

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागर पारगः। स्वतःशिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥६४८॥ पशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० ७

अर्थ—इस व्यापक ब्रह्म को अपना आत्मा रूप जानने से तात्काल ही अज्ञान समुद्र से पार हो जाता है । इसका स्वरूप स्वतें सिद्ध शिव पशुपतिः है सर्वदा काल सर्व स्थावर जंगम चारों खाणी का साक्षी रूप है ॥६४८॥

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु । विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥६४९॥ पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् । मं०८

अर्थ—तिन सर्व जीवों के मन को नियम में रखना रूप प्रेरितं प्रेरिना करता है । और यावत श्रोत्रादिक इन्द्रिय हैं सो आपने आपने विषयों को ग्रहण करने के वास्ते जाते हैं । तथा प्राण चेष्टा करते हैं तथा वाग्वदति अर्थात वागादिक कर्म इन्द्रिय आपने २ व्यापारों विषे साक्षी की सत्ता स्फुर्ति से ही प्रवृत्त होवे है ६४९

एषा ब्राह्मीस्थितः पार्थनैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वास्यमंत कालेऽपि-ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥६५०॥

गी० अ० २ श्लो० ७२

अर्थ—हे पार्थ ! यह जो ब्रह्म विषयक स्थिति है इसको प्राप्त होइके कोई भी पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होवे है । इस स्थिति विषे अंत अवस्था विषे स्थित होइके भी यह पुरुष निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होवे है ॥६५०॥

जैसे आकाश विषे कल्पित जो गंधर्व नगर अकाश रूप ही है । अकाशतें भिन्नता गंधर्व नगर की सत्ता नहीं है । तैसे आनन्द स्वरूप आत्मा विषे कल्पित जो यह जगत है । सो जगत् भी आत्मा स्वरूप ही है । आत्मा तें भिन्नता जगत की सत्ता नहीं है । इस वास्ते ता अधिष्ठ आत्मा के श्रवण तें यां सम्पूर्ण जगत का श्रवण होवे है तथा ता अधिष्ठान आत्मा के मननतें यां सम्पूर्ण जगत का मनन होवे है तथा ता अधिष्ठान आत्मा के ध्यानतें यां संपूर्ण जगत का ध्यान होवे है । तथा अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान तें या सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होवे है। तहांश्रुति—

येनाश्रुत ँ श्रुतं भवत्य मतं मतमविज्ञातं विज्ञात मिति कथं नु भगवः स अदेशो भवतीति ॥६५१॥

छांदोग्योपनिषद् । अ० ६ मं० ३ ।

अर्थ—हे सोम्य ! प्रिय श्वेतकेतु जिस एक वस्तु के श्रवण से सर्व अश्रुत पदार्थ का भी श्रवण होता है । तथा जिस एक वस्तु के मनन से सर्व अमनन पदार्थों का भी मनन हो जाता है । तथा जिस एक वस्तु के ज्ञान से सर्व अज्ञात पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है । ऐसा उपदेश तुमारे गुरूने तुमको किया है ॥६५१॥

हे देवताओ ! अधिष्ठान आत्मा के ज्ञानतें यां विद्वान पुरुष को सम्पूर्ण जगत का ज्ञान होवे है । यां प्रकार का वचन जो हमने तुमारे प्रति कहा है ता वचन का यह अभिप्राय है। अधिष्ठान आत्मा तें यां कल्पित जगत की भिन्न सत्ता नहीं है। यातें ता अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान हुए तें अनन्तर यां विद्वान पुरुष को ता कल्पित जगत का भी अर्थ तें ज्ञान होवे है। परन्तु यां देश विषे इतने पदार्थ हैं तथा तिन पदार्थों का या प्रकार का स्वरूप है। यां प्रकार का विशेष रूप करके सम्पूर्ण जगत का ज्ञान ता विद्वान पुरुष को होवे नहीं । काहे तैं यह विद्वान पुरुष विशेष रूप करके जगत को जाने या अर्थ को बोधन करने हारा कोई श्रुति वचन देखीता नहीं। और यह सम्पूर्ण जगत् सुख रूप पुरुषार्थ नहीं है। तथा दुःखाभाव रूप पुरुषार्थ नहीं है । तथा तिन दोनों पुरुषार्थों का साधनरूप नहीं है । ऐसे अपुरुषार्थ रूप जगत् के विशेष ज्ञान करके ता विद्वान पुरुष को किंचितमात्र भी सुख की प्राप्ति होवे नहीं । उलटा ता जगत के विशेष ज्ञान करके ता बिद्वान पुरुष को परिश्रम की ही प्राप्ति होवे है। हे देवताओ ! जो कदाचित् यह सम्पूर्ण जगत यां जीवों के सुख का भी हेतु होवे तौ भी यह सम्पूर्ण जगत् का विशेष रूप करके ज्ञान होना असंत दुर्घट है। यातें या विद्वान पुरुष ने ता जगत को विशेष रूप करके नहीं जानना । हे देवताओ ! यां अनात्म प्रपंच के ज्ञान करके अधिकारी पुरुषों को किंचित् मात्र भी पुरुषार्थ की प्राप्ति होवे नहीं। तथापि तुम सम्पूर्ण का चंचल स्वभाव है। यांते

जो कदाचित् कौतुक वास्ते तुम यां सम्पूर्ण जगत के देखने की इच्छा भी करते होवे तो अधिष्ठान आत्मा का ज्ञान ही कल्पित जगत् के ज्ञान का हेतु है। अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान विना दूसरा कोई उपाय जगत के ज्ञान का है नहीं। जैसे घट शरावादिक जितने कि मृत्तिका के कार्य हैं तिन घटादिकों का वास्तव स्वरूप मृतिका रूप उपादान कारण हैं। यातें ता मृतिका रूप उपादान कारण के ज्ञान हुए तें अनन्तर यां पुरुष को भिन्न देश विषे स्थित तथा भिन्न काल विषे स्थित सम्पूर्ण घट शरावादिक कार्यों का ज्ञान होवे है। तहांश्रुति—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डे न सर्वं मृन्मयं विज्ञात ७ स्वाद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ६५२

छांदोग्योपनिषद्। अ० ६ मं० ४।

अर्थ—जैसे हे सोम्यश्वेतकेतु एक मृत्तिपिंड करके सर्व घट शरावादिकों का ज्ञान होने तें सर्व मृत्तिका मये ही हैं ऐसा ज्ञान होजावे है। जितना भी मृत्तिका के कार्य नाम रूप है सो सर्व ही वाचा रम्भण मात्र ही मृत्तिका के कार्य हैं मृत्तिका ही सत्य है ॥६५२॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणि ना सर्वं लोहम्यं विज्ञात ७ स्याद्वाचारम्मणं विकारो नामधेयं लोह मित्येव सत्यम् ६५३

छांदोग्योपनिषद् अ० ६ मं० ५।

अर्थ—हे सोम्य प्रिय श्वेतकेतु! जैसे एक लोह मणि से उत्पन्न उसतरा कैंची चाकू आदिक सर्व कार्य का लोहमये ही ज्ञान हो जाने से तदनन्तरं नाम रूप कार्य का लोहमये निश्चय से जितने विकार हैं वाणी से कहने मात्र ही भेद है लोह ही सत्य है ॥६५३॥

तैसे यां आनन्द स्वरूप आत्मा का कार्य रूप जितना कि जगत है ताजगत का मैं आत्मा रूप कारण ही वास्तव स्वरूप हूं। या तैं श्रवणादिक साधनों करिकै या अधिकारी पुरुष को जभी आत्मारूप कारण का ज्ञान होवे है। तभी ता अधिकारी पुरुष को जगत् रूप कार्य का भी अर्थ तैं ही ज्ञान होवे है। तहां श्रुति—

कारणस्यैवैकार्यं कारणं तस्य जायते। कारणं तत्त्वतो नश्येत्कार्याभावे विचारतः ॥६५४॥ तेजोविंदूप० अ० १ मं० ४८॥

सर्वतः पाणीपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुति मल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥६५५॥

श्वेताश्वतरोप० अ० ३ मं० १६॥

अर्थ—सो ज्ञेय ब्रह्म कैसा है सर्व देहों विषे हैं हस्त पाद जिस के तथा सर्व देहों विषे हैं नेत्र शिर मुख जिस के तथा सर्व देहों विषे श्रवण इंद्रय वाला है तथा सर्व प्राणीयों के शरीर विषे सर्व चेतन वर्ग को तन्तु पट की न्याई व्याप्य करिकै स्थित है ॥६५४-६५५॥

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। सर्वस्य प्रभु मीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥६५६॥ श्वेता० अ० ३ मं० १७॥

अर्थ—सो ज्ञेय ब्रह्म सर्व इन्द्रियों तैं रहित है तथा सर्व इन्द्रियों के व्यापारों करिकै भासमान है। तथा सर्व का प्रभू है तथा सर्व का ईश्वर है तथा सर्व के महान शरण योग्य है ६५६

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुति मल्लोके सर्वमा

वृत्य तिष्ठति ॥६५७॥

गी० अ० १३ श्लोक १३॥

अर्थ—हे अर्जुन सो ज्ञेय ब्रह्म कैसा है सर्व देहों विषे हैं हस्त पाद जिस के तथा सर्व देहों विषे हैं नेत्र शिर मुख जिस के तथा सर्व देहों विषे श्रवण इन्द्रिय वाला है तथा सर्व प्राणियों के शरीर विषे सर्व चेतन वर्ग को तन्तु पट की न्याई व्याप्य करिकै स्थित है ॥६५७॥

अब भेद ज्ञान विषे अनर्थ की कारणता का निरूपण करे हैं। हे देवताओ ! जो पुरुष मैं अद्वितीय आत्मा विषे नानाभेद को देखे है सो भेद दर्शी पुरुष इस लोक विषे तथा परलोक विषे विषय सम्बन्धी सुख को भी प्राप्त होवे नहीं। तो सो भेद दर्शी पुरुष मोक्ष रूप सुख को प्राप्त होवेगा। या क विषे क्या आशा है। तहां श्रुति—

द्वितीया द्वै भयं भवति मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति अन्योऽसावन्योहमस्मिति न स वेद यथा पशु रेव स देवानाम् ॥६५८॥

कठोप० अ० १ मं ११॥

अर्थ—जो पुरुष इस परमात्मा विषे नाना की न्याइ देखता है सो मृत्यु तैं मृत्यु को प्राप्त होता है। अहं मैं अन्य हूं सो परमात्मा देव अन्य है ऐसा पुरुष यथार्थ नहीं देखता जैसे पशु देखता है सो देवताओं का पशु है ॥६५८॥

अब प्रपञ्च की स्थिति काल विषे आत्मा की अद्वितीय रूपता सिद्ध करने वास्ते दृष्टांत का निरूपण करे हैं। हे देवताओ या लोक विषे तामस राजस सात्त्विक यह तीन प्रकार के पदार्थ स्थित हैं, ते संपूर्ण पदार्थ आपनी स्थिति काल विषे या आनन्द स्वरूप आत्मा तैं भिन्न नहीं हैं। या प्रकार के अर्थ विषे तुमारी सम्भावना करावने वास्ते हम भेरी शंख वीणा को दृष्टान्त रूप करिकै निरूपण करे हैं। यह तीन प्रकार के वादित्र हैं। ते भेरी आदिक वादित्र दंड रूप निमित्त करिकै तथा मुख का वायु आदिक निमित्त करिकै क्रूर मध्यम मंजुल या तीन प्रकार के शब्दों को करे हैं। वीर रस को बोधन करने हारा जो भेरी आदिकों का शब्द है। ता का नाम क्रूर शब्द है और भयानक रस को बोधन करने हारा जो भेरी आदिकों का शब्द है। ताका नाम मध्यम शब्द है। और शृंगार रस को बोधन करने हारा जो भेरी आदिकों का शब्द है ताका नाम मंजल शब्द है। यह तीन प्रकार के शब्द भी उच्च नीच भेद करिकै अनेक प्रकार के हैं। भेरी शंख वीणा या तीनों के विशेष शब्द क्रम तैं भेरी शब्दत्व शंख शब्दत्व वीणा शब्दत्व यह तीनों धर्म यद्यपि क्रम तैं क्रूर भेरी शब्दत्व मध्यम भेरी शब्दत्व मंजुल भेरी शब्दत्व क्रूर शंख शब्दत्व मध्यम शंख शब्दत्व मंजुल शंख शब्दत्व क्रूर वीणा शब्दत्व मध्यम वीणा शब्दत्व मंजुल वीणा शब्दत्व इन धर्मों की अपेक्षा करिकै समान धर्म हैं। ता शब्दत्व रूप समान धर्मों की अपेक्षा करिकै भेरी शब्दादिक तीन विशेष धर्मों का ज्ञान शब्दत्व रूप सामान्य धर्म के ज्ञान तैं विना होवे नहीं। किंतु या जीवों को जभी प्रथम शब्दत्व रूप समान्य धर्म का ज्ञान होवे है। तिस तैं अनन्तर ही भेरी शब्द शंख शब्द वीणा शब्द यां तीन विशेष धर्मों का ज्ञान होवे है। इहां अधिक देश विषे रहने हारे धर्म का नाम समान्य धर्म है। और अल्प देश विषे रहने हारे धर्म का नाम विशेष धर्म है। तहां भेरी शब्द शंख शब्द वीणा शब्द या तीन प्रकार के शब्दों

विशे शब्दत्व धर्म रहै है। और भेरी शब्दत्व रूप धर्म केवल भेरी शब्द विषे ही रहे है। शंख वीणा के शब्द विषे रहे नहीं। तथा शंख शब्दत्व रूप धर्म भी केवल शंख शब्द विषे ही रहै है। भेरी वीणा के शब्द विषे रहे नहीं। तथा वीणा शब्दत्व रूप धर्म भी केवल वीणा शब्द विषे ही रहे है। भेरी शंख शब्द विषे रहे नहीं। या तैं शब्दत्व रूप समान्य धर्म के देश की अपेक्षा करिकै भेरी शब्दत्व शंख शब्दत्व वीणा शब्दत्व यह तीनों धर्म न्यून देश विषे वर्त्ते हैं। इस वास्ते ते तीनों धर्म शब्दत्व रूप समान्य धर्म की अपेक्षा करिकै विशेष धर्म है। इस प्रकार क्रूर भेरी शब्द मध्यम भेरी शब्द मंजुल भेरी शब्द या तीनों शब्दों विषे भेरी शब्दत्त रूप सामान्य धर्म अनुगत होइकै रहे है। और क्रूर भेरी शब्दत्व रूप धर्म केवल क्रूर भेरी शब्द विषे ही रहे है। मध्यम मंजुल भेरी शब्द विषे रहे नहीं। तथा मध्यम भेरी शब्दत्व रूप धर्म भी केवल मध्यम भेरी शब्द विषे ही रहे है। क्रूर मंजुल भेरी शब्द विषे रहे नहीं तथा मंजुल भेरी शब्दत्व रूप धर्म भी केवल मंजुल भेरी शब्द विषेरहे नहीं। या तैं भेरी शब्दत्व रूप समान्य धर्म के अधिकरण की अपेक्षा करिकै क्रूर भेरी शब्दत्व मध्यम भेरी शब्दत्व मंजुल भेरी शब्दत्व यह तीनों धर्म न्यून देश विष वर्त्ते हैं। यां कारणे तैं भेरी शब्दत्वरूप सामान्यधर्म की अपेक्षा करके। क्रूर भेरी शब्दत्वादिक तीन धर्म विशेष धर्म हैं। यां प्रकार की रीति शंख शब्द विषे तथा वीणा शब्दविषे भी जान लेनी यातैं यह अर्थ सिद्ध भया। जैसे शब्दत्वरूप सामान्य धर्म के ज्ञान तैं बिना भेरी शब्दत्वादिक विशेष धर्म का ज्ञान होवे नहीं। तैसे स्वयं ज्योती आत्माके अस्ति भाति प्रियरूप सामान्य धर्म के ज्ञान तैं बिना यां लोकविषे किसीं विशेष पदार्थ का ज्ञान होवे नहीं। किंतु अस्ति भाति प्रियरूप सामान्य धर्मों के ज्ञान तैं अनंतर ही यां जीवों को घटादिक विशेष पदार्थों का ज्ञान होवे है। अब अस्ति भाति प्रियरूप मैं आत्माविषे सामान्य रूपता स्पष्ट करने वास्ते प्रथम सर्वत्र आत्मा का अनुगतपना निरूपण करे हैं। हे देवताओ या लोकविषे जिन पदार्थों का प्रत्यक्षरूप करके ग्रहण होवे है तथा जिन पदार्थों का परोक्षरूप करके ग्रहण होवे है। तथा जिन पदार्थों का सत्यरूप करके ग्रहण होवे है। तथा जिन पदार्थों का असत्यरूप करके ग्रहण होवे है। तथा जिन पदार्थों का अहं रूप करके ग्रहण होवे है। तथा जिन पदार्थों का ममरूप करके ग्रहण होवे है। ते संपूर्ण पदार्थ मैं चेतन आत्मा तैं भिन्न नहीं किंतु ते संपूर्ण पदार्थ में चेतन आत्मारूप ही हैं। तात्पर्य यह है जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानविषे प्रतीत भयेजे सर्प दंड माला जलधारा आदिक पदार्थ हैं। ते कल्पित सर्पादिक रज्जुरूप अधिष्ठान तैं भिन्न नहीं। किंतु सो रज्जुरूप अधिष्ठान ही अज्ञानके वश तैं सर्पदंड माला जलधारा आदिक पदार्थ हैं। ते कल्पित सर्पादिक रज्जुरूप अधिष्ठान तैं भिन्न नहीं। किंतु सो रज्जुरूप अधिष्ठान ही अज्ञान के वश तैं सर्प दंड माला जलधारा आदिक अनेकरूपों करके स्थित होवे है। तैसे या आनंदस्वरूप आत्मविषे प्रतीत भया जो आकाशादिक प्रपंच हैं सो प्रपंच या अधिष्ठान आत्मा तैं भिन्न नहीं। किंतु सो अधिष्ठान आत्मा ही अज्ञान के वश तैं आकाशादिक जगत रूप होई के स्थित होवे है। या तैं अस्ति भाति प्रिय रूप सामान्य धर्मों की अपेक्षा करके आकाशादिक पदार्थ आत्माका विशेष धर्म हैं। तिन विशेष

धर्मों का ज्ञान अस्ति भाति प्रियरूप सामान्य धर्मों के ज्ञान करके ही होवे है । तहां श्रुति—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यं शपंचकम् । आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥६५९॥

सरस्वतीरहस्योपनिषत् मं० २३ ॥

अर्थ—अस्ति भाति प्रियरूप नाम तथा रूप संपूर्ण ब्रह्मांड इन पांच अंशसे स्थित है । आदि की तीनों अर्थात अस्ति भाति प्रियरूप तीनों अंश ब्रह्मरूप हैं और अंत की दोनों अंश जगद्रूप है ॥६५९॥

हे देवताओ ! मैं चेतन आत्माके विशेषरूप यद्यपि बहुत प्रकार के हैं । तथापि संक्षेप तैं मैं आत्मा के विशेषरूप दो प्रकार के हैं । एक तो युष्मद शब्द का अर्थरूप है और दूसरा अस्मद शब्द का अर्थरूप है । तहां इदं एतत इत्यादिक शब्दों कर के जिन पदार्थों का कथन होवे है । ते पदार्थ युष्मद शब्द का अर्थ रूप होवे है । और अहं मम अनिदं इत्यादिक शब्दों कर के जिन पदार्थों का कथन होवे है । ते पदार्थ अस्मद शब्दका अर्थ रूप होवे है । हे देवताओ ! अंतःकरणादिक संघात विशिष्ट में परमात्मारूप चेतन अस्मद शब्दका वाच्यार्थ हूं और बाह्य घटादिक पदार्थ विशिष्ट में चेतन युष्मद शब्द का वाच्यार्थ हूं । तहां युष्मद अस्मद शब्द के वाच्यार्थ का यद्यपि परस्पर भेद है तथापि तिन दोनों शब्दों की भाग त्याग लक्षणा करके प्रतीत भया जो मैं चेतनमात्र रूप लक्ष्यार्थ हूं । सो मैं चेतनमात्र रूप लक्ष्यार्थ तिन दोनों शब्दों का एक ही हूं । यातैं जिस अर्थ को युष्मद शब्द कथन करे है । तिसी अर्थ को अस्मद शब्द कथन करे है । अब या ही अर्थ को स्पष्ट करने वास्ते प्रथम युस्मद शब्द के अर्थ विषे अस्मद शब्द का अर्थ रूपता निरूपण करे हैं । हे देवताओ ! अस्मद शब्द का अर्थ रूप जो अंतरात्मा है तिस तैं भिन्न जितने कि बाह्य शंखादिक जड़ पदार्थ है । तथा पुरुषादिक चेतन पदार्थ हैं ते संपूर्ण जड चेतन पदार्थ । युस्मद शब्द का अर्थ रूप है । परन्तु ते शंखादिक जड पदार्थ जभी चेतन पुरुषों के वाकादिक इन्द्रियों के साथ सम्बंध को प्राप्त होवे है । तभी ते शंखादिक जड पदार्थ नाना प्रकारके शब्दों को करते हुये चेतन व्यवहारके योग्य होवे हैं । तथा चेतन पुरुषों के शरीर के साथ तदात्म्य अभिमान को प्राप्त हुये ते शंखादिक अस्मद शब्दके अर्थ रूप अपने आत्मा को युस्मद शब्द के अर्थ रूप बाह्य पदार्थों ते अभिन्न कर के माने है इस प्रकार युस्मद शब्द का अर्थ रूप करके प्रसिद्ध जो पुरुपादिक चेतन पदार्थ हैं । ते भी अस्मद शब्द के अर्थ रूप अपने आत्मा को युस्मद शब्द के अर्थ रूप अन्य पदार्थों तें अभिन्न करके माने है । युस्मद शब्द के अर्थ रूप जे शंखादिक जड़ पदार्थ हैं तथा पुरुषादिक चेतन पदार्थ हैं । तिनों विषे भी अस्मद शब्द का अर्थ रूपता संभव होइ सके है । शंका—

त्वं शब्दार्थो य आभाति सोऽहं शब्दार्थ एव ही । योऽहं शब्दार्थ आभाति स त्वं शब्दार्थ एव ही ॥६६०॥ त्वमहं शब्दालक्ष्यार्थः साक्षात्प्रत्यकिचेति परा । तच्छब्दस्य च लक्ष्यार्थः सैव नात्र विचारणा ॥६६१॥

ब्रह्म गी० अ० ५ ॥ श्लोक ॥७६—७७॥

अर्थ—हे भगवन् ! शंखादिक जड़ पदार्थों का चेतन पुरुषों के साथ तदात्म्य सम्बन्ध किस

प्रकार सम्भवै है। समाधान—यां लोक विषे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। जिस पदार्थ को चेतन पुरुष आपना आत्मा रूप करिकै ग्रहण नहीं करे है। किंतु यां सम्पूर्ण जड़ पदार्थों को चेतन पुरुष आपना आत्मा रूप करिकै ही ग्रहण करे है। तहां सर्व पदार्थों का मूल कारण जो अविद्या है ता अविद्या को मैं परमात्मा देव आपना शरीर रूप करिके ग्रहण करो हूं। और ता अविद्या का कार्य रूप जितनाकु सूक्ष्म प्रपंच है। ता समष्टि सूक्ष्म प्रपंच को यह हिरण्यगर्भ भगवान आपना शरीर रूप करिकै ग्रहण करे है। और ता अविद्या का कार्य रूप जितना कुस्थूल प्रपंच है ता समष्टि स्थूल प्रपंच को यह विराट भगवान आपना शरीर रूप करिकै ग्रहण करै है। और व्यष्टि रूप करिकै प्रसिद्ध जो जड पदार्थ है। तिन जड पदार्थों को यह अनेक मनुष्यादिक चेतन पुरुष आपना शरीर रूप करिकै ग्रहण करै हैं। या रीती सें संपूर्ण जड पदार्थ में चेतन के ही आश्रित हैं या तैं यह अर्थ सिद्ध भया। या लोक विषे नियम करिकै किसी पदार्थ विषे युष्मद शब्द की अर्थ रूपता नहीं किंतु एक दूसरे की अपेक्षा करिकै ही या जड चेतन पदार्थों विषे युष्मद अस्मद शब्द की अर्थ रूपता है। जिस पदार्थ को यह पुरुष आपना आत्मा रूप करिकै मानैं है। तिस पदार्थ विषे अस्मद शब्द की अर्थ रूपता है। और जिन पदार्थों को यह पुरुष आपने आत्मा तैं भिन्न करिकै मानैं है। तिन पदार्थों विषे युष्मद शब्द की अर्थ रूपता है। और देवदत्त नामा पुरुष की अपेक्षा करिकै यज्ञदत्त नामा पुरुष विषे युष्मद शब्द की अर्थ रूपता है। हे देवताओ! मनवाणी का अविषय रूप जो मैं आनंद स्वरूप आत्मा हूं। मैं आत्मा देव आपने अस्ति भाति प्रिय रूप करिकै सर्व अनात्म पदार्थों का अधिष्ठान रूप हूं। इस वास्तैं मैं आत्मा देव किसी शब्द का वाच्यार्थ नहीं हूं। किंतु मैं आत्मा देव तिन युष्मद अस्मदादिक सर्व शब्दों का लक्ष्यार्थ रूप हूं। या तैं मैं चेतन आत्मा रूप लक्ष्यार्थ को ग्रहण करिकै ही ते युष्मद अस्मद शब्द एक ही अर्थ को बोधन करै हैं। इस प्रकार युष्मद अस्मद या दोनों शब्दों की भाग त्याग लक्षणा करिकै जभी एक मैं चेतन आत्मा सिद्ध भया तभी ता युष्मद अस्मद शब्द के अर्थ का व्याप्य रूप जो अर्थ है। तिन अर्थों को बोधन करने हारे जो इदमादिक शब्द हैं। तिन इदमादिक शब्दों का भी लक्षणा वृत्ति करिकै एक मैं चेतन आत्मा ही अर्थ सिद्ध भया हूं। कैसा हूं मैं चेतन आत्मा आपने अस्ति भाति प्रिय रूप करिकै सर्व पदार्थों विषे स्फुरण होवौं हूं तथा सूर्यादिक ज्योतियों का भी मैं आत्मा देव ज्योति रूप हूं। ऐसे आनंद स्वरूप मैं आत्मा विषे यह आकाशादिक विशेष पदार्थ अज्ञानी जीवोंनैं अरोपण करै हैं। तहां श्रुति—

न तत्र सूर्योभाति न चंद्रतारकं नेमाविद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः। तमेवभांत मनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥६६२॥

श्वेता श्व० उ० अ० ६ मं० १४।

अर्थ—सो ब्रह्म ज्योतियों का ज्योति कैसे है। तिस आपने आत्मा रूप ब्रह्म विषे सर्व का प्रकाशक सूर्य भी भासता नहीं; कहिये ता ब्रह्म को प्रकाशता नहीं। सो सूर्य तिसी ही ब्रह्म रूप आत्मा के प्रकाशतैं सर्व अनात्म जड सर्व को प्रकाशता है। परन्तु ता को आपने आप

प्रकाश कर नैं मैं समर्थ नहीं है। तैसें तिस ब्रह्म विषे चंद्रमा तथा तारागण भी भासता नहीं। और यह विजलीयां भी भासती नहीं। तब यह हम लोकों के नेत्रों का विषय जो अग्नि है सो कहां सैं भासैगी। यह जो जगत् भासता है सो सर्व तिसी ही परमेश्वर के प्रकाश तैं प्रकाश मान होवै हैं पीछे प्रकाशता है। जैसे अग्नि के संयोग तैं अर्द्ध दग्ध काष्टादि हैं सो जलावने वाले अग्नि सें पीछे जलावता है आप तैं नहीं। तैसे जगत का आत्मा के प्रकाशमान हूं ये पीछे प्रकाश होता है अपतैं नहीं। या तैं तिस आत्मा के प्रकाशतैं सर्व यह जगत् सूर्यादिक ज्योति भासतैं हैं। और सर्व और पूर्व पश्चिम दक्षिण भाग वाम भाग में आत्मा ही है ॥६६२॥

ब्रह्मैवेद मभृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्द्ध च अमृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं विरष्टत् ॥६६३॥

अर्थ—ज्योतियों का ज्योति ब्रह्म है। सो सत्य है और जो अविद्या युक्त दृष्टि वाले पुरुषों को अग्र भाग में भास मान वस्तु है। उक्त लक्षण वाला अमृत रूप ब्रह्म ही है। तैसे पीछे ब्रह्म है तथा दक्षिण भाग ब्रह्म है तथा वाम भाग में ब्रह्म है तथा नीचे ब्रह्म है तथा ऊपर ब्रह्म है। और सर्व कार्य के अकार से सर्व ओर से नाम रूपात्मक पसरिया हुआ यह भासमान जो वस्तु है सो परमात्मा ब्रह्म ही है। बहुत कहने से क्या है यह समस्त जगत अत्यन्त श्रेष्ट ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न जो प्रतीति है। सो रज्जु विषे सर्प की प्रतीति की न्याईं अविद्या मात्र है। एक ब्रह्म ही परमार्थ तैं सत्य है यह वेद की आज्ञा है ॥६६३॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तंते तद्धाम परमं मम ॥६६४॥ गी० अ० १५ श्लो० ६॥

अर्थ—हे अर्जुन जिस पद को प्राप्त होइकै तत्त्ववेत्ता पुरुष नहीं आवृत्ति को प्राप्त होवे हैं तिस पद को सूर्य भी नहीं प्रकाश करिसकै है तथा चन्द्रमा भी नहीं प्रकाश करिसकै है। तथा अग्नि भी नहीं प्रकाश करिसकै है जिस कारण तैं मैं विष्णु का स्वरूप भूत सो पद सर्व तै उत्कृष्ट स्वयं प्रकाश स्वरूप है ॥६६४॥

वेदाह मेतं पुरुषं महांत मदित्य वर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्यु मेति नान्यः पंथाविद्यतेऽयनाय ॥६६५॥ श्वेताश्वतरोप० अ० ३ मं० ८॥

अर्थ—देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित जो वस्तु है सो महांत को वेद जाने है। जो सर्व जगा पूर्ण हैं सो पुरुष है तथा अदित्य वर्ण तमसा अज्ञान से परस्तात परे है इस प्रकार के स्वरूप युक्त तिस हम को जान करिकै जन्म मरण प्रवाह को तर जाता है मोक्ष के वास्ते अन्य मार्ग नहीं है ॥६६५॥

हे देवताओ! यां कहिने तैं यह अर्थ सिद्ध भया। जैसे शब्दत्व रूप समान्य धर्म के ज्ञान हुए तैं अनन्तर ही भेरी शब्दत्व वीणा शब्दत्व इत्यादिक विशेष धर्मों के ज्ञान हुए तैं अनन्तर ही या जीवों को क्रूर भेरी शब्दत्व क्रूर शंख शब्दत्वादिक विशेष धर्मों का ज्ञान होवे है। तैसे अस्तिभाति प्रिय रूप आत्मा के स्फुरण हुए तैं अनन्तर ही यां जीवों को अहं त्वं आदिक विशेष व्यवहार सिद्ध होवे है। मैं आनन्दस्वरूप आत्मा

के स्फुरण तैं विना यां लोक विषे कोई भी व्यवहार सिद्ध होवे नहीं। आपनी स्थिति काल विषे यह सम्पूर्ण जड़ चेतनरूप जगत् मेरा अद्वितीय आत्मा रूप है। हे देवताओ। पूर्वोक्त रीति से मैं द्रष्टा आत्मा अविनाशी हूं यातें अविनाशी आत्मा का स्वरूप भूत जो ज्ञान दृष्टि है। सो भी नाश को प्राप्त होवे नहीं। किन्तु सर्वदा रहे है। जैसे अग्नि के नाश हुए ही उष्णता नाश होवे है। तैसे मैं आनन्द स्वरूप आत्मा विनाश तें रहित हूं। यातें मैं आत्मा का स्वरूप भूत जो ज्ञानरूप दृष्टि है ताका भी नाश होवे नहीं। यां कहने करके यह अर्थ सिद्धभया सुषुप्ति अवस्था विषे मैं आत्मादेव द्वैत प्रपंच को जो नहीं देखता यांके विषे मैं आत्मा के स्वरूप भूत ज्ञान का अभाव कारण नहीं है। किन्तु सर्वद्वैत प्रपंच का अभाव ही तारे विषे कारण है। हे देवताओ! जाग्रत अवस्था विषे तथा स्वप्नावस्था विषे भेद रूप कार्य अविद्या विद्यमान है। यां कारण तें जाग्रत अवस्था विषे तथा स्वप्नावस्था विषे मैं द्रष्टा पुरुष रूपादिक दृश्य पदार्थों को आपने तें भिन्नमानता हूं तथा नेत्रादिक इन्द्रियों को आपने तैं भिन्न मानता हूं। और आपने तें भिन्न रूप करके कल्पिना करे जो नेत्रादिक इन्द्रिय तिनों करके भिन्न रूपादिक विषयों को देखे हैं। और सुषुप्ति अवस्था विषे भेद रूप कार्य अविद्या का तथा काम कर्म का अभाव होवे है। यातें मैं द्रष्टा पुरुष सुषुप्ति अवस्था विषे आपने स्वरूप तैं भिन्न रूप करके कल्पित प्रपंच को देखता नहीं। काहेतें सुषुप्ति अवस्था विषे यह सम्पूर्ण भूत भौतिक प्रपंच जो कदाचित मैं द्रष्टा आत्मा तैं भिन्न होवे। तो ता प्रपंच को मैं आत्मा भिन्न देखों परन्तु सुषुप्ति अवस्था विषे यह सम्पूर्ण जगत् में आत्मा तें भिन्न होवे नहीं। याते सुषुप्ति अवस्था विषे में द्रष्टा पुरुष ता जगत् को आपने तैं भिन्न रूप करके नहीं देखता। हे देवताओ! सुषुप्ति अवस्था विषे स्थित जो मैं आनन्द स्वरूप आत्मा हूं। सो मैं सजातीय तथा विजातीय स्वगत भेद तें रहित हूं। इसी वास्ते में आत्मादेव एक अद्वितीय रूप हूं। और मैं ही आत्मादेव ब्रह्मरूप हूं। तथा स्वयं ज्योति रूप तथा परम· लोक रूप हूं। हे देवताओ! सुषुप्ति अवस्था विषे जो हमने तुमारे प्रति आत्मा का स्वरूप कथन किया है। सो आत्मा का स्वरूप ही अधिकारी पुरुषों को यज्ञादिक बहिरंग साधनों करके प्राप्त होने योग्य है। तथा विवेक वैराग्य शमदमादिक षट सम्पति मुमुक्षुता श्रवण मनन निदिध्यासन तत्वं पदार्थ का शोधन यह अष्ट अन्तरङ्ग साधनों करके प्राप्त होने योग्य है। तहांश्रुति—

ब्रह्मचारिणे शांताय दांताय गुरुभक्ताय। हंसहंसेति सदा ध्यायन्सर्वेषु देहेषु व्याप्यवर्तते। यथा अग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा मृत्यु मत्येंति ॥६६६॥ हंसोपनिषद् मं० ४

अर्थ—ब्रह्मचर्य साधन करके तथा शम रूप साधन करके तथा दमादिक चतुष्टे साधन· युक्त तथा गुरु की भक्ति करके युक्त अधिकारी पुरुष को ही इस आत्मारूपी हंस का सर्वदा· काल सर्व देहों विषे व्यापक रूप से वर्तमान का ध्यान करे। जैसे काष्टों विषे अग्नि है तथा तिलों विषे तैल की न्याईं व्यापक है। तिस हंस रूप आत्मा को जान करके मृत्यु को तर·

जाता है ॥६६६॥

इन पूर्वोक्त साधनों से रहित पुरुष को मैं आत्मा का साक्षात्कार होवे नहीं। मैं आत्मा के साक्षात्कार तैं रहित पुरुष को शांति प्राप्त होवे नहीं। शांति से रहित पुरुष को इस लोक विषे सुख की प्राप्ति होवे है न परलोक विषे सुख की प्राप्ति होवे है। तहांश्लोक—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्यन चा युक्तस्यभावना। नचाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥६६७॥

गी० अ० २ श्लोक ६६।

अर्थ—जिस पुरुष ने आपने चित्त को वश नहीं करा हैं। ता पुरुष का नाम अयुक्त है ऐसे अयुक्त पुरुष को श्रवण मनन रूप वेदांत विचार करके जन्य आत्म विषयक बुद्धि उत्पन्न होवे नहीं। और ता बुद्धि के अभाव हुए तिस अयुक्त पुरुष को विजातीय वृत्तियों के व्यवधान तैं रहित सजातीय वृत्तियों का प्रवाह रूप निदिध्यासन रूप भावना उत्पन्न होवे नहीं। और ता निदि ध्यासन रूप भावना तैं रहित पुरुष को कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति करने हारी तथा तत्वमसि आदिक वेदांत वाक्यों तैं जन्य तथा जीव ब्रह्म के अभेद को विषय करने हारी साक्षात्काररूप शांति तैं रहित शांति उत्पन्न होवे नहीं। और ता साक्षात्कार रूप शांति तैं रहित पुरुष को मोक्षा नन्दरूप सुख प्राप्त होवे नहीं ॥६६७॥

आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मानोवा अरे दर्शनेन श्रवणेन सत्य विज्ञानेनेद ७ सर्वं विदितम् ॥६६८॥

बृहदारण्यक उ० अ० ४ मं० ५।

हे देवताओ ! मैं आत्मा तैं भिन्न सम्पूर्ण पदार्थ नाशवान हैं। ते अनात्म पदार्थ अधिकारी पुरुषों को प्राप्त होने योग्य नहीं है। इस वास्ते श्रुति भगवती में आनन्द स्वरूप आत्मा को परमगति या नाम करके कथन करे है। जहां चित्त की शुद्धि विषे जिन साधनों का उपयोग होवे तिन साधनों का नाम बहिरङ्ग साधन है। और श्रवण विषे तथा आत्म ज्ञान विषे जिन साधनों का उपयोग होवे। तिन साधनों का नाम अंतरंग साधन है और हे देवताओ ! या लोक विषे जितनी कुसंपिदा है तिसतें कुंवेर की संपिता अधिक है। या कारण तें कुंबेर की सम्पदा को लोक परम सम्पदा कहे हैं। तैसे सुषुप्ति विषे स्थित जो मैं आनन्द स्वरूप आत्मा हूं। तिस तें परे कोई अधिक सम्पदा है नहीं। यां कारण तें श्रुति भगवति मैं आनन्द स्वरूप आत्मा को परम सम्पदा यां नाम करके कथन करे हैं। और सुषुप्ति अवस्था विषे जिस मैं आनन्द आत्मा को यह जीवनित्य ही प्राप्त होवे है। तिस आनन्द स्वरूप आत्मा तैं परे कोई अनात्म पदार्थ दर्शन करने योग्य नहीं है। किंतु मैं आनंद स्वरूप आत्मा ही अधिकारी पुरुषों नैं देखने योग्य है। इस वासतैं श्रुति भगवती मैं आनंद स्वरूप आत्मा को परमलोक या नाम करिकै कथन करे है। हे देवताओ ! मैं आनंद स्वरूप आत्मा तैं भिन्न रूपादिक गुणों करिकै युक्त जो सुंदर स्त्रीयां हैं। ते स्त्रीयां भी या जीवों का परमलोक नहीं और सर्व गुणों करिकै संपन्न जो आज्ञाकारी पुत्र हैं ते पुत्र भी या जीवों का परमलोक नहीं। और सुंदर रूप करिकै युक्त तथा अत्यंत कोमल जो आपना शरीर है सो भी परमलोक

नहीं है। और पर्वत के समान है अकार जिनों का ऐसे जो हस्ति हैं। तथा वायु की न्याई अकाश मार्ग विषे गमन करने हारे जो अश्व हैं। तथा मेघ की गर्जना के समान है शब्द जिनों के ऐसे जे रथ हैं। तथा भय तैं रहित असंत शूरवीर जे पदाति पुरुष हैं। तथा शंख पद्मम संख्या है धन जिनों विषे ऐसे जे धन के कोश है। तथा नाना प्रकार के अन्न करिकै पूर्ण जो कोठीयां हैं। स्वर्ग की अप्सरावों के समान जे अनेक वीरांगना हैं। तथा इंद्र के वैजयंती नामक गृह के समान जे अनेक गृह हैं। तथा इंद्राणी के समान सुंदर जो अनेक स्त्रीयां है। तथा धन धान्य करिकै पूर्ण जो अज्ञाकारी प्रजा है। इस तैं आदिलै के अनेक प्रकार के भोग्य साधनों करिकै युक्त जो राज्य है। सो राज्य भी या जीवों का परमलोक नहीं। और ता राज्य के भोगने करिकै या जीवों को जो सुख होवै है। सो सुख भी या जीवों का परमलोक नहीं। किंतु सुषुप्ति अवस्था विषे प्राप्त होने योग्य जो मैं अद्वितीय आत्मा हूं। सो मैं आत्मा ही या जीवों का परमलोक हूं। और सुषुप्ति अवस्था विषे जिस मैं आनंद स्वरूप आत्मा को यह जीव प्राप्त होवै है। सो मैं आत्मा रूप आनंद सर्वलौकिक आनंदों तैं अधिक हूं। इस वास्ते श्रुति भगवती मैं अद्वितीय आत्मा को परमानंद या नाम करिकै कथन करै है।

शंका—हे भगवान! सर्व लौकिक आनंदों तैं आप आनंद स्वरूप आत्मा किस प्रकार अधिक हो। समाधान—आनंद का समुद्र जो मैं आत्मा देव हूं। ता के लेशमात्र आनंद को आश्रयण करिकै संपूर्ण स्थावर जंगम प्राणी जीवन को आनंद प्राप्त होवै है। यहां लेश शब्द का यह अर्थ है स्निग्ध जो घृतादिक पदार्थ हैं तिनों को हस्त विषे ग्रहण करिकै पुनः ता घृतादिकों को परित्याग किये तैं आनंतर जो हस्त विषे जो घृतादिकों का अंश रहै है। ताका नाम लेश है। या प्रकार कै आनंदों के लेश को आश्रयण करिकै सर्व प्राणी जीवन को आनंद की प्राप्ति होवै है। और जैसे सर्व जलों का निधि जो समुद्र है। ता के लेशमात्र को ग्रहण करिकै वर्षा काल विषे मेघ अभिव्यक्ति को प्राप्त होवै है। तैसे मैं आनंद स्वरूप आनंद का समुद्र आत्मा के लेशमात्र आनंद को आश्रयण करिकै ब्रह्मा तैं आदिलै कै कीटपर्यंत सर्व प्राणी जीवन को आनंद प्राप्त होवै है। या कारण तैं ही श्रुति भगवति मैं आत्मा को परमानंद रूप करिकै कहै हैं। अब मैं आत्मा विषे परमानंद रूपता स्पष्ट करने वास्ते प्रथम संसार दशा विषे ता परमानंद की अप्रतीती विषे कारण का निरूपण करै हैं। हे देवताओ! विषयों की प्राप्ति करिकै मनुष्यादिक प्राणियों को जो सुख होवै है ता सुख को ही लोक आनंद कहै हैं। और स्त्री पुत्र धन धान्य इस तैं आदिलै कै जे नाना प्रकार कै विषय हैं। तिन विषयों को लोकता सुख का कारण मानै हैं। या के विषे यह विचार किया चाहिये। ता स्त्री पुत्रादिक विषयों विषे ता सुख की उत्पादिकता रूप कारणता है। अथवा प्रतिबंध की निवृत्ति द्वारा ता सुख की अभिव्यंजकता रूप कारणता है। तहां आत्मा रूप जो नित्य सुख है। ता की विषयों करिकै उत्पत्ति संभवै नहीं। या तैं सुख की उत्पादिकता रूप प्रथम कारणता यद्यपि विषयों

विषे संभवै नहीं तथापि स्त्री पुत्रादिक विषयों विषे प्रतिबंध की निवृत्ति द्वारा सुख की अभिव्यंजकता रूप दूसरी कारणता संभवै है। काहे तैं जैसे तृषा करिकै आतुर कोई मूढ़ पुरुष तृणों करिकै अच्छादित जो समीप वर्त्ति जल है। ता का परित्याग करिकै मृग तृष्णा के जल को पान करने वास्तैं जावै है। तैसे सुख प्राप्ति की इच्छावान जे यह अज्ञानी जीव हैं। ते जीव अज्ञान करिकै अवृत्त जो असंत समीपवर्ति मैं आनंद स्वरूप आत्मा हूं ता का परित्याग करिकै बाह्य विषयों को देख करिकै तिन विषयों की प्राप्ति की इच्छा करै हैं। और तिन विषयों की इच्छा करिकै तिन जीवों को दुःख की प्राप्ति होवै है। और सो इच्छाजन्य दुःख मैं आत्मा रूप आनंद का प्रतिबंधक है। जैसे मणिमंत्रादिक प्रतिबंधक जब पर्यंत अग्नि के समीप रहै है। तब पर्यंत अग्नि दाह करै नहीं। तैसे जब पर्यंत इच्छा जन्य दुःख अंतः करण विषे विद्यमान है तब पर्यंत मैं आत्मा स्वरूप आनंद का भान होवै नहीं और जैसे मणिमंत्रादिक प्रतिबंध के निवृत्त हुये तैं अनंतर सो अग्नि दाह्य को करै है। तैसे या जीवों को जिस जिस विषय की इच्छा होवै है। सो सो विषय जीवों को जभी प्राप्त होवै हैं। तभी ता विषय की इच्छा निवृत्त होइ जावै है। परंतु सो विषय की इच्छा निवृत्त तब पर्यंत रहै है। जब पर्यंत तिस विषय विषे अथवा अन्य किसी विषय विषे या जीवों की पुनः इच्छा उत्पन्न नहीं भई। पुनः इच्छा के उत्पन्न हुये सो पूर्व इच्छा की निवृत्ति रहै नहीं। और विषय की इच्छा रूप कारण के नाश हुये सो इच्छा जन्य दुःख भी नाश हो जावै है। और जब पर्यंत सो दुःख का अभाव अंतः करण विषे रहै है। तब पर्यंत विक्षेपतैं रहित तथा अज्ञान करिकै अवृत्त जो मैं आनंद स्वरूप आत्मा हूं। ता आनंद की प्रतीती जीवों को होवै है। तिस आत्मा स्वरूप आनंद को अज्ञानी जीव सुख नाम करिकै कथन करै है। तात्पर्य यह है। लोक विषे दो प्रकार का प्रतिबंध होवै है। एक तो अवरण रूप प्रतिबंधक होवै है। जैसे सूर्य के दर्शन विषे मेघ रूप अवरण प्रतिबन्धक होवे है। और दूसरा विक्षेप रूप प्रतिबन्धक होवे है। जैसे घटादिक पदार्थों के दर्शन विषे नेत्रों की अत्यन्त चंचलता रूप विक्षेप प्रति बन्धक है। तैसे यहां प्रसंग विषे विषय की इच्छा रूप करिकै जो बुद्धि की चंचलता है। सो बुद्धि की चंचलता रूप विक्षेप मैं आत्मारूप आनन्द के भान का प्रति बन्धक है। और जिस विषय की इच्छा करिकै बुद्धि चंचल होवे है। ता विषय की जभी प्राप्ति होवै है। तभी चंचलता रूप विक्षेप का परित्याग करिकै सो बुद्धि को जब पर्यन्त दूसरे विषय की इच्छा नहीं भई तब पर्यन्त स्थिर होवे है। ता स्थिर बुद्धि विषे अज्ञान करिकै अवृत जो आनन्दस्वरूप मैं आत्मा हूं। ताका स्पष्ट रूप करिकै भान होवे नहीं। तिसी अज्ञान करिकै अवृत आत्मा रूप आनन्द को अज्ञानी मूढ़ पुरुष विषय जन्य सुख कहे हैं।

शंका—हे भगवन्! विषय की प्राप्ति काल विषे अज्ञान करिकै आवृत आत्मानन्द का भान होवे है। यह वार्त्ता कैसे जानी जावे। समाधान—हे देवताओ! विषय की प्राप्ति काल विषे अज्ञानी जीवों को जो कदाचित आवरण रहित आत्मानन्द का भान होता तो जैसे मुक्त अवस्था विषे

ज्ञानी पुरुषों को मैं सुख रूप हूं। या प्रकार का सुख का अनुभव होवे है। तैंसे अज्ञानी जीवों को विषय की प्राप्ति काल विषे मैं सुख रूप हूं। यां प्रकार का अनुभव होना चाहिये। और मैं सुख रूप हूं या प्रकार का अनुभव अज्ञानी जीवों को होवे नहीं। किन्तु मैं सुख वाला हूं या प्रकार का अनुभव अज्ञानी जीवों को होवे है। या तैं यह जान्या जावे है विषय की प्राप्ति काल विषे जो आत्मानन्द प्रतीत होवे है। सो अज्ञान करिकै आवृत प्रतीत होवे है। एक मुक्त अवस्था विषे ही अवरण रहित आत्मा का भान होवे है। अब ता विषय जन्य सुख के न्यून अधिकता को दृष्टांत करिकै स्पष्ट करे हैं। जैसे अंधकार करिकै युक्त जो अकाश है। ता आकाश के किसी अंश विषे स्थित होइकै खद्योत जन्तु अथवा मणि ता अकाश के जितने देश का अंधकार निवृत्त करे है। उतने देश विषे ही आकाश का स्फुरण होवे है। तिस तैं अधिक अकाश का स्फुरण होवे नहीं। तैसे मैं आत्मा रूप अकाश विषे स्थित जो इच्छा जन्य दुःख रूप अन्धकार है। तिस दुःख रूप अन्धकार के जितने अंश के विषय की प्राप्ति रूप खद्योतादिक निवृत करे हैं। उतने प्रमाण ही मैं आत्मारूप सुख विक्षेप तैं रहित हुआ प्रतीत होवे है। तिस तैं अधिक सुख प्रतीत होवे नहीं। या प्रकार एक ही मैं आत्मा रूप सुख की न्यून अधिकता प्रतीत होवै है। इतनैं करिकै इच्छाजन्य दुःख रूप प्रतिबंधक के अभाव के विद्यामन हुये मैं आत्मानंद के प्रतीति की विद्यमानता रूप अन्वय दिखाया। अब ता दुःख रूप प्रतिबंधक के विद्यमान हुये आत्मानंद के प्रतीति की अविद्यमानता रूप व्यतिरेक का निरूपण करै हैं। हे देवताओ। जैसे अन्धकार युक्त अकाश विषे खद्योत के तथा मणि कै विद्यमान हुए जो अकाश का देश स्फुरण होता था सोइही अकाश का देश खद्योत के तथा मणि के निवृत्त हुए तैं अनन्तर पुनः अन्धकार करिकै आवृत हुआ प्रतीत होवे है। तैसे विषय की प्राप्ति काल विषे ता विषय की इच्छा जन्य दुःख के निवृत्त हुए जो आत्मा रूप आनन्द प्रतीत होता था सो आत्मा रूप आनन्द दूसरे विषय की इच्छा के उत्पन्न हुए प्रतीत होवे नहीं। या तै यह सिद्ध भया विषय की प्राप्ति करिकै जन्य जो दुःखाभाव है सो दुःखाभाव ही अन्वय व्यतिरेक करिकै मैं आत्मारूप सुख प्रतीती का कारण है।

शंका—हे भगवन्! विषय की प्राप्ति तैं इच्छा की निवृत्ति होवे है। और इच्छा के निवृत्त हुए दुःख की निवृत्ति होवे है। और विक्षेप रूप दुःख के निवृत्त हुए आत्मा रूप सुख की प्रतीति होवे है। या प्रकार का नियम जो आपने कह्या है सो नियम यद्यपि स्त्री पुत्रादिक विषय जन्य सुख विषे घटे है। तथापि पीनस रोग वाले पुरुष को छिक्कां की प्राप्ति करिकै जो सुख होवे है। तथा उदगार की प्राप्ति करिकै जो सुख होवे है। ता सुख विषे सो नियम घटे नहीं। काहे तैं आपने विषय की इच्छा की निवृत्ति आत्मा रूप सुख के प्रतीति विषे कारण कही है। और छिक्कां विषे तथा उदगार विषे किसी पुरुष को इच्छा होवे नहीं। या तैं इच्छा की निवृत्ति तहां संभवे नहीं। समाधान—किसी निमित्त करिकै जभी छिक्कां तथा उदगार का निरोध होवे है। तभी ता छिक्कां विषे तथा उदगार विषे लोकों की इच्छा होवे है। या तैं छिक्कां की प्राप्ति तैं तथा उदगार

की प्राप्ति तैं जो जीवों को सुख होवे है। सो सुख भी इच्छा की निवृत्ति तैं ही होवे है। या तैं पूर्वोक्त नियम का किसी स्थल विषे विरोध नहीं है। या तैं या लोक विषे न्यून अधिक भाव करिकै स्थिति जितना कि वैषयिक सुख है। सो सुख मैं आत्मा रूप आनन्द तैं भिन्न नहीं। किन्तु सो सुख मैं आत्मानन्द रूप ही है। या कारण तैं ही स्त्री पुत्रादिक विषयों की प्राप्ति मैं आत्मा रूप सुख की उत्पत्ति का कारण नहीं। किंतु सो विषयों की प्राप्ति इच्छा की निवृत्ति द्वारा आत्म सुख के अभिव्यंजकता का कारण है। इतने करिकै विषय जन्य सुख विषे। मैं आत्मानन्द रूपता दिखाई। अब विषय जन्य लौकिक सुखों विषे सापेक्षित अधिकता का निरूपण करे हैं। मैं आत्मानंद विषे निरपेक्षित अधिकता का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! या मनुष्य लोक विषे जो पुरुष यौवन अवस्था करिकै युक्त होवे। तथा वज्र के समान जिस का दृढ शरीर होवे। तथा भीमार्जुन के समान जो बलवान होवे। तथा व्यास भगवान के समान जो सर्व शास्त्रों का वेत्ता होवे। तथा नाना प्रकार के अस्त्रों के चलावने विषे जो महादेव के समान होवे। तथा अश्विनीकुमारों के समान जो रोग तैं रहित होवै। तथा अणिमा महिमा आदिक अष्ट सिद्धियों करिकै युक्त होवै। और श्री कृष्ण भगवान की सहायता तैं जैसे राजा युधिष्ठर तथा अर्जुन समृद्धि को प्राप्त हुये हैं। तैसे शरीरों की सहायता तैं जो समृद्धि को प्राप्त होवै। तथा सप्त द्विपों विषे स्थित जितना कि मनुष्यादिक प्राणि हैं। तिन संपूर्णों का जो चक्रवर्त्ति राजा होवै। तथा लोक विषे जिस का महान यश होवै। तथा मनुष्यों के भोग के साधन जो अन्न पान स्त्री पुत्रादिक पदार्थ हैं। तिन संपूर्ण साधनों करिकै युक्त होवै। तथा मनुष्य लोक का कोई भी विषय जिस को अप्राप्त नहीं होवै। तथा तिन पदार्थों के भोगने की शक्ति करिकै संपन्न होवै। तथा बहुत जिस की आयुष्य होवै इस तैं आदिलै कै सर्व भोगों की सामग्री करिकै संपन्न ऐसा जो चक्रवर्त्ती राजा है। तिस को जो आनंद होवै है। ता आनंद के समान या मनुष्य लोक विषे किसी प्राणी को आनंद होवै नहीं। या तैं अस्मदादिक मनुष्यों के आनंद की अपेक्षा करिकै सो चक्रवर्त्ति राजा का आनंद परमानंद है। तहां श्रुति—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवास्यात्साधु युवाऽध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठोबलिष्ठः। तस्येयं पृथवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः ॥६६९॥ तैतिरी० उ० अनुवाकः ८॥

अर्थ—ब्रह्मानंद का लेश रूप जो विषयानंद तिस की यह मीमांसा कहिये विचार है। जो पृथवी संपूर्ण का पति श्रेष्ठ गुणों करिकै युक्त युवाअवस्था संपन्न तथा अधीत विद्या होवै। तथा सर्व को शासना करै शरीर सें आरोग तथा असंत दृढबल वाला होवै। इस प्रकार के राजा की यह संपूर्ण पृथ्वी वित्त करिकै पूर्ण होवै तिस को जो आनंद होवै है। सो मनुष्यानंद कहै है ॥६६९॥

और चक्रवर्त्ति राजा को जो विषय जन्य आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुना अधिक आनंद पितृ लोक विषे पितरों को होवै है। या तैं चक्रवर्त्ति राजा के आनंद की अपेक्षा

करिकै सो पितरों का आनंद परमानंद है। और जो पितरों को आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुणा अधिक आनंद गंधर्व लोक विषे गंधर्वों को होवै है। या तै पितरों के आनंद की आपेक्षा करिकै सो गंधर्वों का आनंद परमानंद है। और गंधर्वों को जो आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुणा अधिक आनंद कर्म देवतावों को होवै है। या तैं गंधर्वों के आनंद की अपेक्षा करिकैं कर्म देवतावों का आनंद परमानंद है। अग्निहोत्रादिक कर्मों को करिकै जिन पुरुषों को देवभाव प्राप्त होवै है। तिनों का नाम कर्म देवता है। और तिन कर्म देवतावों को जो आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुणा अधिक आनंद अजान देवतावों को होवै है। या तैं कर्म देवतावों की अपेक्षा करिकै अजान देवतावों का आनंद परमानंद है। सृष्टि के आदि काल विषे उत्पन्न हुये जो अग्नि आदिक देवता हैं तिनों का नाम अजान देवता है। और अजान देवतावों को जो आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुणा अधिक आनंद प्रजापति के लोक विषे होवै है। या तैं आजान देवतावों के आनंद की अपेक्षा करिकै प्रजा पति के लोक का आनंद परमानंद है। और प्रजापति के लोक विषे जो आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुणा अधिक आनंद विराट भगवान के लोक विषे होवै है। या तैं प्रजापित के लोक के आनंद की अपेक्षा करिकै विराट् भगवान के लोक का आनंद परमानंद है। और विराट् भगवान कें लोक विषे जो आनंद होवै है। तिस आनंद तैं भी शतगुणा अधिक आनंद ब्रह्म लोक विषे होवै है। या तैं विराट् भगवान के आनंद की अपेक्षा करिकै ब्रह्म लोक का आनंद परमानंद है। तहां श्रुति।

ते ये शत मनुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य गन्धर्वाणामनंदः। श्रोत्रियस्य चा कामहतस्य ॥६७०॥

यजुर्वे० तैति० उ० अनुवाकः ८॥

अर्थ—और जो शत मनुष्यानंद हैं। सो एक मनुष्य गंधर्वन का आनंद है। जो मनुष्य धर्मानुष्ठान सें गंधर्व भाव प्राप्त होवै हैं। वह मनुष्य गंधर्व हैं। गंधर्वन में अंतर ध्यानादिक शक्ति तथा मनुष्यन की अपेक्षा करिकै शरीर इंद्रिय सूक्ष्मता और क्षुधा पिपासा आदिक द्वंद्वों की सहन शीलता है। इस वास्ते गंधर्वन में मनुष्यानंद से शतगुणा अधिक आनंद है। और जो (श्रोत्रिय) वेदविद्या युक्त है तथा मनुष्यानंद में अकामहत है कामना वर्जित है तिस को भी मनुष्यानंद सें शतगुणा अधिक आनंद की प्राप्ति होती है। प्रथम मनुष्यानंद के स्थान में जो अकामहत का ग्रहण है। तिस का तात्पर्य यह है। जो कि अकामहत सुख की अधिकता का कारण है। जे कर प्रथम पर्याय में अकामहत ग्रहण करते तब उस अकामहत श्रोत्रिय को मनुष्य के समान आनंद कहने सें अकामहत विशेष सुख की कारणता का निश्चय नहीं होता। इस वास्ते द्वितीय गंधर्वानंद के स्थान में ग्रहण किया है। या तैं शतगुणा अधिक सुख की प्राप्ति का कारण अकामहत है। इस सें यह निश्चय हुआ श्रोत्रिय तथा मनुष्यानंद अकामहत मनुष्य को मनुष्यानंद से शतगुणा अधिक आनंद प्राप्त होता है। इस प्रकार सर्व पर्यायों में अकामहत पूर्व पर्याय पठित आनंद सें शतगुण अधिक आनंद का

कारण है ऐसा जानना ॥६७०॥

ते ये शतं मनुष्य गंधर्वाणां मानंदाः। स एको देव गंधर्वाणामानंदः ॥ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥६७१॥

यजुर्वे० तैति० उ० अनुवाकः ८

अर्थ—यह पूर्व उक्त जो मनुष्य गंधर्वों के शत आनंद है सो एक गंधर्व का आनंद है जन्म से गंधर्व जाति को देवगंधर्व कहिते हैं और जो वेदादिक विद्या युक्त मनुष्य गंधर्वानंद में तृष्णा वर्जित है तिस को भी देवगंधर्व के समान आनंद को प्राप्ति होती है ॥६७१॥

ते ये शतं देवगंधर्वाणा मानंदाः। स एकोः पितृणां चिरलोकलोकानामानंदाः ॥ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥६७२॥ यजुर्वेद तैति० उ० अनुवाका ८

अर्थ—जो देवगन्धर्वों के शत आनन्द हैं सो एक चिरकाल स्थायी लोकवासी पितरों का आनन्द है और जो श्रोत्रिय देव गधर्वानंद में कामना वर्जित है तिसको भी पितरों के समान अनन्द की प्राप्ति होती है ॥६७२॥

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। स एकः आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चा काम हतस्य ॥६७३॥

यजुर्वे० तैति० उ० अनुवाकः ८

अर्थ—जो बहुतकाल स्थायि लोकवासी पितरों के शत आनन्द है सो एक स्मार्त कर्मदेवस्थान में होने वाले अजानज देवन का आनन्द है। और जो पितरों के आनन्द की कामना वर्जित विद्वान है तिस को भी अजानज देवन के समान आनन्द प्राप्त होता है ॥६७३॥

तेये शत माजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवान पियंति। श्रोत्रियस्य चा कामहतस्य ॥६७४॥

अर्थ—जो अजानज देवन के शत आनन्द हैं सो एक कर्म देवतारूप देवन का आनन्द है। जो वैदिक कर्म करके देव शरीर को प्राप्त होवे हैं वह कर्म देवता हैं। और जो अजानज देवन के सुख में कामना वर्जित है। तथा वेद विद्या का ज्ञाता है तिस को भी कर्म देवन के समान आनन्द की प्राप्ति होती है ॥६७४॥

तेये शतं देवाना मानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चा काम हतस्य ॥६७५॥

अर्थ—जो कर्म देवन के शत आनन्द हैं। सो एक तेतीस मुख्य देवन का आनन्द है और जो कर्म देवन के आनन्द की कामना रहित विद्वान हैं तिन को भी मुख्य देवन के समान आनन्द प्राप्त होता है ॥६७५॥

तेये शतं देवानामानन्दाः। स एको इन्द्रिस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चा कामहतस्य ॥६७६॥

अर्थ—मुख्य देवन के जो शत आनन्द हैं सो एक मुख्य देवन के स्वामी इन्द्र का आनंद हैं। और जो मुख्य देवन के सुख की कामनाओं से रहित विद्वान हैं। तिस को भी इन्द्र के समान सुख प्राप्त होता है ॥६७६॥

तेये शतमिंद्रस्यानन्दाः स एको

बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चा काम-हतस्य ॥६७७॥

अर्थ—जो शत इन्द्र के आनन्द हैं सो ए बृहस्पति का आनन्द है। और जो इन्द्र के सुख की कामना वर्जित विद्वान है तिसको भी बृहस्पति के समान आनन्दकी प्राप्ति होती है ६७७

तेये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥६७८॥

अर्थ—जो बृहस्पति के शत आनन्द हैं सो एक प्रजापति कहिये विराट का आनन्द है। और जो बृहस्पति के आनन्द में कामना रहित विद्वान है तिनको भी प्रजापति के समान आनन्द की प्राप्ति होवे है ॥६७८॥

तेये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाका-महतस्य। स यश्चायं पुरुषे। यश्चा-सावादित्ये स एकः ॥६७९॥

यजुर्वे० तैति० उ० अनुभवाकः ८

अर्थ—जो शत प्रजापति के आनन्द हैं सो एक (ब्रह्मणः) हिरण्यगर्भ का आनन्द है और जो प्रजापति के आनन्द में कामना वर्जित विद्वान है तिसको भी हिरण्यगर्भ के समान आनन्द की प्राप्ति होती है। सो जो यह पुरुष विषे है और जो सूर्य विषे है सो एक है ६७९॥

कैसा है सो ब्रह्मलोक स्थूल जगत का कारण जो सूत्रात्मा रूप हिरण्यगर्भ है ता के निवास का स्थान है। ऐसे ब्रह्मलोक विषे स्थित उपासक पुरुषों को जो विषयजन्य आनंद होवे है। तिस आनन्द तैं परे कोई विषय जन्य आनन्द है नहीं। किन्तु मनुष्य लोक तैं आदि लेके विराटलोक पर्यंत जितना विषय जन्य आनन्द हैं। तिस सम्पूर्ण आनन्दों तैं हिरण्यगर्भ का आनन्द अवधिरूप है। हे देवताओ! मनुष्य लोकतैं आदि लेके ब्रह्मलोक पर्यंत जो विषय जन्य आनन्दो की न्यून अधिकता श्रुति विषे कथन करी है। ता श्रुतिभगवति का यह तात्पर्य है। विषयजन्य सर्व आनन्दों तैं अधिक जो हिरण्यगर्भ का आनन्द है ता आनन्द की भी जब पर्यंत पुरुष को इच्छा रहे है तब पर्यंत ता पुरुष को मैं आत्मारूप आनन्द का मान होवे नहीं। यातैं मैं आत्मा रूप आनन्द की प्राप्ति की इच्छा जिस पुरुष को होवे है। जिस तिस पुरुष ने हिरण्यगर्भ के आनन्द की भी इच्छा नहीं करणी। या प्रकार के परमवैराग्य विषे श्रुति का तात्पर्य है। तहां मनुष्य लोक तें आदि लेके ब्रह्मलोक पर्यंत जितने कि विषय जन्य आनन्द हैं तथा तिन आनन्दों के साधन जो स्त्री धन पुत्र शरीरादिक हैं। तिन सम्पूर्ण को काक विष्ठाकी न्यांई आसार जान के तिस की प्राप्ति की इच्छा नहीं करणी याका नाम परम वैराग्य है। या प्रकार का परम वैराग्य जिस पुरुष को होवे है। तिस पुरुष को मैं आनन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होवे है। इतने करके परम वैराग्य का फल दिखाया। अब ता वैराग्य की न्यून अधिकता करके जो जो फल होवे है। ता को निरूपण करे हैं। हे देवताओ! मनुष्य लोक तैं आदि लेके ब्रह्म लोक पर्यंत जो जो विषय जन्य आनन्द हमने तुमारे प्रतिकथन करे हैं। तिन आनन्दों की प्राप्ति के दो प्रकार के साधन हैं। एक तो कालांतर विषे ता आनन्द रूप फल को देनेहारे

साधन हैं। सो दूसरा साधन यह है। जिस पुरुष ने विधि पूर्वक गुरू मुख्य द्वारा वेदांत के पाठ को तथा वेदांत अर्थ को अध्ययन करा है। तथा सर्व पापकर्मों तैं रहित है तथा संपूर्ण विषय जन्य सुख की इच्छा तें रहित है। ऐसे वेदवेता निष्पाप तथा निष्काम पुरुष को मनुष्य लोकतें आदि लैके ब्रह्मलोक पर्यंत सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त होवे है।

आपूर्यमाण मचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे सा शांति माप्नोति न कामकामी ॥६८०॥ गी० अ० २ श्लो० ७०।

अर्थ—हे अर्जुन! जिस प्रकार सर्व नदियों करिकै पूर्ण करे हुए तथा अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र को वर्षाकाल के जल प्रवेश करै हैं। तिस प्रकार जिम स्थित प्रज्ञ पुरुष को सर्व शब्दादिक विषय प्रवेश करे हैं। सो स्थित प्रज्ञ पुरुष ही सर्व विक्षेप की निवृत्ति रूप शांति को प्राप्त होवे है। विषयों की कामना वाला पुरुष तां शांति को नहीं प्राप्त होवे है ॥६८०॥ तहां श्रुति—

अपूर्यमाण मचल प्रतिष्ठं समुद्रमपा प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामायं प्रविशंति सर्वे स शांति माप्नोति न कामकामी॥६८१

अवधूतोपनिषत् मं ७

परन्तु या के विषे इतनी विषेशता है जो वेद वेता निष्काम पुरुष चक्रवर्त्ति राजा के विषय जन्य आनन्द को काकविष्ठा की न्याईं आसार जान के ताकी प्राप्ति की इच्छा नहीं करे है। परन्तु पितर लोकादिको के आनन्द की इच्छा करे है। तिस वेद वेना निष्पाप पुरुष को केवल चक्रवर्त्ती राजादिक आनन्द की ही प्राप्ति होवे है। पितर लोकादिकों के आनन्द की प्राप्ति होवे नहीं। इस प्रकार जो वेद वेत्ता निष्पाप पुरुष पितरलोक के आनन्द को काकविष्ठा की न्याईं असार जानिकै ता आनन्द की प्राप्ति की इच्छा करता नहीं। परन्तु गन्धर्व लोकादिकों के आनन्द की इच्छा करे है। तिस वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष को पितरलोक के आनन्द की प्राप्ति होवे है। गन्धर्व लोकादिकों के आनन्द की प्राप्ति होवे नहीं। यां प्रकार ऊपर के लोकों विषे भी जिस जिस लोक के आनन्द को यह वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष काक विष्ठा की न्याईं आसार जानिके ताकी प्राप्ति की इच्छा नहीं करे है। तिस लोक के आनन्द को यह वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष प्राप्त होवे है। और जो वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष ब्रह्मलोक के आनन्द को भी काकविष्ठा की न्याईं असार जान कै ताकी प्राप्ति की इच्छा नहीं करे है। सो वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष ब्रह्मलोक के आनन्द को भी प्राप्त होवे है। इस प्रकार कर्म उपासनादिक साधनों तैं विनाही सो वेदवेत्ता निष्पाप तथा निष्काम पुरुष सम्पूर्ण आनन्दों को प्राप्त होवे है। और मनुष्य लोक तैं आदि लैके जितने कि विषय जन्य आनन्द हैं। तिन सम्पूर्ण आनन्दों तैं ब्रह्मलोक का आनन्द अधिक है सो ब्रह्म का आनन्द भी जिस मैं आत्मस्वरूप आनन्द का एक लेशमात्र है। ऐसा आनन्द का समुद्र जो मैं परमात्मा देव हूं। सो मैं आनन्द स्वरूप परमात्मा देव सर्व जीवों को सुषुप्ति अवस्था विषे प्राप्त होवौ हूं। कैसा है मैं परमात्मा देव का स्वरूप भूत आनन्द मन वाणी का अविषय है तथा न्यून अधिकता से रहित है। इस वासते ही मैं आतमा रूप आनन्द ब्रह्म लोक के आनन्द तैं भी

अधिक हूं। तहां श्रुति—

यतो वाचो निवर्तन्ते आप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कुतश्चनेति ॥६८२॥

यजुर्वे० तैति० उ० अनुवाकः ९

अर्थ—जिस ब्रह्म तैं मन सहित वाणीयां अप्राप्त होइकै निवृत होवे हैं। ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कदाचित भय को प्राप्त नहीं होता ॥६८२॥

हे देवताओ! सुषुप्ति अवस्था विषे जो आत्मा का स्वरूप हम ने तुमारे प्रति कथन करा है। सो मनुष्य लोक तैं आदि लैके ब्रह्म लोक पर्यन्त सम्पूर्ण आनन्दों तैं अधिक है। या तैं मैं परमात्मादेव ही परमानन्द रूप हूं। और बुद्धि आदिक सर्व संघात का साक्षी जो स्वयं ज्योति आत्मा हम ने पूर्व तुमारे प्रति उपदेश करा है। सो स्वयं ज्योति आत्मा कदाचित जाग्रत अवस्था तैं अनन्तर प्रथम सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होवे है। और सुषुप्ति अवस्था तैं अनन्तर स्वप्न अवस्था को प्राप्त होवे है। और कदाचित् सो स्वयं ज्योति आत्मा सुषुप्ति की प्राप्ति तैं विना ही प्रथम स्वप्न अवस्था को ही प्राप्त होवे है। ता स्वप्न अवस्था विषे यह स्वयं ज्योति आत्मा स्त्री आदिकों के साथ नाना प्रकार का व्यवहार करे है। तथा अनेक नाडी रूप मार्गों विषे भ्रमण करे हैं। तथा पुण्य पाप रूप कर्मों का फल जो सुख दुःख है तिस को देखे है। इस तैं आदि लैके अनेक प्रकार के व्यवहार स्वप्न विषे करे है। तिस तैं अनन्तर सो स्वयं ज्योति आत्मा ता स्वप्न अवस्था का परित्याग करिकै तिसी नाडी रूप मार्ग द्वारा जाग्रत अवस्था को प्राप्त होवे है। ता जाग्रत अवस्था विषे भी स्वयं ज्योति आत्मा पुण्य पाप रूप कर्म के वश तैं अनेक प्रकार के सुख दुःख को प्राप्त होवे है। और यदि इस जीव को आपने स्वरूप का ज्ञान होजावे तो सर्व पाप कर्मों से तथा पाप कर्म के फल दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त होवे है। तहां श्रुति—

जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तयादि प्रपंचं यत्प्रकाशते। तद्ब्रह्माह मिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥६८३॥ कैवल्योपनिषत्॥ मं० १७

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्तयादिक तीनों अवस्था विषे जो प्रपंच जिस स्वयं ज्योति आत्मा से प्रकाश मान होता है। सो ब्रह्म मैं हूं इस प्रकार जान करिकै सर्व जन्म मरण मोह जाल रूप बन्धनों से मुक्त होता है ॥६८३॥

हे देवताओ! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति या तीन अवस्थावों विषे विचिरने हारा यह जीवात्मा अज्ञान के वश तैं अनेक शरीरों को ग्रहण करे है। तथा अनेक शरीरों को त्याग करे है।

शंका—हे भगवन्! यह जीवात्मा किस प्रकार तीन शरीरों को परित्याग करे है।

समाधान—यह जीवात्मा जिस काल विषे मरण अवस्था के समीप प्राप्त होवे है। तिस काल विषे आपने पूर्वले पाप कर्मों का स्मरण करिकै पश्चाताप करे है। तथा ता पुरुष को पुत्रादिक बांधव कठिन भूमि विषे शयन करावे हैं तथा सर्व बांधव ता पुरुष को चारों ओर तैं वेष्टन करिकै स्थित होवे हैं। तथा सो पुरुष हिडकी करिकै तथा ऊंचे श्वासों करिकै युक्त होवे है। तथा ता पुरुष के दोनों नेत्र ऊपर आकाश की तरफ खुल जावे है। तथा ता पुरुष का मुख लालां करिकै युक्त होवे है। ऐसी मरण अवस्था को प्राप्त होइकै पुरुष का जो नेत्रादिक इन्द्रियों

सहित वाक इन्द्रिय की आपने कार्य करनेकी सामर्थ्य रूप वृत्तिता पुरुषके मन विषे लयभाव को प्राप्त होवे है। तामन की आपने कार्य करने की सामर्थ्य रूप वृत्ति क्रिया रूप प्राण की वृत्ति विषे लय भाव को प्राप्त होवे है। और सो प्राण की वृत्ति सूक्ष्म पंचभूतों युक्त जीवात्मा विषे लयभाव को प्राप्त होवे है। और सो पंचभूतों रहित जीवात्मा सुषुप्ति की न्यांई संस्कार स्वरूप बाकी रह्या हुआ माया उपहित आनन्द स्वरूप मैं परमात्मा विषे लय भाव को प्राप्त होवे है। हे देवताओ ! सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे केवल संस्कारमात्र रूप बन्धवाला जो यह जीवात्मा है। ता जीवात्मा का जो मैं सत वस्तु लय का स्थान हूं। तथा जो मैं सत वस्तु जीवात्मारूप करके या संघात विषे प्रविष्ट हुआ हूं। तथा जो मैं सत वस्तु सर्व भूतों का कारण रूप हूं। मैं सत वस्तु ही तुमारा आत्मा हूं। तहांश्रुति—

यदिदं किंच तत् सृष्ट्वातदेवानु प्रविशत्। तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् ६८४

यजुर्वे० तैति० उ० अनुवाकः। ६।

अर्थ—ईश्वर परमात्मा इस सर्व जगत को रचिताभया। जो कुछ यह नाम रूपात्मक वस्तु है। ताको सृज के तिसी ही सृजे हुए जगत में पीछे परमात्मा आप प्रवेश करता भया। तिस कार्य में प्रवेश करके (सच्च) मूर्त्त रूप तथा (सच्च) आमूर्तरूप होताभया ॥६८४॥

जाग्रत स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चत्वेन भातियत्। तद्ब्रह्मामिति ज्ञात्वा सर्व बंधैः प्रमुच्यते ॥६८५॥

ब्रह्म गी० अ० ८ श्लो० ४४

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि तीनों अवस्था रूपेण प्राण मनः प्रभृति प्रपंच रूप करके जिस आत्मादेव से भासमान है। सो ब्रह्म मैं हूं इसप्रकार जानने से बन्धनों से मुक्त होता है ६८५

शंका—हे भगवन् ! इस संघात विषे आप कैसे प्रवेश करते भये हो। तात्पर्य है कि आप तिसी ही स्वरूप से प्रवेश करते भये हो या अन्य स्वरूप से। जब ब्रह्म मृतिका की न्यांई सम्पूर्ण नाम रूप जगत का कारण है। तब कार्य को तिस ब्रह्म का स्वरूप होने तैं ताके विषे प्रवेश संभवे नहीं यातैं कारण ही कार्य रूप से स्थित है यातैं प्रविष्ट की न्यांई ही है। परन्तु कार्य की उत्पत्ति तैं आनन्तर कार्य तैं भिन्न कारण का प्रवेश संभवे नहीं। जैसे घट की उत्पत्ति तैं भिन्न मृतिका का घट विषे प्रवेश संभवै नहीं। तैसे जगत् की उत्पत्ति तैं भिन्न आप परमात्मा का जगत् विषे प्रवेश संभवे नहीं। तथापि जैसे ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त होता है तथा जैसे जो बुद्धिरूप गुहा विषे स्थित ब्रह्मको मैं जानता हूं। तैसे इस नामरूप प्रपंच को सृजके तिस में प्रवेश शब्द का अर्थ है। तहांश्रुति—

सर्वानन शिरोग्रीवाः सर्वभूत गुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवन् तस्मात्सर्व गतः शिवः ॥६८६॥

श्वेताश्व० उ० अ० ३ मं० ११

अर्थ—सर्व हैं आनन जिसके तथा सर्व हैं शिर तथा ग्रीवा जिसकी तथा सर्व जीवों की बुद्धि रूप गुहा में स्थित है। तथा सो भगवान सर्व व्यापक है तिस कारण तैं शिव सर्व में गत है। ऐसे शिव को जान करके सर्व पापों तैं मुक्त हो जाता है ॥६८६॥

अश्वमेध सहस्राणि ब्रह्महत्या शतानि च। कुर्वन्नपि न लिप्येत यद्येकत्वं प्रपश्यति ॥६८७॥

ब्रह्मगी० अ० ८ श्लोक ३४।

अर्थ—हजारों अश्वमेध यज्ञ का तथा अनेक शत ब्रह्म-हत्या के करने का फल पुण्य और पाप करने से नहीं लिपाय मान होता है अर्थात् हजारों अश्वमेध यज्ञके करनेसे पुण्य स्पर्श नही करेगा तथा सैकड़े ब्रह्महत्या करेगा तो उसका फल दुःख स्पर्श नहीं करेगा। जो आत्मा को सर्वत्र पूर्ण और एक रूप से देखता है ॥६८७॥

हे देवताओ! जैसे सव चिदानन्द वस्तु तुमारा आत्मा रूप है। सो मैं सव वस्तु कैसा हूं। सूक्ष्म पदार्थों तैं भी असंत सूक्ष्म हूं तथा काल अकाशादिक महान पदार्थों तैं भी असंत महान हूं। तहांश्रुति—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्यजंतोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशो को धातुः प्रसादान्महिमान मीशम् ॥६८८॥

श्वेताश्व० उ० अ० ३ मं० २०।

अर्थ—आत्मा कैसा है अणू से अणू है और महान पदार्थों से भी महान है तथा सर्व जीवों की बुद्धि रूप गुहा में स्थित है। और ईश्वर की महान कृपा से आत्मा के साक्षात्कार से वीतशोक हो जाता है ॥६८८॥

और जैसे रज्जु विषे कल्पित जो सर्प दण्ड जल धारा आदिक हैं ते कल्पित सर्पादिक रज्जुमात्र रूप ही हैं। तैसे आकाशादिक सर्व जगत् का मैं परमात्मा ही वास्तव स्वरूप हूं। ऐसा सर्व जगत का अधिष्ठान रूप मैं परमात्मादेव तुमारे स्वरूप तैं भिन्न नहीं हूं। किंतु मैं परमात्मादेव तुमारा स्वरूप ही हूं। देहादिक संघात रूप तुम नहीं हो हे देवताओ! जो आत्मा बुद्धि आदिकों का साक्षीरूपकरके सर्वत्र प्रतीत होवे है। तथा जो आत्मादेव सर्व जड़ पदार्थों का प्रकाशक होने तैं स्वयं ज्योति स्वरूप है तथा जो आत्मादेव अद्वितीय रूप होने तै परमानन्द स्वरूप है। ऐसा आत्मादेव ही तुमारा वास्तव स्वरूप है। या तैं तुम कर्ता नहीं हो तथा भोक्ता नहीं हो तथा प्रमाता नहीं हो। तहांश्रुति—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एक स्तथा सर्वभूतांतरात्मारूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥६८९॥

कठ उ० अ० २ वल्ली २ मं० १०।

अर्थ—जैसे एक ही वायु सर्व देहों विषे प्राण रूप से प्रवेश हुआ है देह देह के भेद से प्रति रूप होता भया है। तैसे एक ही सर्वभूतन का अन्तर आत्मा देह देह प्रति रूप होताभया है। और तिन देहों तैं बाहिर भी है ॥६८९॥

हे देवताओ। जिस सर्वांतरयामी आत्मा देव का उपदेश हमने तुमारे प्रति करा है। ता परमात्मादेव के श्रवण तैं तथा मनन तें तथा विज्ञान तें सर्व अश्रुत पदार्थों का भी श्रवण होवे है। तथा मनन के अविषय पदार्थों का भी मनन होवे है। तथा अविज्ञात पदार्थों का भी विज्ञान होवे है। तहांश्रुति—

येना श्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतम विज्ञातं विज्ञातमिति। यथा सौम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम् ॥६९०॥

सामवे० छांदो० उ० खं० २४ प्रपाठक ५

अर्थ—हे प्रिय श्वेत केतु! जिस परमात्मा

देव के श्रवण तैं सर्व अश्रुत पदार्थों का भी श्रवण होवे है। तथा जिस परमात्मादेव के मनन से सर्व अमनन पदार्थों का भी मनन होवे है। तथा जिस परमात्मादेव के ज्ञान तैं अज्ञात पदार्थों का भी ज्ञान होवे है। जैसे एक मृत्पिंड के ज्ञान से सर्व मृत्तिका के कार्य घट शरावादिकों का मृत्तिका रूप से ही ज्ञान होवे है ॥६९०॥

शंका—हे भगवन्! पूर्व आपने सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे सर्व जीवों को सत् वस्तु परमात्मादेव की प्राप्ति कथन करी। यां के विषे हमारे को यह संशय होवे है। जो कदाचित् सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे या सर्व जीवों को तासत् वस्तु की प्राप्ति होती होवे तो ते सर्व जीव तहां सत् वस्तु को हम प्राप्त हुए हैं। या प्रकार का ता सत् वस्तु को किस वास्ते नहीं जानते। और ते सर्व जीव तहां सत् वस्तु को जानते नहीं। यां तैं तां सत वस्तु को प्राप्त हुए भी जो ता सत् वस्तु का अज्ञान होवे है। यां के विषे आपने कोई दृष्टांत कह्या चाहिये। जिस दृष्टांत करिकै हमारे संशय की निवृत्ति होवे। समाधान—हे देवताओ! जैसे या लोक विषे मधु कर जन्तु आपने आपूपाकार गृह विषे नाना प्रकार के वृक्षों के रसों को ले जायकै तार सो को मधु रूप करिकै परिणाम को प्राप्त करे है। ते मधु भाव को प्राप्त हुये नाना वृक्षों के रस मैं आम्र वृक्ष का रस हूं निम्बू वृक्ष का रस नहीं हूं। यां प्रकार आपने को जानते नहीं। तैसे सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे ते नाना जाति वाले जीव ता सत वस्तु को प्राप्त होइकै ता सत वस्तु के साथ एकता भाव को प्राप्त हुए भी आपने आत्मा को विशेष रूप करिकै जानते नहीं।

यथा सौम्य मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणा ५ रसान्सम वहारमेकता ५ रसं गम यन्ति ॥६९१॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्य मुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येव मेव खलु सोम्येमः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति सं पद्यामहं इति ॥६९२॥

अर्थ—जैसे या लोक विषे मधु कर जन्तु आपने आपू पाकार गृह विषे नाना प्रकार के वृक्षों के रसों को ले जाय के ता रसों को मधु रूप करिकै परिणाम को प्राप्त करे है। ते मधु भाव को प्राप्त हुए नाना वृक्षों के रस आम्र वृक्ष का रस हूं। निम्बू वृक्ष का रस नहीं हूं। या प्रकार अपने को जानते नहीं। तैसे सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे ते नाना जाति वाले जीव ता सत वस्तु को प्राप्त होइकै ता सत वस्तु के साथ एकता भाव को प्राप्त हुए भी आपने आत्मा को विशेष रूप करिकै जानते नहीं। ॥६९१–६९२॥ छांदो० उ० अ० ६ खं० ८॥

तात्पर्य यह है—मधु रूप दृष्टांत विषे जो आपने स्वरूप का अविवेक है सो आपने जड़ स्वभाव तैं ही है। और दार्ष्टांत विषे जो आपने स्वरूप का अविवेक है सो आपने स्वभाव तैं नहीं। है किन्तु अविद्याकृत आवरण करिकै सो अविवेक है। अथवा ता मधु रूप दृष्टांत विषे तिन रसों तैं भिन्न प्रमाता पुरुष विषे जो अविवेक है तो अविवेक का तिन रसों विषे अरोपण होवे है। और दार्ष्टांतिक जीव विषे तो अज्ञान करिकै आवृत जीवों विषे ही सो अविवेक मुख्य है। या प्रकार ता दृष्टांत दार्ष्टांतक विषे विशेषता के हुए भी ता

विशेषता का परित्याग करिकै केवल अज्ञान की समानता मात्र तिन दोनों विषे ग्रहण करे है।

शंका—हे भगवन् ! तासुषुप्ति अवस्था विषे यह जीव जो कदाचित् ता सत् वस्तु के साथ एकता भाव को प्राप्त होते होवें तो सुषुप्ति तैं उठ के तिन जीवों को पुनः तिस जाति वाले शरीर की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये। समाधान—जैसे व्याघ्र सर्पादिक जो तामसी जाति वाले जीव हैं तथा राजादिक जो राजसी जाति वाले जीव हैं तथा ब्राह्मणादिक जो सात्त्विकी जाति वाले जीव हैं। ते सम्पूर्ण जीव जिस जिस शरीर वाले हुए ता सुषुप्ति विषे सत् वस्तु को प्राप्त होवे हैं। ते सम्पूर्ण जीवता सुषुप्ति तैं उठकै तिसी तिसी शरीर को प्राप्त होवे हैं। तिस तैं विलक्षण शरीर को प्राप्त होवे नहीं जैसे वर्षाकाल के निवृत हुए तैं अनन्तर सर्व माडूक मृत्तिका भाव को प्राप्त होवे हैं। परन्तु तिन माडूकों के सूक्ष्म अवयव रूप संस्कार ता पृथ्वीविषे रहै है। जबी पुनः वर्षाकाल होवे है तबी ते माडूक तिन संस्कारों के वश तैं पुनः तिसी तिसी शरीर को प्राप्त होवे हैं। तिस तैं विलक्षण शरीर को प्राप्त होवै नहीं। तैसे ता सुषुप्ति अवस्था विषे तिन सर्व जीवों के लय हुये भी जिन जीवों को वासना रूप संस्कार तहां रहै हैं। तिन संस्कारों के वश तैं ही ते जीव सुषुप्ति तैं उठ कै तिसी शरीर को प्राप्त होवै हैं।

शंका—हे भगवन्! ता सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे वाकादिक सर्व इंद्रियों के लय हुए भी अविद्या रूप माया तहां विद्यमान है। या तैं जैसे या लोक विषे आपने गृहतैं बाहर आया हुआ पुरुष को मैं आपने गृहतैं आया हूं या प्रकार का अनुभव सर्व जीवों को होवै है। तैसे ता सुषुति अवस्था विषे यह जीव ता सत वस्तु को प्राप्त होइ कै। जबी जाग्रत अवस्था को प्राप्त होवै हैं। तबी या जीवों को हम सत् वस्तु तैं आये हैं या प्रकार का अनुभव किस वास्तैं नहीं होता। या हमारी शंका की निवृत्ति करने वास्ते भी आपनैं कोई दृष्टांत कह्या चाहिये। समाधान—हे देवताओ ! जैसे यह गंगादिक नदियां आपने नाम रूप का परित्याग करिकै समुद्र भाव को प्राप्त होवै हैं। और ते नदियां पुनः मेघों द्वारा वृष्टि रूप करिकै ता समुद्र तैं बाहिर आइ कै भी हम नदियां समुद्रतैं आइयां है। या प्रकार ते नदियां जानतीं नहीं। तैसे यह जीव ता सुषुप्ति अवस्था विषे ता सत् ब्रह्म को प्राप्त होइकै भी ता सुषुति तैं उठकै हम सत् ब्रह्म तैं आये है या प्रकार का अनुभव होवै नहीं। काहेतैं ता सत् ब्रह्म की प्राप्ति काल विषे जिस मूल अज्ञान नैं सत् ब्रह्म के भान का प्रतिबंध करा था सो मूल अज्ञान या जाग्रत अवस्था विषे भी विद्यमान है। ता अज्ञान करिकै मोहत हुए यह जीवता सत् ब्रह्म को जान सकतैं नहीं। तहां श्रुति—

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापि यंति समुद्र एव भवतिता यथा तत्र न विदूरय महस्मीति ॥६९३॥ एव मेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत् आगत्य न विदुः सत् अगच्छा मह इति ॥६९४॥ छान्दो०

अर्थ—जैसे हे सोम्य गंगादिक नदियां आपने नाम रूप का परित्याग करिकै समुद्र भाव को प्राप्त होवै हैं। और ते नदियां पुनः मेघों द्वारा

वृष्टि रूप करिकै ता समुद्र तैं बाहिर आइकै भी हम नदियां समुद्र तैं आईयां हैं । या प्रकार ते नादियां जानती नहीं। तैसे यह जीव भी ता सुषुप्ति अवस्था विषे ता सत् ब्रह्म को प्राप्त होइ कै भी सुषुप्ति तैं उठ कै हम सत ब्रह्म तैं आये हैं । या प्रकार का अनुभव होवै नहीं। काहेतैं ता सत् ब्रह्म की प्राप्ति काल विषे जिस मूल अज्ञान नैं सत ब्रह्म के भान का प्रतिबंध करा था सो मूल अज्ञान या जाग्रत अवस्था विषे भी विद्यमान है । ता अज्ञान करिकै मोहत हुए यह जीव ता सत ब्रह्म को जान सकतैं नहीं ॥६९३॥ ॥६९४॥

शंका—हे भगवान् ! जैसे संपूर्ण नादियां समुद्र विषे लयभाव को प्राप्त होवै हैं । तैसे सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे या जीवों का सत ब्रह्म विषे लय अंगीकार करोगे तो जैसे समुद्र विषे लयभाव को प्राप्त हुई नादियों का पुनः ता समुद्र तैं उद्भव होता नहीं । किंतु ते नादियां समुद्र को प्राप्त होइ कै नाश को ही प्राप्त होवें हैं । तैसे सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे यह जीव भी ता सत् ब्रह्म को प्राप्त होइ कै नाश को ही प्राप्त होवैंगे । तिन जीवों के नाश हुये ता सत् ब्रह्म की प्राप्ति किस को होवैगी । या हमारी शंका की निवृत्ति करने वास्ते भी आप नैं कोई दृष्टांत कह्या चाहिये । समाधान—हे देवताओ ! यह जीव जिस जाति वाले हुये ता सुषुप्ति अवस्था विषे जा सत ब्रह्म को प्राप्त होवै हैं । ता सत वस्तु तैं आइ कै यह जीव तिसी ही जाति वाले होवै हैं तिस तैं भिन्न जाति वाले होवै नहीं । काहेतैं जो जो जीव ता सुषुप्ति अवस्था विषे सत् ब्रह्म के साथ अभेदभाव को प्राप्त हुयेथे तिन जीवों का जो कदाचित उत्थान नहीं होता होवै तो सुषुप्ति विषे ता सत् ब्रह्म विषे लयमात्र करिकै ही दिन दिन विषे तिन जीवों के देह का पात होना चाहिये । और ऐसा देखने विषे आवता नहीं । या तैं जो जीव ता सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होवै हैं । सो जीव ही ता सुषुप्ति तैं उठे हैं । किंतु या जीवों का नाश किसी भी पुरुष नैं देख्या नहीं । किंतु जिस जिस पदार्थ को यह जीव परित्याग करे है । तिस तिस पदार्थ का नाश देखने विषे आवे है । जैसे वृक्ष विषे स्थित जो जीव है सो जीव ता वृक्षकी शाखाओं विषे जिस जिस शाखाका परित्याग करे है। तिस तिस शाखा का शोषण हो जावे है । ता जीव तैं रहित हुई कोई शाखा जीवन को प्राप्त होवे नहीं । तहां श्रुति—

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्याऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानोमादमानस्तिष्ठति ॥६९५॥ अस्य यदेकाꣳ शाखाजीवोजहात्यथ सा शुष्याति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्याति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धिति होवाच । जीवा पेतंवाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति ॥६९६॥

(छांदोग्य उपनि०)

अर्थ—यह जीव जिस जिस जाति वाले हुए ता सुषुप्ति अवस्था विषे जा सत ब्रह्म को प्राप्त होवे हैं । ता सत ब्रह्म तैं आइके यह जीव तिसी ही जाति वाले होवे हैं । तिस तैं भिन्न

जाति वाले होवे नहीं। काहे तैं जो जो जीव ता सुषुप्ति अवस्था विषे सत ब्रह्मके साथ अभेद भाव को प्राप्त हुये थे तिन जीवों का जो कदाचित उत्थान नहीं होता होवे तो सुषुप्ति विषे ता सत ब्रह्म विषे लयमात्र करके ही दिन दिन विषे तिन जीवों के देहका पात होना चाहिये और ऐसा देखने विषे आवता नहीं। या तैं जो जीव ता सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होवे है। सो जीव ही ता सुषुप्ति तैं उठे है। किंवा या जीवका नाश किसी भी पुरुष ने देख्या नहीं। किंतु जिस जिस पदार्थ को यह जीव परित्याग करे है। तिस तिस पदार्थ का नाश देखन विषे आवे है। जैसे वृक्ष विषे स्थित जो जीव है। सो जीव ता वृक्ष की शाखाओं विषे जिस जिस शाखा का परित्याग करे है। तिस तिस शाखा का शोषण हो जावे है। ता जीव तैं रहित हुई कोई शाखा जीवन को प्राप्त होवे नहीं ६९५,६९६

शंका—हे भगवन्! जैसे ता वृक्ष विषे स्थित जीव जिस शाखाका परित्याग करे है। ता शाखा विषे जो कदाचित दूसरा कोई जीव प्रवेश करे है तो सा शाखा सूकती नहीं। तैसे सुषुप्ति अवस्था विषे यह जीव ता सत ब्रह्म को प्राप्त होई के यद्यपि मुक्त हो जावे हैं तथापि कोई दूसरा जीव या शरीर विषे प्रवेश कर के या शरीर को उठावेगा। या कारण तैं दिन दिन विषे या शरीर का पात होवे नहीं। समाधान—हे देवताओ! ता वृक्ष के शाखा की न्याईं जो कदाचित सुषुप्ति काल में या शरीर विषे दूसरा कोई जीव प्रवेश करके या शरीर को उठावे है तो या लोक विषे किसीभी शरीरका पात नही होना चाहिये। काहे तैं जो दूसरा जीव सुषुप्ति ते अनंतर या शरीर विषे प्रवेश करके या शरीर को उठावे है। सो दूसरा जीव मरण तैं अनंतर भी या शरीर विषे प्रवेश करके या शरीर को उठावेगा। या तैं यां लोक विषे किसी भी शरीर का पात नहीं होवेगा। सो ऐसा देखने विषे आवता नहीं। या तैं जो जीव ता सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होवे है। सोई ही जीव ता सुषुप्ति तैं उठे है। कोई दूसरा जीव उठे नहीं। जैसे जो जीव सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होवे है। सोई ही जीव सुषुप्ति तैं उठे है। तैसे जो जीव मरण अवस्था विषे ता सत ब्रह्म को प्राप्त होवे है। सोई ही जीव ता मरण अवस्था तैं अनन्तर पुण्य पाप कर्म के वशतैं दूसरे शरीर को प्राप्त होवे है। ता जीव तैं भिन्न कोई दूसरा जीव ता दूसरे शरीर को प्राप्त होवे नहीं। इसप्रकार जीव रूप अधिकारी के नित्य होने तैं मोक्ष शास्त्र की भी वर्थता होवे नहीं। तथा कृतनाश अकृत अभ्या सम्यरूप दोष की भी प्राप्ति होवे नहीं।

शंका—हे भगवन! यह आत्मादेव असंत सूक्ष्म है यातैं यह सूक्ष्म आत्मादेव या स्थूल जगत् का अधार किस प्रकार होवेगा। यातैं या हमारी शंका की निवृत्ति करने वास्ते भी आप ने कोई दृष्टांत कह्या चाहिये। समाधान—जैसे या लोक विषे असन्त सूक्ष्म जो बट के वृक्ष का बीज है सो बट का बीज महान बट के वृक्ष का अधार होवे है। काहे तैं सो बट का वृक्ष आपनी उत्पत्ति तैं पूर्व जो कदाचित् ता बट के बीज विषे असन्त असत्य होवे तो असन्त असत पदार्थ की कदाचित् भी उत्पत्ति होवे नहीं। जैसे असन्त असत बंध्या पुत्र की कदाचित भी उत्पत्ति होवे नहीं। यातैं सो महान वृक्ष अपनी उत्पत्ति तैं पूर्व ता बीज विषे रहे हैं।

परन्तु ता बीज दशा विषे सो वट का वृक्ष ता विषे स्कन्द शाखा पत्र इत्यादिक भेद करके प्रतीत होवे नहीं। तैसे या जगत् के सूक्ष्म संस्कारों करके युक्त जो माया है ता माया उपहित मैं आत्मादेव सूक्ष्म हुआ भी या जगत् की उत्पत्ति तैं पूर्व या सर्व जगत् का अधार होवों हूं परन्तु या जगत् की उत्पत्ति तैं पूर्व काल विषे सो आत्मादेव विद्यमान है। या प्रकार का निश्चय शास्त्र दृष्टि तैं रहित पुरुष को होवे नहीं। किन्तु (सदेव सोम्येदमग्र असीत्) इत्यादिक शास्त्ररूप चक्षुवाले विद्वान पुरुष को ही सो निश्चय होवे हैं।

शंका—हे भगवन ! या अधिकारी पुरुषको यह आत्मादेव श्रद्धा करके ही प्राप्त होवे है। या प्रकार का वचन आपने कथन करा है सो श्रद्धा अनुभव किये हुये पदार्थ विषे ही होवे है। और जिस पदार्थ का कदाचित् भी अनुभव नहीं हुआ तिस पदार्थ विषे शब्द भी नहीं प्रवेश करसके है। तो तिस पदार्थ विषे सो श्रद्धा किस प्रकार होवेगी। या हमारी शंका की निवृत्ति करने वास्ते भी आपने कोई दृष्टांत कह्या चाहिये। समाधान—हे देवताओ ! यह जो सर्व जगत् का उपादान कारण रूप जो मैं आत्मादेव हूं। मैं आत्मादेव यद्यपि प्रत्यक्षादिक लौकिक प्रमाणों करके जान्या जावों नहीं। तथापि मैं आत्मादेव गुरूशास्त्र के वचनों विषे विश्वास रूप श्रद्धा करके जान्या जावे है। जैसे जल विषे स्थित जो लवण है सो लवण यद्यपि चक्षु आदिक इन्द्रियों करके जान्या जावे नहीं। तथापि रसना इन्द्रिय करके सो लवण जान्या जावे है तैसे मैं आत्मादेव यद्यपि या सर्व जड़ जगत् विषे विद्यमान हूं। तथापि—गुरूशास्त्र के वचनों विषे विश्वास रूप श्रद्धा तैं रहित पुरुष मैं आत्मादेव को जान सकते नहीं। किन्तु गुरूशास्त्र के वचनों विषे श्रद्धावान पुरुष ही तत् त्वं पदार्थ का शोधन करके मैं आनन्द स्वरूप चेतन आत्मा को साक्षात्कार करे है। तहां श्रुति—

यथा लवण मेतदुदकेऽबाधायाथम। प्रातरूप सीदथा इति सह तथा चकार त ७ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽबाधा अङ्ग तदाहरेति तब्दावमृश्य न विवेद ॥६९७॥ यथा विलीन मेवाङ्गस्या-नादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादा चामेति कथमिति लवण मित्यंतादा चामेति कथमिति लवण मित्य भिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति ॥६९८॥ छांदो० अ० ६ खं० १२ मं० १-२

अर्थ—या सर्व जगत् का उपादान कारण रूप जो मैं आत्मादेव हूं। मैं आत्मादेव यद्यपि प्रत्यक्षादिक लौकिक प्रमाणों करके जान्या जावों नहीं तथापि मैं आत्मादेव गुरूशास्त्र के वचनों विषे विश्वास रूप श्रद्धा करके जान्या जावों हूं। जैसे जल विषे स्थित जो लवण है सो लवण यद्यपि चक्षु आदिक इन्द्रियों करके जान्या जावे नहीं। तथापि रसन इन्द्रिय करके सो लवण जान्या जावे है। तैसे मैं आत्मादेव यद्यपि या सर्व जड़ जगत् विषे विद्यमान हूं। तथापि गुरू-शास्त्र के वचनों विषे विश्वास रूप श्रद्धा तैं रहित पुरुष मैं आत्मादेव को जान सकते नहीं। किंतु गुरूशास्त्र के वचनों विषे श्रद्धावान पुरुष ही तत् त्वं पदार्थ का शोधन करके मैं आनन्दस्वरूप चेतन आत्मा को साक्षात्कार करे हैं ॥६९८॥

तहां श्रुति—

सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः। तथात्ममन सोरैक्यं समाधिरिति कथ्यते ॥६९९॥ वराहोपनिषद् अ० २ मं० ७५

शंका—हे भगवन्! या लोक विषे जिस वस्तुका स्वरूप इन्द्रियों करके ग्रहण करने योग्य होवे है। सोई ही वस्तु का स्वरूप किसी इन्द्रिय करके ग्रहण कराजावे है। जैसे नेत्रादिक इन्द्रियों का अविषय हुआ भी रस रसन इन्द्रिय करके ग्रहण कराजावे है। और यह आत्मादेव तो किसी भी इन्द्रिय करके ग्रहण कराजावै नहीं। और इन्द्रियों का अविषय आत्मादेव किस उपाय करके जान्या जावे है। या हमारी शंका की निवृत्ति करने वासतैं भी आपने कोई दृष्टांत कह्या चाहिये। समाधान—हे देवताओ! यद्यपि यां लोक विषे प्रसिद्ध इन्द्रियादिक उपायों करके यां आत्मादेव का साक्षात्कार होवे नहीं। तथापि ब्रह्मवेत्ता गुरूके उपदेश रूप अपूर्व उपाय करके यां आत्मादेव का साक्षात्कार होवे है। जैसे घंधारदेश बिषे रहने हारे किसी पुरुष को कोई चौर पुरुष महान् वन विषे ले जाय के ता पुरुष के दोनों नेत्रों को बांध के ता वन विषे छोड़ते भये। और सो पुरुष पुनः आपने घंधारदेश के प्राप्ति की इच्छा करता हुआ असन्त दुःख को प्राप्त होता भया। और ता महान वन विषे दुःख को प्राप्त हुआ सो पुरुष इस महान वन विषे मेरे को चौर घंधारदेश तैं लियाय हैं। या प्रकार के आपने वृत्तांत को उच्चे स्वर तैं पुकारता भया। ऐसे महान् वन विषे पुकारतें हुए पुरुष के समीप कोई मार्ग विषे चलने हारा दयालु पुरुष आवता भया। सो दयालु पुरुष ता पुरुष को वन विषे दुःखी देख करके ता पुरुष के दोनों नेत्रों को खोल देता भया। और ता पुरुष के प्रति सो दयालु पुरुष या प्रकार का वचन कहता भया। हे पुरुष! इस दिशा विषे स्थित घंधार देश तैं तू आया हैं या तैं तूं इसी दिशा विषे सुख पूर्वक चलिया जाव। इस प्रकार तां दयालु पुरुष के वचन को श्रवण करिकै परम हर्ष को प्राप्त हुआ सो पुरुष तां दयालु पुरुष के वचन विषे विश्वास करिकै ता दिशा विषे चलता हुआ शनैः शनैः करिकै ता आपने घंधार देश को प्राप्त होता भया। इस प्रकार यह बुद्धिमान अधिकारी पुरुष भी ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश तैं आपने आपने आत्मा रूप देश को प्राप्त होवे हैं। तात्पर्य यह है या अधिकारी पुरुष को काम क्रोधादिक चौरों ने आपने आत्मा रूप देश तैं ले आयकै संसार रूप बन विषे प्राप्त करा हैं। तथा तिन काम क्रोधादिक चौरों ने या पुरुष के साक्षी रूप नेत्रों का अज्ञान रूप दृढ़ बन्धन करा है। ता करिकै यह जीव यां संसार रूप बन विषे सर्वदा भ्रमण करता हुआ परम दुःख को प्राप्त होवे है। ऐसे संसार रूप बन विषे ब्रह्मवेत्ता गुरु रूप दयालु पुरुष जब महा वाक्य रूप आपने हस्त करिकै यां अधिकारी पुरुष के साक्षी रूप नेत्र का अज्ञान रूप बन्धन खोले है। तबी अज्ञान रूप अवरण तैं रहित हुआ यह अधिकारी पुरुष आपने अद्वितीय आत्मा रूप देश को प्राप्त होवे है। और ता ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश तैं तिन काम क्रोधादिक चौरों को या संसार रूप बन के प्राप्ति का हेतु रूप जान के सो अधिकारी पुरुष पुनः कबी भी तिन काम क्रोधादिक

चौरों के वश होवे नहीं। या तैं ब्रह्मवेत्ता गुरु का उपदेश ही या आनन्द स्वरूप आत्मा के प्राप्ति का उपाय है। तहां श्रुति—

यथा सोम्य पुरुषं गंधारेभ्योऽभिनद्धाक्ष मानीयतं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वा धराङ्वा प्रत्यङ्वाप्र ध्मायी तामिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥७००॥ तस्य यथा भिनहन प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गंधारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृछन्न पंडिता मेवावी गन्धारानेवोप संद्येतैव मेवहाचार्यवान पुरुषोवेद तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥७०१॥

छांदो० उ० अ० ६ खं० १३ ॥ मंत्र १.२

अर्थ—यद्यपि यां लोक विषे प्रसिद्ध इन्द्रियादिक उपाओं करिकै यां आत्मादेव का साक्षात्कार होवे नहीं। तथापि ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश रूप आपूर्व उपाय करिकै या आत्मादेव का साक्षात्कार होवे है। जैसे घंधार देश विषे रहने हारे किसी पुरुष को कोई चौर पुरुष महान वन विषे ले जायके। ता पुरुष के दोनों नेत्रों को बांध के ता वन विषे छोड़ते भये। और सो पुरुष पुनः आपने घंधार देश के प्राप्ति की इच्छा करता हुआ अत्यन्त दुःख को प्राप्त होता भया। और ता महान बन विषे दुःख को प्राप्त हुआ सो पुरुष इस महान बन विषे मेरे को चौर घंधार देश तैं लियाये हैं। या प्रकार के आपने वृत्तांत को उचे स्वर तैं पुकारता भया। ऐसे महान बन विषे पुकारते हुए पुरुष के समीप कोई मार्ग विषे चलने हारा दयालु पुरुष आवता भया। सो दयालु पुरुष ता पुरुष को वन विषे दुःखी देख करिकै ता पुरुष के दोनों नेत्रों को खोल देता भया। और ता पुरुष के प्रति सो दयालु पुरुष या प्रकार का वचन कहता भया। हे पुरुष इस दिशा विषे स्थित घंधार देश तैं तूं आया है। या तैं तूं इसी दिशा विषे सुख पूर्वक चलिया जाव। इस प्रकार तां दयालु पुरुष के वचन को श्रवण करिकै परमहर्ष को प्राप्त हुआ सो पुरुष ता दयालु पुरुष के वचन विषे विश्वास करिकै ता दिशा विषे चलता हुआ शनैः शनैः करिकै ता आपने घंधार देश को प्राप्त होता भया। इस प्रकार यह बुद्धिमान अधिकारी भी ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश तैं आपने आपने आत्मा रूप देश को प्राप्त होते भये ॥६९९-७००॥

शंका—हे भगवन्! जैसे मरण काल विषे अज्ञानी जीवों की इन्द्रियादिक सूक्ष्म रूप करिकै स्थित होवे हैं। तैसे ता मरण काल विषे जो कदाचित विद्वान् पुरुष के भी इन्द्रियादिक सूक्ष्म रूप करिकै रहते होवे। तो जैसे मरण तैं अनन्तर तिन अज्ञानी जीवों का पुनः जन्म होवे है। तैसे ता विद्वान् का भी पुनः जन्म किस वास्ते नही होता। या हमारी शंका की निवृत्ति करने वास्ते भी आपने कोई दृष्टांत कह्या चाहिये। समाधान—हे देवताओ! मरण काल विषे वाकादिक इन्द्रियों का मनादिक विषे स्वरूप तैं लय होवे नहीं। किंतु आपनी वृत्ति रूप करिकै लय होवे है। संस्कार रूप करिकै तिनि वाकादिकों का स्वरूप ता मरण काल विषे भी बन्या रहै है। यह वार्ता जो हम ने पूर्व तुमारे प्रति कथन करी थी सो अज्ञानी पुरुषों के मरण के अभिप्राय तैं कही थी और विद्वान् पुरुषों के तो ब्रह्म ज्ञान के प्रभाव तैं मरण काल विषे आपने आपने व्यापार सहित

सर्व वाकादिक प्रपंच स्वरूप तैं लय भाव को प्राप्त होवे हैं। यां कारण तैं सो विद्वान् पुरुष अज्ञानी जीवों की न्याई पुनः शरीर को प्राप्त होवे नहीं। हे देवताओ ! विद्वान् पुरुष के मरण विषे तथा अज्ञानी पुरुष के मरण विषे यह जो हमने विशेषता कही है सो शास्त्र दृष्टि को अंगीकार करिकै कही है। और लौकिक दृष्टि करिकै तो विद्वान् पुरुष का मरण तथा अज्ञानी पुरुषों का मरण तुल्य ही है। काहे तैं यह अज्ञानी पुरुष जभी मरण के सन्मुख प्राप्त होवे है। तभी ता पुरुष को आपने माता पिता आदिक बांधव चारों ओर तैं वेष्टन करिकै रुदन करे है। और ते बांधवता मरण हारे पुरुष के प्रति या प्रकार के वचन कहे हैं। हे प्राण के समान प्रिय पुत्र मैं माता को तूं जानता है। प्राणों के समान प्रिय भ्राता मैं भ्राता को तूं जानता है। इस प्रकार बांधवोंके वचनसो पुरुष तब पर्यन्त श्रवण करे है जब पर्यन्त ता पुरुषके वाकादिक इन्द्रिय लय भावको प्राप्त नहीं भये। तिन वाकादिक इन्द्रियों के लय हुए तैं अनन्तर सो पुरुष किसी भी वस्तुको जानता नहीं। इस प्रकार सो विद्वान पुरुष भी जभी मरण के समीप प्राप्त होवै है। तबी तिन वाकादिक इंद्रियों के लये पर्यंत तो तिन बांधवों के नाना प्रकार के वचनों को श्रवण करै है। और तिन वाकादिक इंद्रियों के लय हुये तैं अनंतर सो विद्वान पुरुष भी किसी वस्तु को जान सकता नहीं। इस प्रकार लौकिक दृष्टि करिकै ता विद्वान के मरण विषे तथा अविद्वान के मरण विषे समानता हुये भी यह महान विशेषता है। जो विद्वान पुरुष तो पुनः जन्म को प्राप्त होवै नहीं। और अज्ञानी पुरुष पुनः जन्म को प्राप्त होवै।

शंका—हे भगवन ! जैसे मरण अवस्था विषे तिन विद्वान पुरुषों के वाकादिक निरवशेष करिकै लय भाव को प्राप्त होवै हैं। तैसे अज्ञानी पुरुषों के भी ते वाकादिक निरवशेष लय भाव को किस वास्ते नहीं प्राप्त होवै हैं। या हमारी शंका की निवृत्ति करने वास्ते भी आपनैं कोई दृष्टांत कह्या चाहिये।

समाधान—हे देवताओ ! विद्वान के तथा अविद्वान के मरण अवस्था के समान हुये भी। यह विद्वान पुरुष तो मरण तैं अनंतर पुनः जन्म को प्राप्त होवै नहीं। और अविद्वान पुरुष तो मरण तैं अनंतर पुनः जन्म को प्राप्त होवै है। या प्रकार की विशेषता विषे यह हेतु है सो विद्वान पुरुष तो सत्य स्वरूप आत्मा देव को ही जानैं है। और अविद्वान पुरुष तो मिथ्या रूप तीन शरीरों को ही आत्मा रूप करिकै जानैं है। या कारण तैं ही सो विद्वान पुरुष तो सत्य आत्मा के साक्षात्कार करिकै माया रूप पाश तैं रहित हुआ मरण काल विषे इंद्रियों के लय हुये तैं अनंतर पुनः जन्म को प्राप्त होवै नहीं। और सो विद्वान पुरुष मिथ्या तीन शरीरों को आत्मा रूप करिकै जानता हुआ ता मरण काल विषे वाकादिक इंद्रियों के लय तैं अनंतर संस्कारों के वश तैं पुनः शरीर को प्राप्त होवै है। हे देवताओ ! या लोक विषे भी जिस पुरुष का सत्य विषे अभिप्राय होवै है। सो पुरुष जो कदाचित् किसी मिथ्या कलंक को भी प्राप्त होवै है। तौ भी सो सत्य वादी पुरुष ता मिथ्या कलंक तैं रहित ही होवै है। और जिस पुरुष का मिथ्या विषे अभिप्राय होवै है। सो मिथ्या वादि पुरुष दुःख को ही प्राप्त होवै है। जैसे या लोक विषे एक चोर पुरुष था दूसरा साधु पुरुष था तिन दोनों

पुरुषों को राजा के भृत्योंनैं बलातकार सैं पकड़ लिया और कहा कि यह दोनों पुरुष चोर हैं। या तें दंड देने लायक हैं। या प्रकार ते राजा के भृत्यनिश्चय करते भये और भृत्य तिन दोनों पुरुषों को राजा की सभा विषे ले जाते भये। ता सभा विषे जाय कै सो चोर पुरुष मैं चोर नहीं हूं। या प्रकार पुकारता भया और सो साधु पुरुष भी मैं चोर नहीं हूं। या प्रकार पुकारता भया। तिन दोनोंके वचनों को श्रवण करिकै तिस राजा के प्रधान भृत्यों को या प्रकार का संशय होता भया। जो इन दोनों विषे कौन चोर है तथा कौन साधु है। ता संशय की निवृत्ति करने वास्तैं ते राजा के भृत्य अग्नि विषे लोह के परशु को तपाय के तिन दोनों के हस्तों विषे देते भये। तहां जो सत्य वादी साधु पुरुष था। सो ता तप्त परशु करिकै दाह को नहीं प्राप्त होता भया और जो मिथ्या वादी चौर था सो ता तप्त परशु करिकै दाह को प्राप्त होता भया। तिन दोनों विषे ता तप्त परशु के ग्रहण तैं ता साधु पुरुष कै हस्तों को नहीं दग्ध हुआ देखिके ते राजा के भृत्य ता साधु पुरुष को सत्य वादी जान कै छोड देते भये। और ता तप्त परशु के ग्रहण तै ता चौर पुरुष के हस्तों को दग्ध हुआ देखिकै राजा के भृत्य ता चोर पुरुष को मिथ्या वादी जानिकै ताको बंधन गृह विषे प्राप्त करते भये। तथा ताडना करते भये। इस प्रकार विद्वान पुरुष के तथा अविद्वान पुरुषके मरण के समान हूं ये भी सत्य वादी आपने आत्मा को जानने हारा जो विद्वान पुरुष है ता विदान पुरुष के वाकादिक इंद्रिय तो ता मरण काल विषे स्वरूप तैं ही लय भाव को प्राप्त होवै हैं। या कारण तैं सो सत्य आत्म वादी विद्वान पुरुष तो पुनः जन्मादिक दुःखों को प्राप्त होवै नहीं। और मिथ्या देहादि को कोही आत्मा रूप जानने हारा जो अविद्वान पुरुष है ता अविद्वान पुरुष के वाकादिक इंद्रिय ता मरण काल विषे स्वरूप तैं लय भाव को प्राप्त होवै नहीं। किंतु संस्कार रूप होई कै रहै हैं। या कारण तैं सो मिथ्या वादी अविद्वान पुरुष बारंबार जन्मादिक दुःखों को प्राप्त होवै हैं। तहां श्लोक—

अन्यथा संतमात्मानमन्यथा योऽभिमन्यते। किंतेननाकृतं पापं चौरेणात्मापहारीणा ॥७०२॥

अर्थ—अद्वितीय सत चित् आनंद व्यापक आत्मा को जो पुरुष द्वैत असत जड दुःख परिच्छिन्न रूप करिकै मानै है सो पुरुष आपने आत्मा का ही हनन करने हारा है। और आत्म हत्यारे चौर पुरुष नैं या लोक विषे कौन कौन पाप नहीं करै किंतु संपूर्ण पाप कर्म करै हैं ॥७०२॥

हे देवताओ! जैसे स्वप्न अवस्था विषे सुख दुःख रूप फल को देने हारे जो पुण्य पाप रूप कर्म हैं तिन कर्मों का तभी क्षय होवैं है। जभी जाग्रत के भोग देने हारे कर्मों का प्रादुर्भाव होवै है। तभी यह जीवात्मा स्वप्न अवस्था का परित्याग करिकैं जाग्रत अवस्था को प्राप्त होवे है। तैसे या स्थूल शरीर विषे सुख दुःख रूप भोग के देने हारे जो पुण्य पाप रूप कर्म है। तिनों का जभी क्षय होवे है। तथा जन्मान्तर विषे सुख दुःख रूप भोग्य के देने हारे कर्मों का जभी प्रादुर्भाव होवै है। तभी यह जीवात्मा या स्थूल शरीर का परि-

त्याग करिकै दूसरे शरीर को प्राप्त होवै है। यह जीवात्मा या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै जब परलोक विषे जावै है। या के विषे तुम दृष्टांतको श्रवण करो। जैसे कोई धनी पुरुष आपने ग्रामका परित्याग करिकै दूसरे किसी ग्राम विषे जाने का उद्यम करे है। सो धनी पुरुष अपने शकट को त्यार करे है। ता शकट के ऊपर नाना प्रकार का अन्न तथा धन तथा स्त्री पुत्रादिक अनेक प्रकार की सामग्री राखे है। सो धनी पुरुषका रथ नाना प्रकार के शब्दों को करता हुआ शनैः शनैः करके मार्ग विषे चले हैं। तैसे मरणकाल विषे या स्थूल शरीर का परित्याग करके परलोक को जानेहारा जो यह जीवात्मा रूप धनी पुरुष है ता जीवात्मा का परलोक के जाने का साधन यह सूक्ष्म शरीररूप रथ है। कैसा है सो सूक्ष्म शरीर रूप रथ पुण्य पापरूप सामग्री करके पूर्ण है। ऐसा सूक्ष्म शरीररूप रथ मरणकाल विषे नाना प्रकार के शब्दों को करता हुआ परलोक को जावे है। तहां श्रुति—

जाग्रतस्वप्नसुषुप्ति मूर्छावस्थानामन्या ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यंतं सर्वजीव भयप्रदा स्थूलदेह विसर्जनी मरणावस्था भवति ॥७०३॥ पैंगलोपनित् अ० २ मंकाअंक नहीं ॥

अर्थ—इस जीव की जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति मूर्छा यह चार अवस्था हैं। ब्रह्मादि से स्तम्ब पर्यंत सर्व जीवों को भय के देने वाली स्थूल देह का त्यागरूप मरण अवस्था होती है ॥७०३॥

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्ताद्विषयान्प्राणान्संहृत्य काम कर्मान्वित अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति ॥७०४॥

(पैंगलोपनिषत् अ० २)

अर्थ—पांच कर्मेंद्रियों को पांच ज्ञानइन्द्रियों को तथा तिन तिन इन्द्रियों के विषयों को तथा पांच प्रकार के प्राण अपान समान व्यान उदान को तथा काम कर्मों के सहित तथा अविद्यारूप से वेष्टत हुआ अर्थात आवर्त्त हुआ जीव देहांतर की प्राप्ति वास्ते जीव परलोकांतर को जाता है ७०४

प्राक्कर्म फलपाकेनावर्तांतर कीटवद्विश्रांति नैव गच्छति। सत्यकर्म परिपाकतो बहुनां जन्मनामन्ते नृणा मोक्षेच्छाजायते ॥७०५॥ पैंगलो० अ० २

अर्थ—पूर्व जन्मों के किये हुये ईश्वर उपासना तथा निष्काम कर्म फल देने के अभिमुख्यता सें बहुत जन्मों के अंत जन्म में जीव को मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है। और न ही तो पूर्व जन्मों के सकाम कर्मों के तथा अशुभ कर्मों के अनुसार तिन कर्मों का फल भोगने के वास्ते त्रिण जिलोका न्याय की न्याईं अनेक योनियों में भ्रमण करता ही रहता है विश्रांति को नहीं प्राप्त होता है ॥७०५॥

तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकाल सेवया बंधं मोक्षं कश्चित्प्रयाति। अविचार कृतो बंधो विचारान्मोक्षो भवति ॥७०६

(पैंगलोप० अ० २)

अर्थ—तिस तैं अनंतर मोक्षमार्ग का उपदेशष्टा सद्गुरु को आश्रय कर के तथा चिरकाल तक सेवा करके बंध मोक्ष क्या पदार्थ है। अविचारकृत बंध है विचार तैं मोक्ष सिद्ध होती है ७०६

तस्मात्सदाविचारयेत। अध्या·

शेषापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्य ते । तस्मात्सदा विचारये ज्जगज्जीव परमात्मनो जविभाव जगद्भाव बाधे प्रत्यगाभिन्नं ब्रह्मैवा वशिष्यत इति॥७०७॥

पैंगलोपनिषत् ॥ अ० २ ॥

अर्थ—तिस कारण तैं सदैव काल जगत् जीव तथा परमात्मा के स्वरूप को विचार करो। यह नामरूपात्मक प्रपञ्च अध्यारोप अपवाद रूप है इस प्रकार का निश्चय करना शक्य है। विचार से जीव भाव जगद्भाव बाधित है। प्रत्यग भिन्न ब्रह्म ही शेष है ॥७०६॥

अब सूक्ष्म शरीर रूप रथ के शब्दों का निरूपण करे हैं। हे देवताओ। जिस काल विषे यह पुरुष मरण के समीप प्राप्त होवे है। तिस काल विषे या प्रकार के शब्दों को उच्चारण करे है। हे हमारे गुणवान पुत्र हे हमारी प्रिय प्राणों के समान नवीन यौवन वाली स्त्री। हे हमारे हितकारी बांधव। हे हमारे धन। तेरे को बहुत यत्न करिकै मैंने इकट्ठा करा था। तुम सम्पूर्णों का परित्याग करिकै मैं भाग हीन अकेला ही दूर मार्ग विषे जाता हूं या तैं हमारे को धिक्कार है। हे देवताओ! इस तैं आदि लैकै अनेक प्रकार के शब्दों को यह जीवात्मा मरणकाल विषे स्त्री पुत्रादिकोंके वियोग तैं उच्चारण करे है। अब बालक अवस्था विषे जो पाप कर्म करे है। तिनों का स्मरण करिकै यह जीवात्मा मरण काल विषे जिन शब्दों को उच्चारण करे है। तिन शब्दों का निरूपण करे है। बाल्यावस्था विषे पापात्मा जीव दुर्बल बालकों का वाणी करिकै निरादर करता भया। तथा तिन बालकों को ताड़ना करता भया। और जो देवता पूजन करने योग्य है। तिन देवताओं के मस्तक पर मैं पापात्माजीव पादों को राखता भया। और हमारे हित के करने हारी जो हमारी माता थी तिस माता ने पखाण की न्यांई नवमास पर्यन्त उदर विषे रख्या था ऐसी हितकारी माता को भी मैं कृतघ्न नाना प्रकार के क्लेश देता भया। जैसे लोह का क्रकच काष्ठों को विदारण करे है। तैसे ता हितकारी माता के योनि यन्त्र को विदारण करिकै मैं दुरात्मा जीव माता के उदर तैं बाहिर निकसता भया। तिस तैं अनन्तर बाल्यावस्था विषे हमारे विष्ठा को तथा मूत्र को सो माता आपने हस्तों के ऊपर उठाय के डारती भई। और तिस बाल्यावस्था विषे अन्नादिकों के भक्षण करने विषे हमारे को असमर्थ देख कै आपने स्तनों का दुग्धपान कराती भई। और भक्षण करने योग्य जो उत्तम पदार्थ हैं तिन को आपने उदर विषे ना पायकै भी सो माता तिन उत्तम पदार्थों को हमारे ताईं देती भई। और बाल्याअवस्था विषे आपने हित के ज्ञान तैं रहित जो मैं मूढ़ था ताकी नाना प्रकार के उपायों करिकै सो माता जल अग्नि आदिकों तैं रक्षा करती भई। ऐसी हितकारी माता का मैं दुर्बुद्धि कृतघ्न बाल्यावस्था विषे राक्षस की न्यांई अनादर करता भया। तथा कठोर वचन रूप बाणों करके ता माता के कर्णों को भेदन करता भया। और शत्रु के वचन की न्यांई ता माता के हितकारी वचनों को भी मैं पापात्मा नहीं मानता भया। और ता बाल्यावस्था विषे मैं दुर्बुद्धि जीव पिता पितामहादिक वृद्ध पुरुषों को तथा शास्त्र वेत्ता ब्रह्मणों को तथा सुहृद मित्रों को नाना प्रकार के कठोर वचनों करिकै ताडना करता भया। और ता

बाल्यावस्था विषे मैं मूढ़ बुद्धि जीव नहीं भक्षण करने योग्य पदार्थोंको भी भक्षण करता भया। और वेद विषे निंदित जो कर्म हैं तिनों को भी करता भया। इस तैं आदि लेके अनेक प्रकार के निंदित कर्मों को पापात्मा जीव बाल्यावस्था विषे किये कर्मों को स्मरण करता हुआ यह जीवात्मा नाना प्रकार के शब्दों को करे है। इस वास्ते हमारे को धिक्कार है। हे देवताओ! इस प्रकार मरण काल विषे बाल्यावस्था के कर्मों को स्मरण करके पश्चात्ताप करे है। अब मरण काल विषे यौवन अवस्था विषे किये निषिद्ध कर्मों को स्मरण करके जिन शब्दों को उच्चारण यह जीवात्मा करे है। तिन शब्दों का निरूपण करे हैं। जैसे कोई पुरुष चित्त को एकाग्र करके विष्णु आदिक देवताओं का निरंतर ध्यान करता है। तैसे यौवन अवस्था विषे मैं मूढ बुद्धि जीव आपने हृदय देश रूप मन्दर विषे आपनी स्त्री को अथवा पर स्त्रियों को स्थापन करके तिन स्त्रियों का निरंतर ध्यान करता भया। एक क्षणमात्र भी हमने परमेश्वर का ध्यान नहीं करा है। यौवन अवस्था विषे हमारे को धनादिक पदार्थों की एकट्ठा करने की असन्त लोहभाकार वृत्ति होती भई। ता लोभ के वशते मैं मूढ दुर्बुद्धि ब्राह्मणादिक महान पुरुषों के सुवर्ण पशु गृहक्षेत्र अन्न स्त्री इससे आदि लेके अनेक प्रकार के पदार्थों को हरण करता भया। और ता यौवन अवस्था विषे मैं मूढ जीव धनादिक पदार्थों के प्राप्ति की इच्छा करके सम्पूर्ण दिवसों को व्यतीत करता भया। और यौवन अवस्था विषे मैं मूढ दुरात्मा जीव धन के लोभ करके ब्रह्महत्यादिक पाप कर्मों को करता भया। और स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करके सम्पूर्ण रात्रियों को व्यतीत करता भया। जे ब्रह्महत्यादिक पाप कर्म अनेक जन्मों विषे हमारे को दुःख की प्राप्ति करेंगे। और ता यौवन अवस्था विषे मैं दुरात्मा कृतघ्न स्त्री के अधीन होइके आपने माता पिता का भी परित्याग करता भया। और ता यौवन अवस्था विषे अहंकार करके युक्त हुआ मैं दुरात्मा जीव आपने पितादिक वृद्ध पुरुषों का भी उपहास करता भया। इस तैं आदि लेके अनेक प्रकार के निंदित कर्मों को मैं दुरात्मा यौवन अवस्था विषे करता भया। इस वास्ते हमारे को धिक्कार है। हे देवताओ! या प्रकार मरण काल विषे यह जीवात्मा यौवन अवस्था के निंदित कर्मों को स्मरण करके नाना प्रकार के शब्दों को करे है। अब मरणकाल विषे यह जीवात्मा वृद्ध अवस्था के निंदित कर्मों का स्मरण करके जिन शब्दों को उच्चारण करे है। तिन शब्दों का निरूपण करें हैं। वृद्ध अवस्था को प्राप्त होइके मैं दुरात्मा जीव आपने हस्त पादादिक अङ्गों करके चलने को भी समर्थ नहीं होता भया। और वृद्ध अवस्था विषे काम क्रोध लोभ मोह यह चारों वृद्धि को प्राप्त होते भये। और ता वृद्ध अवस्था विषे काम करके आतुर हुआ मैं मूढ़ बुद्धि स्त्री की अप्राप्ति करके भी मैं दुःखी ही होता भया। और स्त्री के प्राप्त हुए भी ता के भोगने की असमर्थ्य करके दुःख को प्राप्त होता भया। और ता वृद्ध अवस्था विषे मैं दुरात्मा जीव को क्रोध रूपी अग्नि करके तथा लोभादिक विकारों करके जो जो दुःख प्राप्त भये हैं। ता दुःखको मुझ जड तैं विना कौन चेतन पुरुष सहन करि सकेगा। कैसे हैं ते दुःख जिन दुःखों विषे एक एक भी ब्रह्म

हत्या जन्य दुःख के समान हैं या प्रकार के अनेक दुःखों को मैं पापात्मा वृद्ध अवस्था विषे प्राप्त भया हूं । और ता वृद्ध अवस्था विषे हमारे हृदय कमल विषे काम क्रोध लोभ मोह यह चारों अनंत वृद्धि को प्राप्त होते भये हैं । तिन काम क्रोधादिकों करिकै यह हमारा हृदय कमल कर्कटी फल की न्यांई भेदन को नहीं प्राप्त होता भया । यह हमारे को बहुत आश्चर्य होवै है । और जो स्त्री पुत्रादिक बांधव हमारे को प्राणों के समान प्रिय जानते थे । ते स्त्री पुत्रादिक बांधव हमारे को वृद्ध हुआ देख के श्वान की न्यांई हमारा निरादर करते भये । और काम क्रोध लोभ मोह यह चारो बाल्यावस्था तैं लै कै वृद्ध अवस्था पर्यंत हमारे विषे वर्त्तमान हैं । और जैसे घृत के पावने करिकै प्रज्वलित अग्नि की शांति होवै नहीं । उलटा घृत के पावने तैं अग्नि की वृद्धि होतो जावै है । तैसे विषयों की प्राप्ति करिकै काम क्रोधादिकों की शांति होवै नहीं। उलटा विषयों की प्राप्ति तैं दिन दिन विषे कामादिकों की वृद्धि होती जावै है । एक आत्मा का विचार काम क्रोधादिकों के शांति का उपाय था । तिस आत्म विचार को हमनैं संपादन किया नहीं। किंतु बाल्यावस्था तैं लै कै मरण पर्यंत आपने शरीर कै पालन करने वासतैं तथा स्त्री पुत्रादिक कुटुंब के पालन करने वास्तैं अनेक प्रकार के पाप कर्मों को मैं दुरात्मा करता भया । या तैं हमारे को धिक्कार है । हे देवताओ ! या प्रकार मरण काल विषे वृद्ध अवस्था के निंदित कर्मों को स्मरण करिकै यह जीवात्मा अनेक प्रकार के शब्दों को उच्चारण करै है । अब मरण काल के दुःखोंको अनुभव करिकै यह जीवात्मा जिन शब्दों को उच्चारण करै है । तिन शब्दों का निरूपण करै हैं । जैसे मलीन जल करिकै पूर्ण जो तालाव है । ता तलाव विषे स्थित जो मत्स्य है सो मत्स्य मृत्तिका करिकै अवृत्त होवै है तथा सूर्य की तप्त करिकै तपाय मान होवै है । ऐसे मत्स्य को जैसे धीवर पुरुष लैने वास्तैं आवै है । तैसे स्त्री पुत्रादिक रूप मलीन जल करिकै पूर्ण जो यह गृह रूप तलाव है । तिस विषे मैं दुरात्मा रूप मत्स्य स्थित हूं । कैसा हूं मैं अध्यात्म अधिभूत अधिदैवक या तीन प्रकार कै दुःख रूप सूर्य करिकै तपायमान हूं । तथा काम क्रोधादिक रूप मृत्तिका करिकै अवृत हूं । या प्रकार कै मत्स्य रूप मैं दीन को मृत्यु रूप धीवर लैने के वास्तैं आया है । और जैसे पशुवों के हिंसा स्थान विषे कोई निर्दयी पुरुष लोह के शस्त्र करिकै पशुवों के अंगों को छेदन करै है । तैसे दया तैं रहित यह मृत्यु हमारे अंगों को छेदन करै है । ता करिकै हमारे को बहुत कष्ट होवै है । और या मरण काल विषे अनेक सूचीयों करिकै हमारे सर्व अंगों को कौन वेधन करता है । तिस पुरुष को मैं जान सकता नहीं । और या मरण काल विषे हमारे हस्तपाद भी काष्ट के समान जड हो गये हैं । और जैसे दुष्ट अश्व रथ वाही पुरुष के वशवर्ती होवै नहीं । तैसे इस काल विषे मन सहित नेत्रादिक इंद्रिये संपूर्ण हमारे वशवर्ति नहीं हैं । इस वासतैं अंध पुरुष की न्यांई किसी पदार्थ को मैं देखता नहीं तथा बधर की न्यांई किसी शब्द को मैं श्रवण करता नहीं इस काल विषे हमारा कंठ कफ धातु सें निरोध हो गया है । और जठराग्नि भी आपने स्थान को छोड़ के हमारे शरीर को दाह करता

हुआ ऊपर को चल्या आवे है और प्राण वायु भी आपना स्थान छोड के हमारे शरीर को शोषण करता हुआ ऊपर को चला आवै है और जैसे या लोक में कोटि वृश्चिक क्रोधवान होई कै किसी पुरुष के शरीर विषे बारंबार दंश करै हैं । ता करिकै जैसे पीडा ता पुरुष को होवै है । तैसे ही पीडा इस काल विषे हमारे को होती है । हे देवताओ ! इस तैं आदि लैकै अनेक प्रकार के शब्दों को यह जीवात्मा मरण काल विषे करै है । और ता मरण काल विषे वाणी के निरोध हुये भी यह जीवात्मा घुर घुर या प्रकार के शब्दों को करै है । या प्रकार के अनेक शब्दों को करता हुआ यह सूक्ष्म शरीर रूप रथ या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै परलोक को गमन करै है । और या स्थूल शरीर रूप पुरीतैं एक बार बाहिर निकिस्या हुआ यह सूक्ष्म शरीर रूप रथ पुनः ता स्थूल शरीर विषे आवै नहीं । और जैसे सुषुप्ति अवस्था विषे यह जीवात्मा हृदय देश विषे स्थित परमात्मा देव के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होवै है । तैसे मरण काल विषे भी यह जीवात्मा हृदय देश विषे स्थित परमात्मा देव के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होवै हैं । और जैसे सुषुप्ति अवस्था विषे स्थित हुआ यह जीवात्मा जाग्रत स्वप्न के संपूर्ण विशेष ज्ञानों तैं रहित होवै है । तैसे मरण काल विषे भी यह जीवात्मा संपूर्ण विशेष ज्ञानों तैं रहित होवै हैं । या कारण तैं ही यह जीवात्मा मरण काल विषे मैं परमात्मा देव के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होवै है । और जैसे सुषुप्ति अवस्था विषे यह जीवात्मा मैं परमात्मा देव के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होइ कै जाग्रत स्वप्न के सर्व विक्षेपों तैं रहित होवै है । तैसे मरण काल विषे भी यह जीवात्मा मैं परमात्मा देव के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होइ कै पूर्व उक्त संपूर्ण शब्दों का परित्याग करै है । तिस तैं अनंतर उर्ध्व-श्वासों करिकै आपने दीन भाव को बोधन करता हुआ यह जीवात्मा या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै पूर्वले पुण्य पाप कर्मों के अनुसार दूसरे शरीर को प्राप्त होवै है । अब पूर्वले शरीर का परित्याग करिकै यह जीवात्मा को जिस प्रकार तैं दूसरे शरीर की प्राप्ति होवै है । ता प्रकार का निरूपण करै हैं । हे देवताओ ! मरण काल विषे बहुत स्थानों विषे तो यह रीति है कि प्रथम यह जीवात्मा दुर्बलता को प्राप्त होइ कै पश्चात उर्ध्वश्वासों करिकै उपलक्षित जो दीन दशा है ता दीन दशा को प्राप्त होवै है । और सो दुर्बलता या जीव को दो प्रकार के कारणों सें होवै है । एक तो जरा अवस्था करिकै सो दुर्बलता होवै हैं । और दूसरी व्याधि करिकै सो दुर्बलता होवै है । ता दुर्बलता करिकै दीन दिशा को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा मरण काल विषे उर्ध्वश्वासों को लेवै है । हे देवताओ ! या प्रकार की दशा को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा जिस प्रकार या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै है । ता प्रकार को तुम श्रवण करो । जैसे या लोक विषे आंम्र का फल तथा वट का फल तथा पीप्पल का फल जभी परिपक्क होवै है । तभी तात् काल ही ता वृक्ष की शाखातैं टूट के भूमि विषे पड़े है अनेक प्रकार कै उपायों करिकै भी परिपक्क फल की वृक्ष विषे स्थिति होइ सकै नहीं । तैसे या स्थूल शरीर के आरंभ करने हारे जो पुण्य पाप रूप प्रारब्ध कर्म हैं तिनों का

जभी भोग करिकै क्षय होवै है । तभी यह जीवात्मा या स्थूल शरीर का परित्याग शीघ्र ही करै है । और जैसे नीचे पतन तैं पूर्व आम्रादिक फलों का वृक्ष के साथ तादात्म्य संबंध होवै है । तैसे मरण तैं पूर्व या जीवात्मा का भी या स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य संबंध होवै है । इस वास्ते ही (मैं ब्राह्मण हूं) (मैं क्षत्रिय हूं) (मैं स्थूल हूं) या प्रकार की प्रतीति सर्व को होवै है । और जैसे नीचे पतन तैं पूर्व वृक्ष के साथ फलों का तादात्म्य हुये भी परिपक्क अवस्था विषे तिन फलों का वृक्ष के साथ अवश्य वियोग होवै है । तैसे मरण तैं पूर्व या जीवात्मा का स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य संबंध हुये भी । मरण काल विषे या जीवात्मा का ता स्थूल शरीर के साथ अवश्य वियोग होवै है । और आम्रादिक वृक्षकी शाखा तैं नीचे पतन हुआ । आम्रादिक फल किसी अधार तैं विना रहै नहीं किंतु नीचे पतन तैं पूर्व ते आम्रादिक फल वृक्ष के आश्रित रहै है । और नीचे पतन तैं पश्चात ते आम्रादिक भूमि आदिकों के आश्रित रहै है । तैसे सूक्ष्म शरीर भी या स्थूल शरीर के त्याग तैं अनंतर किसी अधार तैं विना रहै नहीं । किंतु मरण तैं पूर्व सो सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर के आश्रित रहै है । और या स्थूल शरीर के त्याग तैं अनंतर सो सूक्ष्म शरीर किसी दूसरे शरीर को प्राप्त होवै है । तहां यह सूक्ष्म शरीर वशिष्ट जीवात्मा जिस प्रकार पूर्व ले शरीर को प्राप्त होवै है । तिसी प्रकार तथा तिसी जाति वाले दूसरे शरीर को यह जीवात्मा प्राप्त होवै है । हे देवताओ जिस जाति वाला पूर्व शरीर होवै है । तिस २ जाति वाले दूसरे शरीर को यह जीवात्मा प्राप्त होवै है यह अर्थ जो श्रुति भगवती नैं कथन करा है । ता का यह अभिप्राय है । कि पूर्वले पुण्य पाप कर्म के वश तैं यह जीवात्मा कदाचित पूर्व ले शरीर के समान जाति वाले शरीर को भी प्राप्त होवै है। परंतु यह जीवात्मा पूर्वले शरीर के समान जाति वाले शरीर को ही प्राप्त होवे है । या प्रकार के नियम विषे श्रुति भगवती का तात्पर्य नहीं है । किन्तु एक शरीर का परित्याग करिकै यह जीवात्मा दूसरे शरीर को अवश्य प्राप्त होवे है । या प्रकार के नियम विषय श्रुति का तात्पर्य है । सो दूसरा शरीर पूर्वले शरीर के समान जाति वाला होवे अथवा पूर्वले शरीर तैं विलक्षण होवे है । या के विषे कोई नियम नहीं । अब या ही अर्थ को स्पष्ट करिकै निरूपण करे हैं । हे देवताओ ! प्रारब्ध कर्म के क्षय हुए तैं अनन्तर यद्यपि या स्थूल शरीर का नाश होवे है । तथापि जब पर्यंत यां जीव को अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं भया । तब पर्यन्त सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होवे है। एक ब्रह्मज्ञान करके ही सूक्ष्म शरीर का नाश होवे है । तहां श्रुति—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं यत्प्रकाशते । तद्ब्रह्माह मिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ॥७०८॥

कैव० उ० खं० १ मं० १७ ॥

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्था विषे जो प्रपञ्च जिस स्वयं ज्योति ब्रह्म से प्रकाशमान होवे है । सो ब्रह्म मैं हूं इस प्रकार जान करिकै सर्व बन्धनों से यह जीवात्मा मुक्त होता है ॥७०८॥

और सो सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर तैं विना स्थित होवे नहीं । किन्तु स्थूल शरीर को

आश्रयण करिकै ही या सूक्ष्म शरीर की स्थिति होवे है। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान तैं पूर्व संसार दशा विषे या सूक्ष्म शरीर की दो प्रकार की अवस्था होवे है। एक तो कारण अज्ञान विषे संस्कार रूप करिकै रहे है। और सुषुप्ति तैं भिन्न काल विषे यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को आश्रयण करिकै रहे है। दोनों प्रकार की अवस्थाओं विषे किसी एक अवस्था को आश्रय करिकै ही यह सूक्ष्म शरीर रहे है। और हे देवताओ! पाप कर्म के वश तैं यह सूक्ष्म शरीर नरक को प्राप्त होवे है। ता नरक विषे यह सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होवे है। और पुण्य कर्म के वश तैं यह सूक्ष्म शरीर स्वर्गादिक लोकों को प्राप्त होवे है ता स्वर्गादिक लोकों विषे तथा ब्रह्म लोक विषे यह सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार कै सुखों को प्राप्त होवे है। सो नरक विषे दुःख का भोग तथा स्वर्ग विषे सुख का भोग तथा ब्रह्म लोक विषे सुख का भोग स्थूल शरीर तैं विना संभवै नहीं। या तैं स्वर्ग विषे तथा ब्रह्म लोक विषे तथा नरक विषे यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को आश्रयण करिकै ही सुख दुःख को भोगे है।

शंका—हे भगवन्! सूक्ष्म शरीर की दो अवस्था कही सो सम्भवे नहीं। किंतु सूक्ष्म शरीर की तीन अवस्था सम्भवे है। काहे तैं जभी यह सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै परलोक को जावे है। तिस काल विषे यह सूक्ष्म शरीर संस्कार रूप करिकै कारण अज्ञान विषे रहे नहीं तथा तिस काल विषे यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को भी आश्रयण करे नहीं। या तैं तिस काल विषे या सूक्ष्म शरीर की तीसरी अवस्था अंगीकार करी चाहिये। समाधान—हे देवताओ! या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै यह सूक्ष्म शरीर जब पर्यन्त दूसरे स्थूल शरीर को नहीं प्राप्त भया तब पर्यन्त या सूक्ष्म शरीर की जो कदाचित् तीसरी अवस्था होती होवे तो सा तीसरी अवस्था निःशंक होवे या के विषे हमारा कोई आग्रह नहीं। परन्तु सुख दुःख के भोगणे वास्ते जो सूक्ष्म शरीर की स्थिति है सा स्थिति स्थूल शरीर तैं विना होवे नहीं। या प्रकार कै अर्थ विषे हमारा तात्पर्य है। और हे देवताओ! या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै यह सूक्ष्म शरीर जब पर्यन्त दूसरे स्थूल शरीर को नहीं प्राप्त होता तब पर्यंत मध्य काल विषे यह सूक्ष्म शरीर किसी दुःख सुख को भोगता नहीं। तहां दृष्टांत जैसे गृध पक्षी मांस को मुख विषे ग्रहण करिकै अकाश मार्ग विषे उडै है। सो गृध पक्षी यद्यपि ता काल विषे भी मांस को भक्षण करने विषे समर्थ है। तथापि आकाश विषे चलता हुआ सो गृध पक्षी ता मांस को भक्षण करे नहीं। किन्तु किसी वृक्षादिकों के विषे स्थित होइकै सो गृध ता मांस को भक्षण करे है। तैसे या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै यह सूक्ष्म शरीर जब पर्यंत दूसरे स्थूल शरीर को नहीं ग्रहण करता तब पर्यन्त यह सूक्ष्म शरीर किसी पदार्थ को भोगने विषे समर्थ होवे नहीं। इस वास्ते सो सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै सुख दुःख के भोगने वास्ते दूसरे स्थूल शरीर को अवश्य प्राप्त होवे है। सो दूसरा शरीर पूर्वले शरीर के समान जाति वाला होवे अथवा विलक्षण होवे या के विषे कोई नियम नहीं। काहे तैं नरक विषे केवल पाप कर्म के दुःख रूप फल को भोगता हुआ जो जीव है।

ता जीव का जभी कोई पूर्वला पुण्य पाप रूप मिश्रित कर्म उदय होवे है। तभी सो नरकवासी जीव नरक के स्थूल शरीर का परित्याग करिकै या पृथ्वी लोक विषे मनुष्य शरीर को प्राप्त होवे है। और ता नरक वासी जीव का जभी कोई पूर्वला केवल पुण्य कर्म उदय होवे है। तभी सो नरक वासी जीव ता नरक के स्थूल शरीर का परित्याग करिकै स्वर्ग विषे देवता शरीर को भी प्राप्त होवे है। और स्वर्ग विषे स्थित जो कर्म देवता हैं तिन देवताओं को जभी कोई पूर्वला पुण्य पाप रूप मिश्रित कर्म उदय होवे है। तभी देवता स्वर्ग के स्थूल शरीर का परित्याग करिकै या भूमि लोक विषे मनुष्य शरीर को प्राप्त होवे है। और ता मनुष्य शरीर के परित्याग काल विषे जभी कोई पूर्वला पाप कर्म उदय होवे है। तभी ते देवता मनुष्य शरीर का परित्याग करिकै नरक के शरीर को भी प्राप्त होवे है। या प्रकार का स्थूल शरीर के परित्याग काल विषे जो जो पुण्य कर्म अथवा पाप कर्म यां जीव का उदय होवे है। तिस पुण्य पाप कर्म के अनुसार या जीव को दूसरे शरीर की प्राप्ति होवे है। या तैं यां जीव को पूर्वले शरीर के समान जाति वाला ही दूसरा शरीर प्राप्त होवे है। या प्रकार का नियम सम्भवे नहीं।

शंका—हे भगवन्! यह जीव अल्पज्ञ है या तैं या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै इस जाति वाले शरीर को मैं प्राप्त होवैगा या प्रकार का ज्ञान जीव को संभवै नहीं। और पुण्य पाप रूप कर्म जड हैं या तैं तिनों विषे भी उत्तर शरीर का ज्ञान संभवै नहीं। या तैं या जीव को दूसरे शरीर की प्राप्ति कौन करावै है।

समाधान—जैसे या लोक विषे दीर्घ काष्ट के साथ सूत्र करिकै बांधे हुए जो काष्ट के मर्कट हैं तिन मर्कटों के साथ बालक क्रीडा करै हैं। तहां सो बालक जिस मर्कट के क्रीडा करावने की इच्छा करै हैं। तिस मर्कट के सूत्र को आकर्षण करै हैं। ता सूत्र आकर्षण करिकै ते मर्कट नाना प्रकार की क्रीडा करै हैं। तैसे यह अनादि संसार दीर्घ काष्ट के समान है। और स्थावर जंगम रूप सर्व प्राणी मर्कट के समान हैं। और जीवों के पुण्य पाप कर्म रूप सूत्र के समान है और माया विशिष्ट अंतर्यामी मैं परमात्मा देव बालक के समान हूं। या तैं मैं परमात्मा रूप बालक क्रीडा करावने वास्तै जिस जिस प्राणी रूप मर्कट के पुण्य पाप रूप सूत्रको आकर्षण करूं हूं। सो २ जीव रूप मर्कट या संसार विषे नाना प्रकार की चेष्टा करैं हैं। तहां श्लोक—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥७०९॥ गी० अ० १८ श्लो० ६१

अर्थ—हे अर्जुन! अंतरयामी ईश्वर यंत्र विषे आरूढ काष्टमय प्रतिमाओं की न्याई सर्व प्राणीयों को माया करिकै जहां तहां योनियों विषे भ्रमण करावता हुआ सर्व प्राणीयों के हृदय देशि विषे स्थित होवै है ॥७०९॥

शंका—हे भगवन्! जैसे गौवों का गोपाल गौवों से भिन्न होई के गौवों को भ्रमण करावै है तैसे ईश्वर अंतर्यामी प्राणीयों को भ्रमण करावे है वा अभिन्न होइ कै भ्रमण करावै है। समाधान का मंत्र—

पुष्पमध्ये यथा गंधाः पयो मध्ये यथा घृतम्। तिलमध्ये यथा तैलं पा-

षाणेष्विव कांचनम् ॥७१०॥

ध्यानविंदू उ० मं० ५ ॥

अर्थ—जैसे फूल में सुगंधि स्थित है तथा दुग्ध में जैसे घृत स्थित है तथा जैसे तिलों में तैल स्थित है तथा जैसे पाषाण में सुवर्ण स्थित है ॥७१०॥

इस प्रकार परमात्मा देव सर्वांतरयामी रूप सर्व के हृदय देश में स्थित होइ कै सर्व प्राणीयों को भ्रमण करावै है भिन्न होइ कै नहीं।

एव सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि । स्थिरबुद्धिर संमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥७११॥

ध्यानविंदु उ० मं० ६ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सर्वस्थावर जंगम जीवों में मणियों में सूत्र की न्यांई आत्मा स्थित है। इस आत्मा में स्थित बुद्धि विद्वान ब्रह्मवेत्ता ही ब्रह्म में स्थित होवे है ॥७११॥

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः । पुरुषस्य शरीरे तु सबाह्याभ्यंतरे स्थितः ॥७१२॥ ध्यानविंदु उ०मं०७ ॥

अर्थ—जैसे तिलों में तैल है तथा पुष्पों के आश्रित गंध है तैसे सर्व स्थावर जंगम शरीरों के बाह्य तथा भीतर सो परमात्मा रूप पुरुष स्थित है ॥७१२॥

तात्पर्य यह है कि या जीव ने पूर्वले जन्मों विषे अनेक पुण्य पाप रूप कर्म करे हैं। तिन कर्मों का ज्ञान इस अल्पज्ञ जीव को है नहीं। किंतु सर्वज्ञ मुझ परमात्मादेव को ही सर्व जीवों के पुण्य पाप कर्म का ज्ञान है। और यह जीव जिस काल विषे या स्थूल शरीर का परित्याग करे है। तिस काल विषे मैं परमात्मा देवता जीव को जिस पुण्य पाप रूप कर्म के सुख दुःख रूप फल के देने वास्ते तैं सन्मुख करूं हूं। तिसी पुण्य पाप रूप कर्म के अनुसार यह पराधीन जीव दूसरे जन्म को प्राप्त होवे है। या तैं पुण्य पाप रूप कर्म के करने विषे तथा पुण्य पाप रूप कर्म के दुःख सुख रूप फल के भोगने विषे तथा दूसरे शरीर की प्राप्ति विषे यह जीव स्वतन्त्र नहीं है। किंन्तु अन्तर्यामी मैं परमात्मा देव ही ता के विषे कारण हूं। मैं परमात्मा देव या जीव के पुण्य पाप कर्म के अनुसार जैसे शरीर को रचों हूं। तिसी तिसी शरीर को यह जीवात्मा प्राप्त होवे है। या तैं पूर्वले शरीर के समान जाति वाले दूसरे शरीर को यह जीवात्मा प्राप्त होवे है। या प्रकार का नियम सम्भव नहीं। किंवा अत्यन्त अल्प तृण शरीर को प्राप्त हुआ यह जीव पूर्वले किसी पुण्य कर्म के प्रभाव तैं ब्रह्मा के शरीर को प्राप्त होवे है। अत्यन्त उत्कृष्ट ब्रह्मा शरीर विषे स्थित हुआ यह जीव पूर्वले किसी पाप कर्म के प्रभाव तैं तृण शरीर को प्राप्त होवे है । या तैं यह सिद्ध भया कि जैसे पिशाच शरीरों का तथा मेघों का वायु के अधीन गमन होवे है। स्वतन्त्र गमन होवे नहीं। तैसे ब्रह्म लोक विषे तथा स्वर्ग लोक विषे तथा भूमी लोक विषे या जीव का जो गमन होवे है सो गमन स्वतन्त्र नहीं होवे है। किन्तु मुझ परमेश्वर ने सुख दुःख रूप फल के देने वास्ते सन्मुख करे जे पुण्य पाप रूप कर्म हैं तिन कर्मों के अनुसार ही या जीव का परलोक विषे गमन होवे है।

शंका—हे भगवन् ! यह जीव पूर्वले शरीर के समान जाति वाले दूसरे शरीर को जो न प्राप्त होता होवे तो श्रुति यां जीव का पूर्वले

शरीर के समान जाति वाले दूसरे शरीर की प्राप्ति किस वास्ते कथन करी है। समाधान—पूर्वले शरीर के समान जाति वाले दूसरे शरीर को ही यह जीवात्मा प्राप्त होता होवे है। या प्रकार के नियम विषे श्रुति का तात्पर्य नहीं। किंतु यह जीवात्मा जिस काल विषे या स्थूल शरीर का परित्याग करे है। तिस काल विषे जो कदाचित् तिसी शरीर के समान जाति वाले दूसरे शरीर की प्राप्ति करने हारे कर्मों का उद्भव होवे है। तो यह जीवात्मा पूर्वले संस्कारों के वश तैं तिसी जाति वाले शरीर को पुनः प्राप्त होवे है। और जभी पूर्व शरीर तैं विलक्षण शरीर की प्राप्ति करने हारे कर्मों का उद्भव होवे है। तभी यह जीवात्मा पूर्वले शरीर तैं विलक्षण शरीर को भी प्राप्त होवे है। परन्तु एक शरीर का परित्याग करिकै यह जीवात्मा दूसरे शरीर को अवश्य प्राप्त होवे है। यां प्रकार के नियम विषे श्रुति का तात्पर्य है। तहां श्लोक—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥७१३॥

गी० अ० २ श्लोक २२॥

अर्थ—हे अर्जुन! जैसे यह पुरुष जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करिकै दूसरे नवीन वस्त्रों को ग्रहण करे है। तैसे यह देही (जीवात्मा) भी इन जीर्ण शरीरों को परित्याग करिके दूसरे नवीन शरीरों को प्राप्त होवे है ॥७१३॥

हे देवताओ! जो कदाचित या जीव को नियम करिकै पूर्वले शरीर के समान जाति वाला ही दूसरा शरीर प्राप्त होता होवे तो पुण्य के सुख रूप फलको तथा पाप के दुःख रूप फलको बोधन करने हारा जो शास्त्र है अप्रमाण होवेगा काहे तैं अग्नि होत्रादिक कर्मों का करने हारा जो पुरुष है। तिस को स्वर्ग विषे देवता शरीर की प्राप्ति शास्त्र विषे कथन करी है। और उपासना को करने हारा जो पुरुष है। तिस को ब्रह्म लोक की प्राप्ति शास्त्र विषे कथन करी है। और ब्रह्म हत्यादिक पाप कर्मों को करने हारा जो पुरुष है। तिसको श्वानादिक नीच शरीरों की प्राप्ति शास्त्र विषे कथन करी है। इस तैं आदि लेकै संपूर्ण विधी निषेध रूप शास्त्र अप्रमाण रूप होवैगा। किंवा यह संसार प्रवाहरूप करिकै अनादि है। ता अनादि संसार विषे कोई भी पदार्थ सर्व तैं प्रथम नहीं या तैं या जीवका सर्व शरीर तैं प्रथम किस जाति वाला शरीर था या प्रकार वादी की अशंका के हुये या जीव का सर्व शरीरों तैं प्रथम इस जाति वाला शरीर था या प्रकार के उत्तर देने विषे कोई भी विद्वान समर्थ नहीं। किंवा जो वादि वर्तमान शरीर को देख के या प्रकार नियम करै है। या जीव का मनुष्यत्व जाति वाला ही शरीर योग्य है। और जा जीव का पशुत्व जाति वाला ही शरीर योग्य है। तो पूर्व शरीरों के अज्ञान तैं या संसार विषे सादिपणा ही प्राप्त होवैगा। और संसार विषे सादिपणा कोई भी आस्तिक वादी अंगीकार करै नहीं। किंतु चार्वाक नास्तिक तैं भिन्न संपूर्ण आस्तिक वादी संसार को प्रवाह रूप करिकै अनादि ही मानैं हैं। या तैं या जीव को नियम करिकै पूर्व ले शरीर के समान जाति वाला ही दूसरा शरीर प्राप्त होवै है या प्रकार का जो नियम अंगीकार करिये तो संसार विषे अनादिपणा नहीं रहैगा। अब संसार को सादिमानने

हारे जो चार्वाक नास्तिक हैं तिनों के मत को खंडन करने वालें नाना प्रकार की युक्तियों करिकै संसार विषे अनादिपणा सिद्ध करै हैं। जैसे जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति या तीन अवस्थावों विषे यह जाग्रत अवस्था सर्व जाग्रत अवस्थावों तैं प्रथम है और यह स्वप्न अवस्था सर्व स्वप्न अवस्थावों तैं प्रथम है। और यह सुषुप्ति अवस्था सर्व सुषुप्ति अवस्थावों तैं प्रथम है। या प्रकार का नियम किया जावै नहीं। तैसे या जगत की उत्पति स्थिति लय या तीनों विषे भी यह जगत की उत्पत्ति सर्व उत्पत्तियों तैं प्रथम है। और यह जगत की स्थिति सर्व स्थितियों तैं प्रथम है। और यह जगत को लय सर्व लयों तैं प्रथम है। या प्रकार का नियम किया जावै नहीं। या तैं जगत की उत्पत्ति स्थिति लय यह तीनों प्रवाह रूप सें अनादि हैं।

तहां दृष्टांत—जैसे कूपादिकों तैं जल के निकालने का साधन जो घटीयंत्र है। ता के विषे स्थित जो दीर्घ रज्जु है तां रज्जु के साथ बांधे हुये जो मृत्तका के घटी नामा पात्र विशेषे हैं। तिन पात्रों विषे यह मृत्तिका पात्र सर्व पात्रों तैं प्रथम है। या प्रकार का नियम किसी सें किया जावै नहीं। तैसे यह संसार संपूर्ण संसारों तैं प्रथम है। या प्रकार का नियम किसी सें किया जावै नहीं। या तैं चार्वाक तैं आदि लै कै संपूर्ण वादियों नैं या संसार को प्रवाह रूप करिकै अनादि मान्या चाहिये। और संसार के अनादि मानने विषे पुण्यवान पुरुष सुख रूप फल को प्राप्त होवैगा। या प्रकार की शास्त्र की व्यवस्था भी सुखे नहीं सिद्ध हो सकै है। या तैं यह सिद्ध भया कि यह जीवात्मा स्थूल शरीर का परित्याग करिकै तिसी जाति वाले दूसरे को प्राप्त होवै है। या प्रकार के नियम विषे श्रुति का तात्पर्य है नहीं। किंतु या प्रकार के अर्थ विषे श्रुति भगवती का तात्पर्य है। कि यह संसार अनादि है ता अनादि संसार विषे यह जीवात्मा जैसे अब भी शरीर को प्राप्त भया है तैसे पूर्व भी यह जीवात्मा जिस जिस जाति वाले शरीर को प्राप्त होवै है। तिस तिस जाति वाले शरीर को पुनः भी कदाचित् प्राप्त होवैगा। तात्पर्य यह है कि यह जीवात्मा पशु पक्षी तैं आदि लै कै जिस २ जाति वाले शरीर को प्राप्त होवै है। तिस तिस जाति वाले शरीर के खान पान मैथुन इन तैं आदि लै कै जितने कि व्यवहार हैं तिन व्यवहारों को यह जीवात्मा उपदेश तैं विना ही करै है। या तै यह जान्या जावै है या जीवात्मा के इस जाति वाले शरीर पूर्व भी कभी प्राप्त भये हैं। तिस शरीर के संस्कारों तैं यह जीवात्मा उपदेश तैं विना ही खान पानादिक सर्व व्यवहारों को करै है। इतनै ग्रंथ करिकै यह अर्थ कथन करा जब पर्यंत या जीवात्मा को आत्मा के वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार ज्ञान नहीं तथा आत्म साक्षात्कार सें संचित कर्मों का नाश नहीं भया। तथाचित जड ग्रंथी छेदन को प्राप्त नहीं भयी तथा दोनों प्रकार के संशयों की निवृत्ति नहीं भयी। तब पर्यंत यह जीवात्मा एक स्थूल शरीर का परित्याग करिकै पुण्य पाप के वश तैं दूसरे स्थूल शरीर को अवश्य प्राप्त होवै है। तहां श्रुति—

भिद्यते हृदय ग्रंथि श्छिद्यंते सर्व-संशयाः। क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥७१४॥

द्वितीय मु॰ खं॰ २ मं ९॥

अर्थ—तिस कारण रूप सें पर और कार्य रूप सें अपर सर्वज्ञ असंसारी परमात्मा के साक्षात्कार हुये या पुरुष के हृदय में चित जड ग्रंथि नाश भाव को प्राप्त होवै है। तथा सर्व संचित कर्म क्रियमाण भी नाश को प्राप्त होवै हैं। तथा तिस पुरुष के प्रमाण गत संशय तथा प्रमेय गत संशय भी नाश भाव को प्राप्त होवै हैं ॥७१४॥

वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्था संन्यास योगाद्यतयः शुद्ध सत्त्वाः ते ब्रह्म लोकेषु परांत काले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ॥७१५॥

· तृतीय मुं० उ० खं० २ मं० ६ ॥

अर्थ—किंवा जो पुरुष सें जन्य विज्ञान करिकै परमात्मा जानने योग्य अर्थ के निश्चय वाले हैं। और सर्व कर्म के परित्याग पूर्वक केवल ब्रह्म निष्ठा रूप संन्यास योग का प्रयत्न करने वाला हैं। स्वभाव जिनोंका ऐसे जो यति हैं। और संन्यास योग तैं शुद्ध चित वाले हैं। ते सर्व परांत काल विषे अर्थात अंतकाल विषे ब्रह्म लोक विषे जीव तै हुये ही परम और मरण धर्म तैं रहित शुद्ध ब्रह्म है आत्मा जिनों का ऐसे परामृत हुये सर्व और तैं दीपक के निरवाण की न्याई तथा घटाकाश की न्याई मुक्त होवै हैं ॥७१५॥

भिद्यते हृदयग्रंथि श्छिद्यंते सर्व संशयाः। क्षीयंते चाऽस्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥७१६॥

भाग० स्कंध ११ अ० २ श्लोक ३०

अर्थ—श्रीकृष्ण भगवान बोले कि हे उद्धव जब यह मेरा भक्त मेरी भक्ति करके विक्षेप रहित अंतः करण वाला हुआ जब मैं सर्वांतरयामी चराचर के आत्मा को आपना आत्मा रूप सें साक्षात्कार करै है। तब इस के हृदय की चित जड ग्रंथि तथा प्रमाण गत असंभावना तथा प्रमेय गत असंभावना तथा संचित क्रियमाण कर्म सर्व ही नाश भाव को प्राप्त होवै हैं ॥७१६॥

गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः। छित्त्वाऽविद्या महांग्रंथि शिवं गच्छेत्सनातनम् ॥७१७॥

ब्रह्मगी० अ० ७ श्लोक ३४ ॥

अर्थ—जो ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म को आपने हृदय देश में स्थित को स्वात्मा रूप सें साक्षात्कार करता है संसार का हेतू भूत अविद्या चित जड ग्रंथि नाश हो जाती है। तदनंतर सर्वदा बाध रहित चिदेकरस पर शिव स्वरूप सनातन को प्राप्त होता है ॥ ७१७॥

भिद्यंते हृदयग्रंथि श्छिद्यंते सर्व संशयाः। क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे ॥७१८॥ ब्रह्मगी० अ० ७ श्लोक ४३

आतुर कुटीचकयो र्भूलोको बहूदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपोलोकः परमहंसस्य सत्यलोक स्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीट न्यायवत ॥१॥ नारद परिव्राजकोपनिषत्। उपदेश ॥५॥ **यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्। तं तमेवस माप्नोति नान्यथा श्रुति शासनम् ॥२॥** इति श्रुति ॥२॥ उपदेश ॥५॥

और दूसरा शरीर कदाचित पूर्व ले शरीर के समान जाति वाला होवै है। कदाचित विलक्षण होवै है। या के विषे कोई नियम नहीं। अब यह जीवात्मा या शरीर का परित्याग करिकै पुण्य पाप के वश तैं जिस प्रकार दूसरे स्थूल शरीर को प्राप्त होवै है। तिस अर्थ को लोक प्रसिद्ध दृष्टांत करिकै निरूपण करै हैं। हे देवताओ! क्षत्रियाणी माता से वैश्य पिता सें जो पुत्र उत्पन्न होवै है। तिनों को शास्त्र वेत्ता पुरुष उग्र या नाम करिकै कथन करै हैं। अथवा हिंसादिक उग्र कर्मों को करने हारे जो पुरुष हैं। तिनों का नाम उग्र है। अथवा हीन जाति वाली माता विषे उत्कृष्ट जाति वाले पिता तैं जो पुत्र उत्पन्न होवै हैं। तिनों को शास्त्र वेत्ता पुरुष अनुलोम नाम करिकै कथन करै हैं। और उत्कृष्ट जाति वाली माता विषे निकृष्ट जाति वाले पिता तैं जो पुत्र उत्पन्न होवै हैं। तिनों को शास्त्र वेता पुरुष प्रतिलोम नाम करिकै कथन करै हैं। तिन ही अनुलोम नामा पुरुषों को तथा प्रतिलोम नामा पुरुषों को शास्त्र वेत्ता पुरुष उग्र नाम करिकै कथन करै हैं। और ब्राह्मणी माता विषे क्षत्रिय पिता तैं उत्पन्न भये जो पुत्र हैं तिनों को शास्त्र वेत्ता पुरुष सूत या नाम करिकै कथन करै हैं। तिन सूत नामा पुरुषों की दो प्रकार की अवजीवका होवै है। कोइक सूत तो रथों विषे सारथि होवै हैं। और कोइक सूत भागवतादिक पुराणों के ज्ञाता होवै हैं। अथवा राजा के धन सें आपने कुटुंब की पालना करने हारे जे ब्राह्मणादिक क्षत्रिय वैश्य शूद्र यह चारों वरण हैं। तथा अनुलोम नामा प्रतिलोम नामा जो पुरुष हैं। तिन संपूर्णों को शास्त्र वेता पुरुष सूत नाम करिकै कथन करै हैं। अथवा माता के उदर तैं प्राणी बाहिर निकसें हैं तिनों का नाम सूत हैं यह सूत शब्द का अर्थ सर्व देह धारी जीवों विषे घटै है। और पापी पुरुषों को दंड देने हारे जे राजा के भृत्य हैं। तथा पुरीके लोकों को नीती मार्ग विषे चलावने हारे जे प्रधान पुरुष हैं। तिन संपूर्णों को शास्त्र वेता पुरुष प्रसेनस नाम करिकै कथन करै हैं। और ग्राम के लोकों को नीती मार्ग विषे चलावने हारे जो पुरुष हैं। तिनों को शास्त्र वेत्ता पुरुष ग्रामणी करिकै कथन करै हैं। हे देवताओ! या प्रकार कै उग्र नाम वाले जे पुरुष हैं तथा सूत नाम वाले जे पुरुष हैं तथा प्रसेनस नाम वाले जे पुरुष हैं। तथा ग्रामणी नाम वाले जे पुरुष हैं। इनों तैं आदिले के दूसरे भी जितने कि राजा के धन से कुटुंब की पालना करनेहारे जो पुरुष हैं। ते संपूर्ण उग्रादिक पुरुष ता देश के राजा का आगमन श्रवण करिकै ता राजा के सन्मुख जावैं हैं। और ते उग्रादिक पुरुष महाराजा की प्रसन्नता करने वास्तैं नाना प्रकार के कौतिक करै हैं। तथा नाना प्रकार के मंगल करै है। कैसे है ते उग्रादिक पुरुष तूर्य तैं आदि लै कै जे नाना प्रकार के वादित्र हैं तिनों करिकै युक्त हैं। तथा कर्णों को आनंद की प्राप्ति करने हारे जे नाना प्रकार के मधुर गायन हैं। तिनों करिकै युक्त हैं। तथा नाना प्रकार की वारांगनावों के हस्त कमलों विषे स्थित जे आर्ति दीपक हैं तिनों करिकै युक्त हैं। इस तैं आदि लै के अनेक प्रकार कै कौतिकों को करते हुये ते उग्रादिक पुरुष आपने महा राजा के सन्मुख जावैं हैं। और ता महाराजा के आगमन तें पूर्व ही ते उग्रादिक पुरुष या

प्रकार की व्यवस्था करि राखैं हैं। इस गृह विषे महाराजा निवास करैंगे और इस गृह विषे महाराजा के प्रधान मंत्री निवास करैंगे। और इस गृह विषे महाराजा की सेना निवास करैंगी या प्रकार राजा के निवास वास्तैं नाना प्रकार के गृहों की कल्पना करिकै पुनः ते उग्रादिक पुरुष तिन गृहों विषे शरीर को तथा मन को तथा नेत्रादिक इंद्रियों को सुख देने हारे जे नाना प्रकार के अन्न वस्त्रादिक पदार्थ हैं। तिन पदार्थों को यथायोग्य राखैं हैं। इस प्रकार नाना प्रकार की सामग्री को त्यार करिकैं ते उग्रादिक पुरुष ता नगर का परित्याग करिकै महाराजा के सन्मुख होने वास्तैं दूर जावैं हैं। और ते उग्रादिक पुरुष महाराजा अभी आवता है इस तैं आदि लै कै तिस महाराजा की वार्ता को ही परस्पर करैं हैं। हे देवताओ! इस प्रकार यह जीवात्मा रूप महाराजा या स्थूल शरीर का परित्याग करिकैं जिस काल विषे दूसरे शरीर को प्राप्त होवै है। तिस काल विषे या जीव के कर्मों के अनुसार भोग देने हारे जे अदित्यादिक देवता हैं। तथा दूसरे शरीर के आरम्भ करने हारे जे अकाशादिक पंचभूत हैं। ते अदित्यादिक देवता या जीव के पुण्य पाप रूप कर्म के अनुसार सम्पूर्ण भोग समग्री को त्यार करिकै या जीवात्मारूप महाराजा के आगमन को देखे हैं। और सो अदित्यादिक देवता परस्पर या प्रकार की वार्ता करे हैं। कि हमारा कर्ता तथा भोगता जो यह जीवात्मा रूप महाराजा है। सो जीवात्मा या देवदत्त नामा पुरुष का पुत्र होने वास्ते या देवदत्त की पत्नी विषे जन्म लेने वास्ते अभी आवता है। या प्रकार ते अदित्यादिक देवता या जीवात्मा रूप महाराजा के आगमन को देखे है।

शंका—हे भगवन्! यह जीवात्मा रूप महाराजा या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै एकला ही दूसरे शरीर विषे जावे है अथवा कोई वस्तु या जीवात्मा के साथ जावे है। समाधान—जैसे महाराजा आपनी पुरी को छोड़ के जभी किसी दूसरी पुरी विषे जाने की इच्छा करे है। तभी ता महाराजा के अभिप्राय को जानि करिकै ते उग्रादिक भृत्य महाराजा के साथ जावे हैं। तैसे यह जीवात्मा रूप महाराजा या स्थूल शरीर रूप पुरी को परित्याग करिकै जभी परलोक को जाने की इच्छा करे है। तभी वाकादिक दश इन्द्रिय तथा पंच प्राण तथा अन्तःकरण तथा काम कर्म तथा शब्दादिक विषय अविद्या यह सम्पूर्णता जीवात्मा रूप महाराजा के साथ जावे हैं। तहां श्लोक—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानि वाशयात् ॥७१९॥

गी० अ० १५—श्लोक० ८॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिस काल विषे यह जीवात्मा उत्क्रमण करे है तिस काल विषे तिन इन्द्रियों को अकर्षण करे है। तथा जिस काल विषे दूसरे शरीर को प्राप्त होवे है। तिस काल विषे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करिकै भी जावे है। जैसे पुष्पादिक स्थानों तैं वायु गन्ध को ग्रहण करिकै जावे है। और यह जीवात्मा जब भोगों को भोक्ता है तथा इस स्थूल शरीर का परित्याग करिकै दूसरे शरीर को प्राप्त होता है। तब मन के सहित

इन्द्रियों का आश्रय करिकै ही सम्पूर्ण चेष्टा करता है। इस चेष्टा को ज्ञानवान ही जानते हैं मूढ़ नहीं जानते ॥७१९॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राण मेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषया-नुपसेवते ॥७२०॥ गी० अ० १५—श्लोक ९

अर्थ—हे अर्जुन यह जीवात्मा श्रोत्र इंद्रिय को तथा चक्षु इन्द्रिय को तथा त्वक् इन्द्रिय को तथा रसन इन्द्रिय को तथा घ्राण इन्द्रिय को तथा मन को आश्रायण करिकै ही शब्दादिक विषयों को भोगता है ॥७२०॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भूंजानं वागुणान्वितम्। विमूढानानुपश्यंति पश्यंति ज्ञान चक्षुषः ॥७२१॥

गी० अ० १५ श्लोक १० ॥

अर्थ—हे अर्जुन उत्क्रमण करते हुए अथवा तिसी ही देह विषे स्थित हुए अथवा विषयों को भोगते हुए तथा गुणों करिकै युक्त हुए ऐसे आत्मा को भी विमूढ़ पुरुष नहीं देख सकते हैं किंतु ज्ञान रूप चक्षु वाले पुरुष ही तिस आत्मा को देखे हैं ॥७२१॥ तहां श्रुति—

कर्मेंद्रियाणि ज्ञानेंद्रियाणि तत्त-द्विषयान्प्राणान्संहृत्य काम कर्मान्वित अविद्या भूतवेष्टितो जीवोदेहांतरं प्राप्य लोकांतरं गच्छति ॥७२२॥

पैङ्गलोपनिषत ॥ अ० २ ॥

अर्थ—पंच कर्मेंद्रियों को तथा पंच ज्ञानेंद्रियों को तथा तिन इंद्रियों के विषयों को तथा पंच प्राणों को तथा काम कर्मों को तथा अविद्या रूप से अवृत हुआ जीव इन सर्व को साथ लेकर इन के सहित देहांतर प्राप्ति के वास्ते लोकांतर को जाता है ॥७२२॥

शंका—हे भगवन्! जिन अज्ञानी जीवों को आत्मा का साक्षात्कार नहीं भया ऐसे अज्ञानी जभी इस स्थूल शरीर का परित्याग करिकै ऊपर किस जगा में जावे है। इति प्रथम प्रश्न ॥१॥ तथा परलोक में प्राप्त हुई प्रजा जिस प्रकार से पुनः या लोक में प्राप्त होवे है सो प्रकार क्या है इति द्वितीय प्रश्न ॥२॥ तत्र हे भगवन् देवयान मार्ग का तथा पितृयान मार्ग का परस्पर वियोग जिस प्रकार है सो प्रकार आप कृपा करिकै हमारे प्रति कहो इति तृतीय प्रश्न ॥३॥ तथा हे भगवन्! स्वर्ग लोक में अनेक पुरुष प्राप्त होवे हैं। सो स्वर्ग लोक या निमित्त से पूर्ण नहीं होता ता निमित्त को भी आप हमारे प्रति कहो। इति चतुर्थ प्रश्न ॥४॥ तथा हे भगवन्! जिस प्रकार से अग्नि होत्र के साधन दुग्ध घृतादिक रूप जल आपूर्व रूप हुए वीर्य रूप पंच भी आहुति से पुरुष शब्द का वाच्य होवे है। सो प्रकार भी आप हमारे प्रति कथन करो। इति पंचम प्रश्न ॥५॥ अब यथाक्रम करिकै प्रथम पंचम प्रश्न के उत्तर को ईश्वर परमात्मा देवताओं के प्रति कथन करे है। समाधान—हे देवताओ! स्वर्ग लोक ही अग्नि है। या स्वर्ग लोक अग्नि का अदित्य ही प्रज्वलित करने हारा समधि नाम ईंधन रूप है। सूर्य की किरण ही धूम है। दिन ही स्वर्ग रूप अग्नि का अर्चिः नाम प्रकाश है। चन्द्रमा ही अंगार है। नक्षत्र ही विस्फुलिंग हैं। यजमान के वाकादिक इंद्रिय अधिदैव अग्नि आदिक रूप को प्राप्त हुए श्रद्धा करिकै संपादन करी जो जलादिक रूप आहुति है। ता आहुति को स्वर्ग लोक रूप अग्नि में

हवन करे है। ऐसा ध्यान करे ता आहुति से चन्द्र मंडल में जल रूप यजमान का शरीर उत्पन्न होवे है। इति प्रथम प्रश्न का उत्तर। तहां श्रुति—

असौ वावलोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चंद्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवः जह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥७२३॥

छांदो० उ० अ० ५ खं० ४ ॥ मं० १ ॥

अर्थ—पर्जन्य नाम वृष्टि के करने हारे देवता विशेष में अग्नि ध्यान करना। वायु ही ताका ईंधन है। बादल ही धूम है विद्युत प्रकाश है। मेघ से उत्पन्न भए उल्का विशेष तथा इन्द्र धन खादिक ही अंगार है। मेघों के शब्द ही विस्फुलिंग हैं। या पर्जन्य रूप अग्नि में पूर्व कहे देव ही सोमरूप आहुति का हवन करे है। श्रद्धा पूर्वक ही हवन करा जो जलरूप सोम है ता से वृष्टि उत्पन्न होवे है। इति द्वितीय प्रश्न का उत्तर ॥२॥

पर्जन्योवाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोम ७ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्ष ७ संभवति ७२४॥

छांदो० उ० अ० ५ खं०। मं० २

पृथ्वी ही अग्नि है ता का वर्षा ही ईंधन है तथा अकाश ही धूम है अवांतर दिशाही विस्फुलिंग है या पृथ्वी रूप अग्नि में देवता वर्षा रूप आहुति का हवन करे हैं तब अन्न उत्पन्न होवे है ऐसा ध्यान करणा। इति तृतीय प्रश्न का उत्तर ॥३॥

पृथ्वी वावगौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदा काशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवांतरदिशो विस्फुलिंगाः। तास्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्य आहुतेरन्न ७ संभवति ७२५

छांदो० उ० अ० ५ खं० ६। मं० १-२

यह पुरुष ही अग्नि है या पुरुष रूप अग्नि का वाग ही ईंधन हैं प्राण ही धूम है जिह्वा प्रकाश है चक्षु अंगार है श्रोत्र विस्फुलिंग है। या पुरुष रूप अग्नि में अन्नरूप आहुति के हवन करने से रेत नाम वीर्य उत्पन्न होवे है। इति चतुर्थ प्रश्न का उत्तर ॥४॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणां धूमोजिह्वा र्चिश्चक्षुरगांराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुतेरेतः संभवति ॥७२६॥

छांदो० उ० अ० ५ खं० ७। मं० १-२

पश्चम स्त्री ही अग्नि है या स्त्री रूप अग्नि का उपस्थ ही ईंधन है या स्त्री से अवाच्य कर्म का पुरुष संकेत करे है। सोई ही धूम है। योनि प्रकाश है। या स्त्री से अवाच्य कर्म ही अंगार हैं रेतरूप आहुति के हवन करने से गर्भ उत्पन्न होवे है। ऐसे रेतरूप आहुति के हवन करने से दुग्धादि रूप जल ही परम्परा से पुरुष शब्द का वाच्य होवे है। ऐसे सो माता के उदर में स्थित तथा जरायु करके अच्छादित हुआ गर्भ नवमास वा दशमास के पश्चात बाहिर आवे है। जब पर्यंत प्रारब्ध कर्म हैं तब पर्यंत या भूमी

लोक में स्थित होवे है। प्रारब्ध कर्म भोग करके क्षीण हुए परलोक में आपने कर्म के अनुसार प्राप्त होवे है। या पुरुष के पुत्रादिक या को मृत्यु हुआ देख करके दाह करने वासते ग्राम से बाह्य लेजावे हैं यह पुरुष शरीर श्रद्धा पूर्वक अग्नि में हवन करने से अग्नि के सकाश से ही आया था पश्चात अग्नि में ही प्राप्त होवे है। इति पंचम प्रश्न का उत्तर ॥२॥

योषा वावगौतमाग्नि स्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिर र्चिर्यदंतः करोति तेङ्गाराः अभिनन्दा विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भ संभवति ॥७२७॥ इति त पंचम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्वावृतो गर्भो दश वा नवमासा नं तः शवापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्वावृतो गर्भो दश वा नवमासा नं तः शयित्वा यावद्वाथ जायते। सा जातो यावदा-युषं जीवति तंप्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरंति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥७२८॥ छांदो० उ० अ०५ खं०८।९। मं० १।२।३।४

अर्थ—अब या देह को त्याग करके प्रजा ऊपर कहा जावे है या प्रथम प्रश्न को तथा देव-यान और पितृयान मार्ग के परस्पर वियोग रूप या तृतीय प्रश्न के उत्तर को कहे हैं। हे देवताओ ! जो गृहस्थ पूर्वक ही रीती से पंच अग्नियों की उपासना करते हैं। तथा जो वान-प्रस्थ तथा संन्यासी श्रद्धा पूर्वक तप को करते हैं। ते सर्व देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होवे हैं। और जो पुरुष गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्रादिक रूप इष्ट कर्म को तथा वापी कूपादिक रूप अपूर्त कर्म को तथा वेदी से बाहिर दानको करते हैं। ते केवल कर्मी गृहस्थ पितृयान मार्ग से स्वर्ग को प्राप्त होवे हैं। पितृ-यान मार्ग का क्रम श्रुति विषे ऐसे लिखा है। ते कर्मी या शरीर को त्याग करके प्रथम धूम अभिमानी देवता को प्राप्त होवे हैं। पश्चात रात्रि अभिमानी देवताको प्राप्त होवे हैं। फिर कृष्ण पक्ष अभिमानी देवताको प्राप्त होवे हैं ताने षटमास दक्षिणायन को प्राप्त होवे हैं। फिर वर्ष अभिमानी देवता को प्राप्त होवे नहीं। किंतु षटमास अभिमानी देवता से ही पितृलोक को प्राप्त होवे है। पितृलोक से अकाश को अकाश से चन्द्र मण्डल को प्राप्त होवे हैं। ते कर्मी चन्द्र मण्डल रूप हुए देवताओं के भोग का साधन होवे हैं। जब पर्यंत चन्द्र मण्डल का प्रारब्ध कर्म है तब पर्यंत चन्द्र मण्डल में स्थित होवे हैं। भोग करके कर्म के क्षीण हुए या मार्ग को प्राप्त होवे हैं। ता मार्ग को कहे हैं। ते कर्मी पुरुष चन्द्र मण्डल से अकाश को प्राप्त होवे हैं। अकाश से वायु को वायु से धूम को धूम से अभ्र को अभ्र से वर्षा करने योग्य मेघों को प्राप्त होवे हैं। मेघ से वर्षा द्वारा या पृथ्वी में व्रीहि यवादिक औषधि तिल माषादिक रूप से उत्पन्न होवे हैं। अकाशादिकों से तथा व्रीहियवादिकों से कर्मी पुरुष सम्बन्ध को प्राप्त होवे हैं। व्रीहियवादि रूप ही नहीं होवे हैं। और या अन्न के सकाश से कर्मी पुरुषों का निकसना अति कष्ट से होवे है। जभी ता अन्न को पुरुष भक्षण करे हैं। तभी सो अन्न रेत

रूप होइके पुरुष के शरीर में रहे है। ऋतुकाल में जब स्त्री पुरुष भोग करे हैं। तभी स्त्री के उदर विषे कलल बुद बुदादि रूप अवस्था को प्राप्त हो करके बालक हुआ। पश्चात बाहिर आवे है। तिन कर्मी पुरुषों के मध्य में या लोक विषे पूर्व जो पुण्य कर्म वाले हैं ते पुण्यात्मा पवित्र योनियों को ही प्राप्त होवे हैं। जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य योनि हैं। तहां श्लोक—

प्राप्यपुण्य कृतांलोकानुषित्वा शाश्वतोः समाः। शुचिनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥७२९॥

गी० अ० ६ श्लोक ४१

अर्थ—हे अर्जुन सो योग भ्रष्ट पुरुष पुण्यात्मा पुरुषों को प्राप्त होने हारे लोकों को प्राप्त होइके तहां बहुत सम्वत्सर पर्यंत निवास करके तिसते अनन्तर पवित्र श्रीमान पुरुषों के गृह विषे जन्म को प्राप्त होवे हैं ॥७२९॥

पुनः पूर्व जो पाप कर्म वालेहैं ते पाप कर्म वाले पापात्मा पुरुष शीघ्र ही निंदित पाप योनियों को ही प्राप्त होवै हैं। जैसे कूकर शूकर वा चण्डाल योनि है। प्रजा ऊपर कहां जावै है या प्रथम प्रश्न का उत्तर कहा।

तद्य इत्थं विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि संभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाण पक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्॥७३०॥ मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्या चंद्रमसं चंद्रमसो विद्युतं। तत्पुरुषोऽमानवः स एना ब्रह्मगमयत्येष देवयानः पंथा इति ॥७३१॥ छांदो० उ० अ० ५ खं० १० मं० १—२ ॥ अथ य इमेग्राम इष्टा पूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभि संभवंति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपर पक्षमपर पक्षाद्यान्षड्दक्षणैति मासाꣳस्तान्न ते संवत्सरमभिप्राप्नुवंति ॥७३२॥ छांदो० उ० अ० ५ खं० १० मं० ३॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चंद्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानां मन्नं तं देवा भक्षयंति ॥७३३॥ छांदो० उ० अ० ५ खं० १० मं० ४ ॥

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा थैतमेवा ध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथे तमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥७३४॥ छांदो० उ० अ० ५ खं० १० मं० ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह ब्रीहि यवा औषधि वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायंतेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं योयो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति ॥७३५॥ छां० उ० अ० ५ खं० १० मं० ६ ॥ तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि मापद्येरन्ब्राह्मण योनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्य योनिं वाथ य इहकपूण्यचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा ॥७३६॥

छांदो० उ० अ० ५ खं० १० मं० ७॥

अब अनेक कर्मी पुरुषों के प्राप्त होने सें भी स्वर्ग किस वास्तैं पूर्ण नहीं होता या चतुर्थ प्रश्न के उत्तर को कहै हैं। हे देवताओ! जो पुरुषाधम पितृयान मार्ग के साधन शुभ कर्म सें रहित हैं। तथा देवयान मार्ग के साधन उपासना श्रद्धा तप ब्रह्मचर्य सत्य क्षमा अकौटिल्यादिकों सें रहित हैं ते क्षुद्र पुरुष बारंबार संसार में घटी यंत्र की न्याई जन्म मरण को ही प्राप्त होवै हैं। या तै स्वर्ग लोक पूर्ण होवै नहीं। बहुत पुरुष धर्म के अनुष्ठान सें रहित हैं रसना और उदर तथा उपस्थ इंद्रिय के अधीन हुये कीट पतंगादिक योनियों को ही प्राप्त होवै हैं। अब मोक्ष दशा विषे भी ता आनंद रूप आत्मा की अद्वितीय रूप ता को सिद्ध करै हैं। हे देवताओ! ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न हुये तैं अनंतर यह कार्य सहित अविद्या जिस प्रकार लय भाव को प्राप्त होवै है। ता के विषे तुम दृष्टांत को श्रवण करो। जैसे या लोक विषे स्वभाव तैं द्रवीभूत जो समुद्रादिकों के जल हैं। ते जल जभी आतप वायु आदिक दृष्ट निमित्ति को प्राप्त होवै हैं। तथा जीवों के पुण्य पाप रूप अदृष्ट निमित्ति को प्राप्त होवै हैं। तभी ते समुद्रादिकों के जल लवणादिक रूप घनीभाव को प्राप्त होवै हैं। तैसे वास्तव तैं जीव ईश्वरादिक भेद तैं रहित मैं शुद्ध आत्म देव भी जभी अविद्या के संबंध रूप निमित्त को प्राप्त होवों हूं। तभी मैं परमात्मा देव जीव भाव तथा ईश्वर भाव को प्राप्त होवों हूं। और जैसे ता लवणपिंड के दशों दिशा विषे तथा मध्य विषे ता समुद्र के जल तैं भेद नहीं हैं। किंतु क्षार रस करिकै सो लवण का पिंड समुद्र जल रूप ही है। तैसे या जीवात्मा विषे तथा मुझ परमात्मा देव विषे भेद नहीं। किंतु सत् चिदानंद रूप करिकै यह जीवात्मा मुझ परमात्मा तैं अभिन्न ही है। तहां श्रुति—

यद्वाचाऽनुभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेवब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७३७॥ यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७३८॥ यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिद मुपासते॥७३९॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्र मिदं श्रुतम्। तवेद ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥७४०॥ यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७४१॥

केनोपनिषत् खं० १ ॥

अर्थ—जिस चैतन्य ज्योति को वाग इंद्रिय जन्य शब्द (अनुभ्युदितं) नहीं प्रकाश कर सकता और जिस चैतन्य ज्योति करिकै वाग इंद्रिय सहित शब्द (अभ्युद्यते) प्रकाशित होता है। हे शिष्य! तिस को ही तूं ब्रह्म जान और जो आपने आत्मा ज्योति की दृश्य उपाधि विशिष्ट ईश्वरादिक शब्द इदं रूप सें उपासना करे जावै हैं सो ब्रह्म नहीं किंतु दृश्य कोटि प्रविष्ट अनात्मा रूप हैं। मनन निदिध्यासन का विषे नहीं ॥७३७॥

अर्थ—इस प्रकार जिस दृक वस्तु आत्मा को अंतःकरण रूप मन करिकै (नमनु ते) न तो कोई संकल्प करता है और ना निश्चय

करता है। किंतु असंग उदासीन तिस चैतन्य करिकै संशय वृति तथा निश्चय वृति विशिष्ट अंतःकरण को (मतम्) प्रकाशित ब्रह्मवेत्ता पुरुष कथन करते हैं। तिस को तूं ब्रह्म जान कर मनन कर तिस तैं भिन्न इदं करिकै उपास्य को ब्रह्म मत जान ॥७३८॥

अर्थ—तथा चक्षु जन्य वृत्ति करिकै जिस चैतन्य को कोई (नपश्यति) नहीं जानता और जिस चैतन्य करिकै (चक्षुंषि पश्यति) अनेक चक्षु जन्य वृत्तियों को जो जानता है। तिस को तुं ब्रह्म जान कर मनन कर तिस तैं भिन्न इदं करिकै उपास्य को ब्रह्म मत मान॥७३९॥

अर्थ—इस रीती सैं जिस चैतन्य आत्मा को श्रोत्र जन्य वृत्ति करिकै कोई नहीं विषय कर सकता है। और जिस चैतन्य आत्मा करिकै श्रोत्र जन्य वृत्ति प्रकाशित होती है। तिस को तूं ब्रह्म जान करिकै मनन कर तिस तैं भिन्न ब्रह्म मत जान ॥७४०॥

और जिस चेतन आत्मा को कोई भी (प्राणेन) घ्राण इंद्रिय जन्य वृत्ति करिकैं (नप्राणिति) गंध की न्याईं नहीं जानता और जिस चैतन्य आत्मा करिकै गंध विषय में घ्राण इन्द्रियजन्य वृत्ति को उत्पन्न करने वास्ते (प्राणः प्रणीयते) घ्राण इंद्रय प्रेरणा करा जाता है तिस को ही तूं हे शिष्य। ब्रह्म जान कर मनन कर तथा तिस का ही ध्यान कर तिस से भिन्न इदंताका विषयरूप उपास्य को ब्रह्म मत जान ७४१

उपद्रष्ठानुमंता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहऽस्मिन्पुरुषः परः ॥७४२॥ गी० अ० १३ श्लो० २२

अर्थ—हे अर्जुन! इस देह विषे वर्तमान हुआ यह सव चिदानन्द स्वरूप परमात्मादेव रूप पुरुष सर्व देहों तैं भिन्न है तथा यह पुरुष उपद्रष्टा है। तथा अनुमंता है तथा भर्त्ता है तथा भोक्ता है तथा महेश्वर है तथा श्रुति विषे परमात्मा इस नाम करिकै भी कथन करा है ७४२॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥७४३॥ गी० अ० १३ श्लोक २॥

अर्थ—हे भारत पुनः सर्वक्षेत्रों विषे स्थित क्षेत्रज्ञ कूं तूं मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप ही जान। ऐसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनों का जो ज्ञान है सो ज्ञान ही मैं परमेश्वर को अभिमत है ॥७४३॥

बहिरं तश्च भूताना मचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वा त्तदविज्ञेयं दूरस्थिं चांतिके च तत् ॥७४४॥ गी० अ० १३ श्लो० १५॥

अर्थ—हे अर्जुन सो ज्ञेय ब्रह्म ही सर्व भूतों के बाह्य है तथा अन्तर है तथा स्थावर रूप है तथा जंगम रूप है तथा सूक्ष्म होने तैं अविज्ञेय है तथा सो ज्ञेय ब्रह्म अत्यन्त दूर स्थित है तथा अत्यन्त समीप है। अर्थात् आपना आप है ७४४

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठं तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्व विनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥७४५॥ गी० अ० १३ श्लोक २७॥

अर्थ—हे अर्जुन! नाशवान सर्वभूतों विषे सम है तथा निर्विकार रूप तैं स्थित तथा विनाश तैं रहित तथा परमेश्वर रूप ऐसे आत्मा को जो पुरुष देखे है सो पुरुष ही देखे है ॥७४५॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हि नस्त्यात्मनात्मानं ततो

याति परां गतिम् ॥७४६॥

गी० अ० १३ श्लोक २८ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! सर्व भूतों विषे सम तथा समवस्थत ईश्वर रूप ऐसे आत्मा को देखता हुआ यह विद्वान् पुरुष जिस कारण तैं आत्मा करिकै आत्मा को नहीं हनन करे है तिस कारण तैं परम गति को प्राप्त होवे है ॥७४६॥

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः। स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥७४७॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषत् मं० ७ ॥

अर्थ—इस आत्मा के ज्ञान मात्र करिकै ही अज्ञान रूपी समुद्र से पार होता है। स्वतः ही शिव रूप पशु पति रूप अर्थात् सर्व स्थावर जंगम रूप जीवों का पति ईश्वर रूप से स्थित होता है और सर्वदा काल सर्व का साक्षी है ॥७४७॥

जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपंचत्वेन भाति यत्। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धै प्रमुच्यते ॥७४८॥

ब्रह्मगी० अ० ९ श्लो० ४४

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्तादिक तीनों अवस्थाओं का प्रपंच जिस प्रत्यक्चैतन्य से भासमान है। सो ब्रह्म मैं हूं इस प्रकार जान करिकै सर्व बन्धनों से मुक्त होता है ॥७४८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥७४९॥ ब्रह्मगी० अ० ९ श्लोक १७ ॥

अर्थ—सर्व भूतों में आत्मा स्थित है और आत्मा में सर्व भूत स्थित हैं। इस प्रकार ब्रह्म को सम देखने वाला परम गति को प्राप्त होता है और कोई हेतु नहीं है ॥७४९॥

सर्वेषा तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु। विषये गच्छाति प्राणश्चेष्ट ते वाग्वदत्यपि ॥७५०॥ पाशुपत ब्रह्मोपनि० मं० ८

अर्थ—ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय प्राण मनादिक चतुष्ट अंतःकरण इन सर्व को आपने २ विषयों में नियम पूर्वक प्रेरणा करने तैं। आपने २ विषयों को ग्रहण करते हैं प्राण चेष्टा करता है वाग्वदाति शब्द उच्चारण करता है ॥७५०॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि। अन्यानि खानि सर्वाणि ते नैव प्रेरितानि तु ॥७५१॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषत् मं० ९ ॥

अर्थ—चक्षु रूप को देखता है श्रोत्र सर्व शब्दों को श्रवण करता है और भी सर्वाणि इन्द्रियाणि तिस प्रत्यक्चैतन्य करिकै प्रेरना किये जाते हैं ॥७५१॥

और जोता लवण के पिण्ड विषे जो जीव को घनी भावता प्रतीत होवे है। सातासमुद्र के जल के भेद दर्शन काल विषे ही प्रतीत होवे है। तैसे इन सर्व जीवों को मुझ अद्वितीय ब्रह्म विषे जो यह संसार प्रतीत होवे है। सो मुझ अद्वितीय ब्रह्म के भेद दर्शन काल विषे ही प्रतीत होवे है। और जैसे सो लवण का पिंड वास्तव तैं तीन काल विषे समुद्र के जल तैं भिन्न नहीं है। तैसे यह जीवात्मा भी वास्तव तैं तीन काल विषे मुझ परमात्मा तैं भिन्न नहीं है।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः। तथात्म मनसोरैक्यं समाधिरिति कथ्यते ॥७५२॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं ७५ ॥

अर्थ—जैसे जल में निमक को मिल जाने की योगता होती है। तैसे आत्मा मन के साथ एक रूप हो जाता है इस को समाधि कथन करते हैं ॥७५२॥

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः। मारुतस्य लयो नाथस्तन्नाथं लय माश्रय ॥७५३॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ८० ॥

अर्थ—इन्द्रियों का स्वामी मन है मन का स्वामी प्राण है प्राणों का* जब समाधि में‡लय का नाथ ‖ अर्थात जो प्राणों के लया का साक्षी है तिस लय के नाथ साक्षी को आश्रय करो ७५३

और जैसे ता लवन पिंड विषे जो घनी भावता है सो घनी भावता नाशवान है। और ता लवण पिंड विषे जो समुद्र जल रूपता है। सा जल रूपता नाश तैं रहित है। तैसे या आत्मा देव विषे जो जीव रूपता है सो जीव रूपता नाशवान है। और या आत्मा देव विषे जो ब्रह्मरूपता है सो ब्रह्मरूपता नाश तैं रहित है। और जैसे ता लवण पिंड के घनी भावता का जभी नाश होवे है। तभी लवण पिंड का भी नाश होवे है। तैसे मोक्ष अवस्था विषे अविद्या के नाश हुए ता जीवपने का भी नाश होवे है। और जैसे सो लवण का पिंड आपनी उत्पत्ति स्थिति लय काल विषे सर्व ओर तें क्षार रस वाला है। तैसे यह जीवात्मा भी तीन काल विषे स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप ही है।

देहात्मज्ञान वज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम्। आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥७५४॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० १५ ॥

अर्थ—देहात्मज्ञान की न्यांई सत् चिदानंद जाग्रतादिकों के साक्षी प्रत्यक्चैतन्य का जब ज्ञान होजावे तब देहात्म ज्ञान का बाध होजाता है। जिस अधिकारी को आत्मा का ज्ञान देह की न्याई ज्ञान हुआ है सो पुरुष मुक्ति की नहीं भी इच्छा करे तौ भी मुक्ति को प्राप्त होता है ॥७५४॥

सत्यज्ञानानंद पूर्णलक्षणं तमसः परम्। ब्रह्मानंदं सदापश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥७५५॥ वराहोपनिषत् अ० २ मं० १६

अर्थ—सत चिदानन्द सर्वत्र पूर्ण है लक्षण जिसका तथा अज्ञान से परे है। और जो ब्रह्मानन्द को सदैव काल देखता है सो कैसे कर्मों में बन्धाय मान होता है ॥७५५॥

त्रिधाम साक्षीणं सत्यज्ञानानंदादि-लक्षणम्। त्वमहं शब्द लक्ष्यार्थ मसक्तं सर्व दोषतः ॥७५६॥ वराहोप० अ० २ मं० १७

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीन धाम का साक्षी सत् चिदानन्द लक्षण रूप। तथा त्वं तथा अहं शब्द के लक्ष्मार्थ सर्व दोषों तैं रहित को तथा सर्व सम्बन्ध तैं रहित को आपना स्वरूप जाने ॥७५६॥

शंका—हे भगवन! यह आनन्द स्वरूप आत्मा जो स्वयं प्रकाशरूप है ता सर्व जीवों को सो आत्मादेव किस वास्ते नहीं प्रतीत होता। समाधान—जैसे अत्यन्त समीप वर्तमान जो सूर्यादिकों का प्रकाश है ता प्रकाश को नेत्रों तैं अन्ध-पुरुष देखसके नहीं। तैसे अज्ञान रूप अन्धकार करके आवृत्त है बुद्धिरूप नेत्र जिनों के ऐसे जे

---

* नाथ। ‡ मन लय होता सो लय नाथ है। ‖ आत्मा।

अज्ञानी जीव हैं। ते अज्ञानी जीव असन्त समीप वर्तमान स्वयम् ज्योति आत्मा को देखसकते नहीं। और जैसे या लोक विषे जिस पुरुष का मन स्त्री आदिक विषयों विषे जावे है। सो पुरुष असन्त समीप स्थित पदार्थों को भी देखता नहीं। तैसे जिन पुरुष का मन स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थों विषे असक्त है। ते पुरुष असन्त समीप स्थित आत्मा को भी देखसकते नहीं। तहां श्रुति—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्व-न्तिके। तदंतरस्य सर्वस्य तद सर्व-स्यास्य बाह्यतः ॥७५७॥ ईश० उ० मं० ५

अर्थ—सो आत्म तत्व चलता है और सोई आत्म तत्व आपतैं नहीं चलता कहिये अचल हुआ चलते की न्यांई प्रतीत होवे है। किं वा सो आत्मा दूर है कहिये विषया सक्त मूढ़ पुरुष को लोका लोक पर्वत की न्यांई दूर है। तैसे चतुष्टे साधन संपन्न मुमुक्षु को आत्मा अपना आप है। या तैं असंत समीप है केवल दूर और समीप नहीं। किंतु सो आत्मा इस सर्व स्थावर जंगम रूप प्रपंच के घटा काश महा काश की न्यांई भीतर तथा बाह्य स्थित है ॥७५७॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वा त्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥७५८॥ गी० अ० १३ श्लोक १५॥

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञेय ब्रह्म भूतों के बाह्य है तथा अंतर आत्मा रूप है तथा स्थावर रूप है तथा जंगम रूप है। तथा सूक्ष्म होने तैं अविज्ञेय है। तथा सो ज्ञेय ब्रह्म विवेक वैराग्या दिक साधनों तैं रहित पुरुष को सहस्र कोटि वर्षों करिकै भी प्राप्त होता नहीं। या तैं सो परमात्मा ब्रह्म तिन बाह्य मुख पुरुषों को दूर स्थित है अर्थात लक्ष कोटि योजन मार्ग के अंत राय वाले देश की न्यांई असंत दूर है। और जो पुरुष तिन विवेक वैराग्यादिक साधनों करिकै संपन्न है। तिन पुरुषों को सो पर ब्रह्म आपना आत्मा रूप होने तैं असंत समीप है ॥७५८॥

उप समीपे यो वासो जीवात्म परमात्मनोः। उपवासः स विज्ञेयो नतु कायस्य शोषणम् ॥७५९॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ३९॥

अर्थ—असन्त समीप स्थित जीवात्मा के जो परमात्मा है। तिस परमात्मा को साक्षात्कार करो उपवास जो व्रत तपादिकों से शरीर के सुकाने से अर्थात् कृष्य करने से कुछ फल नहीं है ॥७५९॥ निर्वाण प्रकरण शिवगीता सर्ग ३० ईश्वर उवाच।

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केव-लम्। ब्रह्मैव परमाकाश मेष देवः परः स्मृतः ॥७६०॥

अर्थ—ईश्वर बोले हे मुने! इस प्रकार यह संपूर्ण विश्व केवल परमात्मा रूप ही है। और यह ब्रह्म परमाकाश और सर्व से परे देव कहा गया है॥७६०

तदेतत्पूजनं श्रेय स्तस्मात्सर्व मवा-प्यते। तदेव स गर्भः सर्वमिदं तस्मि-न्व्यवस्थितम् ॥७६१॥

अर्थ—इसलिए इसी देव का पूजन कल्याण कारक है उसी से सर्व कुछ प्राप्त होता है। वह देव सर्व जगत् के आरोप का अधिष्ठान है। वही देव सर्व रूप है और उसी देव में सर्व स्थित है॥७६१

अकृत्रिम मनाद्यंतमद्वितीयमखंडि-

तम्। अबाहिः साधनासाध्यं सुखं तस्माद वाप्यते ॥७६२॥

अर्थ—अकृत्रिम अनादि आनन्त अद्वितय अखंडित तथा बाह्य साधनों से असाध्य है। इसी से सर्व का आत्मा होने तें सुख पूर्वक प्राप्त होता है ॥७६२॥

प्रबुद्धस्त्वं मुनिश्रेष्ट तेनेदं तव कथ्यते नाति देवार्चने योग्यः पुष्पधुपचयो महान् ॥७६३॥

यो० वा० निर्वा० प्र० स० ३० श्लोक १, २, ३, ४॥

अर्थ—हे मुने! तुम ज्ञानी हो इसलिये तुम से कहिता हूं कि सर्व से परे आत्मादेव की पूजा के योग्य महान पुष्प धूपादिका समूह नहीं है ७६३

अव्युत्पन्न धियो ये हि बालपेलव चेतसः कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चन-मुदाहृतम् ॥७६४॥

अर्थ—जे अपरिपक्क बुद्धि और आत्म ज्ञान सें रहित कोमल तथा शुद्ध चित सें रहित हैं। उन के लिये कृत्रिम प्रतिमा के पूजन का विधान किया गया है ॥७६४॥

शमबोधाद्यभावे हि पुष्पाद्यै वार्च-यंति ही। मिथ्यैव कल्पितैरवेमाकारे कल्पतात्मके ॥७६५॥

अर्थ—शम बोध सम रूप पुष्प के अभाव मिथ्या कल्पित बाह्य पुष्प धूपादिकों सें मिथ्या कल्पित अकार की पूजा अज्ञानी लोग करते हैं ॥७६५॥

स्वसंकल्प कृतैः कृत्वा कमैर चैन माहृताः। बालाः संतोषमायांति पुष्प धूपलवार्चनैः ॥७६६॥

अर्थ—आपने संकल्पित धूप दीप पुष्पादिक के लेश का अर्चन जिनों में है ऐसे कर्मों में प्रतिमा पूजन सें बालक जन ही संतोष को प्राप्त होते हैं ॥७६६॥

स्वसंकल्प कृतैरर्थैः कृत्वा देवार्चनं मुधा। यतः कृताश्चिन्मिथ्यात्मफल मात्रं न यंतिते ॥७६७॥

योग० वा० निर्वा० प्र० स० ३० श्लोक ५, ६, ७, ८

अर्थ—आपने संकल्प सें रचित पदार्थों को मिथ्या ही देवार्चन करिके जिस किसी स्थान सें स्वप्न के तुल्य मिथ्या विमान अप्सरा आदिक साधन संपन्न स्वर्ग रूप फल प्राप्त करते हैं ॥७६७॥

पुष्पधूपार्चनं ब्रह्मन्कल्पितं बाल-बुद्धषु। यत्स्याद्भवादृशां योग्यमर्चनं तद्वदाम्यहम् ॥७६८॥

अर्थ—हे ब्राह्मण! पुष्प धूपादि की पूजा बालक बुद्धियोंके लिये कल्पित हैं। और जो आप लोगोंके लिये योग्य पूजन हैं सो मैं कहता हूं ॥७६८॥

अस्मदादिस्त्वसौ कश्चिद्देवो मति मतांवर। देवस्त्रिभुवनाधारः परमा-त्मैव नेतरत् ॥७६९॥

अर्थ—हम लोक जिस के वास्ते है ऐसा हमारे प्रपंच के अंतरगत नेत्रादिकोंसे दृश्यमान मूर्त्ति जो देव है। वह तो अनिर्वचनीय तथा मायामय है। और त्रिभुवन का अधार चिन्मात्र परमार्थदेव तो सर्वांतर्यामी परमात्मा ही है न कि अन्य है ॥७६९॥

शिवः सर्वपदातीतः सर्व संकल्प-

नातिगः। सर्व संकल्पवालि न सर्वो नच सर्वकः ॥७७०॥

अर्थ—वह देव ब्रह्मा विष्णु रुद्रादिक देवों से परे शिवरूप और सर्व मन की वृत्तियों का साक्षी है। और सर्व विषयों के भोग तथा संकल्पों से वेष्टत ब्रह्मा विष्णु रुद्ररूप हैं। वह साधन से भी सर्वरूप नहीं है। और फल से भी उससे सर्व सुख नहीं है ॥७७०॥

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः सर्वारंभ प्रकाशकृत्। चिन्मात्रमूर्त्तिरमलो देव इत्युच्यते मुने ॥७७१॥

यो० वा० निर्वा० प्र० स० ३० श्लोक ९, १०, ११, १२

अर्थ—हे मुने! देश काल वस्तुके परिच्छेद से रहित सर्व रंभों का प्रकाशक चिन्मात्र मूर्त्ति है। वही आत्मा देव कहलाता है ॥७७१॥

संवित्सर्वकलातीता सर्वभावांतरस्थिता। सर्वसत्ताप्रदा देवी सर्वसत्तापहारिणी ॥७७२॥

अर्थ—हे मुने! सर्व कल्पनाओं से परे सर्व पदार्थों के मध्य में अस्ति भाति प्रियरूप से स्थित सर्व को सत्ता देने वाली और कल्पित पदार्थों की सत्ताको हरने वाली संवित् (चिदरूप) जो देवी है वही देव है ॥७७२॥

ब्रह्मब्रह्मन्सदसतोमध्यं तद्देव उच्यते। परमात्मपराभिख्यं तत्सदो मित्युदाहृतम् ॥७७३॥

अर्थ—हे ब्राह्मण भावाभाव वर्तमान तथा अन्य काल कार्य कारण तथा व्यवहारिक तथा प्रातिभासिक का अंतरसाक्षी चिन्मात्र होने तैं व सर्व का अधिष्टान होने तैं चिन्मात्र है। वही ब्रह्म है तथा देव है तथा वही सूर्य चंद्रमा अग्नि आदिक प्रकाशमय पदार्थों से उत्कृष्ट आत्मा ही सर्व के प्रकाश करने में सामर्थ्य होने में ओंकार का वाच्यार्थ कहा गया है ॥७७३॥

महासत्ता स्वभावेन सर्वत्र समतां गतम्। महाचिदिति संप्रोक्तं परमार्थ इति श्रुतम् ॥७७४॥

अर्थ—महासत्ता के स्वभाव से सर्वत्र वह समता को प्राप्त है। इसलिये महान चेतन कहा गया है। और वही देव परमार्थ नाम से भी श्रुत है ॥७७४॥

स्थितं सर्वत्र सर्व तुलतांतर्यथा रसः। सत्ता सामान्यरूपेण महासत्तात्मनापि च ॥७७५॥

योग० वा० निर्वा० प्र० स० ३० श्लोक १३,१४,१५,१६

अर्थ—सर्व व्यवहारों में सत्ता समानरूप से वा महासत्तारूप से जो सर्वरूप सर्वत्र ऐसे स्थित है जैसे लताओं में रस ॥७७५॥

यच्चित्तत्त्वमरुंधत्या यच्चित्तत्त्वं तवानघ। यच्चित्तत्त्वं च पार्वत्या यच्चित्तत्त्वं गणेषु च ॥७७६॥

अर्थ—हे पाप रहित मुने जो अरुन्धती तुमारी पत्नी का आत्मा है तथा जो तुम्हारा चिदात्मा है तथा जो पार्वती का चिदात्मा है तथा जो गणों का चिदात्मा ॥७७६॥

चित्तत्त्वं यन्ममेदं च चित्तत्त्वं यज्जगत्त्रये। तद्देव इति तत्त्वज्ञाविदुरुत्तम बुद्धयः ॥७७७॥

अर्थ—तथा जो मेरा चिदात्मा है तथा जो यह तीनों लोकों का चिदात्मा है उसी को उत्तम

बुद्धि वाले तत्त्ववेत्ता देव कहे हैं ॥७७७॥

पादपाण्यादि मानन्यो यो वा देवः प्रकल्प्यते । संविन्मात्राहते ब्रह्मन्कि सारः किल कथ्यताम् ॥७७८॥

अर्थ—हे ब्राह्मण ! हस्तपादादि शरीर धारी जो देव कहलाता है उस में सिवाय चेतन के क्या सार है सो आप कहिये ॥७७८॥

चिन्मात्रमेव संसारसारः सकल सारताम् । गताः सदेवः सर्वो हं तस्मात्सर्व मवाप्यते ॥७७९॥

अर्थ—चिन्मात्र ही इस संसार में सार है इस लिये सर्व सारता को वह देव प्राप्त है और यह अपरिच्छिन्न देव मैं हूं क्योंकि इसी से सर्व कुछ प्राप्त होता है ॥७७९॥

न स दूरे स्थितो ब्रह्मन्न दुष्प्रापः स कस्यचित् । संस्थितः स सदा देहे सर्वत्रैव चखे तथा ॥७८०॥

योग० वा०निर्वा०प्र०स०३०श्लो०१७-१८-१९-२०-२१

अर्थ—हे ब्राह्मण वह देव दूर स्थित नहीं है। तथा वह देव किसी को दुष्प्राप्य नहीं है। किंतु वह सर्वदा काल सर्व स्थावर जंगम देहों में तथा अकाश में सर्व का आत्मा रूप से स्थित है। ऐसा चिन्मात्र सर्वान्तर्यामी सर्वका आत्मा ही देव है ॥७८०॥ तहां श्रुति—

अनन्ते सच्चिदानन्दे मयि वाराहरूपिणि । स्थितेऽद्वितीय भावः स्यात्को बंधः कश्च मुच्यते ॥७८१॥

वराहोपनिषत् । अ० २ मं २३ ॥

अर्थ—देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित अनन्त तथा सत् चिदानन्द में वाराह रूप अद्वितीय भाव से स्थित हूं। कौन बन्ध है तथा कौन मुक्त होता है ॥७८१॥

स्व स्व रूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्व देहिनाम् । नैव देहादि संघातो घटव दृशि गोचरः ॥७८२॥

वराहोपनिषत् ॥ अ० २ मं० २४ ॥

अर्थ—स्व स्व स्वरूप सर्वदा सर्वदेहि जीवात्मा चिन्मात्र रूप हैं। यह पंच भौतक देहादिक संघात घट की न्याईं इन्द्रिय गोचर होने तैं आत्मा नहीं ॥७८२॥

यः शरीरेंद्रियादिभ्यो वहीनं सर्व साक्षिणाम् । परमार्थैं कविज्ञानं सुखात्मानं स्वयं प्रभम् ॥७८३॥

वराहोपनिषत् ॥ अ० २ मं० २९ ॥

अर्थ—जो शरीर इन्द्रियों से रहित है सर्व का साक्षि है परमार्थ से एक है विज्ञान स्वरूप है सुखस्वरूप है आत्मा स्वयं प्रकाश है ॥७८३॥

सर्व भूतांतर स्थाय नित्य मुक्त चिदात्मने। प्रत्यक्चैतन्य रूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥७८४॥

वराहोपनिषत् ॥ अ० २ मं० ३३ ॥

अर्थ—स्थावर जंगम सर्व भूतों के अन्तर स्थित को नित्य मुक्तको चिदात्मा को प्रत्यक्चैतन्यरूप को ऐसे मुझ को ही मेरी नमस्कार होवे ॥७८४॥

नमो मह्यं परेशाय नमस्तुभ्यं शिवाय च । किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामित्यजामि किम् ॥७८५॥ यन्मया

पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥७८६

वराहोपनिषत् ॥ अ० २ मं० ३५—३६ ॥

अर्थ—सर्व से परे मैं ईश्वर को नमस्कार होवे तथा शिव महादेव जी आप के तांई मेरी नमस्कार होवे। क्या करों किस जगा में मैं जावों तथा किस वस्तु का ग्रहण करूं तथा किस का त्याग करूं जैसे प्रलय काल में प्रलय का जल सर्वत्र पूर्ण होता है तैसे ही मैं इस विश्व में पूर्ण हूं ॥७८५—७८६॥

हे देवताओ! जैसे समुद्र के लवण के पिंड विषे घनी भावता होवे है। तैसे मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा विषे मैं ब्राह्मण हूं मैं मनुष्य हूं मैं क्षत्रिय हूं इत्यादिक विशेष ज्ञान ही घनीभाव रूप है। और ता विशेष ज्ञान रूप घनीभाव रूपता का कारण यह स्थूल शरीर है या तैं ता स्थूल शरीर का जभी नाश होवे है। तभी ता विशेष ज्ञान रूप घनी भावता विशिष्ट आत्मा का भी नाश होवे है। जैसे चार कोण वाले लोह पिंड के साथ तदात्म्य भाव को प्राप्त हुआ अग्नि भी चार कोण वाली प्रतीत होवे है। तहां चार कोण वाले लोह पिंड के नाश हूं ये तैं अनन्तर ता चार कोण वाले अग्नि का भी नाश होवे है। तैसे जीवित अवस्था विषे या स्थूल शरीर के तदात्म्य अध्यास करिकै यह आत्मादेव मैं मनुष्य हूं इत्यादिक विशेष ज्ञानों करिकै विशिष्ट हुआ प्रतीत होवे है। और मरण काल विषे या स्थूल शरीर का जभी नाश होवे है। तभी ता विशेष ज्ञान विशिष्ट आत्मा का भी नाश होवे है। जैसे सुषुप्ति अवस्था विषे यह जीवात्मा हृदय देश विषे परमात्मा देव के साथ तदात्म्य भाव को प्राप्त होइकै सर्व विशेष ज्ञानों तैं रहित होवे है। तैसे मरण काल विषे यह जीवात्मा हृदय देश विषे मुझ परमात्मा देव के साथ तदात्म्य भाव को प्राप्त होइकै सर्व विशेष ज्ञानों तैं रहित हुआ भी पुनः विशेष ज्ञान को प्राप्त होवे है। तात्पर्य यह है सुषुप्ति अवस्था विषे तो सर्व विशेष ज्ञानों का अभाव होवे है। और मरण अवस्था विषे दो प्रकार का ज्ञान यां जीव को होवे है। एक तो हृदय का अग्रभाग रूप जो मार्ग है ता मार्ग को विषय करने हारा ज्ञान होवे है। और दूसरा या शरीर के त्याग तैं अनन्तर जो भावी शरीर प्राप्त होने हारा है। तिस को विषय करने हारा ज्ञान होवे है। या दो ज्ञान को छोड़ के दूसरे सर्व विशेष ज्ञानों का अभाव होवे है। इतनी ही सुषुप्ति अवस्था तैं मरण अवस्था विषे विशेषता है। हे देवताओ! यह जीवात्मा या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै दूसरे स्थूल शरीर के अलम्बन तैं विना स्थित होवे नहीं। किन्तु दूसरे स्थूल शरीर को अलम्बन करिकै ही यह जीवात्मा पूर्वले स्थूल शरीर का परित्याग करे है।

दृष्टांत—जैसे तृण जलौका नामा कृमि तृणों विषे भ्रमण करे है। सो तृण जलौका कृमि दूसरे तृण को आलम्बन करिकै ही प्रथम तृण का परित्याग करे है। दूसरे तृण के आलम्बन तैं विना प्रथम तृण का परित्याग करे नहीं। यह वार्ता सर्व लोकों को अनुभव सिद्ध है। तैसे यह जीवात्मा भी दूसरे भावी शरीर को आलम्बन करिकै ही या स्थूल शरीर का परित्याग करे है। दूसरे शरीर के आलम्बन तैं विना यह जीवात्मा प्रथम शरीर का परित्याग करे नहीं।

शंका—हे भगवन्! जैसे मरण काल विषे

यह जीवात्मा जिस जिस प्रथम शरीर की इच्छा करे है। तिस तिस शरीर को प्राप्त होवे है। तैसे मरण तैं पूर्व जीवित अवस्था विषे या पुरुष को इच्छा करे हुए पदार्थ की प्राप्ति किस वास्ते नहीं होती। समाधान—हे देवताओ! या वर्तमान शरीर के भोग देने हारे जे प्रारब्ध कर्म हैं। तिन प्रारब्ध कर्मों की विद्यमानता तथा भावी शरीर की प्राप्ति करने हारे कर्मों विषे फल की अजनकता यह दोनों ही वांछित शरीर के प्राप्ति विषे प्रति बन्धक हैं। और तैसे दोनों प्रतिबन्धक जीवित अवस्था विषे विद्यमान है। इस वास्ते जीवित अवस्था विषे या जीवात्मा को इच्छा पूर्वक शरीर की प्राप्ति होवे नहीं। और मरण काल विषे तिन दोनों प्रतिबन्धकों की निवृत्ति होवे है। या तै मरण काल विषे यह जीवात्मा जिस जिस शरीर की प्राप्तिकी इच्छा करै है मरण तैं अनंतर यह जीवात्मा तिस तिस शरीर को प्राप्त होवे है। जैसे या लोक विषे कोई नट पुरुष लोकों को प्रसन्न करने वास्तैं नाना प्रकार के शरीरों को धारण करै है। तैसे यह जीवात्मा कर्म के फल भोगने वास्तैं नाना प्रकार के शरीरों को प्राप्त होवै है। या तैं या संसार रूप चक्र का इच्छा रूप काम ही मूल कारण है। तहां श्लोक—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्माविद्धये न मिह वैरिणम् ॥७८७॥ गी० अ० ३ श्लो० ३७

अर्थ—हे अर्जुन! सो अनर्थ मार्ग विषे प्रवृत्त करावने हारा यह काम ही है। यह काम ही क्रोध रूप है। तथा रजो गुण तैं उत्पन्न भया है। तथा महान अहार वाला है तथा अत्यंत उग्र है। या तैं इस संसार विषे इस काम को ही तुं वैरी जान ॥७८७॥

अब याही अर्थ को स्पष्ट करिकै निरूपण करै हैं। हे देवताओ! यह जीवात्मा प्रथम शुभ कर्म विषे अथवा अशुभ कर्म विषे इच्छा करै है। तिसतैं अनंतर यह जीवात्मा ता शुभाशुभ कर्मों के करने का निश्चय करै है। ता निश्चय तैं अनंतर यह जीवात्मा ता शुभाशुभ कर्म विषे प्रवृत्त होवै है। तिस तैं अनंतर यह जीवात्मा जैसे कर्म करता है तैसे ही फल को प्राप्त होवै है। तहां श्रुति—

सयथा कामो भवति तत्कर्तुर्भवति यत्कर्तुर्भवति। तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभि संपद्यते ॥७८८॥

बृहदारण्यकोपनिषत् अ० ४ ब्राह्मणम् ४ मं० ५॥

अर्थ—जैसी सो कामना होती है तैसा ही निश्चय होता है। जैसा निश्चय होता है तैसा ही कर्म करता है। जैसा कर्म करता है तैसा फल को प्राप्त होता है ॥७८८॥

पूर्व ले शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पुनः शुभाशुभ कर्म की इच्छा करैं है। इस प्रकार काम रूप मूल कारण करिकै यह संसार रूप चक्र सर्वदा भ्रमण करै है। तहां श्रुति—

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म स मश्नुत ॥७८९॥

बृहदारण्यको० ब्राह्मण ४ मं० ७॥

अर्थ—जिस काल विषे यह जीवात्मा अपने हृदय देश विषे स्थित जो तीन प्रकार की ईषणा हैं तिन सर्व ईषणा रूप काम को मुच्यंते परित्याग करता है। तिसी ही काल

विषे जन्म मृत्यु प्रवाह सें पार हो कर यह जीवात्मा अमृत भाव को प्राप्त हो कर सो एक रस चिन्मय अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥७८९॥

तात्पर्य यह है कि चित्तरूपी भूमि विषे दो प्रकार के संस्कार होवै हैं। एक तो कर्म जन्य संस्कार होवै हैं। और दूसरे ज्ञान जन्य संस्कार होवै हैं। कर्म जन्य संस्कार तो आपने फल के आरंभ की सिद्धि वास्तैं ता पुरुष की इच्छा को उत्पन्न करै हैं। और दूसरे ज्ञान जन्य संस्कार तो जिस कर्म विषे इच्छा होवै है। तिस कर्म हमारे को अवश्य कर्तव्य है। या प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करै है। ता कर्तव्यता ज्ञान के अनुसार यह जीवात्मा की ता शुभाशुभ कर्म विषे प्रवृति होवै है। और शुभाशुभ कर्मों के संस्कार करिकै यह जीवात्मा पुनः ता शुभाशुभ कर्म की इच्छा करै है। और पूर्व ले कर्तव्यता ज्ञान के संस्कारों करिकै यह जीवात्मा तिन शुभाशुभ कर्मों विषे यह कर्म हमारे को अवश्य कर्तव्य है। या प्रकार का निश्चय करै है। तिस तैं अनंतर यह जीवात्मा पुनः तिन शुभाशुभ कर्मों विषे प्रवृत्त होवै है। या तैं यह अर्थ सिद्ध भया या जीव को शुभाशुभ कर्म विषे प्रवृत्त करने हारा जो कर्तव्य पदार्थ का निश्चय है। ता निश्चय का इच्छा रूप काम ही मुख्य कारण है। इस वास्ते सो इच्छा रूप काम ही या जीवों के जन्म मरणादि रूप संसार विषे कारण है। कैसा है सो इच्छा रूप काम जिस काम के शांति करने हारा कोई लोक विषे पदार्थ है नहीं।

शंका—हे भगवन् ! नाना प्रकार के विषयों की प्राप्ति ही तिस इच्छा रूप काम के शांति का उपाय है। समाधान—हे देवताओ! विषयों की प्राप्ति करिकै इच्छा रूप काम की निवृत्ति होइ सकै नहीं। काहेतैं जो पुरुष काम रूप अग्नि करिकै युक्त है। ता पुरुष को जो कदाचित् संपूर्ण पृथ्वी के सुवर्णादिक पदार्थों की प्राप्ति भी हो जावै। तो भी ता पुरुष के इच्छा रूप काम की शांति होवै नहीं। उलटा पदार्थों की प्राप्ति करिकै दिन दिन विषे या पुरुष के इच्छा रूप काम की वृद्धि होती जावै है। हे देवताओ! जो कदाचित् नाना प्रकार के विषयों की प्राप्ति करिकै या पुरुष की इच्छा रूप काम की निवृति होती तो देवराज इंद्र को इन सर्व लोकों तैं अधिक विषयों की प्राप्ति है। या तैं देवराज इंद्र के इच्छा रूप काम की निवृत्ति होनीं चाहिये। और देवराज इंद्र के इच्छा रूप काम की निवृत्ति होवै नहीं। किंतु ब्रह्म लोक के विषय जन्य सुख की कामना करिकै सो देवराज इंद्र सदैव ही तपायमान होता रहै है। और इंद्रपदवी की प्राप्ति वास्ते जो पुरुष अश्वमेधादिक यज्ञ करै है। तिस पुरुष के यज्ञादिक कर्मों विषे सो देवराज इंद्र नाना प्रकार के विघ्न करै है। और जब कोई दैत्य बलात्कार सैं स्वर्ग को लै लेवे है। तभी सो इन्द्रता स्वर्ग की प्राप्ति वास्तैं ब्रह्मादिक देवताओं के समीप जायकै नाना प्रकार की दीनता को करै है। या तैं यह जान्या जावै है कि स्वर्ग के भोगों करिकै देवराज इंद्र के इच्छा रूप काम की निवृत्ति नहीं भई। हे देवताओ ! बहुत आयुष वाले बहुत भोगों वाले जे इंद्रादिक देवता हैं तिन इंद्रादिक देवताओं की काम की भी जभी

विषयों की प्राप्ति करिकै निवृत्ति नहीं होवै है। तभी अल्प आयुष वाले तथा अल्प भोगों वाले तथा रोगों करिकै ग्रस्त जो यह मनुष्य हैं। तिनों के इच्छा रूप काम की विषयों की प्राप्ति करिकै किस प्रकार निवृत्ति होवैगी । हे देवताओ! यद्यपि यह लोक प्रसिद्ध अग्नि घृतादिक रूप ईंधनों की प्राप्ति करके शांति को प्राप्त होवे नहीं! तथापि अत्यन्त घृतादिकों के पावने करके ता अग्नि की शांति होवे है। परन्तु भूमि लोक स्वर्गलोक ब्रह्मलोकों को दाह करने हारा जो कामरूप अग्नि है। ताके शांत करने हारा कोई विषय रूप ईंधन है नहीं। उलटा विषयों की प्राप्ति करके ता इच्छारूप काम की वृद्धि होती जावे है। और जैसे यां लोक विषे बलवान पुरुष लोहादिकों के कंचुक को पहर करके तथा शिव का विषे अरूढ़ होइके शत्रुवों के भय तैं रहित हुआ विचरे है। तैसे यह जीवात्मा भी काम रूपी कंचुकको पहर के तथा सूक्ष्म शरीर रूप शिव का विषे अरूढ़ होइके विवेक रूपी राजा के तथा शमदमादि रूप सेना के भय तैं रहित हुआ चौरासी लक्ष योनियों विषे विचरे है। और जैसे या लोक विषे तंतुरूप सूत्र पट का कारण है। तैसे यह इच्छारूप सूत्र ही जगत् रूप पट का मुख कारण है इस वास्ते ही।

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्ये तत्सर्वं मन एव ॥७९०॥

बृहदारण्यको० अ० २ ब्राह्मण चतुर्थ

अर्थ—या श्रुति भगवति ने सम्पूर्ण मन की वृत्तियों विषे इच्छारूप काम को सर्व तैं प्रथम कथन करा है ॥७९०॥

शंका—हे भगवन्! जन्म-मरणादिक रूप संसार दुःख के जितने कारण हैं तिन कारणों विषे अविद्या मन यह दोनों कारण प्रधान हैं यह वार्ता बहुत शास्त्रों विषे महात्मा पुरुषों ने कथन करी है। और आपने तो यह काम को ही संसार दुःख का प्रधान कारण कह्या है या के विषे कौन हेतु है। समाधान—हे देवताओ! जिस अभिप्राय करके काम को प्रधानता हमने कथन करी है ता अभिप्राय को तुम श्रवण करो या संसार के जितनेक कारण हैं। तिन सम्पूर्ण कारणों विषे जो अविद्या की प्रधानता है। सो मन को अंगीकार करके ही अविद्या विषे प्रधानता है। और मन रूप कारण विषे जो प्रधानता है। सो इच्छारूप काकको अंगीकार करके ही प्रधानता है। इच्छारूप काम को आश्रायण करके ही यह मन सम्पूर्ण जगत् को जये करे है। इस वासतैं इच्छारूप काम ही संसार दुःख का प्रधान कारण है। इतने कर के इच्छारूप काम के विद्यमान हुये संसार दुःख की विद्यमानता रूप अन्वय का निरूपण किया। अब इच्छारूप काम के अविद्यमान हुए संसार दुःख की अविद्यमानता रूप व्यतिरेक का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जो पुरुष इच्छारूप काम तैं रहित है तिस पुरुष को संकल्पादिक वृत्तियों सहित मन तथा जगत की जननी अविद्या यह दोनों किंचित मात्र भी दुःख की प्राप्ति करसके नहीं। तात्पर्य यह है सुषुप्ति अवस्था विषे या जीव में इच्छारूप काम है नहीं। इस वास्ते सुषुप्ति अवस्था विषे विद्यमान हुई भी अविद्या सुषुप्त पुरुष को दुःख की प्राप्ति करे नहीं। और समाधि अवस्था विषे मुक्त पुरुष में इच्छारूप काम है नहीं। इस वास्ते समाधि अवस्था विषे विद्यमान हुआ

भी मन ता मुक्त पुरुष को दुःख की प्राप्ति करे नहीं। जो कदाचित इच्छारूप काम तैं विना स्वतन्त्र ही अविद्या मन दुःख के कारण होते होवे तो सुषुप्ति अवस्था विषे तथा समाधि अवस्था विषे भी या पुरुष को दुःख की प्राप्ति होनी चाहिये। और सुषुप्ति अवस्था विषे तथा समाधि अवस्था विषे या पुरुष को दुःख की प्राप्ति होवे नहीं। यातैं यह जान्या जावे है कि इच्छारूप काम ही या जीवों को संसार दुःख का कारण है। किंवा इच्छारूप काम तैं रहित हुआ यह जीव जिन विषयों को देखे है। ते विषय भी ता इच्छा रहित पुरुष को सुख की प्राप्ति अथवा दुःख की प्राप्ति करसकें नहीं। तहां श्लोक—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ॥७९१॥

गी० अ० २ श्लो० ५५

अर्थ—हे अर्जुन! काम संकल्पादिक जो मन की वृत्ति विशेष हैं। तिन काम संकल्पादिक सर्व वृत्तियों को जिस काल विषे यह विद्वान पुरुष कारण के बाध करके परित्याग करे है। अर्थात् जिस काल विषे तिन काम संकल्पादिक सर्व वृत्तियों तैं रहित होवे है। तिस काल विषे सो समाधि स्थित विद्वान पुरुष स्थित प्रज्ञ कह्याजावे है। (मनोगतान्) हे अर्जुन! ते काम संकल्पादिक सर्व धर्म मनके ही हैं। आत्मा के धर्म नहीं हैं जो कदाचित् ते काम संकल्पादिक आत्मा के ही स्वभाविक धर्म होवे तो जैसे अग्नि का स्वभाविक धर्म जो उष्णता है सो उष्णता धर्म अग्नि के विद्यमान हुए कदाचित् भी निवृत्त होवे नहीं। या तैं ते काम संकल्पादिक आत्मा के धर्म नहीं। किंतु मन के ही धर्म हैं। यातैं ता कारण रूप मन को परित्याग करके ते काम संकल्पादिक धर्म परित्याग करने को शक्य हैं ॥७९१॥

प्रजहाति यदा कामान्सर्वैश्चित-गतान्मुने। मयि सर्वात्मकेतुष्टः सजीवन्मुक्त उच्यते ॥७९२॥

वराहोपनिषद् अ० ४ मं० २८

विहाय कामान्यः सर्वान्न पुनांश्चरति निःस्पृहः निर्ममों निरंहकारः स शांति माधि गच्छति ॥७९३॥ गी० अ० २ श्लोक ७१

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष सर्व कामनों को परित्याग करके निःस्पृह हुआ तथा निर्मम हुआ तथा निरहंकार हुआ विचरे है। सो स्थित प्रज्ञता शांति रूप मुक्ति को प्राप्त होवे है ॥७९३॥

दुःखेष्वनु द्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः। वीतरागभय क्रोधः स्थित धीर्मुनिरूच्यते ॥७९४॥ गी० अ० २ श्लो० ५६

अर्थ—हे अर्जुन! दुःखों विषे नहीं उद्वेग को प्राप्त हुआ है मन जिसका तथा विषय सुखों विषे निवृत्त हुई है स्पृहा जिसकी तथा निवृत्त हुए हैं रागभय क्रोध जिसके ऐसे मनन शील पुरुष स्थित प्रज्ञ कहे जावें हैं ॥७९४॥

यः सर्वत्रा नभिस्नेहस्त तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनंदाति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥७९५॥

गी० अ० २ श्लोक। ५७

अर्थ—हे अर्जुन ! जो विद्वान पुरुष देहादिक सर्व पदार्थों विषे स्नेह तैं रहित है तथा तिस प्रिय अप्रिय विषयों को प्राप्त होइके नहीं प्रशंसा करे है। नहीं द्वेष करे है तिस विद्वान पुरुष की प्रज्ञा स्थित होवे है ॥७९५॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः। इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥७९६॥ गी० अ० २ श्लो० ५८॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे कूर्म आपने शिरपादादिक अंगों को संकोच करे है। तैसे यह विद्वान पुरुष जिस काल विषे अपने सर्व इन्द्रियों को शब्दादिक विषयों तैं पुनः संकोच करे है तिस काल विषे तिस विद्वान पुरुष की प्रज्ञा स्थित होवे है ॥७९६॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशेही यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥७९७॥ गी० अ० २ श्लो० ६१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! हमारा अनन्यभक्त तिन सर्व इन्द्रियों को वश में कर के निगृहीत मन वाला हुआ स्थित होवे है जिस पुरुष के यह इन्द्रिय वशवर्त्ती हैं तिस पुरुष की स प्रज्ञा स्थिर होवे है ॥७९७॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषुपजायते। संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥७९८॥ क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः। स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥७९९॥ गी० अ० २ श्लोक ६२—६३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! शब्दादिक विषयों को मन करके ध्यान करते हुए पुरुष का तिन विषयों विषे संग—(राग) उत्पन्न होवे है। ता संग तैं कामना उत्पन्न होवे हैं ता कामनाओं तैं क्रोध उत्पन्न होवे है ॥७९८॥ ता क्रोध तैं संमोह (विवेका भाव) उत्पन्न होवे है । ता संमोह तैं स्मृति का विभ्रंश होवे है। ता स्मृति के भ्रंशतें चिन्मात्र वस्तु के चिंतन करने वाली बुद्धि का नाश होवे है। ता बुद्धि के नाशतैं यह जीवात्मा नाश को प्राप्त होवे है। अर्थात् चौरासी लक्ष योनियों विषे भ्रमण करे है ॥७९९

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥८००॥ गी० अ० २ श्लोक० ६५॥

अर्थ—हे अर्जुन ! ता प्रसाद के प्राप्त हुए अर्थात अन्तःकरण की शुद्धि हुए इस विद्वान संन्यासी के सर्व दुःखों का नाश होवे है। जिस कारण तैं ता शुद्ध चित वाले संन्यासी की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होवे है ॥८००॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रतिभूतानिसा निशा पश्यतो मुनेः ॥८०१॥

गी० अ० २ श्लो० ६९॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो साक्षात्कार रूप प्रज्ञा सर्व अज्ञानी जनों की रात्रि है ता प्रज्ञारूप रात्रि विषे इन्द्रियों के संयम वाले विद्वान पुरुष जागते हैं। और जिस अविद्यारूप निद्राविषे यह सर्व अज्ञानी पुरुष जागते हैं सा अविद्या साक्षात्कारवान् विद्वान् स्थित प्रज्ञ की रात्रि है॥

शंका—हे भगवन् ! ता समाधि स्थित प्रज्ञ विद्वान का मुख प्रसन्न हुआ प्रतीत होवे है। और सा मुख की प्रसन्नता अंतर के संतोष

तैं विना होवे नहीं। या तैं मुख की प्रसन्नता रूप हेतु तैं ता स्थित प्रज्ञ पुरुष का संतोष विषे अनुमान करा जावे है। सो संतोष विशेष सर्व वृत्तियों के परित्याग किये हुये किस प्रकार संभवेगा। ऐसी अर्जुन की शंका के हुये श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर कहे हैं। (आत्मन्येवात्मना तुष्टः) हे अर्जुन! सो विद्वान पुरुष परमानंद स्वरूप आत्माविषे ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति तैं तृप्ति को प्राप्त हुआ है। कोई अनात्मा तुच्छ पदार्थों विषे सो विद्वान पुरुष तृप्ति को प्राप्त हुआ नहीं। ता परमानंद स्वरूप आत्मविषे भी स्वप्रकाश चैतन्यरूप करके भासमान आत्मा करके ही तृप्ति को प्राप्त हुआ है। कोई मन की वृत्ति विशेष करके तृप्ति को प्राप्त हुआ नहीं। या तैं ता स्थित प्रज्ञ पुरुष विषे मन की वृत्ति तैं विना भी सो संतोष सम्भव होई सकै है ॥८०१॥ तहां श्रुति—

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामायेस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते ॥८०२॥

बृहदारण्यको० चतुर्थ ब्राह्मण मं० ७

अर्थ—इस पुरुष के मन विषे स्थित जे काम संकल्पादिक हैं ते सर्व काम संकल्पादिक जिस काल विषे निःशेष तैं निवृत्त होवे है। तिस काल विषे यह जीव अमृत भाव को प्राप्त होवे है। अर्थात इस शरीर विषे आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर मुक्त होवे है ॥८०२॥

मनो ही द्विविधंप्रोक्तं शुद्धं चाशुद्ध मेवच। अशुद्धंकाम संकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम् ॥८०३॥ ब्रह्मविंदूपनिषद् मं० १

अर्थ—मन दो प्रकार का श्रुति कथन करती है। एक शुद्ध है दूसरा अशुद्ध है। अशुद्ध मन काम संकल्प युक्त है। तथा काम संकल्प से रहित मन शुद्ध है ॥८०३॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥८०४॥ ब्रह्मविंदूपनि० मं० २

अर्थ—मनुष्यों के बन्ध मोक्षका कारण मन ही है। विषयों में असक्त मन बन्ध है। विषयों में विराग वाला मन मुक्त कहा गया है ॥८०४॥

द्वौक्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर। योगस्तद्वृत्तिनिरोधो ही ज्ञानं सम्यग वेक्षणम् ॥८०५॥

शाण्डिल्योपनिषद् मं० २४

अर्थ—हे मुनीश्वर चित्त के नाश के दो प्रकार है एक योग है दूसरा ज्ञान है चित्त वृत्ति का निरोध ही योग है। ज्ञानं प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म का अपरोक्ष हस्तामलक की न्यांई जो ज्ञान है सो ज्ञान ही मन के निरोध का उपाय है ॥८०५॥

बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतर चिन्तका। सर्वचिंतां परित्यज्य चिन्मात्र परमोभव ॥८०६॥ शाण्डिल्योपनिषद् मं० २

अर्थ—बाह्य विषयों की चिंता नहीं करने योग्य हैं तैसे अंतर की चिंता भी नहीं करने योग्य है। सर्व चिंता को परित्याग करके परम चिन्मात्र हो ॥८०६॥

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्। एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ॥८०७॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० ३।९॥

अर्थ—जो पुरुष अमृत से तृप्त हुआ है तिसके वास्ते दूध पान करना क्या प्रयोजन है किंतु कुछ प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार आप ने आत्मा के साक्षात्कार से अनंतर वेद का पढ़ना क्या प्रयोजन है ॥८०७॥

ज्ञानामृततृप्त योगीनो न किंचित्कर्तव्य मस्ति तदस्ति चेन्न स तत्त्व विद्भवति। दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति ॥८०८॥ पैङ्गलोपनिषत्

अर्थ—जो योगी पुरुष ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त हुआ है। तिसको किंचित मात्र भी कर्तव्य नहीं है सो तत्त्ववित् है यदि दूर स्थित भी है सो दूरस्थित नहीं है। यदि पिण्ड शरीर में स्थित भी है तौ भी प्रत्यगात्मा सर्व व्यापी है पिण्ड कहिये शरीर सेरहित है ॥८०८॥

हृदयं निर्मलं कृत्वा चिन्तयित्वाप्यनामयम्। अहमेव परं सर्वमिति पश्येत्परं सुखम् ॥८०९॥

पैङ्गलोपनिषद् अ० ४ मं० ९

अर्थ—अपने हृदय को शुद्ध करके निर्मल अविद्यामल से रहित अनामय को चिंतन करे हं सर्वत्र पूर्णचिन्मय ब्रह्म हूं इसप्रकार देखने से परममुक्तिरूप सुख को प्राप्त होता है ॥८०९॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्। अविशेषो भवत्तेद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥८१०॥

पैङ्गलोपनिषद् अ० ४ मं० १०

अर्थ—जैसे जल में जल मिलाने से दूध को दूध में घृत को घृत में मिलाने से जैसे भेद दर्शन का अभाव होता है। तैसे जीव ईश्वर दोनों की उपाधि के त्यागने से अविशेष चिदेकरस ब्रह्म होता है ॥८१०॥

यतो वाचो निवर्तन्तेयो मुक्तैरवगम्यते। यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिताना स्वभावतः ॥८११॥

महोपनिषद् अ० ४ मं० ५७

अर्थ—जिस चिदेक रस ब्रह्म को मन सहित वाणी ना प्राप्त हो करके निवृत्त होजावे है ऐसे ब्रह्म को जो पुरुष मुक्ति में प्राप्त होते हैं जिसका नाम आत्मा आदिक है सो सर्व कल्पित है स्वभाव सिद्ध नहीं हैं ॥८११॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्। द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥८१२॥

महोपनिषद्। अ० ४ मं० ५८

अर्थ—हे महामुने तीन प्रकार का अकाश है चित्ता अकाश भूताकाश चिदाकाश तिन में से दो अकाश चित्ता आकाश भूताकाश असन्त मिथ्या हैं ऐसे जानों। और चिदाकाश चिन्मय एक रस ब्रह्म है ॥८१२॥

देशाद्देशान्तर प्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्। निमेषण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥८१३॥

महोपनिषद्। अ० ४ मं० ५९।

अर्थ—हे मुनिपुङ्गव जब मन देशांतर को प्राप्त होता है और जिस जगा से जाता है तिन दोनों के मध्य में जो जानता है अर्थात पूर्व उत्तर देशका जो साक्षी है एक निमेष में जो मन गमना गमन करता है तिसके साक्षी को तूं चिदाकाश जान ॥८१३॥

और ता इच्छा रहित पुरुष का मन भी यह कार्य हमारे को अवश्य करणे योग्य है। या प्रकार के निश्चय को उत्पन्न करे नहीं। श्वास प्रश्वासादिक व्यापारों वाले जो पंचप्राण हैं। तथा आपणे व्यापार युक्त जे वागादिक दश इन्द्रिय हैं। अकाशतैं आदि लेके जे पञ्च भूत हैं तथा तिन भूतों का कार्य जो यह स्थूल शरीर है। इसतैं आदि लेके सम्पूर्ण पदार्थ विद्यमान हुए भी इच्छा रहित पुरुष को दुःख की प्राप्ति कर सके नहीं। इस वास्ते ता इच्छा रहित पुरुष का प्राणादिक संघात विद्यमान हुआ भी नहीं विद्यमान हुए के समान है। और हे देवताओ ! यौवनरूप अग्नि करके तपाय मान जो सुन्दर स्त्रियां हैं। तथा शरीर मन वाणी करके हिंसा करने हारे जे शत्रु हैं। तथा सुख की प्राप्ति करने हारे जो धर्म हैं। तथा दुःख की प्राप्ति करने हारे जो अधर्म हैं। इसतैं आदि लेके सम्पूर्ण प्रिय अप्रिय पदार्थ इच्छा रहित पुरुष को किंचित् मात्र भी सुख दुःख की प्राप्ति करसकें नहीं। और जिस पुरुष के विषे इच्छारूप काम होवे है। तिस पुरुष विषे ही ते स्त्री पुत्रादिक प्रिय पदार्थ सुख की उत्पत्ति करें हैं और शत्रु आदिक अप्रिय पदार्थ दुःख की उत्पत्ति करे हैं। यातें अन्वय व्यतिरेक करके इच्छारूप काम ही या जीवों को संसार दुःख का कारण है। और जो पुरुष ता इच्छारूप काम तैं रहित है सो पुरुष जीवन्मुक्त पुरुष के समान है। हे देवताओ ! या मनुष्य लोक विषे इच्छा करके यह जीव जिस प्रकार के दुःख को प्राप्त होवे है। तिस प्रकार के दुःखों को यह जीवात्मा आगे होने हारे ऊच नीच शरीरों विषे भी प्राप्त होवे है। यातैं सम्पूर्ण शरीरों विषे यह इच्छा काम ही जीवों को दुःख की प्राप्ति करे है। तहां श्लोक—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥८१४॥

गी० अ० १६ श्लो० २१।

अर्थ—हे अर्जुन ! इस पुरुष को अधम योनियों की प्राप्ति करने हारा तथा दुःखो की प्राप्ति करने हारा यह तीन प्रकार का नरक का द्वार है। काम क्रोध तथा लोभ तिस कारण तैं इन तीनों को परित्याग करे ॥८१४॥

इतने ग्रन्थ करके इच्छारूप काम विषे सर्व दुःखों की कारणता दिखाई। अब पूर्वोक्त सुषुप्ति के दृष्टांत करके मोक्ष का निरूपण करे हैं। पूर्वले पुण्य कर्म के प्रभाव तैं यह जीव जभी इच्छारूप काम तैं रहित होवे है। तभी यह पुरुष किंचित मात्र भी संसार दुःख को प्राप्त होवे नहीं। किंतु इच्छा तैं रहित हुआ यह पुरुष मोक्ष को ही प्राप्त होवे है। जैसे सुषुप्ति अवस्था विषे सर्व कामनाओं के नाश हुए तैं अनन्तर यह पुरुष निष्काम भाव को प्राप्त होवे है। तैसे पूर्वले पुण्य कर्म के प्रभावैंत उत्पन्न भया। जे तीव्र वैराग्य है ता वैराग्य करके जभी या पुरुष की सर्व कामना निवृत होवे है। तभी यह पुरुष निष्काम भाव को प्राप्त होवे है। तहां श्रुति—

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति स रूपोऽरूप एवच। जीवन्मुक्तौ स्वरूपः स्याद रूपो देह मुक्तिगः ॥८१५॥

अन्नपूर्णोपनिषत्। अ० ४ मं० १४॥

अर्थ—चित नाश के प्रकार दो हैं स्वरूप

नाश तथा अरूप नाश। जीवन्मुक्ति के वास्ते सरूप नाश है और विदेह मुक्ति के वास्ते मन का अरूप नाश है ॥८१५॥

चित्त सत्तेह दुःखाय चित्त नाशः सुखाय च । चित्त सत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाश मुपानयेत ॥८१६॥

अन्नपूर्णोपनि० अ० ४ मं० १५॥

अर्थ—इस जीवात्मा के चित्त की सत्ता तैं दुःख प्राप्त होते हैं। तथा चित्त के नाश से परमानन्द सुख की प्राप्ति होती है। चित्त सत्ता को अवश्य ही क्षय करना चाहिये। चित्त के नाश से मुक्ति रूप सुख को प्राप्त होता है ॥८१६॥

स रूपोऽसौ मनो नाशो जीवन्मुक्त-स्य विद्यते । निदाघाऽरूप नाशस्तु वर्तते देह मुक्तिके ॥८१७॥

अन्न पूर्णोपनिषत् ॥ अ० ४ मं० १८ ॥

अर्थ—हे निदाघ मन के सरूप नाश से इस जीवात्मा को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। और मन के अरूप नाश से विदेह मुक्ति प्राप्त होती है ॥८१७॥

एकं ब्रह्माहमस्मीति कृत्य कृत्यो-भवेन्मुनिः ॥८१८॥

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित जो एक ब्रह्म है सो मैं हूं इस प्रकार जान करिकै हे मुनि कृत कृत होवो ॥८१८॥

सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सना-तनम् । सच्चिदानन्द रूपं तदवाङ्-मनस गोचरम् ॥८१९॥

अन्नपूर्णोपनिषत् ॥ अ० ४ मं० २८—२९

अर्थ—सर्वनाम रूप प्रपंच का अर्थात ब्रह्मा से आदि लेके स्तम्भ पर्यंत सर्व का अधिष्ठान रूप तथा सर्व द्वन्द्व धर्मों तैं रहित सनातन जो परब्रह्म है। तथा सत चिदानन्द रूप सो मन वाणी से अगोचर है ॥८१९॥

न तत्र चन्द्रार्क वपुः प्रकाशते नवांति वाताः सकलाश्च देवताः । स एव देवःकृतभावभूतः स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥८२०॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० ३०॥

अर्थ—तिस सत चिदानन्द ब्रह्म को सूर्य चन्द्रमा भी नहीं प्रकाश कर सकते हैं। तथा वायु भी तिस ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता है। तथा सर्व देवता भी नहीं जान सकते हैं। सोई देवता परमात्मा के कृतभाव भूत हैं अर्थात परमात्मा ने उत्पन्न किये हुए हैं। आप परमात्मा विशुद्ध है विरजः अविद्या मल तैं रहित है स्वयं प्रकाश है ॥८२०॥

विहाय कामान्यः सर्वापुमांश्चरति निस्पृहः । निर्ममो निरहंकारः स शांति मधिगच्छति ॥८२१॥

गी० अ० २ श्लोक ७१ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष सर्व कामनाओं को परित्याग करिकै निःस्पृह हुआ तथा निर्मल हुआ तथा निरहंकार हुआ विचरे है सो स्थित प्रज्ञता मुक्ति रूप शांति को प्राप्त होवे है ॥८२१॥

शंका—हे भगवन्! विद्वान पुरुष विषे सर्वकामनाओं की अभाव रूप निष्कामता किस हेतु तैं होवे है। समाधान—सकाम पुरुष अनेक जन्मों को पाय के भी जिन धन पुत्रादिक सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं प्राप्त होइसकै है। तिन धन पुत्रादिक संपूर्ण पदार्थों को यह विद्वान

पुरुष एक ही काल विषे प्राप्त होवे है। या कारण तैं सो आप्त काम विद्वान पुरुष निष्काम है। तात्पर्य यह है अप्राप्त वस्तु विषे ही जीवों की इच्छा होवे है। प्राप्त वस्तु विषे किसी जीव की इच्छा होवे नहीं।

शंका—हे भगवन्! ता विद्वान पुरुष के धन पुत्रादिक सर्व पदार्थों की प्राप्ति रूप अप्त काम ता विषे कौन हेतु है। समाधान—हे देवताओ! जैसे सुवर्ण रूप कारण के प्राप्त हुए सुवर्ण विषे कल्पित जे कुण्डलादिक भूषण हैं ते भूषण भी अवश्य प्राप्त होवे हैं। तैसे धन पुत्रादिक सम्पूर्ण पदार्थों का उपादान कारण रूप जो आनन्द स्वरूप मैं परमात्मा हूं। तिस मुझ परमात्मा देव की प्राप्ति करिकै ता विद्वान् पुरुष को धन पुत्रादिक सम्पूर्ण पदार्थ प्राप्त होवे हैं। तहां श्लोक—

यावानर्थ उद्पाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥८२२॥ गी० अ० २ श्लोक ॥४६॥

अर्थ—हे अर्जुन! जैसे पर्वत तैं निकसे हुए जे अनेक जल के झरने हैं ते सर्व जल के झरने किसी नीची भूमी विषे जायकै इकट्ठे होवे हैं। ताकी तलाव संज्ञा होवे है। तहां एक एक झरने जलतैं यथा क्रम तैं सिद्ध होने हारे जे स्नान पान वस्त्र प्रक्षालनादिक प्रयोजन हैं। ते स्नान पानादिक सर्व प्रयोजन तिन झरणों के जलों के समुदाय रूप महान तलाव विषे सिद्ध होवे हैं। काहे तैं तिन सर्व झरणों के जलों का तिस तलाव विषे ही अंतरभाव है। तैसे वेदों विषे कथन करे हुए जितनेक अग्निहोत्र ज्योतिष्टोम अश्वमेधादिक काम्य कर्म हैं। तिन अग्निहोत्रादिक काम्य कर्मों करिकै इस सकाम पुरुष को क्रम तैं प्राप्त होने हारे जो स्वर्गलोक तैं आदि लैके ब्रह्मलोक पर्यन्त विषय जन्य आनन्द है। ते सर्व आनन्द इस ब्रह्म साक्षात्कार वान ब्रह्मवेता पुरुष को एक ही काल विषे प्राप्त होवे है। काहे तैं भूमि लोक तैं आदिलैके ब्रह्म लोक पर्यंत जितनेक विषयजन्य क्षुद्र आनन्द है। ते सर्व ब्रह्मानन्द के अंश रूप हैं या तैं ते सर्व क्षुद्र आनन्द ता ब्रह्मानन्द के अन्तरभूत ही हैं ॥८२२॥

कृत कृत्यतया तृप्तः प्राप्त प्राप्य तया पुनः। तृप्यन्नेव स्वमनसा मन्यते सौ निरंतरम् ॥८२३॥ अवधूतोपनिषत् मं०२६

अर्थ—हं आपने मन करिकै कृत्य कृत्य तया हूं तृप्त हूं तथा प्राप्त प्राप्यतया भी मैं हूं अर्थात प्राप्त होने वाली वस्तु भी मैं हूं तथा जो प्राप्य अधिकारी भी मैं ही हूं। इस तृप्ति को ही निरन्तर मानता हूं ॥८२३॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यंस्वात्मानमंजसा वेद्मि। धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥८२४॥

अवधूतोपनिषत् ॥ मं० २७॥

अर्थ—मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं नित्य प्रकाशक अपने आत्मा को मैं जानता हूं। मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं मेरे को ब्रह्मानंद स्पष्ट प्रतीत होता है ८२४

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं संसारिकं न वीक्षेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वपि ॥८२५॥

अवधूतोप० मं० २७॥

अर्थ—मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं संसारिक दुःखादिक मै नहीं देखता। मैं धन्य हूं मैं धन्य

हूं मेरा अज्ञान भी किसी जगा पलाय भाग गया है ॥८२५॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्। धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमत्र संपन्नम् ॥८२६॥

अवधूतोप० मं० २९ ॥

अर्थ—मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं मेरे को किंचित मात्र भी कर्तव्य नहीं है। मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं सर्व प्राप्त होने योग्य पदार्थों करके संपन्न हूं। इस संसार में सर्व पदार्थ प्राप्त हैं ८२६

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मेकोपमा भवेल्लोके। धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥८२७॥

अवधूतोप० मं० ३० ॥

अर्थ—मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं धन्यो धन्यः पुनः पुनः धन्यः। धन्योऽहं मैं धन्य हूं मेरी तृप्ति की क्या उपमा इस लोक में हो सकती है ८२७

अहोपुण्य महोपुण्यं फलितं फलितं दृढम्। अस्य पुण्यस्य संपत्ते रहो वय महो वयम् ॥८२८॥ अवधूतोप० मं० ३१ ॥

अर्थ—अहो पुण्यं अहो पुण्यं दृढ़ फल दिया दृढ़ फल दिया है इस पुण्य संपत्ती को अहो हम को अहो हम को अहो है ॥८२८॥

अहो ज्ञान महो ज्ञान महो सुख महो सुखम्। अहो शास्त्र महो शास्त्र महो गुरुरहो गुरुः ॥८२९॥ अवधूतोप० मं० ३२ ॥

अर्थ—अहो ज्ञान अहो ज्ञान अहो सुखं अहो सुखं अहो शास्त्र अहो शास्त्र अहो गुरु अहो गुरु ॥८२९॥

अपूर्यमाण मचल प्रतिष्टं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शांति माप्नोति न काम कामी ॥८३०॥ अवधूतोप० मं० ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सर्व नदियों करके पूर्ण करे हुये तथा अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र को वर्षा के जल प्रवेश करे हैं। तिस प्रकार ही जिस स्थित प्रज्ञ पुरुष को सर्व शब्दादिक विषय प्रवेश करे हैं। सो स्थित प्रज्ञ पुरुष ही सर्व विक्षेप की निवृत्तिरूप शांति को प्राप्त होवे है। विषयों की कामना वाला पुरुष ता शांति को नहीं प्राप्त होवे है ॥८३०॥

भगवन्नस्थि चर्म स्नायु मज्जा मांस शुक्र शोणित श्लेष्माश्रु दूषित विण्मूत्र वात पित्त कफ संघाते दुर्गंधे निःसारेऽस्मिन्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥८३१॥

मैत्रायण्युपनिषत् मं० २ ॥

अर्थ—हे भगवन्! अस्थि, चर्म, नाड़ी, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्म, अश्रु, गिद, विष्टा, मूत्र, वात, पित्त, कफ संघात में दुर्गंधमय निःसाररूप यह शरीर है किस वास्ते भोगों विषे कामना करते हैं ॥८३१॥

काम क्रोध लोभ भय विषादेर्ष्येष्ट वियोगानिष्ट संप्रयोग क्षुत्पिपासा जरा मृत्यु रोग शोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥८३२॥

मैत्रायण्युपनिषत् मं० ३ ॥

अर्थ—इस शरीर में काम क्रोध लोभ भय विषाद इष्ट वस्तु के वियोग से दुःख होता है अनिष्ट वस्तु के संयोग से सुख होता है क्षुधा पिपासा जरा मृत्यु रोग शोकादिक भी पूर्ण हैं

किस वास्ते भोग भोगने की कामना करते हैं ८३२

या तैं सो आत्म कामरूप विद्वान आप्त काम ता विषे हेतु है। या कहने तैं यह अर्थ सिद्ध भया कि जो पुरुष आत्म काम होवे है सोई पुरुष आप्त काम होवे है। या तैं आत्मकामता आप्तकामता विषे हेतु है। और जो पुरुष निष्काम होवे है। सोई पुरुष सर्व कामनाओं तैं रहित अकाम होवे है। या तैं निष्कामता अकामता विषे हेतु है। या रीति से आत्मकामता ही परंपरा करके सर्व कामना के अभावरूप अकामता विषे कारणता है। अब याही अर्थ को स्पष्ट करके निरूपण करे हैं। हे देवताओ! या लोक विषे इच्छारूप काम करके युक्त जो अज्ञानी पुरुष हैं। ते अज्ञानी पुरुष जिन जिन स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थों को प्राप्त होवे हैं। ते स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थ नाशवंत हैं। या तैं ते स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थ तिन अज्ञानी पुरुषों की तृष्णा की निवृत्ति करे नहीं। किंतु जैसे घृतादिकों करके अग्नि की वृद्धि होवे है। तैसे तिन स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थों करके तिन अज्ञानी जीवों का कामरूप अग्नि दिन दिन विषे वृद्धि को प्राप्त होता जावे है। और आत्मकाम विद्वान पुरुष जो तिन स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थों को प्राप्त होवे है। सो अज्ञानी पुरुष की न्याईं नाना प्रकार के यत्न करके तथा अपने से भिन्न मान करके तिन पदार्थों को प्राप्त होवे नहीं। किंतु स्त्री धन पुत्रादिक इस तैं आदि लेके संपूर्ण जगत मेरा ही स्वरूप आत्मा हैं। या प्रकार सर्वात्मभाव की प्राप्तिरूप ब्रह्मविद्या करके सो आत्मकाम विद्वान पुरुष सर्व जगत् को अपना आत्मरूप मानके प्राप्त होवे है। या तैं मैं ब्रह्मरूप हूं या प्रकार का अभेद ज्ञान ही इच्छारूप काम की निवृत्ति द्वारा परमानंद की प्राप्ति का हेतु है। तहां श्रुति—

एको देवः सर्व भूतेषु गूढाः सर्व व्यापी सर्वभूतांतरात्मा। कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥८३३॥ श्वेताश्व०उ० अ०६ मं०११

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगत भेद तैं रहित एक अद्वितीय देव सर्व भूतों में गुप्त है। और सर्व व्यापक सर्व भूतोंका अंतरात्मा अर्थात सर्व भूतों के अन्तःकरणादिक सर्व संघात को सत्ता स्फूर्ति के देने द्वारा है। और जगत् की विचित्रता के हेतु जो कर्म हैं तिन कर्मों का अधिष्ठान है तथा सर्व भूतों में अधिष्ठानरूप से निवास करने वाला है और साक्षात् सर्व जड वर्ग का द्रष्टा चेतन मात्र केवल निरूपाधिक निर्गुण सत्त्वादिक गुणों से रहित है ॥८३३॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥८३४॥

गीता अ० ६ श्लो० ३१ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो योगी पुरुष सर्व भूतों विषे स्थित मुझ तत्पदार्थ को अपने त्वं पदार्थ के साथ अभेद निश्चय करता हुआ अपरोक्ष करे है। सो योगी पुरुष जिस किस प्रकार तैं व्यवहार करता हुआ भी मुझ परमात्मा के विषे ही अभेद रूप करिकै वर्ते है ॥८३४॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥८३५॥

गी० अ० ६ श्लो० ३२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष सर्व प्राणियों

विषे आपने आत्मा की न्याई सुख को अथवा दुख को तुल्य ही देखै है । सो ब्रह्म वेत्ता योगी पुरुष श्रेष्ट मान्या जावै है ॥८३५॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥८३६॥

गीता अ० ६ श्लो० ३० ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो योगी पुरुष सर्व प्रपंच विषे मुझ परमेश्वर को देखे है । तथा तिस प्रपंच को मुझ परमेश्वर विषे देखे है। तिस योगी पुरुष को मैं परमेश्वर परोक्ष नहीं होवौं हूं । तथा सो योगी पुरुष मुझ परमेश्वर को भी परोक्ष नहीं होवै है ॥८३६॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः ॥८३७॥ गी० अ० ६ श्लोक २९

अर्थ—हे अर्जुन ! स्थावर जंगम शरीर रूप जितने भूत हैं तिन सर्व भुतों विषे भोक्ता रूप करिकै स्थित हुआ जो एक अद्वितीय विभू सचिदानंद रूप प्रत्यक् साक्षी आत्मा है। तिस प्रत्यक साक्षी आत्मा को अनृत जड परिच्छिन्न दुःख रूप साक्ष्य पदार्थों तैं पृथक करिकै साक्षात्कार करै है । तथा तिस प्रत्यक साक्षी आत्मा विषे अध्यासिक संबंध करिकै स्थित जे मिथ्या भूत परिछिन्न जड दुःख रूप सर्व भूत है । साक्ष्य रूप सर्व भूतों को तिस प्रत्यकसाक्षि आत्मा विषे कल्पित रूप करिकै साक्षात्कार करै है । कौन पुरुष तिन्हों को साक्षात्कार करै है । ऐसी अर्जुन की जिज्ञासा के हुये कहै हैं। (योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः) तहां नित्य नित्य वस्तु के विचार की परम कुशलता रूप योग करिकै युक्त हुआ है क्या प्रसाद को प्राप्त हुआ है आत्मा क्या अंतः करण जिस का ताका नाम योग युक्तात्मा है तथा ता योग जन्य जीव ब्रह्म का अभेद रूप प्रत्यक्ष ज्ञान करिकै एक ही काल विषे सर्व सूक्ष्म वस्तुओं के तथा व्यवहित वस्तुवों को तथा विप्रकृष्ट वस्तुवों को तुल्य ही देखे है । इस प्रकार तैं सर्व वस्तुवों विषे समान है दर्शन जिस का ताका नाम समदर्शन है ॥८३७॥

श्रीरामचंद्रजी का उपदेश लक्ष्मण को पंचबटी में ।

आत्मा सर्वत्र पूर्णः स्याच्चिदानंदात्मकोऽव्ययः । बुद्ध्याद्युपाधि रहितः परिणामादि वर्जितः ॥८३८॥ राम गीता

अर्थ—श्री रामचन्द्र जी बोले हे लक्ष्मण यह आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक है । तथा सत चित आनंद स्वरूप अविनाशी है । बुद्धि आदिक संघात सें असंग है। वा परिणामादिक विकारों सें रहित है ॥८३८॥

स्वप्रकाशेन देहादिन्भासयन्न न पावृतः । एक एवा द्वितीयश्च सत्यज्ञानादि लक्षणः ॥८३९॥ राम गीता

अर्थ—आपने प्रकाश सें देह से आदि लै कै सर्व जगत का प्रकाश करै इस लिये स्वयं प्रकाश अद्वितीय सत्य स्वरूप है तथा सजातीय विजातीय स्वगत भेद सें रहित एक ही है तथा ज्ञान रूप है तथा आनंत है ॥८३९॥

इतनैं करिकै इच्छा रूप काम के अभाव विषे परमानंद आत्मा की प्राप्ति की कारणता निरूपण करी। अब लोक प्रसिद्ध दृष्टांत करिकैं

भी ता अर्थ का निरूपण करैं हैं। हे देवताओ! या लोक विषे जो पुरुष धनादिक पदार्थों की इच्छा करिकै युक्त हैं। तिन पुरुषों को ता धनादिक पदार्थों की इच्छा करिकै परम दुःख की प्राप्ति होवै है। काहेतैं या लोक विषे धनादिक पदार्थों की इच्छा तैं रहित जो संतोष वान है तिन संतोष वान पुरुषों को परम सुख की प्राप्ति होवै है। काहेतैं या लोक विषे धनादिक पदार्थों की तृष्णा करिकै युक्त जो धनी पुरुष है। ते धनी पुरुष धन की प्राप्ति वास्ते राजादिकों की सेवा करे है। ता सेवा आदिकों करिकै परम दुःख को प्राप्त होइ कै कदाचित या किंचत मात्र राज सुख को प्राप्त होवै। और सर्व कामनाओं तैं रहित तथा यथा लाभ विषे संतुष्ट ऐसा जो संतोष वान पुरुष है। सो यद्यपि दरिद्री है तथापि संतोष वान पुरुष परम सात्विक सुख को प्राप्त होवै है। या तैं सर्व कामनाओं का अभाव रूप संतोष ही जीवों के सुख का कारण है। तहां श्लोक—

अपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामायं प्रविशंति सर्वे स शांति माप्नोति न काम कामी ॥८४०॥ गीता अ० २ श्लोक ७० ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिस प्रकार सर्व नादियों करिकै पूर्ण करे हुये तथा अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र को वर्षा के जल प्रवेश करैं हैं। तिस प्रकार जिस स्थित प्रज्ञ पुरुष को सर्व शब्दादिक विषय प्रवेश करैं हैं। सो स्थित प्रज्ञ पुरुष ही सर्व विक्षेप की निवृत्ति रूप शांति को प्राप्त होवै है। विषयों की कामना वाला पुरुष ता शांति को प्राप्त होवै नहीं ॥८४०॥

यदृच्छा लाभ संतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवद्ध्यते ॥८४१॥

गीता अ० ४ श्लोक २२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष यदृच्छा लाभ करिकै संतुष्ट है तथा द्वंद्व धर्मों तैं रहित है तथा मत्सर ता तैं रहित है। प्राप्ति विषे तथा अप्राप्ति विषे समान है सो पुरुष तिन भिक्षाटनादिक धर्मों को करिकै भी नहीं बंध को प्राप्त होवै है ॥८४१॥

निर्मान मोहा जित संग दोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्तकामाः। द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुख दुःख संज्ञैर्गच्छंत्य मूढाः पदमव्ययं तत् ॥८४२॥

गीता अ० १५ श्लोक ५॥

अर्थ—हे अर्जुन! मान मोह दोनों निवृत्त हुये हैं जिन्हों के तथा जीता है संग दोष जिन्हों नैं परमात्मा के स्वरूप के विचार विषे तत्पर तथा निवृत्त हुये हैं काम जिन्हों के तथा सुख दुःख नाम वाले शीत उष्णादिक द्वंद्वों नैं परित्याग करै हुये हैं ऐसे विद्वान पुरुष तिस अव्यय पद को प्राप्त होवे हैं ॥८४२॥

किंवा या लोक विषे तृष्णा करिकै युक्त जो धनी पुरुष हैं तिनों को चोर अग्नि राजा आदिकों तैं भय प्राप्त होवै है। और संतोष वान दरिद्री पुरुष को चौरादिकों तैं भय प्राप्त होवै नहीं। इस वास्तैं भी संतोष वान पुरुष परम सुखी है। किंवा सर्व कामानाओं का अभाव-रूप सन्तोष थोड़े उद्यम करके भी पुरुष को सुख की ही प्राप्ति करे है। यातैं सन्तोष विषे सुख की कारणता का निश्चय है। और इच्छा-

रूप काम महान उद्यम करके भी पुरुष को दुःख की ही प्राप्ति करे है। यातैं इच्छारूप काम विषे सुख की कारणता का संशय है। और जैसे कंटकादिकों तैं पादों की रक्षा करने हारा जो चर्म का उपानह जूति है सो उपानह मार्ग विषे चलने हारे पुरुषों के सुख का कारण होवे है। तैसे सर्व कामनाओं का अभाव रूप यह सन्तोष भी जीवों के परम सुख का कारण होवे है। और जैसे मार्ग विषे चलने हारा कोई पुरुष या प्रकार का संकल्प करे कि मैं सम्पूर्ण पृथ्वी को कंटकादिकों तैं रहित करों तथा कोमलकरों। या प्रकार हमारे को पादों विषे कंटकादिक नहीं लागैं। या प्रकार का संकल्प करके जो पुरुष तिसके उपाय विषे प्रावृत्त होवे है। सो मूढ बुद्धि पुरुष परम दुःख को ही प्राप्त होवे है। काहे तैं सम्पूर्ण पृथ्वी कंटको तैं रहित होनी तथा कोमल होनी असन्त दुर्घट है। तैसे इच्छारूप काम के विषय जितनेक पदार्थ हैं। तिन सम्पूर्ण पदार्थों को मैं प्राप्त होवे। या प्रकार संकल्प करके जो पुरुष तिन पदार्थों की प्राप्ति वास्ते प्रयत्न करे है। सो मूढ़ बुद्धि पुरुष परम दुःख को प्राप्त होवे है। काहे तैं पुरुषों की इच्छारूप काम के विषय जितनेक पदार्थ हैं। तिन सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति होनी असन्त दुर्घट हैं। या कारण तैं सकाम पुरुषों को दुःख की ही प्राप्ति होवे है। तहां श्लोक—

काममाश्रित्यदुष्पूरं दंभमान मदान्विताः मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्रहान्प्रवर्त्ततेऽशुचिव्रताः ॥८४३॥

गी० अ० १६ श्लो० १०

अर्थ—हे अर्जुन ! दुष्पूर काम को आश्रायण करके दम्भ मान मद करके युक्त हुए तथा अशुचिव्रत वाले हुए ते असर पुरुष अविवेक तैं अशुभ निश्चयों को ग्रहण करके वेद विरुद्ध कर्मों के विषे ही प्रवृत्त होवे हैं। तिस प्रवृत्ति तैं नरक विषे ही पतन होवे हैं ॥८४३॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः। कामोप भोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥८४४॥

गी० अ० १६ श्लो० ११

अर्थ—हे अर्जुन ! तथा मरण पर्यंत स्थित अपरिमित चिंताको जिन्होंने आश्रायण किया है। तथा शब्दादिक विषयों का भोग ही है परम पुरुषार्थ जिन्हों को तथा यह विषय जन्य दृष्ट ही सुख है। इस प्रकार है निश्चय जिन्हों को ऐसे निश्चय वाले पुरुष परम दुःख को प्राप्त होवे है ॥८४४॥

आशापाश शतैर्बद्धाः कामक्रोध परायणाः। ईहते कामभोगार्थ मन्यायेनार्थ संचयान् ॥८४५॥

गी० अ० १६ श्लोक १२

अर्थ—हे अर्जुन ! आशारूप पाशों के समूह करके बांधे हुए हैं तथा काम क्रोध दोनों हैं आश्रय जिन्हों को ऐसे ते असर पुरुष विषय भोग वास्ते ही अन्याय करके धनादिक पदार्थों को इच्छने हैं ८४५॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्सेमनोरथम्। इदमस्तीदमपि मेभविष्यतिपुनर्धनम् ॥८४६॥ गी० अ० १६ श्लो० १३

अर्थ—हे अर्जुन ! यह धन इस काल विषे हमने पाया है इस मनोरथ को मैं शीघ्र ही प्राप्त होऊंगा ! तथा यह धन हमारे गृह विषे पूर्व ही

विद्यमान है । तथा यह धन भी अगले साल विषे पुनः बहुत होवेगा ॥८४६॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि । ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥८४७॥ गी० अ० १६ श्लोक १४

अर्थ—हे अर्जुन ! हमने यह शत्रु हनन करा है तथा दूसरे शत्रुवों को भी मैं हनन करूंगा मैं ईश्वर हूं तथा मैं भोगी हूं तथा मैं सिद्ध हूं तथा मैं बलवान हूं तथा मैं सुखी हूं ॥८४७॥

आढ्योऽभि जनवानस्मि कोऽन्योस्तिसदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्य ज्ञान विमोहिताः ॥८४८॥
गी० अ० १६ श्लो० १५

अर्थ—हे अर्जुन ! धनवान् तथा कुलवान मैं ही हूं या तैं हमारे सदृश दूसरा कौन है मैं यज्ञ को करूंगा तथा दान करूंगा तिसतैं हर्ष को प्राप्त होवूंगा इस प्रकार तैं असुर पुरुष अविवेक तैं मोह को प्राप्त होवे हैं ॥८४८॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोह जालसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥८४९॥ गी० अ० १६ श्लो० १६

अर्थ—हे अर्जुन ! अनेक दुष्ट संकल्पों करके विभ्रांत हुए तथा मोहरूप जाल करके अवृत्त हुए तथा बिषय भोगों विषे असन्त असक्त हुए तिन असुर पुरुषों का अशुचि नरक विषे ही पतन होवे है ॥८४९॥

और सर्व कामनाओं के परित्याग तैं जो सुख निष्काम पुरुष को होवे है । सो सुख चक्रवर्ति राजा को भी नहीं होवे है । तथा सो सुख स्वर्ग विषे देवराज इन्द्र को भी नहीं होवे है । तथा सो सुख ब्रह्मलोक विषे ब्रह्मा को भी नहीं होवे है । काहे तैं चक्रवर्ति राजा तैं आदि लेके ब्रह्मापर्यंत जितनेक विषय सुख हैं । ते सुख कर्म उपासनादिक साधनों करके जन्य हैं या कारण तैं ते सुख नाशवान हैं । तहां श्रुति—

यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयते एवमेवा मुत्र पुण्य चितोलोकः क्षीयते ८५०

अर्थ—जैसे या मनुष्य लोक विषे गृहादिक पदार्थ शरीर के व्यापार रूप कर्म करके रचित है या तैं ते गृहादिक पदार्थ कोई काल पायके क्षय को प्राप्त होवे हैं । तैसे स्वर्ग लोक तैं आदि लेके ब्रह्मलोक पर्यंत जितनेक लोक हैं ते सर्व जीवों के पुण्य उपासना रूप कर्म करके रचित हैं । ते लोक भी कोई काल पाय के क्षय को प्राप्त होवे हैं ॥८५०॥

यां श्रुति प्रमाण तैं तथा जो जो पदार्थ उत्पत्ति वाला होवे है । सो सो पदार्थ नाशवान होवे । जैसे घटादिक पदार्थ हैं । या अनुमान प्रमाण करिकै तिन स्वर्गादिक लोकों विषे अनित्यता सिद्ध होवे है । और जो पदार्थ नाशवान होवे है सो पदार्थ बियोग काल विषे अवश्य दुःख की प्राप्ति करे है । या तैं चक्रवर्ती राजा तैं आदि लैके ब्रह्मापर्यन्त जितनेक विषय जन्य सुख हैं ते सुख परिणाम काल विषे दुःख के हेतु होने तैं दुःख रूप ही होवे है । तहां श्लोक—

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥८५१॥ गी० अ० ८ श्लोक १६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक सहित सर्वलोक पुनरावृत्ति वाले ही हैं हे कुंति पुत्र एक मैं परमेश्वर को ही प्राप्त होइकै पुनः जन्म को प्राप्त

नहीं होवे है ॥८५१॥

न सुखं सर्व भौमस्य विद्यते न बिडौजसः। ब्राह्मणेन सुखं यत्स्यात् पुंसः काम विवर्जिनात्॥८५२॥

अर्थ—सर्व कामनाओं के अभाव तैं यो निष्काम पुरुष को जो सुख होवे है। सो सुख चक्रवर्त्ती राजा को तथा इन्द्र को तथा ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं होवे है ॥८५२॥

और हे देवताओ! विषय जन्य सुख की इच्छा रूप काम ही यां जीवों को आत्मसाक्षात्कार विषे प्रतिबन्धक है। सो इच्छा रूप काम जिस पुरुष का निवृत्त भया है तिस निष्काम पुरुष का गुरू उपदिष्ट महावाक्य तैं मैं ब्रह्मरूप हूं या प्रकार के आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होवे है। और ता आत्मसाक्षात्कार करिकै तिस निष्काम पुरुष के पुण्य पाप रूप संचित कर्मों का नाश होवे है। और ते पुण्य पाप रूप कर्म ही वासना की उत्पत्ति द्वारा लोकांतर के प्राप्ति का कारण होवे है। या तैं तिन पुण्य पाप रूप कर्मों के नाश हुए ता विद्वान् पुरुष की वासना किसी लोक विषे जावे नहीं। या कारण तैं ता विद्वान् पुरुष का लिंग शरीर लोकांतर विषे जावे नहीं। किन्तु जैसे गृह विषे स्थित दीपक का गृह विषे ही लय होवे है। तैसे प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तैं अनन्तर ता विद्वान् पुरुष के मन सहित इन्द्रिय प्राण शरीर के भीतर ही अधिष्ठान आत्मा विषे लय भाव को प्राप्त होवे हैं। तहां श्रुति—

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्क्रमेत्। छिन्न पाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥८५३॥

क्षुरिकोपनिषत् मं० २२॥

अर्थ—जैसे हंस पक्षी की बन्धन रूपी पाश टूट जाने से अकाश मार्ग में निःशंक होइकै उत्क्रमण करे है। तैसे यह जीवात्मा आत्मा के साक्षात्कार से सर्व बन्धनों से मुक्त हुआ सदैव काल के लिए संसार से तर जाता है ॥८५३॥

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा-लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वालयं व्रजेत् ॥८५४॥

क्षुरकोपनिषत् मं० २३॥

अर्थ—जैसे दीपक दग्ध होइकै निर्वाण काल में पुनः लय भाव को प्राप्त होजाता है। तैसे विद्वान् सर्व संचित् किरेमान कर्मों को आत्मसाक्षात्कार रूप अग्नि से दग्ध करिकै ब्रह्म में घटाकाश महाकाश की जल में जल की दूध में दूध की घृत में घृत की न्याईं लयभाव को प्राप्त होवे है ॥८५४॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानु पश्यंति पश्यंति ज्ञान चक्षुषः ॥८५५॥

गी० अ० १५॥ श्लोक १०॥

अर्थ—हे अर्जुन! उत्क्रमण करते हुए अथवा तिसी ही देह विषे स्थित हुए अथवा विषयों को भोगते हुए तथा गुणों करिकै युक्त हुए ऐसे आत्मा को भी विमूढ पुरुष नहीं देख सकते हैं किंतु ज्ञान रूप चक्षु वाले पुरुष ही तिस आत्मा को देखते हैं ॥८५५॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥८५६॥ गी० अ० ४ श्लोक ३७॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्टों को भस्मीभूत करे है तैसे ज्ञान रूपी अग्नि सर्व कर्मों को भस्मीभूत करै है ॥८५६॥

न तस्य प्राणा उत्क्रामत्य त्रैव समवलीयंते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद ॥८५७॥ सुवालोपनिषत् खं० ३॥

अर्थ—जैसे मरण तैं अनन्तर अज्ञानी जीवों के प्राण वासना के अनुसार लोकांतर विषे गमन करे है। तैसे वासना राहित विद्वान् के प्राण किसी लोकांतर विषे गमन करे नहीं । किन्तु शरीर के भीतर ही अधिष्ठान आत्मा विषे लय भाव को प्राप्त होवे है ॥८५७॥

शंका—हे भगवन् ! मरण काल विषे ता विद्वान् पुरुष के प्राणादिकों के लय हुए भी ता पुरुष का चैतन्यभाग कहां जावे है । समाधान—हे देवताओ ! सो विद्वान् पुरुष आत्मसाक्षात्कार तैं पूर्व भी ब्रह्मरूप ही था परन्तु आत्मसाक्षात्कार तैं पूर्व सो विद्वान् पुरुष अज्ञान करिकै आवृत्त ब्रह्मरूप था । और आत्मसाक्षात्कार तैं अनन्तर सो विद्वान् पुरुष अज्ञानरूप आवरण तैं रहित शुद्ध ब्रह्मरूप होवे है । सो शुद्ध ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण हैं या तैं ता ब्रह्म का कहीं भी गमनागमन होवे नहीं । तहां श्लोक—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः । यद्गत्वा न निवर्त्तंते तद्धाम परमं मम ॥८५८॥ गी० अ० १५ श्लोक ६॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस पद को प्राप्त होइकै तत्त्ववेत्ता पुरुष नहीं आवृत्ति को प्राप्त होवे है । तिस पद को सूर्य भी नहीं प्रकाश करिसके है तथा चन्द्रमा भी नहीं प्रकाश करिसकै है तथा अग्नि भी नहीं प्रकाश करिसकै है जिस कारण तैं मैं विष्णु का स्वरूप भूत सो पद सर्व तैं उत्कृष्ट स्वयं प्रकाश स्वरूप है ॥८५८॥

यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८५९॥ तृती० मुं० खं० २ मं० ८॥

अर्थ—जैसे गंगादिक नदीयां चलती हुई समुद्र को प्राप्त होइकै नाम रूप को त्याग के समुद्र विषे समुद्र रूप ही होवे है । तैसे विद्वान् अविद्या कृत नाम रूप तैं मुक्त हुआ पूर्व उक्त अक्षर रूप परतैं पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्म रूप ही होता है ॥८५९॥

अब याही अर्थ को दृष्टांत करिकै स्पष्ट करे है । जैसे घट विषे स्थित जो अकाश है सो अकाश घट के नाश तैं पूर्व भी महाकाश रूप ही है । परंतु घट रूप उपाधि के संबंध तैं सो आकाश घटाकाश संज्ञा को प्राप्त होवै है। और घट रूप उपाधि के नाश तैं अनंतर सोई ही अकाश घटाकाश संज्ञा का परित्याग करिकै महाकाश रूप ही होवै है । तैसे विद्वान पुरुष का आत्मा शरीरादिक उपाधियों के विद्यमान हुये भी ब्रह्म रूप ही है । और शरीरादिक उपाधियों के निवृत्त हुये तैं अनंतर सो विद्वान पुरुष का आत्मा ब्रह्म रूप हुआ ही ब्रह्म रूप होवै है । जैसे अज्ञान का विषय हुआ शुद्ध अकाश गंधर्व नगर रूप वृक्ष का कारण होवै है । तैसे अज्ञान का विषय हुआ यह आत्मा देव काम रूप बीज सहित या संसार रूप वृक्ष का कारण होवै है । और जैसे अकाश रूप अधिष्ठान के वास्तव ज्ञान करिकै ता कल्पित गंधर्व नगर की निवृत्ति होवै है । तैसे अधिष्ठान रूप शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार करिकै

यह संसार रूप नष्ट होवै है । तात्पर्य यह है कि आत्मा के अज्ञान तैं इच्छा रूप काम की उत्पत्ति होवै है । और ता इच्छा रूप काम तैं संपूर्ण जगत की उत्पति होवै है । या तैं अज्ञान विशिष्ट आत्मा या संसार रूप वृक्ष के उत्पत्ति का क्षेत्र है । और इच्छा रूप काम या संसार रूप वृक्ष का बीज है । आत्म साक्षात्कार रूप अग्नि करिकै जभी अज्ञान का नाश होवै है । तभी अज्ञान विशिष्ट आत्मा रूप क्षेत्र का भी नाश होवै है । यद्यपि आत्मा नित्य है या तैं आत्मा का नाश संभवै नहीं । तथापि शुद्ध आत्मा विषे तो संसार रूप वृक्ष की कारणता है नहीं । किंतु अज्ञान विशिष्ट आत्मा विषे क्षेत्र रूपता है । ता अज्ञान रूप विशेषण के नाश हुये आत्मा विषे संसार रूप वृक्ष की क्षेत्र रूपता रहै नहीं । और ता क्षेत्र के नाश हुये काम रूप बीज का भी नाश होवै है इस प्रकार आत्म साक्षात्कार करिकै नाश को प्राप्त हुआ सो संसार रूप वृक्ष पुनः उत्पन्न होवै नहीं। अब या ही अर्थको स्पष्ट करिकै निरूपण करे हैं। हे देवताओ ! पुत्रेषणा वित्तेषणा लोकेषणा यह तीन प्रकार की एषणा जभी या पुरुष की निवृत्त होवै है । तभी यह पुरुष इसी शरीर विषे अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त होइ कै मोक्ष को प्राप्त होवै । देहादिकों विषे जो अहं अभिमान रूप अध्यास है तथा देह के संबंधी पुत्र धनादिक पदार्थों विषे जो मम अभिमान रूप अध्यास है। सो अहं मम अभिमान ही सर्व कामनाओं का कारण है । ता अहंमम अभिमान को यद्यपि मरण तैं अनंतर सर्व अज्ञानी जीव भी परित्याग करै हैं। तथापि जो पुरुष जीवित अवस्था विषे ही ता अहंमम अभिमान का परित्याग करै हैं। सो पुरुष या शरीर विषे स्थित हुआ भी मुक्त ही जानना। काहे तैं इच्छा रूप काम का जो हृदय देश विषे निवास है ताको बुद्धिमान पुरुष संस्कार रूप बंधकहै हैं। और तिस इच्छा रूप काम का जो हृदय देश विषे अभाव है। ताको बुद्धिमान पुरुष मोक्ष कहे हैं । और सो इच्छा रूप काम का नाश ब्रह्म ज्ञान तैं विना होवै नहीं । किन्तु ब्रह्म ज्ञान करिकै ही अविद्या की निवृत्ति द्वारा ता इच्छा रूप काम का नाश होवै । और सो ब्रह्म ज्ञान जभी या पुरुष को जीवित अवस्था विषे प्राप्त होवै है। तभी या शरीर के विद्यमान हुये भी सो विद्वान जीवन्मुक्ति को प्राप्त होवै है । या तैं हे देवताओ ! जभी आत्म साक्षात्कार के प्रभाव तैं यह विद्वान पुरुष शरीरादिक उपाधियों के विद्यमान हुये भी जीवन्मुक्ति को प्राप्त होवै है। तभी शरीरादिक उपाधियों के नाश तैं अनंतर सो विद्वान पुरुष विदेह मुक्ति को प्राप्त होवै है। या के विषे क्या कहना है।

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः। आत्मा मात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥८६०॥

तेजोविंदू उप० अ० ४ मं० १ ॥

अर्थ—मैं चिदात्मा हूं परमात्मा हूं निर्गुण हूं मैं परे से परे हूं। जो आत्मा मात्र रूप से स्थित है सो जीवन्मुक्त है ॥८६०॥

देह त्रयातिरिक्तोऽहं शुद्ध चैतन्यमस्म्यहम । ब्रह्माहं मित यस्यांतः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥८६१॥

तेजोविंदू उप० अ० ४ मं० २ ॥

अर्थ—मैं तीनों देहों से भिन्न हूं मैं शुद्ध चैतन्य हूं। मैं शुद्ध ब्रह्म हूं इस प्रकार जिस के

अन्तःकरण में निश्चय है सो जीवन्मुक्त है ॥८६१॥

आनन्द घनरूपोऽस्मि परानन्द घनोऽस्म्यहम् । यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः । परमानन्द पूर्णो यः स जीवन्मुक्तो उच्यते ॥८६२॥

तेजोविंदु उप० अ० ४ मं० ३

अर्थ—मैं आनन्दघन रूप हूं मैं परमानन्द-घन हूं । जिस के निश्चय में देहादिक नहीं है । जिस के निश्चय में मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार का निश्चय है मैं परमानन्द पूर्ण हूं जो इस प्रकार की स्थिति वाला है सो जीवन्मुक्त है ॥८६२॥

यस्य किंचिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावितिष्ठते । चैतन्य मात्रो यस्यां तश्चिन्मात्रैक स्वरूपवान् ॥८६३॥

तेजोविंदु उपनि० अ० ४ ॥

अर्थ—जिस के चित में किंचत मात्र भी मैं हंकारादिक नहीं हूं मैं चिन्मात्र रूप से स्थित हूं । जिस के अंतःकरण में मैं चिन्मात्र हूं मैं चिन्मात्र एक स्वरूपवान हूं ॥८६३॥

सर्वत्र पूर्णरूपात्मा सर्वत्रात्याविशेषकः । आनन्दरति रव्यक्तः परिपूर्ण श्चिदात्मकः ॥८६४॥ तेजोविंदु उप० अ० ४ मं० २

अर्थ—मैं सर्वत्र पूर्ण रूपात्मा हूं मैं सर्वत्रात्मा विशेष रूप हूं । मैं आनंद में रति वाला हूं तथा अव्यक्त हूं मैं परिपूर्ण चिदात्मा हूं ॥८६४॥

शुद्ध चैतन्य रूपात्मा सर्वसङ्ग विवर्जितः । नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ता विवर्जितः ॥८६५॥

तेजोविंदु उप० अ० ४ मं० ६ ॥

अर्थ—मैं शुद्ध चैतन्य रूपात्मा हूं मैं सर्व संग से रहित हूं । मैं नित्यानंद प्रसन्नात्मा हूं मैं अन्य चिंता निर्वजित हूं ॥८६५॥

किंचिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते । न मे चित्तं नमे बुद्धिर्नाहंकारो न चेंद्रियम् ॥८६६॥

तेजोविदू उप० अ० ४ मं० ७ ॥

अर्थ—मैं नाम रूपात्मक किंचत मात्र से हीन हूं जो ऐसे निश्चय में स्थित है सो जीवन मुक्त है । ना मेरा चित्त है । ना मेरी बुद्धि है ना मैं हंकार रूप हूं ना मेरे इंद्रिय हैं ॥८६६॥

नमेदेहः कदाचिद्वान मे प्राणादयः क्वचित् । नमे माया नमे कामो नमे क्रोधः परोऽस्म्यहम् ॥८६७॥

तेजोविन्दू उपनिषद् अ० ४ मं० ८

अर्थ—न मेरी देह है कदाचित् न मेरे कदाचित् प्राण हैं । न मेरे में माया है न मेरे में क्रोध है न मेरे काम है मैं सर्व से परे स्थित हूं ॥८६७॥

निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते । स सर्वदा भवंद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥८६८॥

अध्यात्मोपनिषद् । मं० ४४

अर्थ—जिस महात्मा पुरुष की चिन्मात्र में अन्तःकरण की वृत्ति की निर्विकल्परूप से सर्वदा काल स्थिति होती है सो पुरुष जीवन्मुक्त है इस प्रकार बुद्धिमान कथन करे हैं ८६८

देहेन्द्रियेष्वऽहं भाव इदं भावस्तदन्य के यस्यनोभवतः क्वापि स जविन्मुक्त इष्यते ॥८६९॥

अध्यात्मोपनिषद् मं० ४५

अर्थ—देह इन्द्रियों विषे जिस विद्वान का अहंभाव नहीं स्फुर्ण होवे है तथा नामरूप प्रपंच में भी आपने से भिन्न इदं रूप से जिसको कदाचित् भी नहीं स्फुर्ण होवे है सो जीवन्मुक्त है ॥८६९॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः । प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥८७०॥

अध्यात्मोपनिषद् मं० ४६

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष प्रत्यक्चैतन्य आत्मा से ब्रह्म का भेद इस ब्रह्मसर्ग में कदाचित् भी नहीं देखता है । इस नाम रूपात्म जगत् को ब्रह्मरूप ही जो जानता है सो जीवन्मुक्त है ॥८७०॥

साधुभिः पूज्यमानोऽस्मिन्पीड्यमानोऽपि दुर्जनैः । समभावोभवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥८७१॥

आध्यात्मोनिप० मं० ४७

अर्थ—जिस विद्वान की साधू पूजा करे और दुर्जनों के पीड़ा देने से समभाव जिस का होवे सो विद्वान जीवन्मुक्त है ॥८७१॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटि शतार्जितम् । संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥८७२॥

अध्यात्मोपनिषद् मं० ५०

अर्थ—मैं ब्रह्म रूप हूं इस ज्ञान करिकै शतकोटि कल्प के संचित किये मान शुभाशुभ कर्म सर्व ही नष्ट होजाते हैं। जैसे स्वप्न अवस्था में किये हुए शुभाशुभ कर्म जाग्रत होने से सर्व ही नष्ट हो जाते हैं ॥८७२॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञायनभोयथा । न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥८७३॥

अध्यात्मोपनिषद् मं० ५१

अर्थ—जैसे नभ को असंग उदासीन जान करिकै । तैसे स्वयति संन्यासी भी कदाचित भावी कर्मों में लिपायमान नहीं होवे है ॥८७३॥

ननभो घटयोगेन सुरागंधेनलिप्यते । तथात्मोपाधि योगेन तद्धर्मैनैव लिप्यते ॥८७४॥ अध्यामोपनिषद् मं० ५२

अर्थ—जैसे घटाकाश घट उपाधि के संयोग करिकै सुरागंधेन सुरा की गन्ध करिकै अकाश लिपायमान नहीं होवे है । तैसे आत्मा शरीर रूप उपाधि के संयोग करिकै तिस के धर्मों से लिपायेमान नहीं होवे है ॥८७४॥

अकर्ताहमभोक्ता हम विकारोऽहमव्ययः । शुद्धो वोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥८७५॥ अध्यात्मोपनिषद् मं० ६९

अर्थ—मैं अकर्ता हूं मैं अभोक्ता हूं मैं निर्विकार हूं तथा मैं अव्यय हूं । तथा मैं शुद्ध हूं तथा मैं बोध स्वरूप हूं तथा मैं केवल सदाशिव हूं ॥८७५॥

दिक्कालाद्यनवछिन्नं स्वच्छं नित्योदिंततम । सर्वार्थमयमेकार्थं चिन्मात्रममलंभव ॥८७६॥

अनपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० ६६

अर्थ—देशकाल वस्तु के प्रच्छेद से रहित स्वच्छ नित्य सर्व को व्याप्त करके स्थित । सर्व रूप एक अविद्यामल से रहित चिन्मात्र अर्थ

होवो ॥८७६॥

सर्वमेकमिदं शांतमादि मध्यांत वर्जितम् । भावाभाव मजं सर्वमिति मत्वा सुखीभव ॥८७७॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० मं० ६७

अर्थ—यह सर्व एक है शांत है आदि मध्य अन्त से रहित है भावाभाव सर्व अजरूप है इस प्रकार जान करके सुखी हो ॥९७७॥

बद्धोऽस्मिन मुक्तोऽस्मि ब्रह्मैनास्मि निरामयम् । द्वैतभाव विमुक्तोऽस्मि सच्चिदानन्द लक्षणः । एवंभावययत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥८७८॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० ६८

अर्थ—मैं बन्ध नहीं हूं मैं मुक्त रूप नहीं हूं निरमय दुःख सम्बन्ध से रहित मैं ब्रह्म हूं द्वैतभाव से मैं मुक्त हूं सत्‌चित्‌ आनन्द लक्षण युक्त हूं । इसप्रकार की भावना यत्न से करो जीवन्मुक्तो भविष्यसि जीवन मुक्त होजावोगे ८७८

पदार्थ वृंदे देहादि धिया संत्यज-दूरता । आशीतलांतः करणा नित्यमा-त्मपरोभव ॥८७९॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० ६९

अर्थ—सर्व देहादिक समूह पदार्थों को बुद्धिमान दूर तैं ही त्याग देवे । अन्तःकरण को अत्यन्त शीतल करिकै अर्थात सर्व का त्याग क्या मिथ्या निश्चय करिकै नित्य ही आत्म परायण हो ॥८७९॥

इदं रम्यमिदं नेति बीजंते दुःख-संतते । तस्मिन्साम्याग्नि ना दग्धे दु.ख-स्यावसरः कुतः ॥८८०॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० ७०

अर्थ—यह चीज अच्छी है यह अच्छी नहीं है यह एक रस दुःख का बीज है तिस दुःखों के बीज को सम दर्शन रूप अग्नि से दग्ध करने से दुःखों का अवसर कहा है ॥८८०॥

यथाकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः । तथा भ्रांतेर्द्विधाप्रोक्तो ह्यात्माजीवेश्वरामना ॥८८१॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० ७७

अर्थ—जैसे एक महाकाश में घटाकाश और महाकाश दोनों भिन्न २ प्रतीती के विषय प्रतीत होवे हैं । तैसे ही भ्रांति से दो प्रकार का जीव ईश्वर को आपने अन्तःकरण में निश्चय करते हैं ॥८८१॥

यदामनासि चैतन्यं भाति सर्वत्र गंसदा । योगीनोऽऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम् ॥८८२॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ५ मं० ७८

अर्थ—जिस काल में यह विद्वान् आपने मन से सर्वत्र पूर्ण चैतन्य को सदैव काल देखता है । तिस काल में विद्वान यह अखण्ड एक रस ब्रह्म को स्वयं ही प्राप्त होता है ॥८८२॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति । सर्व भूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥८८३॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ५ मंत्र ७९ ॥

अर्थ—जिस काल विषय यह विद्वान सर्व भूतों को अपने आत्मा में देखता है तथा सर्व भूतों में आपने आत्मा को देखता है । तिस

काल विषे व्यापक ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥८८३॥

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति । एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥८८४॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ५ मं० ८० ॥

अर्थ—जिस काल में समाधि में स्थित को सर्व नाम रूपात्मक प्रपंच को नहीं देखेगा एक रूप सर्व से परे चिन्मय वस्तु को देखेगा तिस काल में सो विद्वान के वली भाव को प्राप्त होता है ॥८८४॥

सर्व कर्म परित्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः । न पुण्येन न पापेन नेतरेण च लिप्यते ॥८८५॥ अन्नपूर्णो० अ० ५ मं० ९७

अर्थ—सर्व कर्मों का परित्याग करिकै तथा निराश्रय नित्य तृप्त है न पुण्य में न पाप में न इतर पदार्थों में लिपायमान नहीं होता है ॥८८५॥

स्पटिकः प्रतिबिंबेन यथा नायाति रञ्जनम् । तज्ज्ञः कर्म फलेनान्तस्तथा नायाति रञ्जनम् ॥८८६॥

अन्नपूर्णोप० अ० ५ मं० ९८ ॥

अर्थ—जैसे स्पटिकमणि प्रबिंब करिकै रञ्जनभाव को प्राप्त नहीं होती । तैसे ही तत्त्व वेत्ता विद्वान शुभाशुभ कर्मों के फल करिकै अंतःकरण से लिपायमान नहीं होवै है ॥८८६॥

तनुं त्यजतु वा तीर्थेश्वपचस्य गृहेऽथवा । ज्ञान संपत्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥॥८८७॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अं० ५ मं० १०१ ॥

अर्थ—विद्वान् का शरीर तीर्थों में छूट जावै अथवा चंडाल के गृह में छूट जावै ज्ञान संपति के समय ही सो विद्वान मुक्त है उस की वासना निवृत्त हो गई है ॥८८७॥

संकल्पत्वं हि बंधस्य कारणं तत्परित्यज । मोक्षो भवेद संकल्पात्तदभ्यासं धिया कुरु ॥८८८॥ अन्नपू० अ० ५ मं० १०२

अर्थ—नाना प्रकार के संकल्प ही बंध का कारण है तिन संकल्पों को परित्याग करिकै असंकल्प रूप सर्व संकल्पों के साक्षी का जब बुद्धिमान अभ्यास करेगा तब मुक्ति को प्राप्त होवेगा ॥८८८॥

न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यते न कम्पते न भिद्यते न च्छिद्यते निर्गुणः साक्षी भूतः शुद्धो निरवयवात्मा ॥८८९॥

आत्मोपनिषत् मं० १ ॥

अर्थ—यह आत्मा न उत्पन्न होवे है न मृत्यु को प्राप्त होवे है । न शोषण होवे है । न गलता है न जलता है न कंपायमान होवे है । न भेदन को प्राप्त होवे है । न कटता है निर्गुण है सर्व का साक्षीरूप है शुद्ध है निरवयव है ॥८८९॥

केवलः सूक्ष्मो निर्ममो निरञ्जनो निर्विकारः शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध वर्जितो । निर्विकल्पो निराकाङ्क्षः सर्व व्यापी सोऽचिंत्यो ॥८९०॥

आत्मोपनिषत् मं० २ ॥

अर्थ—आत्मा केवल अद्वितीय है असंत सूक्ष्म है तथा ममता से रहित है निरंजन अविद्या मल से रहित है निर्विकार परिणाम

भाव से रहित है जैसे दूध का दूधी परिणाम है। तथा शब्दादिक विषयों से रहित है। विकल्प ज्ञान का विषय नहीं है। तथा इच्छा रहित है। सर्व में व्यापक है सो आत्मा मन वाणी का अविषय होने तैं अचिंत्य है ॥८९०॥

निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति। आत्म संज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा। ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते ॥८९१॥ आत्मोपनिषत् मं० ३॥

अर्थ—यह आत्मा निष्क्रय है तिस में संसार नहीं है। एक अद्वितीय शुद्ध शिव का ही आत्मा नाम है। त्रयकालाबाध्य ब्रह्मरूप ही ब्रह्म को केवल देखता है ॥८९१॥

जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते। विद्याविद्यादि भेदेन भावाभावादि भेदतः ॥८९२॥ आत्मोपनिषत् मं० २॥

अर्थ—यह जो नामरूपात्मक जगत है सो ब्रह्म ही जगत रूप से भासमान हो रहा है। विद्या अविद्या भेद करके तथा भावाभाव भेद करके सर्वत्र ब्रह्म ही प्रतिभासते प्रतीत हो रहा है ॥८९२॥

गुरु शिष्यादि भेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते। ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने ॥८९३॥ आत्मोपनिषत् मं० ३॥

अर्थ—गुरु शिष्यादि भेद करके ब्रह्म ही प्रतिभासते ब्रह्म ही केवल शुद्ध है इस ब्रह्मरूप जगत् का तत्त्व दृष्टि वाले तत्त्ववेत्ता ही जान सकते हैं ॥८९३॥

श्रेयान्द्रव्य मयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परंतप। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥८९४॥

गीता अ० ४ श्लोक ३३॥

अर्थ—हे अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ तैं ज्ञान यज्ञ अत्यंत श्रेष्ठ है। जिस कारण तैं हे पार्थ सर्व निर्विशेष कर्म ज्ञान विषे ही परिअवसान को प्राप्त होवे है॥

शंका—हे भगवन! जिस आत्मज्ञान विषे सर्व शुभाशुभ कर्मों का पर्यवसान है तिस आत्म ज्ञान की प्राप्ति विषे अत्यंत समीप उपाय कौन है। तहां समाधान का श्लोक ॥८९४॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः ॥८९५॥ गी० अ० ४ श्लोक ३४॥

अर्थ—हे अर्जुन! तिस आत्मज्ञान को तूं ब्रह्मवेत्ता गुरु के आगे दंडवत प्रणाम करके तथा प्रश्न करके तथा सेवा करके प्राप्त होवो ता करके प्रसन्न हुये ते तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु तुम्हारे ताईं ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥८९५॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्य स्यात्मन्यथो मयि ॥८९६॥

गी० अ० ४ श्लोक ३५॥

अर्थ—हे पांडव! जिस पूर्व उक्त ज्ञान को प्राप्त होइके तूं पुनः इस प्रकार के मोह को नहीं प्राप्त होवेगा। जिस कारण तैं जिस ज्ञान करके इन सर्व भूतों को अपने आत्मा विषे तथा मुझ परमेश्वर विषे अभेदरूप करके देखेगा ॥८९६॥

अपि चेदसिपापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप कृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥८९७॥ गी० अ० ४ श्लोक ३६॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो कदाचित तूं सर्व पापकारी पुरुषों तैं अत्यन्त पापकारी भी होवेगा तौ भी तूं ता सर्व पापरूप समुद्र को ज्ञानरूप नौका करके ही तरैंगा ॥८९७॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥८९८॥

गी० अ० ४ श्लोक ३७

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठों को भस्मीभूत करे है तैसे ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मों को भस्मीभूत करे है ॥८९८॥

शंका—हे भगवन ! जीवन्मुक्ति तैं विदेह मुक्ति विषे क्या भेद है। समाधान—आत्माके आश्रित जो मायारूप अविद्या है ता अविद्या की दो प्रकार की शक्ति है। एक तो आवरण शक्ति है दूसरी विक्षेप शक्ति है। सो विक्षेप शक्ति भी दो प्रकार की होवे है। एक तो शरीर विषे तथा शरीर के सम्बन्धी स्त्री धन पुत्रादिकों विषे राग को उत्पन्न करने हारी विक्षेप शक्ति होवे है। और दूसरी प्रपञ्च की प्रतीती करावनेहारी विक्षेप शक्ति होवे है। इन सर्वों का नाम बन्ध है। तहां आत्म साक्षात्कार करके या विद्वान पुरुष काज भी अवरण शक्ति तथा राग का कारण विक्षेप शक्ति यह दोनों प्रकार का बन्ध निवृत्त होवे है। तभी यह विद्वान पुरुष जीवन्मुक्ति अवस्था को प्राप्त होवे है। और जभी प्रपञ्च की प्रतीती करावने हारी विक्षेप शक्ति की निवृत्ति होवे है। तभी यह विद्वान पुरुष विदेह मुक्ति को प्राप्त होवे है। इतनी ही जीवन्मुक्ति तैं विदेह मुक्ति विषे विशेषता है।

शंका—हे भगवान ! जिस काल विषे आत्म साक्षात्कार अवरण शक्ति को तथा राग का कारणरूप विक्षेप शक्ति को नाश करे है। तिस काल विषे सो आत्मसाक्षात्कार प्रपञ्च की प्रतीती करावनेहारी विक्षेप शक्ति को किस वासतैं नहीं नाश करता। समाधान—जिन पुण्य पापरूप प्रारब्ध कर्मों ने विद्वान पुरुष के शरीर का आरंभ किया है ते प्रारब्ध कर्म ता विद्वान पुरुष को सुख दुःख के भोग देणे वास्तैं ता विक्षेप शक्ति को निवृत्त होने देवे नहीं। जभी भोग करके ता प्रारब्ध कर्म का क्षय होवे है। तभी ता विद्वान पुरुष के शरीर का तथा विक्षेप शक्ति का नाश होवे है। तिसतैं अनन्तर सो विद्वान पुरुष विदेह मुक्ति को प्राप्त होवे है।

शंका—हे भगवन ! जीवित अवस्था विषे ता विक्षेप शक्ति करके प्रपञ्च को देखता हुआ सो विद्वान पुरुष अज्ञानी की न्याईं बन्ध को किस वास्ते नहीं प्राप्त होता। समाधान—हे देवताओ ! अज्ञानी जीव आपने आत्मा के तदात्म्य सम्बन्ध करके या स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरादिकों को देखे है। आत्मा को असंग जानता नहीं। इस वास्ते सो अज्ञानी जीव संसार विषे बन्धायमान होवे है। और यह विद्वान पुरुष अपने आत्मा को असंगजानि करके शरीरादिक प्रपञ्च को देखे नहीं। या तैं सो विद्वान पुरुष संसार विषे बन्धायमान होवे नहीं। इस वास्ते ही सो विद्वान पुरुष जीवन्मुक्त है।

शंका—हे भगवन ! रागादिकों तैं रहित जो जीवन्मुक्त विद्वान पुरुष है। ता के खान पानादिक लौकिक व्यवहार किस प्रकार होवेंगे। समाधान—जैसे प्रारब्ध कर्म के वशतैं उन्मत्त पुरुष के तथा बालिक के खान पानादिक व्यवहार होवे हैं। तैसे प्रारब्ध कर्म के वशतैं तां

होवे हैं । तैसे प्रारब्ध कर्म के वशतैं तां जीवन्मुक्त विद्वान पुरुष के भी खान पानादिक व्यवहार होवे हैं । तहां श्रुति—

स्रोतसा नीयते दारू यथा नीम्नोन्नतस्थलम् । दैवेन नीयते देहो यथा कालोपभुक्तिषु ॥८९९॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषद् मं० १८

अर्थ—जैसे नदी के प्रवाह में बहती हुई काष्ट प्रवाह के ही अधीन हुई समुद्र में प्रवेश करे है । तैसे प्रारब्ध के अधीन पुरुष भी खानपान व्यवहार करे है स्वतन्त्र नहीं ॥८९९॥

स्वात्मनैवसदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः । निर्धनोऽपि सदातुष्टोऽप्य सहायो महाबलः ॥९००॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० १२

अर्थ—आपने आत्मा में ही सदैव काल संतुष्ट रहिता है असहायक भी है अर्थात विद्वान को किसी की सहायता नहीं है । परन्तु बलवान है ॥९००॥

तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्टः सदा ब्रह्मैव ना परः । घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ॥९०१॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० २२

अर्थ—तैसे ही ब्रह्मवित श्रेष्ठ है सदैव काल यह जगत ब्रह्म ही है और नहीं है । जैसे घट के नाश होजाने से घटाकाश महाकाश ही स्वयं हो जाता है ॥९०१॥

तथै वोपाधि विलये ब्रह्मैव ब्रह्मविस्स्वयम् । क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैलेजलं जले ॥९०२॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० २४

अर्थ—तैसे ही उपाधि विलय होजाने से जीव स्वयम् ही ब्रह्मवित ब्रह्मरूप हो जाता है जैसे दूध में दूध के मिलाने से तथा तैल में तैल के मिलाने से तथा जल में जल मिलाने से ॥९०२

संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः। एवं विदेह कैवल्यं सन्मात्र त्वम खण्डितम् ॥९०३॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं २४

अर्थ—तैसे आत्मवेत्ता मुनी महात्मा अपने आत्मा तथा परमात्मा के अभेद को चिंतन करता हुआ विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है इस प्रकार सत् मात्र अखण्ड वस्तु को ही प्राप्त होता है ९०३

ब्रह्मैवेद ममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानंदं परमं चैव पश्चात् । ब्रह्मानंदं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानंदं च परमं चोत्तरे च ॥९०४॥　पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० ३०

निष्कले निष्क्रिये शांते निरवद्ये निरञ्जने । अद्वितीये परे तत्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥९०५॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० ३०

अर्थ—निष्फल को निष्क्रिये को शांत को निरवद्यको निरञ्जन को अद्वितीय को परम तत्व को अकाश की न्यांई साक्षात्कार करने से कहां कल्पना हो सकती हैं ॥९०५॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेपिनोपजायंते प्रलये न व्यथाति च ॥९०६॥　गी० अ० १४ श्लो० २

अर्थ—हे अर्जुन ! मुक्ति का साधनरूप इस ज्ञान को अनुष्टान करके मैं परमेश्वर के अद्वितीय निर्गुण स्वरूप को अनन्त अभेद करके प्राप्त हुए विद्वान पुरुष सृष्टि काल विषे भी नहीं उत्पन्न होवे हैं। तथा प्रलय काल विषे भी नहीं लय होवे हैं ॥९०६॥

शंका—हे भगवन ! खान पानादिक व्यवहारों को करता हुआ सो विद्वान् पुरुष तिन पदार्थों विषे रागवान किस वास्ते नहीं होता। समाधान—हे देवताओ ! पदार्थों का विशेष रूप करिकै ज्ञान ही रागद्वेष का कारण होवे है। सो पदार्थों का विशेष ज्ञान विद्वान् पुरुष को होवे नहीं। किंतु जैसे नव मास तैं पूर्व माता के गर्भ विषे स्थित हुआ बालक माता ने भोजन किये जो नाना प्रकार के रस हैं। तिन रसों को भोजन करता हूं अभी विशेष करिकै तिन रसों को जानता नहीं। तैसे आनन्द स्वरूप आत्मा को चिंतन करता हुआ यह विद्वान् पुरुष खान पानादिक व्यवहारों को करता हुआ भी विशेष करिकै तिन व्यवहारों को जानता नहीं। या कारण तैं ता विद्वान् पुरुष का किसी पदार्थ विषे राग द्वेष होवे नहीं। तहां श्लोक—

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्य बन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९०७॥ गी० अ० ६ ॥ श्लोक ९॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सुहृद् मित्र अरि-उदासीन मध्यस्थ द्वेष्य बन्धु इन सर्वों विषे तथा साधुओं विषे तथा पापियों विषे अन्य सर्व प्राणियों विषे सम बुद्धि करने हारा पुरुष सर्व तैं उत्कृष्ट है ॥९०७॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुखःक्षमी ॥९०८॥ गी० अ० १२ श्लो० १३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष सर्वभूतों का अद्वेष्टा है तथा मैत्री वाला ही है तथा करुणा वाला है तथा निर्मम है तथा निरहंकार है तथा सम है दुःख सुख जिसको तथा क्षमा वाला है ९०८

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ निश्चयः। मय्यर्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः॥९०९॥ गी० अ० १२ श्लोक ॥१४॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष सर्वदा संतुष्ट है तथा समाहित चित्त वाला है तथा वश किया है संघात जिस ने तथा दृढ़ है निश्चय जिस का तथा मुझ परमेश्वर विषे अर्पण करे हैं मन बुद्धि जिस ने ऐसा जो मेरा भक्त है सो भक्त मुझ परमेश्वर को प्रिय है ॥९०९॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयान्मुक्तः स च जीवन्मुक्त उच्यते ॥९१०॥

वराहोपनिषत् ॥ अ० ४ ॥ मं० २६ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः सच मे प्रियः ॥९११॥

गी० अ० १२ श्लोक ॥१५॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस पुरुष तैं यह लोक नहीं संताप को प्राप्त होवे है। तथा जो पुरुष तिन लोकों तैं नहीं संताप को प्राप्त होवे है। तथा जो पुरुष हर्ष आम हर्ष भय उद्वेग इन चारों ने परित्याग किया है सो तत्त्ववेत्ता पुरुष मुझ परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय है ॥९११॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो

गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी योमद्भक्तः स मे प्रियः॥९१२॥ गी० अ० १२ श्लोक १६॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष अनपेक्ष है अर्थात् विना ही प्रयत्न तैं यदृच्छामात्र करिकै प्राप्त हुए भी जो भोग के साधन हैं तिन सर्व भोगों के साधनों विषे जो पुरुष निस्पृह है। तथा जो पुरुष शुचि है अर्थात् बाह्य अन्तर दो प्रकार के शोच करिकै युक्त है तथा जो पुरुष दक्ष है अर्थात् अवश्य करिकै जानने योग्य पदार्थ को तथा अवश्य करिकै करने योग्य ऐसे अर्थों को प्राप्त हुए जो पुरुष तिस तिस अर्थ के जानने को तथा करणे को समर्थ है। तथा जो पुरुष उदासीन है अर्थात् जो पुरुष किसी भी मित्रादिकों के पक्ष को ग्रहण करता नहीं। तथा जो पुरुष गत व्यथ है अर्थात् किसी दुष्ट पुरुषों ने ताड़ना कीये हुए भी नहीं हुई है पीड़ा रूप व्यथा जिसको तथा जो पुरुष सर्वारम्भ परित्यागी है। तहां इस लोक के फल की प्राप्ति करने हारे तथा परलोक के फल की प्राप्ति करने हारे जितनेक लौकिक वैदिक कर्म हैं तिन कर्मों का नाम सर्वारम्भ है। ऐसे सर्वारम्भों को परित्याग किया है जिस ने ऐसा जो परम हंस संन्यासी है ताका नाम सर्वारम्भ परित्यागी है इस प्रकार जो मुझ परमेश्वर का भक्त है सो ब्रह्म वेत्ता भक्त मुझ परमेश्वर को आपना आत्मा रूप होने तैं अत्यन्त प्रिय है।

यो विद्याश्रुतं संपन्न आत्म वान्नानुमानिकः। मायामात्रामिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥९१३॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १९॥ श्लोक १

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि जिस को विद्या से श्रवण करिकै आत्म तत्त्व का अनुभव ज्ञान प्राप्त होगया है सो प्रपंच की निवृत्ति का साधन मुझ में माया मात्र जाने और सर्वज्ञान के साधन छोड़े इस को विद्वान् संन्यासक होते हैं ॥९१३॥

और हे देवताओ! जैसे अशोक वनिका न्याय करिकै उन्मत्त पुरुषों का चित्त एक विषय विषे अवश्य संलग्न होवे है। तैसे सर्व जीवन्मुक्त पुरुषों का चित्त आत्मा के विचार विषे ही संलग्न होवे है। अशोक वनिका न्याय का यह अर्थ है जैसे सीता को हरण करिकै रावण ने सीता को किसी एक वन में अवश्य राखना था परन्तु दैवयोग तैं ता रावण ने सीता को अशोक वनिका विषे ही राख्या याका नाम अशोक वनिका न्याय है। तैसे चित्त भी किसी न किसी विषय विषे अवश्य संलग्न होवे है। इस वास्ते सो विद्वान् पुरुष आत्मा के विचार विषे ही ता चित्त को लगावे है।

शंका—हे भगवन्! आनन्द स्वरूप आत्मा को सर्वदा चिंतन करता हुआ सो विद्वान् पुरुष जो कदाचित् बाह्य पदार्थों को विशेष रूप करिकै नहीं जानता होवे तो जैसे ता विद्वान् पुरुष की शास्त्र विचारादिक शुभ कर्मों विषे प्रवृत्ति होवे है। तैसे पर द्रोहादिक निषिद्ध कर्मों विषे ता विद्वान् पुरुष की प्रवृत्ति किस वासते नहीं होती। समाधान—हे देवताओ! जैसे या लोक विषे जिस पुरुष नैं बहुत काल पर्यंत शास्त्र का अभ्यास किया है। तथा शास्त्र के अनुसार शुभ कर्म करै है। सो पुरुष कदाचित् किसी रोगादिक निमित्त करिकै उन्मत्त दशा को भी प्राप्त होवै है। तौ भी सो पुरुष पूर्व शुभ कर्मों के अभ्यास के वश तैं

शास्त्र निषिद्ध कर्मों को करै नहीं। किंतु ता उन्मत्त दशा विषे भी सो पुरुष यथार्थ अथवा अयथार्थ शुभ कर्मों को ही करै है। तथा पूर्व अभ्यास करे हुये शास्त्र का ही वारंवार उच्चारण करै है। तैसे या विद्वान पुरुष नैं आत्म साक्षात्कार तैं पूर्व मुमुक्षु दशा विषे बहुत काल पर्यंत शमदमादिक साधन करै हैं। तथा निरंतर वेदांत शास्त्र का विचार किया है। तिन संस्कारों के वश तैं सो विद्वान पुरुष जीवन्मुक्त अवस्था विषे पर द्रोहादिक निषिद्ध कर्मों विषे प्रवृत्त होवै नहीं। किंतु पूर्वले संस्कारों के वश तैं सो विद्वान पुरुष शुभ कर्मों विषे तथा वेदांत शास्त्र के विचार विषे प्रवृत्त होवै है।

शंका—हे भगवन्! अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार करिकै या विद्वान पुरुष की भेद दृष्टि निवृत्त हो जावै है। या तैं सो विद्वान यह शिष्य उपदेश का अधिकारी है और यह यह शिष्य उपदेश का अधिकारी नहीं है। या प्रकार की भेद दृष्टि को अंगीकार करिकै किस प्रकार उपदेश करै है। समाधान—जैसे सर्व शास्त्रों को जानने हारा जो कोई मायावी पुरुष है। सो मायावी पुरुष आपने माया के प्रभाव तैं नाना प्रकार के रूपों को धारण करिकै आपने एक अद्वितीय स्वरूप का विस्मरण कर देवै है। और तिन आपने रूपों को आपने तैं भिन्न मान कै सो मायावी पुरुष तिनों के प्रति शास्त्र का उपदेश करै है। तहां वास्तव तैं भेद तैं रहित हुआ भी सो मायावी पुरुष भेद वाले की न्याईं प्रतीत होवै है। तैसे अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार करिकै सर्व भेद दृष्टि तैं रहित हुआ भी यह विद्वान पुरुष प्रारब्ध कर्म के वश तैं भेद को देखता हुआ शिष्यों के प्रति उपदेश करै है।

शंका—हे भगवन्! (द्वितया द्वै भयं भवति) द्वैत रूप भेद के दर्शन तैं जीवों को भय की प्राप्ति होवै है। या श्रुति विषे भेद दर्शन तैं पुरुष को भय की प्राप्ति कही है। या तैं गुरु शिष्यादिकों के भेद को देखने हारा जो विद्वान पुरुष है। तिस को भी भय की प्राप्ति होवैगी। समाधान—हे देवताओ! जैसे स्थूल शरीर के अभिमान का परित्याग करिकै स्वप्न अवस्था को प्राप्त हुआ जो कोई पुरुष ता स्वप्न अवस्था विषे नाना प्रकार के जड़ चेतन पदार्थों को देखे है। और कदाचित् सो स्वप्न द्रष्टा पुरुष तिसी स्वप्न अवस्था विषे यह संपूर्ण पदार्थ स्वप्न रूप होने तैं मिथ्या हैं। या प्रकार का निश्चय करै है। ता निश्चय तैं अनंतर सो स्वप्न द्रष्टा पुरुष तिन मिथ्या पदार्थों विषे बंधायमान होवै नहीं। और शास्त्र के अभ्यास जन्य जो संस्कारों के वश तैं सो स्वप्न द्रष्टा पुरुष तिन मिथ्या पदार्थों के उपदेशादिकों विषे भी प्रवृत्त होवै है तैसे यह विद्वान पुरुष भी अज्ञान सहित स्थूल सूक्ष्म शरीरादिक रूप प्रपंच को मिथ्या जानि कै ता विषे बंधायमान होवै नहीं तथा अधिकारी शिष्यों के तांई उपदेशादिक भी करै है। तात्पर्य यह है कि अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार करिकै सर्व जगत को मिथ्या रूप करिकै जानने हारा जो विद्वान है। ता अद्वितीय विद्वान पुरुष के जीवन मात्र का उपयोगी भेद दर्शन बंध की प्राप्ति करै नहीं। सत्य रूप करिकै भेद का दर्शन ही बंधन का कारण है।

शंका—हे भगवन्! जैसे जीवन्मुक्त अवस्था तैं पूर्व बंध अवस्था विषे यह विद्वान पुरुष

शरीर सहित प्रतीत होवै तैसे जीवन्मुक्त अवस्था विषे भी यह विद्वान पुरुष शरीर सहित प्रतीत होवै है। या तैं बंध अवस्था तैं जीवन्मुक्त अवस्था विषे क्या विशेषता है। समाधान—जैसे या लोक विषे सर्प जब पर्यंत आपने कंचुक का परित्याग नहीं करै है। तब पर्यंत सो सर्प ता कंचुक के छेदनादिकों करिकै दुःख को प्राप्त होवै है। और जभी सो सर्प आपने कंचुक का परित्याग करै है। तभी सो सर्प ता कंचुक के छेदनादिकों करिकै दुःख को प्राप्त होवै नहीं। और आपने बिल के द्वार ऊपर स्थित जो कंचुक है ता को दिन दिन विषे देखता हुआ भी सो सर्प ता कंचुक विषे आसक्ति करै नहीं। ता कंचुक के धर्मों को आपने विषे मानैं नहीं। तैसे यह विद्वान पुरुष भी जब पर्यंत देह के अभिमान का परित्याग नहीं करै हैं। तब पर्यंत ही ता देह के छेदनादिकों करिकै दुःख को प्राप्त होवै है। तथा ता देह के जन्म मरणादिक धर्मों को आपने विषे मानैं है। आत्मा के साक्षात्कार करिकै सो विद्वान पुरुष जभी देहादिकों तैं आपने को भिन्न करिकै जानैं है। तभी सो विद्वान पुरुष देहादिकों के दाह छेदनादिकों करिकै दुःख को प्राप्त होवै नहीं। और दिन दिन विषे आपने देहादिकों को देखता हुआ भी सो विद्वान पुरुष तिन देहादिकों विषे असक्त होवै नहीं। तथा तिन देहादिकों के जन्म मरणादिक धर्मों को आपने स्वरूप विषे मानैं नहीं। तात्पर्य यह है कि विचार सें रहित जो तामसी सर्पादिक जंतु हैं ते सर्पादिक भी जभी कंचुक के अभिमान के परित्याग तैं अनंतर ता कंचुक के छेदनादिक धर्मों को आपने स्वरूप विषे नहीं मानै हैं तभी विचारादिक साधनों युक्त जो सात्त्विक विद्वान पुरुष है। सो विद्वान पुरुष शरीरादिकों के अभिमान त्याग तैं अनंतर तिन शरीरादिकों के जन्म मरणादिक धर्मों को आपने स्वरूप विषे नहीं मानैं है। या के विषे क्या कहना है। इस लिये शरीर का अभिमान परम दुःख का कारण है। और मैं देह रूप हूं। या प्रकार का अभिमान ही नरक रूप है इस देह अभिमान सें भिन्न नरक नहीं है। तहां श्रुति—

देहोऽहमिति संकल्पो महत्संसार उच्यते। देहोऽहमिति संकल्पस्तद्बंधमिति चोच्यते ॥९१४॥

तेजोबिंदूप० अ० ५ मं० ९० ॥

अर्थ—मैं देह हूं यह जो संकल्प है सो महान संसार होवै है। तथा मैं देह हूं यह जो संकल्प है सोई बंध है ॥९१४॥

देहोऽहमिति संकल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते। देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥९१५॥

तेजोबिंदू उ० अ० ५ मं० ९१ ॥

अर्थ—मैं देहरूप हूं यह जो संकल्प है यह महान दुःख है और मैं देहरूप हूं यह जो ज्ञान है सोई ही नरक कहा गया है ॥९१५॥

देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते। देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥९१६॥

तेजोबिंदू उ० अ० ५ मं० ९३ ॥

अर्थ—मैं देहरूप हूं यह जो ज्ञान है सोई ही अज्ञान है मैं देहरूप हूं यह जो ज्ञान है सो ज्ञान ही असतरूप है ॥९१६॥

देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते। देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैत मुच्यते ॥९१७॥

तेजोबिंदु उ० अ० ५ मं० ९४॥

अर्थ—मैं देह रूप हूं यह जो बुद्धि है सो बुद्धि अविद्यारूप है इस नाम से कथन करा है। मैं देहरूप हूं यह जो ज्ञान है सोई ही द्वैत है ॥९१७॥

शंका—हे भगवन! कंचुक के परित्याग तैं अनंतर ता सर्प का कंचुक के साथ कोई संबंध नहीं है। या कारण तैं सो सर्प ता कंचुक के छेदनादिकों करके दुःख को प्राप्त होवे नहीं। यह वार्ता यद्यपि संभवै है। तथापि विद्वान पुरुष का जीवन्मुक्त अवस्था विषे शरीरादिकों के साथ संबंध प्रतीत होवे है। या तैं शरीरादिकों के छेदनादिकों करके ता विद्वान पुरुष को अवश्य दुःख की प्राप्ति होवेगी। समाधान—हे देवताओ! सामान्य तैं शरीर का संबंध सुख दुःख का हेतु होवे नहीं। किंतु मैं शरीररूप हूं अथवा यह मेरा शरीर है या प्रकार के अहं मम अभिमान रूप संबंध करके शरीर विशिष्ट जो पुरुष है। तिस को ही शरीर के पूजन दाहादिकों करके सुख दुःख की प्राप्ति होवे है। और जो पुरुष शरीर के अहं मम अभिमान तैं रहित है। तिस पुरुष को शरीर के पूजन ताडनादिकों करके सुख दुःख की प्राप्ति होवे नहीं॥

दृष्टांत—जैसे भूत के प्रवेश करके युक्त जो शरीर है सो शरीर ता भूत के पूजन ताडनादिकों करके सुख दुःख को प्राप्त होवे है। और ता शरीर विषे स्थित जो भूत है ता भूत का तिस मनुष्य शरीर विषे अहं मम अभिमान है नहीं। या कारण तैं सो भूत ता शरीर के पूजन ताडनादिकों करके सुख दुःख को प्राप्त होवे नहीं। तैसे पुण्य पापरूप प्रारब्ध कर्म के वश तैं या विद्वान पुरुष का शरीर पूजन ताडनादिकों करके सुख दुःख को प्राप्त होवे है। और ता शरीर के अहं मम अभिमान तैं रहित तथा पुण्य पापरूप कर्म तैं रहित जो विद्वान पुरुष का वास्तवरूप है। सो सुख दुःख को प्राप्त होवे नहीं। इतने करके समाधि अवस्था विषे स्थित जो विद्वान पुरुष है। ताके विषे सुख दुःख के अनुभव का अभाव दिखाया। तहां श्रुति—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि। यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम् ॥९१८॥

सरस्वती रहस्योपनिषत् मं० ३१

अर्थ—परमात्मा चिन्मय के साक्षात्कार ज्ञान से सर्व प्रकार से देहाभिमान गल जाते हैं। यत्र यत्र मन जाता है तिस तिस स्थान में सर्व का परारूप शुद्ध चैतन्य अमृतरूप ही दृष्टिगोचर होता है ॥९१८॥

भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यंते सर्व संशयः। क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥९१९॥

सरस्वती रहस्यो० मं० ३२

अर्थ—तिस श्रेष्ठरूप परब्रह्म के साक्षात्कार से हृदय की चित जड़ ग्रंथि छेदन हो जाती हैं तथा प्रमाणगत संशय तथा प्रमेयगत संशय भी नाश हो जाते हैं। तथा संचित क्रियमान सर्व कर्म भी नाश हो जाते हैं ॥९१९॥

मयि जीवत्व मीशत्व कल्पितं वस्तुतो नहि। इति यस्तु विजानाति स

मुक्तो नात्र संशयः ॥९२०॥

सरस्वती रहस्यो० मं० ३२

अर्थ—यह श्रुति भगवति आत्म साक्षात्कार वान विद्वान के निश्चय का प्रतिपादन करे है। मेरे वास्तव शुद्धरूप में जीवभाव तथा ईश्वरभाव दोनों कल्पित हैं वास्तव में नहीं है। इस प्रकार जो विद्वान जानता है सो विद्वान मुक्ति को प्राप्त होता है पुनः इस में संशय नहीं हैं ॥९२०॥

राग द्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले। यः करोत्य न पेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९२१॥

महोपनिषत् अ० २ मं० ४९

अर्थ—जो रागद्वेष सुख दुःख धर्माधर्म फलाफल की अपेक्षा से विना हीं सर्व कर्मों को करता है सो जीवन्मुक्त होता है ॥९२१॥

मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्त-मत्सरः। यः करोति गतो द्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९२२॥

महोपनिषत् अ० २ मं० ५०

अर्थ—वाणी का मौन अर्थात बिना जरूरत से व्यर्थ वाणी के व्यापार से रहित तथा निर-हंकार मान रहित मत्सर से मुक्त है। जो शरीर कृत कर्मकर्ता है उद्वेगता से रहित होकर करता है। सो विद्वान पुरुष जीवन्मुक्त होता है ॥९२२॥

सर्वत्र विगत स्नेहो यः साक्षिवद-वस्थितः। निरिच्छोवर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९२३॥

महोपनिषत् अ० २ मं० ५१

अर्थ—जो विद्वान पुरुष के सर्वत्र ही स्नेह-गत हो गये हैं इच्छा से रहित हुआ सर्व कार्यों में वर्तमान है। तथा साक्षी की न्याईं स्थित है। सो विद्वान जीवन्मुक्त कहा जावे है ॥९२३॥ अब बंध के स्वरूप का तथा बंध के एकादश हेतुओं का निरूपण करे हैं। तहां श्रुति—

अनाद्यविद्या वासनया जातो ऽहमित्यादि संकल्पो बंधः ॥९२४॥

निरालंबोपनि०

अर्थ—अनादि अविद्या से वासना करके मैं उत्पन्न हुआ हूं इत्यादिक जो संकल्प हैं सो बंध है ॥९२४॥

पितृ मातृ सहोदर दारापत्य गृहा-रामक्षेत्र ममता संसारावरण संकल्पो बंधः ॥२॥ ॥९२५॥ निरालम्बोप०

अर्थ—पिता माता भ्राता स्त्री पति गृह बाग भूमि यह संसार में आवरण रूप हैं। इन सर्व में जो ममता रूप संकल्प है सो बंध है ॥९२५॥

कर्तृत्वाद्य हंकारसंकल्पो बंधः ॥३॥ अणिमाद्यष्टैश्वर्याशा सिद्ध संकल्पो बंधः ॥४॥ ॥९२६॥ निरालम्बोप०।

अर्थ—कर्तृत्वादिक हंकार का जो संकल्प है सो बन्ध है। और अणिमादिक अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति रूप जो संकल्प है सो बन्ध है ॥९२६॥

देवमनुष्याद्युपासना काम संकल्पो बंधः ॥५॥ यमाद्यष्टांग योग संकल्पो बंधः ॥६॥ ॥९२७॥

अर्थ—किसी देवता तथा मनुष्यादिकों की सकाम उपासना का जो संकल्प है सो बन्ध है। तथा यम नियमादिक अष्टांग योग करने का जो संकल्प है सो बन्ध है ॥९२७॥

वर्णाश्रम धर्म कर्म संकल्पो बंधः

॥७॥ आज्ञाभयं संशयात्म गुण संकल्पो बंधः ॥८॥ ॥९२८॥

अर्थ—वर्णाश्रमों के धर्मों के तथा कर्मों के करने का जो ज्ञान है तिस ज्ञान का जो संकल्प है सो बन्ध है। तथा किसी की आज्ञा में भय युक्त रहिना तथा संशय युक्त होना इत्यादिक गुण रूप संकल्प का नाम बन्ध है ॥९२८॥

यागव्रत तपोदान विधि विधान संभवो बंधः ॥९॥ केवल मोक्षापेक्षा संकल्पो बन्धः ॥१०॥ संकल्पमात्र संभवो बंधः ॥११॥ ॥९२९॥

निरालम्बोपनिषत्।

अर्थ—यज्ञ कराने की तथा व्रत रखाने की तथा तप कराने की विधि तथा दान देने की विधि का ज्ञान मेरे को होवे ऐसा जो संकल्प है सो बन्ध है। केवल मोक्ष की इच्छा का जो संकल्प है सो बन्ध है। हमारे सर्व संकल्पमात्र सिद्ध होजावे ऐसा जो संकल्प है सो बंध है ॥९२९॥

य तो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते। तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥९३०॥

ब्रह्मविंदूपनिषत्॥ मं० ३॥

अर्थ—जिस विद्वान् का मन निर्विषय है अर्थात लोक परलोक के विषयों की आशा से रहित है इस को मुक्ति की इच्छा है। तिस कारण से नित्य ही मन को विषयों से मुमुक्षु रहित करे ॥९३०॥

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि। यदायात्युन्मनीभावं तदातत्परमं पदम् ॥९३१॥ ब्रह्मविंदूपनिषत् मं० ४॥

अर्थ—निःसंगता रूप विषयों से मन को हृदि में निरुद्ध करे। जिस काल में मन संकल्प विकल्प से रहित उन्मनीभाव होवेगा। तिस काल में सो विद्वान परमपद को प्राप्त होवेगा ॥९३१॥

तदेव निष्कलं ब्रह्मनिर्विकल्पं निरञ्जनम्। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्मसंपद्यते ध्रुवम् ॥९३२॥ ब्रह्मविंदूपनि० मं० ८॥

अर्थ—जभी मन का निरोध हो जावेगा। तभी ही निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनं ब्रह्म को आपना आत्मा रूप जान करिकै निश्चय करिकै इस अचल ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥९३२॥

निर्विकल्पमनन्तं च हेतु दृष्टांत वर्जितम्। अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम् ॥९३३॥ ब्रह्मविंदूपनिषत् मं० ९

अर्थ—मन के निरोध रूप उपायतैं निर्विकल्प कहिये अफुर ब्रह्म को देश काल वस्तु के प्रच्छेद से रहित तथा हेतु कहिये लिङ्ग तथा दृष्टांत कहिये यथा महानसा अर्थात जैसे यह पर्वत वह्नि वाला है धूम वाला होने से यथा महानसा ऐसे हेतु दृष्टांत से रहित तथा अप्रमेय है अर्थात किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है तथा अनादि है ऐसे प्रत्यक्चैतन्य को जान करिकै परम शिव कल्याणरूप होजाता है ॥९३३॥

अब समाधि तैं उत्थान काल विषे या विद्वान् पुरुष को जो सुख दुःख का अनुभव होवे है। ताके विषय अज्ञानी पुरुषों तैं विलक्षणता का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे या लोक विषे बालक को प्रिय वस्तु की प्राप्ति तैं सुख का अनुभव होवे है। तथा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति तैं दुःख का अनुभव होवे है। परन्तु सो सुख दुःख का अनुभवता बालक

विषे रागद्वेष की उत्पत्ति करे नहीं। तैसे समाधि तैं उत्थान काल विषे या विद्वान् पुरुष को प्रिय वस्तु की प्राप्ति तैं सुख का अनुभव होवे है। तथा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति तैं दुःख का अनुभव होवे है। परन्तु सो सुख दुःख का अनुभव ता विद्वान् पुरुष विषे अज्ञानी पुरुष की न्याई रागद्वेष की उत्पत्ति करे नहीं या तैं अज्ञानी पुरुष के सुख दुःख के अनुभव तैं विद्वान् पुरुष के सुख दुःख के अनुभव विषे महान विशेषता है। तहां श्लोक—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः। वीतराग भय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥९३४॥ गी० अ० २ श्लोक ५६॥

अर्थ—हे अर्जुन दुःखों विषे नहीं उद्वेग को प्राप्त हुआ है मन जिस का तथा विषय सुखों विषे निवृत्त हुई है स्पृहा जिस की तथा निवृत्त हुए हैं राग भय क्रोध जिस के ऐसा मननशील पुरुष स्थित प्रज्ञ कह्या जावे है ॥९३४॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाऽशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टितस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥९३५॥ गी०अ०२श्लोक ५७

अर्थ—हे अर्जुन जो विद्वान् पुरुष देहादिक सर्व पदार्थों विषे स्नेह तैं रहित है तथा तिस तिस प्रिय अप्रिय विषयों को प्राप्त होइके नहीं प्रशंसा करे है। नहीं द्वेष करे है। तिस विद्वान पुरुष की प्रज्ञास्थित होवे है ॥९३५॥

अब ता विद्वान विषे पर इच्छा अधीन सुख दुःख की प्राप्ति का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! या लोक विषे जो पुरुष वृद्ध अवस्था करिकै युक्त है। तथा रोगादिकों करिकै जिस की शक्ति नष्ट हुई है। ऐसा शक्ति हीन वृद्ध पुरुष आपनी इच्छा के अधीन सुख दुःख को प्राप्त होवे नहीं। किन्तु सो वृद्ध पुरुष आपने स्त्री पुत्रादिक बांधवों की इच्छा के अधीन ही सुख दुःख को प्राप्त होवे है। तहां स्त्री पुत्रादिक बांधव ता वृद्ध पुरुष के तांई जो प्रिय पदार्थों की प्राप्ति करे हैं। तो सो वृद्ध पुरुष सुख को प्राप्त होवे है। और ते स्त्री पुत्रादिक बांधव तां वृद्ध पुरुष के तांई जो अप्रिय पदार्थों की प्राप्ति करे हैं। तो सो वृद्ध पुरुष दुःख को प्राप्त होवे है। तैसे यह विद्वान पुरुष भी आपनी इच्छातैं सुख दुःख को प्राप्त होवे नहीं। किंतु अन्य पुरुषों की इच्छा के अधीन सो विद्वान पुरुष सुख दुःख को प्राप्त होवे है। तहां जो कोई भक्त जनता विद्वान का पूजन करे है। तो सो विद्वान पुरुष सुख को प्राप्त होवे है। और जो कोई दुष्ट-जनता विद्वान पुरुष को ताडना करे है। तो सो विद्वान पुरुष दुःख को प्राप्त होवे है। अब अनात्म पदार्थों की प्राप्ति करके तथा तिनों के वियोग करके विद्वान पुरुष को हर्ष शोक होवे नहीं। या अर्थ को निरूपण करें हैं। हे देवताओ! जैसे या लोक विषे बहुत धन करके तथा अन्न करके युक्त जो कोई धनी पुरुष है। सो धनी पुरुष किसी निमित्त को पाय के आपने क्षेत्र विषे जावे है। और ता क्षेत्र तैं बहुत अन्नादिकों की प्राप्ति देख करके। सो धनी पुरुष हर्ष को प्राप्त होवे नहीं। और ता क्षेत्र तैं अन्नादिकों की अप्राप्ति को देख करके सो धनी पुरुष शोक को प्राप्त होवे नहीं। तैसे ब्रह्मानन्द करके तृप्त हुआ यह विद्वान पुरुष भी धन पुत्रादिक लौकिक पदार्थों की प्राप्ति कर के हर्ष को प्राप्त होवे नहीं। तथा धन पुत्रादिक पदार्थों के वियोग तैं सो

विद्वान पुरुष शोक को प्राप्त होवे नहीं। तहां श्लोक—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति। शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥९३६॥

गी० अ० १२ श्लो० १७

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष नहीं हर्ष करे है नहीं द्वेष करे है। तथा नहीं शोक करे है तथा नहीं इच्छा करे है तथा शुभाशुभ कर्मों का परित्याग किया है जिसने ऐसा जो भक्तिमान पुरुष है। सो पुरुष मुझ परमेश्वर को प्रिय है ९३६

तुल्यनिंदा स्तुतिर्मौनीसंतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्ति मान्मेप्रियो नरः ॥९३७॥

गी० अ० १२ श्लो० १९

अर्थ—हे अर्जुन! तुल्य है निंदा स्तुति जिसको तथा जो पुरुष मौन वाला है तथा जिस किस अन्न वस्त्रादिकों करके संतुष्ट है तथा गृह तैं रहित है तथा स्थित है मति जिसकी ऐसा भक्तिमान पुरुष मुझ परमेश्वर को प्रिय है ९३७

अब ता विद्वान पुरुष के चित् की आत्मा विषे तत्परता तथा व्यवहार विषे उदासीनता का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे या लोक विषे कोई गृह वाला पुरुष किसी कार्य के वास्ते किसी मजूर को राखे है। ता मजूर के साथ सो गृह पुरुष यां प्रकार का ठहराव करे है। प्रातःकाल ते लेके सायंकाल तक यां कार्य को जो तूं करेंगा तो तुम्हारे को हम इतने पैसे देवेंगा या प्रकार का ठहराव करके सो मजूर आपने मजूरी के पैसों को चिंतन करता हुआ तथा सायंकाल को देखता हुआ ता कार्य को करे है। परन्तु ता कार्य विषे तिस मजूर का राग है नहीं। या तैं गृह वाले पुरुष की न्यांई अधिक कार्य को तथा न्यून कार्य को सो मजूर करे नहीं। तैसे यह विद्वान पुरुष भी मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा का चिंतन करता हुआ तथा प्रारब्ध कर्म के समाप्ति काल को देखता हुआ खान-पानादिक व्यवहारों को करे है। परन्तु ता खान पानादिक व्यवहारों विषे ता विद्वान पुरुष का राग है नहीं। तहां श्रुति—

मच्चिंतनं मत्कथनं मन्योन्यं मत्प्रभाषणम्। मदेक परमोभूत्वा कालं नय महामते ॥९३८॥ वराहोपनिषद् अ० २ मं० ४६

अर्थ—वराहोवाच—जो विद्वान मेरा ही चितन करता है तथा मेरा ही परस्पर कथन करता है तथा मेरा ही अन्यो अन्य प्रभाषण करता है तथा सो चिंतन कथनादिक व्यवहार करने वाला विद्वान मेरा अद्वितीय परमानन्द स्वरूप हो जाता है। तिसको हे महामते! काल का विलंब नहीं है ॥९३८॥

श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो वाध्यते कथम्। अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगस्थितौ ॥९३९॥

वराहोपनिषद् मं० ४९

अर्थ—श्रुति प्रमाण तैं आत्मा का ज्ञानरूप दीपक उत्पन्न हुआ है कैसे वाध्य हो सकता है किंतु नहीं बाध्य होवे है। अनात्मारूप स्थित जगत को परित्याग करके निर्विकाररूप साक्षिरूप तैं स्थिति होवो ॥९३९॥

एक निष्टतयान्तस्थ संविन्मात्र परोभव। घटाकाश मठाकाशो महा-

काशे प्रतिष्ठतौ ॥९४०॥

वराहोपनिषद् मं० ५०

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगत भेद तैं रहित एक अद्वितीय संवित् मात्र सर्व के अंतःकरण में स्थिति में नेष्टा वाला होवो । जीव ईश्वर का भेद शुद्ध ब्रह्मव्यापक में ऐसा है जैसा घटाकाश मठाकाश का भेद महाकाश में स्थित है ॥९४०॥

एवं मयिचिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ । य च प्रागात्मनो माया तथान्ते च तिरस्कृता ॥९४१॥

वराहोपनिषद् मं० ५१

अर्थ—इसी प्रकार जीव तथा ईश्वर दोनों मैं चिदाकाश में परिविशेष करके कल्पित हैं तथा हे बुद्धिमान विद्वानों इस में माया जो है इसके अंतर तिसको तृस्कृत करो अर्थात त्याग देवौ ॥९४१॥

ब्रह्मवादि भिरूद्गीता सा मायेति विवेकतः । मायातत्कार्य विलये नेश्वरत्वं न जीवता ॥९४२॥

वराहोपनिषद् मं० ५२

अर्थ—ब्रह्मवादि भिरूद्गीता ब्रह्म के साक्षात्कारवान पुरुष यह कहते हैं कि विवेक करके इस माया को तथा माया तत्कार्य के विलये होने से सो ईश्वर भी नहीं है तथा जीव भी नहीं है ॥९४२॥

ततः शुद्धश्चिदेवाहं व्योम वन्निरूपाधिकः । जीवेश्वरादि रूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥९४३॥ वराहोपनिषद् मं० ५३

अर्थ—तिस माया के त्यागने से अनंतर शुद्ध चैतन्य अकाश की न्यांई निर उपाधिक ब्रह्मचेतन मैं हूं । जीव ईश्वरादिक रूप करके चेतन तथा अचेतनादिक भेद करके सर्व मेरा ही आत्मा है ॥९४३॥

या तैं सो विद्वान पुरुष अज्ञानी पुरुषों की न्यांई तिन व्यवहारों की वृद्धि करै नहीं। अब प्रारब्ध कर्मों के वश तैं ता विद्वान पुरुष के गमना गमनादिकों का निरूपण करैं हैं। हे देवताओ ! जैसे सूत्र के कातने का साधन जो काष्ठ का जंत्र है । सो सूत्र के डोरे करिकै भ्रमण करै है । तैसे विद्वान पुरुष का शरीर भी प्रारब्ध कर्म के वश तैं तीर्थादिकों विषे गमना गमन करै है । अब जीवों की भावना के अनुसार विद्वान पुरुष के शरीर विषे सुख दुःख की कारणता का निरूपण करै है। हे देवताओ ! जैसे किसी पुरुष नैं कौतिक के वास्ते चर्म का अथवा काष्ठ का हस्ती रख्या होवै है । सो काष्ठ का हस्ती जीवों की भावना के अनुसार किसी को सुख की प्राप्ति करै है। तथा किसी स्त्री बालकादिक मूढ़ों को दुःख की प्राप्ति करै है । तैसे यह विद्वान का शरीर भी जीवों की भावना के अनुसार सुख दुःख की प्राप्ति करै है । तहां जो जीव विद्वान पुरुष के शरीर विषे प्रीती करै है । तिन जीवों को सो विद्वान पुरुष आपने पुण्य कर्म देकर सुख की प्राप्ति करै है । और जो जीव ता विद्वान पुरुष के शरीर विषे द्वेष करै हैं । तिन जीवों को सो विद्वान पुरुष आपने पाप कर्म देकर दुःख की प्राप्ति करै है । तहां श्रुति—

तस्य पुत्रदाय मुपयांति सुहृदः साधु कृत्यं द्विषंतः पाप कृत्यम् ॥९४४॥

अर्थ—तिस विद्वान पुरुष के धनादिक

पदार्थों को पुत्रादिक बांधव ले जावै हैं। और विद्वान पुरुष के पुण्य कर्मों को सुहृद भक्त ले जावै हैं। और ता विद्वान पुरुष के पाप कर्मों को द्वेष करने हारे दुष्ट पुरुष ले जावै हैं॥९४४॥

अब मन के व्यापार तैं विना ही विद्वान पुरुष के शरीर की प्रवृत्ति का निरूपण करै है। हे देवताओ! जैसे कोई पुरुष धनुष तैं बाण को छोडे है। सो बाण जब पर्यंत भूमि विषे नहीं गिरे है। तब पर्यंत बाण पूर्व ले वेग के वश तैं अकाश विषे भ्रमण करै है। तैसे जब पर्यंत या विद्वान पुरुष के शरीर का पात नहीं होवै है। तब पर्यंत सो विद्वान पुरुष का शरीर प्रारब्ध कर्म के वेग करिकै गमना गमन करै है। अब ब्रह्म निष्ठा के आवेश तैं विद्वान पुरुष विषे सर्व व्यवहारों के विस्मरण का निरूपण करै हैं। हे देवताओ! जैसे या लोक विषे जिस पुरुष के शरीर विषे भूत प्रवेश करै है। सो पुरुष ता काल विषे नाना प्रकार के व्यवहारों को करता हुआ भी विशेष करिकै तिन व्यवहारों को जानता नहीं। तैसे ब्रह्म निष्ठा के आवेश तैं आनंतर यह विद्वान पुरुष नाना प्रकार के व्यवहारों को करता हुआ भी तिन व्यवहारों को विशेष करिकै जानता नहीं। या प्रकार की अवस्था को जभी यह विद्वान पुरुष प्राप्त होवै है। तभी यह विद्वान पुरुष स्थूल सूक्ष्म कारण या तीन शरीरों के विद्यमान हुये भी तिन शरीरों तैं रहित होवै है। तथा तिन शरीरों के जन्म मरणादिक धर्मों तैं रहित होवै है। इस वास्तें श्रुति भगवति ता विद्वान पुरुष को अशरीर या नाम करिकै कथन करै है। तहां श्रुति—

अशरीर ँ शरीरेष्वनवस्थेष्व वस्थितम्। महांतं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥९४५॥

कठ उ० अ० १ वल्ली २ मं० २२॥

अर्थ—यह विद्वान का आत्मा स्वरूप सें आकाश की न्यांई व्यापक है। या तैं अशरीर है। और स्थिति सें रहित है तथा अनित्य देव पितृ और मनुष्यादिक का सर्व शरीरों विषे स्थित नित्य निर्विकार है। तथा महान है विभू है निरपेक्ष व्यापक है। ऐसे आत्मा को बुद्धिमान पुरुष अपना आत्मा रूप करिकै साक्षात्कार करनै तैं शोक को प्राप्त नहीं होता॥९४५॥

और शरीरादिकों के नाश हुये भी ता विद्वान का वास्तव स्वरूप नाश होवै नहीं। या कारण तैं श्रुति भगवती ता विद्वान को अमृत या नाम करिकै कथन करै है। और यह विद्वान पुरुष यद्यपि वास्तव तैं प्राण अपानादिकों तैं रहित है। तथापि यह विद्वान पुरुष आपनी समीपता करिकै तिन प्राणों को अपने अपने व्यापारों विषे प्रवृत्त करै है। या कारण तैं श्रुति भगवती ता विद्वान पुरुष को प्राण या नाम करिकै कथन करै है। तहां श्रुति—

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः। मारुतस्यलयो नाथस्तन्नाथं-लय माश्रय॥९४६॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ८०॥

अर्थ—सर्व इंद्रियों का मन स्वामी है अर्थात् सर्व इंद्रियों को मन ही अपने २ व्यापारों विषे प्रवृत्त करै है। और मन का स्वामी प्राण है अर्थात् प्राणों के सहारे मन चलता है। पुनः प्राणों का स्वामी लय है अर्थात् जब

समाधि में प्राणों का निरोध रूप लय होता है सो निरोध रूप लय ही प्राणों का नाथ है। और लय का स्वामी लय का आश्रय है अर्थात् जो प्राणों के लय का साक्षि है लय का ज्ञाता है ९४६॥

और सो विद्वान पुरुष सजाती भेद विजातीय भेद स्वगत भेद या तीन भेदों तैं रहित है या कारण तैं श्रुति भगवती ता विद्वान को ब्रह्म या नाम करिकै कथन करै है। और सो विद्वान स्वप्रकाश चैतन्य रूप है या कारण तैं श्रुति भगवती ता विद्वान को तेज या नाम करिकै कथन करै है। हे देवताओ! अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों के प्रभाव तैं अंत जन्म विषे जो आत्मा का साक्षात्कार उत्पन्न होवै है। सो आत्मा साक्षात्कार ब्रह्म भाव की प्राप्ति रूप मोक्ष का मार्ग है कैसा है सो आत्म साक्षात्कार रूप मार्ग अत्यंत तर्क विषे कुशल जो पुरुष हैं तिनों को भी दुर्विज्ञेय है। या कारण तैं श्रुति भगवती ता ज्ञान रूप मार्ग को सूक्ष्म या नाम करिकै कथन करै है। तहां श्लोक—

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्व मिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥९४७॥ गीता अ० ७ श्लोक १९॥

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञानवान पुरुष बहुत जन्मों के अंत विषे यह सर्व जगत वासुदेव रूप ही है। या प्रकार के ज्ञान वाला हुआ मुझ परमेश्वर को अभेद रूप करिकै भजै है। सो महात्मा अत्यंत दुर्लभ है ॥९४७॥

और यह आत्मज्ञान परिपूर्ण निस ब्रह्म की प्राप्ति करने हारा है। या कारण तै श्रुति-भगवती ता आत्मज्ञान रूप मार्ग को विगत पुराण या नाम करके कथन करै है। हे देवताओ! ऐसे आत्म साक्षात्काररूप मार्ग को हम ही जानते हैं हमारे तैं भिन्न कोई भी ता ज्ञानरूप मार्ग को जानता नहीं।

शंका—हे भगवन! जो आपतैं विना दूसरा कोई भी ता ज्ञानरूप मार्ग को नहीं जान सकता होवे तो अस्मदादिक जीवों को ता ज्ञानरूप मार्ग के जानने विषे क्या आशा है। समाधान—हे देवताओ! हम ही तिस ज्ञानरूप मार्ग को जानतैं हैं। या हमारे कहने का यह अभिप्राय है। जैसे हम को हस्तामलक की न्याई अपरोक्ष ज्ञान है। तैसे इतर जीवों को दुर्लभ है। और जो अधिकारी पुरुष ब्रह्मचर्य तपादिक साधनों करके तथा गुरु की कृपा करके आत्मज्ञानरूप मार्ग को प्राप्त होवे हैं। तथा ता मार्ग द्वारा मोक्ष को प्राप्त होवे हैं। और जो पुरुष ब्रह्मचर्य तपादिक साधनों तैं रहित बहिर्मुख हैं ते बहिर्मुख पुरुष ता आत्म साक्षात्काररूप मार्ग को जान सकतैं नहीं। या अभिप्राय करके हमने सो वचन कह्या है। अनतप का स्वरूप कहे हैं। तहां श्रुति—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शांतं तपः दमस्तपः शमस्तपो दानं रूपोयज्ञं तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वै तत्तपः ॥९४८॥ नारायणोप० मं० १०॥ अर्थ स्पष्ट है। नमां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥९४९॥ गी०अ० ७ श्लो० १५

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष पाप कर्मों वाले हैं तथा मूढ हैं तथा नरों में अधम हैं तथा माया करिकै आवृत हुआ है ज्ञान जिनों का तथा

दम्भ दर्पादिक रूप असुरभाव को आश्रयण किया है जिन्हों ने ऐसे पुरुष मुझ परमेश्वर को नहीं भजे हैं ॥९४९॥

और जैसे लवण का पिंड समुद्र को प्राप्त होइकै समुद्र रूप होइ जावे है। तैसे ते विद्वान पुरुष ज्ञान रूप मार्ग द्वारा मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा को प्राप्त होइकै सर्व का आत्मा रूप हुए स्थित होवे हैं। और जैसे मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा विषे स्थित होइकै ते विद्वान पुरुष जन्म मरणादिक सर्व दुःखों तैं तथा राग द्वेष तैं तथा अज्ञान तैं रहित होवे हैं। और देहादिक उपाधियों तैं आपणे को भिन्न मान के ते विद्वान पुरुष देहादिकों के सर्व धर्मों तैं रहित होवे हैं। या तैं कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति] तथा ब्रह्म भाव की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है। ताकी प्राप्ति करने हारा आत्मा का ज्ञान ही मार्ग है। तहां श्लोक—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषां मादित्य वज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥९५०॥

गी० अ० ५॥ श्लोक १६॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिन पुरुषों का सो आज्ञान आत्मा के ज्ञान नैं नाश किया है तिन पुरुषों का आत्म ज्ञान सूर्य की न्यांई परब्रह्म को प्रकाश करे है ॥९५०॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्टास्तत्परायणाः। गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञान निर्धूत कल्मषाः ॥९५१॥

गी० अ० ५ श्लो० १७

अर्थ—हे अर्जुन! जिस परब्रह्म विषे है बुद्धि जिन्हो की तथा सो परब्रह्म ही है आत्मा जिन्हों का तथा तिस परब्रह्म विषे ही है निष्ठा जिन्हों की तथा सो परब्रह्म ही है प्राप्त होने योग जिन्हों को तथा ज्ञान करिकै निवृत्त हुए हैं पुण्य पाप कर्म जिन्हों के ऐसे विद्वान् पुरुष अपुनरावृत्ति को प्राप्त होवे हैं ॥९५१॥

त्वंपदार्थादौपाधिका त्तत्पदार्थादौपाधिका भेदाद्विलक्षण माकाशवत्सूक्ष्मं केवल सत्तामात्र स्वभावं परंब्रह्मेत्युच्यते ॥९५२॥ सर्वसारोपनिषत् ॥

अर्थ—त्वं पदार्थ उपाधि के तथा तत पदार्थ उपाधि के भेद तैं विलक्षण महा आकाश की न्यांई सूक्ष्म केवल सत्तामात्र स्वभाव ब्रह्म इति इस नाम से कह्या जाता है ॥९५२॥

स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञान मयोऽमलः। आत्माहं सर्व भूतानां विभूः साक्षी न संशयः ॥९५३॥

सर्व सारोप० मं० ४॥

अर्थ—स्थाणु की न्यांई अचल है। तथा नित्य है सदैव काल आनन्द स्वरूप तथा अविद्या मल तैं रहित शुद्ध है तथा ज्ञान स्वरूप है आमल है। ऐसा मैं सर्व भूतों का आत्मा हूं विभू हूं साक्षी हूं इस में संशय नहीं है ॥९५३॥

ब्रह्मैवाहं सर्व वेदान्त वैद्यं नाहं विद्यं व्योम वातादिरूपम्। रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्द रूपम् ॥९५४॥ सर्वसारोपनिषत् ॥ मं० ५॥

अर्थ—मैं ब्रह्मरूप ही हूं सर्व वेदांत शास्त्र करिकै मैं वैद्य हूं अकाश तथा वायु आदिकों के रूप की न्याई। मैं वेद्य नहीं हूं। मैं रूप नहीं हूं नाम नहीं हूं मैं कर्म नहीं हूं मैं सत्चित् आनन्द

स्वरूप ब्रह्म ही हूं ॥९९४॥

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे । नाहं चेतः शोक मोहौ कुतो मे नाहं कर्त्ता बन्ध मोक्षौ कुतो मे ॥९५५॥

सर्वसारोप निषत् मं० ६ ॥

अर्थ—मैं देह नहीं हूं । मेरे को जन्म मृत्यु कहां है । मैं प्राण नहीं हूं मेरे को क्षुधा पिपासा कहां है । मैं चेत कहिये अन्तः करण नहीं हूं मेरे को शोक मोह कहां है । मैं कर्त्ता नहीं हूं मेरे में बन्ध मोक्ष कहां है ॥९५५॥

अब ता आत्म ज्ञान करिकै जो फल की प्राप्ति होवे है । ताका निरूपण करे हैं । हे देवताओ ! मैं आनन्द स्वरूप आत्मा शरीरादिकों तैं भिन्न हूं । या तैं सुख दुःख तैं आदि लैके जितनेक शरीरादिकों के धर्म हैं । ते धर्म मुझ असंग आत्मा को स्पर्श करे नहीं । ऐसे मैं आनन्द स्वरूप आत्मा आपने वास्तव स्वरूप के अज्ञान तैं जभी शरीर के साथ तदात्म्य अध्यास को प्राप्त होवूं हूं । तभी मैं आत्मादेव आपने सर्वात्म भाव को विस्मिरण करिकै मूढता को प्राप्त होवूं हूं । और सुख दुःखादिक संसार धर्म करिकै तपायमान जो यह शरीर है । ता के तदात्म्य संबंध करिकै मैं आत्मा देव भी तपायमान होवौं हूं । और मेरे को सुख की प्राप्ति होवै या प्रकार की इच्छा करिकै परम दुःख को प्राप्त होवौं हूं । और जिस पुरुष को या प्रकार का ज्ञान भया है । कि सर्व जीवों के हृदय देश विषे स्थित तथा सर्व सुखों का समुद्र ऐसा जो स्वयं ज्योति परमात्मा देव है । सो परमात्मा देव मेरे स्वरूप तैं भिन्न नहीं है किंतु मैं हीं परमात्मा रूप हूं । या प्रकार आत्मा को जानने हारे जो पुरुष हैं सो विद्वान पुरुष शरीरादिकों तैं आपने को भिन्न मानैं हैं । सर्व विषय जन्य सुख की इच्छा तैं रहित है । या कारण तैं सो विद्वान पुरुष विषय जन्य सुख की इच्छा करिकै तथा शरीर के सुख दुःखादिक धर्मों करिकै तपायमान होवै नहीं । और इस सर्व नाम रूप जगत को ब्रह्म रूप करिकै निश्चय करै है ।

वेदांतविज्ञानसु निश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्ध सत्त्वा । ते ब्रह्म लोकेषु परांतकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ॥९५६॥ कैवल्योपनिषत् मं० ४ ॥

अर्थ—जो संन्यास रूप योग करिकै यति महात्मा युक्त हैं तथा अंतः करण जिन का शुद्ध है अर्थात् पुत्रेषणा वित्तेषणा लोकेषणा सें रहित है । ऐसे संन्यासी जिन की यह तीन प्रकार की सर्व वाशना निवृत्त हो गई है । ते संन्यासी विदेह मुक्ति के समय ब्रह्म लोक में सर्व का पररूप अमृत रूप ब्रह्म को प्राप्त होवैं हैं ॥९५६॥

विविक्त देशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीव शिरः शरीरः । अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥९५७॥ कैवल्योपनिषत् मं० ५ ॥

अर्थ—एकांत देश में स्थित हो करिकै तथा सुखासन में स्थित हो करिकै । अंतर से तथा बाह्य स्थानादिकों सें शुचि तथा शरीर ग्रीवा शिर यह तीनो जिस के सम हैं सर्व इंद्रियों को जिस ने निरुध कीया है तथा ईश्वर

तथा गुरु का भक्त है तथा नित प्रति गुरु को प्रणाम करता है। और अंत आश्रम में स्थित है अर्थात संन्यास आश्रम वाला है। ऐसे संजम युक्त पुरुष शुद्ध अमृत रूप ब्रह्म को प्राप्त होवै है ॥९५७॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुति मल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥९५८॥ गी० अ० १३ श्लोक १३

अर्थ—हे अर्जुन ! सो ज्ञेय ब्रह्म कैसा है सर्व देहों विषे हैं हस्त पाद जिस के तथा सर्व देहों विषे हैं नेत्र शिर मुख जिस के तथा सर्व देहों विषे श्रवण इंद्रिय वाला है तथा सर्व प्राणीयों के शरीर विषे सर्व आचेतन वर्ग को व्याप्य करिकै स्थित है ॥९५८॥

सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥९५९॥ गी० अ० १३ श्लोक १४ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सोज्ञेय ब्रह्म सर्व इंद्रियों तैं रहित है तथा सर्व इंद्रियों के व्यापार करिकै भास मान है। तथा सर्व संबंध तैं रहित है तथा सर्व के धारण करने हारा ही है। तथा सत्त्वादिक गुणों तैं रहित है। तथा तिन सत्त्वादिक गुणों का भोक्ता है। ॥९५९॥

सर्वतः पाणीपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥९६०॥ सर्वेंद्रिय गुणाभासं सर्वेंद्रिय विवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥९६१॥

श्वेताश्व० अ० ३ मं० १६—१७ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मानोप लिप्यते ॥९६२॥ गी० अ० १३ श्लोक ३२

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे सर्वत्र व्यापक भी अकाश असंग स्वभाव वाला होने तैं नहीं लिपायमान होवै है। तैसे सर्व देहों विषे स्थित हुआ भी यह आत्मा देव असंग स्वभाव वाला होने तैं नहीं लिपायमान होवै है ॥९६२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नंलोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥९६३॥

गी० अ० १३ श्लोक ३३ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे एक ही सूर्य इस सर्व लोक को प्रकाश करै है तैसे क्षेत्रज्ञ नामा आत्मा इन सर्वक्षेत्रों को प्रकाश करै है ॥९६३॥

हे देवताओ ! जिस पुरुष को आत्मा का साक्षात्कार होवै है। तिंस पुरुष की कारण अविद्या निवृत्त होइ जावै है। और ता कारण अविद्या के निवृत्त हुये तैं अनंतर ता विद्वान पुरुष की शरीरादिकों विषे तदात्म्य अध्यास रूप कार्य अविद्या भी निवृत्त होइ जावै है। और ता कार्य आविद्या के निवृत्त हुये तैं अनंतर ता विद्वान पुरुष को शरीर के सुख दुःखादिक धर्म तपायमान करै नहीं। तहां दृष्टांत जैसे लोह के पिंड का जब पर्यंत अग्नि के साथ तादात्म्य संबंध होवै है। तब पर्यंत सो लोह का पिंड प्रकाशमान होवै है। तथा तपायमान होवै है। और जभी ता लोह के पिंड का अग्नि के साथ तादात्म्य संबंध निवृत्त होवै है। तभी सो लोह का पिंड प्रकाशमान होवै नहीं। तैसे जब पर्यंत या विद्वान पुरुष का शरीर के साथ

तादात्म्य अध्यास होवै है । तब पर्यंत यह विद्वान पुरुष शरीर के सुख दुःखादिक धर्मों करिकै तपायमान होवै । और जभी ता विद्वान पुरुष का शरीर के साथ तादात्म्य अध्यास निवृत्त होवै है । तभी सो विद्वान पुरुष शरीर के सुख दुःखादिक धर्मों करिकै तपायमान होवै नहीं । हे देवताओ ! या लोक विषे भी तादात्म्य अध्यास ही जीवों के दुःख का कारण देखा है । काहेतैं या लोक विषे जो पुरुष आपने स्त्रीपुत्रादिक बांधवों को आपना रूप करिकै मानै है । सो पुरुष तिन स्त्री पुत्रादिक बांधवों के दुःख करिकै परम दुःख को प्राप्त होवै है । और जो पुरुष तिन स्त्री पुत्रादिक बाधवों के अहंमम अभिमान का परित्याग करै है । सो पुरुष उदासीन की न्याईं तिन स्त्री पुत्रादिक बांधवों के दुःख करिकै दुःख को प्राप्त होवै नहीं तैसे यह विद्वान पुरुष भी जभी शरीर विषे अहंमम अभिमान करे है । तभी ता शरीर के सुख दुःख करके सुख दुःख को प्राप्त होवे है । और जभी यह विद्वान पुरुष शरीर के अहंमम अभिमान का परित्याग करे है । तभी सो विद्वान पुरुष ता शरीर के दुःख करके दुःख को प्राप्त होवे नहीं । या तैं मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार ही कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति द्वारा परमानन्द की प्राप्ति का तथा सर्व दुःखों की निवृत्ति का कारण है । इतनैं करके सर्व दुःखो की निवृत्ति रूप आत्मज्ञान का फल निरूपण किया है । तहां श्रुति—

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः । स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी-सर्वस्य सर्वदा ॥९६४॥

अर्थ—इस परमात्मादेव के विज्ञानमात्र करके अज्ञानरूप सागर से पार होता है । स्वयं शिव पशुपति सर्व का आत्मा सर्वदा काल साक्षी है ॥९६४॥

अब तिसी आत्म साक्षात्कार के जगत् कर्तृत्वरूप फल का तथा सर्वात्म भाव की प्राप्ति रूप फल का निरूपण करे हैं । हे देवताओ ! हृदय कमल विषे स्थित जो मैं आनन्द स्वरूप आत्मा हूं । सो मैं स्वयं ज्योति रूप हूं तथा सर्वत्र व्यापक हूं । तथा बुद्धि आदिक संघात तैं विलक्षण चिन्मात्र साक्षीरूप हूं तथा जाग्रतादिक तीनों अवस्थाओं का साक्षीरूप हूं । तहां श्रुति—

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् । तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहंसदाशिवः ॥९६५॥

कैवल्योप० खं० १ मं० १८

अर्थ—जाग्रत स्वप्नादिक तीन अवस्थारूप धामों विषे जो भोग्य तथा भोग्य के इन्द्रियादिक साधन तथा विश्व तैजस प्राज्ञ जो भोक्ता हैं तिनों तै मैं विलक्षण सत्स्वरूप साक्षी चिन्मात्र शिवकल्याण स्वरूप हूं ॥९६५॥

मय्येव सकलं जातंमयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । मयि सर्वंलयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥९६६॥

कैवल्योपनिषद् खं० १ मं० १९

अर्थ—सर्व प्रपंच मेरे स्वरूप अधिष्ठान में से उत्पन्न हुआ है । और मेरे में ही स्थित है और इसी प्रकार मेरे स्वरूप में लीन होता है सो अद्वैत ब्रह्म मैं हूं ॥९६६॥

ऐसे मुझ आनन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा

को जिस अधिकारी पुरुष नैं गुरू शास्त्र के उपदेश करके निश्चय किया है सो विद्वान पुरुष ही यां सम्पूर्ण विश्व का कर्ता है। हे देवताओ! जैसे रज्जुरूप अधिष्ठान विषे कल्पित जो सर्पदण्ड माला जलधारा इत्यादिक पदार्थ हैं तिन सर्पादिक कल्पित पदार्थों का एक रज्जु ही अधिष्ठान है। तैसे मनुष्य लोक तैं आदि लैके ब्रह्मलोक पर्यंत जितनेक सुख दुःख के देनेहारे लोक हैं। तिन सम्पूर्ण लोकों का सो विद्वान पुरुष ही अधिष्ठान है। और जैसे कल्पित सर्पदण्डादिक रज्जुरूप अधिष्ठान तैं भिन्न नहीं। किन्तु ते कल्पित सर्प दण्डादिक रज्जुरूप ही हैं। तैसे जे ब्रह्मादिक लोक हैं तथा अध्यात्म अधिदैव अधिभूत इस तैं आदि लैके जितनेक स्थूल सूक्ष्म जगत हैं। ते सम्पूर्ण जगत् तां विद्वान पुरुष तैं भिन्न नहीं। किन्तु सम्पूर्ण जगत् ता विद्वान का आत्मारूप है। तहां श्रुति—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ॥९६७॥ ईशो० उ० मं० ६

अर्थ—जो मुमुक्षु अव्यक्त से आदि लैके चीटी पर्यंत जो सर्वभूत हैं तिन सर्व भूतों को आपने आत्मा विषे ही देखता है अर्थात आपने आत्मा से भिन्न नहीं देखता। तथा तिन सर्वभूतों विषे आपने आत्मा को देखता है अर्थात् आपने आत्मा को तिन भूतों का आत्मा देखता है जैसे इस कार्य कारण संघातरूप शरीर का मैं आत्मा सर्व वृत्तियों का साक्षी चेतन केवल निर्गुण हूं। इसी ही प्रकार अव्यक्त से आदि लैके चीटी पर्यंत सर्वभूतों का मैं ही आत्मा हूं ऐसे सर्वभूतों विषे निर्विशेष आत्मा को जो देखता है सो तिसी ही दर्शन तैं किसी की निंदा नहीं करता या तैं आत्मा तैं सर्व प्रपंच को भिन्न देखने हारे पुरुष ही निन्दा करे हैं ॥९६७॥

अब आत्मा विषे असंगपणा निरूपण करे हैं। हे देवताओ! या लोक विषे जो पदार्थ संगवान होवे है। तिन पदार्थों को इतर पदार्थों के संग तैं दोषों की प्राप्ति होवे है। जैसे स्वभाव तैं शीतल स्पर्श वाला जो जल है। तिस जल विषे अग्नि के संगते उष्णता प्राप्त होवे है। और स्वभावतैं उष्ण शीत स्पर्श तैं रहित जो वायु है। तिस वायु विषे अग्नि के संगतैं उष्णता प्राप्त होवे है। जल के संग तै शीतलता प्राप्त होवे है। और जो पदार्थ असंग है तिस पदार्थ विषे किसी दोष की प्राप्ति होवैं नहीं। जैसे असंग अकाश विषे मेघ विद्युत आदिक कृत दोषों की प्राप्ति होवे नहीं। और जो पदार्थ मूर्त्तिमान होवे है। तथा प्रछिन्न होवे है। सोई ही पदार्थ संगवान होवे है जैसे मूर्त्तिमान तथा परिछिन्न जलादिक पदार्थ हैं। अग्नि आदिकों के संयोग सम्बन्ध को प्राप्त होवे हैं। और मैं आनन्दस्वरूप आत्मा मूर्त्तिमान नहीं हूं। तथा परिछिन्न नहीं हूं। यातैं मुझ आत्मा का किसी पदार्थ के साथ संग होवे नहीं। और संग के अभाव तैं मैं सर्वांतर्यामी आत्मा किसी पदार्थ के दोष को प्राप्त होवों नहीं। किंवा संयोगादिक सम्बन्धों का नाम संग है। और किंचित काल पर्यंत इतर पदार्थों के स्वरूप की न्याईं जो स्थिति है यह संग का फल है। जैसे उष्ण स्पर्शवान् अग्नि के साथ जभी जल का संयोग सम्बन्ध होवे है। तभी सो जलादिक किंचित काल पर्यंत अग्नि के समान उष्ण स्पर्श वाला

हुआ स्थित होवे है। और मैं आनन्द स्वरूप आत्मा सजातीय भेद तथा विजातीय भेद तथा स्वगत भेद या तीन भेदों तैं रहित हूं। या तैं आत्मा संयोगादिक सम्बन्धरूप संग को प्राप्त होवे नहीं। तथा इतर पदार्थों के साथ तदात्म्य रूप जो संयोग का फल है ता फल को भी प्राप्त होवे नहीं। तहां श्लोक—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यन्शृण्वन्स्पृ शन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन ॥९६८॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तंते इति धारयन ॥९६९॥ गी० अ० ५ श्लो० ८—९

अर्थ—हे अर्जुन! सो योग युक्त परमार्थ दर्शी पुरुष देखता हुआ भी तथा स्पर्श करता हुआ भी तथा गंध को ग्रहण करता हुआ भी तथा भक्षण करता हुआ भी तथा गमन करता हुआ भी तथा निद्रा लेता हुआ भी तथा शब्दों को उच्चारण करता हुआ भी तथा मल को परित्याग करता हुआ भी तथा ग्रहण करता हुआ भी तथा उन्मेष को करता हुआ भी तथा निमेष को करता हुआ भी यह इन्द्रियादिक ही आपने आपने रूपादिक अर्थों विषे प्रवृत्त होवे है। इस प्रकार मानता हुआ मैं किंचित मात्र भी नहीं करता हूं। या प्रकार माने है ९६८-९६९

सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखंवशी। नवद्वारे पुरेदेही नैव कुर्वन्न कारयन ॥९७०॥ गी० अ० ५ श्लो० १३

अर्थ—हे अर्जुन! सर्व कर्मों को मन करके परित्याग करके देह तैं भिन्न आत्म दर्शीवशी पुरुष नवद्वार वाले इस देह विषे सुख पूर्वक स्थित होवे है। तथा नहीं किसी कार्य को करता हुआ तथा नहीं किसी कार्य को करावता हुआ स्थित होवे है॥९७०॥

नवद्वारे पुरे देही ह ंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥९७१॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ३ मं० १८

अर्थ—इन सर्व लोकों को स्थावर जंगम जीवों को आपने वशवर्त्ति करणे हारा पूर्ण पुरुष इस नवद्वार वाले पुर शरीर विषे सुखपुर्वक हंस जीवात्मा अन्तर बाह्य सर्व पदार्थों को प्रकाश करता हुआ स्थित होवे है ॥९७१॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥९७२॥

गी० अ० ५ श्लो० १४

अर्थ—हे अर्जुन! यह आत्मादेव देहादिकों के कर्तृत्व को नहीं उत्पन्न करे है तथा कर्मों को भी नहीं उत्पन्न करै है तथा कर्मों के फल के सम्बन्ध को भी नहीं उत्पन्न करे है। किन्तु अज्ञानरूप माया ही सर्व कार्य के करणे विषे प्रवृत्त होवे है ॥९७२॥

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥९७३॥ गी० अ० ५ श्लो० १८

अर्थ—हे अर्जुन! ज्ञानवान पुरुष विद्याविनययुक्त ब्राह्मण विषे तथा गौ विषे तथा हस्ति विषे तथा श्वान विषे तथा चंडाल विषे आत्म दर्शी ही होवे है ॥९७३॥

आस्ति भाति प्रियंरूपं नाम चेत्यंश पंचकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥९७४॥

सरस्वतीरहस्योप० मं० २३

अर्थ—अस्ति भाति प्रिय नाम रूप यह पांच अंश ही सर्वत्र व्यापक हैं ताहां आदिके तीन अंश तो ब्रह्मरूप हैं अंत के दो अंश जगत रूप हैं ॥९७४॥

तात्पर्य यह है जैसे असन्त पवित्र गंगाजल में तलाब के जल विषे तथा असन्त निषद्ध मदरा विषे तथा मलिन मूत्र विषे प्रतिबिंब भाव को प्राप्त भया जो सूर्य है तिस सूर्य को तिन गंगा जलादिकों के गुण दोषों का सम्बन्ध होवे नहीं । तैसे आपने चिदाभास द्वारा सर्व ऊच नीच उपाधियों विषे प्रतिबिंब भाव को प्राप्त भया जो मैं आत्मा हूं । ता मुझ आत्मा को तिन ऊच नीच उपाधियों के गुण दोषों का सम्बन्ध होवे नहीं । इस प्रकार का निरंतर विचार करते हुए ते ब्रह्मवेत्ता विद्वान पुरुष सर्वत्र सम दृष्टि करके राग द्वेष तैं रहित हुए परमानन्द की स्फुर्ति करके जीवन्मुक्ति के सुख को ही सर्वदा अनुभव करे हैं । किंवा या लोक विषे संगवान जो वस्त्रादिक पदार्थ हैं । ते बन्धन रूप फल को तथा परिणामरूप फल को अवश्य प्राप्त होवे हैं । और वस्त्रादिक पदार्थों का उपादान कारण जो तन्तु आदिक हैं तिनों के परस्पर विभाग तैं तथा तिन तंतु कें नाश तैं पटादिक पदार्थों का भी अवश्य नाश होवे है । किसी जगा तो पदादिक पदार्थों का शीघ्र ही नाश होवे है । और किसी जगा शनैः शनैः करके नाश होवे है । और मैं आनन्दस्वरूप आत्मा संगतै रहित हूं । इस वास्ते मैं आनन्द स्वरूप आत्मा बन्धन को तथा परिणाम को तथा विनाश को प्राप्त होवौं नहीं । और मैं आनन्द स्वरूप आत्मा सर्व विशेष भाव तैं रहित हूं । तथा जन्म मरणादिक सर्व धर्मों तैं रहित हूं ।

सर्व देवात्मको रुद्रः सर्वेदेवाः शिवात्मकाः ये रुद्रनाभिजानंति तेन जानंति केशवम् ॥९७५॥ रुद्रहृदयोप०

अर्थ—सर्व देवताओं का आत्मा रुद्र है और सर्व देवता शिव का आत्मा हैं । जो विद्वान रुद्र को नहीं जानते हैं ते विद्वान केशव को नहीं जानते ॥९७५॥

रुद्रात्प्रवर्तते बीजंबीज यो निर्जनार्दनः । यो रुद्रः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा स हुताशनः ॥९७६॥ रुद्रहृदयोप० मं०७-८

अर्थ—सर्व नामरूप प्रपंच की प्रवृत्ति सर्व का मूल कारण बीज रुद्रतैं ही होई है । तथा सर्व का बीजरूप योनि जनार्दन है । जो रुद्र है सो स्वयं ब्रह्मा है जो ब्रह्मा है सो हुताशन है ॥९७६॥

अस्य त्रैलोक्य वृक्षस्य भूमौ विटप शाखिनः । अग्रं मध्यं तथा मूलं विष्णु ब्रह्म महेश्वराः ॥९७७॥ रुद्रहृदयोप० मं० १४

अर्थ—इस त्रैलो की रूप वृक्ष की ब्रह्मरूप विटप की शाखां अग्र की तथा मध्य की तथा मूल की विष्णु ब्रह्मा महेश्वर हैं ॥९७७॥

कार्यं विष्णु क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः । प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा कृता ॥९७८॥ रुद्रहृदयोपनिषत् मं०१५

अर्थ—कार्य रूप विष्णु है तथा क्रया रूप ब्रह्मा है तथा कारण रूप महेश्वर है। प्रयोजनार्थ रुद्र जी मूर्त्ति एक है त्रिधा प्रकार होकर स्थित है ॥९७८॥

धर्मोरुद्रो जगद्विष्णुः सर्वज्ञानं पितामहः। श्रीरुद्र रुद्ररुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः ९७९॥ रुद्रहृदयोपनिषत् ॥ मं० १६

अर्थ—इस संसार का कारण रूप धर्म रुद्र है और जगद्रूप विष्णु है सर्वज्ञता रूप ज्ञान पितामह है। श्री रुद्र रुद्र रुद्रेति जो बुद्धिमान उच्चारण करता है ॥९७९॥

कीर्तनात्सर्व देवस्य सर्व पापैः प्रमुच्यते। रुद्रो नरउमानारी तस्मै तस्यै नमोनमः ॥९८०॥ रुद्रहृदयोपनिषत् मं० १७

अर्थ—जो पुरुष रुद्र का नामोच्चारण करता है इस रुद्र के कीर्तन करने तैं सर्व देवताओं का कीर्तन होता है और सर्व पाप मुच्यत होते हैं। यावत्संसार में पुरुष हैं सो रुद्र रूप हैं। और यावत्संसार में स्त्री वर्ग है सो सर्व उमा रूप हैं तिस कारण तैं तिस को मेरी नमस्कार होवे नमस्कार होवे ॥९८०॥

क्षरः सर्वाणि भूतानी सूत्रात्माऽक्षरउच्यते। अक्षरं परमं ब्रह्मनिर्विशेषं निरञ्जनम् ॥९८१॥

योगशिखोपनिषत् ॥ अ० ३ मं० १६ ॥

अर्थ—पंच भौतिक देह सर्व नाशवान हैं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ नाश रहित है। परम निर्विशेष निरञ्जन ब्रह्म अक्षर है ॥९८१॥

सर्वज्ञं सर्वगं शांतं सर्वेषां हृदये स्थितम्। सुसं वेद्यं गुरुमतात्सुदुर्बोधमचे तसाम् ॥९८२॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० २० ॥

अर्थ—सो अक्षर सर्वज्ञ है सर्वत्रव्यापक है शांत है सर्व के हृदय विषे स्थित है। सुख पूर्वक जानने योग्य है गुरु की बुद्धि के अनुसार जाना जाता है अविवेकी पुरुष को दुर्बोध है ॥९८२॥

निष्कलं निर्गुणं शांतं निर्विकारं निराश्रयम्। निर्लेपकं निशपायं कुटस्थ मचलं ध्रुवम् ॥९८३॥

योगशिखोपनिषत् ॥ अ० ३ मं० २१ ॥

अर्थ—सो अक्षर कैसा है निष्कल है निर्गुण है शांत है निर्विकार है निराश्रय है। निर्लेप है दुःख सम्बन्ध तैं रहित है। कुटस्थ है ध्रुव अचल है ॥९८३॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योति स्तमः पारे प्रतिष्टितम्। भावाभाव विनिर्मुक्तं भावनामात्र गोचरम् ॥९८४॥

योगशिखोपनिषत् ॥ अ० ३ मं० २२ ॥

अर्थ—सो अक्षर सूर्यादिक ज्योतियों का भी ज्योति है अज्ञान से परे स्थित है। भाव अभाव का विषय नहीं है। भाव नाममात्र का विषय है ॥९८४॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूया। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥९८५॥

गी० अ० २ श्लोक ॥२०॥

अर्थ—हे अर्जुन! यह आत्मा देव नहीं जन्मे है तथा नहीं मरे है। तथा यह आत्मादेव

कदाचित भी पूर्व नहीं होइके पुनः उत्पत्तिमान नहीं होवे है। तिस कारण तैं यह आत्मादेव अज है तथा नित्य है। तथा शाश्वत है तथा पुराना है ऐसा आत्मादेव शरीर के हनन हुए भी नहीं हनन होवे है ॥९८५॥ तहां श्रुति—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥९८६॥

कठ० उ० अ० १ वल्ली २। मं० १८॥

अर्थ—यह आत्मा देव जन्मता नहीं तथा मरता नहीं तथा यह आत्मा देव विपश्चित सर्वज्ञ है तथा यह आत्मादेव किसी अन्य कारण तैं भी उत्पन्न नहीं भया है। तथा या आत्मा तैं कोई अन्य पदार्थ भी उत्पन्न नहीं भया है। तथा यह आत्मा देव पुराना है। तथा यह आत्मादेव शरीर के हनन हुए भी हनन को प्राप्त नहीं होता है ॥९८६॥

न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यते न कंप्यते न भिद्यते न च्छिद्यते निर्गुणः साक्षी भूतः शुद्धो निरवयवात्मा ॥९८७॥

आत्मोपनिषत् मं० १॥

हे देवताओ! ऐसा तुरीयात्मा ही तुम्हारे को ज्ञान करिकै प्राप्त होने योग्य गन्तव्य स्थान है। और सर्व जीवों का आत्मा रूप तथा भय तैं रहित जो मैं अद्वितीय आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूं। ता मैं अभय ब्रह्म को आपना आत्मा रूप करिकै जानते हुये तुम मुझ अभय ब्रह्म को प्राप्त होवोगे। इस वासते संसार रूप शूल तैं तुम्हारे को भय नहीं होवेगा। तात्पर्य यह है। आपने तैं भिन्न परिछिन्न जे ग्रामादिक पदार्थ हैं। तिनों की प्राप्ति जे गवन रूप क्रिया तैं होवे है। तैसे सर्वत्र व्यापक ब्रह्म की प्राप्ति किसी गमन रूप क्रिया तैं होवे नहीं। किन्तु आत्मा रूप करिकै जो ब्रह्म का ज्ञान है सोई ही ब्रह्म की प्राप्ति है इस प्रकार मुझ ब्रह्म को आपना आत्मा रूप करिकै जानता हुआ किसी के पास प्रगट न करे अर्थात् जो अधिकारी पुरुष मैं ब्रह्म को जानता हूं या प्रकार कथन करे है। सो ब्रह्म को नहीं जानता। काहे तैं जो ज्ञात पना है सो आपने तैं भिन्न तथा परिछिन्न वस्तु में है तिस में ज्ञातता धर्म रहे है। इस लिए कथन करता पुरुष को ब्रह्म अज्ञात है और जो मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूं ऐसा कथन कर्त्ता है ताको ब्रह्म ज्ञात है। तहां श्रुति—

यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम विजानताम् ॥९८८॥ केनउ० खं० २ मं० ३॥

अर्थ—जां ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म अमत कहिये अज्ञात है ऐसा निश्चय है तिस को ब्रह्ममत कहिये संम्यक ज्ञात है। और जाको ब्रह्ममत कहिये मैंने ब्रह्म को जान्या है ऐसा निश्चय है सो पुरुष ब्रह्म को नहीं जानता है। संम्यक जानने वाले पुरुषों को ब्रह्म अज्ञात है। असम्यक जानने वाले को ब्रह्मज्ञात है ॥९८८॥

यस्या मतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञात मविजानताम् ॥९८९॥

ब्रह्मगीता अ० ४ श्लोक १७॥

शंका—हे भगवन्! आत्मा के ज्ञान हुए जीवों को संसार रूप शूल तैं भय काहे तैं नहीं

होवे है। समाधान—हे देवताओ ! सम्पूर्ण जीवों को द्वितीय पदार्थ के ज्ञान तैं भय होवे है। या तैं द्वितीय पदार्थ का ज्ञान ही भय का कारण है। और जब पर्यंत किंचित मात्र भी द्वितीय पदार्थ का ज्ञान होवे है। तब पर्यंत अद्वितीय आत्मा का ज्ञान होवे नहीं। और विद्वान् पुरुष को अद्वितीय आत्मा के ज्ञान करिकै द्वितीय पदार्थ का ज्ञान निवृत्त भया है। या तैं द्वैत ज्ञान रूप कारण के अभाव तैं विद्वान् पुरुष को भय की प्राप्ति होवे नहीं। (द्वितीया द्वैभयभवति) अर्थ—द्वितीय पदार्थ के ज्ञान तैं जीवों को भय की प्राप्ति होवे है। अब यां ही अर्थ को स्पष्ट करिकै दिखावे हैं। हे देवताओ ! जिस पदार्थ विषे यह पदार्थ हमारे दुःख का साधन है। या प्रकार का प्रतिकूल ज्ञान होवे है। तिसी पदार्थ विषे जीवों को भय की प्राप्ति होवे है। जैसे सिंह सर्पादिकों विषे जभी जीवों को प्रतिकूलता ज्ञान होवे है। तभी ता सिंह सर्पादिकों तैं जीवों को भय की प्राप्ति होवे है। या तैं यह सिद्ध भया कि द्वैत ज्ञान जन्य जो प्रतिकूलता ज्ञान है सोई ही जीवों को भय का कारण है। आनन्द स्वरूप आत्मा विषे किसी जीव को प्रतिकूलता ज्ञान है नहीं किंतु सर्व जीवों को आत्मा विषे अनुकूलता ज्ञान है ऐसे अनुकूल आत्मा का सर्वत्र व्यापक रूप करिकै ज्ञान जिस पुरुष को भया है। तिस पुरुष के किसी पदार्थ तैं भय होता नहीं। और सो प्रतिकूलता ज्ञान द्वैत ज्ञान बिना होवे नहीं। यां तैं द्वैत पणा ही प्रतिकूलता ज्ञान का कारण है। सो द्वैत पणा अद्वितीय ब्रह्म विषे है नहीं। इस वास्तैं सो अद्वितीय ब्रह्म अभय है। तथा विज्ञान रूप है तथा आनन्द स्वरूप है। तथा सम्पूर्ण भेद तैं रहित है। तहां श्लोक—

नास्य संसेव्यमानस्य सर्वसंपत्ति शालिनः । धनानामीश्वरस्येवस्मयो गर्वो यथा भवेत् ॥९९०॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक १३॥

अर्थ—सम्पूर्ण सम्पत्तियों से शोभायमान इस आत्मा की सेवा करने पर भी जैसे धनी पुरुष को मान गर्व वा अन्य का अनादर होता है। वैसा नहीं होता ॥९९०॥

आमोद इव पुष्पेषु तैलं तिलकणेष्विव । रस जातिष्विवार स्वादो देवो देहेषु संस्थितः ॥९९१॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक १४

अर्थ—जैसे पुष्पों में सुगन्ध तथा तिल के कणों में तैल रहिता है तथा रस जाति वाले पदार्थों में स्वाद रहिता है। तैसे ही यह आत्मादेव सम्पूर्ण देहों में स्थित है ॥९९१॥

अविचार वशादेष हृदयस्थोपि चेतनः। न ज्ञायते चिरादृष्टो दृष्टो बंधु रिवाग्रतः ॥९९२॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक १५॥

अर्थ—हृदय में स्थित भी यह चेतन आत्मा अविचार के कारण से ऐसे नहीं ज्ञात होता जैसे सन्मुख भी स्थित चिरकाल का दृष्ट बन्धु ॥९९२॥

विचारणा परिज्ञात एतस्मिन्परमेश्वरे। अभ्युदेति परानंदोलब्धे प्रियजने यथा ॥९९३॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३ श्लोक १६॥

अर्थ—विचार से इस परमेश्वर के ज्ञात

होने पर ऐसा परमानन्द उदय होता है जैसे प्रिय बन्धु के देखने से ॥९९३॥

अस्मिन्दृष्टे परे बंधा बुद्दामानंददायिनि। आयांति दृष्टयस्तास्तयाभिभंगो विलीयते ॥९९४॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लो० १७ ॥

अर्थ—सर्वोत्तम आनन्ददायि इस परम बन्धु के दृष्ट होने से वे वे आत्मदृष्टि उदित होती हैं। जिन से जन्ममरणादिक विच्छेद नष्ट होता है ॥९९४॥

त्रुट्यंते सर्वतः पाशाः क्षीयंते सर्व शत्रवः। न कृतंति मनांस्याशा गृहाणीव दुराखवः ॥९९५॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लो० १८ ॥

अर्थ—इस आत्मा के दृष्ट होने से संपूर्ण स्नेह रूप पाश टूट जाते हैं। तथा काम क्रोधादिक सर्व शत्रु क्षीण होजाते हैं और तृष्णा मनको ऐसे नहीं छेदन करती जैसे गृह को मूषक ॥९९५

अस्मिन्दृष्टे जगद्दृष्टं श्रुतेऽस्मिन्सकलं श्रुतम्। स्पृष्टे चास्मिज्जगत्स्पृष्टं स्थिते स्मिन्संस्थितं जगत् ॥९९६॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लो० १९ ॥

अर्थ—इसी परमात्मा के दृष्ट होने से संपूर्ण जगत् दृष्ट होजाता है तथा इसी आत्मा के श्रवण से सर्व अश्रुत पदार्थ भी श्रुत होता है। इसी आत्मा के स्पर्श होने से सर्व ब्रह्माण्ड स्पृष्ट होजाता है। इसी आत्मा के हृदय में स्थित होने से संपूर्ण जगत हृदय में स्थित होजाता है। अर्थात इसी आत्मा की सत्ता से संपूर्ण जगत की सत्ता प्राप्त होती है ॥९९६॥

एष जागर्ति सुप्तानि प्रहरत्य विवेकिनाम्। हरत्यापदमार्तानां वितरत्य महात्मनाम् ॥९९७॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लो० २० ॥

अर्थ—इन्द्रिय आदिकों के सुषुप्त होने से यह आत्मा जागता है। अविवेकियों के ऊपर यही आत्मा प्रहार करता है। दुःखियों की अपात्तियों को यही आत्मा हरता है। और परिछिन्न आत्मा रूप ईश्वर के उपासकों को वांछित फल यही आत्मा देता है। ९९७॥

विचरत्येष लोकेषु जीव एव जगत्स्थितौ। बिलसत्येव भोगेषु प्रस्फुरत्येव वस्तुषु ॥९९८॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक २१ ॥

अर्थ—जगत की स्थितियों में यह आत्मा जीव रूप होइके विचरता है। भोगों में निवास करता है। और वस्त्र अलंकार तथा समाज उत्सवादिक में यह आत्मा शोभत है ॥९९८॥

आत्मनात्मानमेवातः शांतेनानुभवन्भवी। स्थितः सर्वेषु देहेषु तीक्ष्णत्वं मिरिचेष्विव ॥९९९॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक २२ ॥

अर्थ—यह आत्मा आपने ही शांत रूप से आपने आत्म रूप का अनुभव करते हुए सर्व देहो में ऐसे स्थित है जैसे मिरचों में तीक्षणता ९९९

एष शून्यत्वमाकाशे स्पंद एष सदागतौ। प्रकाशश्चैव तेजस्सु पयस्स्वेष रसः परः ॥१०००॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक २३ ॥

अर्थ—आकाश में शून्यता वायु में निरन्तर गति तेजों में प्रकाश तथा रसमय पदार्थों में उत्तम रस ॥१०००॥

काठिन्यमवनावेव मौष्ण्यमेव हुताशने। शैत्यमेष निशानाथे सत्ता चैष जगद्गणे ॥१॥

यो० वा० उपश० प्र० स० ३५ श्लोक २४॥

अर्थ—पृथवी में कठिनता अग्नि में उष्णता चन्द्रमा में शीतलता तथा ब्रह्मांड समूह में अस्ति भाति प्रिय रूपता यह परमात्मा देव ही है ॥१॥

मषीपिंडे यथा काष्र्ण्यं शैत्यं हिम कणे यथा। यथा पुष्पेषु सौगंधं देहे देह पतिस्तथा ॥२॥

योo वाo उपशo प्रo सo ३५ श्लोक २५॥

अर्थ—जैसे मषी के पिण्ड में कृष्णता है तथा हिम के कणों में शीतलता है तथा जैसे पुष्पों में सौगन्ध है। तैसे ही सम्पूर्ण देहों में देहों का पति आत्मा प्रकाश करता है ॥२॥

हे देवताओ! ऐसा मैं अद्वितीय अभयब्रह्म तुम्हारे तैं भिन्न नहीं हूं। किंतु तुम्हारा आत्मा रूप हूं। और तुम तथा संपूर्ण भूत प्राणी तथा स्थूल सूक्ष्म शरीर इस तैं आदि लै कै जितनाक जगत है सो संपूर्ण जगत मुझ परमात्मा तैं भिन्न नहीं किंतु मैं परमात्मा रूप ही हूं इस वास्तैं भेद सें रहित मैं अद्वितीय परमात्मा को श्रुति नैं अभय कहा है। अब इसी अर्थ को दृष्टांत करिकै स्पष्ट करै हैं। हे देवताओ! जैसे गंधर्व नगर अकाश तैं भिन्न नहीं है। तैसे यह संपूर्ण जगत मुझ आनंद स्वरूप परमात्मा तैं भिन्न नहीं। और जैसे आकाश विषे गंधर्व नगर की जो स्थिति है सो वास्तव तैं नहीं। किंतु माया करिकै है। और जैसे आकाश अधिष्टान विषे गंधर्व नगर पूर्व हुआ नहीं। आगे होवैगा नहीं। अभी है नहीं। तैसे मुझ परमात्मा विषे जगत् पूर्व हुआ नहीं। आगे होवैगा नहीं अभी है नहीं।

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति। तत्त्व ज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥३॥ अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थिति। उपादानं प्रपंचस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥४॥

नादविंदूपनिषत् मं० २२—२५॥

अर्थ—अध्यस्त पदार्थ का कहां जन्म है जन्म के अभाव तैं कहां स्थिति है। उपादान प्रपंच का घट मृतिका की न्याई ही देखो ॥४॥

यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृहाति वैभ्रमात्। तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधी ॥५॥ नादविंदूपनि० मं० २६

अर्थ—जैसे रज्जु के यथार्थ रूप को परित्याग करिकै। भ्रम के वश हुआ भ्रांत पुरुष सर्प को ग्रहण करता है। तैसे ही सत्चित् आनन्द स्वरूप सर्वांतर्यामी परमात्मा के अज्ञान से मूढ बुद्धि पुरुष जगत को देखता है ॥५॥

रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति। अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचे शून्यतां गते ॥६॥ नादविंदूपनि० मं० २७॥

अर्थ—जब रज्जु का यथार्थ ज्ञान होवे है। तब कल्पित सर्प का अभाव होवे है। तैसे सर्व कल्पित प्रपञ्च का अधिष्टान अस्ति भाति प्रिय रूप ब्रह्म का ज्ञान होजाने से तात काल ही प्रपंच का अभाव होवे है ॥६॥

देहस्यापि प्रपंचत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः। अज्ञानजन बोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते। ततः कालवशादेव प्रारब्धेतुक्षयं गते ॥७॥ नादविं० मं० २८-२९

यदि शैलं समं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्। भिद्यते ध्यान योगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥८॥ ध्यानबिंदूपनि० मं० १

अर्थ—यदि पर्वत की न्याई बहुत योजनों में विस्तीर्ण पाप हैं। सो बहुत पाप आत्मा के साक्षात्कार ध्यान योग करिकै भेदन को प्राप्त होते हैं। और किसी साधन में कदाचित भी नाश नहीं होवे है ॥७-८॥

शंका—हे भगवन ! जो आप परमानंद परमात्मा विषे तीन काल जगत नहीं भया तो लोकों को भिन्न भिन्न रूप करिकै यह जगत किस वास्तैं प्रतीत होता है। समाधान—जैसे आकाश में यद्यपि तीन काल विषे गंधर्व नगर नहीं है। तथापि भ्रांत पुरुषों को सो गंधर्वनगर स्थूल सूक्ष्म रूप करिकै तथा जड चैतन्य रूप करिकै प्रतीत होवै है। तैसे मुझ आनंद स्वरूप आत्मा विषे यद्यपि तीन काल में जगत नहीं है। तथापि भ्रांत पुरुषों को भ्रांती करिकै सो जगत स्थूल सूक्ष्म रूप करिकै तथा जड चैतन्य रूप करिकै तथा भिन्न भिन्न रूप करिकै प्रतीत होवै है। तहां श्लोक —

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥९॥ गी० अ० १३ श्लोक १६॥

अर्थ—हे अर्जुन ! पुनाः सो पर ब्रह्म सर्व प्राणियों विषे एक ही है। तथा भिन्न भिन्न की न्याई स्थित है। सो पर ब्रह्म ही सर्व भूतों को धारण करने हारा तथा संहार करने हारा तथा उत्पन्न करने हारा तुम नैं जानना ॥९॥

अब या ही अर्थ को स्वप्न के दृष्टांत से निरूपण करै हैं। हे देवताओ ! जैसे जाग्रत अवस्था विषे रथ अश्व हस्ती आदिक पदार्थों के उत्पाति के साधन जे देश कालादिक हैं तिन देश कालादिक साधनों का स्वप्न अवस्था विषे अभाव हुये भी जैसे एक ही स्वप्न द्रष्टा पुरुष अज्ञान के वश तैं रथ अश्व हस्ती इत्यादिक अनेक भाव को प्राप्त होवै है। तैसे देश कालादिक साधनों तैं रहित एक ही मैं परमात्मा देव नाना प्रकार के जगत भाव को प्राप्त होवौं हूं। और जैसे स्वप्न तैं जाग्रत को प्राप्त हुआ सो पुरुष स्वप्न के पदार्थों को देखता नहीं या तैं जाग्रत अवस्था स्वप्न पदार्थों का नाश करने हारी है। तैसे मुझ आत्मा के साक्षात्कार करिकै यह संपूर्ण जगत नाश को प्राप्त होवै है। हे देवताओ ! ऐसा मुझ अद्वितीय आत्मा का साक्षत्कार तुम्हारे को प्राप्त भया है। या तैं संसार रूप शूल तैं तुम अभी भय मत करो।

न तत्र रथान रथयोगानपंथा नो-भवन्त्यथ रथान्रथयोन्यथः सृजते न तत्रानंदामुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशांताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥१०॥

बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थे द्वितीयं ब्राह्मणम् मं० १०

शंका—हे भगवन ! दिन विषे जाग्रत अवस्था को प्राप्त हुआ जो स्थूल सूक्ष्म संघात रूप यह पुरुष है सो पुरुष किस ज्योति करिकै भासमान है। तात्पर्य यह है। संघात के अंतर वर्तमान किसी ज्योति करिकै भास्यमान है अथवा संघात तैं भिन्न किसी स्थान विषे वर्तमान ज्योति करिकै भास्यमान है यह आप कृपा करिकै हमारे प्रति कथन करो। समाधान—हे देवताओ ! जाग्रत अवस्था विषे या पुरुष का आदित्य ही ज्योति है।

शंका—हे भगवन ! जाग्रत का प्राण रूप जो आदित्य रूप ज्योति है सो जभी अस्तभाव को प्राप्त होवै है। तभी ता पुरुष का कौन ज्योति है। समाधान—आदित्य के अस्त हुये तैं आनंतर यां पुरुष का चंद्रमा ही ज्योति है।

शंका—हे भगवन ! जभी चंद्रमा भी अस्त भाव को प्राप्त होवै है तभी या पुरुष का कौन ज्योति है। समाधान—चंद्रमा के अस्त हुये तैं अनंतर या पुरुष का अग्नि ही ज्योति है।

शंका—हे भगवन ! जभी अग्नि भी अस्त भाव को प्राप्त होवै है तभी या पुरुष का कौन ज्योति है। समाधान —जभी अग्नि के अस्त भाव हुये तैं अनंतर या पुरुष का वाक्य ही ज्योति है। अब आदित्य चंद्रमा अग्नि वाक्य या चारों विषे स्पष्ट करिकै ज्योति रूप ता निरूपण करै हैं। हे देवताओ ! आदित्य चंद्रमा अग्नि या तीनों ज्योतियों विषे आदित्य रूप ज्योति करिकै अथवा चंद्रमा रूप ज्योति करिकै अथवा अग्नि रूप ज्योति करिकै यह पुरुष सर्व कंटकादिकों तैं रहित अनुकूल देश को देख करिकै ता देश विषे स्थिति करै है। तथा गृह के विषे जावै है तथा क्षेत्रादिकों विषे जावै है। तहां क्षेत्र विषे जाइकै इस लोक कै सुख के साधन जो कृषि आदिक कर्म हैं तिनों को यह पुरुष करै है। और गृह विषे जाय के यह पुरुष परलोक के सुख के साधन जो दानादिक कर्म हैं। तिन्हों को करै है। इस तैं आदि लै कै अनेक प्रकार के व्यवहारों को करै है। आदित्यादिक ज्योतियों के प्रकाश करिकै व्यवहार करै है। आदित्यादिक ज्योतियों के प्रकाश तैं विना अंधकार विषे किसी व्यवहार की सिद्ध होवै नहीं। या तैं आदित्य विषे चंद्रमा विषे अग्नि विषे ज्योतिपणा संभवै है। अब वाक्य विषे ज्योतिपणा स्पष्ट करिकै निरूपण करै हैं। हे देवताओ ! जिस स्थान विषे आदित्य चंद्रमा अग्नि या तीनों ज्योतियों का प्रकाश नहीं है। तहां अत्यंत गाढ़ अंधकार विषे जहां अपना हस्त भी दिखाई नहीं देता। ऐसे गाढ़ अंधकार विषे आसनादिक संपूर्ण व्यवहार वाक्य रूप जोति करिकै होवै हैं। तात्पर्य यह है। अंधकार विषे स्थित हुआ यह पुरुष अन्य किसी पुरुष को जभी या प्रकार वचन कहै है या पूर्व दिशा विषे बहुत समीचीन स्थान है। तहां आइ कै तुम आसन करो। तभी सो पुरुष ता की वाणी को श्रवण करिकै तहां आसनादिक व्यवहार करै है। या तैं जैसे आदित्य चंद्रमा अग्नि या तीनों लोकों के गमना गमनादिक व्यवहारों के साधक हैं। या तैं आदित्यादिक तीनों ज्योति रूप हैं। तैसे अंधकार विषे वाक्य भी गमना गमनादिक रूप व्यवहार का साधक है। या तैं वाक्य भी ज्योति रूप है।

शंका—हे भगवन ! आप नैं जाग्रत अवस्था विषे आदित्यादिक चारों प्रकार के

ज्योति कहै तिन चारों का स्वप्न अवस्था विषे लय होवै है । तो स्वप्न अवस्था विषे यां सूक्ष्म संघात रूप पुरुष का कौन ज्योति है । जिस ज्योति करिकै स्वप्न अवस्था विषे सर्व व्यवहार सिद्ध होवै हैं। हे भगवन ! जो आप यह कहो स्वप्न अवस्था विषे यद्यपि अदित्यादिक ज्योतियों का लय होवै है। तथापि स्वप्न अवस्था विषे मन का लय होवै नहीं। या तैं स्वप्न अवस्था विषे या पुरुष का मन ही ज्योति है । सो यह कहना संभवै नहीं । काहे तैं जैसे जाग्रत अवस्था विषे नेत्र इंद्रिय के विद्यमान हुये भी अदित्यादिक ज्योतियों के प्रकाश तैं विना सो नेत्र इंद्रिय किसी भी पदार्थ का प्रकाश कर सकै नहीं। या तैं घटादिकों के ग्रहण विषे नेत्र इंद्रिय को अदित्यादिक प्रकाश की अपेक्षा है। तैसे घटादिक पदार्थों के ग्रहण विषे मन को भी नेत्रादिक इंद्रियों की अपेक्षा है । नेत्रादिक इंद्रियों तैं विना मन किसी पदार्थ को ग्रहण करै नहीं । और नेत्रादिक इंद्रिय स्वप्न विषे लय को प्राप्त होवै हैं। या तैं स्वप्न अवस्था विषे मन को ज्योति रूपता संभवै नहीं। किंवा जैसे मृति का घट शरावादिक कार्यों का उपादान कारण होवै है । तैसे स्वप्न अवस्था विषे मन ही रथादिक पदार्थों का तथा रथादिक अकार वृत्तिज्ञानों का उपादान कारण होवै है इस वास्तैं मनतैं भिन्न ही कोई स्वप्न पदार्थों का प्रकाशक चाहिये। और स्वप्न अवस्था विषे अविद्या को ही जो रथादिक पदार्थों का उपादान कारण अंगीकार करिये तो भी जैसे जाग्रत अवस्था विषे नेत्रादिक कारणों को अदित्यादिक ज्योतियों की अपेक्षा होवे है। तैसे स्वप्न अवस्था विषे मनरूप कारण को भी किसी प्रकाश की अपेक्षा अवश्य होवेगी। और स्वप्न अवस्था विषे अदित्यादिक ज्योति तथा नेत्रादिक इन्द्रिय तो है नहीं। और स्वप्न अवस्था विषे भी जाग्रत अवस्था की न्याँई गमना गमनादिक सर्व व्यवहार होवे हैं। या तैं स्वप्न अवस्था विषे विद्यमान हुआ भी मन जिस ज्योति की सत्ता सहायता तैं विना स्वप्न अवस्था के पदार्थों को ग्रहण करता नहीं। सो मन के ऊपर अनुग्रह करने हारा स्वप्न अवस्था विषे कौन ज्योति है। समाधान—हे देवताओ ! स्वप्न अवस्था विषे या पुरुष का आत्मा ही स्वयं ज्योति है। कैसा है सो आत्मा मृतिका की न्याँई स्वप्न पदार्थों का उपादान कारण रूप जो मन है ताका साक्षी है। जैसे जाग्रत अवस्था विषे यह पुरुष अदित्यादिक ज्योतियों के प्रकाश करकै गमना गमनादिक नाना प्रकार के व्यवहार करे है। तैसे स्वप्न अवस्था विषे यह पुरुष आत्मा रूप ज्योति करके गमना गमनादिक नाना प्रकार के व्यवहारों को करे है यातैं स्वप्न अवस्था विषे मनादिकों का साक्षी आत्मा ही स्वयं ज्योति है।

इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवति त्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥११॥ वृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थे ब्राह्मणम् २ मं० ६॥ कतम आत्मेतियोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिः पुरुषः स समानः ॥१२॥ वृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थे ब्राह्मण २ मं० ७

शंका—हे भगवन ! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति या तीनों अवस्थाओं विषे स्वयं प्रकाश आत्मा विद्यमान है। यातैं जाग्रत अवस्था विषे भी

आत्मा को ज्योतिपणा संभव है। जाग्रत अवस्था को छोड़के श्रुति नैं स्वप्न अवस्था विषे आत्मा को ज्योतिरूप करके किस वास्तैं कथन किया है। समाधान—हे देवताओ! यद्यपि जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति या तीनों अवस्था विषे आत्मा का स्वयं ज्योतिपणा समान ही है। जाग्रत अवस्था विषे अदित्य चन्द्रमा अग्नि वाक्य यह चारों ज्योति भी विद्यमान है। यातैं जाग्रत अवस्था विषे अदित्यादिक ज्योतियों करके गमना गमनादिक व्यवहार होवे है। अथवा आत्मारूप ज्योति करके सो गमना गमनादिक व्यवहार होवे है। या प्रकार का निर्णय अल्प-बुद्धि पुरुष को होवे नहीं। और स्वप्न अवस्था विषे अदित्यादिक चारों ज्योतियों का लय होवे है। एक आत्मा ही रहे है। यातैं अल्पबुद्धि पुरुषों को स्वयं ज्योतिरूप आत्मा का निश्चय करावने वास्तैं श्रुति नैं स्वप्न अवस्था विषे ही आत्मा को स्वयं ज्योति कह्या है जभी यह अधिकारी पुरुष स्वप्न अवस्था विषे आत्मा को स्वयं ज्योतिरूप करके निश्चय करेगा। तभी जाग्रत अवस्था विषे भी आत्मा के स्वयं ज्योति-पने को जान सकैगा। अब या ही अर्थ को स्पष्ट करने वासतैं स्वप्न अवस्था विषे आत्मा को स्वप्न पदार्थों का कर्तारूप करके निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे सृष्टीकाल विषे एक ही माया विशिष्ट मैं ईश्वर सम्पूर्ण जगत को रचूं हूं। तैसे स्वप्न अवस्था विषे एक ही स्वयं ज्योति आत्मा आदित्यादिक चारों ज्योति रूप प्रकाशकों को तथा रथ अश्वादिरूप प्रकाश्य पदार्थों को उत्पन्न करे है। तथा आदित्यादिक प्रकाश को करके अनुगृहीत जे नेत्रादिक करण तिनों को उत्पन्न करे है। और ता स्वप्न अवस्था विषे यह स्वयं ज्योति आत्माओं का आदिक पंचभूतों को तथा भौतिक जगत को उत्पन्न करे है। तथा भूत भविष्य वर्तमान या तीन प्रकार के कालों को उत्पन्न करे है। तथा पूर्व दक्षिणादिक दश दिशाओं को उत्पन्न करे है। तथा स्थावर जगमरूप जे ऊच नीच जंतु हैं। तिनों को उत्पन्न करे है। तथा जंबूद्वीप तैं आदि लैके जे सप्तद्वीप हैं तिनों को उत्पन्न करे है। तथा क्षार समुद्र तैं आदि लैकै जे सप्त समुद्र हैं तिनों को उत्पन्न करे है। तथा समेरू पर्वत तैं आदि लैके सर्व पर्वतों को उत्पन्न करे है। श्रीगङ्गा तैं आदि लैके सर्व नदियों को उत्पन्न करे है। तथा नीचे के सप्त लोकों को उत्पन्न करे है। तथा ऊपर के सप्त लोकों के उत्पन्न करे है। तथा तिन चतुर्दश लोकों अधिपतियों को उत्पन्न करे है। तथा इन्द्र, अग्नि यम, वरुण, चन्द्र, पवन, धनद, महेशान, ब्रह्मा शेश, यह दश दिक्पालों को उत्पन्न करे है। ब्रह्मा, विष्णु शिव इत्यादिक जे शुद्ध परमेश्वर के लीला विग्रह हैं तिनों को उत्पन्न करे है। तथा नाना प्रकार के भूमि के राजों को उत्पन्न करे हैं। इसतैं। आदि लैके जितनाक स्थूल सूक्ष्म जगत है तथा परोक्ष अपरोक्ष रूप जगत् है तिस सम्पूर्ण जगत को यह स्वयं ज्योति आत्मा उत्पन्न करे है। हे देवताओं। यह जीव अल्पज्ञ है यातैं सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ ताका अभेद संभवै नहीं। या प्रकार की कुतर्क करके दूषत है चित्त जिन्हों का ऐसे जे भेदवादी पुरुष हैं। ते "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं या श्रुति को अप्रमाण मानै हैं। तथापि स्वप्न अवस्था विषे तिन, भेदवादियों को बलात्कार से ता श्रुति की प्रमाणता सिद्ध होवे है। काहे तैं

जैसे ब्रह्म आपनी माया शक्ति करके जगत् की उत्पत्ति स्थिति लय करे है। तैसे स्वप्न अवस्था विषे यह स्वयं ज्योति आत्मा भी अपनी माया शक्ति करके जगत की उत्पत्ति स्थिति लय करे है। यातैं जगत के उत्पत्ति स्थिति लय की कारणता जैसे ब्रह्म विषे है तैसे स्वप्न अवस्था विषे या जीवात्मा विषे भी जगत् के उत्पत्ति स्थिति लय की कारणता है। या कारण तैं यह जीवात्मा ब्रह्मतैं भिन्न नहीं। किंतु ब्रह्मतैं अभिन्न ही है। और जैसे प्रज्वलित महान अग्नि तैं अग्नि के समान रूप वाले विस्फुलिंग उत्पन्न होवे हैं। तहां श्रुति—

तदेतत्सत्यं यथासुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवंते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भवाः प्रजायंते तत्र चैवापियंति ॥१३॥

द्वि० मुंड० उ० खं० १ मं० १ ॥

अर्थ—जैसे भली प्रकार सें प्रज्वलित हुये अग्नि तैं सहस्रों ही अग्नि के समान रूप वाले अग्नि के अवयव रूप विस्फुलिंग कहिये चिनगारे निकसते हैं। तैसे हे सोम्य उक्त लक्षण वाले अक्षर तैं अकाशादिक पंच भौतिक देह रूप उपाधियों के भेद के अनुसार होने तैं विविध प्रकार के भाव रूप जीव उत्पन्न होवै हैं। सो यह जीव कारण के स्वरूप भूत होने ते सत्य स्वरूप अक्षर ही हैं। जैसे घटादिक के नाश हुये पीछे घटाकाश महाकाश ही है। तैसे देह रूप उपाधि के नाश हुये पीछे यह जीव अक्षर परमात्मा रूप ही है ॥१३॥

तैसे स्वप्न अवस्था विषे या स्वयं ज्योति आत्मा तैं आपने समान रूप वाले अनेक जीव उत्पन्न होवै हैं। और जैसे माया विशिष्ट मैं परमेश्वर प्रथम समष्टि सूक्ष्म हिरण्य गर्भ रूप मन को उत्पन्न करों हूं। कैसा है सो हिरण्य गर्भ रूप मन उत्पन्न होने द्वारा स्थूल भूत भौतक प्रपंच रूप गर्भ करिकै युक्त है। ऐसे हिरण्य गर्भ रूप मन करिकै मैं परमात्मा देव नाम रूपात्मक संपूर्ण स्थूल सूक्ष्म जगत को उत्पन्न करों हूं। कैसा है सो जगत हिरण्य गर्भ रूप मन की उत्पत्ति तैं पूर्व माया विशिष्ट मुझ परमात्मा विषे संस्कार रूप करिकै रहै। तैसे स्वप्न अवस्था विषे यह स्वयं ज्योति आत्मा भी एक मन रूपी साधन करिकै सर्व जगत को उत्पन्न करै है। और जैसे लोक विषे एक ही अकाश विषे घटाकाश मठाकाश या प्रकार का भेद प्रतीत होवै है। परंतु सो भेद वास्तव तैं नहीं किंतु घट रूप सूक्ष्म उपाधि करिकै तथा मठ रूप स्थूल उपाधि करिकै सो भेद प्रतीत होवै है। तैसे मुझ अद्वितीय ब्रह्म तैं जो जीवों का भेद प्रतीत होवै है। सो भेद भी वास्तव तैं नहीं किंतु स्थूल सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि करिकै प्रतीत होवै है। और जैसे एक ही अकाश घट रूप उपाधि विषे तथा मठरूप उपाधि विषे एक रूप करिकै विद्यमान है। अकाश विषे किंचित्मात्र भी विलक्षणता नहीं। और घटाकाश मठाकाश इत्यादिक जो विलक्षण प्रतीत होवै है सो विलक्षणता अकाश विषे अनुत्पन्न हुई घट मठादिक उपाधियों को ही आश्रायन करै है। तैसे मैं ब्रह्म भी स्थूल सूक्ष्म शरीरों विषे समान रूप करिकै ही स्थित होवौं हूं। मुझ ब्रह्म विषे किंचितमात्र भी विलक्षणता नहीं। और लोकों को जो विलक्षणता प्रतीत होवे है। सो विलक्षणता मुझ अद्वितीय ब्रह्म विषे अनुपपन्न हुई परिविशेष तें

स्थूल सूक्ष्मरूप उपाधियों को ही आश्रायण करे है। तैसे मैं ब्रह्म भी स्थूल सूक्ष्म शरीरों विषे समानरूप करके ही स्थित होवौं हूं। मुझ ब्रह्म विषे किंचितमात्र भी विलक्षणता नहीं। और लोकों को जो विलक्षणता प्रतीत होवे है। सो विलक्षणता मुझ अद्वितीय ब्रह्मविषे अनुपपन्न हुई। परिविशेष तैं स्थूल सूक्ष्म रूप उपाधियों कों ही आश्रायण करै है। या कहने करिकै आत्मा का सर्वत्र अभेद निरूपण किया। तहां श्रुति—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महांतं विभूमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥१४॥ कठो० वल्ली २ मं० २२॥

अर्थ—स्वरूप सें आत्मा अकाश की न्यांई व्यापक है या तैं आत्मा अशरीर हैं। और स्थित से रहित अनित्य देव पितृ तथा मनुष्यादिक शरीरों विषे स्थित नित्य निर्विकार है और महान है आत्मा विभू निरपेक्ष व्यापक है ऐसे आत्मा को बुद्धिमान पुरुष आपना आत्मा रूप करिकै साक्षात्कार करने सें शोक को प्राप्त नहीं होता ॥१४॥

अब उपाधियों के अभेद कहने वास्ते प्रथम सूक्ष्म उपाधियों के रूप को निरूपण करै हैं। हे देवताओ! जैसे समष्टि अज्ञान विशिष्ट मुझ ईश्वर का हरण्य गर्भ रूप सूत्रात्मा सूक्ष्म शरीर है। तैसे व्यष्टि अज्ञान विशिष्ट जीवों का मन ही सूक्ष्म शरीर है। यहां मन शब्द करिकै पंच ज्ञान इंद्रिय पंच कर्म इंद्रिय पंच प्राण मन बुद्धि या सप्त दश तत्त्वों का ग्रहण करना। और जैसे समष्टि माया विशिष्ट मैं ईश्वर हरण्य गर्भ रूप सूत्रात्मा करिकै स्थूल प्रपंच रूप विराट पट को रचुं हूं। तैसे स्वप्न अवस्था विषे यह जीवात्मा मन रूप सूत्र करिकै जगत रूप पट को रचे है। अब समष्टि व्यष्टि के अभेद कहने वास्ते प्रथम तिनों के समान धर्मों को दिखावै हैं। हे देवताओ! जैसे प्रज्वलित महान अग्नि तैं अनेक विस्फुलिंग उत्पन्न होवै हैं। तैसे सूत्रात्मा रूप मुझ हरण्य गर्भ तैं अनेक मन उत्पन्न होवै है। और जैसे प्रज्वलित महान अग्नि दाह करै है। तथा प्रकाश करै है। तैसे अग्नि तैं उत्पन्न हुये विस्फुलिंग भी दाह करै हैं तथा प्रकाश करै है। इस प्रकार जैसे मैं हरण्य गर्भ रूप सूत्रात्मा जगत की उत्पत्ति स्थिति लय करौं हूं। तैसे स्वप्न अवस्था विषे सर्व देहधारी जीवों का मन भी जगत की उत्पत्ति स्थिति लय करै है। और प्रज्वलित अग्नि विषे तथा विस्फुलिंगों विषे तेज रूपता तथा रक्त रूपता समान नहीं है। तैसे समष्टि सूक्ष्म मुझ सूत्रात्मा विषे तथा जीवों के व्यष्टि मन विषे सूक्ष्म रूपता समान हीं है। या करिकै समष्टि सूक्ष्म सूत्रात्मा विषे तथा व्यष्टि सूक्ष्म मन विषे समान धर्मता दिखाई। अब दोनों के अभेद को निरूपण करैं हैं। हे देवताओ! जैसे प्रज्वलित महान अग्नि तथा विस्फुलिंग यह दोनों तेज रूप करिकै समान ही हैं। या तैं वास्तव तैं तिनों का भेद नहीं। किंतु काष्ट रूप उपाधि करिकै तिनों का भेद है। तैसे समष्टि मुझ सूत्रात्मा विषे तथा व्यष्टि मन विषे वास्तव तैं भेद नहीं। किंतु समष्टि मुझ स्थूल विराट शरीर रूप उपाधि करिकै मुझ सूत्रात्मा विषे भेद है। तथा व्यष्टि स्थूल शरीर रूप उपाधि करिकै मन विषे भेद है। इतनै करिकै समष्टि व्यष्टि उपाधियों का भेद दिखाया। तहां श्रुति—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायंते तत्र चैवापयंति ॥१५॥

द्वि० मुंड० उ० खं० १ मं० १ ॥

अर्थ—जैसे भली प्रकार से प्रज्वलित हुए अग्नि तैं सहस्रों ही अग्नि के समान रूप वाले अग्नि के अवयव रूप विस्फुलिंग कहिये चिनगारे निकसतैं हैं। तैसे हे सोम्य उक्त लक्षणवाले अक्षर तैं अकाशादिक पंचभौतिक देहरूप उपाधियों के भेद के अनुसार होने तैं विविध प्रकार के रूप जीव उत्पन्न होवे हैं। सो यह जीव कारण के स्वरूप भूत होने तैं सत्यस्वरूप अक्षर ही है। जैसे घटादिक के नाश हुए पीछे घटाकाश महाकाश ही है। तैसे देहरूप उपाधि के नाश हुए पीछे यह जीव अक्षर परमात्मा रूप ही है ॥१५॥

अब सम्पूर्ण जड़ जगत विषे मिथ्यात्व बोधन करणे वास्ते प्रथम सम्पूर्ण जड़ जगत विषे चैतन्य आत्मा करके प्रकाशता निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे लोक विषे भीत नाना प्रकार के चित्रों का अधार होवे है। तैसे ता समष्टि सूक्ष्मरूप मैं सूत्रात्मा समष्टि स्थूल रूप चित्रों का अधाररूप हूं। इसप्रकार व्यष्टि मनरूप भी तभी व्यष्टि स्थूल शरीर रूप चित्रों का अधार है। और जैसे दीपक प्रथम भीत को प्रकाशित करे है। ता भीत द्वारा तिन चित्रों को प्रकाशित करे है। तैसे समष्टि अज्ञान उपहित मैं ईश्वर साक्षी प्रथम सूत्रात्मारूप भींत को ही प्रकाशित करों हूं। ता सूत्रात्मा द्वारा समष्टि स्थूल विराटरूप चित्रों को प्रकाशित करों हूं। इसीप्रकार व्यष्टि अज्ञान उपहित जीव साक्षी प्रथम व्यष्टि सूक्ष्म शरीर रूप भीत को प्रकाशित करे है। ता सूक्ष्म शरीर द्वारा व्यष्टि स्थूल शरीर रूप चित्रों को प्रकाशित करे है। और जैसे भीत तथा चित्र दीपक को प्रकाशित करसकें नहीं। तैसे समष्टि व्यष्टि सूक्ष्म स्थूल रूप उपाधि मुझ साक्षी आत्मा को प्रकाशित करसकै नहीं। इतने करके तत्त्वमसि या श्रुति विषे तत्पद का लक्ष्यार्थ जो मैं साक्षी हूं। तथा त्वं पद का लक्ष्यार्थ जो ईश्वर साक्षी है। तिन दोनों के अभेद की योग्यता दिखाई। अब मनके विद्यमान हुए आत्मा विषे जगत की प्रतीति और मन के लय हुए आत्मा विषे जगत् की अप्रतीति। या प्रकार के अर्थ को बोधन करने वास्ते। समष्टि विषे मन का लय तथा कारण अज्ञान विषे मनका लय तथा अधिष्ठान विषे मनका लय या तीन प्रकार का मनका लय रूप व्यतिरेक निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे काष्ठों के अभाव हुए अग्नि समान तेज विषे लय भाव को प्राप्त होवे है। तैसे जो अधिकारी पुरुष को हिरण्यगर्भ की उपासना करके अध्यात्म परिछिन्नभाव की निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त होवे है। तथा हिरण्यगर्भ भाव की प्राप्ति रूप अतिमोक्ष को प्राप्त होवे है। तिन उपासक पुरुषों के मन जबी सूत्रात्मा रूप हिरण्यगर्भ विषे लय होवे हैं। तिसकाल विषे तिन उपासक पुरुषों के अध्यात्म परिछेद रूप संसार की निवृत्ति होवे है। अब कारण अज्ञान विषे मनका लय रूप व्यतिरेक का निरूपण करे हैं जैसे भस्म करके अच्छादित हुई अग्नि दाहरूप कार्य को तथा प्रकाशरूप कार्य को करे नहीं। और भस्म के निवृत्ति हुए तैं अनन्तर सोई

अग्नि दाहरूप कार्य को तथा प्रकाशरूप कार्य को करे है। तैसे सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे जीवों के मनरूप अग्नि भोग्यप्रद कर्मों के अभाव रूप भस्म करके अच्छादित रहे है। इस वास्ते सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे जीवों के मन जगत् की उत्पत्ति स्थिति लयरूप कार्य को करे नही। जभी सुख दुःखरूप फल के देनेहारे पुण्य पापरूप प्रारब्ध कर्म का उदभव होवे है। तभी सोई ही मन जाग्रत स्वप्न विषे जगत के उत्पत्ति स्थिति लय रूप कार्य को करे है। अब अधिष्टान विषे मन का लय रूप व्यतिरेक निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे सर्वकाष्ठों को भस्म करके जो अग्नि नाश को प्राप्त होवे है। सो अग्नि पुनः कदाचित् उत्पन्न नहीं होवे है। और दो काष्टों के मथन रूप उपाय करके जो अग्नि उत्पन्न होवे है। सो भी दूसरी ही अग्नि उत्पन्न होवे है। पूर्व नाश हुआ अग्नि पुनः उत्पन्न होवे नहीं। तैसे श्रवणादिक साधनों करके युक्त जो शुद्ध मन है। सो आत्म साक्षात्कार रूप अग्नि करके अज्ञान को तथा अज्ञान के कार्य जगत् को दग्ध करे है। और सो मन भी अज्ञान का कार्य है। यातैं अज्ञान रूप कारण के दग्ध हुए तैं अनन्तर सो मन भी दग्ध होय जावे है। और एकवार आत्म ज्ञान करके नाश को प्राप्त हुआ मन पुनः कदाचित् भी उत्पन्न होवे नहीं। इसी वास्तें अज्ञानी जीवों की न्याई मुक्त पुरुष का बारम्बार जन्म होवे नहीं। इतनें करके मन के अभाव हुए संसार का अभाव रूप व्यतिरेक दिखाया—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१६॥

मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ३

अर्थ—जैसे काष्टों से रहित हुई अग्नि स्वयं ही शांत हो जाती है। तैसे मनवासना से रहित हुआ स्वयं ही शांत हो जाता है ॥१६॥

स्वयोनावुपशांतस्य मनसः सत्यगामिनः। इन्द्रियार्थ विमूढस्याऽनृताः कर्म वशानुगाः ॥१७॥

मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ४

अर्थ—जभी मन वासना सें रहित हुआ आप ही उपशम को प्राप्त होता है। सो उपशम मन सत्य मार्ग में चलता है। और इन्द्रियों के विषयों में असक्त मूढ़ मन मिथ्या कर्म तथा कर्म के फल में राग करके बन्धाय मान होवे है ॥१७॥

चित्तमेवहि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥१८॥

मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ५

अर्थ—निश्चय करके चित्त ही संसार है तिस चित को प्रयत्न करके शुद्ध करो। जैसा चित्त होता है तत्मये ही हो जाता है। यह वेद का सनातन गूढार्थ है ॥१८॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥१९॥

मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ६

अर्थ—चित्त की शुद्धि से सर्व शुभाशुभ कर्मों को हनन कर सक्ता है जिस काल में शुद्ध मन आत्मा में स्थित हुआ तिसी ही काल

में अक्षय सुख को प्राप्त होता है ॥१९॥

समासक्ता यदा चित्तं जंत्तोर्विषय-गोचरम् । यद्येवं ब्रह्मणिस्यात्तत्कोन-मुच्येत बन्धनात् ॥२०॥

मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ७

अर्थ—जैसे विषयों में मन असक्त होता है तैसे ही जिस काल में विषयों की वासना से रहित हुआ जीवों का चित्त समान चिन्मात्र ब्रह्म में संलगन हो जाता है। तिस काल में ऐसा कौन पुरुष है जो बन्धनों तैं नहीं मुक्त होवे है ॥२०॥

हृत्पुण्डरीक मध्येतु भावयेत्परमे-श्वरम् । साक्षिणं बुद्धि बृत्तिस्य परमप्रेम गोचरम् ॥२१॥ मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ८

अर्थ—हृदय कमल विषे परमेश्वर की भावना करो। अंतःकरण की वृत्तियों के साक्षी को परमप्रेम के विषय को ॥२१॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्धितयः । आनन्दा-ब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥२२॥

मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० ११

अर्थ—सो ब्रह्म नित्य है शुद्ध है बोध स्वरूप है मुक्त स्वभाव है सत्य है अति इंद्रिय होने तैं सूक्ष्म है तथा संविभु है तथा अद्वितीय है। सर्व आनन्दों की अब्धि है जो सर्व से परे है सोहंऽस्मि प्रत्यस्चैतन्य रूप हूं इस में संशय नहीं है ॥२२॥

आनन्द मन्तर्निजमाश्रयं तमाशा पिशाची मवमानयंतम् । अवलोक-यंतं जगदिंद्रजालमा पत्कथं मां प्रविशे-दसङ्गम् ॥२३॥ मैत्रेय्युपनिषद् अ० १ मं० १२

अर्थ—इस अन्तःकरण के अन्तर जो सर्व आनन्दों का अवधि रूप आपणा स्वरूपाआनन्द है तिस आनन्द को आश्रय कर और आशा रूपी पिशाची के मान मत करो। और इस संसार को इन्द्र जाल की न्याई देखो असंग आत्मा में संसार के विषयों को मत प्रवेश होने देवो ॥२३॥

अहंकार सुतं वित्तभ्रातरं मोह मंदिरम् । आशा पत्नीत्यजेद्यावत्ता वन्मुक्तो न संशयः ॥२४॥

मैत्रेय्युपनिषत् ॥ अ० २ मं० ११

अर्थ—अहंकार रूपी पुत्र को वित्तरूपी भ्रातृ को मोहरूपी मंदिर को आशा रूपी स्त्री को जब तक नहीं परित्याग करता तब तक मुक्ति नहीं होवैगी इस में संशय नहीं है ॥२४॥

यथाकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः । तथाभ्रांतेर्द्विधा प्रोक्तोह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ॥२५॥

अन्नपूर्णोपनिषत् ॥ अ० ५ मं० ७७ ॥

अर्थ—जैसे एक अकाश में घटाकाश नाम तथा महाकाश नाम इस प्रकार के हैं। तैसे भ्रांतिक पुरुषों नैं एक अद्वितीय आत्मा में जीव तथा ईश्वर दो प्रकार के नाम कथन करते हैं ॥२५॥

यदामनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा। योगिनोऽव्यवधानेन तदा सं-पद्यते स्वयम् ॥२६॥

अन्नपूर्णोपनिषत् ॥ अ० ५ मं० ७८ ॥

अर्थ—जिस काल में अंतःकरण की वृत्ती सें चैतन्य को सर्वत्र व्यापक सदैव काल व्यवधान से रहित योगी पुरुष देखता है। तिस काल में स्वयं ही व्यापक ब्रह्म को अभेद रूप से प्राप्त होता है ॥२६॥

अब मन के विद्यमान हुए संसार की विद्यमानता रूप अन्वय दिखावे हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु के रात्रि काल विषे प्रकाश तैं रहित जो उष्णता रूप तेज है सो तेज काष्टादिक इंधनों तैं विना ही संताप रूप कार्य को उत्पन्न करे है। तैसे स्वप्न अवस्था विषे मन विशिष्ट आत्मा देश कालादिक लौकिक सामग्री तै विना ही सूक्ष्म रथादिक पदार्थों को उत्पन्न करे है। और जैसे शीत काल विषे अग्नि काष्टरूप ईंधन को आश्रयण करिकै ही जींवों के शीत की निवृत्ति रूप कार्य को करे है। काष्टों से विना सो अग्नि शीत की निवृत्ति करे नहीं। तैसे जाग्रत अवस्था विषे यह मन विशिष्ट आत्मा देश कालादिक लौकिक साधनों को आश्रयण करिकै ही स्थूल पदार्थों को उत्पन्न करे है। अब स्वप्न के दृष्टांत करिकै जाग्रत विषे मिथ्यात्व बोधन करने वासतैं प्रथम जाग्रत स्वप्न की समानता निरूपण करे हैं। जैसे स्वप्न अवस्था विषे यह मन ही स्थूल सूक्ष्म जगत भाव को प्राप्त होवे है। इस वासते संपूर्ण स्वप्न के पदार्थ मनोमात्र है। तैसे जाग्रत अवस्था विषे भी यह मन ही सर्व जगत भाव को प्राप्त होवे है। या तैं जाग्रत के पदार्थ भी मनोमात्र हैं। और जैसे स्वप्न अवस्था विषे मन के निरोध हुए द्वैत प्रपंच प्रतीत होवे नहीं। तैसे जाग्रत अवस्था विषे भी मन के निरोध हुए द्वैत प्रपंच प्रतीत होवे नहीं। और जैसे स्वप्न अवस्था विषे भी मन ही शत्रु को तथा मित्र को तथा उदासीन को उत्पन्न करके शत्रु विषे द्वैष करे है और मित्र विषे राग करे है। और उदासीन विषे उपेक्षा करे है। तैसे जाग्रत अवस्था विषे भी यह मन ही शत्रु को तथा मित्र को तथा उदासीन को उत्पन्न करिकै शत्रु विषे द्वेष करे है। और मित्र में राग करे है। और उदासीन विषे उपेक्षा बुद्धि करे है।

शंका—हे भगवन! जाग्रत अवस्था विषे बहुत काल करिकै तथा बहुत देश करिकै तथा काष्टादिक नाना प्रकार की सामग्री करिकै रथादिक पदार्थों की उत्पत्ति होवे है। और स्वप्न विषे काष्टादिक सामग्री तैं विना ही रथादिक पदार्थों की उत्पत्ति होवे है। या तैं स्वप्न के पदार्थों की न्याईं जाग्रत के पदार्थ मिथ्या हैं नहीं। समाधान—हे देवताओ! स्वप्न विषे रथादिक पदार्थों को आपनी उत्पत्ति विषे देश काल काष्टादिक समग्री मात्र की अपेक्षा है सत्य समग्री की अपेक्षा नहीं है। या तैं जैसे जाग्रत अवस्था विषे कल्पित देश कालादिक साधनों करिकै रथादिक पदार्थों की उत्पत्ति होवे है। तैसे स्वप्न अवस्था विषे भी कल्पित देश कालादिक साधनों करिके रथादिक पदार्थों की उत्पत्ति होवै है। और जैसे जाग्रत अवस्था विषे जीवों को कोई पदार्थ सुख का कारण प्रतीत होवै है। और कोई पदार्थ दुःख का कारण प्रतीत होवै है। तैसे स्वप्न अवस्था विषे भी जीवों को कोई पदार्थ सुख का कारण प्रतीत होवै है और कोई पदार्थ दुःख का कारण प्रतीत होवै है। या तैं जाग्रत के पदार्थ तथा स्वप्न के पदार्थ दोनों समान ही हैं।

शंका—हे भगवन ! स्वप्न के पदार्थ अल्पकाल पर्यंत रहै हैं। और जाग्रत के पदार्थ बहुत काल पर्यंत रहै हैं। या तैं स्वप्न के पदार्थों सें जाग्रत के पदार्थों विषे विशेषता है। समाधान—जाग्रत के पदार्थ स्थित हैं यह जो तुम नैं कहा है। इस स्थिर शब्द का क्या अर्थ है। जो पदार्थ कदाचित् भी अन्यथा भाव को नहीं प्राप्त होवै है। सो पदार्थ स्थिर शब्द का अर्थ है। अथवा जो पदार्थ नियम करिकै तिसी कार्य की उत्पत्ति करै है। सो पदार्थ स्थिर शब्द का अर्थ है। प्रथम पक्षतो सभवै नहीं। काहे तैं आत्मा तैं भिन्न जितनेक जड पदार्थ हैं ते क्षण क्षण विषे अन्यथा भाव को प्राप्त होवै हैं। या तैं अन्यथा भाव तैं रहितता रूप स्थिरता जाग्रत पदार्थों विषे संभवै नहीं। तैसे दूसरा पक्ष भी संभवै नहीं। काहे तैं जो पदार्थ स्वप्न विषे जीवों को सुख की प्राप्ति करै है। सो पदार्थ जाग्रत अवस्था विषे तिसी ही जीव को दुःख की प्राप्ति करै है। और जो पदार्थ स्वप्न अवस्था विषे या जीवों को दुःख की प्राप्ति करै है। सोई पदार्थ जाग्रत अवस्था विषे ता जीव को सुख की प्राप्ति करै है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था विषे जो पदार्थ जीवों को सुख की प्राप्ति करै हैं। सोई ही पदार्थ स्वप्न विषेता जीव को दुःख की प्राप्ति करै है। और जो पदार्थ जाग्रत अवस्था विषे या जीव को दुःख की प्राप्ति करैं हैं। सोई ही पदार्थ स्वप्न अवस्था विषे ता जीव को सुख की प्राप्ति करैं हैं। या तैं कोई भी पदार्थ नियम करिकै किसी पदार्थ की उत्पत्ति करै नहीं। या कहने तैं जाग्रत अवस्था में स्वप्न के पदार्थों विषे विपरीत कार्य की कारणता दिखाई। तथा स्वप्न अवस्था में जाग्रत के पदार्थों विषे विपरीत कार्य की कारणता दिखाई। अब जाग्रत अवस्था में ही जाग्रत पदार्थों विषे विपरीत कार्य की कारणता का निरूपण करै हैं। तैसे स्वप्न अवस्था विषे जो प्रिय पदार्थ सुख का कारण होवै हैं। सोई प्रिय पदार्थ वियोग काल विषे जीवों को दुःख का कारण होवै हैं। तैसे जाग्रत अवस्था विषे भी जो स्त्री पुत्रादिक पदार्थ जीवों को सुख का कारण होवै हैं। ते ही स्त्री पुत्रादिक पदार्थ वियोग काल विषे जीवों को दुःख का कारण होवै हैं। नियम करिकै किसी भी पदार्थ विषे सुख की कारणता तथा दुःख की कारणता है नहीं। या तैं स्वप्न के पदार्थों तैं जाग्रत पदार्थों विषे किंचितमात्र भी विलक्षणता नहीं।

शंका—हे भगवन ! स्वप्न पदार्थों के जे कारण हैं तिनों तैं जाग्रत पदार्थों के जो कारण है सो विलक्षण हैं। या तैं जाग्रत पदार्थों विषे स्वप्न के पदार्थों की तुल्यता संभवै नहीं। समाधान—जैसे जाग्रत अवस्था विषे जीवों के स्थूल शरीर शुक्र शोणित तैं उत्पन्न होवै है। और तैसे स्वप्न अवस्था विषे भी जीवों के स्थूल शरीर शुक्र शोणित तै उत्पन्न हुये प्रतीत होवै हैं। और जैसे स्वप्न अवस्था के शुक्र शोणित भी असत्य हैं। तैसे जाग्रत अवस्था के शुक्र शोणित भी असत्य हैं। और जैसे जाग्रत अवस्था विषे पिता माता पुत्र भ्राता इत्यादिक अनेक प्रकार के पदार्थ विद्यमान हैं तैसे स्वप्न अवस्था विषे भी पिता माता पुत्र भ्राता इत्यादिक अनेक पदार्थ विद्यमान हैं। जाग्रत की तथा स्वप्न की किसी प्रकार तैं विलक्षणता

संभवै नहीं । या तैं जाग्रत अवस्था विषे तथा स्वप्न अवस्था विषे जितनेक स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं । तिन संपूर्ण पदार्थों का मन ही कारण है । और यह जीव ईश्वर तैं भिन्न हैं और ईश्वर जीव तैं भिन्न हैं । या प्रकार का जीव ईश्वर का भेद भी इस मनने ही कल्पना किया है । जिस जीव ईश्वर के भेद को निश्चय करिकै अज्ञानी जीव बारंवार जन्म मरण को प्राप्त होवै हैं । तहां श्रुति—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः समृत्युमाप्नोतिय ईह नानेव पश्यति ॥२७॥ कठो० अ० २ वल्ली १ मं० १०

अर्थ—यह दृष्टि गोचर वस्तु ब्रह्मा सें आदिलै कै स्थावर पर्यंत सर्व पदार्थ ब्रह्म रूप ही हैं । तिस ब्रह्म विषे भेद बुद्धि किसी को मत होवै अभिप्राय यह है । जो ब्रह्म कार्य कारण रूप उपाधियों करिकै युक्त हुआ अविवेकी पुरुषों को संसार रूप धर्म वाला प्रतीत होवै है । सो स्वरूप विषे स्थित ब्रह्म नित्य ज्ञान घन सर्व संसार धर्म तैं रहित है और जो ब्रह्म या आत्मा विषे स्थिति है । सोई ब्रह्म इस नाम रूप कार्य तथा कारण रूप उपाधियों के अनुसार भासता है अन्य नहीं । जो पुरुष इस अनाना रूप ब्रह्म विषे मैं परब्रह्म तैं अन्य हूं और परब्रह्म मेरे तैं अन्य है । इस प्रकार नानाकी न्याईं देखता है । सो पुरुष मरण तैं मरण को प्राप्त होवै है । अर्थात बारंबार जन्म मरण भाव को प्राप्त होता है । या तैं ज्ञान रूप एक रस तथा निरंतर तथा अकाश की न्याईं परिपूर्ण सर्वांतर सर्व का आत्मा रूप ब्रह्म विषे नाना की न्याईं न देखना चाहिये ॥२७॥

और यह मन केवल जगत का ही कारण नहीं किंतु जीवों के बंध का तथा मोक्ष का भी कारण यह मन ही है । आत्मा को अच्छादत करने द्वारा जो आवरण शक्ति रूप अज्ञान है । ता को आपने विषे मानता हुआ अशुद्ध मन जीवों के बंध का कारण है । और भेद का दर्शन रूप जो विक्षेप शक्ति है ता विक्षेप शक्ति रूप अज्ञान को आपने विषे मानता हुआ यह मन अध्यात्म अधिदैव अधिभूत या तीन प्रकार के दुःखों का कारण होवै हैं । और श्रुति ने कथन किया जो मैं आत्मा का स्वयं प्रकाश आनंद स्वरूप हैं । ताको गुरुशास्त्र के प्रसाद तैं जानता हुआ शुद्ध मन जीवों के मोक्षका कारण होवे है । काहे तैं मन तथा मन करके रचित प्रपंच का साक्षीरूप जो मैं शुद्ध आत्मा हूं ताके विषे बंध मोक्ष भेद दर्शन यह तीनों संभवै नहीं । किंतु बंध मोक्षादिक संपूर्ण जगत मन ने ही उत्पन्न किये हैं । या तैं मन विषे ही बन्ध मोक्षादिक हैं ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो । बंधायविषयासक्तं मुक्तैः निर्विषयं स्मृत मिति ॥२८॥

मैत्रायण्युपगिषत् प्रपाठक ४ मं० ११ ॥

अर्थ—मनुष्यों के बन्ध मोक्ष का कारण मन ही है । विषयों में असक्त मन बन्धायमान होवे है । और विषयों से रहित अर्थात वैराग्य युक्त मन मुक्त कहा गिया है इति ॥२८॥

मनोहि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च । अशुद्धं काम संकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम् ॥२९॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० ६ ॥

अर्थ—मन दो प्रकार का कहा गिया है एक शुद्ध और एक अशुद्ध है। शुभाशुभ काम संकल्प वाला मन अशुद्ध है। और कामना विवर्जित मन शुद्ध कहा है ॥२९॥

अब याही अर्थ को स्पष्ट करिकै निरुपण करै हैं। जैसे लोक विषे अत्यन्त चंचल जो मर्कट है सो नाना प्रकार की चेष्टा करिकै आप ही आपने को मरणांत दुःख की प्राप्ति करे है। तैसे असन्त चंचल यह मन भी विषय वासना करिकै आप ही आपने को संसार दुःख की प्राप्ति करे है। और जैसे अगाध जल विषे स्थित जो मत्स्य है ताको किंचित मात्र भी तहां भय नहीं। परन्तु सो मत्स्यज भी कुंडी मिलत मास को भक्षण करने वास्ते तां अगाध जल को छोड़ के बाहिर आवे है। तभी सो मत्स्य प्राणांत दुःख को प्राप्त होवे है। तैसे स्वयं प्रकाश आनन्द स्वरूप मैं आत्मा विषे स्थित हुआ यह मन किंचित मात्र भी दुःख को प्राप्त होवे नहीं। और जभी सो मन विषय भोग के वास्ते मैं आनन्द स्वरूप आत्मा को छोड़ करिकै बाहिर आवे है। तभी सो मन नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होवे है। और जैसे दश रज्जुवों करिकै बाध्या हुआ अत्यन्त चंचल जो मर्कट है। सो दशों दिशावों विषे भ्रमण करता हुआ परम दुःख को प्राप्त होवे है। तैसे वाकादिक दश इंद्रिय रूप रज्जु करिकै बाध्या हुआ यह मन रूपी मर्कट भी विषयों की ओर धावता हुआ परम दुःख को प्राप्त होवे है। और जैसे अत्यन्त दूर अकाश विषे स्थित जो कपोत पक्षी है ताको तहां किंचित मात्र भी भय नहीं। परन्तु सो कपोत जभी पृथ्वी विषे कपोतनी स्त्री को देखे है। तभी राग करिकै अन्ध हुआ सो कपोत अकाश का परित्याग करिकै तत्काल भूमि विषे आवे है। ता भूमि विषे सो कपोत नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होवे है। तैसे मैं चिदा काश विषे स्थित हुआ। यह मन किंचित मात्र भी दुःख को प्राप्त होवे नहीं। और जभी सो मन वाह्य शब्दादिक विषयों को देख के राग करिकै अंध होवे है। और ता चिदाकाश का परित्याग करिकै तत्काल ही वाह्य विषयों की ओर आवे है। तभी सो मन अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त होवै है। और जैसे रज्जु करिकै बांध्या हुआ पशु पराधीनता करिकै उत्तर उत्तर दुःखों को देनेहारे स्थानों को प्राप्त होवै है। तैसे पुण्य पाप रूप रज्जु करिकै बांध्या हुआ यह सकाम मन भी उत्तर उत्तर दुःख को देने हारी विषय रूप भूमि को प्राप्त होवै है। और जैसे मृत्यु सर्व लोकों विषे विचरे है। परंतु ता विचरने का कारण कोई जान सक्ता नहीं। तैसे मन भी सर्वदा विषयों की ओर जावै है। परंतु ताके जाने का कारण कोई जान सकता नहीं। और जैसे मूढ़ बालक व्यर्थ ही नाना प्रकार की चेष्टा करता है। तैसे यह मन भी व्यर्थ ही नाना प्रकार की चेष्टा करता है। और जैसे पाद जिस के बांध्ये हुये हैं और रथ विषे जिस का असंत राग है ऐसा कोई रथवाही पुरुष है ताके रथ विषे जीर्ण रज्जु करिकै बांध्ये हुये असंत दुष्ट अश्व जुड़े होवैं। ऐसा जो रथवाही पुरुष अश्वों सहित गर्त विषे पड के नष्ट होवै है। तैसे मन रूपी शिथल रज्जु करिकै बांधे हुये जे दश इंद्रिय रूप दुष्ट अश्व हैं। तिनों करिकै युक्त जो यह संघात रूपी रथ है। ता रथ विषे स्थित हुआ यह जीवात्मा

पुरुष बारंबार संसार रूपी गर्त विषे प्राप्त होवै है। तहां श्रुति—

यस्त्वविज्ञानवान भवत्य युक्तेन मनसा सदा। तस्येंद्रियाण्य वश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥३०॥

कठोपनिषत् अ० १ वल्ली ३ मं० ५॥

अर्थ—रथ के चलावने विषे लोक प्रसिद्ध सारथी की न्यांई जो बुद्धि रूपी सारथी प्रवृत्ति विषे तथा निवृत्ति विषे अविवेकी होवै है। तथा एकाग्रता रहित रस्सी स्थानी मन सें सदा युक्त होवै है। ता आकुशल बुद्धिरूप सारथी के अश्वस्थानी इंद्रिय लोक प्रसिद्ध सारथी के अस्वाधीन किये दुष्ट अश्वन की न्यांई विषयों से निवारण करने को अशक्य होवै हैं ॥३०॥

यस्त्व विज्ञानवान भवत्य मनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति सं सारं चाधिगच्छति ॥३१॥

कठोपनिषत् अ० १ वल्ली ३ मं० ७॥

अर्थ—तिनों विषे पूर्व उक्त विवेक रहित बुद्धि रूप सारथि वाले को यह फल होवै है। जो विवेक रहित बुद्धि रूप सारथि वाला होवै है। तथा मन की एकाग्रता सें रहित सदैव काल मलिन ऐसा रथ का स्वामी सो ता पूर्व उक्त जो अक्षर ब्रह्म रूप परमपद है। ताको ता सारथि से परमपद को पावता नहीं किंतु जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त होता है ॥३१॥

और जैसे मूढ बालक जभी प्रथम आपने मुख विषे नाना प्रकार की विक्रया करै है। तभी ही सन्मुख शुद्ध दर्पण विषे नाना प्रकार की विक्रया देखे है। परंतु सो नाना प्रकार की विक्रिया वास्तव तैं दर्पण विषे नहीं किंतु बालक के मुख विषे ही है। भ्रांति करिकै ता बालक को दर्पण बिषे विक्रिया प्रतीत होवै है। तैसे यह मन भी संसार संबंधी अनेक प्रकार की विक्रिया करै है। और तिन आपने विक्रियावों को समीपवर्त्ती स्वयं प्रकाश मैं आत्मा विषे देखे है। परंतु वास्तव तैं विक्रया मन विषे ही हैं। मैं आत्मा विषे नहीं। भ्रांति करिकै मन की विक्रिया मैं आत्मा विषे प्रतीत होवै है। तहां श्रुति—

मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः। मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम्॥३२

तेजोबिंदूपनि०

अर्थ—मन ही सर्व जगत रूप है तथा मन ही महारिपु है। तथा मन ही संसार रूप है तथा मन ही तीन प्रकार का जगत है ॥३२॥

मन एव महदुःखं मनः एव जरादिकम्। मन एव हि कालश्च मन एव मलंतथा ॥३३॥ तेजोबिंदूपनिषद्

अर्थ—मन ही महान दुःख रूप है। तथा मन ही जरादिक है तथा मन ही काल रूप है तथा मन ही मल रूप है ॥३३॥

मन एव महद्बंधं मनोऽन्तः करणं च तत्। मन एव हि भूमिश्च मन एवहितोयकम् ॥३४॥ तेजोबिंदूप०

अर्थ—मन ही महान बंध रूप है तथा सो मन ही अंतःकरण रूप है तथा मन ही भूमि रूप जल रूप है। ॥३४॥

मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान्। मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥३५॥ तेजोबिंदूप०

अर्थ—मन ही तेज रूप है तथा मन ही महान वायु रूप है। तथा मन ही अकाश रूप है तथा मन ही शब्द रूप है ॥३५॥

स्पर्शं रूपं रसं गंधं कोशं पंच मनोभवा । जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिचादि मनो मयमितीरितम् ॥३६॥ तेजोविंदूप०

अर्थ—मन ही शब्द स्पर्श रूप रस गंधादिक विषय रूप है तथा मन ही अन्न मयादिक पांच कोश रूप है। तथा मन ही जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादिक तृतीय अवस्था रूप है ॥३६॥

दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोमयाः । दृश्यं जडं द्वंद्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥३७॥ तेजोविंदूप०

अर्थ—मन ही दशदिक्पाल रूप है तथा वसु रूप है तथा मन ही एकादश रुद्र रूप तथा मन ही सूर्य रूप है । तथा मन ही यह सर्व दृश्य रूप है तथा मन ही जड रूप है तथा मन ही द्वंद रूप है तथा मन ही अज्ञान रूप है। ऐसा श्रुति ने कहा है ॥३७॥

शंका—हे भगवन ! जड मन विषे नाना प्रकार की विक्रियों की कारणता संभवै नहीं। सनाधान—हे देवताओ ! जैसे अम्लरस वाले जे निंबू आदिक पदार्थ हैं ते समीप देखे हुये पुरुषों के मुख विषे जल की उत्पत्ति करै हैं तथा पुरुषों के मन को क्षोभ करै हैं। तैसे स्वयं प्रकाश चैतन्य मैं आत्मा भी आपनी समीपता मात्र करिकै जड मन को नाना प्रकार की विक्रिया विषे प्रवृत्त करूं हूं ।

शंका—हे भगवन ! असंग विषे मन के क्षोभ की कारणता किस प्रकार संभवै है। समाधान—असंग मैं आत्मा विषे यद्यपि मन के क्षोभ की कारणता संभवै नहीं तथापि अचिंत शक्ति अज्ञान करिकै असंग मैं आत्मा विषे भी मन के क्षोभ की कारणता संभवै है। और जैसे स्वप्न अवस्था विषे यह आनंद स्वरूप आत्मा जीवों के मनों को उत्पन्न करै है । तैसे जिस मन करिकै विशिष्ट हुआ यह आत्मा स्वप्न अवस्था को प्राप्त होवै है । तिस मन को भी सो आत्मा ही उत्पन्न करै है ।

शंका—हे भगवन ! स्वप्न अवस्था विषे जिस मन करिकै आत्मा अनेक मनों की उत्पत्ति करै है । तिस प्रधान मन की भी किसी अन्य मन करिकै उत्पत्ति अंगीकार करनी होवैगी या प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होवैगी । समाधान—मन करिकै जो उत्पत्ति हम अंगीकार करैं तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होवे । परंतु मन करिकै मन की उत्पत्ति हम अंगीकार करते नहीं । किंतु जैसे लोक विषे बीजों को नष्ट हुआ देख करिकै पृथु राजा पृथ्वी को प्रेरणा करता भया ता पृथु राजा की प्रेरणा करिकै सो पृथ्वी बीजों को उत्पन्न करती भयी । तथा बीजों के प्रति बीजों को कारणता नहीं । किंतु जिस पृथ्वी नैं बीजों को आपने विषे लय करा था तिस पृथ्वी को ही बीजों के प्रति कारणता है । तैसे मन की उत्पत्ति विषे मन को कारणता नहीं । किंतु मूल अविद्या करिकै विशिष्ट आत्मा ही मन का कारण है और सो मूलाज्ञान अनादि है या तैं ताकी उत्पत्ति विषे अज्ञान की अपेक्षा नहीं । जैसे मेघ विद्युतादिकों तैं रहित अत्यंत निर्मल जो अकाश है । सो आपनी अचिंत शक्ति करिकै मेघ विद्युतादिकों के उत्पत्ति स्थिति

लय का कारण होवै है । मेघादिकों करिकै विशिष्ट हुआ आकाश मेघादिकों का कारण होवै है । तैसे अज्ञान करिकै विशिष्ट हुआ यह आत्मा मनादिक जगत के उत्पत्ति स्थिति लय का कारण होवै है । मनादिक प्रपंच करिकै अविशिष्ट आत्मा मनादिक प्रपंच का कारण होवै नहीं ।

वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति । नारायणात्प्राणो जायते । मनः सर्वेंद्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारणी ॥३८॥

नारायणाद्ब्रह्मा जायते । नारायणाद्रुद्रो जायते । नारायणादिंद्रो जायते । नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते ॥३९॥

नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यते । नारायणात्प्रवर्तंते । नारायणे प्रलीयंते ॥४०॥

शंका—हे भगवन् ! अज्ञान करके यह आत्मा किस प्रकार विपरीत भाव को प्राप्त होवे है । समाधान—जैसे कोई दरिद्री भिक्षु माया आदिक निमित्त करके आपने भिक्षुपणे के अज्ञान तैं राजाभाव को प्राप्त होवे है । तथा कोई राजा आपने राजापने के अज्ञानतैं भिक्षु भाव को प्राप्त होवे है। तैसे ब्रह्मरूप यह आत्मा भी अपनी वास्तवरूप के अज्ञान तैं स्थूल सूक्ष्म रूप जगत् भाव को प्राप्त होवे है ।

शंका—हे भगवन ! अज्ञान के वशतैं आत्मा को जगत् भाव की प्राप्ति यद्यपि संभवै है तथापि अज्ञान के वश तैं आत्मा विषे जन्म-मरण संभवै नहीं । समाधान—हे देवताओ ! जैसे इदानी काल विषे जन्म-मरण तैं रहित यह पुरुष आपने स्वरूप के अज्ञान तैं स्वप्न अवस्था विषे जन्म-मरण को प्राप्त होवे है। तैसे जाग्रत अवस्था विषे भी वास्तव तैं जन्म-मरण तैं रहित यह आनन्द स्वरूप आत्मा आपने स्वरूप के अज्ञान तैं जन्म-मरण को प्राप्त होवे है । यातैं आपने स्वरूप का अज्ञान ही जन्म-मरण का कारण है । और जैसे जाग्रत अवस्था विषे घटादिक जड़ पदार्थों का द्रष्टा जो पुरुष है ता द्रष्टा पुरुष को घटादिक दृश्य पदार्थ प्रकाश करसकै नहीं । तैसे स्वप्न अवस्था विषे रथादिक दृश्य पदार्थों के अकार को प्राप्त हुआ जो मन है । सो मन स्वप्न द्रष्टा साक्षी आत्मा को प्रकाश करसकै नहीं । किंतु साक्षी आत्मा ता मन को प्रकाश करे है । ऐसे सर्व वृत्तियों के प्रकाशक तथा मनादिक चतुष्टय अंतःकरण का प्रकाशक आत्मा के साक्षात्कार तैं यह जीवात्मा सर्व अविद्यातत्कार्य के नाश द्वारा परमानन्दरूप मोक्ष को प्राप्त होता है । तथा आत्मा का साक्षात्कार रूप वीर्य्य से ही जन्म-मरणरूप समुद्र को तर जाता है । तहां श्रुति—

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विंदते । आत्मना विंदते वीर्य्यं विद्यया विंदतेऽमृतम् ॥४१॥ केन उ० खं० २ मं० ४

अर्थ—सो आत्मा प्रतिबोध विदित कहिये यावत अंतःकरण जन्य तथा श्रोत्रादिक इन्द्रिय जन्य सुख दुःखादिक तथा शब्द स्पर्शादिक ज्ञान हैं । तिन सर्व ज्ञानों का यथाक्रम तैं

प्रकाशक होने तैं प्रतिबोध विदित कहिये है। और सर्व बोधन का ज्ञाता होने तैं केवल चेतन शक्ति स्वरूप है। ता बोधरूप आत्मा को सर्व बुद्धि की वृत्तियों से न्यारा असंग होने से लक्षणा वृत्ति से जाना जाता है अन्य साधन से नहीं। जब आत्मा (मतं) जान्या है तब संम्यक्र ज्ञान है। ता सम्यक ज्ञान के प्राप्त हुए तैं अनन्तर सो ब्रह्म अज्ञात तथा ज्ञात वस्तुतैं भिन्नपना नहीं संभवै है। यातैं उक्त प्रतिबोध विदित रूप प्रबोध के ज्ञानतैं मरणभात्र तैं रहित अमृतरूप स्वरूप विषे स्थिति रूप मोक्ष को प्राप्त होवे है। आत्म साक्षात्कार वीर्य्य कहिये बल को प्राप्त होता है। इस हेतु तैं ही आत्म विद्या से अमृत भावरूप मोक्ष को प्राप्त होता है अर्थात् विवेकादिक साधन रहित पुरुष आत्मा के साक्षात्कार विषे समर्थ होवे नहीं ॥४१॥

शंका—हे भगवन! जैसे श्रुति नैं आत्मा को ज्योति कह्या है तैसे मन को भी ज्योति कह्या है यातैं आत्मा की न्याईं मन भी स्वप्रकाश है। समाधान—मन आत्मा का प्रकाश करे है यातैं ज्योति है या अभिप्राय करके श्रुति नैं मन को ज्योति नहीं कह्या। किंतु आत्मा तैं भिन्न जे घटादिक बाह्य पदार्थों के प्रकाश विषे मन आत्मा का सहिकारी है। या अभिप्राय करके श्रुति ने मनको ज्योति कह्या है। दृष्टांत। जैसे लोक विषे घट पटादिक पदार्थों के ज्ञान विषे सहकारी जो चक्षु इन्द्रिय हैं ता को ज्योति कह्या है। तैसे घटादिक पदार्थाकार वृत्तियों का उपादान कारण जो मन है ताको श्रुति ज्योति कहे है। और जैसे यह आत्मा बाह्य स्थूल सूक्ष्म पदार्थों को नेत्रादिक इन्द्रियों करके जाने है और नेत्रादिक इन्द्रियों के अविषय जे परोक्ष पदार्थ हैं। तिनों को तथा नेत्रादिक इन्द्रियों को यह आत्मा मन करके जाने है। तैसे मन को तथा मन की वृत्तियों को यह आत्मा अन्य किसी साधन करके प्रकाश करे नहीं। किंतु आपने स्वयं ज्योति रूप प्रकाश करके यह आत्मा मन को प्रकाश करे है। और आत्मा के आश्रित रहने हारी तथा आत्मा को विषय करने हारी जो अव्याकृतरूप माया है। सोई ही मन का कारण है ता कारण माया को भी जभी यह स्वयं प्रकाश आत्मा ही प्रकाश करे है। तभी ता माया के कार्य मन को यह आत्मा प्रकाश करे है या के विषे क्या कहणा है। और जैसे यह स्वयं ज्योति आत्मा माया सहित मन को प्रकाश करे है। तैसे नेत्रादिक इन्द्रिय तारागण मणीयां रत्न सूर्य चन्द्रमा अग्नि इनों तैं आदि लैके जितनैंक लोक विषे प्रकाशक पदार्थ हैं तिन सम्पूर्ण को मैं स्वयं प्रकाश आत्मा ही प्रकाश करूं हूं। मैं चैतन्य आत्मा तैं बिना जड़ पदार्थों की सिद्धि होवे नहीं। तहां श्रुति—

न तत्र सूर्य्योभांति न चंद्रतारका नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः तमेव भांत मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति ॥४२॥

कठोप० अ० २ वल्ली ३ मं० १५

अर्थ—तिस आपने आत्मारूप ब्रह्म विषे सर्व का प्रकाशक सूर्य भी भासता नहीं कहिये ता ब्रह्म को प्रकाशता नहीं। तैसे चन्द्रमा सहित तारागण भी प्रकाशता नहीं। तथा यह बिजलीयां भी प्रकाशती नहीं। तब यह हमारी दृष्टि का विषय अग्नि कहां से प्रकाशेगा। बहुत कहिणे से क्या है जो यह सूर्य्यादिक सर्व

जगत को भासता है सो सर्व तिसी आत्मा के प्रकाश के पीछे ही भासता है । जैसे अर्द्ध दग्ध काष्ट जो है सो जलावाणे वाले अग्नि के पीछे अग्नि के संयोग तैं जलावता है । अपने आप नहीं जलावता तैसे तिसो ब्रह्म के प्रकाश तैं सूर्यादिक यह सर्व जगत भासता है आपने आप प्रकाश नहीं कर सकता ॥४२॥

न तत्र सूर्यश्चंद्रश्च तारका विदयुतोऽनलः । विभांति शंकरे साक्षात्स्वयं भाने चिदात्मके ॥४३॥

ब्रह्मगीता अ० ७ श्लो० ४५

अर्थ—तिस आत्मा को सूर्य तथा चंद्रमा तथा तारागण तथा विदित अनल नहीं प्रकाश कर सकते हैं । किंतु साक्षात स्वयं प्रकाश शंकर चिदात्मा के प्रकाश तैं ही भासमान होवै हैं ॥४३॥

यदादित्य गतंतेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ ततेजो विद्धि मामकम् ॥४४॥

गी० अ० १५ श्लो० १२

अर्थ—हे अर्जुन ! आदित्य विषे स्थित जो तेज है तथा चंद्रमा विषे स्थित जो तेज है तथा अग्नि विषे स्थित जो तेज है तथा जो तेज इस सर्व जगत को प्रकाश करता है तिस तेज को तूं मेरा स्वरूप ही जान ॥४४॥

अब संन्यास शब्द के अर्थ को दिखावै हैं । संन्यास या शब्द विषे दो पद हैं एक तो संपद है और दूसरा न्यास पद है । तहां मैं ब्रह्म रूप हूं या आत्म ज्ञान रूप शस्त्र करिकै मूलाज्ञान सहित काम क्रोधादिक शत्रुओं का जो छेदन है सो संपद का अर्थ है । और अपुनरावृत्ति सहित ब्रह्म भाव करिकै स्थिति न्यास पद का अर्थ है । दोनों पदों का मिल करिकै यह अर्थ सिद्ध होवै है । आत्म ज्ञान रूप शस्त्र करिकै मूलाज्ञान सहित काम क्रोधादिकों की निवृत्ति करिकै पुनरावृत्ति तैं रहित ब्रह्म मात्र करिकै स्थिति यह संन्यास शब्द का अर्थ है । अब अन्य प्रकार तैं सन्यास शब्द का अर्थ करै हैं । तहां साधन सहित इस लोक के जो सुख का परित्याग है सो संपद का अर्थ है । आत्मज्ञान की प्राप्ति वास्तैं गुरु के समीप स्थिति न्यास पद का अर्थ है । दोनों पदों का मिल करिकै यह अर्थ होवै है । साधन सहित संपूर्ण सुखों का परित्याग करिकै आत्मज्ञान की प्राप्ति वास्तैं गुरू के समीप स्थिति यह संन्यास शब्द के अर्थ का बोधक श्लोक श्री सुरेश्वराचार्य जी नै वार्तिक ग्रंथ विषे कहा है । तहां श्लोक—

त्वं पदार्थ विवेकाय संन्यासः सर्व कर्मणः । श्रुत्या विधीयते यस्मात्त्यागी पतितोभवेत् ॥४५॥

अर्थ—जिस सें जीव चेतन के विवेक वास्तैं सर्व कर्मों का त्याग श्रुति नैं विधान करा है इस वास्तैं तिस विवेक जनक श्रवणादिकों के त्याग करने वाला अपरिपक्क ज्ञानी पतित होता है ॥४५॥

यदा मनसिसंजातं वैतृष्ण्यं सर्व वस्तुषु । तदा संन्यास मिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥४६॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् द्वितीय प्रपाठक २ मं० १२

अर्थ—जिस काल विषे मन सर्व पदार्थों की तृष्णा सें रहित होता है अर्थात सर्व वस्तुओं विषे गिलानी उत्पन्न होती है । तिस

काल विषे संन्यास की इच्छा करै विपर्यये होने सें पतित होता है ॥४६॥

विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्स रक्तस्तु गृहे वसेत् । सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः ॥४७॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० १३

अर्थ—जिस समय में यह बुद्धिमान अधिकारी विरक्त होवै तिस समय में संन्यास लेवे । सरक्त होवै तो गृह में ही निवास करै । जो संन्यासी हो कर कै पदार्थ संग्रह करनैं में रागी है सो संन्यासी नरक को प्राप्त होता है । वोह तीनों वर्णों में संन्यास करनैं वाला अर्थात ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य में से जो संन्यास करैगा सो नरक को जावैगा ॥४७॥

प्रवृत्ति लक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यास लक्षणम् । तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यासेदिह बुद्धिमान ॥४८॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० १६

अर्थ—कर्मों का करना प्रवृत्ति का लक्षण है । और संन्यास ज्ञान का लक्षण है । तिस कारण तैं बुद्धिमान पुरुष इस लोक में ज्ञान की प्राप्ति अर्थ संन्यास को करै ॥४८॥

यदातु विदितं तत्वं परंब्रह्म सनातनं । तदैक दण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखांत्यजेत् ॥४९॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० १७

अर्थ—पुनः संन्यास के अनंतर जिस काल में परब्रह्म सनातन तत्त्व को आपना आत्मा रूप करिकै जानता है । तिस काल विषे एक दण्ड को ग्रहण करै सो यज्ञोपवीत शिखा का परित्याग करै ॥४९॥

दशलक्षणकं धर्म मनुतिष्ठन्समाहितः । वेदान्तान्विधि वच्छ्रुत्वा संन्यासेद नृणोद्विजः ॥५०॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० २३

अर्थ—दशलक्षण वाले धर्म में संन्यास सें अनंतर समाहित चित हो कर धर्म में स्थित होवै । वेदांत शास्त्र को विधि पूर्वक श्रवण करिकै त्रयिवरण के पुरुष संन्यास करै अर्थात प्रथम शरीर कृत संन्यास है और श्रवण सें अनंतर अंतरीव संन्यास है ॥५०॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौच मिंद्रिय निग्रहः । धीर्विद्या सत्य मक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥५१॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक२मं०२४ अर्थस्पष्टहै

कौपीन युगलं कंथा दण्ड एकः परिग्रहः । यतेः परमहंसस्य नाधिकंतु विधियते ॥५२॥ नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० २८ यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम् । रौरवंनरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते ॥५३॥ नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० २९ ॥ रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः । प्राणिहिंसा निवृत्तिश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृह ॥५४॥

नारद परिव्राजकोपनिषद् प्रपाठक २ मं० ३४

अर्थ—संन्यासी महात्मा राग द्वेष से रहित है आत्मा कहिये अन्तः करण जिस का तथा सम है लोष्ट तथा पत्थर कांचन जिस को ऐसा

जो वीतराग सर्व से निस्पृह मुनि है ॥५४॥

दम्भाहंकार निर्मुक्तो हिंसा पैशून्य-वर्जितः। आत्मज्ञान गुणो पेतो यति र्मोक्षमवाप्नुयात् ॥५५॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् ॥ प्रपाठक २ मं० ३५ ॥

अर्थ—तथा दम्भ हंकार से रहित है तथा हिंसा चुगली से रहित है। और जो यति आत्मज्ञान रूप गुणों करिकै सम्पन्न है सो संन्यासी ही मोक्ष को प्राप्त होता है ॥५५॥

ईश्वर उवाच।

हे देवताओ! जैसे या लोक विषे ब्राह्मणादिकों के गले विषे स्थित जो तीन दोर वाला यज्ञोपवीत है। ता यज्ञोपवीत का एक एक डोर तीन तीन तन्तुओं का होवे है। या तैं सो यज्ञोपवीत नवतन्तु रूप होवै। तैसे ता ब्रह्मवेत्ता महात्मा के हृदय देश विषे स्थित जो नव तत्त्व है। ते नवतत्त्व ही ता तत्त्व वेत्ता महात्मा का यज्ञोपवीत है। ते नवतत्त्व यह हैं। ईश्वर (१) हिरण्य गर्भ (२) विराट (३) विश्व (४) तैजस (५) प्राज्ञ (६) प्राण (७) अपान (८) व्यान (९) जैसे नवतंत रूप सूत्र तैं उत्पन्न भया जो उपवीत है। सो उपवीत यज्ञादिक कर्मों का साधन रूप है इस वास्तै ता उपवीत को शास्त्रवेत्ता पुरुष यज्ञोपवीत या नाम करिकै कथन करैं हैं। तैसे तिन नवतत्त्वों के विचार करिकै प्रगट भया जो अखंड चैतन्य है सो चैतन्य ज्ञान रूप यज्ञ का अंग रूप है। या तैं ता चैतन्य को शास्त्र वेता पुरुष यज्ञोपवीत या नाम करिकै कथन करै हैं।

हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुरिति। हृदि चैतन्ये तिष्ठति यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजायतेर्यत्स-हजं पुरस्तात् ॥५६॥ ब्रह्मोपनिषत ॥

अर्थ—यह मंत्र भी मुख्य वृत्ति करिकै ता चैतन्य रूप यज्ञोपवीत को ही कथन करै है। काहे तैं परम पवित्र रूपता मैं चैतन्य विना दूसरे किसी अनात्म पदार्थों विषे संभवै नहीं। किंतु मैं चैतन्य विषे ही परम पवित्र रूपता है। सो मैं चैतन्य रूप यज्ञोपवीत आपने हृदय देश विषे जान कर कै यह विद्वान पुरुष शास्त्र की रीती सें ता बाहिर के यज्ञोपवीत शिखा का परित्याग करै। तथा संपूर्ण दृश्य प्रपंच को मिथ्या जानि कै परित्याग करै। और अकाशादिक सर्व प्रपंच का अधिष्ठान रूप जो मैं अक्षर रूप परब्रह्म हूं ता मैं परब्रह्म को ही सो विद्वान पुरष सूत्र रूप करिकै निश्चय करै ॥५६॥ तहां श्रुति—

एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि। स्थिरबुद्धिरसं मूढो ब्रह्मविद्-ब्रह्मणि स्थितः ॥५७॥

ध्यानविंदूपनिषत ॥ मं० ६ ॥

अर्थ—इस पूर्व उक्त प्रकार सें सर्व स्थावर जंगम शरीर तो मणियों की न्याई हैं। इन शरीरों में एक रस व्यापक आत्मा सूत्र की न्याई है। स्थिर बुद्धि अमूढ विद्वान ब्रह्म वेत्ता ही ब्रह्म में स्थित होता है ॥५७॥

काहे तैं जैसे लोक प्रसिद्ध तंतु आपने विषे स्थित पंट को प्रकाश करै है। या कारण तैं तिन तंतुयों को सूत्र या नाम करिकै कथन करै है। तैसे मैं परब्रह्म को शास्त्र विषे सूत्र या नाम करिकै कथन करै हैं। हे देवताओ! जिस विद्वान पुरुष नैं ऐसे परब्रह्म सूत्र को आपना

आत्मा रूप करिकै जान्या है । सो विद्वान पुरुष ही सर्व वेदों के अर्थ को जानने हारा है। तहां श्लोक—

ऊर्ध्व मूल मधः शाखमश्वत्थं प्राहुः रव्ययम्। छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥५८॥

गीता अ० १५ श्लोक १ ॥

अर्थ—हे अर्जुन श्रुति स्मृतियां इस संसार वृक्ष को ऊर्ध्व मूल वाला तथा अधः शाखा वाला तथा अश्वत्थ तथा अव्यय कहै हैं। जिस संसार रूप वृक्ष के कर्म कांड रूप वेद पर्ण हैं तिस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष जानता है सो पुरुष ही वेद का वेत्ता है ॥५८॥

जैसे सूत्र के अधार सर्व मणियां रहै हैं। तैसे जिस चैतन्य रूप परब्रह्म विषे यह संपूर्ण दृश्य प्रपंच स्थित है। तिस मैं चैतन्य रूप सूत्र को ही यह विद्वान पुरुष धारण करै। तहां श्लोक—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥५९॥ गी० अ० ७ श्लोक ॥७॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं परमेश्वर तैं अन्य कोई भी पदार्थ परमार्थ सत्य नहीं । जैसे सूत्र विषे मणियों का समूह ग्रंथित है तैसे मैं परमेश्वर विषे यह सर्व जगत ग्रंथित है ॥५९॥

एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि । स्थिरबुद्धिर संमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥६०॥

ध्यानविं० उ० मं० ६ ॥

अर्थ—इसी प्रकार स्थावर जंगम चारों खानी रूप भूत मणियों में सूत्र की न्यांई सर्व जीव आत्मा में स्थित हैं । वैसे ही स्थित बुद्धि विद्वान ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित होवै है ॥६०॥

हे देवताओ ! जो पुरुष अष्टांग योग को जाने है। तथा नित्य नित्य वस्तु के विवेक वाला है सो पुरुष ही मैं चैन्तय रूप सूत्र के धारण विषे समर्थ होवै है । तिन साधनों तैं रहित पुरुष मैं चैतन्य रूप सूत्र के धारने विषे समर्थ होवै नहीं। जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान युक्त जो विद्वान पुरुष बाह्य सूत्र का परित्याग करिकै मैं चैतन्य ब्रह्म रूप सूत्र को धारण करै है । सो विद्वान पुरुष ही चेतन है । ता ब्रह्म वेत्ता विद्वान तैं भिन्न दूसरे पुरुष यद्यपि अन्य शास्त्रों के ज्ञाता हैं भी तथापि ते पुरुष पषाणादिकों की न्याई जड ही है। तहां श्रुति—

सिद्धि मार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभवः। पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥६१॥

योगशिखोपनिषत् मं० ४ ॥

महादेव उवाच—

अर्थ—आत्मा अंतःकरण की शुद्धि रूप मार्ग करिकै प्राप्त होता है। हे कमल से उत्पन्न ब्रह्मा अन्यथा नहीं प्राप्त होता है । जो पुरुष शास्त्र जाल में पतित है। तिस सें तिस शास्त्र जाल में उस की बुद्धि मोह को प्राप्त हुई है उस को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता ॥६१॥

स्वात्मप्रकाश रूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते। निष्कलं निर्मलं शांतं सर्वातीतं निरामयम् ॥६२॥

योगशिखोपनिषत् मं० ५ ॥

अर्थ—महादेव जी बोले कि हे चतुरानन ! आपना आत्मा नित्य प्रकाश रूप है तिस को शास्त्र करिकै क्या प्रकाश हो सकता है ।

आत्मा निष्कल है निर्मल है शांत कहिये संबंध सें रहित है सर्व सें अतीत है तथा पाप रहित है ॥६२॥

तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च । एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥६३॥

योगशिखोपनिषत् मं० ११ ॥

अर्थ—महादेव उचू—हे चतुर्मुख ब्रह्मा जीव में तृष्णा लज्जा भय दुःख विषाद हर्ष जो है इन सें आदि लैकै जो दोष है तिन सर्व दोषों सें मुक्त हुआ सो जीव शिव रूप ही हो जाता है ॥६३॥

इदं ज्ञान मिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातु मिच्छति । अपिवर्ष सहस्रायुः शास्त्रांतंनाधि गच्छति ॥६४॥

पैङ्गलोपनिषत् ॥ अ० ४ मं० १६ ॥

अर्थ—इस शास्त्र का ज्ञान हो जावै इस को जान लेवों तिस सर्व शास्त्र के ज्ञान की इच्छा करता है । यदि सहस्र वर्ष की आयु भी होवै तौ भी शास्त्र का अंत नहीं पा सकता ॥६४॥

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चंचलम् । विहाय शास्त्रजालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥६५॥

पैङ्गलोपनिषत् ॥ अ० ४ मं० १७ ॥

अर्थ—एक चैतन्य मात्र अक्षर को जानो जीवन असंत चंचल है । शास्त्र जाल को परित्याग करिकै जो सत्य वस्तु है तिस की उपासना करो ॥६५॥

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् । एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ॥६६॥

पैङ्गलोपनिषत् ॥ अ० ४ मं० ९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अमृत करिकै तृप्त है तिस के वास्तैं पयका क्या प्रयोजन है किंतु कुछ प्रयोजन नहीं है । इसी दृष्टांत के अनुसार आपने आत्मा के ज्ञान सें अनंतर वेद शास्त्र को पढ़ने सें कुछ प्रयोजन नहीं है ॥६६॥

ज्ञानामृत तृप्तयोगीनो न किंचित्कर्तव्य मस्ति तदस्ति चेन्न स तत्त्व विद्भवति । दूरस्थितोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति ॥६७॥

पैङ्गलोपनिषत् ॥ अ० ४ ॥ मं० ९ ॥

अर्थ—जो योगि आत्म ज्ञान रूप अमृत सें तृप्त है तिस योगि को किंचित मात्र भी कर्तव्य नहीं है । सो तत्त्व वेत्ता है ऐसा विद्वान दूरस्थ भी है परंतु सर्व का आत्मा होने तैं दूरस्थ नहीं है । शरीर में स्थित भी है परंतु असंग होने तैं शरीर वर्जित है प्रत्यगात्मा भी है परंतु ब्रह्म रूप होने तैं सर्व व्यापी है ॥६७॥

न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायते ॥६८॥

निरालम्बोपनिषत् ॥ नासभूयोऽभिजायते न स भूयोऽभिजायते ॥६९॥

अमृतनादोपनिषत् ॥ मं० ३९ ॥

अर्थ—हे देवताओ ! ऐसे मैं चैतन्य रूप सूत्र को जिस विद्वान पुरुष नैं धारण करा है सो विद्वान पुरुष किसी भी काल विषे उच्छिष्ट होवै नहीं तथा अशुचि भी होवै नहीं । जिन विद्वान पुरुषों के हृदय देश विषे मैं चैतन्य ब्रह्म

रूप सूत्र प्रकाश करै है । तिन विद्वान पुरुषों को सो आत्म ज्ञान ही प्रधान कर्म है । और तिन विद्वान पुरुषों को कायिक वाचिक मानसिक या तीन प्रकार के पाप कर्मों तैं शुद्धि करने हारा भी सो ज्ञान ही है। तहां श्लोक—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते । तत्स्वयं योग संसिद्धः काले नात्मनि विंदति ॥७०॥

गी० अ० ४ श्लोक ३८ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! वे दो विषे वा इस लोक विषे आत्म ज्ञान के समान दूसरा कोई पदार्थ शुद्ध करने हारा नहीं । किंतु यह एक आत्मज्ञान ही शुद्ध करने हारा है । काहे तैं इस आत्मज्ञान तैं भिन्न जितनेक दूसरे कर्म उपासना आदिक उपाय हैं ते उपाय अज्ञान की निवृत्ति करै नहीं । या तैं ते भिन्न उपाय अज्ञान रूप मूल सहित पापों की निवृत्ति करैं नहीं । किंतु यत्किंचित् पाप की निवृत्ति करै हैं । और जब पर्यंत तिन सर्व पापों का मूल कारण रूप अज्ञान विद्यमान है तब पर्यंत किसी प्रायश्चितादिक उपायों करिकै एक पाप के नाश हुये भी पुनः दूसरे पाप अवश्य करिकै उत्पन्न होवै हैं । और आत्म ज्ञान करिकै ता अज्ञान के निवृत्त हुये मूल सहित सर्व पापों की निवृत्ति होवै है । या तैं इस आत्मज्ञान के समान दूसरा कोई शुद्ध करने का उपाय नहीं है ॥७०॥

शंका—हे भगवन ! सो आत्म साक्षात्कार रूप ज्ञान इन सर्व प्राणीयों को शीघ्र ही किस वास्तैं नहीं उत्पन्न होता । समाधान—(तत्स्वयं योग संसिद्धः) हे अर्जुन ! जो अधिकारी पुरुष बहुत काल पर्यंत ता पूर्वोक्त कर्म योग करिकै अंतःकरण की शुद्धि पूर्वक आत्मज्ञान की योग्यता को प्राप्त हुआ है । सो अधिकारी पुरुष आप ही ता आपने अंतःकरण विषे तिस आत्मज्ञान को प्राप्त होवै हैं ।

ये न सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्-ब्राह्मणो यतिः ॥७१॥

परब्रह्मोपनिषत् ॥ मं० ४ ॥

अर्थ—जैसे प्रसिद्ध सूत्र विषे समूह मणियों की न्याई जिस चिन्मात्र सूत्र रूप ब्रह्म विषे यह सर्व नाम रूप प्रपंच प्रोता हुआ है । तिस ब्रह्म रूप सूत्र को जो योग के जानने हारा योगी धारण करता है । सो ब्राह्मण है तथा यति है ॥७१॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः । यदक्षरं परंब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥७२॥ परब्रह्मोपनिषत् ॥ मं० १ ॥

अर्थ—शिखा को वपन करके बाह्य सूत्र को बुद्धिमान परित्याग करे । जो परब्रह्म अक्षररूप सूत्र है तिस सूत्र को धारयेत् धारण करे ॥७२॥

पुनर्जन्मनिवृत्यर्थं मोक्षस्या हर्निशं स्मरेत् । सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परंपदम् ॥७३॥ परब्रह्मोपनिषत् ॥ मं० २ ॥

अर्थ—भविष्यत के जन्मों की निवृत्ति वास्ते मोक्ष को रात्रिदिन चिंतन करे । सूचना कराने के वास्तैं सूत्र इस नाम से परब्रह्म परमपद को कथन करा है ॥७३॥

तत्सूत्रं विदितं येन समुमुक्षुः स भिक्षुकः । स वेदवित्सदाचारी स विप्रः पंक्ति पावनः ॥७४॥ परब्रह्मोपनिषत् मं० ३

अर्थ—जिस अधिकारी पुरुष नैं तिस ब्रह्म-

रूप सूत्र को साक्षात्कार किया है सो मुमुक्षु है सो भिक्षु है सो वेदका वेत्ता है सो सदाचार वाला है तथा सो विप्र है सो अनेक पङ्क्तियों को पावन करने वाला है ॥७४॥

बहिस्सूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञान तत्परः। ब्रह्म भाव मिदं सूत्रं धारये-द्यस्स मुक्ति भाक् ॥७५॥ परब्रह्मो० मं०५॥

अर्थ—बाह्य सूत्र को ब्राह्मणादिक परित्याग करके तिस योग के तथा विज्ञान के सम्पादन में तत्पर है तथा जो इस ब्रह्मभाव की प्राप्ति रूप सूत्र को धारण करता है सो पुरुष ही मुक्ति का भागी होता है ॥७५॥

नाऽशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात्। सूत्र मंतर्गतं येषां ज्ञान यज्ञोपवीतिनाम् ॥७६॥

परब्रह्मो० मं० ६॥

अर्थ—यह ब्रह्मभाव की प्राप्ति रूप जो सूत्र है तिस सूत्र के धारण तैं ना अशुचि होने का भय है न उच्छिष्ट होने का भय रहता है। तथा जिस विद्वान पुरुष का अन्तर प्राप्त आत्मारूप सूत्र है सो विद्वान पुरुष ही ज्ञानरूप यज्ञोपवीत वाला है ॥७६॥

और जैसे अग्नि की ज्वालारूप शिखा ता अग्नि तैं भिन्न नहीं है। तैसे तिस विद्वान पुरुष की नित्य विज्ञानरूप शिखा आपने स्वरूप तैं भिन्न नहीं है ता विद्वान पुरुष को ही वेदवेत्ता या नाम करके कथन करे हैं। प्रसिद्ध केशों को मस्तक विषे धारण करने हारे पुरुषों को शिखी या नाम करके कथन करे नहीं। काहेतैं प्रसिद्ध केशों को तो शूद्र स्त्री आदिक भी धारण करे हैं। परन्तु तिन शूद्रादिकों को शिखी या नाम करके कथन करे नहीं। तहां श्रुति—

ये तु सूत्र विदोलोके ते च यज्ञो-पवीतिनः। ज्ञान शिखिनो ज्ञान निष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥७७॥ परब्रह्मोप० मं०७

अर्थ—तु पुनः जो ब्राह्मणादिक अधि-कारी पुरुष चिन्मय ब्रह्मरूप सूत्र को इस लोक में साक्षात्कार करके धारण करते हैं ते विद्वान पुरुष ही शिखा वाला तथा यज्ञोपवीती है अर्थात् यज्ञोपवीत वाला है। तथा जो विद्वान पुरुष ज्ञाननिष्ठा करके युक्त है तथा ज्ञानरूप शिखा करके युक्त है। सो विद्वान पुरुष ही शिखा वाला तथा यज्ञोपवीत वाला है ॥७७॥

ज्ञान मेव परं तेषां पवित्रं ज्ञान मीरितम्। अग्नेरिव शिखानाऽन्या यस्य ज्ञानमयीशिखा ॥७८॥ परब्रह्मोप० मं० ८॥

अर्थ—जिसकी ज्ञानमयी शिखा है तिस विद्वान पुरुष की ज्ञानमयी शिखा ही परम पवित्र है। सोई ही शिखा है। अग्नि की न्याईं अन्य मस्तक में केश धारणे से शिखी नहीं है ७८

स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केश धारिणः ॥७९॥ परब्रह्मोप० मं० ९॥

अर्थ—सो विद्वान पुरुष ही शिखी इस नाम वाला है ज्ञानरूप शिखा से रहित अन्य मस्तक में केशों को धारण करने वाले शिखी नहीं७९

शंका—हे भगवन! जभी सो ज्ञानरूप यज्ञोपवीत तथा ज्ञानरूप शिखी ही सर्व तैं श्रेष्ठ है। तभी या सर्व ब्राह्मणादिकों नैं ता बाह्य यज्ञोपवीत शिखा का परित्याग करना चाहिये।

समाधान—हे देवताओ! वेद नैं कथन करे जो अग्निहोत्रादिक क तिन अग्निहोत्रादिक

कर्मों विषे जिन ब्राह्मणादिकों का अधिकार है। तिन ब्राह्मणादिकों नैं तो तिन कर्मों के सिद्ध करने वास्ते ता बाह्य यज्ञोपवीत को तथा शिखा को अवश्य धारण करणा। और जो शुद्ध चित्त वाले हुए विद्वान पुरुष हैं तिन को कर्मों का अधिकार नहीं। तिन विद्वान पुरुषों ने तो अंतरात्मा का ज्ञानरूप यज्ञोपवीत को तथा शिखा को ही धारण करना। या प्रकार के यज्ञोपवीत को तथा शिखा को जिस पुरुष ने धारण करा है तिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष विषे ही सम्पूर्ण ब्राह्मणपणा है। तथा यतिपणा है। तहां श्रुति—

शिखाज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्रह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तुकिंचन् ॥८०॥ परब्रह्मोप० मं० १२॥

अर्थ—जिस विद्वान महात्माओं की ज्ञान रूप शिखा है तथा ब्रह्मज्ञानरूप यज्ञोपवीत है। तिस विद्वान विषे सर्व ब्राह्मणों तैं उत्कृष्ट ब्राह्मणपणा है। और जो कदाचित ज्ञानमय शिखा तथा ज्ञानरूप यज्ञोपवीत से रहित है। सो किंचित मात्र भी नहीं है ॥८०॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्। विद्वान्यज्ञोपवीती स धारयेद्यस्स मुक्तिभाक् ॥८१॥ परब्रह्मोप० मं० १३

अर्थ—पुनः जो इस ब्रह्ममय यज्ञोपवीत परम पवित्र के परायण हुए हैं सो विद्वान पुरुष ही ब्रह्मज्ञान रूप यज्ञोपवीती हैं। जिस विद्वान पुरुष ने आत्मज्ञान रूप यज्ञोपवीत तथा शिखा को धारण करा है। सो विद्वान ही मुक्ति के भागी हैं ॥८१॥

तस्मात्सर्व प्रयत्नेन मोक्षाऽपेक्षी भवेद्यतिः। बहिः सूत्रं परित्यज्य स्वान्तः सूत्रं तु धारयेत् ॥८२॥ परब्रह्मोप० मं० १५॥

अर्थ—तिस कारण तैं सर्व प्रकार के प्रयत्न करके मोक्ष की इच्छा वाला जो यति है। बाह्य सूत्र को परित्याग करके स्वात्मा का ज्ञानरूप अन्तर सूत्र को धारण करे है। और जो पुरुष ता आत्मज्ञानरूप यज्ञोपवीत शिखा तैं रहित है। किंतु बाह्य सूत्र के यज्ञोपवीत तथा केशरूप शिखा को धारण करा है। तो पुरुष विषे सो ब्राह्मणपना मुख्य नहीं है किंतु गौण है ॥८२॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा। ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः ॥८३॥ परब्रह्मोप० मं० ९॥

अर्थ—जो ब्राह्मण वेद के अनुसार कर्म नहीं करते तथा लौकिक कर्म करने वाले हैं। ते ब्राह्मण भास मात्र ही जीवते हैं तिनको कुक्षि पूर्णमात्र ही फल है और फल नहीं है ॥८३॥

स शिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥८४॥ नारदपरिव्राजकोपनि० उपदेश ३ मं० ७७॥ सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परंपदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥८५॥ नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ३ मं० ७८॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्व दर्शनः ॥८६॥ नारदपरिव्राजकोपनि० उपदेश ३ मं० ७९॥ बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः

स चेतनः। धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो ना शुचिर्भवेत् ॥ ८७॥ नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ३ मं० ८० ॥ सूत्रमंतर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥८८॥ नारदपरि० उपदेश ३ मं० ८१ ॥ ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिन। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञान मुच्यते ॥८९॥ नारदपरि० उपदेश ३ मं० ८२ ॥ अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ ९० ॥ प्राक पुण्यकर्म वशात्संन्यस्तः स वैराग्य संन्यासी इति। शास्त्रज्ञानात्पापपुण्य लोकानुभव श्रवणात्प्रपंचोपरतः क्रोधेर्ष्यासूयाहंकाराभिमानात्मक सर्व संसारं निर्वृत्य दारेषणा धनेषणा लोकेषणात्मक देहवासनां शास्त्रवासना लोकवासना त्यक्त्वा व मनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधन चतुष्टय संपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञान संन्यासी ॥ ९१ ॥ नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ५॥ जन्मना जायते शूद्रो व्रतबंधाद्द्विजः स्मृतः। वेदऽभ्यासाद्भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥९२॥

अर्थ—यह देहधारी जीव जन्म करके शूद्र संज्ञा को प्राप्त होवे हैं और यज्ञोपवीत संस्कार करके द्विज संज्ञा को प्राप्त होवे हैं। और वेद के अध्ययन करके विप्र संज्ञा को प्राप्त होवे हैं। और ब्रह्म के ज्ञान करके ब्राह्मण संज्ञा को प्राप्त होवे हैं ॥९२॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठः प्राणिनां बुद्धि जीवनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥९३॥ ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सुकृत बुद्धयः। कृत बुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥९४॥

मनु० अध्याय १ श्लोक ९६-९७ ॥

अर्थ—स्थावर जीवों से प्राणधारी कीट श्रेष्ठ हैं। और कीटों से चारपादों वाले जीव श्रेष्ठ हैं। चारपाद वालों से मनुष्य श्रेष्ठ है मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ कहा गया है ॥९३॥ ब्राह्मणों में से वेद के पढ़ने वाला श्रेष्ठ है। और वेद पढ़ने वालों में से वेद के अनुसार कर्मों की इच्छा करने वाला श्रेष्ठ है और उन इच्छा करने वालों में वेद के अनुसार कर्म करने वाले श्रेष्ठ हैं। और वेद के अनुसार कर्म करने वालों में से प्रसक अभिन्न ब्रह्म के ज्ञाते श्रेष्ठ हैं ॥९४॥

वेदवचनानुरूपं स्मृति भिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम ॥ ९५॥ किं जीवः। किं देहः। किं जातिः। किं ज्ञानम्। किं कर्म। किं धार्मिक इति। तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति। चेतन्न अतीतानां गतामेक देहानां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। एकस्यापि कर्मवशादनेकदेह संभवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो

ब्राह्मण इति ॥९६॥ तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेतन्न आचाण्डालादि पर्यंतानां मनुष्याणां पांच भौतिकत्वेन देहस्यैक-रूपत्वाज्जरामरण धर्माधर्मादि साम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमो भावात् ॥९७॥ पित्रादि शरीर दहने पुत्रादिनां ब्रह्महत्यादि दोष संभवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥९८॥ तर्हि जाति ब्राह्मण इति चेतन्न तत्र जात्यंतर जंतुष्वनेक जाति संभवा महर्षयो बहवः संति। ऋष्य शृंगो मृग्यः ॥९९॥ कौशिकः कुशात्। जांबूको जंबूकात्। वाल्मीको वल्मीकात्। व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्। शशपृष्ठात गौतमः। वसिष्ठ उरवश्याम्। अगस्त्यः कलशे। जात इति श्रुतत्वात। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञान प्रतिपादिता ऋषयो बहवः संति। तस्मान्न जाति-र्ब्राह्मण इति ॥१००॥ तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेतन्न क्षत्रियादियोऽपि परमार्थ दर्शनोऽभिज्ञा बहवः संति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति ॥१०१॥ तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्ध संचिता गामि कर्म साधर्म्य दर्शनात्कर्माभि प्रेरिताः संतोजनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति ॥१०२॥ तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेतन्न। क्षत्रियादयो हिरण्य दातारो बहवः संति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति। तर्हि कोवा ब्राह्मणो नाम यः कश्चिदात्मान मद्वितीयं जाति गुण क्रियाहीनं षडूर्मि षट भावेत्यादिसर्व दोषरयितं सत्यज्ञानानं-तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्प मशेष कल्पाधार मशेष भूतांतर्यामित्वेन वर्तमानमंत र्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतम खंडानन्द स्वभावम प्रमेयमनु भवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतला मलकवत्साक्षादपरोक्षी कृत्य कृतार्थ तया कामरागादिदोष रहितः शमदमादिसंपन्नो भाव मात्सर्य तृष्णा शामोहादिरहितो दंभाहंकारादि भिरसंस्पृष्ट चेता वर्तत। एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति। श्रुति स्मृति पुराणेति हासानामभिप्रायः। अन्यथा हिब्राह्मणत्वासिद्धि र्नास्त्येव इति ॥१०३॥ वज्र सूचि उ० यस्य-

सर्वे समारंभाः काम संकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्धकर्मणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१०४॥ गी० अ० ४ श्लो० १९॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष सर्व काम कर्म संकल्प तैं रहित है तथा ज्ञान रूप अग्नि

करिकै दग्ध हुये हैं कर्म तिस के तिस पुरुष को ब्रह्म वेत्ता पुरुष पंडित कहै हैं अर्थात ब्राह्मण कहै हैं ॥१०४॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च। तथैव ब्रह्म विज्ञानी किं गृह्णाति जहातिकिम् ॥१०५॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषत् ॥ मं० २७ ॥

अर्थ—वास्तव अवास्तव में साक्षात् ब्रह्म को ही जानता है । तथा तैसे ही ब्रह्म वेत्ता ज्ञानी किस का ग्रहण करै और किस का त्याग करै ॥१०५॥

आकाशमेकं संपूर्णं कुत्र चिन्नैव गच्छति । तद्वत्स्वात्मविभुत्वज्ञः कुत्र चिन्नैव गच्छति ॥१०६॥

ब्रह्मगीता अ० ७ श्लोक ८० ॥

अर्थ—जैसे अकाश सर्वत्र व्यापक एक रस है किसी जगह में आता जाता नहीं है । तैसे ही आपने आत्मा को विभु अकाश की न्याई जाना है तब किसी जगह आना जाना नहीं है ॥१०६॥

या तैं ब्रह्म वेत्ता पुरुष ही ब्राह्मण शब्द का मुख्यार्थ है । जैसे ता आत्मज्ञान रूप यज्ञोपवीत शिखा तैं विना या पुरुष विषे मुख्य यज्ञोपवीतीपणा तथा शिखीपणा संभवै नहीं । तैसे ता आत्मज्ञान रूप दंड की प्राप्ति तैं विना केवल काष्ट के दंड धारण करने करिकै या संन्यासी विषे दंडीपणा सिद्ध होवै नहीं । काहे तैं ता परमहंस संन्यासी के धर्मों को कथन करने हारी जो परमहंस उपनिषद है तिस परमहंस उपनिषद् विषे या प्रकार कथन करा है । तहां श्रुति—

तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवोपवीतं च । परमात्मनो रेकत्व ज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः स संधया ॥१०७॥ परमहंसोपनिषत् ॥

अर्थ—आत्मा परमात्मा के अभेद ज्ञान करिकै अविद्याकृत जो तिन दोनों में कल्पित भेद है तिस का भंग करना ही हमारी संध्या है तथा सोई ही मेरा परमधाम है तथा सोई ही हमारा यज्ञोपवीत है ॥१०७॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमेस्थिति । ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥१०८॥ परमहंसोपनिषत् ॥

अर्थ—सर्व लौकिक वैदिक कामनाओं को परित्याग करिकै परम अद्वैत में स्थित होवै । आत्मज्ञान रूप दण्ड को जिस नें धारण किया है सो पुरुष एक दण्ड वाला कहा जावै है ॥१०८॥

काष्टदण्डो धृतोयेन सर्वाशी ज्ञान वर्जितः । तितिक्षा ज्ञान वैराग्य शमादि गुण वर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापीयति वृत्तिहा । स याति नरकान्घोरान्महारौरव संज्ञकान् ॥१०९॥

परमहंसोपनिषत् ॥

अर्थ—जिस संन्यासी नैं आत्मज्ञान रूप दंड को धारण करा है सो संन्यासी ही एक दंडी कहा जावै है । और जिस संन्यासी नैं केवल काष्ट के दंड को धारण करा है । और आत्मज्ञान रूप दंड तैं रहित है तथा विषयों विषे आसक्त है सो विषयासक्त अज्ञानी संन्यासी या शरीर का परित्याग करिकै रौरवादिक महान

घोर नरक को प्राप्त होवै है ॥१०९॥ तहां दक्ष स्मृति

वागादि दण्डमुक्तस्तु प्रत्यगात्मन्य वस्थितः । परेब्रह्मणि लीनो यः स त्रिदण्डी व्यवस्थितः ॥११०॥

अर्थ—मन वाणी शरीर जिसके वश में हैं तथा पंच कोशों से भिन्न करके जो अन्तर आत्मा को जाने है तथा परब्रह्मके साथ जिसको अभेद ज्ञान है सो त्रिदण्डीरूप करके स्थित है ॥११०॥

मौनानीहानि लायामादण्डा वाग्देह चेतसाम् । नाह्येते यस्य संत्यंग वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥१११॥

भाग० स्कन्ध ११ ॥ अ० १८ श्लोक १७ ॥

अर्थ—हे उद्धव ! मौन रखना यह वाणी का दण्ड है सकाम कर्म नहीं करना यह देह का दण्ड है । प्राणायाम करना यह मन का दण्ड है । यह तीन दण्ड जिसके होवे वही दण्डी संन्यासी कहलाता है परन्तु इन तीनों दण्डों को न रखने वाला केवल वांस के दण्ड को रखने से संन्यासी दण्डी नहीं कहलाता ॥१११॥

एकश्चरेन्महीमेतां निःसंगः संयतेंद्रियः । आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शनः ॥११२॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ ॥ श्लोक २० ॥

अर्थ—निःसंग रहिना जितेंद्रिय होना आत्मक्रीड आत्मरती धैर्यवान समदृष्टि होकर इस पृथ्वी में अकेला विचरे ॥११२॥

विविक्तक्षेमशरणो मद्भाव विमलाशयः । आत्मानं चिन्तयेदेकम भेदेन मया मुनि ॥११३॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ ॥ श्लोक २१ ॥

अर्थ—निर्जन देश में निवास तथा निर्भय स्थान में बैठकर मेरी भावना से अन्तःकरण को शुद्ध करके संन्यासी मेरे साथ अभेद बुद्धि से केवल आत्मा का चिंतन करे ॥११३॥

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः । स लिंगाना श्रमास्त्यक्त्वा चरेद विधिगोचरः ॥११४॥

भाग० स्कन्ध ११ श्लोक २८—अ० १८ ।

अर्थ—ज्ञान में निष्ठा वाला विरक्त तथा मेरा भक्त तथा मुक्ति की इच्छा से रहित तथा दंडादिकों की आवश्यकता वाले आश्रम धर्मों की असक्ति से रहित तथा जितना आपने से हो सके उतना आश्रम संबंधी धर्म करै परंतु असंत उस में लिपायमान न होवै ॥११४॥

बुधो बालक वत्क्रीडेत्कुशलो जड़वच्चरेत् । वदेदुन्मत्त वद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥११५॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ श्लोक २९ ॥

अर्थ—विवेकी होने पर भी बालक की न्यांई मान अपमान से रहित होना तथा विलक्षण होने पर भी जड की न्यांई विचरे पंडित होने पर भी उन्मत्त की न्यांई वाणी का व्यपार करै अर्थात जिस में लोक प्रसन्न होवैं ऐसा वाणी का व्यापार न करै और वेद के अर्थ को जानता हुआ भी लोकों का संग ना हो जाय इस लिये गौ की न्यांई नियम रहित स्थिति में रहै ॥११५॥

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः । शुष्क वादविवादेन किंचित्पक्षं समाश्रयेत् ॥११६॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ श्लोक ३० ॥

अर्थ—वेद संबंधी अनेक वाद विवाद में

आग्रह न करै। पाखंडी न होवै वेद सें अविरुद्ध तर्क करै। और प्रयोजन रहित विवाद में कोई भी पक्ष न ग्रहण करै ॥११६॥

यातैं परमहंस संन्यासी नैं श्रवण मननादिक साधनों करके ता आत्म ज्ञान को अवश्य करके सम्पादन करना। जिस जीव ब्रह्मके अभेद ज्ञान करके या संन्यासी को पुनः भेद बुद्धि उत्पन्न होवे नहीं। जिस ब्रह्मात्मज्ञान की प्राप्ति तैं यह अधिकारी पुरुष कृतार्थ होवे है। सो अधिकारी पुरुष आपने मन विषे सर्वदा या प्रकार का विचार करे। जैसे मध्यान्काल का सूर्य अन्धकार तैं रहित है। तैसे अद्वितीय ब्रह्म या जीवात्मा विषे सर्वदा अभेदरूप करके स्थित होवे है। तटस्थरूप करके स्थित होवे नहीं। कैसा है सो ब्रह्म सर्व भेद भ्रम तैं रहित है यातैं अद्वितीय है। तहां श्रुति—

भ्रमः पंच विधोभाति तदेवेह समुच्यते। जीवेश्वरौ भिन्नरूपाविति प्रथमको भ्रमः ॥११७॥ अन्नपूर्णोपनिषद् मं० १३।

अर्थ—भ्रम पांच प्रकार का प्रतीत होता है। सो भ्रम तैसे ही इस जीव ईश्वर के स्वरूप का विचार करने से निवृत्त होता है। जीव ईश्वर से भिन्न है यह प्रथम भ्रम है ॥११७॥

आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयकः। शरीरत्रय संयुक्त जीवः सङ्गी तृतीयकः ॥११८॥

अन्नपूर्णोपनिषद् मं० १४॥

अर्थ—आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक गुण वास्तव हैं। यह द्वितीय भ्रम है। और स्थूल सूक्ष्म कारण त्रितय शरीरों का जीव को वास्तव से संग है यह तृतीय भ्रम है ॥११८॥

जगत्कारणरूपस्य विकारीत्वं चतुर्थकः। कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वं. पंचमो भ्रमः। पंच भ्रमनिवृत्तिश्च तदा स्फुर्ति चेतसि ॥११९॥

अर्थ—जगत कारणरूप से विकारी रूप है यह चतुर्थ भ्रम है। कारण से जगत भिन्न है तथा जगत् सत्य है यह पंचम भ्रम है। जिसकाल में पांच प्रकार के भ्रम की निवृत्ति होजावेगी तिस काल में चिदेक रस व्यापक की स्फुरति होवेगी ॥११९॥

विंब प्रतिबिंब दर्शनेन भेदभ्रमो निवृत्तः। स्फटक लोहित दर्शनेन परमार्थिक कर्तृत्व भ्रमो निवृत्तः ॥१२०॥

अन्नपूर्णोपनिषद् मं० १६-१६॥

अर्थ—बिंब प्रतिबिंब के विचार द्वारा साक्षात्कार से अनन्तर जीव ईश्वर का जो भेद भ्रम है सो निवृत्त हो जाता है। अर्थात बिंबरूप ईश्वर है और प्रतिबिंब जीव है जैसे मुख बिंब का दर्पण में मुख का प्रतिबिंब है। और जैसे स्फटकमणी में रक्त पुष्प का प्रतिबिंब होने से स्फटक संग वाली नहीं होती। असंग ही रहिती है। तैसे विचार करने से परिमार्थक आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं हैं कल्पित है ऐसा विचार करने से कर्तृत्व भ्रम की निवृत्ति होती है ॥१२०॥

घटमठाकाशदर्शनेन सङ्गति भ्रमो निवृत्तः। रज्जु सर्पदर्शनेन कारणाद्भिन्न जगतः सत्यत्वभ्रमो निवृत्तः। १२१॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० १ मं० १७॥

अर्थ—जैसे घटमठ उपाधि के लागने से

अकाश एक है तथा असंग है इस दृष्टांत से संगभ्रम निवृत्त होता है। और रज्जु सर्प का जैसे कारण कार्य ता भिन्न भिन्न तथा ससत्व है तैसे जगत् ससत्व भ्रम की निवृत्ति होती है १२१

कनकरुचक दर्शनेन विकारित्व-भ्रमो निवृत्तः। तदा प्रभृति मच्चित्तं ब्रह्माकार मभूत्स्वयम् ॥१२२॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० १ मं० १८॥

अर्थ—जैसे सुवर्ण के भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं तैसे विकार भ्रम की निवृत्ति होती है। पूर्वोक्त दृष्टांतादिकों के निश्चय से अधिकारी पुरुष मतचित्तं ब्रह्माकार वृत्ति वाला स्वयम् होवै ॥१२२॥

और सो अद्वितीय ब्रह्म केवल हमारा ही आत्मा नहीं किंतु सो अद्वितीय ब्रह्म या सर्व जगत् का आत्मा स्वरूप है। यातैं सो ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही हमारी शिखा है तथा सो ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही हमारा यज्ञोपवीत है तथा सो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही हमारा दण्ड है। काहेतैं या लोक विषे राजादिक जिस उपाय करके शत्रु आदिकों को आपने वश करे हैं। ता उपाय का नाम दण्ड है। सो या प्रकार का दण्डशब्द का अर्थ मुख्य वृत्ति करके ता ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मा के अभेद ज्ञान विषे ही घटे है। काहेतैं यह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही अन्तःकरण की वृत्ति विषे अरूढ़ होइके कार्य सहित अज्ञानरूप शत्रु की निवृत्ति करे है। यातैं यह ज्ञानरूप ब्रह्म ही ता दण्ड का मुख्यार्थ है। और हमारे हस्त विषे स्थित जो यह काष्ट का दण्ड है सो केवल मन के वश करने का स्मरण करावै हैं। यातैं यह काष्ट का दण्ड ता दण्डशब्द का मुख्यार्थ नहीं है। किंतु गौण अर्थ है। और सो संन्यास शब्द का मुख्यार्थ भी जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान विषे ही घटै है। कर्मों के त्याग रूप संन्यास विषे तथा प्रेष मन्त्र के उच्चारण पूर्वक संन्यास शब्द का भी मुख्यार्थ घटै नहीं। किन्तु जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान को ही संन्यास शब्द का मुख्यार्थ श्रुति कथन करे है। तहां श्रुति।

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु। संधौ जीवात्मनो रैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥१२३॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० १७॥

अर्थ—कर्मों के त्याग का नाम संन्यास नहीं है। पुनः प्रेष के उच्चारण पूर्वक संन्यास का नाम संन्यास नहीं है। किंतु जीव ब्रह्म के मध्य में जो संधी है ता संधी का अभावरूप जो अभेद ज्ञान है ता अभेद ज्ञान को ही संन्यास कहा है ॥१२३॥

दूषतोपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्वेषु भूतेषु न लिंग धर्मकारणम् ॥१२४॥

मनु० अ० ६ श्लो० ६६

अर्थ—दण्डादिक धर्म के कारण नहीं है आत्मा को सर्वत्र पूर्ण सर्व स्थावर जंगम का आत्मा रूप करके देख नहीं पूर्ण धर्म है ॥१२४॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्भयो निरहंकारो भूत्वाब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्व मासि अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्मनेह नानास्ति किंचनेत्यादि महा वाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चत्य निर्विकल्प समाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स

योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति ॥१२५॥

अर्थ स्पष्ट निरालंबोपनिषद् १८ ॥

वमनाहारवद्यस्य भांति सर्वेषणादिषु । तस्याधिकारः संन्यासेत्सक्त देहाभिमानिनः ॥१२६॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० १८ ॥

अर्थ—जिस अधिकारी पुरुष को तीन प्रकार की ईषणाओं विषे वमन की न्यांई ग्लानी प्रतीत होवै है । तिस अधिकारी पुरुष को ही संन्यास में अधिकार है । देहाभिमानी कहिये जाति अभिमानी कुलाभिमानी आश्रमाभिमानी नामका अभिमानी सम्प्रदाय के चिन्न का अभिमानी अमुक नाम वाला ही संन्यासी हो सकता है इन नाम सें बाह्य संन्यासी नहीं हो सकते हैं ऐसा अभिमान करने वाले इत्यादिक श्रुति के तात्पर्य को ग्रहण करते हुये निष्फल ही अभिमान करने वाले पुरुष को दूर सें ही त्यागना चाहिये । अर्थात ऐसे संन्यासीयों को श्रुति भगवती संन्यास आश्रम में सें बाह्य करती है ॥१२६॥

यदा मनसिवैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु । तदेव संन्यासेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥१२७॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० १९ ॥

अर्थ—जिस काल विषे इस लोक के भोगों विषे तथा ब्रह्म लोक के भोगों विषे मन में वैराग्य उत्पन्न होवै है । तिस काल विषे ही विद्वान पुरुष संन्यास आश्रम को ग्रहण करै । अन्यथा पापी होवैगा ॥१२७॥

द्रव्यार्थं मन्न वस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा । संन्यासेदुभयभ्रष्टः समुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥१२८॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० २० ॥

अर्थ—अथवा जो पुरुष धन संग्रह के वास्तैं वा अच्छे २ भोजन खाने के वास्तैं वा अच्छे २ वस्त्र पहिरने के वास्तैं वा पूजा प्रतिष्ठा वास्तैं संन्यास आश्रम को धारण करता है सो पुरुष उभय भ्रष्ट होता है मुक्ति को प्राप्त नहीं होता ॥१२८

अद्वैत भावना भैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम् । गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥१२९॥ मैत्रे० उ० अ० २ मं० १० ॥

अर्थ—संन्यासी को भक्षाभक्ष का विचार करना अवश्य कर्तव्य है । अद्वैत भाना भिक्षा करै और द्वैत भावना संन्यासी के वास्ते भिक्षा अभक्ष हैं । गुरू शास्त्र के अनुसार जो भावना करिकै अर्थात गुरु शास्त्र के अनुसार संन्यासी का निश्चय होना अवश्य कर्त्तव्य है । यह भिक्षु को भिक्षा विधान करी है ॥१२९॥

विद्वान्स्वदेश मुत्सृज्य संन्यासानंतरं स्वतः । कारागार विनिर्मुक्त चोरवद्दूरतो वसेत् ॥१३०॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० ११ ॥

अर्थ—आपने जन्म स्थान को विद्वान त्याग कै अनंतर आपने घर में जाने की इच्छा नहीं करै । जैसे कारागृह की चोर इच्छा नहीं करता ॥१३०॥

मच्चिता मद्गत्त प्राणाबोधयंतः परस्परम् । कथयन्तश्च मांनित्यं तुष्यन्ति च रमंति च ॥१३१॥

गी० अ० १ श्लोक ६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं परमेश्वर विषे है

चित जिनों का तथा मैं परमेश्वर को प्राप्त हुये हैं प्राण जिनों के तथा परस्पर मैं परमेश्वर का ही बोधन करते हुये तथा निस ही मैं परमेश्वर को कथन करते हुये ते हमारे भक्त संन्यासी संतोष को ही प्राप्त होवै हैं। तथा सुख को अनुभव करे हैं ॥१३१॥

बुधोबालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्। वदेदुन्मत्तवद्विद्वानौच्चर्यां नैगमश्चरेत् ॥१३२॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ श्लोक २९ ॥

अर्थ—विवेकी होने पर भी बालक की न्यांई मान अपमान सें रहित होवै। जैसे बालक क्रीडा करता है ऐसे करै। विचक्षण होने पर भी जड की न्यांई संसार में विचरे। पंडित होने पर भी उन्मत्त की न्यांई वाणी का व्यापार करै लोकों को प्रसन्न करने वास्ते यत्न न करै और वेद को जानता हुआ भी गौ की न्यांई उन्मत्त चेष्टा को करता हुआ नियम सें रहित स्थित होवै ॥१३२॥

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हेतुकः। शुष्कवाद विवादेन किंचित्पक्षं समाश्रयेत् ॥१३३॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ श्लोक ३० ॥

अर्थ—वेद संबंधी अनेक वाद विवादों में प्रीती न रखे तथा पाखंडी नहीं होवै। वेद विरुद्ध विवाद ना करै। विना प्रयोजन से वाद विवाद न करै किसी पक्ष को आश्रय करिकै वाद विवाद न करै ॥१३३॥

नोद्विजेत् जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्नतु। अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन। देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥१३४॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ श्लोक ३१ ॥

अर्थ—किसी सें भी भय न करै तथा किसी को भय नहीं देवै। दुर्वचन को सहन करै किसी की अवज्ञा नहीं करै अर्थात किसी का अनादर न करै। और पशुवों की न्यांई इस देह के उदेश से किसी के साथ वैर नहीं करै ॥१३४॥

एकएव परोह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः। यथेंदुरुदक्पात्रेषुभूतान्येकात्मकानि च ॥१३५॥

भाग० स्कन्ध ११ अ० १८ श्लोक ३२ ॥

अर्थ—जल के भिन्न भिन्न पात्रों में जैसे चंद्रमा एक ही रहिता है तैसे ही आपने में तथा और सर्व प्राणि मात्र में एक ही परमात्मा देव रहितै हैं। इस लिये सर्व में आत्म दृष्टी ही रखनी चाहिये पशुओं की न्यांई कदाचित भी किसी सें वैर नहीं करना चाहिये ॥१३५॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥१३६॥

गीता अ० १० श्लोक १० ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिन संन्यासी भक्तों की मैं परमेश्वर विषे एकाग्र बुद्धि है तथा जो प्रीति पूर्वक मैं परमेश्वर का भजन चिंतन करने हारे हैं। तिन संन्यासी भक्तजनों को तिस पूर्व उक्त बुद्धि योग को मैं परमेश्वर उत्पन्न करूं हूं। जिस बुद्धि योग करिकै ते संन्यासी भक्तजन मैं परमेश्वर को आपना आत्मा रूप करिकै प्राप्त होवै हैं ॥१३६॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञान जंतमः। नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन

भास्वता ॥१३७॥ गीता अ० १० श्लोक ११ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तिन संन्यासी भक्तजनों के ही अनुग्रह अर्थ तिनों के आत्माकार वृत्ति विषे स्थित हुआ मैं परब्रह्म चिदाभास युक्त तिस ज्ञान रूप दीपक करिकै तिनों के अज्ञान जन्य आवरण रूप तम को नाश करूं हूं ॥१३७॥

शंका—हे भगवन ! आत्मा के भेद का कारण जो प्रपंच रूप उपाधि है तिस के विद्यमान हुए परमात्मा की सर्वत्र पूर्णता सम्भवै नहीं। समाधान—यदि प्रपंच मैं आनन्द स्वरूप आत्मा तैं भिन्न होवे तो प्रपंच मैं आत्मा के भेद को उत्पन्न करे। परन्तु मैं आनन्द स्वरूप अधिष्ठान आत्मा तैं प्रपंच भिन्न नहीं है। किंतु मैं परिपूर्ण परमात्मा तैं ही यह प्रपंच उत्पन्न होवे है। और मैं पूर्ण परमात्मा विषे ही यह संपूर्ण जगत स्थित होवे है। और मैं परिपूर्ण परमात्मा विषे ही यह सकल जगत लय होवे है। मैं अधिष्ठान आत्मा की सत्ता तैं भिन्न जगत की सत्ता नहीं है। या तैं सम्पूर्ण जगत मैं अधिष्टान रूप आत्मा विषे कल्पित है। तहां श्रुति—

उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोऽन्यन्नविद्यते। तस्मात्सर्व प्रपंचोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥१३८॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ३॥

अर्थ—इस नाम रूप प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म है और कोई उपादान नहीं है। तिस कारण तैं यह सर्व प्रपंच ब्रह्म रूप ही है ब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥१३८॥

व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात्। इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥१३९॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ४॥

अर्थ—ईश्वर व्यापक है जीव व्याप्य है यह भेद दोनों ही मिथ्या हैं सर्व ही आत्मा रूप है यह वेद की आज्ञा है। इस आत्मा के ज्ञान से परमतत्त्व में भेद का अवसर कहां है १३९

ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः। तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवंतितिविचिंतय ॥१४०॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ५॥

अर्थ—आनन्दस्वरूप ब्रह्म से ही सर्वभूत प्राणि जायते तस्मात एतानि भूतानि परमात्मा ब्रह्म रूप ही भवन्ती ऐसा चिन्तन करो ॥१४०॥

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च। कर्मण्यपि समग्राणि विभर्तीति विभावय ॥१४१॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ६॥

अर्थ—यह सर्व नाम रूप प्रपंच नाना प्रकार का जो प्रतीत होता है। और समग्र कर्म भी भासंति भासमान है यह सर्व ब्रह्म ही है ऐसी भावना करो ॥१४१॥

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्। ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥१४२॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ७॥

अर्थ—जैसे सुवर्ण से उत्पन्न हुए भूषण सुवर्ण रूप ही शाश्वत हैं तैसे ब्रह्म से उत्पन्न हुआ यह नाम रूप प्रपंच ब्रह्म रूप ही

सकता है ॥१४२॥

एकोदेवः सर्वभूतेषुगुढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा । कर्म्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१४३॥ श्वेताश्वे० उ० अ० ६ मं० ११॥

जैसे रज्जु रूप अधिष्ठान के ज्ञान तैं कल्पित सर्पादिकों की निवृत्ति होवे है। परिशेष तैं रज्जु रूप अधिष्ठान ही रहे है। तैसे अधिष्ठान रूप आत्मा के साक्षात्कार हुए संपूर्ण कल्पित प्रपंच की निवृत्ति होवे है। परिशेषतैं मैं परिपूर्ण परमात्मा ही प्रपंच रूप उपाधि तैं रहित हुआ आस्थित होवौं हूं। दृष्टांत–जैसे वर्षा काल विषे अकाश तैं ही मेघ उत्पन्न होवे हैं और अकाश विषे ही मेघ स्थित होवे हैं। आकाश विषे ही मेघों का लय होवे है। और संपूर्ण मेघों की निवृत्ति हुए परिशेष तैं एक आकाश ही रहे है। तैसे कल्पित प्रपंच के निवृत्त हुए परिशेष तैं एक मैं अद्वितीय परमात्मा ही रहौं हूं। और जैसे अकाश सर्वत्र पूर्ण है तैसे मैं आनन्द स्वरूप परमात्मा ही सर्वत्र पूर्ण हूं। और जैसे शरीरादिक अनात्म पदार्थ भूत भविष्यत वर्तमान या तीनों कालों विषे एक स्वभाव वाले होवैं नहीं। किंतु बाल्य यौवनादिक नाना स्वभावों को प्राप्त होवै हैं। तैसे मैं आनंद स्वरूप आत्मा नाना स्वभावों को प्राप्त होवौं नहीं। किंतु तीन कालों विषे एक स्वभाव वाला हूं। और सतचिदानंद स्वरूप हूं। ऐसे निर्गुण मैं परमात्मा के वास्तव स्वरूप को शुद्ध अंतःकरण वाले विद्वान पुरुष ही अनुभव करें हैं। मलीन अंतःकरण वाले पुरुष मैं आत्मा के स्वरूप को जानि सकै नहीं।

शंका—हे भगवन! जिस आत्मा के वास्तव स्वरूप को विद्वान पुरुष अनुभव करै हैं। तिस आत्मा के वास्तव स्वरूप को घटपटादिकों की न्याईं इदं ता रूप करिकै हमारे प्रति बोधन करो। समाधान—हे देवताओ! मैं आनंद स्वरूप परमात्मा वास्तव तैं असंग हूं तथा निर्गुण हूं। जगत की उत्पत्ति स्थिति लय तैं रहित हूं। या तैं ऐसे मैं निर्गुण परमात्मा को घटपटादिकों की न्याईं इदं ता रूप करिकै बोधन करने विषे कोई भी विद्वान समर्थ नहीं है। किंतु मैं निर्गुण परमात्मा विषे जगत की उत्पत्ति स्थिति लय का रोपण करिकै ही शिष्यों के तांई तिस मैं निर्गुण ब्रह्म का गुरु उपदेश करे है। प्रपंच के अध्यारोप अपवाद तैं विना साक्षात निर्गुण मैं परमात्मा के बोधन करने विषे कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है। काहे तैं मैं ही परमात्मा निर्गुण स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप हूं। या तैं बाह्य चक्षु आदिक इंद्रियों करिकै भी जान्या जावौं नहीं। तैसे अंतर मैं बुद्धि आदिकों करिकै भी जान्या जावौं नहीं। तथा अन्य किसी प्रमाण करिकै भी जान्या जावौं नहीं। ऐसे मैं मनवाणी का अविषय निर्गुण परमात्मा विषे जगत की उत्पत्ति स्थिति लय किस प्रकार संभवैगी। या प्रकार के विचार युक्त जो महात्मा पुरुष हैं। तिनों नैं जगत के उत्पत्ति वास्तैं मैं निर्गुण परमात्मा विषे माया कल्पना करी है। सो माया अज्ञान तैं भिन्न नहीं। किंतु मैं अज्ञानी हूं। या अनुभव करिकै सिद्ध अज्ञान स्वरूप ही माया है। और तिस अज्ञान रूप माया को मैं परमात्मा ही प्रकाश करूं हूं। सो अज्ञान रूप माया मैं संपूर्ण परमात्मा को आच्छादन करै नहीं। किंतु मैं परमात्मा के किंचित् देश

को सो माया अच्छादन करै है। तहां श्लोक—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन। विष्टभ्याहं मिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥१४४॥

गी० अ० १० श्लोक ४२॥

अर्थ—हे अर्जुन! अथवा इस वहुत ज्ञान करके तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होवेगा। इस सर्व जगत को मैं परमेश्वर एक देश करके धारण करके स्थित हुआ हूं ॥१४४॥ तहां श्रुति—

भगवन्पादभेदादिकं कथं कथमद्वैत स्वरूपमिति निरूपितम्। विरोधो न विद्यते ब्रह्माद्वितीयमेव सत्यम् ॥१४५॥

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् अ० ४॥

अर्थ—ब्रह्मा उवाच—हे भगवन्! ब्रह्म में पादों का भेद कैसे है और पादों के होने से अद्वितीय ब्रह्म का स्वरूप कैसे निरूपण करते हो। महाविष्णु उवाच—हे चतुर्मुख ब्रह्मा! ब्रह्म अद्वितीय ही है यह हम सत्य कहते हैं पादों के होने से भी कोई विरोध नहीं है ॥१४५॥

तथैवोक्तं च—

ब्रह्मभेदो न कथितो ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किंचिदस्ति। पादभेदादि कथनं तु ब्रह्मस्वरूप कथनमेव ॥१४६॥

त्रिपाद्विभूति० अ० ४॥

अर्थ—महाविष्णुः उवाच—हे ब्रह्मा! तैसे ही हम कहते हैं। अद्वितीय ब्रह्म का भेद नहीं कथन करते ब्रह्म व्यतिरिक्त किंचित्मात्र भी नहीं है। पुनः पादों का भेद कथन में ब्रह्म का स्वरूप ही कथन किया जाता है ॥१४६॥

तदेवोच्यते—

पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्मतत्रैकमविद्यापादं। पादत्रय ममृतं भवति। तमसस्त परं ज्योतिः परमानंद लक्षणम् ॥१४७॥ त्रिपाद्विभूतिमहा० अ० ४॥

अर्थ—महाविष्णुः उवाच—तैसे ही कहते हैं। पादचतुष्टय है आत्मा जिसका ऐसा जो ब्रह्म है। तिस ब्रह्म का एक पाद तो अविद्यापाद है। और तीन पाद तो अमृतरूप हैं अर्थात शुद्ध हैं सो परम ज्योतिरूप है परमानंद लक्षणयुक्त हैं तथा तम से परे है ॥१४७॥

पादत्रयात्मकं ब्रह्मकैवल्यं शाश्वतं परमिति। वेदाहमेतं पुरुषं महांतमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्॥ तमेवं विद्वान मृत इह भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१४८॥

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणो० अ० ४॥

अर्थ—पाद तीन हैं आत्मा जिसका ऐसा जो ब्रह्म है सो कैवल्य है एक रस है सर्व से परे है इति। देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित आदित्य जैसा जिसका वर्ण है तथा तम से परे है तिस ब्रह्म के साक्षात्कार से इस लोक में विद्वान मुक्ति को प्राप्त होता है। नहीं है अन्य और पंथा विद्यतेऽयनाय। मोक्ष के वास्ते कोई और रास्ता नहीं है ॥१४८॥

सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्य वर्णं परं ज्योतिस्तमसः उपरि विभाति॥ यदेकमव्यक्त मनंतरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ॥१४९॥

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणो० अ० ४॥

अर्थ—सो ब्रह्म कैसा है सर्व सूर्यादिक ज्योतियों का ज्योतिरूप है तथा अज्ञान से परे है। सर्वनाम रूप प्रपंच का धारण करने वाला है तथा मन वाणी का अविषय है। तथा आदित्य जैसा वर्ण है। परम ज्योतिरूप है अज्ञान से परे प्रकाशमान है। जो सजाति विजाति स्वगत भेद से रहित एक है अव्यक्त है अनंत स्वरूप है विश्वस्तरूप है पुराना है तम से परे है ॥१४९

पादोऽस्य विश्वा भूतानि पादस्यामृतं दिवि ॥१५०॥

छांदोग्योपनिषत् खंड ११ मं० ६ ॥

अर्थ—इस परमात्मादेव का यह सर्वविश्व एक पाद है और तीन पाद तो अपने निर्गुण स्वयं ज्योति स्वरूप विषे स्थित हैं। जो सर्व ओर तें मैं परमात्मा को माया अच्छादित करे तो अस्ति भाति प्रियरूप करके मैं आत्मा का भान नहीं होना चाहिये। और प्राणि कहते हैं कि मैं सर्वदा विद्यमान हूं। या प्रकार प्रतीति विषे अस्तिरूप करके मैं परमात्मा का भान होवे है। और मैं भासता हूं या प्रतीति विषे भाति रूप करके मैं परमात्मा का भान होवे है। और मैं कभी भी अप्रिय नहीं हूं या प्रतीति विषे प्रियरूपता करके मैं परमात्मा का भान होवे है। या तैं मैं आनंदस्वरूप परमात्मा अपने स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप करके संपूर्ण बुद्धि आदिक जडवर्ग का द्रष्टा हूं। तहां श्रुति ॥१५०॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचोह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरति मुच्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवंति ॥१५१॥

केनो० खं० १ मं० २ ॥

अर्थ—आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन वाणी का वाणी और प्राण का प्राण चक्षु का चक्षु कैसे है। जैसे धान्यादिक के काटने हारे शस्त्र के चलावने वाले पुरुष की न्याईं हैं। जैसे पुरुष की सत्ता स्फुरति तैं दात्र धान्य को काटता है। तैसे आत्मा की सत्ता स्फुराति से ही बुद्धि से आदि लैके श्रोत्रादिक इन्द्रिय पर्यंत सर्व अपने अपने विषयों विषे प्रवृत्त होवै हैं। अर्थात् इस संघात में असंग होइ के आत्मा सर्व संघात का अधिष्ठानरूप से सर्व का प्रेरक है। जो विद्वान धीर पुरुष इस आत्मा को साक्षात्कार करता है। वह विद्वान शरीर त्याग तैं अनंतर इस लोक में ही सर्व प्रकृति की फांसों में मुक्त होकर अमृतभाव को प्राप्त होता है॥१५१

और मैं सजाती विजातीय स्वगत भेद तैं रहित हूं। ऐसे स्वतः सिद्ध आनंद स्वरूप मैं परमात्मा के साक्षात बोधन करने विषे कोई भी विद्वान समर्थ नहीं है। और शास्त्र विषे बुद्धिमान् पुरुषों ने यह कहा है। जिस पदार्थ के प्राप्ति के उत्तरकाल विषे सुख की प्राप्ति होवै है। तिसी पदार्थ के प्राप्ति वास्ते बुद्धिमान पुरुषों ने यत्न करना और जिस पदार्थ के उत्तरकाल विषे दुःख की प्राप्ति होवे है। ऐसे पदार्थ की प्राप्ति वास्ते बुद्धिमान पुरुषों ने यत्न नहीं करना। किंतु तिन पदार्थों के निवृत्त का यत्न करना। या प्रकार का नियम शास्त्र विषे कहा है। तहां श्लोक—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥१५२॥

गीता अ० १८ श्लोक ३६ ॥

अर्थ—हे भारतवंश विषे श्रेष्ठ अर्जुन! अब

मैं परमेश्वर के वचन तैं सात्विक राजस तामस इस भेद करके सुख के त्रिविधपने को श्रवण करो अर्थात यह सुख परित्याग करने योग्य है। यह सुख ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार के विवेक वास्तैं तूं अन्य संकल्पों का परित्याग करके ता के श्रवण विषे आपने मन को स्थिर कर। हे अर्जुन यह यम नियमादिक साधन सम्पन्न अधिकारी पुरुष जिस समाधि सुख विषे अभ्यास तैं रमण करे है अर्थात अत्यन्त परिचय तैं तृप्त होवे है। जैसे विषय जन्य सुख विषे यह पुरुष शीघ्र ही तृप्त होवे है। तैसे जिस समाधि सुख विषे यह अधिकारी पुरुष शीघ्र ही तृप्त होवे नहीं। किंतु निरंतर दीर्घ काल सत्कार पूर्वक सेवन करे हुए अत्यन्त दृढ़ परिचय रूप अभ्यास तैं ही तृप्त होवे है। तथा जिस समाधि सुख विषे रमण करता हुआ यह अधिकारी पुरुष सर्व दुःखों के परि अवसान-रूप अंत को प्राप्त होवे है। अर्थात जैसे विषय सुख के अन्त विषे यह पुरुष महान दुःख को प्राप्त होवे है। तैसे जिस सुख के अन्त विषे दुःख की प्राप्ति होती नहीं। किंतु सर्व दुःखों का परि अवसान रूप अन्त ही होवे है। तहां श्लोक—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्म बुद्धि प्रसादजम् ॥१५३॥

गी० अ० १८ श्लोक ३७॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो समाधि सुख अग्रे विष की न्याई होवे है। अर्थात् ज्ञान वैराग्य करके ध्यान समाधि के अरंभकाल विषे अत्यंत आयास करके साध्य होने तैं प्रसिद्ध विष की न्याई जो सुख द्वेष विशेष की प्राप्ति करने हारा है। तथा जो सुख परिणाम विषे अमृत के तुल्य है अर्थात तिस ज्ञान वैराग्य के परिपाक विषे जो सुख अमृत की न्याई अत्यन्त प्रीती का विषय होवे है तथा जो सुख आत्म बुद्धि प्रसाद जन्य है तहां आत्मा को विषय करने हारी जो बुद्धि है ताका नाम आत्म बुद्धि है ता आत्म बुद्धि का जो प्रसाद है अर्थात निद्रा आलस्यादिक दोषों तैं रहित होइके जो स्वस्थतारूप करके स्थित है ताका नाम आत्म बुद्धि है। ऐसे आत्म विषयक बुद्धि के प्रसाद तैं जो सुख उत्पन्न होवे है। राजस सुख की न्याई जो सुख निद्रा आलस्यादिकों करके भी जन्य नहीं है। इस प्रकार अनात्म बुद्धि की निवृत्ति करके आत्म विषयक बुद्धि के प्रसाद तैं जन्य जो समाधि का सुख है सो सुख योगी पुरुषों नैं सात्त्विक सुख कहा है ॥१५३॥

विषयेंद्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥१५४॥

गी० अ० १८ श्लोक ३८॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो सुख शब्दादिक विषयों के तथा श्रोत्रादिक इन्द्रियों के सम्बन्ध तैं ही जन्य है पूर्व उक्त आत्म विषयक बुद्धि के प्रसाद तैं जो सुख जन्य है नहीं। तथा जो सुख प्रथम अरंभ विषे मन इन्द्रियों के संयमादिक रूप क्लेश के अभाव तैं भोक्ता पुरुष को अमृत के समान होवे है। तथा जो सुख परिणाम काल विषे तिस भोक्ता पुरुष को इसलोक के दुःखों का तथा प्रलोक के दुःखों का प्रापक होने तैं विष के समान है। अर्थात जैसे मरण का कारण रूप विष लोकों को प्रतिकूल होवे है। तैसे जो विषय सुख परिणाम काल विषे

तिस भोक्ता पुरुष को असन्त प्रतिकूल होवे हैं। ऐसा असन्त प्रसिद्ध जो स्रक चन्दन वनिता संगादिक जन्य विषय सुख है सो विषय जन्य सुख शिष्ट पुरुषों नैं राजस सुख कहा है ॥१५४॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्य प्रमादोत्थंतत्तामसमुदाहृतम् ॥१५५॥

गी० अ० १८ श्लोक ३९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो सुख प्रथम अरंभ विषे तथा परिणाम विषे बुद्धि को मोहन की प्राप्ति करनेहारा है तथा जो सुख निद्रा आलस्य प्रमाद इन तीनों तैं ही उत्पन्न हुआ है तथा निद्रा आलस्य यह दोनों तैं प्रसिद्ध ही है। और कर्तव्य अर्थ के निश्चय तैं विना जो केवल मनोराज्य मात्र है ताका नाम प्रमाद है। ऐसे निद्रा आलस्य प्रमाद तैं जो सुख उत्पन्न होवे है। जो सुख सात्त्विक सुख की न्याई आत्म विषय बुद्धि के प्रसाद तैं भी जन्य नहीं है। तथा राजस सुख की न्याई जो सुख विषय इन्द्रिय के संयोग तैं भी जन्य नहीं है ऐसा निद्रा आलस्य प्रमाद जन्य सुख शिष्ट पुरुषों नैं तामस सुख कथन करा है ॥१५५॥

तहां शब्दादिक विषयों के प्राप्ति के उत्तर काल विषे जीवों को सुख की प्राप्ति होवे नहीं। किंतु अनन्त प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होवे है। यातैं शब्दादिक विषयों की प्राप्ति वासतैं यत्न करना व्यर्थ है। आत्मा के साक्षात्कार रूप प्राप्ति के उत्तर काल विषे जीवों को निरतिशय आनन्द की प्राप्ति होवे है। यातैं आनन्द स्वरूप आत्मा के प्राप्ति वासतैं ही बुद्धिमान पुरुषों को यत्न करना उचित है। और जैसे शब्दादिक विषय प्रणाम काल विषे दुःख के ही कारण हैं। यातैं बुद्धिमान पुरुषों के प्राप्त होने योग्य नहीं। तैसे शब्दादिक विषय भोग के साधन जो स्थूल शरीर है तथा सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर यह तीनों प्रकार के शरीर हैं। तभी भोग की प्राप्ति द्वारा उत्तर काल विषे अनन्त प्रकार के दुःखों का कारण हैं। यातैं स्थूल सूक्ष्म कारण यह तीन प्रकार के शरीर भी अधिकारी पुरुषों को प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। किंतु परित्याग करने योग्य हैं। एक आनन्द स्वरूप आत्मा ही अधिकारी पुरुषों को प्राप्त होने योग्य हैं। यातैं शब्दादिक विषयों तैं आदि लैके कारण शरीर पर्यंत जितनाकु दृश्य प्रपंच है तिसका परित्याग करके यां संघात का साक्षी जो मैं सतचितानन्द स्वरूप आत्मा हूं। तिस मैं आनन्दरूप आत्मा को जभी जाने हैं। तभी सर्व पदार्थों विषे सत् चित्‌नान्दस्वरूप करके मैं आत्माकू जानने विषे यह पुरुष समर्थ होवे है।

दृष्टांत—जैसें लोक विषे किसी पुरुष की गौ जभी गृह तैं बाहिर चली जावे है। तभी सो पुरुष ता गौ के पादों के चिह्नयुक्त भूमि को देख करिकै या प्रकार का निश्चय करे है। इसी पूर्व दिशा विषे हमारी गौ गई है। दूसरी किसी दिशा विषे नहीं गई। या प्रकार का निश्चय करिकै सो पुरुष जभी तिसी मार्ग विषे शनैः शनैः जावे है तभी सो पुरुष तिस गौ को प्राप्त होवे है। तैसे अधिकारी जीवों के प्राप्त होने योग्य जो या संघात विषे स्थित मैं आनन्दस्वरूप आत्मा हूं। तिस को जभी यह पुरुष निश्चय करता है। तभी सर्व भूत प्राणियों विषे स्थित सत् चिदानन्द स्वरूप मैं आत्मा को भी साक्षात्कार करसके हैं। या

संघात विषे स्थित आत्मा के ज्ञान से विना सर्वत्र व्यापक रूप करिकै मैं परमात्मा का ज्ञान होइसकै नहीं । तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण रूप मार्ग विषे गौ के पाद के चिह्न की न्याई साक्षी रूप करिकै वर्तमान जो आत्मा है। ताको जभी अधिकारी पुरुष निश्चय करै है। या तैं ऐसे मैं आनन्द स्वरूप आत्मा के लाभ तैं परे या लोक विषे दूसरा कोई पदार्थ लाभ नहीं है। किंतु मैं आनन्द स्वरूप आत्मा की प्राप्ति ही परम लाभ है । तहां श्रुति—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापिविचाल्यते ॥१५६॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० १३ ॥

मैं आनन्द स्वरूप आत्मा के प्राप्त हुए जितनेक लौकिक यश कीर्ती पुण्यादिक अल्प पदार्थ हैं ते संपूर्ण आत्मज्ञानी पुरुष को प्राप्त होवे हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे लोक विषे जितनेक मनुष्यादिकों के पाद हैं ते संपूर्ण पाद हस्ति के पाद विषे अन्तर्भूत हैं । तैसे आत्म ज्ञान रूप फल के विषे सर्व कर्मों के फल का अन्तरभाव है। या तैं आत्मा तैं भिन्न सर्व पदार्थों का त्याग करिकै मैं आनन्द स्वरूप आत्मा का ज्ञान ही अवश्य सम्पादन करना योग्य है ॥१५६॥ तहां श्लोक—

स्नातं तेन समस्ततीर्थ सलिले दत्ता च सर्वानिः । यज्ञानां च कृतं सहस्र मखिलादेवाश्च संपूजिताः ॥१५७॥ संसाराच समुद्धृताः स्वपितरस्त्रै लोक्य पूज्योप्यसौ। यस्यब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यंमनः प्राप्नुयात् ॥१५८॥

अर्थ—जिस पुरुष का मन क्षणमात्र भी ब्रह्म के विचार विषे स्थित हुआ है तिस पुरुष ने सर्व तीर्थों के जल विषे स्नान किया है। तथा सर्व पृथ्वी भी तिस ने दान करी है। तथा सहस्र यज्ञ भी तिसने करे हैं । तथा संपूर्ण देवता भी तिस ने पूजन करे हैं। तथा संसार समुद्र तैं आपने पितरों को भी तिस ने उद्धार करे हैं। तथा तीनों लोकों करिकै पूज्य भी सो पुरुष होवे हैं ॥१५७—१५८॥

अब चेतन सप्त प्रकार का हो रहा है यह कहे हैं।

शुद्धमीश्वरं चैतन्य जीव चैतन्य मेव च । प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फल तथा ॥१५९॥

कठरुद्रोपनिषत् मं० ३७ ॥

अर्थ—शुद्ध ब्रह्म ईश्वर चेतन जीव चेतन तथा सभास अन्तःकरण प्रमाताचेतन तथा वृत्ति विच्छिन्न चेतन प्रमाण चेतन विषयाविच्छिन्न चेतन प्रमेयचेतन तथा वृत्ति में अरूढ़ चेतन फल चेतन है ॥१५९॥

इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः । मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्ध मित्य भिधीयते ॥१६०॥

कठरुद्रोपनिषत् मं० ३८ ॥

अर्थ—इस प्रकार से सप्त विधि का उपाधि भेद तैं तथा व्यवहार के भेद तैं चेतन का भेद कहा है । माया उपाधि से रहित शुद्ध चेतन इस नाम से कहा गिया है ॥१६०॥

माया सम्बन्धतश्चेशो जीवोऽविद्या

वशस्तथा। अन्तःकरण सम्बन्धा-प्रमातेत्यभिधीयते ॥१६१॥

कठरुद्रोपनिषत् मं० ३९ ॥

अर्थ—शुद्ध सत्वोगुण प्रधान माया के सम्बन्ध से शुद्ध ब्रह्म ही ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है। तथा मलिन तमो प्रधान अविद्या के सम्बन्ध तैं शुद्ध ब्रह्म ही जीव संज्ञा को प्राप्त होता है। तथा अन्तःकरण के सम्बन्ध तैं प्रमाता इस नाम से कह्या जाता है ॥१६१॥

तथातद्वृत्ति सम्बन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते। अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेय-मिति कथ्यते ॥१६२॥

कठरुद्रोपनिषत् मं० ४० ॥

अर्थ—तथा तिस अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध तैं प्रमाण चेतन इस नाम से कथन करा जाता है। तथा अज्ञात पदार्थ के ज्ञान से तत्पदार्थाविच्छन्न चेतन को प्रमेय इस नाम से कथन करे हैं ॥१६२॥

तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभि-धीयते। सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं स्वात्मा-नं भावयेत्सुधीः ॥१६३॥

कठरुद्रोपनिषत् मं० ४१ ॥

अर्थ—तथा ज्ञात घटपटादिकों का प्रकाशक वृत्ति में जो फल चैतन्य है तिस को फल इस नाम से कह्या है। सर्वोपाधियों से रहित आपना आत्मा रूप करिकै समान सत्ता एक रस को बुद्धिमान पुरुष शुद्ध ब्रह्म कहिते हैं ॥१६३॥

एवं यो वेदतत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते। सर्ववेदांत सिद्धांतसारं वच्मि यथार्थतः ॥१६४॥ कठरुद्रोपनिषत मं० ४२ ॥

अर्थ—इस प्रकार तत्त्वरूप करिकै जो अधिकारी जानता है सो ब्रह्म के साक्षात्कार के योग्य होता है। यह सर्व वेदांत सिद्धांत का सार रूप है हम यथार्थ कहिते हैं ॥१६४॥

अब याही अर्थ के स्पष्ट करने वास्ते पुत्रादिक सर्व प्रिय पदार्थों तैं आत्मा विषे मुख्य प्रियता दिखावे हैं या लोक विषे आत्मा को प्रिय कहे हैं। तथा पुत्रादिक पदार्थों को भी प्रिय कहे हैं। तिन दोनों विषे आत्मा तौ निरूपाधिक प्रती का विषय है या तैं अतिशय प्रीति का विषय है। और पुत्रादिक पदार्थ सौपाधिक प्रीति के विषय हैं। या तैं पुत्रादिक पदार्थ अतिशय करिकै प्रिय नहीं। अब पुत्रादिक पदार्थों विषे सौपाधिक प्रती की विषयता निरूपण करै हैं। हे देवताओ! पुत्र विषे तथा स्त्री विषे तथा धन विषे तथा बांधवादिकों विषे जो लोकों की प्रीति होवै है। सो प्रीति आपने आत्मा के वास्ते ही होवै है। पुत्रादिकों के वास्ते सो प्रीति होवै नहीं। जो पुत्रादिकों के वास्ते ही सो प्रीति होवै तो। शत्रु पुरुष के पुत्रादिकों विषे भी सो प्रियता होनी चाहिये। और शत्रु के पुत्रादिकों को कोई भी पुरुष प्रियता मानता नहीं। या तैं यह सिद्ध भया विषे जो प्रियता है सो किसी दूसरे आत्मा के आनंद के वास्तैं नहीं। या तैं आनंद स्वरूप आत्मा विषे निरूपाधिक प्रीति की विषयता है। या कारण तैं ही श्रुति विषे पुत्रादिक सर्व पदार्थों तैं आत्मा को अधिक प्रिय कहा है। और जैसे आत्मा की अपेक्षा करिकै पुत्रादिक बाह्य हैं या तैं तिनों विषे भी सौपाधिक प्रीति की ही विषयता है। अब प्राणादिकों के बाह्यता को दिखावै हैं। स्थूल शरीराकार परिणाम

को प्राप्त भये जे शब्दादिक विषय है । तिनों तैं प्राण विशिष्ट इंद्रिय अंतर है । और तिन इंद्रियों तैं संकल्प विकल्प रूप मन अंतर है। तिस मन तैं निश्चय रूप बुद्धि अंतर हैं तिस बुद्धि तैं अहंकार विशिष्ट जीव अंतर है । और तिस जीव तैं अव्याकृत नामा कारण अज्ञान अंतर है। और तिस कारण अज्ञान तैं मैं शुद्ध आत्मा अंतर हूं । मैं शुद्ध आत्मा सें अंतर कोई भी पदार्थ नहीं। तहां श्रुति—

इंद्रियेभ्यः पराह्यर्थाअर्थेभ्यश्च परं- मनः । मनसस्तु पाराबुद्धि बुंद्धेरात्मा- महान परः ॥१६५॥ महत्तःपरमव्यक्तम वक्तात्पुरुष परः । पुरुषान्न परं किंचित् साकाष्टासापरागतिः ॥१६६॥

कठो० उ० अ० १ वल्ली ३ मं० १० ११ ॥

अर्थ—श्रोत्रादिक इंद्रियों तैं शब्दादिक विषय रूप अर्थ पर हैं और तिन अर्थों तैं मन पर है और ता मन तैं व्यष्टि बुद्धि पर है। और ता व्यष्टि बुद्धि तैं हरण्यगर्भ की समष्टि बुद्धि पर है । और ता समष्टि बुद्धि तैं माया रूप अव्याकृत पर है और ता माया रूप अव्याकृत तैं सर्व जड वर्ग का प्रकाश करने हारा पूर्ण आत्मा पर है ॥१६५, १६६॥

शंका—हे भगवन ! ऐसे परिपूर्ण आत्मा तैं भी कोई परै होवैगा ऐसी शंका के हुये साक्षात् श्रुति भगवती उत्तर कहै है। (पुरुषान्न परं किंचित इति) ता परमात्मा देव तैं परे कोई भी वस्तु नहीं है। जिस कारण तैं सो परमात्मा देव ही काष्टारूप है । अर्थात सर्व का आधि- ष्टान होने तैं समाप्ति रूप है।

इंद्रियानिपराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं- मनः मनसस्तु पराबुद्धियोंबुद्धेः पर- तस्तुसः ॥१६७॥ गी० अ० ३ श्लोक ४२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! इस स्थूल शरीर तैं श्रोत्रादिक इंद्रियों को परे कहै हैं तथा तिन इंद्रियों तैं मन परे है तथा ता मन तैं बुद्धि परे है और जो बुद्धि तैं भी परे स्थित है सोई ही आत्मा है ॥१६७॥

अब या ही अर्थ को युक्ति करिकै निरूपण करै हैं। हे देवताओ ! जैसे घट का द्रष्टा पुरुष घट रूप विषय तैं अंतर होवै है। तैसे मैं आनंद स्वरूप आत्मा नेत्रादिक इंद्रियों करिकै रूपादिक विषयों को जानों हूं। या तैं मैं द्रष्टा आत्मा का जो विशेषण इंद्रिय हैं। ते रूपादिकों की अपेक्षा करिकै अंतर है। और मैं आनंद स्वरूप आत्मा मन करिकै इंद्रियों को जानों हूं। या तैं मैं द्रष्टा आत्मा का विशेषण जो मन है सो इंद्रियों की अपेक्षा करिकै अंतर है। और मैं आनंद स्वरूप आत्मा निश्चय रूप बुद्धि करिकै मन को जानों हूं। या तैं मैं द्रष्टा आत्मा का विशेषण जो बुद्धि है सो मन की अपेक्षा करिकै अंतर है । और मैं आनंद स्वरूप आत्मा ता आहंकार विशिष्ट जीव रूप करिकै ता बुद्धि को जानों हूं। या तैं मैं द्रष्टा आत्मा का विशेषण जो जीव है सो बुद्धि की अपेक्षा करिकै अंतर है । और मैं आनंद स्वरूप आत्मा ता अहंकार विशिष्ट जीव को कारण अज्ञान उपाहित साक्षी रूप करिकै जानों हूं । या तैं मैं द्रष्टा आत्मा का विशेषण जो अज्ञान है सो जीव की अपेक्षा करिकै अंतर है । और मैं आनंद स्वरूप आत्मा आपने स्वप्रकाश करिकै ता अज्ञान को प्रकाशो हूं। या तैं कारण अज्ञान तैं मैं आत्मा अंतर हूं। मैं आत्मा तैं अंतर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है।

किंतु मैं आत्मा की अपेक्षा करिकै सर्व अज्ञानादिक पदार्थ बाह्य हैं । मैं आत्मा ही सर्व तैं अंतर हूं । अब राजयोग के अष्टांगों का निरूपण करैं हैं । तहां श्रुति—

यम का स्वरूप—

सर्वं ब्रह्मेति वैज्ञानादिंद्रिय ग्राम संयमः । यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यासनीयो मुहुर्मुहुः ॥१६८॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० १ मं० १७ ॥

अर्थ—संपूर्ण जगत ब्रह्म है इस प्रकार निश्चय करिकै संपूर्ण इंद्रियों का निग्रह करना सो यम कहावे है इस प्रकार का अभ्यास पुरुषों को बारंबार करना योग्य है ॥१६८॥

नियम का स्वरूप—

सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः । नियमोही परानंदो नियमात्क्रियते बुधैः ॥१६९॥

तेजोविंदूपनि० अ० १ मं० १८ ॥

अर्थ—सजातीय प्रवाह अर्थात मैं ब्रह्म रूप हूं इस प्रकार आत्माकार वृत्ति का प्रवाह और विजातीय तिरस्कृति अर्थात ब्रह्माकार वृत्तियों से अतिरिक्त संसाराकार वृत्तियों का तिरस्कार इस प्रकार के ज्ञान को नियम कहितैं हैं । इस नियम को बुद्धिमान पुरुष अवश्य करैं ॥१६९॥

त्याग का स्वरूप—

त्यागः प्रपंचरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् । त्यागो हि महिता पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ॥१७०॥

तेजोविंदूपनि० अ० १ मं० १९ ॥

अर्थ—चैतन्य स्वरूप तत्त्व को साक्षात्कार करिकै जो नाम रूप प्रपंच का त्याग करना है । सो त्याग कहावै है । इस त्याग का महात्मा लोग बड़ा आदर करते हैं । और यह त्याग शीघ्र ही मोक्ष को देवै है ॥१७०॥

मौन का स्वरूप—

यस्माद्वाचो निवर्तंते आप्राप्य मनसा सह । यन्मौनं योगीभिर्गम्यं तद्भजेत्सर्वदा बुधः ॥१७१॥

तेजोविंदूपनि० अ० १ मं० २० ॥

अर्थ—जिस सत्चिदानन्द आत्मा को मन क सहित वाणीयां ना प्राप्त होइके निवृत्ति होवे है । तथा जिस आत्मारूप मौन को योगी लोग प्राप्त होवे हैं । तिस आत्मारूप मौन को ही बुद्धिमान पुरुष सर्वदा भजे ॥१७१॥

एकांत का स्वरूप ।

अदावंते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते । येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥१७२॥

तेजोविंदूपनिषद् अ० १ मं० २१ ॥

अर्थ—जिस स्वयं ज्योति आत्मा में नामरूप प्रपंच की उत्पत्ति से आदिकाल में तथा मध्यकाल में तथा सृष्टि के अंतकाल में जनों का अभाव है तथा जिस स्वयं ज्योति आत्मा के अस्ति भाति प्रियरूप करके निरंतर यह नामरूपात्मक जगत् व्याप्त हो रहा है सो आत्मारूप ही निर्जन देश कहा है ॥१७२॥

काल का स्वरूप ।

कल्पिना सर्व भूतानां ब्रह्मादिनां निमेषतः । कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखंडानन्दमद्वयम् ॥१७३॥

तेजोविंदूपनि० अ० १ मं० २२ ॥

अर्थ—जिस सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के निमेषमात्र में ब्रह्मादि सर्वभूतों की कल्पना होवे है। सो अखंड आनन्द स्वरूप अद्वैत ब्रह्म ही कालशब्द से कहा जावे है ॥१७३॥

आसन का स्वरूप।

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठान मद्वयम्। यस्मिन्सिद्धिं गता सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥१७४॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० २३ ॥

अर्थ—जिस स्वयं ज्योति आत्मा की प्राप्ति से सिद्ध होवे हैं। तथा जिस स्वयम् ज्योति ब्रह्म विषे प्रलय काल में लय होवे हैं। तथा जो नाम रूप विश्व का अधिष्ठानरूप अद्वैत आत्मा है सो सिद्धासन कहा है ॥१७४॥

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्न जस्र ब्रह्मचिंतनम्। आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुख विनाशनम् ॥१७५॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० २४ ॥

अर्थ—जिस आसन से सुख पूर्वक स्थित होइके ब्रह्म भिन्न आत्मा का चिंतन होसके उसको ही आसन कहे हैं। उससे अतिरिक्त जिस आसन में स्थित होने तैं ब्रह्म का चिंतन नहीं होइसके ऐसे जे पद्मादिक स्वस्तिकादिक आसन हैं सो सुखकारक नहीं है किंतु सुख नाशक हैं ॥१७५॥

मूलबन्ध का स्वरूप।

यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्त बन्धनम्। मूलबन्धः सदासेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिना ॥१७६॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० २५ ॥

अर्थ—जो स्वयं ज्योति आत्मा अकाशादिक पंचभूतों का आदि कारण है तथा जो चित्त एकाग्रका मूल है अर्थात् जो चित्त का अधिष्ठान सो मूलबन्ध कहावै है सो मूलबन्ध राज योगियों को सर्वदाकाल सेवन करना योग्य है ॥१७६॥

अङ्गों की समता।

अंगानां समतां विद्यात्सम ब्रह्मणि लीयते। नो चेन्नैव समानत्व मृजुत्व शुष्कवृक्षवत् ॥१७७॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० २६

अर्थ—समाधि काल में अङ्गों की समानता अर्थात् सिद्धापन यह है कि सम ब्रह्म में लीन होना ही जानों। तथा यह समानत्व सीधापन शुष्कवृक्ष की न्याईं नहीं है ॥१७७॥

दृष्टि का स्वरूप।

दृष्टिं ज्ञानमयीकृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रविलोकिनी ॥१७८॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० २७ ॥

अर्थ—ब्रह्ममयी दृष्टि को करके सर्वत्र अस्ति भाति प्रियरूप ब्रह्म को जो देखता है सो दृष्टि परम उदार तथा मंगल को देने वाली है। नासिका के अग्रभाग में जो दृष्टि है सो दृष्टि नहीं ॥१७८॥

द्रष्टि दर्शन दृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्। दृष्टि स्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रविलोकिनी ॥१७९॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० २८

अर्थ—और जिस स्वयं ज्योति आत्मा में द्रष्टृ दर्शन दृश्य का विराम होवे है। अर्थात्

रज्जु में सर्व की न्याईं अध्यस्त होवे है। सो दृष्टि ही करनी योग्य है। नासिका के अग्रभाग में जो दृष्टि करनी है सो दृष्टि नहीं है ॥१७९॥

प्राणायाम का स्वरूप।

चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैवभावनात। निरोधाः सर्ववृत्तिनां प्राणायामः स उच्यते ॥१८०॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३१

अर्थ—चित्त से आदि लैके सर्व पदार्थों में जो ब्रह्मभावना करनी है। और श्रोत्रादिक इन्द्रिय जन्य वृत्तियों का जो निरोध है सो प्राणायाम कहावे है ॥१८०॥

प्राणायाम पूर्वक कुंभक रेचक का स्वरूप।

निषेधनं प्रपंचस्य रेचकाख्यः समीरितः। ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायू रुच्यते ॥१८१॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३२

अर्थ—प्रपंच का निरोध अर्थात मिथ्यात्व निश्चय को रेचक कहते हैं सर्वत्र एक ब्रह्म ही है ऐसी जो वृत्ति है सो पूरकनाम प्राणायाम कहावे है ॥१८१॥

ततस्तद्वृत्ति नैश्चल्यं कुंभकः प्राण संयमः। अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राण पीडनम् ॥१८२॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३३ ॥

अर्थ—तिस तैं अनन्तर ब्रह्म में चलायमानता से रहित जो वृत्ति की स्थिति है। सो कुंभक प्राणायाम कहावे है। इसप्रकार की रेचक पूर्वक कुंभक प्राणायाम ज्ञानी महात्मा का होवे है। जो अज्ञानी पुरुष प्राणों को रोक कर नासिका को पीडा देते हैं सो प्राणायाम नहीं है ॥१८२॥

प्रत्याहार का स्वरूप।

विषयेष्वत्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरंजकम्। प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यासनीयो मुहुर्मुहुः ॥१८३॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३४ ॥

अर्थ—विषयों में आत्मत्व भावना करनी अर्थात् सर्व जगत को ब्रह्ममय जो निश्चय करना है और चेतन स्वरूप आत्मा में जो चित्त को लगाना है सो प्रत्याहार कहावे है। मोक्ष की इच्छावाले मुमुक्षु इस प्रत्याहार का वारंवार अभ्यास करे हैं ॥१८३॥

धारणा का स्वरूप।

यत्र यत्र मनोयाति ब्रह्मस्तत्र दर्शनात्। मनसा धारणं चैव धारणा सा परामता ॥१८४॥ तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३५

अर्थ—जहां जहां मनजावे है तहां तहां ब्रह्म का ही दर्शन है। सो मन की धारणा सर्व से उत्कृष्ट धारणा है ॥१८४॥

ध्यान का स्वरूप—

ब्रह्मैवस्मीति सद्वृत्त्या निरालंभतया स्थितिः। ध्यानशब्देन विख्यातः परमानंददायकः ॥१८५॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३६ ॥

अर्थ—देह से आदि लैके सर्व नामरूप प्रपंच के अनुसंधान के परित्याग पूर्वक अहंब्रह्मास्मि या निरालंभ सत्यवृत्ति की जो स्थिति है सो स्थिति ध्यान शब्द से श्रुति में विख्यात है। यह ध्यान परमानंद के देनेहारा है ॥१८५॥

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः। वृत्ति विस्मरणं सम्यक समाधिर भिधीयते ॥१८६॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ३७॥

अर्थ—विक्षेपरूप दोष तैं रहित निर्विकार ब्रह्माकार वृत्ति की जो स्थिति है अर्थात त्रिपुटी से रहित निर्विकल्प वृत्ति की जो स्थिति है तथा नामरूप प्रपंच के अकारवृत्ति की विस्मृति है सो ज्ञानवानों की समाधि को श्रुति विधान करे है ॥१८६॥ तहां श्लोक—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ॥१८७॥

गी० अ० ५ श्लोक ४॥

अर्थ—हे अर्जुन! विचार हीन पुरुष संन्यास कर्म योग दोनों को विरुद्ध फल वाला कथन करै हैं। विचारवान पण्डित ऐसा नहीं कथन करै हैं जिस कारण तैं तिन दोनों विषे एक को भी भली प्रकार सें करता हुआ यह पुरुष तिन दोनों के निःश्रेयसरूप फल को प्राप्त होवै है ॥१८७॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१८८॥

गी० अ० ५ श्लोक ५॥

अर्थ—हे अर्जुन! सांख्य पुरुषों नैं जिस स्थान को प्राप्त होना है तिसी स्थान को योगी पुरुषों नैं भी प्राप्त होना है यातै यो अधिकारी पुरुष सांख्य को तथा योग को एक रूप करिकै देखता है सोई ही पुरुष संम्यक देखे है ॥१८८॥

अब ब्रह्म विद्या के स्वरूप का निरूपण करै हैं। हे देवताओ! सर्व भेद तैं रहित तथा स्वप्रकाश तथा सत्य स्वरूप तथा आनंद स्वरूप जो मैं आत्मा हूं। तिस मैं सत्चिदानंद स्वरूप आत्मा को विषय करने हारी तथा महा वाक्य तैं उत्पन्न भयी जो चैतन्य के अभास युक्त अंतःकरण की वृत्ति है ताका नाम ब्रह्म विद्या है। या प्रकार की ब्रह्म विद्या जब पर्यंत नहीं उत्पन्न भयी तब पर्यंत जीवों के अज्ञान की निवृत्ति होवै नहीं। और जब पर्यंत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब पर्यंत जन्म मरण रूप संसार की निवृत्ति नहीं होवै है। जन्म मरण रूप संसार की निवृत्ति वास्तैं ब्रह्म विद्या का अवश्य सम्पादन करना। हे देवताओ! यद्यपि सत्चिदानंद स्वरूप मैं परमात्मा सर्व जीवों का आत्मा रूप हूं तथापि ब्रह्म विद्या तैं विना अज्ञान करिकै आवृत्त हुआ मैं ब्रह्म जन्म मरण रूप संसार तैं जीवों की रक्षा करों नहीं। किंतु ब्रह्म विद्या करिकै अज्ञान के निवृत्त हुये तैं अनंतर अवरण तैं रहित हुआ तथा अनुभव का विषय हुआ मैं परमात्मा देव जन्म मरण रूप संसार तैं जीवों की रक्षा करूं हूं।

दृष्टांत—जैसे गृह विषे दाब्या हुआ धन जब पर्यंत गृही पुरुष करिकै अज्ञात रहै है। तब पर्यंत ता गृही पुरुष की दरिद्रता को दूर करै नहीं। और सोई ही धन जबी गृही पुरुष करिकै ज्ञात होवै है। तभी ता गृही पुरुष की दरिद्रता को निवृत्त करै है। तैसे सर्व जीवों के हृदय विषे स्थित मैं आनंद स्वरूप आत्मा जब पर्यंत जीवों करिकै अज्ञात हूं तब पर्यंत जन्म मरण रूप संसार तैं जीवों की रक्षा करों नहीं। और जबी मैं आनंद स्वरूप आत्मा ब्रह्म विद्या करिकै ज्ञात होवौं हूं तभी जन्म मरण

रूप संसार तैं जीवों की रक्षा करूं हूं। तहां श्रुति—

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः। स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥१८९॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषत् मं० ७॥

या तैं जन्म मरण रूप संसार की निवृत्ति वास्तैं तथा परमानंद की प्राप्ति वास्तैं अधिकारी पुरुषों नैं ब्रह्म विद्या अवश्य संपादन करनी। हे देवताओ! जैसे सर्व का आत्मा रूप मैं ब्रह्म अपरोक्ष ज्ञान का विषय हुआ जन्म मरण रूप संसार तैं जीवों की रक्षा करूं हूं। सो मैं ब्रह्म समष्टि कारण अज्ञान रूप उपाधि करिकै युक्त हुआ ईश्वर नाम को प्राप्त होवौं हूं। और मैं ही ब्रह्म समष्टि सूक्ष्म रूप उपाधि युक्त हुआ हिरण्य गर्भ भाव को प्राप्त होवौं हूं। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता तब तक जन्म मरण रूप संसार की निवृत्ति कदाचित भी नहीं होवैगी ॥१८९॥ तहां श्रुति—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यंति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यांतो भविष्यति ॥१९०॥

श्वेताश्वे० उ० अ० ६ मं० २०॥

अर्थ—केवल ज्ञान सें अज्ञान की निवृत्ति द्वारा सर्व दुःखों का नाश होता है प्रकारांतर सें दुःख निवृत्ति सर्वथा नहीं होती। इस नियम की सिद्धि वास्तैं विलक्षण प्रकार को दिखावैं हैं। (यदा) जिस काल विषे मनुष्य चर्म की न्यांई अकाश को इकठा करलेवेंगे। (तदा) तिस काल में परमात्मा देव को न जान कर कै दुःखों का भी अंत हो जावेगा। तात्पर्य यह है कि सर्व दुःखों का मूल कारण आपने स्वरूप का अज्ञान है। सो यदि निवृत्त नहीं होवैगा तभी सर्व दुःखों का नाश भी नहीं हो सकता। इस वास्तैं दुःख नाश का कारण आपने स्वरूप का बोध है। जैसे अकाश का मनुष्यों करिकै चर्मवत वेष्टन नहीं हो सकता। तैसे परमात्मा के ज्ञान सें विना दुःखों का अत्यंत नाश नहीं हो सकता। अब अज्ञान की ज्ञान सें जब निवृत्ति हुई। तब आनन्द घन वस्तु में उपाधि की निवृत्ति द्वारा अत्यन्त दुःख की भी निवृत्ति होती है ॥१९०॥

और मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप हूं या प्रकार की ब्रह्म विद्या जिस पुरुष को प्राप्त भई है तिस पुरुष को आपने वश करने विषे देवता भी समर्थ नहीं हैं। काहे तैं सर्व देवता आपने को वश करने विषे समर्थ नहीं हैं। तात्पर्य यह है। जैसे अग्नि आपने तैं भिन्न काष्ठादिकों को दाह करे हैं। आपने को अग्नि दाह करे नहीं। तैसे सर्व देवता आपने तैं भिन्न पुरुषों को वश करने विषे समर्थ हैं। परन्तु आपने को वश करने विषे देवता समर्थ नहीं।

शंका—हे भगवन्! यद्यपि देवता आपने आत्मा के वश करने विषे समर्थ नहीं हैं तथापि आपने तैं भिन्न जो विद्वान का शरीर है। तिस के वश करने में देवता काहे तैं समर्थ नहीं। समाधान—ब्रह्मविद्या करिकै विद्वान पुरुष सर्वात्मभाव को प्राप्त होवे है। या तैं सो द्विवान् पुरुष देवताओं तैं भिन्न नहीं। किन्तु सर्व देवताओं का सो विद्वान आत्मा है। या तैं सर्व का आत्मा रूप विद्वान के वश करने विषे देवता समर्थ नहीं है।

शंका—हे भगवन्! आत्मा सर्व तैं अन्तर होवे है। और यह विद्वान् पुरुष स्थूल शरीर करिकै युक्त हुआ बाह्य प्रतीत होवे है। या तैं

विद्वान् पुरुष देवताओं का आत्मा किस प्रकार संभवैगा । समाधान—जैसे घट रूप उपाधि करिकै युक्त हुआ आकाश यद्यपि सर्वत्र व्यापक नहीं है । तथापि घट रूप उपाधि तैं मुक्त हुआ अकाश सर्व के हृदय देश विषे विद्यमान है। तैसे ब्रह्म विद्या करिकै निवृत्त हुआ है देहाभिमान जिसका ऐसा जो विद्वान पुरुष है सो सर्व देवताओं का आत्मा संभवै है। तहां श्रुति—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधाचैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥१९१॥

ब्रह्मविंदूपनिषत् मं० १२ ॥

अर्थ—जैसे एक ही चन्द्रमा जल में प्रतिबिंवित हुआ बहुत रूप होइके प्रतीत होवे है। तैसे ही एक आत्मा सर्वदेहों में स्थित है ॥१९१॥

घट संभूत माकाशं लीयमाने घटे यथा । घटोलीयेत नाकाशं तद्धज्जीवो घटोपमः ॥१९२॥ ब्रह्मविंदूपनिषत् मं० १३ ॥

अर्थ—जैसे घट को धारण करने वाला आकाश है घट के नाश तैं घटाकाश महाकाश रूप ही है। घट के नाश तैं आकाश का नाश नहीं होता तैसे ही जीव को घट की उपमा है१९२

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः । तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥१९३॥

ब्रह्मविदूपनिषत् मं० १४ ॥

अर्थ—तैसे घट की न्याईं नाना प्रकार के आकारों का भेद पुनः पुनः प्रतीत होता है। तिन शरीरों के भेद के निवृत्ति से विना ही जो आत्मा को सर्व में व्यापक जानता है सोइही नित्यं प्रति संम्यक जानता है ॥१९३॥

यथाकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः । तथा भ्रांतेर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ॥१९४॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ५ मं० ७७ ॥

अर्थ—जैसे एक आकाश में घटाकाश महाकाश नाम प्रतीत होते हैं । तैसे ही भ्रांति से एक चेतन में जीवात्मा तथा ईश्वरात्मा नाम कथन किये जाते हैं ॥१९४॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि । यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र परामृतम् ॥१९५॥

सरस्वतिरहस्योपनिषत् मं० ३१ ॥

अर्थ—जिस काल में परमात्मा देव का साक्षात्कार ज्ञान होवे है । तिस काल में ही देहाभिमान गलि जाते हैं जिस २ जगा में विद्वान् की दृष्टि पात होती है तिस तिस जगा में सर्व से परे चिन्मात्र अमृत रूप को ही देखते हैं१९५

या तैं ऐसे सर्वात्मारूप विद्वान् पुरुष की जो देवता किंचितमात्र भी प्रतिकूलता करेंगे। तथा अनुकूलता करेंगे तो सो अनुकूलता तथा प्रतिकूलता देवताओं को ही प्राप्त होवेगी। असंग विद्वान् पुरुष को सो अनुकूलता तथा प्रतिकूलता स्पर्श करे नहीं।

दृष्टांत—जैसे आपने मस्तक को अन्य पुरुष का मस्तक मान के जो कोईक मूढ पुरुष ताड़ना करे है। सो मूढ पुरुष आप ही पीड़ा को प्राप्त होवे है । तैसे सर्व का आत्मा रूप जो विद्वान् है तिस को आप तैं भिन्न मान के जो मूढ पुरुष तिस विद्वान् का ताड़न करे है।

सो मूढ़ पुरुष आपना ही ताड़न करे है । अब याही अर्थ को स्पष्ट करिकै दिखावे हैं । सर्व प्राणिमात्र के दो स्वरूप होवे हैं । एक तो असंग रूप होवे है । और दूसरा संगवान रूप होवे है । सम्बन्ध को संग कहे हैं । सम्बन्ध तैं जो रहित होवे ताको असंग कहे हैं । और सम्बन्ध वाला जो होवे ताको संग वाला कहे हैं । तहां वास्तव तैं सम्बन्ध रहित विद्वान् पुरुष सर्व प्राणियों का असंग रूप है । और अविद्या करिकै कल्पित जो कर्ता भोक्ता प्रमाता है । सर्व प्राणियों का संगवान् रूप है । तहां आपने असंग रूप विद्वान् पुरुष विषे जो कोई मूढ पुरुष किंचित मात्र भी प्रतिकूलता करे है । सो प्रतिकूलता असंग विद्वान् पुरुष को स्पर्श करे नहीं। किन्तु प्रतिकूलता करने हारे जो संगवान् प्रमाता है । तिस विषे ही सो प्रतिकूलता प्राप्त होवे है।

दृष्टांत—जैसे कोईक मूढ बालक दर्पण सम्बन्ध तैं रहित तथा मन्द मन्द हास्य करिकै युक्त आपने मुख को सन्मुख दर्पण विषे स्थित माने है । और सो मूढ बालक जभी दर्पण विषे स्थित मुख को प्रतिकूलता करने की इच्छा करे है । तभी प्रथम आपने ग्रीवा विषे स्थित मुख की प्रतिकूलता से विना दर्पण विषे स्थित मुख की प्रतिकूलता होवे नहीं । और जिस प्रतिकूलता करिकै दर्पण विषे स्थित असंग मुख को किंचित मात्र भी दुःख की प्राप्ति होवे नहीं। किन्तु प्रतिकूलता करने हारे बालक की ग्रीवा विषे स्थित जो मुख है । तिस विषे ही तां प्रतिकूलता जन्य दुःख होवे है । तैसे असंग विद्वान् पुरुष का जो देवता तथा मनुष्य किंचितमात्र भी प्रतिकूलता करेंगे तो सो प्रतिकूलता असंग विद्वान पुरुष को स्पर्श करे नहीं । किंतु कर्ता भोक्ता जो देवता तथा मनुष्य हैं । तिनों विषे ही प्रतिकूलता प्राप्त होवे है । दुःख के जनक जो ताडनादिक हैं ताको प्रतिकूलता कहे हैं । और सुख के जनिक जो पूजनादिक हैं ताको अनुकूलता कहे हैं । इस वास्ते ही आत्मा स्त्री पुरुष नहीं है । तहां श्रुति—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥१९६॥

श्वेताश्वेतरोपनिषत् अ० ५ मं० १० ॥

अर्थ—यह आत्मादेव स्त्री नहीं है तथा पुरुष नहीं है तथा नपुंसक भी नहीं है। तथा यह आत्मादेव जिस जिस शरीर को धारण करता है तिस तिस शरीर के संबंध तैं इस को कथन करते हैं ॥१९६॥

शंका—हे भगवन ! देवताओं तैं अभिन्न जो विद्वान पुरुष हैं तिस को दुःख की प्राप्ति होती नहीं और देवताओं तथा मनुष्यादिकों को दुःख की प्राप्ति होवै है । या के विषे कौन कारण है । समाधान—जैसे बिंब रूप शरीर अलंकार करने तैं दर्पण विषे स्थित प्रतिबिंब अलंकार वाला होवै है । और बिंब शरीर को तिरस्कार करने तैं दर्पण विषे स्थित प्रतिबिंब तिरस्कार वाला होवै है । तैसे ब्रह्म रूप विद्वान पुरुष सर्व जीवों का बिंबरूप है । और संपूर्ण जीव ता के प्रतिबिंब हैं । या तैं देवता आदिक तिस विद्वान पुरुष के सुख को तथा दुःख को करैंगे। तो सो सुख तथा दुःख देवतादिकों को ही प्राप्त होवैंगे । विद्वान पुरुष के असंग रूप विषे सुख दुःखादिकों का संबंध संभवै नहीं । और जो कोई पुरुष श्रद्धा करिकै असंग विद्वान का पूजन करै है । सो पूजनादिक तिस पूजन करने हारे

पुरुष विषे ही सफल होवै हैं । विद्वान पुरुष विषेशता पूजन का संबंध संभवै नहीं ।

दृष्टांन—जैसे जो कोई पुरुष जल करिकै तथा धूली करिकै सूर्य भगवान का आच्छादन करै है । परंतु सो जल तथा धूली सूर्य भगवान को आच्छादन कर सकै नहीं । किंतु उलटा आच्छादन करने हारे पुरुष का ही आच्छादन करैं हैं । तैसे विद्वान पुरुष के पूजनादिक करै हुये असंग विद्वान पुरुष को स्पर्श करै नहीं । किंतु करने हारे पुरुष विषे ही ते पूजनादिक सफल होवै हैं । इस प्रकार फल सहित ब्रह्म विद्या को कहि करिकै अब अविद्या के स्वरूप का निरूपण करैं है । जो पुरुष आपने तैं देवताओं को भिन्न मान के तिन देवताओं की उपासना करै है । ऐसे भेददर्शी अज्ञानी जीव रूप पशुओं के देवता स्वामी हैं । अब अज्ञानी जीवों को पशु रूप करिकै निरूपण करै हैं । जैसे लोक विषे प्रसिद्ध गौवों की शाला काष्ट करिकै तथा मृत्तिका करिकै रची होवै है । तैसे अज्ञान रूप मृत्ति का तथा काष्टों करिकै यह संसार रूपी शाला हम नैं उत्पन्न करी है । कैसी है सो संसार रूप शाला भेद-दर्शी अज्ञानी जीव रूप गौवों के रहने का स्थान है । कैसे हैं ते अज्ञानी जीव रूप पशु । देवता के तांई हव्य कव्यादिक पदार्थों को देवे हैं । या तैं अज्ञानी जीव देवताओं के आश्रय हैं ।

दृष्टांत—जैसे लोक विषे दुग्धादिकों के देने हारीयां जो गौवां हैं । तिनों को लोक आपना आश्रा मानैं हैं । और जैसे लोक प्रसिद्ध गौवों की शाला विषे ता शाला के भार को धारण करने हारीयां अनेक स्थूना होवै हैं । और तिन स्थूनों विषे एक दीर्घ रज्जु बांधी होवे है । और तिस दीर्घ रज्जु विषे अनेक अल्परज्जु बांधी होवै है । और अल्प रज्जु वो विषे एक २ रज्जु के साथ एक २ गौ बांधी होवै है । तैसे यह संसार रूपी एक शाला है । और संसार रूपी शाला के भार करिकै व्याकुल जे काम क्रोधादिक हैं । ते या संसार रूपी शाला रूपी शाला के स्थून हैं । और अग्नि होत्रादिक कर्म ब्राह्मणों को करने योग्य है । इत्यादिक जे विधि वाक्य हैं तथा ब्राह्मणादिकों की हिंसा आदिक करने योग्य नहीं । इत्यादिक जो निषेध वाक्य हैं । यह दोनों प्रकार के वेद के वचन एक दीर्घ रज्जु है । सो वेद वचन रूपी दीर्घ रज्जु काम क्रोधादिक रूप स्थूणों के साथ बांधी हुई है अग्नि होत्रादिक कर्म के करने वाले आधिकारीयों को बोधन करने हारे जे ब्राह्मणादिक नाम हैं । ते अल्प रज्जु के समान है । और ते ब्राह्मणादिक नाम रूप अल्प रज्जु विधि निषेध वचन रूपी दीर्घ रज्जु विषे बांधी हुई है । और तिन ब्राह्मणादिक नाम रूप अनेक अल्प रज्जुवों विषे एक २ रज्जु के साथ एक २ अज्ञानी जीव रूप पशु बांध्या हुआ है । यद्यपि ब्राह्मणादिक नाम रूप रज्जुवों विषे अनेक अज्ञानी जीव बांधे हुये हैं । तथापि यज्ञ दानादिक कर्मों को करने हारा जो अज्ञानी गृहस्थी है । सो सर्व देवताओं का कामधेनु के समान है । अब अज्ञानी गृहस्थ विषे कामधेनु-पना दिखावै हैं । हे देवताओ ! अग्नि होत्रादिक कर्मों को करने हारा जो एक अज्ञानी गृहस्थ है । सो सर्व देवताओं को पालन करै है । तथा सर्व पितरों को पालन करै है । तथा अतिथि आदिक मनुष्यों को पालन करै है । तथा सर्व मुनियों को पालन करै है । तथा अन्य भी अनेक प्राणियों की पालना करै है । या तैं

यह अज्ञानी गृहस्थ तुम सर्व देवताओं का कामधेनु गौ है। और जैसे लोक विषे एक २ कुटुंबी गृहस्थ के अनेक पशु होवै हैं। तैसे तुम देवताओं के अनेक पशु है नहीं किंतु एक ही अज्ञानी गृहस्थ कामधेनु गौ की न्याई सर्व देवताओं की पालना करै है। और जैसे लोक विषे किसी कुटुंबी गृहस्थ के अनेक पशु होवै हैं। और तिन पशुवों विषे जो कदाचित् एक पशु को भी चौर ले जावैं हैं। तो तिन कुटुंबी गृहस्थ को महान दुःखी की प्राप्ति होवे। जभी एक पशु के जाने करिकै भी जो तिस कुटुम्बी गृहस्थ को महान दुःख की प्राप्ति होवे है तभी सर्व पशुओं के जाने करिकै जो तिस कुटुम्बी गृहस्थ को दुःख की प्राप्ति होवे है। सो कहा जावे नहीं। या तैं जैसे सर्व पशुओं के जाने करिकै ता कुटुम्बी गृहस्थ को दुःख की प्राप्ति होवे है। तैसे तुम सर्व देवताओं का पशु जो अज्ञानी है। तिस का जभी ब्रह्मविद्या करिकै अज्ञान का नाश होवे है। तभी तुम सर्व देवताओं को दुःख की प्राप्ति होवे है। और जैसे लोक विषे ते कुटुम्बी गृहस्थ चौरो तैं आपने पशुवों की रक्षा करने वासते रात्रि दिन विषे सावधान हुए तिन चौरों के निवृत्ति का उपाय करे हैं। तैसे ब्रह्म विद्या की प्राप्ति वास्ते जे पुरुष ब्रह्मचर्यादिक साधनों को संपादन करे हैं। तिन पुरुषों के ब्रह्मचर्यादिक साधनों के भंग करने वास्ते अनन्त प्रकार के उपद्रवों को तुम देवता करो हो। जीवों की बुद्धि को विपरीत करना यह ही तुम देवताओं का उपद्रव है। या तैं जो मुमुक्षु जन ब्रह्म विद्या के प्राप्ति की इच्छा वाला होवे सो प्रथम श्रद्धा पूर्वक तुम देवताओं का अराधन करे। ता अराधन करिकै जभी तुम देवता प्रसन्न होवो हो। तभी अधिकारी जनों की सत बुद्धि की प्राप्ति करिकै ब्रह्म विद्या के सर्व प्रति बन्धों तैं रक्षा करो हो। तहां श्लोक—

न देवा दण्डमादाय रक्षंति पशु पालवत्। यं हि रक्षितु मिच्छंति बुद्ध्या संयोजयंतितम् ॥१९७॥

अर्थ—जैसे पशुओं के पालन करने हारे पुरुष हाथ विषे दण्ड लैके सिंहादिकों तैं पशुओं की रक्षा करे हैं। तैसे देवता हाथ विषे दण्ड लैके भक्त जनों की रक्षा करे नहीं। किन्तु जिस भक्तजन के रक्षा करने की देवता इच्छा करे हैं। तिस पुरुष को सत बुद्धि की प्राप्ति करे हैं ॥१९७॥

या तैं ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति तैं पूर्व प्रति बन्ध की निवृत्ति वास्ते मुमुक्षुजनों ने अवश्य तुम देवताओं का आराधन करना। और जो पुरुष ब्रह्मविद्या की प्राप्ति तैं पूर्व तुम देवताओं का अराधन नहीं करे है। तिन पुरुषों को ब्रह्म विद्या की प्राप्ति विषे अनन्त प्रकार के विघ्न तुम देवता करो हो। और जैसे लोक विषे पशुवों के हरण करने हारे जे अत्यन्त बलवान् चौर हैं। ते चौर पशुओं वाले कुटुम्बी गृहस्थों को प्रिय लगते नहीं। तैसे अज्ञानी जीव रूप पशुओं को ब्रह्म विद्या की प्राप्ति द्वारा हरन करनेहारे जे विद्वान् पुरुष हैं। ते विद्वान् पुरुष तुम देवताओं को प्रिय लगते नहीं। यद्यपि सर्व देवताओं का आत्मा रूप जो विद्वान् पुरुष है तिस विषे हम देवताओं का द्वैष संभवे नहीं। तथापि चित्त शुद्धि तैं रहित जे कर्म के अधिकारी हैं। तिनों को जो विद्वान् कर्म तैं रहित करे हैं। तिन विद्वानों विषे ही तुम देवताओं का द्वैष होवे है। तहां श्लोक—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म संगिनाम् । जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥१९८॥
गी० अ० ३ श्लोक २६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! यह विद्वान् पुरुष कर्म के संगी अविवेकी पुरुषों के बुद्धिभेद को नहीं उत्पन्न करे । किंतु सो विद्वान् पुरुष आदर पूर्व सर्व कर्मों को करता हुआ तिन अविवेकी पुरुषों को भी तिन कर्मों विषे ही जोड़े है ॥१९८॥

या श्रीकृष्ण भगवान् के वचन का जो विद्वान् पुरुषें उल्लंघन करे है । तिनों विषे ही तुम देवताओं का द्वैष होवे है । या तैं ब्रह्म विद्या की उत्पत्ति तैं पूर्व यद्यपि तुम देवता विघ्न करो हो । तथापि ब्रह्म विद्या के उत्पन्न हुए तैं अनन्तर ता विद्या सर्वात्मा भाव की प्राप्ति रूप फलका प्रतिबन्ध करने विषे तुम देवता भी समर्थ नहीं हो सकते या तैं यह विद्वान् पुरुष सर्व का आत्मा रूा है या तैं तुम देवताओं का भी आत्मा रूप है तथा अद्वितीय ब्रह्म रूप है । या तैं तुम देवताओं तैं भी अधिक है । और जो पुरुष मैं आनन्दस्वरूप आत्मा को ना जानि करिकै अश्वमेधादिक महान यज्ञों को करे है । तिन पुरुषों को ते अश्वमेधादिक यज्ञ रूप कर्म किंचित काल पर्यन्त स्वर्ग विषे सुख की प्राप्ति करिकै पुनः यक्ष को प्राप्त हुए ते कर्म या जीव को परम दुःख की प्राप्ति करे है । तहां श्लोक—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति । एवं हि त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते ॥१९९॥ गी० अ० ९ श्लोक २१ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तेसा काम पुरुष तिस विशाल स्वर्गलोक को भोग के ता पुण्य के नाश हुए पुनः इस मनुष्य लोक को प्राप्त होवे हैं । इस प्रकार तैं प्रसिद्ध वेद प्रतिपादत काम्य कर्म को पुनः निश्चय करते हुए तथा दिव्य भोगों की कामना करते हुए ते सकाम पुरुष बारम्बार जन्म मरण को प्राप्त होवे हैं ॥१९९॥

हे देवताओ ! स्थूल सूक्ष्म कारण या तीन शरीरों तैं रहित जो मोक्ष को भी सो कर्मी पुरुष प्राप्त होवे हैं । या प्रकार की आशा तुम ने कदाचित भी नहीं करनी । काहे तैं जो जो फल कर्म करिकै जन्य होवे है सो सो फल अनित्य ही होवे है । जैसे स्वर्गादिक रूप फल कर्म करिकै जन्य है । या तैं अनित्य ही है । तैसे मोक्ष भी जो कर्म करिकै जन्य होवेगा । सो मोक्ष भी अनित्य ही होवेगा । और तत्त्ववेता पुरुष मोक्ष को अनित्य माने नहीं । किंतु सर्व विद्वान् पुरुष ता मोक्ष को नित्यमाने है । या तैं ता मोक्ष विषे कर्म की फल रूप तां संभवें नहीं । और हे देवताओ ! ज्योतिष्टोमनामा यज्ञ तैं आदि लैके जितने कि अग्नि होत्रादिक कर्म हैं । ते सर्व कर्म या अधिकारी पुरुष को या संसार रूप समुद्र तैं मोक्ष रूप परपार की प्राप्ति करने विषे समर्थ होवे नहीं । तहां दृष्टांत—जैसे महान समुद्र के जल विषे तृण काष्ठादिकों करिकै रचे हुए जो तरने के साधन रूप प्लव है । ते प्लव केवल मत्स्यादिक जीवों के मारने वास्ते उपयोगी होवे है ता समुद्र के पार करने विषे तैं प्लव समर्थ होवे नहीं काहे तै प्लव अत्यन्त अल्प है तथा दृढ़ता तैं रहित हैं तथा समुद्र की लहिरियों करके व्याकुल हैं तथा समुद्र के जल विषे डूबे हुए की न्याई स्थित हैं । तथा समुद्र के जल करके पूर्ण हुए ते प्लव असन्त कम्पायमान होवे हैं । या कारणतैं

ही ते प्लव आपने आश्रित पुरुषों को सर्वदा भय की प्राप्ति करे हैं। ऐसे ते प्लव या पुरुषों को समुद्र तैं पार करने विषे समर्थ होवे नहीं। तैसे यां संसाररूप महान समुद्र विषे ते अग्नि होत्रादिक कर्मरूप प्लव स्थित हैं। कैसे है ते कर्मरूप प्लव या संसार समुद्र के काम क्रोधादिक रूप लहरियों करके सर्वदा कम्पायमान हैं तथा अल्प विघ्नों करके भी ते कर्मरूप प्लव नष्ट होइ जावैं हैं। या तै ते कर्मरूप प्लव दृढ़ता तै रहित हैं। ऐसे कर्मरूप प्लवों को मैं परमेश्वर नै यां संसाररूप समुद्रविषे स्थित स्वर्गादिक सुखरूप मत्स्यों की प्राप्ति वास्ते ही रचा है। या संसार समुद्र तै पार करने वास्ते तिन कर्म रूप प्लवों को रच्या नहीं। और आत्मा के साक्षात्कार से अनेक ही अश्वमेधादिक कर्मों का फल प्राप्त होता है। तहां श्लोक—

अश्वमेध सहस्राणि ब्रह्महत्या शतानि च। कुर्वन्नपि न लिप्येत यद्येकत्वं प्रपश्यति ॥२००॥

ब्रह्मगी० अ० ८ श्लोक ३४॥

अर्थ—हजारों अश्वमेध यज्ञ के फलरूप पुण्य में तथा ब्रह्महत्या शतानि च अनेक शत ब्रह्महत्या आदिक पापों में लिपायमान नहीं होवेगा। यदि आत्मा के साक्षात्कार से सर्वत्र पूर्ण आत्मा को एक देखेगा ॥२००॥

जीवरूप इव स्थित्वा यः क्रीड़ति पुरत्रये। स न जीवः सदा शंभुः सत्यमेव न संशयः ॥२०१॥

ब्रह्मगी० अ० ८ श्लोक ३५॥

अर्थ—जो जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में क्रीडा करता हैं तथा जीव रूप से स्थित है। सो जीव नहीं है सदा शिव है यह सत्य ही है इस में संशय नहीं हैं ॥२०१॥

शंका—हे भगवन! जैसे या लोक प्रसिद्ध समुद्र में स्थित प्लवों के चलावने हारे धीवर होवै हैं। तैसे या संसार समुद्र विषे स्थित अग्नि होत्रादिक कर्म रूप प्लवों को चलावने हारे धीवर पुरुषों के समान कौन हैं। समाधान—हे देवताओ! तिन अग्नि होत्रादिक कर्म रूप प्लवों को चलावने हारे यज्ञादिक कर्मों के करावने हारे जे ब्राह्मण हैं। ते विद्या तैं शून्य ब्राह्मण तिन कर्म रूप प्लवों को चलावने हारे धीवर हैं। या संसार समुद्र विषे स्थित कर्म रूप अल्प प्लव हैं तिन कर्म रूप प्लवों विषे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु रूप धीवर है नहीं। तथा ब्रह्मचर्यादिक साधन रूप अनुकूल वायु भी नहीं है। और ते कर्म रूप प्लव आप तो स्वभाव तैं क्षण क्षण विषे नाशवान हैं तथा दृढता तैं रहित हैं। ऐसे कर्म रूप प्लवों को आश्रायण करिकै कौन बुद्धिमान पुरुष निशंक होइ कै या संसार रूप समुद्र विषे प्रवेश करैगा किंतु या समुद्र के तरने वास्तै कोई भी बुद्धिमान पुरुष तिन कर्म रूप प्लवों को आश्रायण करता नहीं। विचार हीन मूढ पुरुष ही तिन कर्म रूप प्लवों को आश्रायण करै हैं। या तैं जिस अधिकारी पुरुष को मोक्ष रूप नित्य सुख की प्राप्ति की इच्छा होवै। तिस मुमुक्ष नैं या संसार समुद्र के तरने वास्तैं तिन कर्म रूप प्लवों को कदाचित भी आश्रायण नहीं करना। हे देवताओ! या संसार समुद्र विषे स्थित स्वर्ग सुखादिक रूप मत्स्यों की प्राप्ति करने हारे जो यह अग्नि होत्रादिक कर्म रूप प्लव हैं। तिन कर्म रूप प्लवों को आश्रायण करिकै जो मूढ कर्मी पुरुष आपने को कृतकृत्य मान के स्थित

होवै हैं। ते कर्मी कदाचित भी या संसार समुद्र तैं पार होवै नहीं। किंतु उलटा ते कर्मी पुरुष काम क्रोधादिक लहिरियों करिकै या कर्म रूप प्लवों के चलायमान हुये या संसार समुद्र के जन्म मरण रूप जल विषे ही बारंवार डूबेंगे कदाचित भी सुख को प्राप्त होवै नहीं। और हे देवताओ! अविद्या रूपी जल विषे ऐसा जो यह संसार रूप समुद्र है ता संसार रूप समुद्र विषे यह कर्मी पुरुष लोक प्रसिद्ध धीवर पुरुषों की न्याईं आपने को तथा शिष्य को अनर्थ की प्राप्ति करने हारे हैं। कैसे हैं ते कर्मी पुरुष आपने को तथा अन्य जीवों को क्लेश की प्राप्ति करने हारे हैं। इस वास्ते ते कर्मी पुरुष दुर्बुद्धि हैं। ऐसे दुर्बुद्धि वाले हुए भी ते कर्मी पुरुष आपने को पंडित माने है। तथा अनेक प्रकार के रोगादिक अनर्थों करिकै विक्षेप को प्राप्त हुए ते कर्मी पुरुष माया रचित मोह रूप गर्त विषे बारम्बार पतन होवे है। पुनः कैसे है ते कर्मी पुरुष अनित्य सुख की प्राप्ति करने हारे कर्मों को ही मोक्ष का साधन माने है। इस वास्ते ते कर्मी पुरुष अत्यन्त मूढ़ बुद्धि हैं। और ते कर्मी पुरुष आपने स्वरूप के विवेक तैं रहित हैं। और तिन कर्मी पुरुषों के गुरु भी विवेक तैं रहित हैं। इस वास्ते तिन कर्मी पुरुषों को करने योग्य अर्थ का निर्णय आपने गुरुओं तैं भी होवे नहीं। जैसे आपने विवेक तैं रहित कोई अन्ध पुरुष किसी दूसरे अविवेकी पुरुष के पीछे चलने हारे बारम्बार गर्त विषे ही पतन होवे हैं। तैसे आपने विवेक तैं रहित तथा स्वर्ग सुख की प्राप्ति की इच्छा वाले यह कर्मी पुरुष भी विवेक हीन कर्मी गुरु के पीछे चले हुए या माया रूप जल युक्त संसार समुद्र विषे महान दुःख को ही प्राप्ति होवे हैं। और जैसे भूत के आवेश करिकै आतुर हुआ यह पुरुष आपने दुःख को तथा दुःख के निवृत्ति के उपाय को जानते नहीं। तैसे काम क्रोधादिक रूप पिशाच के आवेश करिकै आतर हुए ते कर्मी पुरुष भी आपने दुःख को तथा ता दुःख के निवृत्ति के उपाय को जान सकते नहीं। किंतु उलटा ते अल्प बुद्धि वाले कर्मी पुरुष इन अग्नि होत्रादिक कर्मों को कर के हम कृतार्थ हुए हैं। इस तैं परे कोई हमारे को कर्तव्य नहीं रह्या या प्रकार मानकै पिशाचों की न्याईं नृत्य करे हैं। तथा हसें हैं। और ते कर्मी पुरुष कामरूप पिशाच के वश हुये तथा मैं परमेश्वर की माया करके मोहत हुये यां पांच भौतिक शरीर विषे ही परमसुख बुद्धि करे हैं। और ते कामी पुरुष अपने हृदय देश विषे स्थित आनंदस्वरूप मैं सर्वांतर्यामी आत्मा के जानने विषे समर्थ होई सकै नहीं। इस वास्ते ते कामी पुरुष बारंबार जन्म-मरण को ही प्राप्त होवे हैं। हे देवताओ! जो पुरुष मै आनंदस्वरूप आत्मा का विस्मरण करके तथा यह अग्नि होत्रादिक कर्म ही हमारे श्रेय का साधन है या प्रकार का निश्चय करके या संसार के सुखों विषे आसक्त होवै हैं। ते कर्मी पुरुष स्वर्ग विषे तिन पुण्य कर्मों के फल को भोग के कोई काल पाय कै तां स्वर्गलोक तैं शोकयुक्त हुये नीचे पतन होवै हैं। तहां श्लोक—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशंति। एवं त्रयीधर्म मनुप्रपन्ना गतागतं काम कामा लभन्ते ॥२०२॥

गी० अ० ९ श्लोक २१॥

जैसे या लोक विषे पुत्रादिक कुटुम्ब करके युक्त जो धनवान पुरुष है। ते धनवान पुरुष अपने मृत्युकाल विषे जिस प्रकार के दुःख को प्राप्त होवै है तिस प्रकार के दुःख को ते कर्मी पुरुष स्वर्ग तैं नीचे पतनकाल विषे होवै है। और जैसे या लोक विषे महान सुखवान जो कोईक राजा है ता राजा को अपने मरणकाल विषे जिस प्रकार का दुःख होवे है। तिस काल का दुःख तिन कर्मी पुरुषों को स्वर्ग तैं नीचे पतनकाल विषे होवै है। यद्यपि मरण काल विषे सर्व जीवों को दुःख की प्राप्ति होवै है। तथापि धनवान पुरुष को तथा राजाओं को बहुत भोगों की आसक्ति करके ता मरण काल विषे दूसरे जीवों तैं अधिक दुःख की प्राप्ति होवै है। इस वास्ते तां स्वर्ग तैं नीचे पतन जन्य दुःख विषे धनी पुरुषों का तथा राजा का दृष्टांत दिया है। और तिन कर्मी पुरुषों को केवल स्वर्ग तैं नीचे पतनकाल विषे दुःख नहीं। किंतु तां स्वर्ग विषे भी तिन कर्मी पुरुषों को इंद्रादिक देवताओं की परतंत्रता करके महान दुःख की प्राप्ति होवै है। तथा अधिक भोगों की अप्राप्ति करके भी महान दुःख को प्राप्त होवै है। और जैसे या लोक विषे धनी पुरुषों को धन के नाश तैं महान दुःख की प्राप्ति होवै है। तैसे स्वर्गादिक लोकों विषे तिन कर्मी पुरुषों को पुण्य कर्मों के नाश तैं महान दुःख की प्राप्ति होवै है। इस प्रकार तिन कर्मी पुरुषों को तिन कर्मों के अनुष्ठान काल विषे भी दुःख की ही प्राप्ति होवै है। तथा तिन कर्मों के फल प्राप्ति काल विषे भी दुःख की ही प्राप्ति होवै है। तथा तिन स्वर्गादिक के सुखरूप फल के नाश तैं अनंतर तिन कर्मी पुरुषों को पुनः जन्म करके दुःख की प्राप्ति होवै है। या तैं आदि काल विषे तथा मध्यकाल विषे तथा अंतकाल विषे यह कर्म दुःख के ही कारण हैं। तहां श्रुति—

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म। एतच्छ्रेयोयेऽभिनंदंति मूढाजरामृत्युं ते पुनरेवापि यांति ॥२०३॥ मुंडको० खं० २ मं० ७॥

अर्थ—अब उपासना रहित जो कर्म हैं। सो इतने फल वाले तथा अविद्या काम कर्म तथा क्रिया का कार्य हैं। या तैं असाररूप हैं तथा दुःख का कारण है। इस प्रकार ता की निंदा करी है। यातैं यह यज्ञ के निर्वाहक षोडश १६ ऋत्विक यजमान पत्नी तथा यजमान इस भेद तै अष्टादश संख्या वाले अदृढ या कर्म के आश्रय हैं। और जिन अष्टादश आश्रयों विषे उपासना रहित होने तैं केवल निकृष्ट कर्म है। या तै तिन निकृष्ट कर्म के आश्रयरूप अष्टादश संख्या वालों को स्थिरता तै रहित होने तै नाशी है। तिन करके साध्य जो कर्म सो फल सहित विनाश को प्राप्त होता है। क्षीर तथा दधि आदिकों का आश्रय मृत्तिका के पात्र के विनाश की न्याईं ता कर्म आश्रय फल स्वर्गरूप स्थान का नाश होवै है। या तै जो अविवेकी मूढ यह कर्म मोक्षका साधन है। ऐसा जान के हर्ष को प्राप्त होवै है। ते कर्मी कुछुक काल पर्यंत स्वर्ग विषे स्थित होइके पुनः जरा मृत्यु को ही प्राप्त होवे है ॥२०३॥

अविद्यायामंतरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पंडितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियंतिमूढा अंधेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥२०४॥ मुंडको० खं० २ मं० ८॥

अर्थ—वे मूढ़ अविद्या के भीतर वर्त्तमान हुये अत्यंत अविवेक युक्त हुये तत्त्व दर्शियों के उपदेश की अपेक्षा से विना अपने मनोरथ से हम ही बुद्धिमान है तथा जानने योग्य वस्तुके जानने वाले हम ही पंडित है इस प्रकार आप को मानै है। वे मूढ़ जरा रोगादिकों करके अनेक अनर्थ के समुद्र में अत्यंत पीड़ा को प्राप्त होवै है। तथा चारी ओर तैं भ्रमण करे है। अर्थात चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करे है। जैसे लोक विषे अन्ध पुरुष से मार्ग को देखने वाले अन्ध पुरुष गर्त विषे तथा कंटकों विषे ही गिरे हैं। तैसे वे मूढ संसार विषे गिरे हैं ॥२०४॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्याभिमन्यंति वालाः ॥ यत्कर्म्मिणो न प्रवेदयंति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवंते ॥२०५॥

मुंडको० खं० २ मं० ९ ॥

अर्थ—किंवा अज्ञानीरूप जो बालक हैं ते अविद्या विषे बहुत प्रकार से वर्त्तमान हुए हम ही कृतार्थ हैं इस प्रकार मानते हुए अभिमान को करते हैं। यातैं ऐसे कर्मिष्ट कर्म फल के रागतैं जो तिनका तिरस्कार होता है। तिस कारण तैं दुःख से आतुर हुए क्षीण भया है कर्म का फलरूप लोक जिनों का ऐसे दुःखी होइके स्वर्ग तैं गिरते हैं ॥२०५॥

इष्टापूर्त्तंमन्यमाना वरिष्ठं नान्याच्छ्रेयो वेदयंते प्रमूढाः ॥ नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकंहीनतरं वा विशंति ॥२०६॥ मुंडको० खं० २ मं० १० ॥

अर्थ—किंवा स्त्री धन पुत्रादिकों विषे आसक्तिरूप प्रमाद को प्राप्त होने तैं मूढ़ों को श्रुति प्रतिपादित यज्ञादिक जे कर्म हैं। तिन यज्ञादिक कर्मों को ही अतिशय करके पुरुषार्थ का मुख्य साधन है। ऐसे चिंतन करते हुए अन्य जो आत्मा का ज्ञानरूप मुक्ति का साधन है। ताको नहीं जानते हैं। ते मूढ़ पुरुष स्वर्ग के विद्यमान भोग के स्थान विषे कर्म फल को अनुभव करके या मनुष्य लोक को वा इस मनुष्य लोक तैं रहित होइके तिर्यक तथा नरकादिकों के वासतैं शेष कर्म के अनुसार प्राप्त होवे हैं ॥२०६॥

असूर्या नाम तेलोका अंधेन तमसा वृताः। ता ँ स्ते प्रेत्याभिगच्छंति ये के चात्महनो जनाः ॥२०७॥

ईश उ० मं० ३ ॥

यामिमां पुष्पितांवाचं प्रवदंत्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥२०८॥ कामात्मनः स्वर्ग पराजन्म कर्म फलप्रदाम्। क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥२०९॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ॥२१०॥

गी० अ० २ श्लो० ४२-४३-४४ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! ते विचारहीन मूढ़ पुरुष जिस प्रसिद्ध कर्म काण्डरूप वाणी को कथन करे हैं। कैसी है सो वाणी अविचार तैं जैसे निर्गंध पुष्पों करके युक्त पलाश का वृक्ष दूरसें रमणीक लागे है। तैसे यह कर्म काण्डरूप वाणी अविचारतैं ही रमणीक लागे है। तथा जन्म कर्म

फल के देने हारी है। तथा भोगैश्वर्य के प्राप्ति वास्तैं अग्निहोत्रादिक कर्मों को विस्तार से प्रतिपादन करने हारी है। ऐसी वाणी को कथन करने हारे ते विचारहीन मूढ़ पुरुष कैसे हैं। वेद के अर्थ वादों विषे प्रीतीमान हैं तथा कर्म के फलतैं भिन्न कोई ज्ञान का फल नहीं है। या प्रकार कथन करने हारे हैं तथा कामरूप हैं तथा स्वर्ग ही है उत्कृष्ट जिन्हों को तथा भोग ऐश्वर्य विषे है आशक्ति जिन्हों की तथा ता वाणी करके अच्छादित हुआ है चित्त जिन्हों का ऐसे बाह्य मुख्य पुरुषों को अन्तःकरण विषे सो व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं उत्पन्न होवे है ॥२०७–२०८–२०९–२१०॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥२११॥

गी० अ० २ श्लोक ४५ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! यह कर्म काण्डरूप वेद त्रैगुण को विषय करनेहारा है। तू अर्जुन तिन त्रैगुण तैं रहित हो तथा द्वन्द्वधर्मों तैं रहित हो तथा नित्य आत्मारूप तत्त्व विषे स्थित हो तथा योग क्षेमतें रहित हो तथा आत्मवान हो अर्थात् आत्मज्ञान वाला हो ॥२११॥

यातैं जिस पुरुष को नित्यानन्द की प्राप्ति की इच्छा होवे सो पुरुष अन्य सर्व उपायों को परित्याग करके आत्मज्ञान की प्राप्ति वास्तैं पुरुषार्थ करें। और जो पुरुष आत्मज्ञान के सम्पादन विषे समर्थ नहीं होवे सो पुरुष उपासना तथा निष्काम कर्मों को करें। ता उपासना तथा निस्काम कर्मों के प्रभाव तैं चित्तशुद्धि द्वारा इस लोक विषे तथा ब्रह्मलोक विषे ता उपासक पुरुष को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होवे है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति ही उपासना का मुख्य फल है। अथवा शुद्ध कमाई करके आपना पोषण करने से तथा ईश्वर अर्पण कर्म करने से तथा अभक्ष मांस मदरा के ना वर्त्तमान करने सत्य बोलने से इत्यादि शुद्ध व्यवहार के करने से चित्तशुद्धि द्वाराज्ञान होकर मोक्ष को प्राप्त होता है। तहां श्लोक—

सर्वेषामेवशौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम् । योऽर्थ शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥२१२॥

मनु० अ० २ श्लोक १०६ ॥

अर्थ—सर्व शौच के मध्य में अर्थ शौच श्रेष्ठ है। जो पुरुष अर्थ में शुद्ध है सोई ही शुचि पवित्र है और जो मृत्तिका जल से शुचि है सो शुचि पवित्र है नहीं। ऐसा जानना चाहिये। अर्थ शुद्धि यह है जो कि अनर्थ से पराया धन ग्रहण की इच्छा नहीं करनी। इस अर्थ शुद्धि युक्त को ही पवित्र मानना योग्य है। और जो केवल मृत्तिका जल से आपने को पवित्र मानता है सो अविपवित्र है ॥२१२॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्यात्तु विशुद्धं हृदयं भवेत् । आहार शुद्धौ चित्तस्य विशुद्धि र्भवति स्वतः ॥२१३॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० ३६ ॥

अर्थ—मांस मदरादिक जो अभक्ष्य वस्तुयों से निवृत्त होने से अर्थात् मांस मदरा के ना खाने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। आहारा की शुद्धि से स्वतः सिद्ध ही अन्तःकरण की शुद्धि हो जाति है। २१३॥

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुठ्यंति

ग्रन्थ्यः स्फुटम् । अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञान विहीनस्यैव देहिनः ॥२१४॥

पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् मं० ३७ ॥

अर्थ—जिस काल में मांस मद्रा को परित्याग करता है तिसकाल विषे चित्तशुद्ध होता है चित्तशुद्धि से क्रम करके ज्ञान होता है ज्ञान से चित्त जड़ ग्रन्थि स्फुट ही टूट जाती है। मांस मदरादिक अभक्ष्य के भक्षण करने से यह जीवात्मा ब्रह्मज्ञान से रहित ही होता है ज्ञान से रहित की मोक्ष नहीं होती है ॥२१४॥

यातयाम गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् ॥२१५॥

गी० अ० १७ श्लोक १० ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो आहार यातयाम है अर्थात अर्धपक्व हुआ है। तथा जो आहार गतरस है। तथा जो आहार पूति है अर्थात जो आहार दुर्गंधी वाला है। तथा जो आहार पर्युषित है अर्थात अग्नि करके पक्व हुआ जो आहार एक रात्रि के व्यवधान करके अतिबासी हो गया है। तथा जो आहार उच्छिष्ट है अर्थात जूठा है तथा जो आहार अमेध्य है अर्थात जो आहार यज्ञ के अयोग्य जो अशुद्ध मांस मदरा मत्स्यादिक हैं। सो ऐसे आहार तामस पुरुषों को ही प्रिय होवे हैं।

शंका—हे भगवन ! श्रुति निषेध मुख वाक्य करिकै ब्रह्म को किस वास्तै बोधन करै है। समाधान—हे देवताओ ! मैं अद्वितीय परमात्मा देव सजातीय विजातीय स्वगतभेद या तीन प्रकार के भेदों तैं रहित हुआ आपनी महिमा विषे स्थित हूं। ऐसे मैं निर्गुण ब्रह्म को जो श्रुति वाक्य किसी गुण विशिष्ट रूप करिकै बोधन करैंगे। तो तिन श्रुति वाक्यों विषे अपरमाणता दोष की प्राप्ति होवैगी।

दृष्टांत—जैसे सर्पत्व धर्म तैं रहित रज्जु को सर्प करिकै बोधन करने द्वारा जो यह सर्प है या प्रकार का वाक्य है। तिस वाक्य को लोक अप्रमाण मानैं हैं। तैसे सर्व धर्मों तैं रहित निर्गुण मैं ब्रह्म को किसी गुण विशिष्ट रूप करिकै बोधन करने द्वारा विधि वाक्य भी अप्रमाण होवैगा। आपने अप्रमाणता दोष की निवृत्ति वास्तैं संपूर्ण सत्यादि वाक्य मैं निर्गुण ब्रह्म को निषेध मुख्य करिकै बोधन करै हैं। अब विधि मुख्य उपदेश को तथा निषेध मुख्य उपदेश को लक्षणा करिकै लोक प्रसिद्ध दृष्टांत करिकै निरूपण करै हैं। मैं आनंद स्वरूप आत्मा के बोधन करने वास्तैं शास्त्र की दो प्रकार की प्रवृत्ति होवै है। एक तो विधि मुख्य करिकै प्रवृत्ति होवै है। और दूसरी निषेध मुख्य करिकै प्रवृत्ति होवै है। यह दोनों प्रकार की प्रवृत्ति अधिकारी जनों की बुद्धि अनुसार होवै है। अब विधि मुख उपदेश को दिखावै है। जैसे कोई धनी पुरुष गौशाला में जाय कै गौपालक तैं पूछै है। हमारी गौ कौन है आगे तैं सो गौपालक ता गौके शृंग को पकड करिकै ता धनी को दिखावै है। यह तुमारी गौ है। या को शृंग ग्राहक न्याय कहै हैं। इस प्रकार शृंग ग्राहक न्याय की न्यांई जो शास्त्र मैं आत्मा को बोधन करै है ताको विधि शास्त्र कहै हैं।

दृष्टांत—जैसे तुमारे हस्त विषे आमलक फल है यह लौकिक विधि वाक्य हैं। इस प्रकार कोई विधि वाक्य भी मैं आनंद स्वरूप आत्मा को बोधन करै नहीं। काहेतैं मैं आनंद

स्वरूप आत्मा मनवानी का अविषय हूं। या तै (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म) इत्यादिक विधि वाक्य भी असत्यादिकों की व्यावृत्ति द्वारा ही शुद्ध आत्मा विषे प्रवृत्त होवै है। अब, निषेधि शास्त्र को लक्षणा करिकै तथा लोक प्रसिद्ध दृष्टांत करिकै निरूपण करै है। हे देवताओ! भ्रांत पुरुषों नै लक्ष्य रूप करिकै अंगीकार करै जे अनेक पदार्थ है। तिन सर्वों का निषेधि करिकै परिशेष तै वास्तव लक्ष्य पदार्थ को जो शास्त्र अर्थ तै बोधन करै है। ताको निषेध शास्त्र कहै है।

दृष्टांत—जैसे रथ अश्वादिक नाना प्रकार की सेना करिकै युक्त जो कोईक राजा है तिस को ना जानि करिकै कोईक मूढ बालक आपने पिता सें पूछता भया। या समाज विषे कौन राजा है। या प्रकार का बालक का वचन श्रवण करिकै ता बालक के प्रति राजा के जनावने की इच्छा करिकै सो पिता प्रथम यह राजा है या प्रकार कै वचन को नहीं कहिता भया। किंतु या प्रकार का विचार आपने मन विषे करता भया। या बालक के प्रति प्रथम ही यह राजा है या प्रकार का वचन जो मैं या बालक को कहूंगा तो यह बालक मूढ बुद्धि है या तै किसी अन्य पुरुष को अथवा किसी छत्र चामरादिक समग्री को राजा रूप करिकै मानैगा या तै यह राजा है या प्रकार का वचन प्रथम या बालक के प्रति कहिना योग्य नहीं। किंतु राजा तैं भिन्न सर्व पदार्थों का मैं निषेध करों। परिशेष तैं सर्व पदार्थों तै विलक्षण राजा को यह बालक आप ही जानेगा। या प्रकार का विचार करिकै सो पिता ता बालक के प्रति कहिता भया। हे पुत्र! यह जो दृक्ष दीखतै है यह भी राजा नहीं और यह अश्व भी राजा नहीं तथा यह हस्ती भी राजा नहीं तथा यह रथ भी राजा नहीं तथा यह पदाति भी राजा नहीं तथा यह नाना प्रकार के आयुधों के धारण करने हारे यह पुरुष है ते भी राजा नहीं तथा यह विचित्र तुरीया भी राजा नहीं। तथा यह श्वेत छत्र भी राजा नहीं तथा यह चामर भी राजा नहीं तथा यह छत्र चामर तुरीयादिक है हस्त विषे जिन्हों के ऐसे जो यह पुरुष है तथा स्त्रीयां हैं ते भी राजा नहीं तथा यह नीलकंचुक वाले जो पुरुष हैं ते भी राजा नहीं तथा यह पीत कंचुकों वाले जो पुरुष हैं ते भी राजा नहीं। तथा चित्र वस्त्रों वाले पुरुष भी राजा नहीं। इत्यादिक वचनों करिकै सो पिता राजा तैं भिन्न पदार्थों का निषेध करता भया। तिस तैं अनंतर सो बालक परिशेष तैं सर्व तैं विलक्षण रूप करिकै राजा को निश्चय करता भया अर्थात अपरोक्ष देखता भया। कैसा है सो राजा स्वर्ण के समान उज्वल हैं अंग जिस के तथा श्वेत छत्र है मस्तक ऊपर जिस के और समीपवर्त्ती जे गणिका हैं तिनों के हस्त रूपी कमलों विषे विचरने हारे जे चामर रूपी हंस हैं तिनों करिकै सेवत हैं मस्तक जिस का। और श्वेत दुकूल को धारण किया है जिसने और दिव्य है कांति जिस की ऐसे राजा को सर्व सेना तैं विलक्षण रूप करिकै सो बालक प्रत्यक्ष देखे है। इस प्रकार निषेध शास्त्र भी एक आत्मा को छोड के अन्य सर्व स्थूल सूक्ष्म प्रपंच का निषेध करै है। तिस निषेध तैं अनंतर यह अधिकारी पुरुष सर्व नाम रूप प्रपंच तैं विलक्षण रूप करिकै मैं आत्मा को आप ही निश्चय करै है। या तैं यह निषेध मुख करिकै

उपदेश ही मैं आत्मा के बोधन करने विषे श्रेष्ठ उपाय है। जो यह निषेध मुख उपदेश नहीं अंगीकार करिये तो भावाभाव तै रहित मैं निर्गुण परमात्मा को कौन बोधन करेगा किंतु निषेध मुख उपदेश तै विना मैं निर्गुण परमात्मा के बोधन करने विषे कोई भी वाक्य समर्थ नहीं है। या तै महावाक्य का लक्ष्य रूप जो मैं शुद्ध अद्वितीय आत्मा हूं। सो मैं मन वाणी का अविषय हूं। और शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त जो जाति गुण क्रिया आदिक है। तिनों तै मैं आत्मा रहित हूं। या तै सत्यादिक श्रुति वाक्य भी मैं आत्मा को साक्षात प्रतिपादन करसके नहीं। ऐसे मैं अद्वितीय आत्मा को कौन पुरुष मन करिकै विषय करेगा किंतु कोई भी पुरुष मन करिकै मैं आत्मा के जनावने विषे समर्थ नहीं है। ऐसे मैं अद्वितीय आत्मा के बोध करने वास्ते जभी निषेध शास्त्र स्थूल सूक्ष्म रूप सर्व जगत का निषेध करे है। तभी मैं आनन्द स्वरूप आत्मादेव आप ही अधिकारी पुरुषों के हृदय देश विषे प्रकाशमान होवौ हूं।

दृष्टांत—जैसे दीपक मंदिर विषे प्राप्त होइकै नेत्रों को आवरण करने हारा जो अन्धकार है। ताकी निवृत्ति मात्र करे है। इतना मात्र ही दीपक का उपयोग्य है। अन्धकार की निवृत्ति हुए तैं अनन्तर नेत्रवान पुरुष स्वतन्त्र ही घटादिक पदार्थों को देखे है। तैसे यह भावाभाव रूप तथा कारण कार्य रूप तथा स्थूल सूक्ष्म रूप संपूर्ण जगत आत्मा नहीं। या प्रकार जभी निषेध शास्त्र कथन करे है। तभी अधिकारी पुरुष आप ही मैं आत्मा का साक्षात्कार करे है। या तै मैं अद्वितीय आत्मा के बोधन वास्ते यह निषेध मुख उपदेश ही उत्कृष्ट है। काहे तै जैसे विधि मुख उपदेश विषे तत् त्वं पदार्थ के शोधन की तथा अनुमानादिकों की अपेक्षा है। तैसे निषेध मुख उपदेश विषे किसी अनुमानादिकों की अपेक्षा नहीं

शंका—हे भगवन्! नेति नेति या प्रकार की श्रुति तै मूर्त्तामूर्त्त रूप प्रपंच का निषेध किया है। तिस मूर्त्तामूर्त्त प्रपंच तै भिन्न जो कोईक जड़ पदार्थ है तिनों का श्रुति ने निषेध किया नहीं तिन पदार्थों के साथ आत्मा का तद्दात्म्य अध्यास होने तै अधिकारी पुरुषों को शुद्ध रूप करिकै आत्मा का भान होवेगा नहीं। समाधान—हे देवताओ! कारण अज्ञान सहित जो मूर्त्तामूर्त्त रूप प्रपंच हम ने तुमारे प्रति कथन किया है। इतना ही जड़ प्रपंच है इस तैं अधिक कोई दूसरा जड प्रपंच नहीं। या कारण तैं अज्ञान सहित मूर्त्तामूर्त्त रूप प्रपंच के निषेध किये तैं अनंतर विद्वान् पुरुषों को मैं आत्मा का साक्षात्कार होवे है। या तैं नेति नेति या प्रकार की श्रुति अद्वितीय मैं आत्मा तैं भिन्न सर्व जड़ प्रपंच का निषेध करे है। प्रथम नकार करिकै कार्य कारण रूप तथा स्थूल सूक्ष्म रूप जितना कि भाव प्रपंच है ताका मैं आत्मा विषे निषेध किया है। और दूसरे नकार करिकै ता भाव प्रपंच के अभाव को निषेध करे है। जभी भावाभाव रूप जड़ प्रपंच मैं आनन्द स्वरूप आत्मा तैं निवृत्त भया। तभी तैं आनन्द स्वरूप स्वप्रकाश आत्मा ही परिशेष रहीं हूं। अब आत्मा विषे मुख्य अपरोक्षता निरूपण करे हैं।

शंका—हे भगवन्! जैसे अप्रकाश रूप लोह अग्नि के सम्बन्ध तैं प्रकाशमान होवे है। तैसे वृत्ति अविच्छिन्न साक्षी चैतन्य के सम्बन्ध तैं घटपटादिक जड़ पदार्थों की प्रतीती होवे है। या तैं घट पटादिक जड़ पदार्थों विषे मुख्य

अपरोक्ष पणा नहीं। किन्तु घट पटादिकों विषे गौण अपरोक्ष पणा है। और ब्रह्म स्वप्रकाश चैतन्य है। या तैं ब्रह्म विषे मुख्य अपरोक्षपणा है। और सो ब्रह्म सर्व के अंतर बाहिर व्यापक है या तैं सो ब्रह्म ही आत्मा रूप है। यह वार्त्ता संपूर्ण शास्त्र कथन करै है। परंतु यह वार्त्ता संभवै नहीं काहे तैं शास्त्र नैं आत्मा विषे ब्रह्म रूपता तथा अद्वितीय रूपता यह दोनों धर्म कथन करै हैं। या के विषे हम विवाद नहीं करतै। परंतु ब्रह्म रूपता तथा अद्वितीय रूपता यह दोनों धर्म जिस आत्मा रूप धर्मी विषे रहै हैं। सो आत्मा या संघात तैं भिन्न हमारे को प्रतीति होता नहीं। यातै यां संघात तै जो आत्मा विलक्षण है तौ हमारे प्रति कथन करो। समाधान—हे देवताओ! मैं आत्मा अद्वितीय ब्रह्मरूप हूं या तैं असंत समीप आत्मा विषे तुमारे को असंभावना करनी उचित नहीं।

शंका—हे भगवन्! सो आत्मा कौन है। तात्पर्य यह है स्थूल शरीर आत्मा है अथवा सूक्ष्म शरीर आत्मा है। अथवा तीनों का प्रकाशक आत्मा है। तहां स्थूल सूक्ष्म यह दोनों शरीर आत्मा हैं यह दोनों पक्ष संभवै नहीं। काहे तैं स्थूल सूक्ष्म यह दोनों शरीर परिच्छिन्न हैं या तैं तिनों विषे सर्व व्यापकता संभवे नहीं। और शास्त्र विषे आत्मा को सर्वांतर्यामी कह्या है। किंवा बुद्धि आदिकों का साक्षी आत्मा है यह तीसरा पक्ष भी संभवै नहीं। काहे तैं साक्षी आत्मा है या के विषे कोई प्रमाण नहीं। समाधान—हे देवताओ! जैसे बालक सूत्र करके मर्कटों को नाना प्रकार की नृत्य करावै है। तैसे तुमारे शरीर विषे स्थित होइकै जो तुमारे प्राण अपान समान व्यान उदान को तथा बुद्धि आदिक संघात को अपने २ व्यापार विषे प्रवृत्त करै है। सोई ही तुमारा आत्मा है। या कहने करके यह अनुमान बोधन किया। प्राणादिकों का प्रवर्त्तक होने तैं जो जो पदार्थ जिस जिस पदार्थ का प्रवर्तक होवै है। सो सो पदार्थ तिस तिस पदार्थ तैं भिन्न ही होवै है। जैसे मर्कटों को प्रेरणा करनेहारा बालक मर्कटों तैं भिन्न ही होवै है। तैसे सर्व का अंतरयामी मैं आत्मा भी प्राणादिक सर्व संघात का प्रवर्तक हूं। यातैं प्राणादिक सर्व संघात तैं मैं आत्मा भिन्न हूं। सो तुमारा आत्मा है तथा असंत अपरोक्ष है। तहां श्रुति—

नित्यानंदं सदेकर संह्येव चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा ततः सर्वस्मादन्यो विलक्षणश्चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसःसाक्षीःबुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियो महाचैतन्योऽस्मात्सर्वस्मात्प्रियतम आनन्दघन ॥२१६॥ नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् अ० २ ॥ **इन्द्रियाणां मनो नाथो मनो नाथस्तु मारुतः। मारुतस्य लयो नाथस्तन्नाथं लय माश्रय ॥२१७॥** वराहोपनिषद् अ० २ मं० ८० ॥ **सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥२१८॥** श्वेताश्व० उ० अ० ३ मं० १७॥

अर्थ—सर्वेन्द्रियों के व्यापार का प्रकाशक

अर्थात् प्रेरक तथा सर्वेंद्रियों से रहित है । तथा सर्व का प्रभु है तथा सर्व का ईश्वर है तथा महान है तथा शरण योग है ॥२१८॥

नवद्वारे पुरेदेही हᳫंसो लेलायते बहि । वशीसर्वस्यलोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥२१९॥

श्वेताश्व० उ० अ० ३ मं० १८ ॥

अर्थ—इस नवद्वार वाले शरीर विषे आत्मा जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओं का प्रकाशक होने तैं हंस नाम से कहा जाता है । शरीर के अन्तर बाहिर व्यापक है और सर्वलोकों को आपने वश करिकै तथा स्थावर जंगम चारों खाणी को वश करिकै स्थित है ॥२१९॥

सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरेदेही नैवी कुर्वन्न कारयन् ॥२२०॥

गी० अ० ५ श्लोक १३ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सर्व कर्मों को मन करिकै परित्याग करिकै देह तैं भिन्न आत्मदर्शी वशी पुरुष नवद्वार वाले इस देह विषे सुख पूर्वक स्थित होवे है । तथा नहीं किसी कार्य को करता हुआ तथा नहीं किसी कार्य को करावता हुआ स्थित होवे है ॥२२०॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥२२१॥ गी० अ० १३ श्लो० १४

अर्थ—हे अर्जुन ! सो ज्ञेय ब्रह्म सर्व इन्द्रियों तैं रहित है तथा सर्व इंद्रियों के व्यापार करिकै भासमान है तथा सर्व सम्बन्ध तैं रहित है तथा सर्व के धारण करने हारा ही है तथा सत्त्वादिक गुणों तैं रहित है तथा तिन सत्त्वादिक गुणों का भोक्ता है ॥२२१॥

उपद्रष्टानुमंता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२२॥

गी० अ० १३ श्लोक २२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! इस देह विषे वर्त्तमान हुआ भी यह पुरुष सर्व तैं भिन्न है जिस कारण तैं यह पुरुष उपद्रष्टा है तथा अनुमन्ता है तथा भर्त्ता है तथा भोक्ता है तथा महेश्वर है तथा श्रुति विषे परमात्मा इस नाम करिकै भी कथन किया है ॥२२२॥

काहे तैं अहमस्मि या प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति करिकै तुम भी आत्मा को जानते हो । या तैं अपरोक्ष आत्मा विषे असम्भावना संभवै नहीं ।

शंका—हे भगवन् ! आपने अहंबुद्धि का विषय आत्मा कहा है । या करिकै आत्मा का निर्णय होवे नहीं । काहे तैं अहं बुद्धि बहुत पदार्थों विषे होवे है । स्थूलोहं या प्रकार की अहंबुद्धि स्थूल शरीर को विषय करे है । और अहंकाणः अहं बधिरः या प्रकार की अहंबुद्धि इन्द्रियों को विषय करे है । अहंक्षुधा पिपासा वान या प्रकार की अहंबुद्धि प्राणों को विषय करे है और निश्चयवान या प्रकार की अहंबुद्धि बुद्धि को विषय करे है । और अहं अज्ञः या प्रकार की अहं बुद्धि अज्ञान को विषय करे है । या तैं स्थूल शरीर तैं आदि लैके अज्ञान पर्यन्त सर्व संघात विषे अहंबुद्धि की विषयता प्रतीत होवे है । तिन सम्पूर्णो विषे कौन आत्मा है यह जान्या जावे नहीं । समाधान—हे देवताओ ! विद्वान् पुरुषों के

अनुभव करिकै सिद्ध जो आत्मा की अपरोक्षता है ता अपरोक्षता रूप करिकै आत्मा के निर्णय विषे तुमारा आग्रह है अथवा जैसे घट विषे इन्द्रिय जन्य ज्ञान की विषयता रूप अपरोक्षता है। तैसे अपरोक्षता रूप करिकैं आत्मा के निर्णय विषे तुमारा आग्रह है। जो तुम प्रथम पक्ष अंगीकार करो तौ जैसे विद्वान् पुरुष आत्मा के स्वरूप को निरूपण करे हैं। तैसे हम ने तुमारे प्रति आत्मा का स्वरूप निरूपण करदिया है। परन्तु तुम बहिर्मुख हो जाते विद्वान् पुरुष की न्यांइ तुम ने आत्मा को जान्या नहीं। और जो तुम दूसरा पक्ष अंगीकार करो सो भी संभवे नहीं। काहेतैं निस अपरोक्ष रूप मैं आत्मा चिदाभास युक्त बुद्धि करिकै घटपटादिक पदार्थों को जानता हूं। और ता बुद्धि को आपने स्वप्रकाश रूप करिकै मैं आत्मा प्रकाशों हूं।

अन्तःकरण सम्बन्धात्प्रमातेत्यभि-धीयते । तथा तद्वृत्ति सम्बन्धात्प्र-माणमिति कथ्यते ॥२२३॥

कठरुद्रोप० मं० ३९ ॥

अर्थ—अंतः करण के सम्बन्ध तैं प्रमाता इस नाम से कहा जाता है। और तैसे तिस अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध तैं प्रमाण इस नाम से कथन करते हैं ॥२२३॥

या तैं हे देवताओ ! ऐसे बुद्धि सहित सर्व इन्द्रिय मैं द्रष्टा आत्मा को विषय करिसके नहीं।

दृष्टांत—जैसे घटपटादिक पदार्थों का प्रकाशक जो चक्षु इन्द्रिय है ता चक्षु इन्द्रिय को घटपटादिक पदार्थ प्रकाश कर सके नहीं। तैसे विषय इंद्रिय के सम्बन्ध तैं उत्पन्न भई जो अन्तःकरण की वृत्तियां तिन वृत्तियों को मैं आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रकाश करूं हूं। या तै ते वृत्तियां प्रकाशक मैं आत्मा का प्रकाश करिसके नहीं। हे देवताओ ! जो बुद्धि आदिक जड़ पदार्थों का प्रकाशक है। तथा सर्व के अंतर व्यापक है तथा उत्पत्ति नाश तैं रहित है। सोई ही संघात तैं विलक्षण तुम सर्व का मैं आत्मा हूं। और अंतःकरण का तथा सर्व प्राणों का तथा इंद्रियों का अपने अपने व्यापार रूप विषयों में प्रवर्तक हूं अर्थात प्रेरक हूं। तहां श्रुति—

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु । विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वद-त्यपि ॥२२४॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषद् मं० ८

अर्थ—तू पुनः सर्व मन सें आदि लै कै इंद्रिय तथा स्थूल शरीर पर्यंत आत्मा अपने अपने व्यापार रूप नियम में तिन सर्व को प्रेरना करता है अर्थात सत्ता स्फुर्त्ति देता है। इंद्रिय विषयों में जाते हैं अर्थात ग्रहण करते हैं प्राण चेष्टा करते हैं और वाक्य वचन को उच्चारण करता है ॥२२४॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणो-त्यपि । अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥२२५॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषद् मं० ९

अर्थ—तथा चक्षु रूप को देखता है आत्मा की सत्ता स्फुर्ति सें श्रोत्र शब्द को श्रवण करता है तथा और भी सर्व प्राण इंद्रियादिक सर्व को आत्मा प्रेरिता है ॥२२५॥

स्वं स्वं विषय मुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरंतरम् । प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावत ॥२२६॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषद् मं० १०॥ अर्थ स्पष्ट।

शंका—हे भगवन ! आत्मा तैं भिन्न बुद्धि आदि पदार्थ सत्य हैं अथवा असत्य हैं । जो कहो बुद्धि आदिक पदार्थ सत्य हैं तो जैसे घट पटादिकों के अंतर नहीं होता तैसे आत्मा विषे सर्वांतरपना नहीं होवैगा और जो कहो आत्मा तैं भिन्न बुद्धि आदिक पदार्थ असत्य हैं तौ भी आत्मा विषे सर्वांतरपना संभवै नहीं । काहेतैं आत्मा सर्व तैं अंतर व्यापक है । या वचन विषे सर्व शब्द करिकै बुद्धि आदिकों का ग्रहण करना होवैगा । ते बुद्धि आदिक पदार्थ तुमारे मत विषे असंत असत्य हैं । तिन बुद्धि आदिकों के अभाव होने तैं आत्मा विषे सर्वांतर पना संभवै नहीं । समाधान—हे देवताओ ! मैं आनंद स्वरूप आत्मा तैं भिन्न जितने कि बुद्धि इंद्रिय शरीरादिक पदार्थ हैं ते संपूर्ण जड हैं । या तैं घटादिक पदार्थों की न्यांई ते बुद्धि आदि जन्म मरण वाले हैं । इस वास्तैं बुद्धि आदिक कल्पित हैं । तिन कल्पित बुद्धि आदिकों विषे मैं अधिष्ठान आत्मा की व्यापकता संभवै है ।

दृष्टांत—जैसे रज्जु रूप अधिष्ठान विषे कल्पित जे सर्प दंड जलधारादिक हैं तिन कल्पित सर्पादिकों विषे रज्जु रूप अधिष्ठान व्यापक है तैसे कल्पित बुद्धि आदिकों विषे मैं अधिष्ठान आत्मा व्यापक हूं । या तैं मैं आत्मा विषे सर्वांतरपणा संभवै है ।

शंका—हे भगवन ! आपने जो आत्मा को ब्रह्म रूप करिकै कथन करा है सो संभवै नहीं । काहे तैं समान धर्म वाले पदार्थों का ही परस्पर अभेद होवै है । विरुद्ध धर्म वाले पदार्थों का परस्पर अभेद संभवै नहीं । जैसे उष्ण स्पर्श वाले अग्नि का तथा शीत स्पर्श वाले वर्फ का परस्पर अभेद संभवै नहीं । तैसे या संघात का प्रकाशक जो आत्मा है सो क्षुधा पिपासा शोक मोह जरा मरण यह षटऊर्मी रूप संसार धर्मों तें रहित हुआ शास्त्र तें प्रतीत होवै है । या तै संसारी आत्मा का असंसारी ब्रह्म के साथ अभेद असंत विरुद्ध है । समाधान—हे देवताओ ! विरुद्ध धर्मों वाले पदार्थों का अभेद नहीं होता यह जो तुमनैं कहा सो सत्य है । परंतु ते क्षुधादिक धर्म आत्मा के नहीं । किंतु क्षुधादिक धर्म प्राणों के हैं । और शोक मोह मन के धर्म हैं । और जरा मरण शरीर के धर्म हैं । मैं आत्मा का कोई धर्म नहीं । तात्पर्य यह है । जैसे घटापटादिकों पदार्थों का धर्म प्रकाशक जो सूर्य है ता सूर्य को घटादिकों के धर्म स्पर्श करै नहीं । तैसे प्राणादिकों का प्रकाश करने हारा जो मैं आत्मा हूं ता मैं आत्मा को प्राणादिकों के क्षुधा पिपासादिक स्पर्श करै नहीं । तहां श्लोक—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्य दोषैः । एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन न वाह्यः ॥२२७॥

कठोपनिष० अ० २ वल्ली ५ मं० ११ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य सर्व लोक का प्रकाश सें उपकारक चक्षु रूप है सो चक्षु में वर्तमान दोष तथा अशुद्ध स्पर्श निमित्त बाह्य दोष इन करिकै लिपायमान होता नहीं । इस प्रकार एक सर्व भूतों का अंतरात्मा आरोपित लोक दुःखादिक रूप दोष सें लिपायमान होवै नहीं । क्योंकि सो आत्मा अरोपित नाम रूप कर्म प्रपंच सें बहिर्भूत है । आरोपित सूर्य किरण स्थित जल से जैसे मरुस्थल का स्पर्श होवै

नहीं। इसी प्रकार आरोपित जन्म से परमात्मा लिपायमान होवै नहीं ॥२२७॥

या तैं जैसे ब्रह्म जन्म मरणादिक संसार धर्मों तैं ररित हैं। तैसे यह आत्मा भी जन्मादिक संसार के धर्मों तैं रहित है। या कारण तैं वेदवेत्ता महात्मा पुरुष आत्मा को ब्रह्म रूप ही कहे हैं। किंवा जिन पुरुषों को निःसंशय आत्मा का ज्ञान भया है। तिन पुरुषों को भी जभी जन्म मरणादिक संसार निवृत्त होवै है। तभी साक्षात ब्रह्म रूप आत्मा विषे जन्म मरणादिक संसार नहीं रहे है या के विषे क्या कहिना है। और हे देवताओ! जन्मादि संसार तैं रहित तथा अज्ञान तैं रहित तथा सर्व बुद्धि आदिकों का साक्षी जो मैं ब्रह्म रूप आत्मा हूं। ता मैं आत्मा का साक्षात्कार विक्षेप युक्त पुरुषों को होवै नहीं। किंतु विक्षेप तैं रहित जो विरक्त पुरुष हैं तिनों को ही मैं आत्मा का साक्षात्कार होवै है। या कारण तैं पूर्व वामदेवादिक महान पुरुष आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति वास्तैं सर्व एषणायों का परित्याग करके संन्यास आश्रम को ग्रहण करते भये हैं। यातैं यह अर्थ सिद्ध भया। जैसे विवेक वैराग्यादिक आत्म साक्षात्कार के साधन हैं। तैसे उपरती शब्द का अर्थ संन्यास भी विक्षेप की निवृत्ति द्वारा आत्म साक्षात्कार का साधन है। तहां श्रुति—

नानुध्यायाद्बहू च्छब्दान्वाचोविग्लापनं हि तत्। शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तस्ताभ्यांविनामुक्ति भाजो न संतिः। शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीरः सद्योमुक्तास्ते भवंतीह लोके ॥२२८॥

वराहोपनिषद् अ० ४ मं० ३४॥

अर्थ—बहुत शास्त्रों को न अध्यन करो अर्थात् बहुत शास्त्रों को न पठन पाठन करो क्योंकि बहुत शब्द के उच्चारण करने से वाणी थकित हो जाती है। जैसे संयम से शुकदेव स्वामी तथा वामदेव भी मुक्त हुए हैं। तैसे संयम से विना मुक्ति का पात्र नहीं हो सक्ता है। जो धीर पुरुष शुक वामदेव के मार्गानुसार आचरण करेगा सो पुरुष इसलोक में सद्यो मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२२८॥

अनेक जन्मभ्यासेन वामदेवेन वैपथा। सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२२९॥

वराहोपनिषद् अ० ४ मं० ४१॥

अर्थ—अनेक जन्म अभ्यास करके वामदेव का ही पन्थ है। सो वामदेव भी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं तिस विष्णु के परमं पदम् ॥२२९॥

तहां संन्यास शब्द करके विविदिषा संन्यास का ग्रहण करणा। अब एषणा के स्वरूप को तथा तीनों के भेद दिखावे हैं। हे देवताओ! तीन प्रकार की एषणा होवे है। पुत्र एषणा १ वित्त एषणा २ लोक एषणा ३। मेरे घर में पुत्र होवे या प्रकार की इच्छा को पुत्र एषणा कहे हैं। ता पुत्र एषणा करके यह पुरुष स्त्री के संग्रहादिकों विषे प्रवृत्त होवे है। और मेरे को धन मिले या प्रकार की इच्छा को वित्त एषणा कहे हैं। सो धन भी दो प्रकार का होवे है। एक तो दैव धन होवे है और दूसरा मनुष्य धन होवे है। दैवलोक के जय का साधन जो कर्म उपासना हैं ताको दैवधन कहे हैं। और या मनुष्य लोक के भोग का साधन जो पशु सुवर्णादिक रूप धन है ताको मनुष्य धन कहे हैं। ता दोनों

प्रकार के धन की इच्छा को वित्त एषणा कहे हैं। मेरे को सुख मिले या प्रकार की इच्छा को लोक एषणा कहे हैं। सो सुख भी दो प्रकार का होवे है। एक तो मनुष्य लोक विषे वर्तमान सुख है। दूसरा दैवलोक विषे वर्तमान सुख है। या दोनों प्रकार के सुख की इच्छा को लोक एषणा कहे हैं। यद्यपि इच्छा के विषय पदार्थ अनन्त हैं यातैं इच्छा भी अनन्त ही संभवै है। तथापि या तीन प्रकार की इच्छाओं के भीतर ही सर्व इच्छाओं का अन्तरभाव है। और वास्तव तैं विचार करके देखिये तो वित्त एषणा तथा लोक एषणा यह दो प्रकार की एषणा सिद्ध होवे है। काहे तै जैसे पशु क्षेत्र सुवर्णादिक धन पिता के सुख का साधन है। तैसे पुत्र भी पिता के सुख का साधन है। यातैं इसलोक के सुख के जो साधन हैं तथा परलोक के सुख के जो साधन हैं तिन सम्पूर्ण का नाम वित्त है। ता वित्त एषणा करके सम्पूर्ण सुख के साधनों की एषणा का ग्रहण होवे है। और लोक एषणा करके इसलोक के तथा परलोक के जितने कि सुखरूप फल हैं। तीनों एषणाओं का ग्रहण होवे है। यातैं फल एषणा तथा साधन एषणा यह दोनों प्रकार की एषणा ही सर्वत्र अनुगत है। या कारण तैं ही सम्पूर्ण जीव प्रथम सुख रूप फल की इच्छा करे हैं। परन्तु सो सुख साधनों तैं विना सिद्ध होवे नहीं। यातै ता सुख के साधन की भी इच्छा करे है। या लोकों के व्यवहार तै भी दो प्रकार की ही एषणा सिद्ध होवे है।

शंका—हे भगवन! विद्वान पुरुष जो एषणाओं का परित्याग करे है। या के विषे कौन कारण है। समाधान—हे देवताओ! जन्म मरणादिक संसार तै रहित जो स्वयं प्रकाश आनन्दस्वरूप मैं आत्मा हूं ताके विषे ही सुख है। और मैं आत्मा तै भिन्न सर्व अनात्मपदार्थ परिणाम काल विषे दुःख के देने हारे हैं यातै तिन अनात्म पदार्थों विषे किंचितमात्र भी सुख नहीं। या प्रकार का विचार करके विद्वान पुरुष एषणाओं का परित्याग करे है। तहां श्रुति—

स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं पारमार्थिकम्। क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृत्ताः ॥२३०॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषद् मं० ३३॥

अर्थ—जिसकाल में तीनों एषणारूप दोष निवृत्त होजाने से आपने शरीर में ही स्वयं ज्योति आत्मस्वरूप साक्षी चिन्मय पारमार्थिक स्वरूप को पश्यंति देखसक्ता है। एषणा के सहित मायया से अवृत्त इतर नहीं देखसक्ते हैं २३०

शंका—हे भगवन! तत्त्वज्ञान तै पूर्व भी मुमुक्षुजनों को वासना क्षय का अभ्यास तथा मनो नाश का अभ्यास अपेक्षित ही है। काहेतै जिस पुरुष का चित्त विषयों विषे आसक्त है तथा शम दमादिकों तै रहित है तथा एकाग्रता तै रहित है। तिस पुरुष को सो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होवे नहीं। यातै तत्त्वज्ञान तै पूर्व भी सो वासना क्षय मनो नाश का अभ्यास अवश्य किया चाहिये। जभी आत्मज्ञान तै पूर्व ही सो वासना क्षय मनो नाश सिद्ध भया तभी ता आत्मज्ञान तै पश्चात् जीवन्मुक्ति वासतै ता वासना क्षय मनो नाश के अभ्यास करने का कुछ प्रयोजन नहीं है। ता पूर्व सिद्ध वासनाक्षय मनो नाश के अभ्यास तै ही इस तत्त्ववेत्ता पुरुष को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होवेगी। समाधान—यद्यपि तत्त्वज्ञान तै

पूर्व भी ता तत्त्वज्ञान की प्राप्ति वासतै सो वासना क्षय मनों नाश का अभ्यास अपेक्षित है तथापि तत्त्वज्ञान तैं पूर्व विविदिषा संन्यासी को सो वासनाक्षय मनोनाश का अभ्यास तौ गौण होवै है। और श्रवण मननादिकों का अभ्यास प्रधान होवै है। या तैं तत्त्वज्ञान तैं पूर्व यथा कथंचित् वासनाक्षय मनोनाश का अभ्यास करके निरंतर श्रवण मननादिकों को करने हारे विविदिषा संन्यासी को आत्मज्ञान उत्पन्न होवै है। और विद्वित्संन्यासी को तो सो तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौण होवै है। और वासनाक्षय मनोनाश का अभ्यास प्रधान होवै है। काहे तैं तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति तैं पूर्व ही वेदांत श्रवणादिकों के अभ्यास का कोई प्रयोजन होता नहीं। किंतु प्रारब्ध कर्म नै प्राप्त करे विषय भोग काल विषे ही वासना के अभिभव करने वास्ते किंचितमात्र श्रवणादिकों का अभ्यास अपेक्षित होवै है। या तैं विद्वत्संन्यासी को सो तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौण होवै है। और ता विद्वत्संन्यासी नै तत्त्वज्ञान तैं पूर्व वासनाक्षय मनोनाश का दृढ अभ्यास किया नहीं। या तै ताके चित्त की विश्रांति होती नहीं। और चित की विश्रांति तै विना दृष्ट दुःख की निवृत्ति होवै नहीं या तै ता चित्त की विश्रांति वास्ते विद्वत्संन्यासी को आत्मज्ञान तै अनंतर सो वासना क्षय मनोनाश का अभ्यास अवश्य अपेक्षित है। या तै ता विद्वत्संन्यासी को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होवे है। इस लिए मनोनाश वासना क्षय के अभ्यास करता संन्यासी को सर्व रम्भों का परित्याग अवश्य कर्तव्य है। तहां श्रुति—

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च। आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥२३१॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ४ मं० १ ॥

अर्थ—लौकिक वैदिक सर्व इन्द्रियों के विषयों को परित्याग करके केवल आत्मारूप से ही स्थित होवै जो संन्यासी सो परमगति मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२३१॥

द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा। निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥२३२॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ मं० ३० ॥

अर्थ—इस संसार में दो पुरुष विपरीत कर्मों को करने वाले शोभा नहीं पाते हैं। निरारम्भ गृहस्थी तथा लौकिक वैदिक कर्म करने वाला यति भिक्षु संन्यासी शोभा नहीं पाता है ॥२३२॥

नार्चनं पितृ कार्यं च तीर्थं यात्रा व्रतानि च। धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधि लौकिकी क्रिया ॥२३३॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ मं० ३४ ॥

अर्थ—संन्यासी अर्चन ना करे तथा पितृ कार्य को भी संन्यासी नहीं करे तथा सन्यासी तीर्थ यात्रा भी नहीं करे तथा संन्यासी किसी व्रत को भी नहीं धारण करे। तथा संन्यासी धर्म संबंधी तथा अधर्म संबंधी कार्य को भी नहीं करे। तथा संन्यासी विधि कहिये वैदिक कर्म भी तथा लौकिक क्रिया भी नहीं करे ॥२३३॥

संत्यजेत्सर्व कर्माणि लोकाचारं च सर्वशः। नित्य मंतरसुखः स्वच्छः प्रशांतात्मा स्वपूर्णधीः ॥२३४॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ मं० ३६ ॥

अर्थ—संन्यासी लोकाचारी सर्व कर्मों का भी परित्याग कर देवे और शुभाशुभ सर्व कर्मों का भी परित्याग कर देवे। नित्य ही अन्तरमुख तथा तीन प्रकार की एषणाओं से रहित स्वच्छ अंतःकरण वाला प्रशांतात्मा है जिस का इसी कारण तै ही सर्वत्र पूर्ण आपने आत्माकार बुद्धि का परवाह करै ॥२३४॥

अन्तःसंग परित्यागी लोके विरह नारद। निःस्तुति र्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥२३५॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ मं० ३७॥

अर्थ—संन्यासी अंतरों सर्व प्रकार का लौकिक वैदिक व्यवहार का संग परित्यागी होवै। तथा हे नारद स्तुति तैं रहित होवे तथा नमस्कार से रहित होवे। तथा स्वधाकार कर्मों से भी रहित होवे ॥२३५॥

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः। आत्मक्रीड आत्मरति रात्मवान्समदर्शनः ॥२३६॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ५ मं० २५॥

शंका—हे भगवन्! चतुष्टय साधन संपन्न अधिकारी पुरुष को श्रवण मननादिकों करिकै असंभावना विपरीत भावना रूप प्रतिबन्ध के निवृत्त हुए तत्त्वमसि आदिक महावाक्य तैं अहंब्रह्मास्मि या प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होवे है। ता अपरोक्ष ज्ञान तैं अज्ञानकृत आवरण की निवृत्ति होइकै ब्रह्मानन्द रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होवे है। और ता परमपुरुषार्थ की प्राप्ति तैं परे दूसरा कोई कर्तव्य शेष रहिता नहीं। तहां श्लोक—

यस्त्वात्मरतिरेवस्या दात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥२३७॥

गी० अ० ३ श्लोक १७॥

अर्थ—हे अर्जुन! पुनः जो मनुष्य आत्मा विषे प्रीति वाला ही होवे है। तथा आत्मा करके ही तृप्त होवे है। तथा आत्मा विषे ही संतुष्ट होवे है। तिस पुरुष को किंचितमात्र भी कार्य कर्तव्य नहीं होवे है ॥२३७॥

और जो ऐसा कहो कि चित्त की विश्रांति वासतैं तिस तत्त्ववेत्ता पुरुष को भी वासना क्षय मनोनाश का अभ्यास शेष कर्तव्य है। सो यह कहिणा भी संभवै नहीं। काहेतैं महावाक्य जन्य अपरोक्ष ज्ञान का विषय भूत जो नित्य निरतिशय ब्रह्मानन्द है ता ब्रह्मानन्द विषे संलग्न हुए मन की अन्य तुच्छ विषयों विषे प्रवृत्ति संभवति नहीं। यातैं ता ज्ञानवान को या चित्त की विश्रांति स्वभाव सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि सर्व भौम के आनन्द को अनुभव करने हारा चक्रवर्ती राजा एक ग्राम के अधिपति के तुच्छ सुख की इच्छा करता नहीं। तैसे अखण्ड एकरस ब्रह्मानन्द को अनुभव करने हारा ज्ञानवान पुरुष का चित्त तुच्छ विषय सुख की इच्छा करेगा नहीं। या तैं ज्ञानवान पुरुष को सो चित्त की विश्रांति स्वभाव सिद्ध है। ता चित्त विश्रांति के वास्तैं ता ज्ञानवान को किंचित मात्र भी कर्तव्य नहीं है। या तैं तत्त्ववेता को ज्ञान तैं आनंतर वासानाक्षय मनोनाश के अभ्यास की कर्तव्यता का नियम करना व्यर्थ है। समाधान—वेदांत शास्त्र के दो प्रकार के अधिकारी होवै हैं। एक तो मुख्य अधिकारी होवै है। दूसरे अमुख्य अधिकारी

होवै हैं। तहां जो पुरुष सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यंत उपासना को करिकै परमेश्वर के प्रसाद तैं विषयों विषे दोष दृष्टी करिकै विवेक वैराग्यादिक साधन संपन्न हुये श्रवणादिकों विषे प्रवृत्त होवै हैं। ते पुरुष मुख्य अधिकारी कहै जावै हैं। ऐसे मुख अधिकारीयों को तो एक वार शास्त्र के श्रवणादिकों करिकै जीवन्मुक्ति विषे पर्यवसान वाला तत्त्वज्ञान उत्पन्न होवै है। अर्थात तिन मुख्य अधिकारीयों को तत्त्वज्ञान के समकाल ही जीवन्मुक्ति होवै है। जिस कारण तैं तिन मुख्य अधिकारीयों को ता तत्त्वज्ञान तैं पूर्व ही ता उपासना करिकै सा चित्त की विश्रांति सिद्ध होवै है। ऐसे कृतो उपासिक मुख्य अधिकारीयों को तत्त्वज्ञान तैं अनंतर सो वासना क्षय मनोनाशका अभ्यास अपेक्षित नहीं है। और श्रुति स्मृति वचन भी ऐसे मुख्य अधिकारीयों को ही तत्त्वज्ञान तैं अनंतर कर्वव्यता का निषेध करै है। और जो मैं सगुण ब्रह्म की उपासना तैं रहित जे इदानी काल के अधिकारी पुरुष विवेकादिक साधन संपन्न होइकै ब्रह्म जिज्ञासा तैं श्रवणादिकों विषे प्रवृत्त होवै हैं। ते अकृतो उपासिक पुरुष अमुख्य अधिकारी कहै जावै हैं। ऐसे अमुख्य अधिकारीयों को तिन श्रवणादिकों करिकै सो तत्त्व ज्ञान तो अवश्य उत्पन्न होवै है। परंतु ता ज्ञान तैं पूर्व तिनों नैं वासना क्षय मनोनाश का अभ्यास भली प्रकार तैं कीया नहीं। या तैं तिन पुरुषों के चित्त की विश्रांति होती नहीं और तिन मुख्य अधिकारी पुरुषों को श्रवणादिकों तैं उत्पन्न भया जो ब्रह्म साक्षात्कार है सो साक्षात्कार महावाक्य रूप प्रमाण करिकै जन्य होने तैं तथा ब्रह्मातमा रूप विषय के अबाध तैं प्रमारूप भी है। तथा अज्ञान की निवृत्ति करने विषे समर्थ भी है। परंतु वायु वाले देश विषे स्थित दीपक की न्याईं प्रारब्ध कर्म संपादित भोगवासना करिकै कंपायमान होने तैं सो साक्षात्कार कदाचित असंभावना विपरीत भावना रूप प्रतिबंध के संभव तैं अज्ञान निवृत्ति करने विषे समर्थ होवै नहीं। या तैं तिन अकृतोपासिक अमुख्य अधिकारीयों कों ता संभावित प्रतिबंध की निवृत्ति करने वास्तैं तत्त्वज्ञान तैं अनंतर सो वासनाक्षय मनोनाश का अभ्यास अवश्य करने योग्य है। इसो अभिप्राय करिकै श्रीव्यास भगवान नैं ब्रह्म सूत्रों विषे।

(अवृत्तिरस कृदुपदेशात्। आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥)

इस सूत्र करिकै अमुख्य अधिकारी के प्रति अभ्यास की अवृत्ति कथनकरी है। या तैं यह सिद्ध भया पूर्व उक्त मुख्य अधिकारीयों को तत्त्वज्ञान तैं अनंतर वासनाक्षय मनोनाश के अभ्यास की नहीं अपेक्षा हुये तिन अमुख्य अधिकारीयों को तत्त्वज्ञान तैं अनंतर चित्त की विश्रांति वास्तैं सावासनाक्षय मनोनाश का अभ्यास अवश्य अपेक्षित है।

वासनाक्षय विज्ञानमनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवंति फलदामताः ॥ २३८ ॥ मुक्तिकोपनिषत् अ० २ मं० १० ॥ **वासनाक्षय विज्ञानमनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवंति फलदामताः ॥ २३९ ॥** अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० ८३ ॥ **त्रिभिरेभिः**

समभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः । निःशेष-मेव त्रुट्यंतिबिसच्छेदाद्गुणा इव ॥२४०॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ ४ मं० ८४ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान मनोनाश वासनाक्षय इन तीनों का समकाल अभ्यास करने सें दृढ हृदय की चिद जड ग्रंथी टूट जाती है। जैसे शस्त्र सें रज्जु छेदन की न्यांई ॥२४०॥

वासना संपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्य-चित्तताम् । प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छ-सितथाकुरु ॥२४१॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं ८६ ॥

अर्थ—वासना के परित्याग तैं चित्त चिन्मय ब्रह्म को प्राप्त होता है । प्राणों के स्पन्द के निरोध तैं जैसे इच्छा है तैसे करो ॥२४१॥

शंका—हे भगवान ! वासना के क्षय करने विषे इस पुरुष की तभी प्रवृत्ति संभवै है जभी इस पुरुष को ता वासना के स्वरूप का ज्ञान होवै । ता वासना के ज्ञान तैं विना ता वासना के निवृत्ति करने विषे इस पुरुष की प्रवृत्ति संभवती नहीं। समाधान—हे देवताओ ! ता वासना का साधारण लक्षण तथा ता वासना का विभाग तथा ता वासना का फल तथा तिस वासना का विशेष लक्षण श्रीवासिष्ठ जी कथन करै हैं। तहां श्लोक—

दृढ भावनयात्यक्त पूर्वापर विचा-रणम् । यदादानं पदार्थस्य वासनासा प्रकीर्तिता ॥२४२॥

अर्थ—दृढ वासना करिकै पूर्व अपर के विचार तैं विना ही पदार्थों का ग्रहण होवै है । अर्थात हमारी भाषा सर्व भाषायों तैं समीचीन है तथा हमारा देश सर्व देशों तैं समीचीन है । तथा हमारा कुल सर्व कुलों तैं उत्तम है । तथा हमारे पुत्र सर्व तैं समीचीन हैं । इत्यादिक अभिनिवेश जिस वासना करिकै होवै साभावना को विद्वान् पुरुष वासना कहै हैं ॥२४२॥

वासना द्विविधाप्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा । मलिना जन्मनोहेतुः शुद्धाजन्म विनाशिनी ॥२४३॥

अर्थ—सो उक्त वासना दो प्रकार की होवै है । एक तो शुद्ध वासना होवै है तथा दूसरी मलिन वासना होवै है । मलिन वासना तो इस पुरुष को जन्म का कारण होवै है और शुद्ध वासना जन्म के निवृत्ति का कारण होवै है ॥२४३॥

अज्ञान सुघनाकारघनाहंकार शा-लिनी । पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥२४४॥

अर्थ—ब्रह्मके स्वरूप का आवरक जो अज्ञान है ता अज्ञान करिकै घनीभूत हुआ अकार जिस का ऐसा जो घना हंकार है ता अहंकार सहित जो वासना है,सा वासना विद्वान पुरुषोंने मलिन वासना कही है । सा मलिन वासना ही इस पुरुष को पुनः जन्म की प्राप्ति करे है । तहां भ्रांति ज्ञान की परंपरा है यह ही ता अहंकार का घनाकार है सो अहंकार का घनाकारपणा ॥२४४॥

श्रीकृष्ण भगवान ने गीता के १६वें अध्याय विषे असुर संपद के निरूपण प्रसंग विषे कथन करा है । तहां श्लोक—

इदमद्यमया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनो-रथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥२४५॥

अर्थ—जो वासना जन्म की कारण है यह धन इस काल विषे हम ने पाया है तथा इस मनोरथ को शीघ्र ही प्राप्त होवेगा तथा यह धन हमारे गृह विषे पूर्व ही विद्यमान है। तथा यह धन भी अगले वर्ष विषे पुनः बहुत होवेगा ॥२४५॥

असौ मया हतः शत्रु हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥२४६॥

अर्थ—हम ने यह शत्रु हनन किया है तथा दूसरे शत्रुओं को भी मैं हनन करूंगा। मैं ईश्वर हूं तथा मैं भोगी हूं तथा मैं सिद्ध हूं तथा मैं बलवान् हूं तथा मैं सुखी हूं ॥२४६॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्य ज्ञान विमोहिताः ॥२४७॥

अर्थ—धनवान तथा कुलवान मैं ही हूं। या तैं हमारे सदृश दूसरा कौन है। मैं यज्ञ को करूंगा तथा दान को करूंगा। तिस तैं हर्ष को प्राप्त होवेगा। इस प्रकार तैं असुर पुरुष अविवेक करिकै मोहित होवे हैं ॥२४७॥

पुनर्जन्मांकुरं त्यक्त्वा स्थितं संभ्रष्ट बीजवत्। देहार्थं भ्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥२४८॥

अर्थ—या वासना जन्म के मूल को नाश करिकै दग्ध बीज की न्याई देह की स्थिति वास्ते स्थित होवे है। तथा जिस वासना करिकै अखण्ड एकरस आनन्द वस्तु जान्या जावे है। सो वासना शुद्ध कही जावे है ॥२४८॥

अब पूर्व उक्त मलिन वासना का विभाग वर्णन करे हैं। जन्म की प्राप्ति करने हारी ता मलिन वासना यद्यपि अनन्त होवे हैं। तथा स्मृति विषे सा मलिन वासना संक्षेप तैं तीन प्रकार की कही है। तहां श्लोक—

लोकवासनया जन्तोर्देहवासनयापि च। शास्त्र वासनया ज्ञान यथावन्नैव जायते ॥२४९॥

अर्थ—सा पूर्व उक्त मलिन वासना लोक वासना १ शास्त्र वासना २ देहवासना ३ इस भेद करिकै तीन प्रकार की होवे है। तिन तीनों वासनाओं विषे कोई भी वासना जिस पुरुष को होवे है। तिस पुरुष को ता वासना रूप प्रतिबन्ध के वश तैं आत्मा का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होवे नहीं ॥२४९॥

अब लोक वासना का निरूपण करे हैं। तहां जिस आचरण के धारण करने से सर्वलोक हमारी स्तुति करैं कोई भी लोक हमारी निन्दा नहीं करे ऐसे आचरण को मैं धारण करूं। या प्रकार का जो अभिनिवेष है ताका नाम लोक वासना है। सा लोकवासना शत कोटि जन्मों करिकै भी संपादन करने को अशक्य है! काहे तैं सर्व दूषणों तैं रहित तथा सर्व शुभ गुणों करिकै संपन्न तथा नमस्कार स्मरणादिकों करिकै सर्व पुरुषार्थों की प्राप्ति करने हारे जो राम कृष्णादिक ईश्वर है। तिनों की भी सर्वलोक स्तुति करते नहीं। किंतु कई एक श्रेष्ठ पुरुष तो स्तुति करे है। और कई एक नीच पुरुष निंदा भी करे हैं। जभी राम कृष्णादिक ईश्वरों की भी सर्व लोक स्तुति नहीं करे हैं। तभी अस्मदादिक जीवों की सर्वलोक स्तुति कैसे करेंगे किंतु नहीं करेंगे। या तैं या लोक वासना संपादन

करने को अशक्य है। या तैं इस अधिकारी पुरुष ने ता लोक वासना का परित्याग करिकै आपने आत्मा के ज्ञान को ही सम्पादन करना। तहां श्लोक—

विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोक परितोषकरोयः। सर्वथा स्वहित मा चरणीयं किं करिष्याति जनोवहु जल्पः ॥२५०॥

अर्थ—जिस उपाय करिकै सर्व लोक स्तुति करे है। ऐसा कोई उपाय लोक शास्त्र विषे है नहीं। या तैं इस अधिकारी पुरुष ने ता लोक वासना का परित्याग करिकै सर्व प्रकार तैं आपने हित को ही सम्पादन करना। लोकों की निंदा स्तुति की तरफ नहीं देखना। जिस कारण तैं ते लोक निंदा स्तुति करिकै कोई हानी लाभ करिसकैं नहीं ॥२५०॥

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरणमस्तु युगांतरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥२५१॥ भर्तृहरि॥

अर्थ—नीति विषे कुशल पुरुष निन्दा करो अथवा स्तुति करो और लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा जाती रहे और आज दिन विषे मरण होवे अथवा युगांतर में होवे परन्तु धैर्यवान विवेकी पुरुष शास्त्रविहित मार्ग तैं एक पाद मात्र भी चलायमान होते नहीं। अर्थात लोक कृत निंदा स्तुति आदिकों की उपेक्षा करिकै विवेकी पुरुष आपने हित को ही सम्पादन करै हैं २५१

किंवा ता लोक वासना विषे अभिनिवेष वाले पुरुष को आत्मज्ञान नहीं उत्पन्न होवे है। तहां श्लोक—

न लोक चित्त ग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादन तत्परस्य न शब्द शास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चाति रम्यावसथप्रियस्य ॥२५२॥

अर्थ—जो पुरुष सर्व प्रकार तैं लोकों के चितरञ्जन करने विषे प्रीती वाला है। तथा जो पुरुष भोजन आच्छादन विषे ही तत्पर है तथा जो व्याकरणादिक अनात्म शास्त्र विषे अभिनिवेश वाला है। तथा जो पुरुष अत्यन्त रमणीक गृहों विषे प्रीति वाला है ऐसे पुरुष को मोक्ष प्राप्त होती नहीं। यातैं मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष नैं सा लोक वासना सर्व प्रकार तैं परित्याग करणी ॥२५२॥

अब शास्त्र वासना का निरूपण करे हैं तहां शास्त्र के तात्पर्य को न ग्रहण करके ता शास्त्र के अध्ययनादिकों की जो वासना है ताका नाम शास्त्रवासना है। सा शास्त्र वासना भी पाठ वासना १ अर्थ वासना २ अनुष्ठाना ३ इसभेद करके तीन प्रकार की होवे है। तहां समग्र आयुष पर्यंत वेद शास्त्रों के पाठ का ही अध्ययन करते रहना। ता शास्त्र के तात्पर्य को नहीं जानना या का नाम पाठ वासना है। सा पाठवासना भरद्वाज को होती भई है। तहां भरद्वाज ऋषि आयुष के तीन भाग पर्यंत अर्थात ७५ वर्ष पर्यंत वेदों के पाठ को अध्ययन करता भया। तथा अति जीर्ण वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता भया। ऐसे भरद्वाज को देख के देवराज इन्द्र ता भरद्वाज के समीप आय के कहिता भया। हे भरद्वाज! जो कदाचित् मैं तुमको आयुष

का चतुर्थभाग देवो तो तिस चतुर्थ भाग आयुष करके तुम क्या सम्पादन करेगा। ऐसे इन्द्र के वचन को श्रवण करके सो भरद्वाज ऋषि ता चतुर्थभाग आयुष करके भी मैं वेदों के पाठ का ही अध्ययन करूंगा। या प्रकार का वचन कहिता भया तिसतैं अनंतर सो देवराज इन्द्र ता भरद्वाज की पाठवासना के निवृत्त करने वासतैं ता भरद्वाज के प्रति वेदों को पर्वतरूप करके दिखावता भया। तिन वेदरूप पर्वतों तैं एक मुष्टि लैके ता भरद्वाज के प्रति कहिता भया। हे भरद्वाज अब पर्यंत तुमने यह मुष्टिमात्र वेद अध्ययन करे हैं। यह पर्वत रूप वेदवाकी अध्ययन करने को रहिते है। ऐसे इन्द्र के वचन को श्रवण करके सो भरद्वाज ता पाठवासनातैं निवृत्त होता भया। तिसतैं अनन्तर सो इन्द्र ता भरद्वाज के प्रति ब्रह्म विद्या का उपदेश करता भया। और वेद शास्त्रों के तात्पर्य को ना जान करके समग्र आयुष पर्यंत तिन वेद शास्त्रों के अर्थ का अध्ययन करते रहिना या का नाम अर्थ वासना है। सा अर्थ वासना भी पाठवासना की न्याईं दुःख करके सम्पाद्य होने तैं मलिन वासना ही है या कारण तैं ही विद्वान पुरुषों नैं यह कह्या है। तहां श्लोक—

अनन्त शास्त्रं बहुवेदि तव्य मल्पश्च कालो बहवश्चविघ्नाः। यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवांबु मिश्रम् ॥२५३॥ अधीत्य चतुरो वेदान्धर्म शास्त्राण्यनेकशः। यस्तु ब्रह्मन जानाति दर्वीपाक रसं यथा ॥२५४॥

मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० ६५॥

अर्थ—शास्त्र अनन्त हैं तथा शास्त्र प्रतिपादित पदार्थ भी अनन्त हैं। ते पदार्थ अल्पकाल करके जाने जाते नहीं। और इस पुरुष की आयुष असन्त अल्प है। ता अल्प आयुष विषे भी रोगादिक अनेक विघ्न प्राप्त होवे हैं। ऐसे विघ्न युक्त अल्प आयुष करके तिन सर्व शास्त्रों का अर्थ जानने विषे अशक्य है। यातैं जैसे हंस पक्षी जल मिश्रित क्षीरतैं क्षीर मात्र को ही ग्रहण करे हैं। तैसे इस अधिकारी पुरुष नै भी सर्व शास्त्रों का सारभूत जो ब्रह्मविद्या करके प्रतिपाद्य जो ब्रह्मात्मरूप अर्थ है है सोई ही ग्रहण करने योग्य है ॥२५३॥ किंवा जो पुरुष चार वेदों के अर्थ को अध्ययन करे है तथा अनेक धर्मशास्त्रों के अर्थ को अध्ययन करे है। परन्तु अहं ब्रह्मास्मि या प्रकार के ब्रह्म को जानता नहीं सो पुरुष दर्वी के तुल्य है अर्थात जैसे करछी दर्वी अनेक प्रकार के व्यजनों विषे विचरे है परन्तु तिन व्यजनों के रस को जानती नही ॥२५४॥

अधीत्य चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राण्यनेकशः। ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वीपाक रसं यथा ॥२५५॥

मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० ६५॥

तमेवधीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाव्दहुन्व्दव्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥२५६॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ४ मं० ३७॥

अर्थ—यह धीर पुरुष तिस ब्रह्म को ही अपनी बुद्धि से साक्षात्कार करे। बहुत शास्त्र का अध्ययन ना करे क्योंकि तिस बहुत शब्द के उच्चारण करने से वाणी थकित होती है २५६

द्विविध श्चित्तनाशोऽस्तिसरूपोऽरूप एवच। जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥२५७॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ४ मं० १४॥

अर्थ—चित् के नाश के द्विविध प्रकार हैं। एकसरूप नाश है दूसरा अरूप नाश है। सरूप नाश से जीवन्मुक्ति होवे है। तथा चित्तके अरूप नाश से वेदेह मुक्ति प्राप्त होवे है ॥२५७॥

चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय च ॥२५८॥ अन्नपूर्णोप० अ० ४ मं०१५

सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते। निदाघाऽरूपनाशस्तु वर्तते देहमुक्तिके ॥२५९॥

अन्नपूर्णोप० अ० ४ मं० १८॥

अर्थ—इस मन का स्वरूप नाश यह है कि मनो नाश वासना क्षय है इस मनोंनाश वासना क्षय से जीवन्मुक्ति सिद्ध होवे है। और हे निद.धमन के अरूप नाश से विदेह मुक्ति प्राप्त होती है ॥२५९॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातु मिच्छति। अपिवर्ष सहस्रायुः शास्त्रन्तं नाधि गच्छति ॥२६०॥

पैङ्गलोपनिषद् अ० ४ मं० १६॥

अर्थ—इसका ज्ञान होजावे इसको जान लेवौं सो सर्व शास्त्र के जानने की इच्छा करता है निश्चय करके हजार वर्ष की आयुष भी होवै तौ भी शास्त्र के अन्तको प्राप्त नहीं होसक्ता है २६०

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चंचलम्। विहाय शास्त्र जालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥२६१॥

अन्नपूर्णोप० अ० ४ मं० १७॥

अर्थ—तत्त्वमात्र अक्षर ब्रह्म को साक्षात्कार करो। जीवन अति चंचल है। सर्व शास्त्र जाल को परित्याग करके जो वस्तु सवरूप है तिस की उपासना करो ॥२६१॥

द्वपदे बन्ध मोक्षाय न ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जंतुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥२६२॥ वराहोपनिषद्

और श्रुति स्मृतिरूप शास्त्र ने विधान करे जो कर्म हैं तिन कर्मों का अनुष्ठान विषे ही समग्र आयुष व्यतीत करणा या का नाम अनुष्ठान वासना है। सा अनुष्ठान वासना निदाघराजा को होती भई है। ऋभुनामा ऋषि नैं पुनः पुनः उपदेश किया हुआ भी सो निदाघ ता अनुष्ठान वासना करके ब्रह्मात्म तत्त्व को नहीं जानता भया। तीसरी वारता ऋषि के उपदेश तैं अतिक्लेश तैं सर्व अनुष्ठान का परित्याग करके ब्रह्मात्म तत्त्व को साक्षात्कार करता भया। यातैं सा पूर्व उक्त तीनों प्रकार की शास्त्र वासना आत्म ज्ञान का प्रतिबन्धक ही है। अब देह वासना का निरूपण करे हैं। इस भौतिक स्थूल शरीर विषे जो अभिनिवेष है। ताका नाम देह वासना है। सा देह वासना भी दो प्रकार की होवे है। एक तो देह विषयक होवे है। दूसरी देह सम्बन्धी गुण विषयक होवे है। मनुष्योऽहं। ब्राह्मणोऽहं या प्रकार की जो वासना है सा देह विषयक वासना कही जावै है। और दूसरी देह सम्बन्धी वासना भी शास्त्रीय १ लौकिक २ इस भेद करके दो प्रकार की होवे है। प्रथम शास्त्रीय वासना भी दो

प्रकार की होवे है । एकतो गुणाधान प्रयुक्त होवे है। दूसरी दोष निवृत्ति युक्त होवे है। शास्त्री विहित गंगा स्नानादिकों करके जो देह विषे सद्गुणों के आचरण की वासना है सा वासना गुणाधान प्रयुक्त कही जावै है । और शौच आचमनादिकों करिकै जो देहतैं दोषों के निवृत्ति करने की वासना दोष निवृत्ति प्रयुक्त कही जावै है । इस प्रकार सा लौकिक वासना भी दो प्रकार की होवै है । तैल पनादिकों करिकै जो देह विषे सौंदर्यादिक गुणों के धारण करने की वासना है सावासना प्रथम है । और मलि निवृत्ति का औषधि जलादिकों करिकै देह तैं मलि के निवृत्ति करने की वासना है सा दूसरी है यह संपूर्ण देह वासना ज्ञान का प्रति बंधक होने तैं तथा जन्मांतर का हेतु होने तैं मलिन वासना ही है । किंवा लोक वासना शास्त्र वासना देह वासना इन उक्त तीन वासनाओं तैं अन्य भी ज्ञान के प्रति बंधक मलिन वासना गीता विषे कथन करी है ।

दंभो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्य-मेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासरीम् ॥२६३॥ गी० अ० १६ श्लोक ४

अर्थ—हे पार्थ ! रजो तमो गुणमय अशुभ वासना को संपादिन करिकै जन्मे हुये पुरुष को दंभ दर्प तथा अतिमान क्रोध तथा अज्ञान यह दोष ही प्राप्त होवै हैं ॥२६३॥

इस प्रकार स्त्री पुत्रादिक विषयों की जो अभिलाषा है ते भी मलिन वासना ही है ते सर्व मलिन वासना ज्ञान का प्रतिबंधक होने तैं मुमुक्षुजनों को निवृत्त करने योग्य है ।

हे भगवन् ! तिन मलीन वासनाओं की निवृत्ति किस उपाय तैं होवे है । समाधान—हे देवताओ ! ते मलिन वासना पूर्व उक्त रीती से अनेक प्रकार की हैं । यातैं वसिष्ठादिक मुनियों नैं तिन वासनाओं के निवृत्ति के उपाय भी अनेक प्रकार के कहे हैं । नित्यानित्य वस्तु का विवेक तथा विषयों विषे दोष दर्शन तथा महात्माजनों का सत्संग तथा विषयी जनों के संग का परित्याग तथा मैत्री करुणादिक विरोधी वासना की उत्पत्ति इत्यादिक उपायों करके तिन मलिन वासनाओं की निवृत्ति होवे है । यातैं तिन विवेकादिक उपायों करके आपने अन्तःकरण विषे जो तिन मलिन वासनाओं की उत्पत्ति नहीं होने देनी । यह ही ता वासना क्षय का अभ्यास है । तहां श्लोक—

दृश्यासंभव बोधेन रागद्वेषादितानवे । रति र्न वोदिता यातु बोधाभ्या संविदुः परम् ॥२६४॥

अर्थ—यह दृश्यमान सर्व प्रपञ्च मैं अधिष्ठान आत्मा तैं भिन्नरूप करके वास्तव तैं नहीं या प्रकार जो दृश्य प्रपञ्च के असंभव का बोध है ता बोध करके प्रपञ्चरूप विषय के अभाव तैं रागद्वेषादिकरूप वासना के निवृत्ति हुए इस पुरुष की आपने स्वरूपानन्द के अनुभव विषे जो दृढ प्रीति उत्पन्न होवे है । तिस को विद्वान पुरुष वासना क्षय का अभ्यास कहे हैं ॥२६४॥

असंग व्यवहारित्वाद्भवभावन वर्जनात् । शरीरनाशदर्शित्वाद्वासनान प्रवर्त्तते ॥२६५॥

अर्थ—मैं असंग हूं या प्रकार के वृत्तियों का जो प्रवाह रूप व्यवहार है । ता व्यवहार के

निरंतर करने तैं इस पुरुष विषे दूसरी वासना प्रवृत्त होती नहीं । तथा प्रपंच के स्मरण का जो परित्याग है । तिस तैं भी दूसरी वासना प्रवृत्त होती नहीं । तथा निरंतर आपने शरीर के मरण का जो दर्शन है तिस तै भी दूसरी रागादिक रूप वासना प्रवृत्त होती नहीं ॥२६५॥

मस्तक स्थायिनं मृत्युं यदि पश्ये-दयं जनः । आहारोऽपि न रोचते किमुतान्या विभूतयः ॥२६६॥

अर्थ—आपने मस्तक ऊपर स्थित जो मृत्यु है तिस मृत्यु को जो कदाचित् यह पुरुष देखे है तो इस पुरुष को भोजन भी प्रिय नहीं लगेगा । तो अन्य विभूतियां कैसे प्रिय लगेगी। किंतु नहीं लगेगी ॥२६६॥

दुःखं जन्म जरा दुःखं दुःखं मृत्युः पुनः पुनः । संसार मंडलं दुःखं पच्यंते यत्र जंतवः ॥२६७॥

अर्थ—जन्म भी दुःख रूप है तथा जरा भी दुःख रूप है तथा पुनः पुनः मरणा भी दुःख रूप है। बहुत क्या कहैं यह संसार मंडल सर्व दुःख रूप ही है । जिस संसार मंडल विषे यह अज्ञानी जीव पुनः पुनः जन्म मरणादिकों को प्राप्त होवै है ॥२६७॥

इस प्रकार आत्मा तैं भिन्न सर्व जगत को दुःख रूप करिकै चिंतन करने हारे पुरुष की रागद्वेषादिक रूप सर्व मलिन वासना निवृत्त होवै है । किंवा विषय लंपट पुरुषों के संग का जो त्याग है । सो भी मलिन वासना की निवृत्ति द्वारा इस पुरुष को मोक्ष का साधन होवै है । तहां श्लोक—

निःसंगता मुक्तिपदं यतिनां संगादशेषाः प्रभवंति दोषाः । आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः संगेन योगी किं मुताल्प सिद्धि ॥२६८॥

अर्थ—विषयासक्त पुरुषों के संग का परित्याग रूप जो निःसंगता है सानिःसंगता ही संन्यासीयों को मुक्ति के प्राप्ति का मार्ग है । जिस कारण तैं तिन विषयासक्त पुरुषों के संग तैं इस पुरुष विषे रागद्वेष मोहादिक सर्व दोष प्राप्त होवै है । तिन मलिन वासना रूप दोषों नैं योगारूढ पुरुष भी अधःपतन किये हैं। तो योगारूढ होने की इच्छा वाला पुरुष क्यों नहीं अधःपतन करियेगा ॥२६८॥

अमृतत्वं स माप्नोति यदा कामात्स मुच्यते । सर्वेषणा विनिर्मुक्तश्छित्त्वा तंतु न बध्यत ॥२६९॥

क्षुरकोपनिषत् मं० २५॥

अर्थ—जिस काल में इस अधिकारी पुरुष की कामना नाश भाव को प्राप्त होवैगी तिस काल विषे सो विद्वान् अमृत भाव को प्राप्त होता है । तथा सर्व एषनाओं से मुक्त होता है तब हृदय की चिद् जड ग्रंथि छेदन होती है। तदनंतर मुक्त होता है न बध्यते ॥२६९॥

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्क्रमेत् । छिन्न पाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥२७०॥

क्षुरकोपनिषत् मं० २२॥

अर्थ—जैसे हंस पक्षी की पाश कट जाती हैं तब हंस पक्षी सुख पूर्वक निःशंक होइ कै आकाश मार्ग में गमन करता है । तैसे जब जीव की एषना रूप पाश छेदन को प्राप्त होती

है । तब संसार तैं सदैव काल के लिये तरते हैं अर्थात अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२७०॥

यथा निर्वाण कालेतु दीपो दग्ध्वा-लयं व्रजेत् । तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥२७१॥

क्षुरकोपनिषत् मं० २३ ॥

अर्थ—जैसे दीपक निर्वाण काल में दग्ध्वा जल करिकै लयभाव को प्राप्त होता है । तैसे सर्व कर्मों को ज्ञान रूपी अग्नि सें दग्ध करिकै योगी चिन्मय ब्रह्म सें ऐसे लय होता है जैसे जल में जल घृत में घृत दूध में दूध घटाकाश महाकाश में ऐसे लय होवै है ॥२७१॥

किंवा इस तत्त्व वेत्ता पुरुष नैं सर्व प्रकार तैं विषय लंपट पुरुषों के संग तैं रहित ही होना।

तस्माच्चरेतवैयोगीसतां धर्म मगर्ह-यन् । जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव संगतिम् ॥२७२॥

अर्थ—यह तत्त्ववेत्ता पुरुष श्रेष्ठ पुरुषों के धर्म को नहीं दूषित करता हुआ इस प्रकार तैं लोक विषे विचरे जैसे यह विषयासक्त लोक अपमान करते हुये संगति को नहीं प्राप्त होतै हैं ॥२७२॥

अहेरिवगणाद्भीतः सन्मानान्नर-कादिव । कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२७३॥

अर्थ—जैसे देह अभिमानी पुरुष सर्प तैं भय को प्राप्त होवैं हैं । तैसे जो विद्वान पुरुष लोकों के समूह तैं भय को प्राप्त होवै है । और जैसे लोक नरक तैं भय को प्राप्त होवैं हैं । तैसे जो विद्वान पुरुष सन्मान तैं भय को प्राप्त होवै है । और जैसे लोक मृत्यु के शरीर तैं भय को प्राप्त होवे हैं । तैसे जो पुरुष स्त्रीजनों तैं भय को प्राप्त होवै है । तिस विद्वान पुरुष को देवता ब्राह्मण कहे हैं । अर्थात जीवन्मुक्त कहे हैं २७३

संगं त्यजेत मिथुन व्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिंद्रियाणि । एकश्चरन्रहसि चित्तमनंत ईशे युंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत प्रसंगः ॥२७४॥

श्रीभागवत ॥

अर्थ—मुमुक्षुजन विषयासक्त स्त्री पुरुषों के संग को सर्व प्रकार तैं परित्याग करे तथा चक्षु आदिक एकादश इन्द्रियों को बाह्य रूपादिक विषयों विषे प्रवृत्ति नहीं करे । किंतु यह मुमुक्षु जन एकांत देशविषे एकाकी स्थित होइके अपरिच्छिन्न ईश्वर विषे चित्त को जोड़े अर्थात निरंतर ब्रह्म का ध्यान करे । और जो कदाचित् सो चित अपने चंचल स्वभाव तैं ता परब्रह्म विषे स्थित नहीं होवै तो ता परब्रह्म विषे प्रीति वाले जे महात्मा हैं तिनों का संग करे ॥२७४॥

अहमस्मि परंब्रह्म वासुदेवाख्य-मव्ययः । इति यस्य स्थिराबुद्धिः स मुक्तो नात्र संशयः ॥२७५॥

अर्थ—वासुदेव है नाम जिसका ऐसा जो उत्पत्ति विनाश तैं रहित परब्रह्म है सो परब्रह्म मैं हूं । इस प्रकार की स्थिरता बुद्धि है जिस पुरुष की सो पुरुष मुक्त ही है । इस अर्थ विषे किंचितमात्र भी संशय नहीं ॥२७५॥

स कश्चिदमहं च वासुदेवः परम-पुमान्परमेश्वरः स एकः । इति मति

रचला भवत्यनंते हृदये गते ब्रजतं विहाय दूरात् ॥२७६॥

अर्थ—यह सर्व जगत तथा मैं वासुदेवरूप ही हैं। सो वासुदेव परमपुरुष है तथा परमेश्वर है तथा एक अद्वितीय है। इस प्रकार की अचल बुद्धि जिस पुरुष की हृदय देशविषे स्थित परमात्मादेव विषे होवै है। हे मृत्यु! तिन पुरुषों को तुम नैं दूर तैं परित्याग करके चलना। अर्थात परब्रह्म के ध्यान परायण पुरुषों को पुनः मृत्यु की प्राप्ति होवै नहीं ॥२७६॥

या तैं यह सिद्ध भया। जो पुरुष विषयासक्त स्त्री पुरुषों के संग का परित्याग करके ब्रह्म का चिंतन करे है तिस पुरुष की ते सर्व मलिन वासना निवृत्त होवै है ॥

साक्ष्य न पेक्षोऽहं निजमहम्नि संस्थोऽहमचलोऽहम्। अजरोऽहं मव्ययोऽहं पक्ष विपक्षादिभेद विधुरोऽहम् ॥२७७॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ३ ॥

अर्थ—मैं निरपेक्ष साक्षी हूं। सोयं महिम्नि से स्थित हूं मैं अचल हूं। अजर हूं अव्यय हूं पक्ष वा पक्षादि भेद तैं रहित हूं ॥२७७॥

अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानंदैक सिंधुरेवाहम्। सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलित गुणजाल केवलात्माहम् ॥२७८॥

आत्मप्रबोधोपनिषद् मं० ४ ॥

अर्थ—बोधस्वरूप एकरस हूं मोक्षानन्द एक सिंधुरूप ही हूं। सूक्ष्म हूं अक्षररूप हूं रजो सत्त्वो तमोगुण जाल से रहित केवल आत्मारूप हूं ॥२७८॥

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्त्तिरेवाहम्। निरवयवोऽहमजोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥२७९॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ६ ॥

अर्थ—मैं एक हूं कला रहित हूं निर्मल निर्गुण निर्वाण मूर्त्ति ही हूं। निरवयव हूं अज हूं केवल सत मात्र सारभूत हूं ॥२७९॥

शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञान समरसात्माहम्। शोधित परतत्त्वोऽहं बोधानंदैक मूर्त्तिरेवाहम् ॥२८०॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १० ॥

अर्थ—मैं शुद्ध हूं सर्व से अन्तर हूं मैं एक रस व्यापक विज्ञान स्वरूप एक रस आत्मा हूं। भाग त्याग लक्षणा करके शोधित परम तत्त्व हूं बोधानन्द एक मूर्त्ति ही हूं ॥२८०॥

निवृत्तोऽपि प्रपंचो मे सत्यवद्भाति सर्वदा। सर्पादौ रज्जु सत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्। प्रपंचाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि ॥२८१॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १२ ॥

अर्थ—मेरे विषे प्रपञ्च नित्य निवृत्त भी है परन्तु सत्य की न्याईं सर्वदा काल प्रतीत होता है। जैसे रज्जु में सर्प प्रतीती से प्रथम रज्जु ही सत्यरूप थी। तैसे प्रपञ्च का अधार रूप करके वर्तमान केवल ब्रह्म ही सत्य है जगत नहीं है ॥२८१॥

यथेक्षुरस संव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा। अद्वय ब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वैजगत्त्रयम् ॥२८२॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १३ ॥

अर्थ—जैसे इक्षु में रस व्याप्त है तथा जैसे

शक्कर में मिठास वर्तमान है। तैसे मैं ब्रह्मरूप अद्वितीय रूप से तीन प्रकार के जगत में मैं निश्चय करके व्यापक हूं ॥२८२॥

ब्रह्मादिकीटपर्यंताः प्राणिनो मयि कल्पिताः। बुद्बुदादि विकारांतस्तरङ्ग सागरे यथा ॥२८३॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १४ ॥

अर्थ—मेरे विषे ब्रह्मा से आदि लैके कीट पर्यंत सर्व प्राणिमात्र कल्पित हैं। जैसे समुद्र में बुदबुदा तथा तरंग विकार कल्पित हैं २८३

तरङ्गस्थं द्रवं सिंधु र्न वांच्छति यथा तथा। विषयानंद वाञ्छामे माभूदानंद रूपतः ॥२८४॥ आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १५

अर्थ—जैसे तरङ्ग में स्थित हुआ द्रव सिंधू की बांच्छा नहीं करता। तैसे मैं भूमानन्द स्वरूप हुआ विषयानन्द की वाञ्छा नहीं करता ॥२८४॥

दारिद्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम। ब्रह्मानंदे निमग्नस्य विषयाशान तद्भवेत् ॥२८५॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १६ ॥

अर्थ—जैसे लक्ष्मीवान पुरुष को दारिद्य की आशा नहीं होती। तैसे ब्रह्मानन्द में निमग्नको विषयाशा नहीं होती ॥२८५॥

विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्। आत्मानमपि दृष्ट्वाहम नात्मानं त्यजाम्यहम् ॥२८६॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १७ ॥

अर्थ—जैसे विष के देखने से तथा अमृत के देखने से बुद्धिमान पुरुष विष का ही साग करेगा। तैसे ही आत्मा के साक्षात्कार से मैं अनात्मा का ही साग करोंगा ॥२८६॥

घटवभासको भानुर्घट नाशेन नश्यति। देहावभासकः साक्षी देहनाशेन नश्यति ॥२८७॥ आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १८ ॥

अर्थ—जैसे घटका प्रकाशक सूर्य घट के नाश से नाश नहीं होवे है। तैसे देह का प्रकाशक साक्षी देह के नाश से नाश नही होवे है ॥२८७॥

न मे बन्धो न मे मुक्ति र्न मे शास्त्रं न मे गुरुः। मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः ॥२८८॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १९ ॥

अर्थ—मेरे विषे बन्ध नहीं है तथा मेरे विषे मुक्ति भी नहीं है न मेरे वासतैं शास्त्र है तथा न गुरू ही है। हमारे शरीर से लैके ब्रह्मा पर्यंत माया के कार्य होने तैं मिथ्या हैं मैं माया से अतीत अद्वितीय हूं ॥२८८॥

प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामै र्वा हन्यतां मनः। आनंद बुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत् ॥२८९॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २० ॥

अर्थ—तिन प्राणों का धर्म चलना है कामना करनी वा कामनाओं से रहित होना मनका धर्म है। तथा आनन्दमय कोश तथा बुद्धि में मैं पूर्ण हूं मेरे को दुःख कैसे होवे है २८९

आत्मामञ्जसा वेद्मि काप्यज्ञानं पलायिताम्। कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित् ॥२९०॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २१ ॥

अर्थ—मैंने आत्मा को प्रकाशक शुद्ध जाना

है अब कोई पता नहीं मिलता जो अज्ञान कहां भाग गया है। मेरे विषे कर्तृत्व भी नष्ट हो गया है। तथा कर्तव्य भी मेरे विषे कुचतमात्र भी नहीं है ॥२९०॥

ब्राह्मण्यं कुल गोत्रे च नाम सौन्दर्य जातयः। स्थूल देहगता एते स्थूला-द्भिन्नस्य मे नहि ॥२९१॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादिक जाति कुल तथा गोत्र तथा नाम तथा सौन्दर्य ताई यह सर्व धर्म स्थूल देह के ही हैं मैं स्थूल देहादिकों से भिन्न के नहीं है ॥२९१॥

क्षुत्पिपासान्ध्य बाधिर्यकामक्रोधा-दयोऽखिलाः। लिङ्गदेहगता एतेह्य-लिङ्गस्य न सन्ति हि ॥२९२॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २३ ॥

अर्थ—क्षुत्पिपासा अन्धापणा बधिर्यपणा तथा काम क्रोधादिक संपूर्ण यह सर्व लिङ्ग देह के धर्म हैं मैं लिङ्ग देह नहीं हूं ॥२९२॥

जडत्व प्रिय मोदत्व धर्माः कारण देहगाः। न सन्ति मम नित्यस्य नि-र्विकार स्वरूपिणिः ॥२९३॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २४ ॥

अर्थ—जड़त्वपणा प्रिय मोदपणा यह सर्व धर्म कारण देह के हैं। मैं नित्य के तथा निर्विकार स्वरूप के नहीं हैं ॥२९३॥

उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्र-तीयते। स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते ॥२९४॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २५ ॥

अर्थ—जैसे उलूक को सूर्य के उदय होने से अन्धकार ही प्रतीति होता है। तैसे स्वयं प्रकाश परमानन्द के प्रकाश के होने से भी मूढ़ पुरुषों को अन्धकार ही प्रतीत होता है ॥२९४॥

चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रे सूर्योनास्तीति मन्यते। तथा ज्ञानावृतो देही ब्रह्मना-स्तीति मन्यते ॥२९५॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २६ ॥

अर्थ—जैसे चतुर पुरुष दृष्टि के निरोध करने से अकाश में सूर्य नास्ति इस प्रकार मानते हैं। तैसे ज्ञान रूप आत्मा के अदृत हुए ब्रह्मरूप देही नहीं है। ऐसा मानते हैं ॥२९५॥

यथाऽमृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न-लिप्यते। न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जड-दोषा प्रकाशतः ॥२९६॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २७ ॥

अर्थ—जैसे अमृत विष तैं भिन्न है विषके दोषों से लिपायमान नहीं होता। तैसे जड़ों का प्रकाशक आत्मा जड़ के दोषों से तथा जड़ से भिन्न होने से जड़ के दोष स्पर्श नहीं करते २९६

स्वल्पापि दीप कणिका बहुलं नाश-येत्तमः। स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशयेत्तमः ॥२९७॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २८ ॥

अर्थ—जैसे स्वल्प भी दीपक का प्रकाश बहुत अन्धकार को नाश कर देता है तैसे थोड़ा भी आत्मा का प्रकाश बहुत अज्ञान जन्य तम को अर्थात् आवरण को नाश करदेता है ॥२९७॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहि-नाम्। सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः

सर्वोपकारकः ॥२९८॥ कामै रहित धीर्दांतो मृदुः शुचिरकिंचनः । अनीहो मितभुक् शांतः स्थिरोमच्छरणो मुनि ॥२९९॥ अप्रमतो गंभीरात्मा धृति मान्जितषड्गुणः । अमानीर्मानदःकल्पोमैत्रः कारुणिकः कविः ॥३००॥

एकादश भागवत अ० ११ श्लोक २९-३०-३१ ॥

अर्थ—परा ये दुःख को नहीं सहने वाला किसी प्राणि का द्रोह नहीं करने वाला क्षमावान सत्य सन्ध इर्ष्यादिक से रहित सुख दुःख में समान यथा शक्ति सर्व का उपकार करने वाला२९८ तथा कामना रहित जितेन्द्रिय कोमल चित्त सदाचार वाला संग्रह तैं रहित इस लोक के भोगार्थ पुरुषार्थ रहित मित्त भोजन करने वाला शांत स्वधर्म में स्थिर मेरी श्रवणागत तथा मनन शील ॥२९९॥ तथा सावधान निर्विकार कष्ट के समे में भी धैर्य रखने वाला क्षुधा पिपासा शोक मोह जरा मृत्यु को आपने स्वरूप में नहीं मानने वाला एषणा रहित दूसरे को मान देने वाला आप अमानी ज्ञान देने में चतुर किसी को ठगने वाला नहीं कारुणिकः और सम्यक ज्ञानवान मैत्री वाला ॥३००॥

अब सत्संग को वासना की निवृत्त द्वारा मोक्ष की साधनता का प्रतिपादिक वचन कहे हैं । तहां श्लोक—

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम् । माहांतस्ते समाचिताः प्रशांता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥३०१॥

अर्थ—जो विद्वान् पुरुष महात्मा पुरुषों की सेवा को मुक्ति का साधन कहे है और स्त्रियों के संगी पुरुषों के संग को नरक के प्राप्ति का साधन कहे हैं । तहां महत्पुरुष किस का नाम है । जो पुरुष समाचित है अर्थात सम ब्रह्म विषे है चित्त जिन्हों का अथवा शत्रुमित्र विषे है सम चित्त जिन्हों का तथा जो पुरुष अतिशय कारिके शांत स्वभाव वाले हैं तथा क्रोध तैं रहित है तथा सुहृद है अर्थात् अनुपकारी पर भी उपकार करने हारे हैं । तथा साधु हैं अर्थात शम दम करिकै सम्पन्न है ऐसे गुण वाले पुरुष ही महात्मा पुरुष तथा महत्पुरुषों का जो श्रद्धा भक्ति पूर्वक संग है सो संग भी ता मलिन वासना की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का ही साधन होवे है ॥३०१॥

मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावना ताश्चितप्रसादनम् ॥३०२॥ योगसूत्र ॥

अर्थ—मैत्री १ करुणा २ मुदिता ३ उपेक्षा ४ यह चारो प्रकार की शुभ वासना होवे है। सुखी प्राणियों विषे यह सर्व हमारे ही हैं । या प्रकार की जो भावना है ताका नाम मैत्री है और दुःखी प्राणियोंविषे जैसे हमारे को दुःख मत होवे तैसे इन प्राणियों को भी दुःख मत होवे या प्रकार की जो भावना है ताका नाम करुणा है । और पुण्यवान पुरुषों को देखिके जो प्रसन्नता है ताका नाम मुदिता है । और पापी पुरुषों तैं जो उदासीनता है ताका नाम उपेक्षा है । इस प्रकार मैत्री आदिक चारी भावना वाले पुरुषों की रागद्वेष असूया मद मात्सर्य आदिक सर्व मलिन वासना निवृत्ति होइ जावे है । तिस तैं इस पुरुष का चित्त शुद्ध होवे

है ॥३०२॥ तहां श्लोक—

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्चस्वाध्याय स्तप आर्जवम् ॥३०३॥

अर्थ—हे अर्जुन अभयं अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान योग दोनों विषे स्थिति दान तथा दम तथा यज्ञ स्वाध्याय तप आर्जव यह सर्व दैवी संपदा रूप हैं ॥३०३॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्। दयाभूतेष्वलोलुपत्व मार्जवं ह्रीरचापलम् ॥३०४॥

अर्थ—तथा अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शांति अपैशुन सर्व भूतों विषे दया अलोलुपत्वमार्दव ह्रीर अचापल यह दैवी संपदा रूप हैं ॥३०४॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाति मानिता। भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३०५॥

गी० अ० १६ श्लोक १-२-३ ॥

अर्थ—हे भारत तेज क्षमा धृति शौच अद्रोह नाति मानिता यह सर्व सत्त्वगुण मय वासना को संपादन करिकै जन्मे हुये पुरुष को प्राप्त होवै हैं ॥३०५॥

इस प्रकार सो विद्वान संन्यासी जभी संकल्प पूर्वक तिन मैत्री आदिक शुभ वासनाओं को तथा दैवी संपदा को तथा अमानित्वादिक धर्मों को अभ्यास करिकै संपादन करै हैं। तभी सूर्य के उदय हुये जैसे तम निवृत्त होवै है। तैसे ता विद्वान संन्यासी की ते पूर्व उक्त सर्व मलिन वासना निवृत्त होवै हैं। तिस ते अनंतर यह नाम रूप आत्मक सर्व जगत चैतन्य विषे कल्पित होने तैं स्वतः सत्ता स्फुरण तैं रहित है। या तैं ता अधिष्ठान चैतन्य के सत्ता स्फुरण पूर्व कही ता का सत्ता स्फुरण होवै है। इस प्रकार जगत के विषे नाम रूप दोनों अंशों के मिथ्यात्व निश्चय तैं उपेक्षा करिकै सर्वत्र परिपूर्ण अस्ति भाति प्रिय रूप अधिष्ठान चैतन्य मैं हूं या प्रकार की जो निरंतर भावना है ता का नाम चिन्मात्र वासना है। सा चिन्मात्र वासना भी दो प्रकार की होवै है। एक तो कर्ता कर्म करण इस त्रिपुटी के स्मरण पूर्वक चिन्मात्र वासना होवै है। दूसरी त्रिपुटी के स्मरण तैं रहित केवल चिन्मात्र वासना होवै है। तहां इस सर्व जगत को मैं अपने मन करिकै चिन्मात्र रूप को जानता हूं। इस प्रकार तैं करी हुई जो भावना है सो भावना तौ प्रथम त्रिपुटी पूर्वक चिन्मात्र वासना है इस चिन्मात्र वासना का संप्रज्ञात समाधि कोटि विषे अंतर भाव है अर्थात इस प्रथम चिन्मात्र वासना को ही योग शास्त्र विषे संप्रज्ञात समाधि कहै हैं। और कर्त्ता कर्म करण इस त्रिपुटी के स्मरण तैं रहित मैं चिन्मात्र हूं या प्रकार की भावना है सा भावना केवल चिन्मात्र वासना कही जावै है। इस केवल चिन्मात्र वासना का असंप्रज्ञात समाधि कोटि विषे अंतर भाव है। अर्थात इस केवल चिन्मात्र वासना को ही योग शास्त्र विषे असंप्रज्ञात समाधि कहैं हैं। तहां श्लोक—

चिदिहास्तहि चिन्मात्रं सर्वचिन्मय मेव तत्। चित्त्वं चिदहमेते चलोश्चिदिति संग्रह ॥३०६॥ यो० वा० उपशमप्र० ॥

अर्थ—हे राजन् इस सर्व जगत विषे चैतन्य

ही अधिष्ठान रूप तैं व्याप्य करिकै रह्या है। या तैं यह सर्व जगत चैतन्य मात्र ही है। तूं भी चैतन्य रूप ही हैं तथा मैं भी चैतन्य रूप हूं तथा यह सर्व लोक भी चिन्मात्र रूप ही है ३०६

इस प्रकार चिन्मात्र वासना के दृढ़ अभ्यास किये हुए पूर्व उक्त सर्व मलिन वासना निवृत्त होवे है। यह ही वासना क्षय का अभ्यास है। अब मनोनाश कहने वास्ते प्रथम मन का स्वरूप कहे हैं। लाक्षा सुवर्णादिकों की न्यांई सवयव तथा कामादिक वृत्ति रूप करिकै परिणाम वाला जो अन्तःकरण है सो अन्तःकरण ही मन रूप होने ते मन कह्या जावे है। सो मन सत्त्व रज तम यह तीन गुण रूप होवे है। काहे तैं सत्वरज तम इन तीन गुणों के यथा क्रम तैं विकार रूप जे सुख दुःख मोह यह तीन धर्म हैं। ते तीनों धर्म ता मन के आश्रित हुए प्रतीत होवे हैं। यां तैं ता मन विषे सत्त्वादिक त्रिगुण रूपता ही सिद्ध होवे है। सो मन राजस तामस वृत्तियों करिकै वृद्धि को प्राप्त हुआ अति स्थूल होवे है। सो स्थूल मन आत्मा के साक्षात्कार वास्ते योग होवे नहीं। काहे तैं दुर्विज्ञेय होने तैं आत्मा अति सूक्ष्म है।

यत्तदद्रेश्य मग्राह्यमगोत्रमवर्ण मचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसुक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः ॥३०७॥ मुण्डकोपनिषत् मं० ६॥

अर्थ—जो सो आत्मा अदृश्य है अर्थात सर्व ज्ञानेंद्रियों का अविषय है। और आग्राह्य है सर्व कर्म इंद्रियों का अविषय है। और अगोत्र है वंश रहित है। तथा अवर्ण है ब्राह्मणादिक चारों वर्णों सें रहित है। चक्षु श्रोत्र का विषय नहीं काहे तैं चक्षुश्रोत्र रूप को तथा शब्द को ही विषय करे हैं। आत्मा रूप नहीं तथा शब्द नहीं है। सो आत्मा हाथ सें ग्रहण नहीं होता तथा पादरहित है। पाद सें गमन क्रीया का विषय नहीं तथा नित्य है विभु है सर्वगत है सो आत्मा अति सूक्ष्म है अर्थात अति इंद्रय है सो आत्मा अव्यय है तथा सो आत्मा सर्व भूतों की योनि है ऐसे आत्मा को धीर पुरुष परिपश्यंति साक्षात्कार करिकै इस दुःख रूप संसार सें परपार मोक्ष को प्राप्त होता है ॥३३७॥

ऐसे सूक्ष्म आत्माको स्थूल मन करिकै साक्षात्कार संभवता नहीं। जैसे स्थूल कुदाल करके सूक्ष्म वस्त्र का सीवना संभवता नहीं। किंतु सूक्ष्म सूचि सें ही ता सूक्ष्म वस्त्र का सीवना संभवै है। तैसे सूक्ष्म मन करिकै ही ता सूक्ष्म आत्मा का साक्षात्कार संभवै है। राजसीतामसी गुण युक्त मन सें आत्मा का साक्षात्कार संभवै नहीं। तहां श्लोक—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्य मेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३०८॥ अधर्मं धर्म मिति या मन्यते तमसा वृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३०९॥ गी० अ० १८ श्लोक ३१-३२॥

अर्थ—हे पार्थ यह पुरुष जिस बुद्धि करके धर्म को तथा अधर्म को तथा कार्य को तथा अकार्य को अयथावत नहीं जानता है। सो बुद्धि राजसी कही जावे है ॥३०८॥ हे पार्थ तम करके आवृत्त हुई जो बुद्धि है सो अधर्म को धर्म इस प्रकार माने है। तथा दूसरे भी

सर्व अर्थों को विपरीत ही माने है। सो बुद्धि तामसी कही जावे है ॥३०९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्या कार्ये भयाभये। बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३१०॥

गी० अ० १८ श्लोक ३० ॥

अर्थ—हे पार्थ यह विवेकी पुरुष जिस बुद्धि करके बन्धन का हेतु प्रवृत्ति को तथा मोक्ष का हेतु निवृत्ति को तथा करने योग्य कार्य को तथा नहीं करने योग्य अकार्य को तथा भय तथा अभय को तथा वन्ध को तथा मोक्ष को जो बुद्धि जानती है सो बुद्धि सात्त्विकी कही जावे है ३१०

इन भगवान के वचनों से रजो तमो गुणों करके मन उपलक्षित्त बुद्धि स्थूल भाव को प्राप्त हुई यथावत् पदार्थों को नहीं जानती है यातैं आत्मा के साक्षात्कार वासतैं मन की सूक्ष्मता अवश्य अपेक्षत है। सामन की सूक्ष्मता राजस तामस वृत्तियों के निरोध करके ही सिद्धि होवे है। यातैं तिन वृत्तियों के निरोध करके जो मन को सूक्ष्मता का सम्पादिन है यह ही ता मन का नाश है। तात्पर्य यह है सो मन का नाश अरूप नाश १ स्वरूप नाश २ इस भेद करके दो प्रकार का होवे है। ता मन का पुनः उत्थान तैं रहित जो स्वरूप नाश है ता को अरूप नाशक हैं। और स्वरूप तैं ता मन के विद्यमान हुए भी उपाय करके जो ता मन के वृत्तियों का नाश है ता को स्वरूप नाश कहे हैं। मन के अरूप नाश करके तो इस तत्त्ववेत्ता पुरुष को विदेह मुक्ति की प्राप्ति होवे है। और मन के स्वरूप नाश करके जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होवे है। यातैं मनोनाश शब्द करके तो स्वरूप नाश ही विवक्षित है।

संकल्पादिकं मनोबंधहेतु। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ॥३११॥

मण्डलब्राह्मणोपनिषत् अ० २ मं० ४ ॥

शंका—हे भगवन! राजस तामस वृत्तियों के निरोध करके मन की सूक्ष्मता के सम्पादिन को आपने मानो नाश कहा है। सो वृत्तियों का निरोध किस उपाय तैं होवे है। समाधान—ता वृत्ति निरोध के उपाय वासिष्ठ जी नैं चारी प्रकार के कहे हैं। तहां श्लोक—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधु संगम एव च। वासना संपरित्यागः प्राणसंपद निरोधनम् ॥३१२॥ यो० वा० उपशमप्रकरण॥

अर्थ—यह चारों प्रकार के उपाय चित्त के जय करने के वासतैं प्रवल कारण हैं प्रत्येक आत्मा को ब्रह्मरूप करके कथन करने हारी जो विद्या है ताका नाम अध्यात्म विद्या है। ता अध्यात्म विद्या की जो प्राप्ति है ताका नाम अध्यात्म विद्याधिगम है। सो भी चित्त के जय का साधन है। काहे तैं यह नाम रूपात्मक सर्व जगत मिथ्या ही है। मैं ही सर्वत्र परिपूर्ण हूं परमानन्द एक रस हूं। मेरे तैं भिन्न कोई भी कारण वा कार्य नहीं है। मैं ही सर्गरूप हूं। या प्रकार की अध्यात्म विद्या प्राप्त हुए यह तत्त्ववेत्ता पुरुष सर्व दृश्य प्रपञ्च को मिथ्यारूप करके जानै है। यातैं ता विद्वान पुरुष का मन ता दृश्य प्रपञ्च विषे भी प्रवृत्त होवे नहीं। और आत्मा तो मन वाणी का अविषय है। यातैं ता आत्मा विषे भी सो मन प्रवृत्त होवे नहीं। इसप्रकार अन्तर वाहिर प्रवृत्ति तैं रहित हुआ सो मन सर्व वृत्तियों के अनुदय तैं ईंधन रहित अग्नि की न्याईं आपने अधिष्ठानरूप कारण

विषे लय होवे है ॥३१२॥ तहां श्रुति—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥३१३॥

मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक ४ मं० १ ॥

अर्थ—जैसे ईंधनरूप काष्ट से रहित हुई अग्नि आपने कारण विषे लयभाव को प्राप्त है। तैसे मन भी वृत्ति से रहित हुआ आपने कारण विषे लय होवे है ॥३१३॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः । इन्द्रियार्था विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥३१४॥

मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक ४ ॥

अर्थ—अपने कारण में लय होने तैं मन शांति को प्राप्त हुआ सत्य मार्ग में गमन करै अर्थात केवल चिन्मात्र ब्रह्म को अलंबन करै है। जब मन इंद्रियों के अर्थों को ग्रहण करता हुआ मूढता को प्राप्त हो कर मिथ्या कर्मों के वशीभूत हुआ अनर्थ को ही प्राप्त होवै है ॥३१४॥

चित्तमेवहि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयोभवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥३१५॥ मैत्रायण्युप० प्रपाठक ४॥

अर्थ—चित्त रूप ही संसार है तिस चित्त को अत्यंत पुरुषार्थ करिकै शुद्ध करो जैसा चित्त होवै है तत् रूप ही जीवात्मा होता है। यह अति गुह्य सनातन धर्म है ॥३१५॥

चित्तस्यहि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुख मव्ययमश्नुते ॥३१६॥

मैत्रायण्युपनिषत प्रपाठक ४ मं० १, २, ३, ४ ॥

अर्थ—चित्त के प्रसादिक करिकै ही शुभाशुभ कर्मों को नाश कर सकता है जब मन के शुद्ध होने तैं मन प्रसन्न होता है तब आत्मा अव्यय सुख को प्राप्त हो कर कै परमानंद में स्थित होता है ॥३१६॥

समासक्तं यदाचित्तं जंतोर्विषयगोचरे । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥३१७॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० ५ ॥

अर्थ—जैसे चित्त जीवों का विषयों में आसक्त होता है। तैसे ही यदि ब्रह्म में विषयों को न्याईं मन असक्त होजावे तो कौन पुरुष बन्धनों तैं मुक्त नहीं होवे है किंतु सर्व ही मुक्त हो जावे है ॥३१७॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तंशुद्धं चाशुद्धमेव च । अशुद्धं काम संकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम् ॥३१८॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० ६ ॥

अर्थ—जीवों के मन दो प्रकार के कहे जाते हैं। एक शुद्ध मन है तथा दूसरा अशुद्ध मन है। और काम संकल्प युक्त मन तो अशुद्ध है। तथा काम संकल्प से रहित मन शुद्ध है ३१८

लय विक्षेप रहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् । यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥३१९॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० ७ ॥

अर्थ—लय विक्षेप से रहित मन को निश्चल करिकै जिस काल में मन अमनीभाव को प्राप्त होता है। तिस काल में सो जीवात्मा परम पद को प्राप्त होता है ॥३१९॥

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि-यावत्क्षयं गतम्। एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रंथ विस्तराः ॥३२०॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० ८॥

अर्थ—इस मन को तावत हि निरोध करना योग्य है। यावत मनोनाश वासना क्षय भाव को मन प्राप्त ना हो जावे। ऐसा हो जाने से शेष विस्तार वाली जो चित्त जड़ ग्रंथि है छेदन पर्यंत पुरुषार्थ करिकै मन का निरोध करने से ज्ञान होकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥३२०॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः। बन्धायविषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृत मिति ॥३२१॥

मैत्रायण्युपनिषत् परपाठक ४ मं० ११॥

अर्थ—मनुष्यों का मन ही वन्ध मोक्ष का कारण है विषयों में असक्त मन बन्ध है और विषयों से रहित मन मुक्त है इस प्रकार श्रुति कथन करती है ॥३२१॥

आपा मापोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्। एवमंतर्गतं चित्तं पुरुषः प्रति मुच्यते ॥३२२॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० १०॥

अर्थ—अव विदेह मुक्ति में श्रुति दृष्टांत को प्रतिपादिन करे हैं। विदेह मुक्ति में ब्रह्म के साथ आत्मा ऐसे अभेद होता है। जैसे जल में जल तथा अग्नि में अग्नि तथा घटाकाश महाकाश में अभेद होने से भेद प्रतीती नहीं होता। इसी प्रकार आप ने अन्तर प्राप्त जो घटाकाश की न्याईं कुटस्थ चिन्मात्र जो पुरुष है लिंग शरीर का वाध हो करिकै चिदाभास का विम्ब में अभेद रूप मुक्ति को प्राप्त होता है ॥३२२॥

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः। त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥३२३॥ त्वं मनस्त्वं यमश्चत्वं पृथ्वी त्व मथाच्युतः। नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च। अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति ॥३२४॥

मैत्रायण्युपनिषत् प्रपाठक ४ मं० १२—१५॥

अर्थ—या तैं सा अध्यात्म विद्या मनोनाश विषे मुख्य कारण है। और जो पुरुष बुद्धि की मन्दता करिकै ता अध्यात्म विद्या के सम्पादिन करने विषे असमर्थ है तिस पुरुष के प्रति दूसरा साधु संगम उपाय है। काहे तैं ते महात्मा पुरुष इस अधिकारी पुरुष को पुनः पुनः प्रत्येक आत्मा की ब्रह्म रूपता तथा जगत का मिथ्या पणा स्मरण करावे है। तथा बोधन करे हैं। ता करिकै इस अधिकारी पुरुष को अध्यात्म विद्या की प्राप्ति होइकै सा मनोनाश होवे है। या तैं सो साधु संगम भी ता अध्यात्म विद्या की प्राप्ति द्वारा ता मनोनाश का उपाय है। किंवा जो पुरुष विद्यामद धनमद कुलमद आचारमद इत्यादिक मदों करिकै युक्त हुआ ता साधु संगम को भी नहीं कर सकता तिस पुरुष के प्रति ता मन के निरोध का वासना संपरित्यागरूप उपाय है। किंवा तिन मलिन वासनाओं की अति प्रबलता तैं जो पुरुष ता उक्त विवेक करके तिन वासनाओं के परित्याग करने विषे समर्थ नहीं होई सकै है। तिस पुरुष के प्रतिशास्त्र ने प्राणसंपद का निरोधरूप उपाय कथन करा है।

अर्थात सो पुरुष प्राण के निरोध करके ता मनोनाश को सिद्ध करे है। इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान मनोनाश का अभ्यास करने तैं जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होवे है। तहां श्लोक—

पर दृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा। ऐते मिथः स्थिते दृष्टी तेजो दीपदशे यथा ॥३२५॥

यो० वा० उपशम प्र० स० २४ श्लोक ५३॥

अर्थ—आत्मा का दर्शन होने से तृष्णा का अभाव अर्थात मूलविद्या का नाश और तृष्णा के अभाव से आत्मा का दर्शन ये दोनों परस्पर एक काल में ही ऐसे स्थित हैं जैसे अग्नि की तेजोमयी दशा तथा दीपाकार दशा है ॥३२५॥

भोग पूगेगतास्वादे दृष्टे देवे परावरे। परे ब्रह्मणि विश्रांतिर नंतोदेति शाश्वती ॥३२६॥

अर्थ—भोगों के समूह में स्वाद रहित होने तैं यथा सर्वोत्तम एकरस आत्मादेव के दर्शन से परब्रह्ममें सदैवकाल हो विश्रांति उदय होती है ३२६

न क्षीणा वासना यावच्चित्तं ता वन्न शाम्यति। यावन्न तत्त्व विज्ञानं तावच्चित्त शमः कुतः ॥३२७॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० ७९॥

अर्थ—यावत वासना क्षीण नहीं होती है तावत चित्त ना शाम्यति। यावत तत्त्वज्ञान नहीं उत्पन्न होता तावत चित्त में शम कहां है ॥३२७॥

यावन्नचित्तोप शमो न तावत्तत्त्व-वेदनम्। यावन्न वासना नाश स्ताव-त्तत्त्व गमः कुतः। यावन्न तत्त्व संप्राप्ति-नतावद्वासनाक्षयः ॥३२८॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० ८०॥

अर्थ—यावत चित्त में उपशम नहीं है तावत तत्त्व साक्षात्कार नहीं है। यावत वासना नाश नहीं है तावत तत्त्व की प्राप्ति कहां है। यावत तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं है। तावत वासनाक्षय नहीं हो सकती ॥३२८॥

तत्त्वज्ञानं मनो नाशो वासना क्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाधानि स्थितान्यतः ॥३२९॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० ८१॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान को तथा मनोनाश को तथा वासना क्षय को इन तीनों को निश्चय करके परस्पर कार्य कारणता प्राप्त है परन्तु दुःख साधन से इन में स्थिति है अन्यथा नहीं अर्थात् अति पुरुषार्थ से प्राप्त होती है सुखैन नहीं हैं ॥३२९॥

भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाचर ॥३३०॥ वासना क्षय विज्ञान मनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवंति फलदामतः ॥३३१॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ४ मं० ८२-८३॥ वासना संपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्य चित्तताम्। प्राणस्यन्दानिरोधाच्च यथेच्छसि तथाकुरु ॥३३२॥ अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ४ मं० ८६॥

पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखदुःखादि लक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति। तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः ॥३३३॥

मुक्तिकोपनिषद् अ० २

अर्थ—पुरुष के कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि लक्षण क्लेशरूप होनेतैं चित्त के धर्म हैं यह ही बन्धरूप हैं। तिनका निरोध करना ही जीवन्मुक्ति है ॥३३३॥

उपाधिविनिर्मुक्त घटाकाशवत्प्रारब्ध क्षयाद्विदेहमुक्तिः जीवन्मुक्तिविदेह मुक्त्यो रष्टोत्तर शत्तोपनिषदः प्रमाणम् ॥३३४॥

मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० १-२ ॥

अर्थ—उपाधि से मुक्त हुआ प्रारब्ध के क्षय तैं घटाकाश महाकाश की न्याई विदेह मुक्ति है। जीवन्मुक्ति में तथा विदेहमुक्ति में अष्टोत्तर शत्तोपनिषद् प्रमाण हैं ॥३३४॥

कर्तृत्वादिदुःख निवृत्ति द्वारा नित्यानन्दावाप्तिः प्रयोजनं भवति । तत्पुरुष प्रयत्नसाध्यं भवति ॥३३५॥

मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० ३ ॥

अर्थ—कर्तृत्वादिक दुःख निवृत्ति द्वारा नित्यानन्द की प्राप्ति प्रयोजन है। सो प्रयोजन पुरुष के पुरुषार्थ से साध्य है ॥३३५॥

यथा पुत्रकामेष्टिना पुत्रं वाणिज्यादिना वित्तं ज्योतिष्टोमेन स्वर्गं । तथा पुरुष प्रयत्न साध्यवेदान्त श्रवणादि जनित समाधिना जीवमुक्त्यादि लाभोभवति सर्व वासना क्षयात्तल्लाभः ॥३३६॥ मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० ४ ॥

अर्थ—जैसे पुत्र की कामना वाले को यज्ञ करने से पुत्र तथा जैसे वाणिज्याद को के करने से वित्त की प्राप्ति होती है। तथा जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ के करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। तैसे ही पुरुष पुरुषार्थ से साध्य वेदान्त के श्रवणादिकों से जनित शम दमादिक साधनों से जीवन्मुक्तादि लाभो भवति ॥३३६॥

वासनाक्षय विज्ञान मनोनाशा महामते । समकालं चिराभ्यस्ता भवंति फलदामताः ॥३३७॥ मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० १ ॥ भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेव समाश्रय । तस्माद्वासनया युक्तंमनो बद्धंविदुर्बुधाः । सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते ॥३३८॥

मुक्तिकोपनिषद् अ० २ मं० १५-१६ ॥

अर्थ—भोगों की इच्छा को दूर से ही परित्याग करके तत्त्वज्ञान मनोनाश वासना क्षय इन तीनों को आश्रायण करो तिस कारण तै वासना युक्तमन बन्ध है ऐसा बुद्धिमान कथन करते हैं। भली प्रकार से वासना के परित्याग से मुक्ति है ऐसे श्रुति विधान करती है ॥३३७॥

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥३३९॥ यदा सर्वे प्रभिद्यंते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनु शासनम् ॥३४०॥ कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ६ मं० १४-१५॥

अब आत्मा तैं भिन्न सर्व अनात्म पदार्थों विषे दुःखरूपता दिखाते हैं। हे देवताओ! या लोक विषे जितनेक सुखकारी पदार्थ हैं तिन सम्पूर्ण पदार्थों विषे माता पुत्र की अत्यन्त सुखकारी होवे है। काहेतैं यह माता बाल्य अवस्था विषे पुत्र को दुग्धपान करावे है नाना प्रकार के उपायों करके जल अग्नि आदिकों

से पुत्र की रक्षा करे है। तथा आपने हस्तों करके पुत्र के विष्ठा मूत्रादिकों को उठावे है। तथा पुत्र विषे नाना प्रकार के स्नेह करे है। इस तैं आदि लैके अनन्त प्रकार के उपायों करके माता पुत्रका पालन करे है। यातैं माता जैसा कोई पदार्थ सुखकारी नहीं है। परन्तु क्रोध करके युक्त होई सो माता ताडना करके बालक को दुःख की प्राप्ति भी करे है। अथवा सो माता जबी मृत्यु को प्राप्त होवे हैं तभी भी बालक को परम दुःख की प्राप्ति करे है। अब या ही अर्थ को स्पष्ट करके दिखावे हैं। बाल्यावस्था विषे माता के मरने करके जैसा दुःख बालक को होवे है। तथा यौवन अवस्थाविषे स्त्री के मरने करके जैसे दुःख पुरुष को होवे है। तथा वृद्ध अवस्था विषे पुत्र के मरने करके जैसे दुःख पिता को होवे है। तैसा दुःख वज्र के पड़ने से तथा जीवते हुए अग्नि विषे प्रवेश करने तैं तथा शरीर के छेदन करने तैं तथा शूली विषे अरूढ़ होने तैं तथा पर्वत के नीचे पतन तैं भी जीवों को नहीं होवे है। यातैं अत्यन्त सुखकारी माता भी वियोग काल विषे जीवों को परम दुःख का कारण होवे है। किंवा जैसे माता का वियोग जीवों को दुःख का कारण है। तैसे पिता तै आदि लैके जितने कि सुखकारी प्रिय बांधव हैं तिनों का भी जभी वियोग होवे है। तभी या जीवों को परम दुःख की प्राप्ति होवे है तात्पर्य यह है। कि जिन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होवे है। तिन पदार्थों का देश काला-दिक निमित्त करके वियोग भी अवश्य होवे है। ता वियोग के निवारण करने को कोई भी जीव समर्थ नहीं। यातैं माता पितादिक सम्पूर्ण प्रिय पदार्थ वियोग काल विषे या जीवों को दुःख के ही कारण होवे हैं। तहां श्लोक—

जातस्यहि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्माद परिहार्येऽर्थे नत्वं शोचितमर्हसि ॥३४१॥ गी० अ० २ श्लो० २०॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस कारण तैं जन्म को प्राप्त हुये जीव का अवश्य करिकै मृत्यु होवै है। तथा मरण को प्राप्त हुये जीव का अवश्य करिकै जन्म होवै है। तिस कारण तें निवृत्त करने को अशक्य जन्म मरण रूप अर्थ विषे तूं शोक करने को योग नहीं है ॥३४१॥

और वास्तव तैं विचार करिकै देखिये तो तीन काल विषे पदार्थ दुःख के ही कारण हैं। काहेतैं जब पर्यंत पुत्रादिक प्रिय पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती तब पर्यंत तिनों की इच्छा करिकै जीवों को दुःख होवै है। और जभी प्रिय पुत्रादिक पदार्थों की प्राप्ति होवै है। तभी तिनों की रक्षादिकों करिकै दुःख होवै है। और जभी प्रिय पदार्थों का नाश होवै है। तभी तिनों के वियोग करिकै जीवों को दुःख की प्राप्ति होवै है। या तैं आत्मा तैं भिन्न सर्व प्रिय पदार्थ या जीवों को दुःख का ही कारण हैं। इतनैं करिकै प्रिय पदार्थों विषे दुःख की कारणता दिखाई। अब अप्रिय पदार्थों विषे दुःख की कारणता दिखावै हैं। हे देवताओ ! जैसे अग्नि का जिस जिस पदार्थ के साथ संबंध होवै है। तिस तिस पदार्थ को अग्नि दाह करै है। तैसे सिंह सर्पादिक अप्रिय पदार्थ का जिस जिस जीव के साथ संबंध होवै है। तिस तिस जीव को सिंह सर्पादिक नाश करै हैं। यह वार्त्ता सर्व लोक में जीवों को अनुभव सिद्ध है। या तैं यह सिद्ध भया माता पिता आदिक

प्रिय पदार्थ वियोग काल विषे जीवों के दुःख का कारण होवै है। और सिंह सर्पादिक अप्रिय पदार्थ संयोग काल विषे जीवों के दुःख के ही कारण होवै है। इतनैं ग्रंथ करिकै माता पिता आदिक चैतन्य पदार्थों विषे दुःख की कारणता दिखाई। अब जड पदार्थों विषे दुःख की कारणता दिखावै हैं। हे देवताओ! जैसे चैतन्य रूप प्रिय अप्रिय पदार्थ वियोग काल विषे तथा संयोग काल विषे जीवों के दुःख के कारण होवै है। तैसे सुवर्णादिक जड पदार्थ भी जिस जिस जीव को प्रिय होवै हैं। तिस तिस जीव को वियोग काल विषे ते सुवर्णादिक जड पदार्थ परम दुःख की प्राप्ति करै हैं। और जिस जीव को ते सुवर्णादिक जड पदार्थ अप्रिय होवै है। तिस तिस जीव को ते सुवर्णादिक जड पदार्थ संयोग काल विषे परम दुःख की प्राप्ति करै है।

दृष्टांत—जैसे अग्नि पतंगों को दाह करै है। तैसे वैरागहीन जीवों को प्रिय अप्रिय पदार्थ सर्वदा दुःख की प्राप्ति करै हैं।

ईश्वरउवाच—हे देवताओ! जो पुरुष राग करिकै अंध है तिन पुरुषों को यद्यपि संसार दुःख रूप करिकै प्रतीत होवै नहीं। तथापि रागद्वेष तैं रहित जो विवेकी पुरुष हैं तिनों को पुत्र धन लोक शरीर बांधव इत्यादिक संपूर्ण संसार दुःख का ही कारण प्रतीत होवै है। यद्यपि संपूर्ण अनात्म पदार्थ जीवों के दुःख का कारण है। तथापि वास्तव तैं विचार करिकै देखिये तो पदार्थों की इच्छा ही जीवों को दुःख का कारण सिद्ध होवै है। काहे तैं धनादिक पदार्थों के प्राप्ति की तथा शत्रुवों के मारने की इच्छा करिकै युक्त हुआ यह जीव धनादिक पदार्थों की प्राप्ति वास्तैं तथा शत्रुवों के मारने वास्तैं नाना प्रकार का यत्न करै हैं। परंतु धन की प्राप्ति विषे तथा शत्रुवों के मारने विषे जभी सो जीव नहीं समर्थ होवै है। तभी ता सें निवृत्त होवै है। और जिस जिस पदार्थ तैं यह जीव निवृत्त होवै है। सो सो पदार्थ या जीव को परम दुःख का कारण होवै है।

आदरेण यथा स्तौति धनवंतं धनेच्छया। तथा चेद्विश्वकरतारं को न मुच्येत बंधनात् ॥३४२॥

वराहोपनिषत् अ० ३ मं० १३॥

शंका—हे भगवन! जिस पदार्थ के प्राप्ति विषे पुरुष का सामर्थ्य नहीं है ऐसे पदार्थ के प्राप्ति की इच्छा किस वास्तैं करै है। समाधान—शरीर इंद्रियादिकों विषे अहं अभिमान रूप विपरीत ज्ञान करिकै तथा धन पुत्रादिक पदार्थों विषे मम अभिमान रूप विपरीत ज्ञान करिकै यह जीव ना प्राप्त होने योग्य पदार्थों विषे भी इच्छा करै है। और जभी तिन पदार्थों की प्राप्ति नहीं होवै है। तभी ता जीव को परम दुःख की प्राप्ति होवै है। या तैं फल तैं रहित हुई इच्छा ही जीवों के दुःख का कारण होवै है। किंवा मनुष्य लोक तैं आदि लै कै हरण्य गर्भ लोक पर्यंत जितनेक देहधारी जीव हैं। तिनों के शरीर इंद्रिय पुत्रादिक पदार्थ या जीवों के दुःख के ही कारण होवै है। इतनैं ग्रंथ करिकै अनात्म पदार्थों विषे दुःख रूपता दिखाई। अब अनात्म पदार्थों विषे सुख रूपता के अभाव को दिखावै हैं। हे देवताओ! आत्मा तैं भिन्न किसी भी अनात्म पदार्थों विषे सुख रूपता नहीं है। काहे तैं जो पदार्थ जिस जीव के सुख का कारण होवै है। सोई

ही पदार्थ कालांतर विषे तिस जीव के दुःख का कारण होवै और जो पदार्थ जिस जीव के दुःख का कारण होवै है । सोई ही पदार्थ कालांतर विषे तिस जीव के सुख का कारण होवै है । जैसे ज्वर व्याधि तैं रहित पुरुष को घृतादिक पदार्थ सुख के कारण होवै है । तेई ही घृतादिक पदार्थ कालांतर विषे ज्वर व्याधि युक्त तिसी ही पुरुष को दुःख के कारण होवै हैं । और जो घृतादिक पदार्थ ज्वर व्याधि युक्त पुरुष को दुःख के कारण होवै हैं । तेई ही घृतादिक पदार्थ कालांतर विषे ज्वर व्याधि रहित तिसी ही पुरुष को सुख के कारण होवै हैं । इस प्रकार सर्वानात्म पदार्थों विषे सुख की कारणता का व्यभिचार जानि लेना। जो अनात्म पदार्थ नियम करिकै सुख के ही जनिक होवै तो सर्वकालविषे तिनों तैं सुख की उत्पत्ति होनी चाहिये । और सर्व कालविषे तिनों तैं सुख की उत्पत्ति होवै नहीं। या तैं अनात्मपदार्थों विषे सुख की काणरता नहीं।

शंका—हे भगवन ! जो अनात्मपदार्थों विषे सुख की कारणता नहीं होवै तो सुख की प्राप्ति वास्ते संपूर्ण जीव शब्द स्पर्शादिक विषयों की इच्छा किस वास्ते करते हैं। समाधान—हे देवताओ ! शब्दादिक विषय हमारे सुख के साधन हैं। यह जो सर्व लोकों का अनुभव है। सो यथार्थ नहीं किंतु भ्रांतिरूप है। काहे तैं (आनंदोब्रह्म) ब्रह्म आनंदरूप है। या श्रुति विषे ब्रह्म को ही आनंदस्वरूप कह्या है। और मैं ब्रह्म निस हूं या तैं मैं ब्रह्म का आनंद भी निस ही है। ता निसानंद की प्राप्ति शब्दादिक विषयों तैं भ्रांति से बिना संभवै नहीं। किंवा जो सुख शब्दादिक विषयों करके जन्य होवेगा तो सो सुख मैं निस आत्मा तैं भिन्न ही होवैगा। और जो सुख मैं आत्मा तैं भिन्न होवै है। सो सुख दुःखरूप ही होवे है। जैसे आत्मा तैं भिन्न करके जान्या हुआ शत्रु का सुख भी जीवों को दुःखरूप होइके प्रतीत होवै है। तैसे जो सुख आत्मा तैं भिन्न होवेगा तो दुःखरूप ही होवेगा। और सुख को दुःखरूपता संभवै नहीं। या तैं सुख आत्मा तैं भिन्न नहीं। किंवा शब्दादिक विषय हमारे सुख के साधन हैं। यह जो लोकों का अनुभव है। ताके विषे यह कारण है। जैसे खद्योतजंतु रात्रि विषे संपूर्ण व्यापक आकाश की अभिव्यक्ति कर सके नहीं। किंतु व्यापक आकाश के किंचित् देश की अभिव्यक्ति करे है। तैसे शब्द स्पर्शादिक विषय भी संपूर्ण मैं आत्मारूप व्यापक सुख की अभिव्यक्ति करे नहीं। किंतु व्यापक सुख की किंचित मात्र अभिव्यक्ति करे है। तात्पर्य यह है। शब्द स्पर्शादिक विषयों के साथ श्रोत्रादिक इन्द्रियों का जभी संबंध होवे है। तभी मैं आनंदस्वरूप आत्मा का प्रतिबिंब ग्रहण करनेहारी अंतःकरण की वृत्ति उत्पन्न होवे है। और सो अंतःकरण की वृत्ति जितना परिणाम होवे है। उतना परिमाण ही मैं आत्मारूप सुख की अभिव्यक्ति करे है। या तैं अंतःकरण की वृत्ति विषे स्थित जो शब्द स्पर्शादिक विषयों की जन्यता है। ता जन्यता को आत्मारूप सुख विषे आरोपण करके मूढ पुरुष सुख को विषयजन्य मानै हैं। ता तैं सुख विषयजन्य है। यह जो लोकों का अनुभव है सो केवल भ्रमरूप है। तहां श्रुति—

तथा तद्वृत्ति संबंधात्प्रमाणमिति कथ्यते। अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते ॥३४३॥ तथा ज्ञातं च चैतन्यं

फलमित्यभिधीयते । सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधी ॥३४४॥ कठरुद्रोपनिषत् मं० ४०—४१ ॥

यातैं मैं आत्मा तैं भिन्न सर्व जगत को दुःखरूप जान करके वामदेवादिक विद्वान पुरुष आत्मारूप नित्य सुख की प्राप्ति वास्ते सर्व एषणाओं का परित्याग करके संन्यास आश्रम को ग्रहण करते भये हैं।

शुकोमुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तस्ताभ्यां विना मुक्ति भाजो न सन्ति । शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः सद्यो मुक्तास्ते भवंतीह लोके ॥ ३४५ ॥ वराहोपनिषत् अ० ४ मं० ३४ ॥ तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च । एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सः जीवः शिव उच्यते ॥३४६॥ योगशिखोपनिषत् मं० ११ ॥

इतने ग्रंथ करके आत्मज्ञान की प्राप्ति का साधन तथा जीवन्मुक्त के सुख का साधन जो संन्यास है ताको निरूपण किया।

अब दंभ की निंदा करे हैं—

हे देवताओ ! या लोक विषे हम ने कोईक पुरुष धवलगृह के समान देखे हैं। तात्पर्य यह है। जैसे धवलगृह दूर से रमणीक भासे है। और भीतर से जड़ता करके युक्त है। तैसे कोईक पुरुष दूर से तौ रमणीक भासते हैं। और भीतर से तमोगुण करके जडतायुक्त हैं। और या लोक विषे हमने कोईक पुरुष भारवाही वृषभ के समान देखे हैं। जैसे वृषभ अपने प्रयोजन तैं विना ही भार को उठावे है। तैसे कोईक पुरुष शास्त्र को पढ़ करके अन्य लोकों को शास्त्र के अर्थ का उपदेश करते हैं। परन्तु अपने मन विषे रंचकमात्र भी शास्त्र के अर्थ को नहीं धारण करते। या तैं व्यर्थ ही शास्त्र के भार को उठावे है।

स्वरूपानुसंधान व्यतिरिक्तान्या शास्त्राभ्यासैरुष्ट्र कुंकुमभारवद्व्यर्थो। न योगशास्त्रप्रवृत्ति र्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मंत्र तंत्र व्यापारः ॥ नारदपरिव्रा० उपदेश ५

और या लोक विषे हम ने कोईक पुरुष शुकसारका के समान देखे हैं। शुकसारका पक्षी सुंदर शब्दों को उच्चारण करे हैं। परन्तु तिन शब्दों के अर्थ को जानते नहीं। और या लोक विषे हमने कोईक पुरुष विशाल नेत्रों वाले भी अंध पुरुष के समान देखे हैं। जैसे अंध पुरुष अत्यंत समीपवर्त्ती पदार्थ को भी देखता नहीं। तैसे कोईक पुरुष अत्यंत समीप हृदयदेश विषे वर्त्तमान मैं आत्मा को भी देखते नहीं। और या लोकविषे हमने कोईक पुरुष चित्र लिखत मूर्त्ति के समान देखे हैं। जैसे चित्र लिखत मूर्ति देखने विषे बहुत सुंदर प्रतीत होती हैं। परन्तु किसी कार्य करने विषे समर्थ होवे नहीं। और हे देवताओ ! या लोक विषे हमने कोईक पुरुष कुपथ्य भोजन के समान देखे हैं। जैसे कुपथ्य भोजन प्रथम आनंद का हेतु होवै है। और परिणाम काल विषे दुःख का कारण होवै है। तैसे कोईक पुरुष सभा विषे लोकों के प्रति सत्यार्थ का उपदेश करिकै किंचितमात्र प्रसन्नता को उत्पन्न करै हैं। और एकांत देश विषे असत्यार्थ का उपदेश करिकै दुःख का कारण होवै हैं। और या लोक विषे हमनैं कोईक पुरुष व्याघ्र के समान देखे हैं। जैसे व्याघ्र मृगादिक पशुवों को हनन करै है। तैसे कोईक पुरुष मनवानी शरीर करिकै सर्वदा

जीवों की हिंसा करै है । या लोक विषे हमनैं कोईक पुरुष मदिरा पान करिकै मत्तवाले वानर के समान देखे हैं । जैसे मदिरा पान करिकै मत्तवाले हुये वानर अत्यंत चंचल होवै हैं। तैसे कोईक पुरुष अज्ञान रूपी मदिरापान करिकै शास्त्र विरुद्ध नाना प्रकार कीं चेष्टा करै हैं। और या लोक विषे हमनैं कोईक पुरुष काम रूपी शत्रु के वश हुये देखे हैं । और कोईक पुरुष हमनैं क्रोधरूपी शत्रु के वश हुये देखे हैं। और कोईक पुरुष हमनैं लोभ मोहादिक शत्रुवों के वश हुये देखे हैं। और वेदों को तथा वेदों के अर्थ को तथा वेदों के अंगों को जानने हारे जे देवता पुरुष हैं। ते भी सत् रज तम या तीन प्रकार के गुणों करिकै युक्त हैं । या तैं विषयों विषे रागवाले ही हमनैं देखे हैं । और तुम देवताओं पुरुषों के स्वप्न विषे तथा जाग्रत विषे किंचितमात्र भी विलक्षणता नहीं। तात्पर्य यह है। जाग्रत विषे जो निद्रा का विरोधीपना है । यह ही जाग्रत विषे स्वप्न तैं विलक्षणता है । सो विलक्षणता त्रिगुणाभिमानी तुम देवताओं के जाग्रत विषे संभवै नहीं। काहे तैं तुम देवताओं नैं मैं अद्वितीय आत्मा के ज्ञान करिकै आपने अज्ञान की निवृत्ति करी नहीं । और जब पर्यंत जीवों को मैं अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार नहीं होवै है। तब पर्यंत आत्माश्रय अज्ञान की निवृत्ति होवै नहीं । और त्रिगुणाभिमानी जीवों को जो ब्रह्म का ज्ञान होवै है । सो भी अज्ञान रूपी निद्रा विषे ही होवै है । ता ज्ञान करिकै तिनों के मूलाज्ञान की निवृत्ति होवै नहीं । और या लोक विषे कितनेक पुरुष व्याकरण शास्त्र को पढै हैं । तथा व्याकरण करिकै पदार्थों के ज्ञान विषे तिन पुरुषों की बुद्धि कुशल होवै है और कितनेक पुरुष मीमांसा शास्त्र को पढै हैं । ता मीमांसा शास्त्र करिकै वाक्यार्थ ज्ञान विषे तिन पुरुषों की बुद्धि कुशल होवै है। और कितने कि पुरुष न्याय शास्त्र को पढै हैं। ता न्याय शास्त्र करिकै प्रमाण ज्ञान विषे तिन पुरुषों की बुद्धि कुशल होवै । और कितनेक पुरुष धर्म शास्त्र को पढै हैं । ता धर्म शास्त्र करिकै धर्माधर्म के ज्ञान विषे तिन पुरुषों की बुद्धि कुशल होवै है। इस प्रकार अन्न शास्त्रों को भी पढ के तिसी तिसी अर्थ विषे तिनों की बुद्धि कुशल होवै है। परंतु अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादक जो सर्व विद्यावों तैं उत्कृष्ट राजा रूप जो ब्रह्म विद्या रूप वेदांत शास्त्र हैं । ता के अर्थ विषे तिन पुरुषों की बुद्धि की कुशलता देखती नहीं। और जिन पुरुषों को वेदांत शास्त्र के अर्थ का ज्ञान भी है। सो ज्ञान भी समग्र नहीं । किंतु यत्किंचित अर्थ का ज्ञान है । ता यत्किंचित अर्थ के ज्ञान तैं संशय की निवृत्ति होवै नहीं। और जिन पुरुषों को समग्र वेदांत शास्त्र के अर्थ का ज्ञान भी है। तौ भी काम क्रोधादिक प्रतिबंधों के वश तैं सो ज्ञान तिन पुरुषों के मूलाज्ञान की निवृत्ति करने विषे समर्थ नहीं होता।

दृष्टांत—जैसे अग्नि के संबंध करिकै नष्ट हुई है शक्ति जिनों की ऐसे जो भूने धान हैं। ते धान किसी फल की उत्पत्ति करै नहीं। तैसे काम क्रोधादिक प्रतिबंधों करिकै युक्त हुआ ज्ञान तिन पुरुषों के मूलाज्ञान की निवृत्ति करता नहीं। तहां श्रुति—

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः। अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र

ब्रह्म स मश्नुत इति ॥३४७॥

बृहदारण्कोप० चतुर्थ ब्राह्मण मं० ७ ॥

अर्थ—इस विद्वान पुरुष के हृदय देश विषे इस लोक के भोगों की तथा परलोक के भोगों की सर्व कामनाओं को जिस काल विषे मुच्यंते नाश करता है । तिस ही काल में यह पुरुष वारंवार मृत्यु को प्राप्त होता हुआ पुरुष अमृतो भवति देश काल वस्तु के प्रदेश सें रहित ब्रह्म को सो पुरुष प्राप्त होता है ॥३४७॥

भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाचर ॥६४८॥

अन्नपूर्णोषनिषत् अ० ४ मं० ८२ ॥

अर्थ—भोग की इच्छा को दूर सें ही परित्याग करिकै इन तीनों का समकाल में अभ्यास करो ॥३४८॥

वासनाक्षय विज्ञान मनोनाशामहामते । समकालं चिराभ्यास्ता भवंति फलदामता ॥३४९॥

अन्नपूर्णोपनि० अ० ४ मं० ८३ ॥

वासना संपरित्यागे यदि यत्नं करोषि भोः । यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ॥३५०॥

अन्नपूर्णोपनिषनित् अ० ४ मं० ७८ ॥

अर्थ—हे प्रिय राजा निदाघ यदि आप वासना के परित्याग का यत्न करैगा । तब वासना का त्याग हो सकता है । यावत मन का विलय नहीं होवैगा । तावत वासना क्षय नहीं होगी ॥३५०

न क्षीणावासना यावच्चितं तावन्न शाम्यति । यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्त शमः कुतः ॥३५१॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं ७९ ॥

अर्थ—यावत वासना क्षय होती नहीं तावत चित्त उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता और यावत तत्त्वज्ञान नहीं है तावत चित्त में शम कहा हो सकता है ॥३५१॥

यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् । यावन्न वासनानाशस्ता वत्तत्त्वागमः कुतः यावन्न तत्त्व सम्प्राप्तिर्नतावद्वासनाक्षयः ॥३५२॥

अन्नपूर्णोपनिषद् अ० ४ मं० ८० ॥

अर्थ—यावत चित्त में उपशम नहीं है तावत तत्त्व साक्षात्कार नहीं है । यावत वासना का नाश नहीं है तावत तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति कहां है । यावत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं है । तावत वासनाक्षय नहीं हो सकती हैं ॥३५२॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्र मिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यंसुसुखं कर्तु मव्ययम् ॥३५३॥ गी० अ० ९ श्लो० २ ॥

अर्थ—यह आत्मज्ञानरूप ब्रह्म विद्या सर्व विद्यावों का राजा है । तथा सर्व गुह्य पदार्थों का राजारूप है । क्योंकि अन्य विद्या किंचित किंचित् अज्ञान की नाशक है । जैसे शब्दशास्त्ररूप व्याकरण तथा प्रमाण शास्त्ररूप न्यायशास्त्र और धर्म बोधक धर्म शास्त्ररूप स्मृति आदिक विद्या यह सम्पूर्ण शब्द संस्कार ज्ञान तथा प्रमाण ज्ञान धर्म ज्ञान इत्यादिक यत्किंचित् अज्ञान की निवृत्ति करे है । और यह आत्म ज्ञानरूप ब्रह्मविद्या मूलाज्ञान की निवृत्ति द्वारा परमानन्द का प्रापक है । इससे सर्व विद्यावों का राजा है । तथा अनेक जन्मों में करे हुए पुण्यों का फलरूप है । और बहुत पुरुषों करके अज्ञात है । इस वास्तें सर्व गुप्त वस्तुवों से श्रेष्ठ

होने तैं सर्व का राजा है। और पवित्र पदार्थों तैं यह उत्तम पवित्र है। क्योंकि तीर्थ स्नान प्रायश्चित्त कर्मादिक किंचित् पाप के निवृत्तक हैं। और इन तीर्थों से निवृत्त हुआ पाप फिर उत्पन्न होवे है। और इस आत्म ज्ञानरूप ब्रह्म-विद्या से सर्व ही स्थूल सूक्ष्मावस्थापन्न। पाप-नाश होवे है। इस वास्तैं यह आत्मज्ञान उत्तम पवित्र है। और अवगम नाम ज्ञान तथा फल का है। साक्षी प्रत्यक्षरूप है। प्रमाण जिसमें और साक्षी प्रत्यक्ष सिद्ध है। अविद्या निवृत्ति रूप फल है जिसका ऐसा आत्म ज्ञानरूप राज विद्या है। तात्पर्य यह है। मैंने यह वस्तु जानी है। इससे इस वस्तु में मेरा अज्ञान नाश हुआ है। यह साक्षी रूप अनुभव सर्व से प्रसिद्ध है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान में ब्रह्मविद्या में साक्षी स्वरूप मान तथा तिसका फल अज्ञान का नाश भी साक्षी वेद्य है। यह दो वस्तु सिद्ध हुईं। इस वास्तैं राज विद्यारूप ब्रह्म ज्ञान में तथा तिस के फल में साक्षी रूप प्रमाण निर्णीत हुआ। इस प्रकार प्रत्यक्षावगम होते भी (धर्म्य) अनेक जन्म में संचित पुण्य कर्मों का फलरूप है। और गुरु उपदेश जन्य विचार सह कृत वेदान्त वाक्य करके सम्पादन करने को सुखरूप है। तात्पर्य यह है। जैसे अन्य कर्म देशकाल निमित्त की अपेक्षा से फल को उत्पन्न करे है। तैसे आत्मज्ञान के साधन आत्मज्ञान की उत्पत्ति में देशकाल व्यवधान की अपेक्षा से विना ही आत्मज्ञान को उत्पन्न करे है। इस वास्तैं ज्ञान करने को सुखरूप है। और अविनाशी मोक्ष का जनक होने तैं अव्ययरूप है ॥३५३॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप। अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३५४॥ गी० अ० ९ श्लो० ३॥

अर्थ—हे परंतप इस आत्मज्ञान रूप धर्म की श्रद्धा तैं रहित पुरुष मैं परमेश्वर को न प्राप्त होइके मृत्यु युक्त संसाररूप मार्ग विषे निरंतर भ्रमण करे हैं ॥३५४॥

अब काम क्रोधादिकों की अपेक्षा करके अहंकार विषे ज्ञान की मुख्य प्रतिबन्धकता दिखावे हैं। जैसे अपराधी चौर पुरुषों के बंधन का गृह स्तभों के आश्रित रहे हैं। तिन स्तभों विषे भी एक मध्य का स्थंभ मुख्य होवे है। और दूसरे कोण के स्थंभ गौण होवे हैं। तैसे अज्ञानी जीवों के बंधन का गृह यह संसार काम क्रोधादिक स्थंभों के आश्रित रहे है। तिन स्थंभों विषे भी यह अहंकार मध्य का मूल स्थंभ है। और काम क्रोधादिक कोणे के स्थंभ हैं। और जैसे कोण स्थंभों के नाश हुए भी जब पर्यंत मूलस्थंभ विद्यमान है। तब पर्यंत गृह का नाश होवे नहीं। तैसे काम क्रोधादिकों के निवृत्त हुए भी जब पर्यंत यह अहंकार विद्यमान होवे है। तब पर्यंत या संसार की निवृत्त होती नहीं। यातैं आत्मा के ज्ञान विषे मुख्य प्रति-बंधक अहंकार है। तहां श्लोक—

अहंकारं बलंदर्पं कामंक्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥३५५॥

गी० अ० १८ श्लोक ५३॥

अर्थ—हे अर्जुन! अहंकार को तथा बल को तथा दर्प को तथा काम को तथा क्रोध को तथा परिग्रह को परित्याग करके ममता तैं रहित हुआ तथा विक्षेपतैं रहित हुआ यह पुरुष ब्रह्म-साक्षात्कार वास्तैं समर्थ होवे है ॥३५५॥

तहां श्रुति—

द्वेपदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च । ममेति बध्यते जंतुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥३५६॥

वाराहोपनिषद् अ० २० मं० ४३ ॥

अर्थ—द्वेपद में बन्ध तथा मोक्ष है निर्ममेति ममेति ममेति बंधायमान है तथा जो जीव ममता से रहित है सो मुक्त होता है ॥३५६॥

बाह्य चिंता न कर्तव्या तथैवान्तर चिन्तिका । सर्व चिंतां समुत्सृज्य स्वस्थोभव सदाऋभो ॥३५७॥

वाराहोपनिषद् अ० २ मं० ४४ ॥

अर्थ—वराहो वाच—हे ऋभु बाह्य चिंता करने योग्य नहीं है तैसे ही अन्तर की चिंता भी नहीं करनी योग्य है । सर्व चिंताओं को परित्याग करिकै स्वस्थ मन होकर आत्म चिंतन सदा कर ॥३५७॥

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्व दर्शनम् । दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो करुणां विना ॥३५८॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ७६ ॥

अर्थ—वरांह उवाच—हे ऋभु मुनि ! इस संसार में विषय त्यागी पुरुष दुर्लभ है तथा विषयों के त्यागी से आत्म साक्षात्कार वाला तत्त्ववेत्ता पुरुष दुर्लभ है तथा तत्त्वदर्शी पुरुष से सहजा अवस्था वाला पुरुष दुर्लभ है यह सर्व सद्गुरां की कृपा से विना प्राप्ति नहीं होती हैं ॥३५८॥

अब संसार की स्थिति का निरूपण करे हैं । हे देवताओ ! जैसे या लोक प्रसिद्ध भीत विषे प्रथम रेखा मात्र देवता आदिक मूर्तियों के चित्र स्थित होवे है । और तिन रेखा रूप चित्रों विषे श्वेत पीत नील रक्तादिक वर्ण स्थित होवे हैं । और तिन श्वेतादिक वर्णों विषे देवताओं के मुख विषे दुग्ध स्थित होवे हैं । और नेत्रों विषे अंजन स्थित होवे है । और मस्तक ऊपर मुकट स्थित होवे है । और हस्तोंविषे धनुष बाणादिक स्थित होवे है । या प्रकार चित्रादिक पदार्थ एक दूसरे के आश्रित हुए सर्व लोकों को प्रतीत होवे हैं । परन्तु वास्तव तैं विचार करिकै देखिये तो ते संपूर्ण चित्रादिक पदार्थ भीत के आश्रित रहे हैं । तैसे पूर्वादिक दिशा तथा सूर्यादिक देवता तथा नेत्रादिक इंद्रिय तथा रूपादिक विषय इत्यादिक संपूर्ण जगत साक्षात अथवा परंपरा करिकै एक मैं परमात्मा रूप हृदय विषे रहे हैं । तहां वृत्तियों सहित अंतःकरण साक्षात में हृदयविषे रहे हैं । और दूसरा जगत अंतःकरण द्वारा परंपरा सम्बन्ध करिकें मैं हृदय विषे रहे । और जैसे चित्रों का आधार जो भीत है । ताको जभी मृतका करिकै लेप किया जावे तभी ते चित्र लयभाव को प्राप्त होवे हैं । तैसे ब्रह्म ज्ञान रूपी मृत्तिका के लेप करिकै यह जगत रूपी चित्र लयभाव को प्राप्त होवे हैं । और जैसे नीचे ऊंचे पणे तैं रहित जो समान भीत है । ताके विषे कोई चित्र ऊंचा प्रतीत होवे है । और कोई चित्र नीचा प्रतीत होवे है । परन्तु सो ऊंचा नीचा पणा वास्तव तैं नहीं । किन्तु कल्पित हैं । तैसे सर्वत्र समान जो मैं परमात्मा रूप हृदय हूं । ताके विषे इन्द्रादिक देवता उत्कृष्ट प्रतीत होवे है । और वृक्षादिक स्थावर निकृष्ट प्रतीत होवे हैं । परन्तु सो उत्कृष्टता तथा निकृष्टता मैं परमात्मा रूप हृदय विषे वास्तव तैं नहीं है । किंतु कल्पित है । हे देवताओ ! जैसे चित्रकार

पुरुष नील पीतादिक नाना प्रकार के वर्णों करिकै भीत विषे चित्रों को रचे है। तैसे नाना प्रकार की वासना करिकै युक्त बुद्धिरूपी चित्रकार अहंमम अभिमानरूपी वर्णों करिकै मैं परमात्मा रूप हृदय विषे जगत रूपी चित्रों को रचे है। और जैसे चित्र के उपयोगी जे नील पीतादिक रंग हैं तिनों को धारने हारी जो काष्ट करिकै रचित छाया है। सो छाया भीत के साथ सम्बन्ध मात्र करिकै ता भीत विषे नाना प्रकार के चित्रों को रचे है। तैसे भीत भीता छाया की समीपता करिकै नाना प्रकार के चित्रों को रचे है। काहे तैं। जो भीत नहीं होवे तो चित्रों की उत्पत्ति होवे नहीं। या तैं भीत तथा छाया दोनों चित्रों के प्रति कारण हैं। तैसे माया विशिष्ट मैं चैतन्य रूप भीत विषे नाना प्रकार की वासना युक्त बुद्धि रूपी छाया जगत रूपी चित्रों को रचे हैं। या तैं ता माया विशिष्ट मैं परमात्मा तथा बुद्धि यह दोनों जगत के कारण हैं। और जैसे भीत विषे स्थित चित्रों के ऊपर जभी बारंबार मृत्तिका कालेपन करीता है तभी ते चित्र लेशमात्र करिकै ता भीत विषे स्थित हुए भी बाह्य स्पष्ट रूप करिकै प्रतीत होवे नहीं। तैसे प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर्यन्त मैं परमात्मा रूप हृदय विषे अभास मात्र करिकै रह्या हुआ भी जगत रूपी चित्र बारंबार ब्रह्माकार वृत्ति रूपी मृत्तिका के लेप करिकै समाधिकाल विषे प्रतीत होता नहीं। तात्पर्य यह है। पुनः पुनः मृत्तिका के लेप तैं चित्रों की निःशेष तैं निवृत्ति होवे नहीं। किंतु पुनः पुनः मृत्तिका के लेप तैं चित्रों का अदर्शन रूप लय होवे है। भीत के निवृत्त हुए ही चित्रों की निःशेष तैं निवृत्ति होवे है। तैसे ब्रह्म ज्ञान करिकै अज्ञान के निवृत्त हुए भी जब पर्यन्त प्रारब्ध कर्म निवृत्त नहीं होवे है। तब पर्यन्त निःशेष तैं प्रपंच की निवृत्ति होवे नहीं। किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषों को विचार काल विषे प्रपंच का आदर्शन होवे है। प्रारब्ध कर्म निवृत्त हुए तैं ही निःशेष तैं प्रपंच की निवृत्ति होवे है। इस वास्तै ही जीवन्मुक्त पुरुषों को आभासमात्र करिकै जगत का भान होवे है। और जैसे मायावी इंद्र जालक पुरुष रूप कारण करिकै आकाश विषे नाना प्रकार की सेना प्रतीत होवे है। तैसे बुद्धि रूप कारण मैं परमात्मा हृदय विषय नाना प्रकार का प्रपंच उत्पन्न करे है। और जैसे मायावी पुरुषरूप कारण के नाश हुये अथवा सुषुप्ति अवस्था विषे प्राप्त हुये अथवा दूसरे किसी कार्य विषे असक्त होने तैं आकाश विषे स्थित नाना प्रकार का जगत प्रतीत होवे नहीं। तैसे किसी रोगादिकों करके बुद्धिरूप कारण के नाश हुये अथवा सुषुप्ति के प्राप्त हुये अथवा आत्माविषे एकाग्र हुये तैं मैं परमात्मारूप हृदयविषे स्थित प्रपंचरूपी चित्र प्रतीत होवे नहीं। और जैसे मायावी पुरुष ने अकाश विषे उत्पन्न करे जे नाना प्रकार के पदार्थ हैं ते पदार्थ मायावी पुरुष तैं भिन्न नहीं। किंतु मायावी पुरुष का स्वरूप ही हैं। तैसे मैं परमात्मारूप हृदय विषे बुद्धि ने कल्पना किया जो जगत है। सो जगत बुद्धि तैं भिन्न नहीं। किंतु बुद्धिस्वरूप ही हैं। या अभिप्राय करके वेदांत शास्त्र विषे दृष्टि सृष्टि वाद का कथन किया है। तहां श्लोक—

असतो मायया जन्मतत्त्वतो नैवयुज्यते। बंध्यापुत्रो न तत्त्वेनमायादावऽपिजायते ॥३५९॥

असतवादी के मत विषे असत पदार्थों का

माया से वा तत्त्व से किसी भी प्रकार से जन्म संभवै नहीं। ताको अदृष्टरूप होने तैं या तैं वंध्या का पुत्र माया से वा तत्त्व से भी जन्म को प्राप्त नहीं होता है। या तैं असतवाद अघटत है ॥३५९॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पंदते मायया मनः। तथा जाग्रत द्वयाभासं स्पंदते मायया मनः ॥३६०॥

मांडूक्य उ० गौडपादकारिका तृतीय प्र० श्लोक २८-२९

अर्थ—तभी सत वस्तु का माया से ही जन्म कैसे होवे है। ऐसी शंका के हुये कहे हैं। जैसे रज्जु विषे कल्पित सर्प रज्जुरूप से देख्या हुआ असत है। तैसे मन भी परमार्थ ज्ञानस्वरूप से देख्या हुआ असत है। जैसे स्वप्न में मन द्वैतरूप होइके भासता है तथा जैसे सर्परूप से रज्जु द्वैतरूप होइके भासती है। तैसे जाग्रत में मन माया से ग्राह्य ग्राहकरूप से द्वैतभाव को प्राप्त हुआ भासमान हुआ प्रतीत होवे है ॥३६०॥

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः। अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥३६१॥

अर्थ—रज्जु में सर्प की न्याईं स्वप्न में प्रपंच की न्याईं अद्वितीय आत्माविषे यह जाग्रत प्रपंच प्रतीत होवे है। इसमें संशय नहीं है ॥३६१

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित स चराचरम्। मनसो ह्यमनी भावे द्वैते नैवोपलभ्यते ॥३६२॥

कारिका तृतीय प्र० श्लोक ३०—३१ ॥

अर्थ—यत्किंचित यह चराचर द्वैत दृश्य प्रतीत होता है। सो सर्व मनरूप ही है। जभी यह मन अमनीभाव को प्राप्त होवे है। तभी यह द्वैतदृश्य का अभाव होवे है अर्थात् सुषुप्ति विषे लय हुये मन के तथा समाधिविषे निरोध हुये मन के द्वैत नहीं प्रतीत होवे है ॥३६२॥

और जैसे अकाशविषे स्थित हुये अंधकार की अंधकार करके ही प्रतीती होवे है। सूर्यादिक प्रकाश करके अंधकार प्रतीत होवे नहीं। तैसे मैं परमात्मारूप हृदयविषे स्थित हुई बुद्धि बुद्धि करके ही प्रतीत होवे है। और जैसे सूर्यादिक प्रकाश करके अंधकार के निवृत्त हुये तैं विशुद्ध अकाशविषे दोष रहित नेत्र वाले पुरुष अंधकार को देखते नहीं। तैसे ज्ञान करके अज्ञान के निवृत्त हुये तैं विशुद्ध आत्माविषे कारण सहित बुद्धि को बुद्धिमान् पुरुष देखते नहीं। या तैं आत्मा तैं भिन्न बुद्धि आदिक जड पदार्थ प्रमाण करके सिद्ध नहीं है! किंतु भ्रांति करके ही सिद्ध हैं।

शंका—हे भगवन्! बुद्धि को जो प्रमाण जन्य यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं अंगीकार करोगे तो जो प्रमाण जन्य यथार्थ ज्ञान का अविषय होवे है। सो शशशृंग की न्याईं असत ही होवे है। या तैं बुद्धि भी असत ही होवेगी। और जो पदार्थ असत्य होवे हैं। सो पदार्थ किसी भी कार्य करने विषे समर्थ होवे नहीं। या तैं असत्य बुद्धि करके किसी कार्य की सिद्धि नहीं होनी चाहिये। समाधान—जैसे शशशृंग तथा वंध्यापुत्र यद्यपि असत्य है तथापि सो शशशृंग तथा वंध्यापुत्र या प्रकार के शब्दों तैं स्वविषयक विकल्परूप ज्ञान को उत्पन्न करे है। कार्य कारण सहित बुद्धि यद्यपि असत्य है। तथापि सो बुद्धि नाना प्रकार के भ्रांतिरूप ज्ञानों को उत्पन्न करे है। या तैं शशशृंग की

न्याई असत्य बुद्धि विषे भी नाना प्रकार के व्यवहार की कारणता संभवे है ।

शंका—बुद्धि के असत्य हुये भी बुद्धि का कारण जो अज्ञान है सो असत्य क्यों नहीं होवे। जो अज्ञान को असत्य मानोगे तो असत्य वस्तु किसी को अनर्थ की प्राप्ति करे नहीं । या तैं असत्य अज्ञान विषे जन्म मरणादिकरूप अनर्थ की कारणता नहीं होनी चाहिये। समाधान—जैसे बुद्धि असत्य है तैसै बुद्धि का कारण अज्ञान भी असत्य ही है। और असत्य वस्तु विषे भी अनर्थ की कारणता लोक विषे देखीती है। जैसे मक्षिका के नहीं भक्षण हुये भी जिस पुरुष को या प्रकार की भ्रांति होवे है । कि मैंने मक्षिका का भक्षण किया है। तिस पुरुष को वमन होवे है। अथवा सर्प के आविद्यमान हुए भी जिस पुरुष को ऐसी भ्रांति होवे है। हमारे को सर्प नैं दंश किया है। और ता सर्प की विष हमारे को चढ़ती है। सो पुरुष प्राणों का परित्याग करे है। जैसे असत्य मक्षिका का भक्षण वमनरूप अनर्थ का कारण है। तैसे अत्यन्त असत्य अज्ञान भी भ्रांत पुरुषों के जन्म-मरणादिक रूप अनर्थ का कारण संभवै है। और जैसे एक ही स्वप्न द्रष्टा पुरुष असत्य अज्ञान करके हस्ती अश्वादिक नाना प्रकार के रूपों को धारण करे है। तैसे एक ही मैं परमात्मा देव असत्य अज्ञान के वश तैं प्रपञ्च रूप को धारण करो हूं। तहां श्रुति—

एक निष्टतयान्तस्थ संविन्मात्र परोभव। घटाकाश मठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्टितौ ॥३६३॥

वाराहोपनिषद् अ० २ मं० ५० ॥

अर्थ—हे ऋभुमुनि आपने अन्तर स्थित जो संवित सर्व से परे चिन्मात्र एक अधिष्ठान रूप से स्थित है तिस में नेष्ठावाला हो। जैसे महाकाश में घटाकाश महाकाश स्थित हैं ॥३६३॥

एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ । या च प्रागात्मनो माया तथान्ते च तिरस्कृता ॥३६४॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ५१ ॥

अर्थ—इसी प्रकार मैं व्यापक चिदाकाश में माया करके जीव ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं। हे बुद्धिमान ऋभुमुनि माया को तथा जीव ईश्वर के भेद को विद्वान तिरस्कार करके अर्थात् त्याग के मैं चिन्मात्रा का चिंतन करे ॥३६४॥

ब्रह्मवादि भिरुद्गीता सामायेति विवेकतः । माया तत्कार्य विलयनेश्वर त्वं न जीवता ॥३६५॥

वाराहोपनिषद् अ० २ मं० ५२ ॥

अर्थ—हे ऋभुमुनि! ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी इस प्रकार का कथन करते हैं। विवेक द्वारा सो माया को तथा माया के कार्य प्रपञ्च को परित्याग करने से न ईश्वर पणा है तथा न जीव पणा है केवल चिन्मय वस्तु ही है ॥३६५॥

श्रुत्युत्पन्नात्म विज्ञान प्रदीपो बाध्यते कथम् । अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ ॥३६६॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ४९ ॥

अर्थ—हे ऋभुमुनि ! श्रुति के अनुसार आत्मज्ञान रूपी दीपक उत्पन्न हुआ है। कैसे बाध्य हो सकता है। किंतु नहीं बाध होवेगा। यावत अनात्मा वस्तु है तिस अनात्मा वस्तु को परित्याग करके प्रारब्ध समाप्ति पर्यंत निर्विकार

रूप से अर्थात अचल बुद्धि से जगत में स्थित हो ॥३६६॥

मच्चिंतनं मत्कथन मन्योन्यं मत्प्र-भाषणम् । मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते ॥३६७॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ४६ ॥

अर्थ—वराह भगवान आज्ञा देतैं हैं। हे ऋभुमुनि जी। मैं चिदाकाश का ही चिंतन करो तथा मैं चिन्मात्र का ही परस्पर कथन करो तथा मैं चैतन्य व्यापक का उपदेश करो। तथा हे महामते मुनि जो मेरा एक सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित स्वरूप को प्राप्त हो गया है वोह पुरुष काल के वश नहीं होवेगा ॥३६७॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्र मिदं चिन्मयमेव च। चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥३६८॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ४७॥

अर्थ—हे ऋभुमुनि! इस संसार में सब चिन्मात्र ही यह सर्व है। तथा चिन्मात्र ही तूं हैं तथा चिन्मात्र ही मैं हूं तथा यह सर्व लोक भी चिन्मात्र हैं ऐसी भावना करो ॥३६८॥

ततः शुद्धश्चिदेवाहं व्योमवन्निरूपा-धिकः । जीवेश्वरादिरूपेण चेतना चेतनात्मकम् ॥३६९॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ५३ ॥

अर्थ—मैं जीव ईश्वर अदिक रूप करके तथा चेतन अचेतनात्मक रूप करके स्थित हूं। मैं शुद्धचैतन्य ही अकाश की न्याईं निरूपाधिक ही इस नाम रूपात्मक प्रपञ्च को अपने अस्ति भाति प्रियरूप से व्याप्त करके स्थित हूं ॥३६९॥

हे देवताओ! विद्वान पुरुषों की दृष्टि करके यद्यपि अज्ञान तीन काल विषे असत्य है। तथापि तुमारे जैसे जे अज्ञानी पुरुष हैं तिनों को यह अज्ञान वज्र के पर्वत के समान दुर्भेद्य है। इस वासतैं तुमारे सरीखे अविवेकी पुरुष अत्यन्त समीप हृदय देश विषे स्थित मैं आत्मा को भी नहीं जाणने।

दृष्टांत—जैसे नेत्रो तैं रहित अन्ध पुरुष हस्त करके स्पर्शकरी हुई निधिको भी जाणता नहीं। यातैं सम्पूर्ण प्रपञ्च रूप चित्रका आश्रय मैं परमात्मरूप हृदय हूं। तहां श्रुति—

उपसमीपे यौ वासो जीवात्म परमा-त्मनोः । उपवासः स विज्ञेयो नतु-कायस्य शोषणम् ॥३७०॥

अर्थ—जो जीवात्मा तथा परमात्मा उप-समीप हृदय देश विषे निवास कर रहे हैं। समीप निवास करने वाले को सो नहीं जाणतैं हैं तो इस कायां के सुकाने से क्या फल है अर्थात् निष्फल है ॥३७०॥

कायशोषणमात्रेण का तत्र ह्यवि-वेकीनाम् । वल्मीक ताडना देव मृतः किं नुमहोरगः ॥३७१॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ३९ ४०॥

अर्थ—शरीर के सुकाने मात्र करके अवि-वेकी पुरुषों को तिस में क्या प्राप्त होवेगा अर्थात् कुच्छ भी लाभ नहीं होवेगा। जैसे वल्मीक के ताड़न करने से क्या महान सर्प मृत्यु को प्राप्त होवेगा किंतु नहीं मृत्यु को प्राप्त होवेगा ॥३७१॥

यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम् । तस्मात्कालात्समा-

रभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ ॥३७२॥

वराहोपनिषद् अ० ६ मं० ४२ ॥

अर्थ—जिसकाल विषे आपने आत्मा को यह विद्वान पुरुष केवल साक्षात्कार करता है। तिसी ही काल से लैके सो विद्वान जीवन्मुक्त होता है।

अब आत्मज्ञान तैं विना जीवों की महान हानी की प्राप्ति का निरूपण करैं हैं। हे देवताओ! देवयान पितृयान तृतीय स्थान यह तीनों मार्गों का परित्याग करिकै जब पर्यंत मृत्यु सन्मुख नहीं भया तब पर्यंत यह मुमुक्षु जन शीघ्र ही आत्म साक्षात्कार रूपी चतुर्थ मार्ग विषे प्राप्त होवै। और ता ज्ञान रूप मार्ग विषे प्राप्त होइ कै यह अधिकारी पुरुष जीवित अवस्था विषे ब्रह्म भाव की प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होवै। तथा आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति वास्ते यह अधिकारी जन वेदांत शास्त्र के श्रवण मनन निदिध्यासन को यत्न करिकै संपादन करै। जिस आत्म साक्षात्कार करिकै यह अधिकारी सर्वात्म भाव को प्राप्त होवै है। हे देवताओ! या ब्राह्मण शरीर विषे तथा क्षत्रिय शरीर विषे तथा वैश्य शरीर विषे जो कदाचित् यह अधिकारी पुरुषों को आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति नहीं होवैगी तो इन अधिकारी जीवों की महान हानि होवैगी। या तैं विद्युतकी न्यांई चंचल तथा अत्यंत दुर्लभ जो यह अधिकारी मनुष्य शरीर है तिस को प्राप्त होई कै यह अधिकारी जीव ऐसा कोई उपाय करै। जिस उपाय करिकै इन अधिकारी जीवों को पुनः जन्म मरणादिक दुःखों की प्राप्ति होवै नहीं। सो ऐसा उपाय आत्म ज्ञान तैं विना दूसरा कोई है नहीं या तैं जन्म मरणादिक दुःखों की निवृत्ति वास्तै आत्मज्ञान को ही यह अधिकारी पुरुष संपादन करै। तहां श्रुति—

एको हंस: सोभुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः। तमेव विदित्वाति मृत्यु मेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥३७३॥

श्वेता श्वे० उ० अ ६ मं० १५ ॥

अर्थ—इस जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्था रूप भुवन के मध्य में एक अद्वितीय हंस है।

एकमवस्थां हत्वा अवस्थांतरं गच्छतीति हंसः।

एक जाग्रतादिक अवस्था को हनन करिकै दूसरी स्वप्नादिक अवस्था को जो वस्तु प्राप्त होवै सो हंस है। और यह जीवात्मा चेतन जाग्रत अवस्था अथवा स्थूल प्रपंचावस्था को हनन करिकै स्वप्नावस्था का विराट अवस्था का बीज रूप हिरण्य गर्भावस्था को प्राप्त होता है। इसी प्रकार हिरण्य गर्भ स्वप्न रूप सूक्ष्मावस्था को हनन करिकैं कारण अवस्था को प्राप्त होता है। फिर गुरु उपदेश सें (अहं ब्रह्म परिपूर्णात्मास्मीति) इस बोध को प्राप्त होइ के सुषुप्ति अवस्था को और तिस के कारण अज्ञान को तथा अज्ञान जन्य द्वैत प्रपंच भ्रम को नाश करिकै परिपूर्ण ब्रह्म भाव को प्राप्त होता हैं। इस वास्ते हंस नाम सें श्रुति कहती है। सोई हंस (सलिले) प्रकृति तथा तिस के कार्य रूप वर्ग में (संनिविष्टः) स्थित हुआ अग्निवत होने तैं अग्नि है। जैसे काष्ठ में वर्तमान अग्नि काष्ठों करिकै तिरस्कृत हुई मथन रूप उपाय सें निकाली हुई उन काष्ठों को दग्ध करिकै शांत होती है। तैसे प्रकृति तथा तिस के कार्य प्रपंच में वर्तमान तिन सें तिरस्कृत की न्यांई हुआ

जब गुरु शिष्य रूप दो लकड़ी सें मथन करने सें प्रगट होता है। तब सर्व कारण कार्य वर्ग को दग्ध करिकै स्वरूपावस्था रूप मोक्ष को प्राप्त होता है। इस वास्तैं चिन्मात्र वस्तु को अग्नि शब्द करिकै बोधन किया है। तिस चिन्मात्र वस्तु को जान करिकै (मृत्यु) जन्म मरण प्रवाह को (अत्येति) तर जाता है। (अयनाय) मोक्ष के वास्तैं (अन्यः पंथा न विद्यते) अन्य मार्ग नहीं है। तात्पर्य यह है कि पूर्व उक्त एक तत्त्व के ज्ञान सें विना दूसरा कोई मोक्ष का रस्ता नहीं ॥३७३॥

वेदाहमेतं पुरुषं महांतमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथाविद्यतेऽयनाय ॥३७४॥ श्वेता श्व० उ० अ० ३ मं० ८॥

अब मनुष्य शरीर की दुर्लभता को निरूपण करे हैं। हे देवताओ! जैसे ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न काल विषे सूर्य करिकै तपायमान जो रेती है। ता तप्त रेती विषे किसी पुरुष के हस्तों तैं पतन भया जो घृत है ता घृत को बुद्धिमान पुरुष पुनः प्राप्त करिसकै नहीं। तैसे या आधिकारी मनुष्य शरीर के मृत्यु हुये तैं अनंतर इस जीव को पुनः तिसी अधिकारी मनुष्य शरीर की प्राप्ति होनी असंत दुर्लभ है। और या मनुष्य शरीर को छोड के दूसरे जितनेक ऊंच नीच शरीर हैं ते शरीर कोई दुर्लभ है नहीं। किंतु सर्वयोनियों विषे ते शरीर सुलभ हैं। एक मनुष्य शरीर ही दुर्लभ है। तिन मनुष्य शरीरों विषे भी या भारत खंड विषे मनुष्य शरीर की प्राप्ति होनी असंत दुर्लभ है। और तिस भारत खंड विषे भी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय तथा वैश्य शरीर की प्राप्ति होनी असंत दुर्लभ है। या तैं भारत खंड विषे अधिकारी मनुष्य शरीर की प्राप्ति रूप लाभ तैं परे दूसरा लाभ कोई नहीं है। जिन स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थों के मोह करिकै यह अधिकारी जीव या मनुष्य शरीर को व्यर्थ गंवावतैं हैं। सो स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थ कोई दुर्लभ नहीं हैं। किंतु स्वर्ग विषे तथा नरक विषे तथा चौरासीलक्ष शरीरों विषे जहां जहां यह जीव जावैगा। तिस तिस शरीर के समान जाति वाले स्त्री पुत्रादिक पदार्थ इन जीवों को पुण्य पाप कर्मों के वश तैं विना ही यत्न तैं प्राप्त होवै है। या तैं ते स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थ दुर्लभ नहीं और यह मनुष्य शरीर तो एक बार प्राप्त हुआ पुनः प्राप्त होना कठिन है। या तैं यह अधिकारी मनुष्य शरीर ही सर्व पदार्थों तैं दुर्लभ है। अब स्वर्गादिक लोकों विषे ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति का संशय निरूपण करे है। हे देवताओ! या भारत खण्ड विषे अधिकारी मनुष्य शरीर को प्राप्त होइकै जो पुरुष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का साधन नहीं करता किन्तु स्वर्गादिक लोकों विषे ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा करता है। तिस पुरुष को विद्वान महात्मा मूढ़ बालक कहे हैं। काहे तैं या अनादि संसार विषे या जीव ने पूर्व अनेक जन्मों विषे जो जो पुण्य पाप रूप अनेक कर्म करे हैं। ते संपूर्ण पुण्य पाप रूप कर्म सूक्ष्म रूप करिकै या जीवों के अन्तःकरण विषे रहे हैं। तिन कर्मों विषे कौन कर्म मरण काल विषे या जीवों को भावी फल के देने वास्ते सन्मुख होवेगा यह मैं सर्वज्ञ ईश्वर तैं विना दूसरा कोई जीव जान सकता नहीं। किन्तु मैं सर्वज्ञ ईश्वर ही तिन कर्मों की गति को जानु हूं। या तैं स्वर्गादिक लोकों विषे ब्रह्मज्ञान की

प्राप्ति की इच्छावान जो पुरुष है। तिस का जो कदाचित् मरण काल विषे पाप कर्म ही नरकादिक फल देने वास्ते सन्मुख होवेगा। तो सो मूढ़बुद्धि पुरुष तिस काल विषे कौन उपाय करेगा। अब याही अर्थ को स्पष्ट करिकै जूवा के खेलने हारे जुवारी पुरुषों के दृष्टांत—करिकै कथन करे हैं। हे देवताओ! जैसे या लोक विषे जूआ खेलने हारे जुवारी पुरुषों विषे कोई एक जुवारी पुरुष पूर्वले किसी पुण्य कर्म के प्रभाव तैं ता जूआ विषे किसी महान पदार्थ को प्राप्त होवे है। और ता जुवारी पुरुष का सो महान पदार्थ तिसी ही जूआ विषे पुनः हारा जावे। तिस तैं अनन्तर सो जुवारी पुरुष बारंबार जूआ खेलता हुआ भी ता महान पदार्थ को पुनः प्राप्त होवे नहीं। तैसे यह जीवात्मा रूप जुवारी पुरुष विषय रूप जुवारी पुरुषों के साथ संसार रूपी जूआ खेले है। ता संसार रूप जूआ खेलते हुए या जीवात्मा रूप जुवारी पुरुष को पूर्वले किसी पुण्य कर्म के प्रभाव तैं यह अधिकारी मनुष्य शरीर रूप महान पदार्थ प्राप्त भया है। ता मनुष्य शरीर रूप महान पदार्थ को यह जीवात्मा रूप जुवारी जभी संसार रूप जूवा विषे ही नष्ट कर देवेगा। अर्थात् हार देवेगा तभी सो मनुष्य शरीर रूप महान पदार्थ या जीवात्मा रूप जुवारी पुरुष को पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है। हे देवताओ! जैसे या लोक विषे जो जुवारी पुरुष जूआ विषे पराजय को प्राप्त होवे है। सो जुवारी पुरुष सर्व लोक प्रसिद्ध दुःख का तथा गुह्य दुःख का अनुभव करे है। तैसे या भारत खण्ड विषे विषय रूप जुवारी पुरुषों तैं पराजय को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा रूप जुवारी या मनुष्य शरीर का परित्याग करिकै पाताललोक विषे तथा ब्रह्म लोक विषे तथा भूमी लोक विषे तथा नरक विषे नाना प्रकार के शरीरों को प्राप्त होवे है। तभी सो जीवात्मा रूप जुवारी तिन पातालादिक लोकों विषे विषय जन्य पराधीनता सुख के लेश करिकै आवृत्त दुःख को ही भोगे है। और नरकादिकों विषे तो प्रसिद्ध दुःख को ही भोगे है। हे देवताओ! या लोक विषे जूआ खेलने वाले जुवारी पुरुषों का यह स्वभाव प्रसिद्ध है। ते जुवारी पुरुष जिस मूढ़ पुरुष को जूआ विषे एक वार जीते हैं। सो मूढ़ पुरुष जहां जहां जावे है। तहां तहां ते जुवारी पुरुष जायके ताके जीतने का उद्यम करे है। जब पर्यन्त ता मूढ़ पुरुष के पास किंचित मात्र भी धन रहे है। तब पर्यन्त ते जुवारी पुरुष ताका पीछा छोड़े नहीं। जभी ता पुरुष के पास एक कौपीन मात्र रहे है। तभी ते जुवारी पुरुष ता मूढ़ पुरुष का पीछा छोड़े हैं। तैसे विषय रूप जुवारी पुरुष भारत खण्ड विषे जिस मूढ़ जीव का मनुष्य शरीर रूप धन जीत लेवे हैं। सो मूढ़ जीव या स्थूल शरीर का परित्याग करिकै जिस २ लोक विषे जावे है। तिस तिस लोक विषे यह विषय रूप जुवारी ता मूढ़ जीव का पीछा छोड़ते नहीं। किंतु सर्व पुण्य धन को जीत करिकै जभी ता मूढ़ जीव के पास पाप रूप कौपीन मात्र रहे है। तभी ते विषय रूप जुवारी ता मूढ़ जीव का पीछा छोड़े हैं। हे देवताओ! या भारत खण्ड विषे अधिकारी मनुष्य शरीर को प्राप्त होइकै जो पुरुष मैं ब्रह्म रूप हूं या प्रकार के अभेद ज्ञान को नहीं प्राप्त होवे है। तिन अधिकारी अज्ञानी पुरुषों की या मनुष्य शरीर के नाश तैं अनन्तर या प्रकार

की महान हानी होवे है । सो महान हानी जैसे इन अधिकारी जीवों को नहीं प्राप्त होवे है । ऐसा कोई उपाय यह अधिकारी करे । सो ऐसा उपाय ब्रह्म ज्ञान तैं विना दूसरा कोई है नहीं । या तैं या भारत खण्ड विषे ही यह अधिकारी जीव ब्रह्म ज्ञान को संपादन करे । या ब्रह्म ज्ञान करिकै सो महान हानी इन अधिकारी जीवों को पुनः प्राप्त होवे नहीं ॥ तहां श्रुति—

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्य पापं विनाशयेत् । अहं ब्रह्मास्मि मंत्रो य मन्यमन्त्र विनाशयेत् ॥३७५॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६० ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह मन्त्र दृश्यमान सर्व पापों को नाश करे है । तथा अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है भुतादिक अन्य मन्त्रों का नाश करे है ॥३७५॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देह दोषं विनाशयेत् । अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्म पापं विनाशयेत् ॥३७६॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६१ ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सो सर्व देह के दोषों को नाश करता है । तथा अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है । सो सर्व जन्मांतरों के पापों को नाश करता है ॥३७६॥

अहं ब्रह्मास्मि मंत्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत् । अहं ब्रह्मास्मि मंत्रोऽयं द्वेत दुःखं विनाशयेत् ॥३७७॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६२ ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्यु की पाश को नाश करता है । अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है द्वेत दुःखों को नाश करता है ॥३७७

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेदबुद्धिं विनाशयेत् । अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चिंता दुःखं विनाशयेत् ॥३७८॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६३ ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सो भेद बुद्धि को नाश करता है । अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है चिंतारूपी दुःख का नाश करता है ॥३७८॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धि व्याधिं विनाशयेत् । अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तबंधं विनाशयेत् ॥३७९॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६४ ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है बुद्धि की व्याधि को नाश करना है । अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सर्व चित्त के बन्धनों को नाश करता है ॥३७९॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्व व्याधिं विनाशयेत् । अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्व शोकं विनाशयेत् ॥३८०॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६५ ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सर्व व्याधि को नाश करता है । अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सर्व शोक को नाश करता है ३८०॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादि-न्नाशयेत्क्षणात् । अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं क्रोधशक्तिं विनाशयेत् ॥३८१॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६६ ॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है । एक क्षण में कामादि को नाश करता है । अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है क्रोध शक्ति को नाश

करता है ॥३८१॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत्। अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं संकल्पादीन्विनाशयेत् ॥३८२॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६७॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है चित्त की वृत्तियों का नाश करता है। अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है मन के संकल्पादिकों का नाश करता है ॥३८२॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटि दोषं विनाशयेत्। अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतंत्रं विनाशयेत् ॥३८३॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६८॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है कोटि दोष विनाश करता है। अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सर्व तन्त्र का नाश करता है ॥३८३॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत्। अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्म लोकजयप्रदः ॥३८४॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ६९॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है आत्माश्रय अज्ञान का नाश करता है। अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सो आत्म लोक जय प्रदा है ॥३८४॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्मासुरमर्दनः। अहं ब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्माख्य गिरी न हरेत् ॥३८५॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ८०॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है अनात्मा असुरों को मर्दन करने वाला है। अहं ब्रह्मास्मि यह जो वज्र है अनात्मारूप पर्वतों को हरने वाला है ॥३८५॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्माख्या सुरान्हरेत्। अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वास्तान्मोक्ष यिष्यति ॥३८६॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ७१॥

अर्थ—अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है अनात्मारूपी असुरों को हरने वाला है। अहं ब्रह्मास्मि यह जो मन्त्र है सर्व को मोक्ष देने वाला है ३८६

सर्व मन्त्रान्समुत्सृज्य एतं मंत्रं समभ्यसेत्। सद्योमोक्षमवाप्नोति नास्ति सन्देहमण्वपि ॥३८७॥

तेजोविंदूप० अ० ३ मं० ७२॥

अर्थ—और सर्व मन्त्रों को परित्याग करके इन मन्त्रों का अभ्यास करो। सद्यो मोक्ष को प्राप्त होता है इसमें अनुमात्र भी सन्देह नहीं है ३८७

शंका—हे भगवन! ब्रह्मविद्या की प्राप्ति करके अधिकारी पुरुषों को विषय रूपी जुवारियों तें भयकी निवृत्ति किस प्रकार होवे है। समाधान—जैसे या लोक विषे जूवा खेलनेहारे जुवारी पुरुष कपटके पाश को करके अन्य किसी मूढ़ पुरुष को तभी पराजय करे हैं। जभी ता जूवा विषे यथार्थ वक्ता साक्षी पुरुष नहीं होवे है। और जभी यथार्थ वक्ता कोई साक्षी पुरुष विद्यमान होवे है। तभी ते जुवारी पुरुष कपटके पाश को करके अन्य किसी पुरुष को पराजय करे नहीं। उलटा ते कपटी जुवारी ही पराजय को प्राप्त होवे हैं। तैसे यह अधिकारी जीवों ने पूर्व अनेक जन्मों विषे विषयरूप जुवारी पुरुषों के साथ जो जूवा खेला है। सो वेदांतशास्त्ररूप साक्षी पुरुष तैं विना ही खेला है।

इस वासतैं तिन विषय रूप जुवारी पुरुषों नैं कपटके पाशकों करके इन अधिकारी जीवों को पराजय किया है। और अबी इसकाल विषे यह अधिकारी जीवों नैं वेदांत शास्त्ररूप साक्षी को स्थापन करके तिन विषयरूप जुवारियों के साथ जूवा खेलने का आरम्भ किया है। या कारण तैं तिन विषय रूप जुवारी पुरुषों को यह अधिकारी पुरुष अवश्य पराजय करेंगे। हे देवताओ ! अभी तुम वेदांत शास्त्र को साक्षी रूप स्थापन करिकै तिन विषय रूप जुवारी पुरुषों को जीतने का उपाय तथा उद्यम करो। वेदांत शास्त्र रूप साक्षी तैं विना पूर्व जो तुम ने विषय रूप जुवारियों के साथ जूआ खेलने का आरम्भ किया था। सो मनुष्य शरीर रूप धन को मध्य विषे राख के जूआ खेला था। सो मनुष्य शरीर रूप धन विषय रूप जुवारी पुरुषों के भी भोग का उपयोगी है। या कारण तैं पूर्व इन अधिकारी जीवों का जय नहीं भया और अबी इन अधिकारी जीवों नैं वेदांत शास्त्र रूप साक्षी को मध्य विषे स्थापन किया है। और सो वेदांत शास्त्र रूप साक्षी इन अधिकारी पुरुषों के अनुकूल है। या कारण तैं ता वेदांत शास्त्र रूप साक्षी नैं इन अधिकारी जीवों को या प्रकार का उपदेश कीया है। हे अधिकारी जीवो ! यह मनुष्य शरीर रूप धन विषय रूप जुवारीयों के अनुकूल है। या तैं ता मनुष्य शरीर रूप धन को मध्य विषे राख के जो तुम विषय रूप जुवारियों के साथ जूवा खेलोगे तो तुमारा कदाचित भी जय नहीं होवैगा। किंतु पराजय ही तुमारा होवैगा। या तैं विषय रूप जुवारी पुरुषों के जीतने की जो तुमारे को इच्छा होवै तो तुम अधिकारी जीव ब्रह्मचर्यादिक साधन रूप धन को मध्य विषय राख के विषय रूप जुवारीयों के साथ जूवा खेलो। ते ब्रह्मचर्यादिक साधनों को देख कै विषय रूप जुवारी शीघ्र ही भाग जावैंगे। हे देवताओ ! या प्रकार के वेदांत शास्त्र रूप साक्षि के वचन को श्रद्धा पूर्वक अंगीकार करिकै यह अधिकारी पुरुष इस काल विषे तिन विषय रूप जुवारी पुरुषों को अवश्य जीतैंगे।

शंका—हे भगवन ! या जीवों के विषय रूप शत्रु बहुत हैं तिन संपूर्णों का जुवा मात्र करिकै पराजय हो सकै नहीं। समाधान—जैसे या लोक विषे जीवों के अनेक शत्रु हैं तिन शत्रुवों विषे जो शत्रु दूर देश विषे स्थित होवै है तिन शत्रुवों का वाणों करिकै हनन होवै हैं। और समीप देश विषे वर्तमान जो शत्रु हैं तिन शत्रुवों का पाशों करिकै बंधन होवै। अत्यंत अल्प शत्रुवों का जूवा विषे पराजय होवै है। तैसे तिन विषयों का शास्त्र विहित यज्ञदानादिक वहिरंग साधन रूपी वाणों करिकै हनन करैंगे। और जिन विषयों का शास्त्र विषे निषेध नहीं किया। तिन विषय रूप शत्रुवों को यह अधिकारी पुरुष शमदमादिक अंतरंग साधन रूप पाशों करिकै बांधेगे। तहां श्रुति—

मुमुक्षुवः पुरुषाः साधन चतुष्टय-संपन्नाः श्रद्धावंतः सुकुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यगुणवंत। मकुटिलं सर्वभूत हितेरतं दयासमुद्रं ॥३८८॥

मुक्तिकोपनिषत् अ० १ मं० ६॥

अर्थ—मुमुक्षु पुरुष चतुष्टय साधन संपन्न होवै तथा श्रद्धावंत होवै श्रेष्ट कुल में उत्पन्न हो श्रोत्रिय हो शास्त्र के अनुसार गुण वाला हो। तथा अकुटिल हो तथा सर्वभूतों के हित में

वर्तने वाला हो तथा दया का समुद्र होवै ॥३८८॥

सद्गुरुं विधिवदूपसंगम्यो पहारपाणयोऽष्टोत्तरशतोपनिषदं विधिवदधीत्य । श्रवणमनन निदिध्यासनानि नैरन्तर्येण कृत्वा प्रारब्धक्षयाद्देह त्रयभङ्ग ॥३८९॥

अर्थ—सद्गुरु की विधिवत संगत करता हुआ तथा खान पान व्यवहार करता हुआ तथा अष्टोत्तर शतोपनिषत् को विधिवत अधीत्य श्रवण मनन निदिध्यासनानि निरंतर करकै प्रारब्धक्षय तैं अनंतर त्रितय शरीर के भाङ्गन द्वारा ॥३८९॥

प्राप्योपाधि विनिर्मुक्त घटाकाशवत्परिपूर्णता विदेह मुक्ति । सैवकैवल्य मुक्तिरिति ॥ अतएव ब्रह्मलोकस्था अपि ब्रह्ममुखाद्वेदांत श्रवणादिकृत्वा तेन सह कैवल्यं लभंते । अतः सर्वेषां कैवल्य मुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता ॥ न कर्म सांख्य योगो पासनादि भरित्यपनिषत् ॥ ३९०॥ अ० १ मं० ६ ॥

अर्थ—प्राप्त उपाधि तैं मुक्त हुआ घटाकाश की न्याईं परिपूर्ण तया विदेहमुक्ति । सो इही कैवल्यमुक्ति है इति । इस प्रकार की ब्रह्म लोक में स्थित भी ब्रह्म के मुख तैं वेदांत का श्रवण करके तिसके सहित कैवल्य मुक्ति को प्राप्त होता है । इस वास्तैं सर्व वेद सर्व शास्त्र सर्व ऋषि मुनि सर्व युग सर्व काल सर्व देवता कैवल्य मुक्ति ज्ञान मात्र करिकै कथन करतै हैं । कर्मों से मुक्ति नहीं है तथा सांख से मुक्ति नहीं है तथा योग सें मुक्ति नहीं है तथा उपासनादिकों सें भी मुक्ति नहीं है इति उपनिषत् ॥३९०॥

और ब्रह्माकार वृत्ति के उत्थान काल विषे कदाचित प्रतीत होने द्वारे जे अल्प विषय हैं तिन विषय रूप शत्रुवों को यह अधिकारी पुरुष ब्रह्मचर्यादिक रूप धन को मध्यविषे राख के जूवा विषे जीतेंगे । हे देवताओ ! वेदांत शास्त्र रूप प्रमाण तैं उत्पन्न भया जो मैं ब्रह्म हूं या प्रकार अभेद ज्ञान है ता ब्रह्मज्ञान रूप अग्नि करिकै यह अधिकारी पुरुष तिन विषय रूप प्रमतशत्रुवों को तथा तिनों के माता पिता को तथा तिनों के बांधवों को दग्ध करैंगे ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३९१॥

गी० अ० ४ श्लो० ३७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे असन्त प्रज्वलित अग्नि बहुत काष्ठों को भी भस्मी भूत करि देवे है । तैसे मैं ब्रह्म रूप हूं या प्रकार की जो आत्म ज्ञान रूप अग्नि है सो ज्ञान रूप आग्नि भी प्रारब्ध कर्म तैं भिन्न सर्व पुण्य पाप कर्मों को तथा अविद्या तत्कार्य प्रपञ्च को भी भस्मीभूत करि देवे है ३९१

भिद्यते हृदयग्रंथि श्छिद्यंते सर्वसंशयाः । क्षीयंतेचास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे ॥३९२॥

योगशिखोपनिषत् अ० ५ मं० ४५ ॥

अर्थ—यह ब्रह्मादिक देवताओं तै भी असन्त उत्कृष्ट जो परमात्मा देव है । ता परमात्मादेव के साक्षात्कार हुए इस विद्वान पुरुष की आत्मा अनात्मा का अध्यासरूप हृदय ग्रन्थि नाश को प्राप्त होवे है । तथा आत्मा देहादिकों

तैं भिन्न है अथवा देहादिरूप है तहां देहादिकों तैं भिन्न हुआ भी आत्मा ब्रह्मरूप है अथवा ब्रह्म तैं भिन्न है इसतैं आदि लैके जितने कि आत्म विषयक संशय हैं ते सर्व संशय भी नाश को प्राप्त होवे हैं।

तथा जिन पुण्य पाप रूप प्रारब्ध कर्मों ने यह शरीर दिया है तिन प्रारब्ध कर्मों को छोड़ के दूसरे सर्व कर्मों को तथा अविद्यातत्कार्य नाश को प्राप्त होवे हैं ॥३९२॥

शंका—हे भगवन्! तिन विषय रूप शत्रुओं के माता पिता बांधव कौन हैं। समाधान—अनित्य पदार्थों विषे नित्यबुद्धि तथा अशुचि पदार्थों विषे शुच बुद्धि इस तैं आदि लैकै अन्य पदार्थों विषे अन्य बुद्धि रूप या विक्षेप शक्ति है। तथा आत्मा को आच्छादन करने हारी जो आवरण शक्ति है या दोनों प्रकार की शक्ति वाली जो अविद्या है सो अविद्या ही विषय रूप जुवारियों की माता है। और सत्य शास्त्र के संस्कारों तैं रहित जो अशुद्ध मन है सो मन विषय रूप जुवारियों का पिता है। और नाना प्रकार की जो वासना हैं ते वासना तिन विषयरूप जुवारियों के सम्बन्धी हैं। ऐसे माता पिता बांधवों सहित तिन विषय रूप जुवारी शत्रुओं को ब्रह्मज्ञान रूप अग्नि करिकै दग्ध करिकै यह अधिकारी जीव तिन विषय रूप शत्रुओं को पराजय करेंगे।

शंका—हे भगवन्! या विषय रूप शत्रुओं ने ऐसा कौन अपराध किया है जिस अपराध करिकै आप ने तिन विषय रूप शत्रुओं का कुटुम्ब सहित नाश करने का उद्यम किया है। समाधान—हे देवताओ! या विषय रूप कपटी जुवारियों ने इन अधिकारी जीवों को पूर्व जन्मों विषे बहुत वार पराजय किया है। या तैं इन विषय रूप शत्रुओं का यह महान अपराध है ता अपराध के अनुसार ही तिन को दण्ड देना चाहिये।

शंका—हे भगवन्! विषय रूप कपटी जुवारियों ने हम अधिकारी जीवों को पूर्व बहुत वार पराजय किया है। या अर्थ विषे कौन प्रमाण है। समाधान—या अर्थ विषे पृथ्वी आदिक लोक तथा धर्म राजादिक लोक पालक तथा अन्तर्यामी मैं ईश्वर यह संपूर्ण साक्षी रूप करिकै प्रमाण हैं। तहां श्लोक।

आदित्य चन्द्रावनिलोऽनलश्चद्यौ भूमिरापो हृदयं मनश्च। अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥३९३॥ मनु०॥

अर्थ—१ अदित्य २ चन्द्रमा ३ पवन ४ अग्नि ५ स्वर्गलोक ६ भूमिलोक ७ जल साक्षी ८ मन ९ दिन १० रात्रि ११ दोनों संध्या १२ धर्मराज १३॥ यह संपूर्ण या जीवों के शुभाशुभ वृत्तांत को जाने हैं ॥३९३॥

हे देवताओ! जो यह अधिकारी जीव पूर्व जन्मों विषे विषय रूप जुवारियों तैं पराजय को प्राप्त भये थे। सोई यह अधिकारी जीव अभी वेदांत शास्त्र रूप साक्षी के बल तैं इन्द्रिय रूप पाश को करिकै तथा यज्ञ दानादिक रूप बाणों करिकै तिन विषय कपटी जुवारियों को अवश्य जीतेंगे। तात्पर्य यह है। जैसे लोक प्रसिद्ध जुवारी पुरुषों का पाशकों की प्रवृत्ति करिकै जय होवे। तैसे राग द्वेष तैं रहित जो इन्द्रिय रूप पाशकों की प्रवृत्ति है। ता करिकै यह अधिकारी जीवों का भी विषय रूप जुवारियों तैं जय होवे है। तहां श्लोक—

राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषया निं-

द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधयात्मा प्रसाद मधिगच्छति ॥३९४॥

गी० अ० २ श्लोक ६४॥

हे अर्जुन! मन के निग्रह वाला पुरुष तो रागद्वेष तैं रहित तथा मन के अधीन ऐसे इंद्रियों करिकै विषयों को ग्रहण करता हुआ भी चित्त के स्वच्छता को ही प्राप्त होवे है ॥३९४॥

हे देवताओ! युधिष्ठरादिक पंच पांडव श्री कृष्ण रूप साक्षी के बल तैं दुर्योधनादिक कपटी जुवारियों को पराजय करते भये हैं। तैसे यह अधिकारी जीव भी वेदांत शास्त्र रूप साक्षी के बल तैं इन विषय रूप कपटी जुवारियों को अवश्य पराजय करेंगे। जो पुरुष वेदांत शास्त्र रूप साक्षी तैं विना विषय रूप जुवारियों के साथ जूआ खेलेंगे तिन अज्ञानी पुरुषों की महानहानि होवेगी। और यह अधिकारी जीव अब वेदांत शास्त्र रूप साक्षी की सहायता तैं विषय रूप जुवारियों के साथ जूआ खेलेंगे। तो इन अधिकारी जीवों की महान हानि नहीं होवेगी। किंतु अबी इन जीवों की ही जय होवेगी। हे देवताओ! जैसे शुक-वामदेवादिक अधिकारी पुरुष वेदांत शास्त्र रूप साक्षि के बल तैं विषय रूप जुवारियों की जीत करिके ब्रह्म भाव की प्राप्ति रूप स्वराज्य को प्राप्त भये हैं। तैसे यह अधिकारी जीव भी अब वेदांत शास्त्र रूप साक्षी के बलतैं विषय रूप जूवारियों को जीत करिकै ब्रह्म भाव की प्राप्ति रूप स्वराज्य को प्राप्त होवे। या कार्य के करने विषे इन अधिकारी जीवों को विलम्ब कभी भी नहीं किया चाहिये। यह वार्त्ता मनु जी ने भी कथन करी है। तहां श्लोक—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। पश्यन्नात्मतया जीवः स्वराज्यमधिगच्छति ॥३९५॥ मनु० अ० १२॥

अर्थ—जो अधिकारी पुरुष या आत्मादेव को सर्वभूतों विषे कारणरूप तैं अनुगत देखे है। तथा तिन सर्व भूतों को या अधिष्ठान आत्मा विषे कल्पितरूप से देखे है। सो अधिकारी पुरुष ब्रह्मानन्दरूप स्वराज्य को आपना आत्मारूप करके प्राप्त होवे है ॥३९५॥

आत्मानं चेद्विजानीयात् सर्वभूत गुहाशयम्। श्लोकेन यदि वार्द्धेन क्षणिं तस्य प्रयोजनम् ॥३९६॥ महाभारत॥

अर्थ—जो पुरुष एक श्लोक करके अथवा अर्द्ध श्लोक करके सर्वभूतों विषे व्यापक आत्मा को जाणता है तिस पुरुष के सर्व प्रयोजन सिद्ध होवे हैं ॥३९६॥

शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावतापिते। रागादयः संतु कामं न तद्भावोऽपराध्यते ॥३९७॥

अर्थ—वेदांत शास्त्र का अर्थ रूप जो जीव ब्रह्म का एकत्व है ता एकत्व साक्षात्कार करिकै ही इस पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति होवै है। ऐसे ज्ञानवान पुरुष विषे रागद्वेषादिक बाधितानुवृत्ति करिकै रहो। तिन रागादिकों के विद्यमान हुये भी ता ज्ञानवान पुरुष को मुक्ति विषे किंचित मात्र भी हानी नहीं है ॥३९७॥

अप्रेक्ष्य च चिदात्मानं पृथक पश्यन्नहं कृतिम्। इच्छंतु कोटिवस्तूनि न बोधो ग्रंथिभेदतः ॥३९८॥

अर्थ—जो पुरुष चैतन्य आत्मा को अहंकारादिकों तैं पृथक् जानै है। तथा तिन अहंकारादिकों को ता चैतन्य आत्मा तैं पृथक् जानैं

है सो ज्ञानवान पुरुष जो कदाचित कोटि वस्तुवों की भी इच्छा करै तो भी ता अध्यास रूप ग्रंथि के भेदन तैं ता ज्ञानवान पुरुष की किंचितमात्र भी हानि होती नहीं ॥३९८॥

ग्रंथिभेदेपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्ध दोषतः । बुद्धापि पापबाहुल्याद संतोषो यथा तव ॥३९९॥ पंचदशी ॥

अर्थ—और ता अध्यास रूप ग्रंथि के निवृत्त हुये भी तिस ज्ञानवान पुरुष विषे प्रारब्ध दोष तैं इच्छा संभवै है जैसे अहंकारादिकों तैं आत्मा को पृथक् जान के भी पापकर्मों की बाहुल्यता तैं तुमारे को असंतोष हुआ है ॥३९९॥

कदाचित्कंरागलेशं चिकित्सतुम-शक्नुवत् । यो ब्रह्मनिष्ठां संद्वेष्टिकदा-स्यात्तत्वनिश्चयः ॥४००॥

अर्थ—चित्त विषे कदाचित उत्पन्न हुआ जो लेशमात्र राग है । ता राग की निवृत्ति करने विषे असमर्थ हुआ जो पुरुष ब्रह्म निष्ठा विषे द्वेष करै है तिस पुरुष को कोई काल विषे भी आत्मा का निश्चय होता नहीं ॥४००॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्या-पयंतु वा । येऽत्राधिकारिणो मर्त्या ना-धिकारोऽक्रयत्वतः ॥४०१॥

अर्थ—जो पुरुष कर्तृत्व बुद्धि वाले होने तैं अधिकारी हैं । ते पुरुष ही शास्त्रों का व्याख्यान करैं । तथा वेदों को पढावैं । मैं तो अक्रिय हूं । या तैं हमारे को कोई भी अधिकार नहीं है । और जिन पुरुषों नैं प्रसक अभिन्न ब्रह्म को नहीं जान्या है ॥४०१॥

शृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्मच्छृणोम्यहम् । मन्यं तां संशयापन्ना न मन्येऽहम संशयः । विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानम विपर्यये ॥४०२॥

पंचदशी ॥

अर्थ—ते पुरुष ही वेदांत शास्त्र को श्रवण करैं और मैं तो प्रसक् अभिन्न ब्रह्म को अपरोक्ष जानता हूं । या तैं मैं किस वास्तैं श्रवण को करूं । और जो पुरुष ता आत्मा विषे संशय वाले हैं ते पुरुष ता संशय की निवृत्ति करने वास्तैं मनन को करैं । और मैं तो सर्व संशयों तैं रहित हूं । या तैं मैं किस वास्तैं मनन करूं । और जो पुरुष विपरीत भावना वाले हैं ते पुरुष विपरीत भावना की निवृत्ति वास्तैं निदिध्यासन को करैं । और मैं तो ता विपरीत भावना तैं रहित हूं । या तैं हमारे को ता ध्यान करने का क्या प्रयोजन है ॥४०२॥

अहं हि सर्वं न च किंचिदन्यान्नि-रूपणायाम निरूपणायाम् । इयं हि वेदस्य पराहिनिष्ठा ममानुभूता च न संशयश्च ॥४०३॥ स्कंदपुराण ॥

अर्थ—मैं ही सर्व जगत रूप हूं मेरे तैं भिन्न कोई भी वस्तु नहीं । या प्रकार का जो सर्वात्म भाव है । यह सर्व वेदों का परम तात्पर्य है । और हमारा भी यह ही अनुभव है । इस सर्वात्म भाव विषे तुम नैं कदाचित भी संशय नहीं करना ॥४०३॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम् । आत्मन्येवभवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥४०४॥

उपदेशसाहस्री ॥

अर्थ—जैसे अज्ञानी पुरुष आपने देह विषे अहं मनुष्यः या प्रकार का दृढ ज्ञान होवै है। तैसे जिस पुरुष को प्रत्यक् आत्मा विषे अहं ब्रह्मास्मि या प्रकार का संशय विपरीत भावना तैं रहित दृढज्ञान भया है। सो ज्ञान ता देहात्म ज्ञान का नाश करने हारा है। ऐसे ज्ञान वाला पुरुष मोक्ष की नहीं इच्छा करता हुआ भी अवश्य मोक्ष को प्राप्त होवै है। देह अत्यंत मलिन है देह में शुद्धि की भावना विपरीत ज्ञान हैं। देह किसी भी काल में शुद्ध नहीं है आत्मा किसी काल विषे अशुद्धि नहीं है।.४०४॥

अत्यंतमलिनो देहो देही चात्यंत-निर्मलः। उभयोरन्तरं ज्ञात्वाकस्य शौचं विधीयते ॥४०५॥

अर्थ—देह अत्यंत मलिन है तथा देही आत्मा अत्यंत निर्मल है। इन दोनों के अंतराय को जानता हुआ बुद्धिमान पुरुष किस वास्तैं बाह्य शौच में प्रवृत्त होता है ॥४०५॥

ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः। स मूढः कांचनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत् ॥४०६॥

अर्थ—जो ज्ञान रूपी शौच को परित्याग करिके बाह्य जल मृत्तिका के शौच में पुरुष रमण करै है। सो मूढ पुरुष सुवर्ण को परित्याग करिके श्रेष्ठ व्रतधारी मृतिका के ढेले को संग्रह करता है ॥४०६॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥४०७॥ लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम् ॥४०८॥ श्रीजबालदर्शनोपनिषत् खंड १ मं० २१, २२, २३, २४ ॥

अर्थ—जो योगि पुरुष ज्ञान रूपी अमृत करिके तृप्त है तिस कृत कृत को किंचित् मात्र भी कर्तव्य नहीं है सो तत्त्ववेता है और आत्म वेत्ता पुरुष को तीन लोक में भी किंचितमात्र कोई कर्तव्य नहीं है ॥४०८॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादि साधनैः। आत्मानमक्षरं ब्रह्मविद्धि ज्ञानात्तु वेदनात् ॥४०९॥

श्रीजाबालदर्शनोपनिषत् खंड १ मं० २५ ॥

अर्थ—तिस कारण तैं सर्व प्रयत्न करके हे मुनि अहिंसादिक साधनों से युक्त हो करके आत्मा अक्षररूप तथा ब्रह्मरूप को ज्ञान तैं साक्षात्कार से जानो ॥४०९॥

असंदिग्धाविपर्यस्त बोधो देहात्मनीक्ष्यते। तद्वदत्राति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ॥४१०॥ पंचदशीतृप्तिदी०

अर्थ—लौकिक पुरुषों को अपने देहरूप आत्माविषे जैसे संशय विपरीतभावना तैं रहित मैं मनुष्य हूं मैं ब्राह्मण हूं या प्रकार का ज्ञान देखने विषे आवे है। तैसे इस अधिकारी पुरुष ने मुक्ति की सिद्धि वास्ते प्रत्यक आत्मा विषे संशयविपर्यय तैं रहित अहं ब्रह्मास्मि या प्रकार का बोध ही संपादन करने योग्य है। तथा यथा लाभ संतुष्ट रहना चाहिये प्रारब्ध के अनुसार ही शरीर का योग्य क्षेम होवे है ॥४१०

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्यजायते नृणाम्। तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ॥४११॥

श्रीजाबालदर्शनोपनिषत् खं० २ मं० ५ ॥

अर्थ—यदृच्छा लाभ में संतुष्ट होना पुरुषों की ऐसी नित्य प्रति प्रीति उत्पन्न होवे जब तक उस को संतोष बुद्धिमान जानते हैं। ऐसे संतोष युक्त हो करके विद्वान प्रसक अभिन्न ब्रह्म के ज्ञान के वास्ते तत्पर होवे ॥४११॥

ब्रह्मादिलोकपर्यंताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्। सर्वत्र विगतस्नेहः संतोषं परमं विदुः। श्रौते स्मार्त्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥४१२॥

श्रीजाबालदर्शनोपनिषत् खंड २ मं० ६ ॥

अर्थ—ब्रह्मादिक लोक पर्यंत विरक्तय अर्थात् ब्रह्मलोक के विषयों में वैराग्य तथा इस लोक के विषयों में वैराग्य जब होवे तब अपने प्रिय पदार्थ मोक्ष को प्राप्त होता है। और जब सर्वत्र ही स्नेह विगत हो गये हैं तब परम संतोष जानो। और वैदिक तथा स्मार्त कर्मों में विश्वास होवे जब तब आस्तक्य कहा जाता है ॥४१२॥

यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते। विशंति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ॥४१३॥ योगवशिष्ठ ॥

अर्थ—हे महामते राम! जिस पुरुष का यह अंत जन्म होवे है। तिस पुरुष विषे ही यह निर्मल ब्रह्मविद्या प्रवेश करे है जैसे उत्तम जाति वाले वेणुविषे मोती प्रवेश करे है ॥४१३

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥४१४॥ गी० अ० ७ श्लोक १९

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञानवान पुरुष बहुत जन्मों के अंतविषे यह सर्व जगत वासुदेवरूप ही है या प्रकार के ज्ञान वाला हुआ मैं परमेश्वर को अभेदरूप करके भजे है सो महात्मा अत्यंत दुर्लभ है ॥४१४॥

कर्मण्य कर्म यः पश्येद कर्मणि च कर्मयः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्नकर्म कृत ॥४१५॥ गी० अ० ४ श्लोक १८

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष कर्म विषे अकर्म को देखे है तथा जो पुरुष अकर्म विषे कर्म को देखे है। सो पुरुष ही सर्व मनुष्यों विषे बुद्धिमान है तथा सो पुरुष ही योगयुक्त है तथा सर्व कर्मों के करने हारा है ॥४१५॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि। तदेवास्वादुयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥४१६॥ एवं तत्त्व परे शुद्धे धीरो विश्रांतिमगतः। तदेवास्वादयत्यंतर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥४१७॥ योगवशिष्ठ ॥

अर्थ--परपुरुष विषे असक्त जो नारी है सा नारी बाह्य तैं गृह के सर्व कार्यों को करती हुई भी अंतरचित विषे ता पुरुष संगजन्य सुख को चिंतन करे है। इस प्रकार जो ज्ञानवान पुरुष शुद्ध परमात्मा तत्त्वविषे विश्रांति को प्राप्त भया है। सो ज्ञानवान पुरुष बाह्य तैं लौकिक वैदिक व्यवहारों को करता हुआ भी अंतर चित्तविषे तिस परम तत्त्व को ही निरंतर चिंतन करे है ॥४१६, ४१७॥

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः। ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥४१८॥ अष्टावक्र ॥

अर्थ—हे राजा जनक! जो उपदेश कोटि ग्रंथों करके कथन किया जाता है। सो उपदेश तुम को मैं अर्ध श्लोक करके कहता हूं। तुम

श्रवण करो। यह नामरूपात्मक जगत मिथ्या है ब्रह्मसत्य है और यह जीव ब्रह्मरूप ही है अन्य नहीं है ॥४१८॥

यथा स्वप्नप्रपंचोऽयंमपि माया विजृंभितः। एवं जाग्रतप्रपंचोपि मयि माया विजृंभितः ॥४१९॥ इति यो वेद वेदांतैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥४२०॥

स्कन्धपुराण ॥

अर्थ—जैसे मैं प्रत्यक आत्माविषे यह स्वप्न प्रपंचमाया करके कल्पित है तैसे यह जाग्रत प्रपंच भी मेरे विषे माया करके कल्पित है इस प्रकार जो पुरुष वेदांत वचनों करिके सर्व प्रपंच कल्पना के अधिष्ठान रूप आत्मा को साक्षात्कार करे है सो तत्त्व वेता पुरुष अतिवर्णाश्रमी कह्या जावै है ॥४१९॥ ॥४२०॥

हे देवताओ! जो मूढ बुद्धि पुरुष वेदांत शास्त्र रूप साक्षी तैं विना ही विषय रूप जुवारियों के साथ जूवा खेलने वास्तैं आरंभ करै है ते मूढ बुद्धि पुरुष पुण्य रूप धनतैं रहित होइ के एक पाप रूप कौपीन को ग्रहण करके अनेक प्रकारके दुःखों को प्राप्त होवे है। जैसे लोक प्रसिद्ध जूआ विषे जिन पुरुषों का पराजय होवे है। तिन पुरुषों की मण्डली ता जूआ के गृह विषे भिन्न देखने में आवे है। तैसे या संसार विषे जो मूढ़ पुरुष विषय रूप जुवारीयों तैं पराजय को प्राप्त हुए हैं तिनों विषय कोई तो पक्षी शरीर को प्राप्त हुए हैं। और कोई जीव तो वृक्षादिक स्थावर शरीरों को प्राप्त हुए हैं। और कोई जीव तो ग्राम के रहने हारे तथा वन के रहने हारे पशु शरीरों को प्राप्त हुए हैं। और कोई जीव तो सर्पादिक शरीरों को प्राप्त हुवे हैं। इनो तैं आदि लैके जितनेक चौरासी लक्ष शरीर प्रतीत होवे हैं। ते संपूर्ण जवाविषे पराजय को प्राप्त हुए जीवोंकी मंडली है। और हे देवताओ! जैसे या लोक विषे सतयुग द्वापर त्रेता कली या प्रकार के नाम कल्पना करे हैं। तिनों के ऐसे जे जूआ के खेलने के साधन रूप पाशक हैं। तिन पाशकों करके ते जुवारी पुरुप तिन पुरुषों का पराजय करे हैं। जिन पुरुषों को तिन पाशकों के अनुकूल पावने का साधन रूप अक्षहृदयनामा मन्त्र का ज्ञान नहीं है। और जिन पुरुषों को ता अक्षहृदयनामा मन्त्र का ज्ञान है तिन पुरुषों को ते कपटी जुवारी पुरुष पराजय कर सके नहीं। उलटा ते कपटी जुवारी आप ही पराजय को प्राप्त होवे हैं। तैसे यह विषय रूप कपटी जुवारी भी तिस पुरुष का पराजय करे हैं। जिस पुरुष को मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप अक्षहृदय नामा मन्त्र का ज्ञान है। तिस पुरुष को यह विषय रूप जवारी पराजय करिसकै नहीं। किन्तु ते विषय रूप जुवारी आप ही पराजय को प्राप्त होवे हैं। हे देवताओ! सो अद्वितीय ब्रह्म रूप अक्षहृदयनामा मन्त्र तुम ने हमारी क्रिया से अभी जान्या है। या तैं यह विषय रूप जुवारी अभी तुम को पराजय नहीं कर सकेंगे। किन्तु तुम ही विषय रूप जुवारीयों को पराजय करोगे। संपूर्ण जगत का अधिष्ठान रूप जो अद्वितीय ब्रह्म है। सो अद्वितीय ब्रह्म मेरे आत्मा तैं भिन्न नहीं। किन्तु सो अद्वितीय ब्रह्म मैं हूं। या प्रकार का जभी यह अधिकारी पुरुष अद्वितीय ब्रह्म रूप अक्षहृदयनामा मन्त्र को गुरु शास्त्र के उपदेश तैं निश्चय करे है। तभी सो अधिकारी पुरुष अज्ञानी जीव की न्याई पश्चाताप करे नहीं।

क्षरः सर्वाणि भूतानी सूत्रात्माऽक्षर उच्यते । अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम् ॥४२१॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० १६ ॥

अर्थ—यह सर्व भूत भौतिक प्रपंच नाशवंत हैं । मैं सूत्रात्मा अक्षर नाश रहित हूं मैं अक्षर परमब्रह्मरूप हूं निर्विशेष रूप तथा निरंजन रूप हूं । ऐसा निश्चय करे ॥४२१॥

अधारं सर्वभूतानामना धारमनामयम् । अप्रमाण मनिर्देश्य मप्रमेय मतिन्द्रियम् ॥४२२॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० १८ ॥

अर्थ—मैं सर्व भूतों का आधार रूप हूं । मैं निराधार हूं अनामय हूं । किसी प्रमाण का विषय नहीं हूं । उपदेश का विषय नहीं हूं । अप्रमेय हूं अति इंद्रिय हूं ॥४२२॥

अस्थूल मनणुह्रस्व मदीर्घ मज मव्ययम् । अशब्द मस्पर्श रूप मचक्षुः श्रोत्र नामकम् ॥४२३॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० १९ ॥

अर्थ—मैं स्थूल नहीं हूं अणु नहीं हूं ह्रस्व नहीं हूं दीर्घ नहीं हूं अज हू अव्यय हूं शब्द रूप नहीं हूं स्पर्श रूप नहीं हूं । अरूप हूं अचक्षु हूं अश्रोत्र हूं ॥४२३॥

सर्वज्ञं सर्वगं शांतं सर्वेषां हृदये स्थितम् । सुसंवेद्यं गुरुमतात्सुदुर्बोध मचेतसाम् ॥४२४॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० २० ॥

अर्थ—मैं सर्वज्ञ हूं सर्वगत हूं शांत हूं मैं सर्व के हृदय में स्थित हूं गुरुक्रिपा से अविवेकी पुरुषों को भी दुर्बोध आत्मा सुबोध होता है आत्मा का साक्षात्कार स्वयं संवेद्य है परं संवेद्य नहीं है ॥४२४॥

निष्कलं निर्गुणं शांतं निर्विकारं निराश्रयम् । निर्लेपकं निरापायं कूटस्थ मचलं ध्रुवम् ॥४२५॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० २१ ॥

अर्थ—मैं निष्कल हूं निर्गुण हूं शांत हूं निर्विकार हूं निराश्रय हूं निर्लेप हूं निरापाय हूं कूटस्थ हूं अचल हूं ध्रुव हूं ॥४२५॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमः पारे प्रतिष्ठितम् । भावाभाव विनिर्मुक्तं भावना मात्र गोचरम् ॥४२६॥

योगशिखोपनिषत् अ० ३ मं० २२ ॥

अर्थ—मैं सर्व ज्योतियों का ज्योति रूप हूं तम से परे स्थित हूं । भावाभाव पदार्थों से रहित दोनों का साक्षी हूं भावना मात्र हूं ॥४२६॥

अब ता पश्चाताप का निरूपण करे हैं । यां भारतखण्ड विषे पूर्वले किसी पुण्य कर्म के प्रभाव तैं हमारे को अधिकारी मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती भई है । ता मनुष्य शरीर को प्राप्त होइकै भी मैं मूढ़ बुद्धि जीव वेदांत शास्त्र रूप साक्षी की सहायता तैं विना ही विषय रूप जुवारियों के साथ जूआ खेलना आरम्भ किया था । इस वास्ते तिन विषय रूप जुवारियों ने हमारा विद्या रूप धन तथा पुण्य रूप धन संपूर्ण हरण कर लिया है । एक पाप रूप कौपीन मेरे पास रही है । जिस पापरूप कौपीन से मैं मूढ़ बुद्धि जीव अनेक जन्मों विषे दुःख को प्राप्त होवेंगा । इस प्रकार का पश्चाताप करिकै जैसे अज्ञानी जीव आपने को धिक्कार करे है ।

तैसे अद्वितीय ब्रह्म रूप अक्षहृदयनामा मन्त्र को जानने द्वारा विद्वान पुरुष ता पश्चाताप को करके आपने को धिक्कार करे नहीं। हे देवताओ! सो अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा कैसा है। जन्म-मरणादिक जो शरीर के धर्म हैं तथा क्षुधा पिपासा आदिक जो प्राणों के धर्म हैं तथा कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक जो अन्तःकरण के धर्म हैं तिन सम्पूर्ण धर्मों तैं रहित है तथा अन्तःकरणादिक सर्व संघात का साक्षीरूप है।

अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरामृतिः। एतेषड्रूर्मयः प्रोक्ताः षटकोशा नथ वाञ्मिते ॥४२७॥

वराहोपनिषद् अ० १ मं० ९ ॥

अर्थ—भूख पियास प्राणों के धर्म हैं शोक मोह मन के धर्म हैं जरामृत्यु स्थूल शरीर के धर्म हैं। तथा षट कोश भी इन तीनों शरीरों में ही हैं यह हम कथन किया। और आत्मा इन सर्व का साक्षी है। असंग है ॥४२७॥

एवं जितेंद्रियोभूत्वा सर्वत्र ममतामतिम्। विहाय साक्षि चैतन्येमयि कुर्याद हंमतिम् ॥४२८॥

वराहोपनिषद अ० १ मं० ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार जित इन्द्रिय होकर सर्वत्र बुद्धि की ममता को परित्याग करके वराहा जी आज्ञा देते हैं कि मैं चैतन्यरूप प्रसक्त साक्षी की अहं बुद्धि करो अर्थात् आपनी बुद्धि से मैं सर्वत्र व्यापक हूं सर्व के संघात का साक्षी हूं ऐसी भावना करो ॥४२८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परंवेत्ति मद्भावं सोधिगच्छति ॥४२९॥

गी० अ० १४ श्लोक १९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिसकाल विषे यह द्रष्टा पुरुष सत्त्वादिक गुणों तैं अन्य कर्त्ता को नहीं देखता है तथा तिन गुणों तैं आत्मा को परे जानता है तिसकाल विषे सो द्रष्टा पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त होवे है ॥४२९॥

गुणा नेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोमृतमश्नुते ॥४३०॥

गी० अ० १४ श्लोक २० ॥

अर्थ—हे अर्जुन! देह के उत्पत्ति का बीजरूप इन सत्त्वादिक तीन गुणों को परित्याग करके जन्म मृत्यु जरा दुःख इनो करके वियुक्त हुआ यह विद्वान पुरुष मोक्ष को प्राप्त होवे है ॥४३०॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेवच पांडव। न द्वेष्टिसंप्रवृत्तानि न निवृत्तानिकांक्षति ॥४३१॥ गी०अ० १४ श्लो० २२॥

अर्थ—हे अर्जुन! प्रवृत्त हुए प्रकाश को तथा प्रवृत्ति को तथा मोह को जो पुरुष कदाचित भी नहीं द्वेष करे है तथा निवृत्त हुए तिन्हों को नहीं इच्छा करे है सो पुरुष गुणातीत कहा जावे है ॥४३१॥

सम दुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः। तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्मसस्तुतिः ॥४३२॥

गी० अ० १४ श्लोक २४ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! सम है दुःख सुख दोनों जिसको तथा स्वरूप विषे है स्थिति जिसकी तथा सम है लोष्ट अश्म कांचन जिसको तथा

तुल्य है प्रिय अप्रिय दोनों जिसको तथा तुल्य है आपनी निन्दा स्तुति दोनों जिसको ऐसा धीर पुरुष गुणातीत कह्याजावे है ॥४३२॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारंभ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥४३३॥ गी० अ० १४ श्लोक २५॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष मान अपमान दोनों विषे तुल्य है तथा मित्र पक्ष शत्रु पक्ष दोनों विषे तुल्य है तथा सर्व आरम्भ परित्याग करे हैं जिसने सो पुरुष गुणातीत कह्याजावे है ४३३

और ब्रह्मादिक देवताओं के जे दिन हैं तिन दिनों करके घटिति जो संवत्सररूप नाना प्रकार का काल है। सो काल भी अकाशादिक पदार्थों के भेद करने वास्ते तिस आत्मादेव तैं। ही उत्पन्न होवे है। ऐसा मैं आनन्दरूप आत्मा आपने प्रकाश विषे दूसरे सूर्यादिक चन्द्रमा विद्युत वाक् इत्यादिक ज्योतियों की अपेक्षा करों नहीं। किंतु मैं स्वयं ज्योति आत्मा ही सूर्यादिक जड़ ज्योतियों का प्रकाशक हूं। या कारण तैं श्रुति भगवती मैं आत्मादेव को ज्योतियों का भी ज्योति कहे है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानंज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदिसर्वस्य धिष्ठतम् ॥४३४॥

गी० अ० १३ श्लोक १७॥

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञेय ब्रह्म सूर्यादिक ज्योतियों का भी ज्योति है तथा जड़वर्ग का साक्षी है जड़वर्ग रूप तैं पर कह्या है तथा ज्ञानरूप है तथा ज्ञेय रूप है तथा ज्ञान करके प्राप्य है तथा सर्व प्राणियों के बुद्धि विषे स्थित है ४३४

यदा दित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चंद्रमासि यच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धि मामकम् ॥४३५॥

गी० अ० १५ श्लोक १२॥

अर्थ—हे अर्जुन! आदित्य विषे स्थित जो तेज है तथा अग्नि विषे स्थित जो तेज है तथा चन्द्रमा विषे स्थित जो तेज हैं; तथा जो तेज इस सर्व जगत को प्रकाश करता है तिस तेज को तूं मेरा स्वरूप ही जान ॥४३५॥

और हे देवताओ! या देहधारी प्राणियों को प्राणरूप वायु तथा अपानरूप वायु जीवन की प्राप्ति करे नहीं। किंतु मैं स्वयं ज्योति आत्मा ही सर्व प्राणियों को जीवन की प्राप्ति करों हूं। या कारण तैं श्रुति भगवती मैं स्वयं ज्योति आत्मा को आयुष या नाम करके कथन करे है। जिस अधिष्ठान रूप आत्मादेव विषे प्राण चक्षु श्रोत्र मन सूर्यादिक यह जो पांच प्रकार के ज्योति हैं। तथा जिस मैं आत्मादेव विषे पृथ्वी आदिक चारी भूतों सहित अकाश स्थित है ऐसे अधिष्ठान आत्मा को मैं अपना आत्मा रूप करिके जानता हूं। या कारण तैं मैं जन्म मरण पुण्य पापादिक विकारों तैं रहित सर्व नाम रूप जगत का अधिष्ठान हूं।

शंका—हे भगवन! आप नैं जो जीवात्मा को पुण्य पाप रूप विकार तैं रहित कह्या है। सो वार्त्ता संभवै नहीं। काहे तैं। यह लोक प्रद्धिद व्यवहार कैसे दूर हो सक्ता है। जो सर्व लोक पुण्य पाप को मानते हैं। तथा शास्त्र विषे भी पुण्य पाप देखने विषे आवै है तथा पुण्य पाप के अनुसार जीव स्वर्ग नरक को प्राप्त होवै हैं। और पुण्य पाप के आधीन ही जीवों को सुख

दुःख की प्राप्ति होवै है। या तैं यह जीव पुण्य पाप सें रहित है। इस आप के वचन में हमारे को संशय है इस हमारे संशय की निवृत्ति वास्तैं आपनैं कोई प्रमाण कह्या चाहिये। समाधान—हे देवताओ! इस संसार में जो पुण्य पाप होवै है। तिन पुण्य पाप के कारण शास्त्र विषे पांच कहै हैं। एक स्थूल शरीर तथा अहंकार तथा पांच ज्ञान इंद्रियें तथा कर्मेंद्रियें तथा तिन इंद्रियों की भिन्न भिन्न चेष्टा तथा तिन श्रोत्रादिक इंद्रियों के देवता यह पांच ही पुण्य पाप रूप कर्मों के हेतु हैं। आत्मा असंग निर्विकार अकर्ता अभोक्ता सुख दुःखादिक धर्मों तैं रहित है। भावाभाव का साक्षी है। तहां श्लोक—

सर्वस्य चाहंहृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञान मपोहनं च। वेदैश्चसर्वै रहमेव वेद्यो वेदांत कृद्वेदविदेव चाहम् ॥४३६॥ गी० अ० १५ श्लोक १५॥

अर्थ—हे अर्जुन! पुनः मैं परमात्मा देव ही सर्व प्राणियों की बुद्धि विषे जीवात्मारूप होइके प्रविष्ट हुआ हूं इसकारण तैं मैं आत्मादेव तैं ही तिन सर्व प्राणियों को स्मृति तथा ज्ञान तथा तिस स्मृति ज्ञान दोनों का अभाव होवे है तथा सर्व वेदों करके मैं परमेश्वर ही जानने योग्य हूं तथा वेदांत अर्थ की सम्प्रदाय का प्रवर्तक हूं तथा मैं परमेश्वर ही सर्व वेदों के अर्थ का वेत्ता हूं ॥४३६॥

पंचेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे। सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥४३७॥

गी० अ० १८ श्लोक १३॥

अर्थ—हे महाबाहो! अर्जुन सर्व पुण्यपाप रूप कर्मों की सिद्धि के वास्तैं इन वक्ष्यमाण अधिष्ठानादिक पांच कारणों का तूं हमारे वचन तैं निश्चय कर जो पांच कारण सर्व कर्मों की समाप्ति वाले वेदांत शास्त्र विषे कथन करे हैं ४३७

शंका—हे भगवन! ते पांच कारण कौन हैं। ऐसी अर्जुन की शंका के हुए श्रीकृष्ण भगवान कहे हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवंचैवात्र पचमम् ॥४३८॥

गी० अ० १८ श्लोक १४॥

अर्थ—हे अर्जुन! इच्छा रागद्वेष सुख दुःख चेतना इत्यादिक धर्मों के अभिव्यक्ति का आश्रय रूप जो यह पचीकृत पञ्चभूतों का कार्यरूप स्थूल शरीर है। ता शरीर का नाम अधिष्ठान है। और मैं कर्ता हूं इस प्रकार के अभिमान वाला तथा ज्ञान शक्ति प्रधान अपचीकृत पञ्च महाभूतों का कार्यरूप ऐसा जो अहंकार है। जो अहंकार अन्तःकरण बुद्धि विज्ञान इत्यादिक नामों करके कथन किया जावे है। तथा जो अहंकार आत्मा के साथ तादात्म्य अध्यास करके स्वनिष्ठ कर्तृत्वादिक धर्मों को आत्मा विषे आरोपण करने हारा है। तां अहंकार का नाम कर्त्ता है। जैसे सो शरीर रूप अधिष्ठान अनात्मारूप हैं तथा आकाशादिक पञ्चभूतों का कार्यरूप है। तथा स्वप्न के पदार्थों की न्याईं माया करके कल्पित है। तैसे यह अहंकाररूप कर्त्ता भी अनात्मारूप है। तथा भूतों का कार्यरूप है। तथा स्वप्न पदार्थों की न्याईं कल्पित है। और अपचीकृत महाभूतों तैं उत्पन्न हुए तथा शब्दादिक विषयों के उपलब्धि का साधनरूप है। ऐसे जे श्रोत्रादिक

इन्द्रिय हैं तिन इन्द्रियों का नाम करण है। कैसा है सो करण पृथक् विधि है अर्थात् श्रोत्रादिक पञ्च ज्ञान इन्द्रियें तथा वागादिक पंच कर्म इन्द्रियें तथा मन बुद्धि इस द्वादश भेद तैं नाना प्रकार का है। और क्रियाशक्ति है प्रधान जिनों विषे ऐसे जे अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत हैं तिन पञ्च महाभूतों का कार्यरूप तथा क्रिया शक्ति प्रधानत्वरूप करके तथा वायवीयत्वरूप करके कथन करे हुए ऐसे जे क्रियाशक्ति रूप प्राणादिक हैं। तिन क्रियारूप प्राणादिकों का नाम चेष्टा है। कैसी है चेष्टा विविधा है अर्थात् प्राण अपान समान व्यान उदान इस भेद तैं पञ्च प्रकार की है। और पूर्व उक्त शरीर रूप अधिष्ठान तथा अहंकार रूप कर्त्ता तथा द्वादश प्रकार का करण तथा प्राणादिकरूप चेष्टा है इन सर्वों के ऊपर यथाक्रम तैं अनुग्रह करनेहारे जे देवता हैं तिन सर्व देवताओं का नाम दैव है। सो दैव यहां करणवर्ग विषे पञ्चम हैं। अर्थात पञ्चत्व संख्या के पूर्ण करने हारा है ४३८

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतेनरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥४३९॥ गी० अ० १८ श्लो० १५॥

अर्थ—हे अर्जुन! यह पुरुष शरीर वाक् मन इन तीनों करके जिस धर्म रूप अथवा अधर्म रूप कर्मों को प्रारंभ करे हैं। तिन सर्व कर्मों के यह अधिष्ठानादिक पंच ही कारण रूप हैं ॥४३९॥

तत्रैवं सतिकर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृत बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥४४०॥ गी० अ० १८ श्लो० १६॥

अर्थ—हे अर्जुन! तिन सर्व कर्मों विषे अधिष्ठानादिक पांचों करिकै जन्यता के हुये भी जो मूढ पुरुष असंग उदासीन रूप आत्मा को पुण्य पाप का कर्त्ता रूप देखता है। सो दुर्मति पुरुष शास्त्र जन्य विवेक बुद्धितैं रहित होने तैं नहीं देखता है ॥४४०॥

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥४४१॥ गी० अ० १८ श्लोक १७

अर्थ—हे अर्जुन! जिस विद्वान पुरुष का मैं कर्ता हूं इस प्रकार की वृत्ति नहीं होवै है। तथा जिस विद्वान पुरुष की बुद्धि नहीं लपायमान होवै है। सो विद्वान पुरुष इन सर्व लोकों को हनन करिकै भी नहीं हनन करै है तथा नहीं बंधायमान होवै है ॥४४१॥

यस्य नाहं कृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४४२॥

वराहोपनिषत् अ० ४ मं० २५॥

और प्राण चक्षु श्रोत्र मन सूर्यादिक यह जे पंच प्रकार के ज्योति हैं तिनों विषे मैं आत्मा देव प्राण का भी प्राण हूं और मैं आत्मा देव चक्षु का भी चक्षु हूं तथा मैं आत्मा देव श्रोत्र का भी श्रोत्र हूं तथा मैं आत्मा देव मन का भी मन हूं तथा मैं आत्मा देव सूर्यादिकों का भी सूर्य हूं। या प्रकार सर्व प्राणादिक ज्योति करिकै मैं अंतर्यामी आत्मा को जो अधिकारी पुरुष अपना आत्मा रूप करिकै निश्चय करै है। ते अधिकारी पुरुष ही मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप अक्ष हृदय नामा मंत्र को जाने है। तहां श्रुति—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचोह

वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्च क्षुरतिमुच्यधीराः। प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवंति ॥४४३॥ केन उ० खं० १ मं० २ ॥

अर्थ—जो आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र है अर्थात जिस स्वयं ज्योति आत्मा को श्रोत्र शब्द की न्याईं विषय नहीं कर सकता। और जिस स्वयं ज्योति आत्मा की सत्ता स्फुर्ति तैं श्रोत्र शब्दको प्रकाश कर सकता है। सो आत्मा है। इसी प्रकार सर्व को सत्तास्फुर्त्ति देने वाला आत्मा निश्चय करना चाहिये ॥४४३॥

चतुर्दश करणानां व्यापारश्चक्षुरादिनां। चक्षुषो रूपग्रहणं श्रोत्रयोः शब्द ग्रहणं जिह्वाया रसा स्वादनं घ्राणस्य गंध ग्रहणं वचसो वाग्व्यापाः पाणेरादानं पादयोः संचारः पायोरुत्सर्ग उपस्थस्यानंद ग्रहणं त्वचः स्पर्शग्रहणम् ॥४४४॥ नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ ॥

तदधीना च विषय ग्रहण बुद्धिः बुद्ध्या बुद्ध्यति चित्तेन चेतयत्यहं कारेणाहं करोति ॥४४५॥ नारदपरिव्राज० उपदेश ६ ॥

विसृज्यजीव एतान्देहाभिमानेनजीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः संचरति ॥४४६॥ नारदपरिव्राजको० उपदेश ६ ॥ जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः। शरीशभिमानेन जीवत्वम्। जीवत्वं घटाकाश महाकाशवद्व्यवधानेऽस्ति ॥४४७॥ नारदपरिव्राजकोपनि० उपदेश ६ ॥

अर्थ—जीव का अभिमान करने सें क्षेत्र का अभिमान होता है। शरीर का अभिमान करिकैं जीवत्व अभिमान होता है। जीव घटाकाश महाकाशवत व्यवधान है ॥४४७॥

एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति। स एव ब्रह्मे त्यज्यते ॥४४८॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ ॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान करिकै शरीर के अभिमान को परित्याग करने तैं शरीर अभिमानी नहीं होता है। सो केवल ब्रह्म ही होता है ॥४४८॥

हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुद मण्डले। समानो नाभि देशे तु उदाना कण्ठमध्यगः। व्यानः सर्व शरीरे तु प्रधानाः पंच वायवः ॥४४९॥

योगचूडामण्युपनिषत् मं० २३—२४ ॥

समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूत गुहाशयः। सर्वेंद्रिय गुणाभासः सर्वेंद्रिय विवर्जितः ॥४५०॥ ब्रह्मविद्योपनि० मं० १०७

अर्थ—आत्मा सर्व का साक्षी है तथा सर्व की बुद्धि रूपी गुहाशय में स्थित हुआ सर्व का आत्मा है। सर्व इंद्रियादिकों के व्यापारों को तथा प्राणों के व्यापारों को भासमान है। तथा सर्व इंद्रियों से तथा प्राणों से रहित है ॥४५०॥

स्थानत्रय व्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम्। सच्चिदानन्द पूर्णात्मा सर्व प्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ॥४५१॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० १०८ ॥

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीन स्थानों सें

मैं अतीत हूं और सर्व को मैं ग्रहण करने वाला हूं । तथा मैं सतचिदानंद सर्वत्र परिपूर्ण सर्व का आत्मा हूं । तथा सर्व के प्रेम का मैं अस्पद हूं ॥४५१॥

सच्चिदानंदमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि-चिद्घनः । सत्त्वस्वरूप सन्मात्र सिद्ध सर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥४५२॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० १०९ ॥

अर्थ—मैं सत् चिदानंद मात्र हूं स्वप्रकाश मैं चिंदघन रूप हूं । सत्त्वस्वरूप सत् मात्र हूं मैं प्रसिद्ध सर्व का आत्मा हूं ॥४५२॥

सर्वाधिष्टान सन्मात्रः स्वात्म बंध-हरोऽस्म्यहम् । सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥४५३॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० ११० ॥

अर्थ—मैं सर्व नाम रूप प्रपंच का अधिष्टान समान सत्तामात्र हूं । मैं अपने आत्मा की बंध को हरने वाला हूं । तथा प्रलय काल मैं सर्व का ग्रास करनै वाला हूं तथा सर्व का अनुभव करने वाला हूं ॥४५३॥

एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यत ॥ ब्रह्मविद्योपनिषत् ॥

कैसा हूं मैं अंतर्यामी आत्मा या जगत की उत्पत्ति तैं पूर्व तथा या जगत के नाश तैं अनन्तर मैं एक अद्वितीय रूप करिकै स्थित होवौं हूं । और जगत की स्थिति काल विषे मैं आत्मा देव शरीरादिक रूप कल्पित उपाधियों के संबंध तैं नाना रूप हुये की न्याईं प्रतीत होवों हूं । या प्रकार के आत्मा के वास्तव स्वरूप को जानने हारे पुरुषों को विषय रूप शत्रुओं तैं किंचित मात्र भी भय की प्राप्ति होवै नहीं ।

शंका—हे भगवन ! ऐसे अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार अधिकारी पुरुषों को किस प्रमाण करिकै होवै है ! समाधान—हे देवताओ ! सर्व भेद तैं रहित मैं अद्वितीय आत्मा हूं । मैं अद्वितीय आत्मा रूप स्पर्शादिक गुणों तैं रहित हूं । या कारण तैं नेत्रादिक बाह्य इंद्रियों करिकै मैं अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार होवै नहीं । किंतु मन करिकै ही मैं अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार होवै ।

शंका—हे भगवन ! जो मन करिकै ही अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार होता होवै तो सर्व जीवों के मन विद्यमान हैं । या तैं तिन जीवों को साधनों तैं विना ही अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार किस वास्तैं नहीं होता । समाधान—हे देवताओ ! वेदांत शास्त्र के श्रवण मननादिक जो साधन हैं तिन साधनों करिकै संस्कृत जो शुद्ध मन है ता शुद्ध मन करिकै ही आत्मा का साक्षात्कार होवै है । या प्रकार का मन सर्व जीवों का है नहीं । इस वास्तैं साधन हीन पुरुषों को मैं अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार होवै नहीं ।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर । योगस्तद्वृत्ति निरोहि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥४५४॥

शाण्डिल्योपनिषत् मं० २४ ॥

अर्थ—हे मुनीश्वर दो क्रम चित के नाश के हैं एक योग है दूसरा ज्ञान है । चित्त वृत्ति का निरोध करना योग है आत्मा का साक्षात्कार सम्यग दर्शन है सो ज्ञान है ॥४५४॥

द्विविधाश्चित्तनाशोऽस्ति स्वरूपोऽरूप एव च । जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूप

देहमुक्तिगः ॥४५५॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० १४ ॥

अर्थ—दो प्रकार चित्त के नाश के हैं एक स्वरूप नाश है दूसरा अरूप नाश है। जीवन्मुक्ति के वास्तैं स्वरूप नाश है और विदेह मुक्ति के वास्तैं अरूप नाश है ॥४५५॥

चित्त सत्तेह दुःखाय चित्तनाशा सुखाय च। चित्त सत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ॥४५६॥

अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० १५ ॥

अर्थ—चित्त की सत्ता सें इस जीव को दुःख होता है और चित्त के नाश सें जीव को मुक्ति रूपी सुख प्राप्त होता है। चित्त की सत्ता को अर्थात आत्माकार प्रवाह सें भिन्न विजातीय वृत्तियों का तिरसकार रूप क्षय करना है यह ही चित्त के नाश का उपाय है ॥४५६॥

अब या ही अर्थ को स्पष्ट करने वास्तैं मन विषे सर्व पदार्थों के ज्ञान की कारणता का निरूपण करै हैं। हे देवताओ ! यद्यपि श्रुति विषे नेत्रादिक इंद्रियों को अंतर आत्मा के दर्शन की आयोगता कथन करी है। तथापि हमनैं मन को अंतर बाहिर सर्व पदार्थों के दर्शन वास्तैं उत्पन्न कीया है या कारण तैं भूत भविष्यत वर्तमान या तीन कालों विषे वर्तमान जो पदार्थ हैं तिन पदार्थों को यह जीव मन करिकै ही जानै है। और तीन कालों तैं रहित जो मैं अंतर अद्वितीय आत्मा हूं तिस मैं आत्मा को भी यह अधिकारीपुरुष मन करिकै ही जानैं है।

शंका—हे भगवन ! जो मन करिकै ही सर्व पदार्थों का ज्ञान होता होवै तो नेत्र इंद्रिय ते रहित जो अंध पुरुष है तिस का मन तो विद्यमान है। या कारण तैं मन करिकै तिस अंध पुरुष को रूपादिकों का निश्चय होना चाहिये। समाधान—रूपादिक पदार्थों के दर्शन विषे नेत्रादिक इन्द्रिय मनके सहकारी कारण हैं। ता नेत्रादिक सहकारी कारणों के अभाव तैं सो मन रूपादिकों के निश्चय को उत्पन्न करै नहीं। काहे तैं या लोक विषे नेत्र इंद्रिय सहित मनवाला जो पुरुष है सो पुरुष जैसे नील पीतादिक रूपों को देखे है। तैसे नेत्र इंद्रिय रहित मन वाला जो अंध पुरुष नील पीतादिक रूपों को देखे नहीं और सो नेत्र इंद्रिय तैं रहित अंध पुरुष नील पीतादिक रूपों को नहीं जानता हुआ जैसे अपराध को प्राप्त होवै नहीं। तैसे नेत्रादिक प्रमाणों तैं विना नील पीतादिक रूपों को नहीं जानता हुआ यह मन भी अपराध को प्राप्त होवै नहीं। या तैं यह जीवात्मा पुरुष मन करिकै सर्व अंतर बाह्य पदार्थों को जाने है। तहां श्लोक—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृति गृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥४५७॥

गीता अ० ६ श्लोक २५ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सो योगी पुरुष धैर्य युक्त बुद्धि करिकै शनैः शनैः करिकै मन को निरोध करै तथा प्रत्यक् आत्मा विषे स्थित मन को करिकै आत्मा सें भिन्न पदार्थों का किंचितमात्र भी नहीं चिंतन करै ॥४५७॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धिया धृति गृहीतयात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥४५८॥ ध्यानविंदूपनिषत् ॥

पूर्व उक्त ही अर्थ है ॥

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्। भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो

भेदः कदाचन ॥४५९॥

ध्यानबिंदूपनिषत् मं० १ ॥

अर्थ—यदि पर्वत की न्याईं बहुत योजन विस्तार वाले पाप हैं। ते संपूर्ण पाप आत्मा के साक्षात्काररूप ध्यानयोग करिकै भिद्यते भेदन को प्राप्त होवै है अर्थात् नाश होवै हैं। अन्य किसी साधन सें नाश कदाचित भी नहीं होतै ॥४५९॥

तहां भेद को ग्रहण करने हारा नेत्रादिक प्रमाण है। तिनों करिकै सहकृत जो मन है ता मन करिकै यह जीव नाना प्रकार के भेद को ग्रहण करै है। और जीव ईश्वर के अभेद को बोधन करने हारा जो महावाक्य रूप शब्द प्रमाण है। ता शब्द प्रमाण करिकै सहकृत जो मन है ता मन करिकै यह अधिकारी पुरुष मैं अद्वितीय ब्रह्म को साक्षात्कार करै है। या तैं सर्व भेद तैं रहित तथा सर्व जीवों का मैं आत्मारूप जो अद्वितीय ब्रह्म हूं। तिस मैं आत्मा का साक्षात्कार शुद्ध मन करके ही होवे है। तहां श्रुति—(मन सैवानुद्रष्टकम्) अर्थ—यह अद्वितीय आत्मादेव श्रवण मननादिक साधनों करके युक्त जो शुद्ध मन है ता मन करके ही अधिकारी पुरुषों को आत्मादेव देखने योग्य है। तहां श्रुति—

आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रे। ह्या-त्मानो वाअरे दर्शनेन श्रवणेन सत्य-विज्ञानेनेद ७ सर्वं विदितम् ॥४६०॥

बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ मं० ५ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य जी कहतैं हैं अरे प्रिय मैत्रेयि वै निश्चय करके आत्मा साक्षात्कार करने योग्य है। परन्तु प्रथम श्रवण मनन निदिध्यासन कर्तव्य है कि साधन सम्पत्ति से विना फल की प्राप्ति होवे नहीं। इसलिये प्रथम वेदांत वाक्यों का तात्पर्य निश्चयरूप श्रवण करणा तदनन्तर तर्क से आत्मा की संभावना करनी फिर एकाग्रचित्त से आत्मा का चिंतन करना पश्चात् साक्षात्कार कर्तव्य है। और हे मैत्रेयि! आत्मा के श्रवण मनन निदिध्यासन दर्शन करके यह सर्व प्रपञ्च विदित होता है। क्योंकि सर्व प्रपञ्च ब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥४६०॥

शंका—हे भगवन! (यतो वाचो निवर्त्तंते अप्राप्य मनसासह) अर्थ—जैसे मध्याह्नकाल के सूर्य को विषय करने वास्तैं प्रवृत्त हुआ चक्षु इन्द्रिय ता सूर्य के तेज को न सहारता हुआ ता सूर्य तैं निवृत्त होइ आवे है। तैसे अद्वितीय आत्मा को विषय करने वास्तैं प्रवृत्त हुआ मन तथा वाणी ता आत्मा को न प्राप्त होइके ता अद्वितीय आत्मा तैं निवृत्त होइ आवे है। या श्रुति विषे अद्वितीय ब्रह्म को मन सहित वाणी का अविषय कहा है। (और मन सैवानुद्रष्टव्यम्) या श्रुति विषे अद्वितीय आत्मा को मन का विषय कहा है। यातैं तिन दोनों श्रुतियों का परस्पर विरोध होवे है। समाधान—हे देवताओ! यतो वाचो निवर्त्तंते या श्रुति विषे जो मनका निषेध किया है सो अशुद्ध मनका निषेध किया है। शुद्ध मनका निषेध नहीं किया। (और मनसैवानुद्रष्टव्यम्) याश्रुति विषे जो अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार विषे मन को करणता कही है। सो श्रवणादिक साधनों करके युक्त शुद्ध मनको करणता कही है। यातैं तिन दोनों श्रुतियों का परस्पर विरोध संभवै नहीं।

शंका—हे भगवन! (तंत्वोपानिषदं पुरुषं

पृच्छामि) अर्थ—उपनिषदरूप शब्द प्रमाण करके जानने योग जो अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा है ता आत्मा के साक्षात्कार विषे उपनिषदरूप शब्द को ही करणता कही है। (और मनसैवानुद्रष्टव्यम्) या श्रुति विषे अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार विषे मनको ही करणता कही है। यातें तिन दोनों श्रुतियों का परस्पर विरोध होवे है। समाधान—हे देवताओ! उपनिषद रूप शब्द प्रमाण की सहायता तैं विना यह मन आत्म साक्षात्कार को उत्पन्न करे नहीं। किंतु उपनिषदरूप शब्द प्रमाण की सहायता करके ही यह शुद्ध मन आत्मा के साक्षात्कार को उत्पन्न करे है। यातैं तिन दोनों श्रुतियों का भी परस्पर विरोध होवे नहीं। तात्पर्य यह है। कोइक विद्वान तो आत्मा साक्षात्कार के विषे उपनिषदरूप शब्द प्रमाण को करण माने है। और मन को सहकारी करण माने है। और कोईक विद्वान पुरुष तो आत्मा साक्षात्कार विषे मनको करणमानैं है। या दोनों प्रकार की प्रक्रिया श्रुति प्रमाण करके सिद्ध है। इतनै करके अद्वितीय ब्रह्मरूप मैं आत्मा के साक्षात्कार विषे प्रमाण का निरूपण किया। अब अद्वितीय ब्रह्मविषे सर्व द्वैत के निषेध का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! अद्वितीय ब्रह्मरूप जो मैं आत्मा देव हूं ता मैं परमात्मा विषे यह नाना प्रकार के भेद वाला प्रपञ्च किंचित मात्र भी नहीं है। काहे तैं व्याकरण की रीति से देशकाल वस्तु परिच्छेद तैं रहित जो सर्व से अधिक वस्तु है। सो वस्तु ही ब्रह्मशब्द का अर्थ सिद्ध होवे है। जो कदाचित ब्रह्मविषे किसी पदार्थ का भेद अंगीकार करिये तौ जो पदार्थ भेद वाला होवे है। सो पदार्थ वस्तु परिच्छेद वाला होवे है। और जो पदार्थ भेद रूप वस्तु परिच्छेद वाला होवे है। सो पदार्थ अल्प होवे है। और जो पदार्थ अल्प होवे है। सो पदार्थ सर्व तैं अधिक होवे नहीं। जैसे घट पटादिक पदार्थ हैं। यातैं भेद के अंगीकार करने तैं सर्व तैं अधिकता रूप ब्रह्मशब्द का अर्थ मैं परमात्मा देव विषे नहीं घटेगा। तहां श्रुति—

शशशृंगेण नागेंद्रो मृतश्चेज्जगदस्ति तत्। मृगतृष्णा जलं पीत्वा तृप्तश्चेदस्त्विदं जगत् ॥४६१॥

तेजोबिंदूप० अ० ६ मं० ७४॥

अर्थ—शशे के शृंगों से बहुत परमत्त हस्ती जब मृत्यु होवेगा। तब जगत सत्य होवेगा। तथा जब मृगतृष्णा के जल को पान करने से तृप्ति होवेगी तब यह जगत् सत्य होवेगा ॥४६१॥

नरशृंगेण नष्टश्चेकुश्चिदस्त्विदमेवहि। गंधर्वनगरे सत्ये जगद्भवत सर्वदा ॥४६२॥

तेजोबिंदूप० अ० ६ मं० ७५॥

अर्थ—जब पुरुष के शृंगों से कोई पुरुष मृत्यु को प्राप्त होवेगा तब यह जगत् सत्य होवेगा। तथा गंधर्व नगर सत्य होवेगा तब यह जगत सदैव काल सत्य होवेगा ॥४६२॥

गगने नीलिमा सत्ये जगत्सत्यं भविष्यति। शुक्तिका रजतं सत्यं भूषणं चे जगद्भवत् ॥४६३॥

तेजोबिंदूप० अ० ६ मं० ७६॥

अर्थ—यदि अकाश में नीलामा सत्य होवैगी तब जगत सत्य होवैगा। तथा यदि शुक्ति आश्रित रजत सें भूषणों की रचना होवैगी तब जगत सत्य होवैगा ॥४६३॥

रज्जुसर्पेण दष्टश्चेन्नरो भवतु संसृतिः। जातरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते जगत् ॥४६४॥ तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ७७॥

अर्थ—यदि रज्जु में उत्पन्न सर्प के काटने सें पुरुष मृत्यु को प्राप्त होवैंगे तब यह यह जगत सत्य होवैगा। तथा यदि तात्काल उत्पन्न हुये बालक के बाण के परिहार सें अग्नि प्रज्वलित सें बन दग्ध होवेगा तब यह जगत सत्य होवैगा ४६४

सद्यः कुमारिकारूपैः पाके सिद्धे जगद्भवेत्। चित्रस्थ दीपैस्तमसो नाशश्चेदस्त्विदं जगत् ॥४६५॥

तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ७९॥

अर्थ—यदि तात्काल काटी हुई घी कुमारी सें रसोई पाक सिद्ध होवैगा तब जगत सत्य होवैगा। तथा यदि चित्र लिखित दीपक सें अंधकार का नाश होवैगा तब यह जगत सत्य होवैगा ॥४६५॥

मासात्पूर्वं मृत्युतो मर्त्यो ह्यागतश्चेज्जगद्भवेत्। तक्रंक्षीर स्वरूपं चेत्कचिन्नित्यं जगद्भवेत् ॥४६६॥

तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ८०॥

अर्थ—यदि एक मास का मृत्यु हुआ पुरुष लौटि आवैगा। तब जगत सत्य होवैगा। तथा यदि तक्र कहिये छाछ दुग्ध रूप हो जावैगा तब जगत आत्मा में सत्य होवेगा ॥४६६॥

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोपणं जगत्। भूरजोऽब्धौ समुत्पन्ने जगद्भवतु सर्वदा ॥४६७॥

तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ८१॥

अर्थ—यदि गौ के स्तनों सें निकाला हुआ दुग्ध पुनः स्तनों द्वारा दुग्ध गौ के भीतर प्रवेश हो जावैगा तब यह जगत आत्मा में सत्य होवैगा। तथा यदि पृथ्वी के परमाणु में समुद्र की उत्पत्ति होवैगी तब यह जगत आत्मा में सत्य होवैगा ॥४६७॥

कूर्मरोम्णागजे बद्धे जगदस्तुतदोत्कटे। नालस्थ तंतुना मेरुश्चालितश्चेज्जगद्भवेत् ॥४६८॥

तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ८२॥

अर्थ—यदि कूर्म के रोमों से ग्रस्त हस्ती बंधायमान होवेगा। तथा जब कमल की नाल की तंतु से हस्ती बंधायमान होवेगा। तब यह जगत आत्मा में सत्य होवेगा। तथा यदि मेरू चलायमान होवेगा तब यह जगत आत्मा में सत्य होवेगा ॥४६८॥

ज्वाला वह्निः शतिलश्चेदास्तिरूपमिदं जगत्। ज्वालाग्नि मंडले पद्मवृद्धिश्चेज्जगदास्त्विदम् ॥४६९॥

तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ८४॥

अर्थ—यदि अग्नि की ज्वाला शीतल हो जावेगी तब यह जगत आत्मा में सत्य होवेगा। तथा जब अग्नि की ज्वाला के मण्डल में कमल की उत्पत्ति होवेगी तब यह जगत आत्मा में सत्य होवेगा ॥४६९॥

काको वा हंसवद्गच्छेज्जगद्भवतु निश्चलम्। महाखरो वा सिंहेन युध्यते चेज्जगात्स्थितिः ॥४७०॥

तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ९३॥

अर्थ—अथवा यदि कौवा हंस की न्याई

गमन करेगा। तब यह जगत आत्मा में अचल होवेगा। अथवा यदि गधहा सिंह के साथ युद्ध करेगा तब यह जगत् आत्मा में सत्य होवेगा ॥४७०॥

हे देवताओ ! या लोक विषे शास्त्र में शब्दों का दो प्रकार का अर्थ अंगीकार करा है। एक तो शब्द का मुख्यार्थ होवे है। और दूसरा शब्द का गौणार्थ होवे है। जैसे देवदत्त नामा पुरुष सिंह है। या स्थान विषे मृगराज पशु-विषे सिंह शब्द का मुख्यार्थ है। और देवदत्त नामा पुरुष सिंह शब्द का गौणार्थ है। और जिस स्थल विषे शब्द का मुख्यार्थ संभव हो इसके तिस स्थल विषे ता शब्द का गौणार्थ नहीं अंगीकार करणा या प्रकार का भी शास्त्र का संकेत है यातैं एक अद्वितीय मैं परमात्मा देव को छोड़के जितने कि हस्ती आदिक अनात्मपदार्थ हैं। तिन हस्ती आदिकों विषे यद्यपि अश्वादिकों की अपेक्षा करके अधिकता है। और पर्वत की अपेक्षा करके हस्ती विषे अधिकता है नहीं। तथापि अकाशादिकों की अपेक्षा करके तिन पर्वत आदिकों विषे अधिकता नहीं इस प्रकार सर्व अनात्मपदार्थों विषे सापेक्ष अधिकता है। या कारण तैं हस्ती आदिक अनात्मपदार्थ ब्रह्म शब्द का गौणार्थ है। और देशकाल वस्तु परिच्छेद तैं रहित जो मैं परमात्मादेव हूं। हमारे विषे किसी पदार्थ की अपेक्षा करके तिन पर्वतादिकों विषे अधिकता नहीं। किंतु हमारे विषे निरपेक्ष अधिकता है। इस वासतैं मैं परमात्मादेव ही ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ हूं। जो पदार्थ किसी देश विषे होवे है। किसी देश विषे नहीं होवे है। सो पदार्थ देश परिच्छेद वाला होवे है। और जो पदार्थ किसी काल विषे होवे है। और किसी काल विषे नहीं होवे है। सो पदार्थ काल परिच्छेद वाला होवे है। और जो पदार्थ दूसरे किसी पदार्थ तैं भिन्न होवे है। सो पदार्थ वस्तु परिच्छेद वाला होवे है। और जो पदार्थ देशकाल वस्तु परिच्छेद वाला होवे है। सो पदार्थ अल्प होवे है। जैसे पुरुष के हस्त विषे स्थित जो आमलक फल है सो देश काल वस्तु परिच्छेद वाला है। या कारण तैं सो आमलक फल अल्प है। तैसे मैं परमात्मा देव तैं। भिन्न जितने कि अनात्मपदार्थ हैं। ते सर्व देशकाल वस्तु परिच्छेद वाले हैं। यातैं ते सम्पूर्ण अनात्मपदार्थ अल्प हैं। तथा रज्जु सर्प की न्याईं मिथ्या हैं। तहां श्रुति—

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्तो न कर्हिचित्। जीवत्वं च तथा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पग्रहो यथा ॥४७१॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० १ ॥

अर्थ—देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित व्यापक चैतन्य एक रूप होने तैं कदाचित भी भेद युक्त नहीं है। व्यापक परमात्मा में जीव को तैसे जानो जैसे रज्जु में सर्प का ग्रहण है ४७१

रज्ज्वज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी। भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥४७२॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं २ ॥

अर्थ—जैसे रज्जु के ज्ञान तैं एक क्षण करिकै जैसे रज्जु ही शेष होती है सर्प नहीं रहिता है। तैसे चैतन्य के साक्षात्कार से अनंतर ऐसा ज्ञान होवै है यह विश्व ब्रह्म रूप केवल है ॥४७२॥

उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न

विद्यते । तस्मात्सर्वप्रपंचोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥४७३॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ३ ॥

अर्थ—इस नाम रूप प्रपंच का उपादान ब्रह्म है अन्य नहीं । तिस कारण तैं यह सर्व प्रपंच ब्रह्म रूप ही है इतर नहीं है ॥४७३॥

व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात् । इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥४७४॥

योगशिखोपनिषत् अ० ४ मं० ४ ॥

अर्थ—जीव व्याप्य है ईश्वर व्यापक है यह दोनों शब्द मिथ्या हैं यह श्रुति की आज्ञा है । इस प्रकार परम तत्त्व के ज्ञान सें अनंतर भेद का अवसर कहां हैं ॥४७४॥

और देश काल वस्तु परिच्छेद तैं रहित जो सर्व तैं अधिक वस्तु है सो ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ है । और सर्व तैं अधिकता तथा अल्पता तथा मिथ्यात्वता यह तीनों धर्म परस्पर विरोधी हैं । या तैं एक पदार्थ विषे ते तीनों धर्म रहैं नहीं । किंतु जिस पदार्थ विषे अधिकता धर्म रहै । तिस पदार्थ विषे अल्पता धर्म रहै नहीं । और जिस पदार्थ विषे अल्पता धर्म रहै है । तिस पदार्थ विषे अधिकता धर्म रहै नहीं । या कारण तैं मैं परमात्मा देव तैं भिन्न सर्व अनात्म पदार्थ ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ है नहीं और सो भेद रूप वस्तु परिच्छेद भी तीन प्रकार का होवै हैं । एक तो स्वरूप भेद रूप वस्तु परिच्छेद होवै है । और दूसरा सजातीय भेद रूप वस्तु परिच्छेद होवै है । और तीसरा विजातीय भेद रूप वस्तु परिच्छेद होवे है । आपने स्वरूप विषे स्थित जो भेद हैं ता का नाम स्वरूप भेद है । जैसे एक ही वृक्ष विषे स्कंध शाखा पत्र पुष्प फल इत्यादिकों का जो परस्पर भेद है । सो भेद स्वरूप भेद है या स्वरूप भेद को ही शास्त्र विषे स्वगत भेद कहे हैं । सो स्वगत भेद सावायव पदार्थों विषे होवे है । और मैं अद्वितीय ब्रह्म निरवायव हूं । या कारण तैं मैं अद्वितीय ब्रह्म विषे रूप भेद संभवै नहीं । और समान जाति वाले पदार्थों का जो परस्पर भेद होवे है । ता भेद का नाम सजातीय भेद है । जैसे गोत्वरूप जाती वालियां जो सर्व गौवां हैं । तिनों विषे शुक्लवर्ण वाली गौवों विषे कृष्णवर्ण वाली गौवों तैं भेद रहे है । अथवा सर्व अङ्गों करके सम्पन्न गौवों विषे शृंगादिक अङ्ग हीन गौवों का भेद रहे है । याका नाम सजातीय भेद है । सो सजातीय भेद भी मैं अद्वितीय परमात्मा विषे है नहीं । और विरुद्ध जातीवाले पदार्थों का जो परस्पर भेद होवे है । ता भेद का नाम विजातीय भेद है । जैसे मनुष्यत्व जाती वाले मनुष्य विषे घटत्व जातीवाले घटों का भेद होवे है । ता भेद का नाम विजातीय भेद है । सो विजातीय भेद भी मैं अद्वितीय परमात्मा विषे संभवै नहीं । हे देवताओ ! जैसे अकाश विषे जो गंधर्व नगर प्रतीत होवे है । सो गंधर्व नगर अधिष्ठान रूप अकाश तैं तीन काल विषे भिन्न नहीं है । तैसे मैं अद्वितीय परमात्मा विषे जो यह स्थूल सूक्ष्म कारण रूप प्रपञ्च प्रतीत होवे है । सो प्रपञ्च अधिष्ठान मैं ब्रह्म तैं तीनकाल विषे भिन्न नहीं है । और जैसे स्वप्न अवस्था विषे सम्पूर्ण पदार्थों तैं रहित देशकाल स्वप्न द्रष्टा पुरुष विषे ही उत्पन्न होवे है । तैसे देशकाल तैं आदि लैके यह सम्पूर्ण जगत भी मै ब्रह्म विषे ही उत्पन्न होवे है । कैसा हूं

मैं ब्रह्म परमानन्द स्वरूप हूं। तथा सूर्यादिक ज्योति का भी ज्योति हूं। तथा नाश तैं रहित हूं तथा सर्व भेद तैं रहित हूं। तथा सर्वत्र व्यापक हूं। जैसे घटादिक उपाधियों तैं रहित शुद्ध अकाश का आपने स्वरूप के साथ भेद नहीं है। तैसे माया आदिक उपाधियों तैं रहित मैं शुद्ध ब्रह्म का अन्तःकरणादिक उपाधियों तैं रहित शुद्ध आत्मा के साथ भेद नहीं है।

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। कार्य कारणतां हित्वापूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥४७५॥

शुकरहस्योपनिषद् मं० १२ ॥

अर्थ—अविद्या का कार्य रूप अन्तःकरण इस जीव की उपाधि है। और मूल प्रकृति कारण उपाधि ईश्वर की है। कार्य कारण उपाधियों के परित्याग करने से समान चेतन सत्तामात्र पूर्ण वस्तु का बोध होवे है ॥४७५॥

काहे तैं जैसे मशक शरीर विषे तथा हस्ती शरीर विषे अकाश अन्तर बाहिर समान व्यापक है। तैसे मैं आत्मादेव भी सर्व जगत विषे अन्तर बाहिर समान व्यापक हूं।

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेवच। सूक्ष्मत्वात्त दविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥४७६॥ गी० अ० १३ श्लो० १५॥

अर्थ—हे अर्जुन! सो ज्ञेय ब्रह्म ही सर्व भूतों के बाह्य है तथा अन्तर है तथा स्थावर रूप है तथा जंगम रूप है तथा सूक्ष्म होने तैं अविज्ञेय है तथा सो ज्ञेय ब्रह्म अत्यंत दूर स्थित है तथा अत्यंत समीप है ॥४७६॥

ऐसे जीव साक्षी की व्यापक ब्रह्म के साथ एकता संभवै है। और जैसे रज्जु रूप अधिष्ठान विषे प्रतीत भये जे सर्प दंड माला जलधारा इत्यादिक कल्पित पदार्थ हैं। ते सर्पादिक कल्पित पदार्थ रज्जु रूप अधिष्ठान विषे ही स्थित हैं। रज्जु रूप अधिष्ठान तैं ते सर्पादिक तीन काल विषे भिन्न नहीं है। तैसे देश काल तैं आदि लै कै संपूर्ण जगत मैं आधिष्ठान रूप ब्रह्म तैं भिन्न नहीं हैं मेरे विषे ही स्थित है मैं अधिष्ठान ब्रह्म तैं सो जगत तीन काल विषे भिन्न नहीं। और संपूर्ण देहधारी जीवों का जो आत्मा है सो आत्मा पूर्व उक्त सर्व भेदों तैं रहित है। या कारण तैं जीवों का आत्मा ब्रह्म रूप है। और आनंद स्वरूप आत्मा तैं दूसरा कोई अधिक पदार्थ नहीं है। किंतु यह सर्व जीवों का आत्मा देव ही सर्व पदार्थों तैं अधिक है। या कारण तैं अयमात्मा ब्रह्म इत्यादिक श्रुतियों विषे या आनंद स्वरूप आत्मा को ही ब्रह्म रूप करिकै कथन किया है। या तैं ब्रह्म विषे तथा सर्व जीवों के आत्मा विषे किंचित मात्र भी भेदन नहीं है। तहां श्रुति—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्मत्वंविद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४७७॥

केनोपनिषत् खं० १ मं० ५ ॥

अर्थ—जिस दृक् वस्तु आत्मा को अंतःकरण मन करिकै (न मनुते) न तो कोई संकल्प करता है और न निश्चय करता है किंतु असंग उदासीन तिस चैतन्य करिकै संशय वृत्ति तथा निश्चय वृत्ति विशिष्ट अंतःकरण को (मतम्) प्रकाशित ब्रह्मवेत्ता पुरुष कथन करते हैं। तिस को तूं ब्रह्म जान कर मनन कर तिस तैं भिन्न इदं करिकै उपास्य को ब्रह्म

मत जान ॥४७७॥

हे देवताओ ! जो कदाचित या आनंद स्वरूप आत्मा विषे भेद होवैगा । तो अयमात्मा ब्रह्म या श्रुति नैं कथनकरी जो आत्मा की ब्रह्म रूपता सो संभवैगी नहीं । और या आनंद स्वरूप आत्मा विषे जो ब्रह्म रूपता होवैगी तो या आनंद रूप आत्मा विषे भेद नहीं रहैगा । काहे तैं ब्रह्म रूपता तथा भेद यह दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध ही हैं । और जो धर्म परस्पर विरोधी होवै है । ते धर्म एक अधिकरण विषे रहै नहीं । जैसे उष्णता तथा शीतलता यह दोनों धर्म परस्पर विरोधि हैं । या तैं ते दोनों धर्म एक अधिकरण विषे रहै नहीं । तैसे ब्रह्म रूपता तथा भेद यह दोनों धर्म भी परस्पर विरोधी होने तैं एक अधिकरण विषे रहै नहीं। तिन दोनों धर्मों विषे एक धर्म का परित्याग किया चाहिये । हे देवताओ ! ऐसे मैं अद्वितीय ब्रह्म के साक्षात्कार की जिस पुरुष को इच्छा होवै सो पुरुष या प्रकार का उपाय करै । अनात्म पदार्थों को प्रतिपादन करने हारे जितने कि व्याकरणादिक शास्त्र हैं तिन का परित्याग करिकै यह अधिकारी पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ट गुरु के मुख तैं केवल वेदांत शास्त्र को श्रवण करै। और एकांत देश विषे स्थित होइकै ता श्रवण करे हुये अर्थ का मनन करै । और ता मनन करिकै निश्चय करा जो अद्वितीय ब्रह्म रूप अर्थ है । ता के विषे चित्त की वृत्ति का निरंतर प्रवाह रूप निदिध्यासन करै। तथा बालक की न्याईं रागद्वेष से रहित होवै। तथा ब्रह्मचर्यादिक साधन करिकै युक्त होवै । तहां श्रुति—

मुमुक्षुवः पुरुषाः साधन चतुष्टय संपन्नाः । श्रद्धावंतः सुकुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्य गुणवंत मकुटिलं सर्वभूतहितेरतं दया समुद्रं ॥४७८॥

मुक्तिकोपनिषत् अ० १ मं० ६ ॥

अर्थ—मुमुक्षु पुरुष साधन चतुष्टय संपन्न गुरु ईश्वर वेद में श्रद्धा वाला श्रेष्ट कुल में उत्पन्न होवै पठत शास्त्र के अनुसार गुण युक्त होवै कुटिलता सें रहित होवै तथा सर्व भूतों के हित में वर्तमान होवै दया का समुद्र होवै ॥४७८॥

योगीयुंजीत सतत मात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥४७९॥ गी० अ० ६ श्लोक १० ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सो योगारूढ पुरुष एकांत देश विषे स्थित होइकै तथा एकाकी होइकै तथा यतचित्तात्मा होइकै निराशी होइकै तथा परिग्रह तैं रहित होइकै अपने चित्त को निरंतर समाहित करै ॥४७९॥

या प्रकार श्रवणादिक साधनों करिकै संपन्न हुआ यह अधिकारी पुरुष अपने मन का अंतर आत्मा विषे लय करै । या प्रकार का मन का लय ही सर्व दुःखों का नाश करै है ।

शंका—हे भगवन ! या आत्मा का साक्षात्कार जो सर्व दुःखों का नाश करै है । तो सो आत्मा संपूर्ण जीवों का अपना आप है सो सर्व जीव तिस आत्मा को किस वास्तैं नहीं जानैं। समाधान—ता आत्मा के ना ज्ञान का हेतु रूप श्लोक श्रीकृष्ण भगवान कहै हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः । मूढोऽयंनाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥४८०॥

गी० अ० ७ श्लोक २५ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं परमेश्वर सर्व लोकों को प्रगट नहीं होवै हूं। जिस कारण तैं मैं परमेश्वर योग माया करिकै अवृत्त हूं। तिस कारण तैं मूढ हुआ यह लोक जन्म तैं रहित तथा मरण तैं रहित मैं परमेश्वर को नहीं जानैं हैं ॥४८०॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो-मलेन च । यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥४८१॥

गी० अ० ३ श्लोक ३८ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे धूम ने अग्नि आवृत्त करी है तथा जैसे रजरूप मल दर्पण को आवृत्त करता है। तथा जैसे जरायु चर्म गर्भ को आवृत्त करता है। तैसे तिस काम ने यह जीवों का ज्ञान आवृत्त करा है ॥४८१॥

मैं परमेश्वर सर्व चराचर जीवों का आत्मा हूं सर्व के अंतर बाहिर व्यापक हूं। जैसे घटाकाश महाकाश का परस्पर भेद नहीं है। तैसे मैं व्यापक परमेश्वर का तथा जीवात्मा का परस्पर भेद नहीं है। तहां श्लोक—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥४८२॥ गी० अ० १५ श्लोक ७

अर्थ—हे अर्जुन ! इस संसार विषे मैं परमात्मा का ही अंश सनातन जीवरूप है। सो जीव मन है छठा जिनों विषे ऐसे प्रकृति विषे स्थित श्रोत्रादिक इन्द्रियों को आकर्षण करे है ॥४८२॥ तहां श्रुति—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वंतिके। तदंतरस्य सर्व्वस्य तदुसर्व्वस्यास्य बाह्यतः ॥४८३॥ ईशोपनिषत् मं० ५ ॥

अर्थ—सो आत्मतत्त्व चलता है और सो आप तैं नहीं चलता है कहिये अचल हुआ चलते की न्याईं प्रतीत होवे है। किंवा सो दूर है कहिये अविद्वानों को कोटि वर्षन से भी प्राप्त होने योग्य नहीं है। यातैं दूर की न्याईं है। तैसे विद्वानों का आत्मा है या तैं अत्यंत ही समीप है। केवल दूर और समीप नहीं। किंतु सो आत्मा इस नामरूपात्मक प्रपंच के भीतर सर्व का आत्मारूप है। तथा इस सर्व जगत के बाहर है आकाश की न्याईं व्यापक होने तैं सर्व से अधिक है सूक्ष्म है होने तैं प्रज्ञानघ नहीं है। आत्मा निरंतर एक रस है ॥४८३॥

इसी वास्ते श्रुति विषे आत्मा के वक्ता को तथा वक्ता के लभता को तथा आत्मा के साक्षात्कार करता अधिकारी को आश्चर्यरूप कहा है। तहां श्रुति—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वंतोऽपि बहवो यंनविद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥४८४॥

कठोप० अ० १ वल्ली २ मं० ७ ॥

अर्थ—जो मोक्ष के अर्थी पुरुष हैं तिन सहस्रों पुरुषों विषे हे नचिकेता ! तुमारे जैसा आत्मवेता कोईक पुरुष ही होवे है। यातैं यह आत्मा बहुत पुरुषों को श्रवण करने को भी प्राप्त नहीं होता। और अन्य अभागी संस्कार रहित चित्त वाले अनेक पुरुष श्रवण करते हुये भी या आत्मा को जानते नहीं। किंवा या आत्मा का वक्ता आश्चर्य है और इस वक्ता का (लब्धा) खोजने वाला अधिकारी भी आश्चर्य रूप है। (कुशलः) अत्यंत चतुररूप होता है।

और जानने वाला भी किसी चतुरगुण करके (अनुशिष्टः) शिक्षित आश्चर्यरूप है ॥४८४॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य-वद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैन मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥४८५॥ गी० अ० २ श्लोक २९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! यह आत्मादेव आश्चर्य-वत्त है। क्या अद्भुत पदार्थ के समान है। तथा अविद्या करके कल्पित नाना प्रकार के विरुद्ध कर्म वाला हुआ प्रतीत होवे है। या कारण तैं यह आत्मादेव वास्तव तैं सर्वदा विद्यमान हुआ भी अविद्यमान हुये की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं स्वप्रकाश चैतन्य-रूप हुआ भी जड़ की न्याईं प्रतीत होवे है तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं आनंदस्वरूप हुआ भी दुःखी हुये की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं सर्व विकारों ते रहित हुआ भी विकारवान की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं नित्यरूप हुआ भी अनित्य की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं प्रकाशमान हुआ भी अप्रकाश की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं ब्रह्मरूप हुआ भी ब्रह्म तैं अभिन्न हुआ भी भिन्न की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मादेव वास्तव तैं सर्वदा मुक्त हुआ भी बद्ध हुये की न्याईं प्रतीत होवे है। तथा यह आत्मा-देव वास्तव तैं अद्वितीयरूप हुआ भी स द्वितीय की न्याईं प्रतीत होवे है। इस तैं आदि लैके अनेक प्रकार की आश्चर्यवतरूपता आत्माविषे है। जैसे आश्चर्यवत आत्मा को शम दमादिक साधन सम्पन्न तथा अंत्य शरीर वाला कोईक पुरुष ही गुरुशास्त्र के उपदेश तैं अविद्या रचित सर्व द्वैत प्रपंच का निषेध करके परमात्मा के स्वरूप मात्र को विषय करने हारी तथा महा वाक्यरूप वेदांतशास्त्र करके जन्य तथा सर्व पुण्य कर्मों का फलरूप ऐसी अंतःकरण की वृत्ति विषे साक्षात्कार करे है। अब दर्शन रूप क्रिया विषे आश्चर्यवत रूपता निरूपण करे हैं। (पश्यति) या शब्द का अर्थरूप जो आत्मा की दर्शनरूप क्रिया है। स दर्शनरूप क्रिया भी आश्चर्यवत् है। काहे तैं अंतःकरण का वृत्तिज्ञानरूप तैं मिथ्यारूप हुआ भी सत्य आत्मा का अभिव्यंजक है। तथा जो ज्ञान अविद्या का कार्यरूप हुआ भी ता अविद्या को नाश करे है। तथा सो ज्ञान अविद्यारूप कारण को नाश करता हुआ भी तो अविद्या का कार्य होने तैं अपने को भी नाश करे है। इस तैं आदि लैके अनेक प्रकार आश्चर्यवत रूपता ता ज्ञानरूप दर्शन विषे है। अब ता दर्शनरूप क्रिया के विद्वानरूपकर्ता विषे आश्चर्यवत् रूपता निरूपण करे हैं। (कश्चित) या शब्द करके कथन करा जो आत्म साक्षात्कारवान पुरुष है। सो विद्वान पुरुष भी आश्चर्यवत है। काहे तैं यह विद्वान पुरुष आत्म साक्षात्कार करके अविद्या तैं तथा अविद्या के कार्य तै रहित हुआ भी प्रारब्ध कर्म की प्रबलता तैं अज्ञानी पुरुष की न्याईं व्यवहार करे है। तथा यह विद्वान पुरुष सर्वदा समाधि विषे स्थित हुआ भी व्युत्थान को प्राप्त होवे है। तथा यह विद्वान पुरुष व्युत्थान को प्राप्त हुआ भी पुनः समाधि को अनुभव करे हैं। इस तैं आदि लैके अनेक प्रकार की आश्चर्यवत रूपता विद्वान पुरुष विषे है। यातैं यह अर्थ सिद्ध भया। जो आत्मा तथा जिस आत्मा का ज्ञान तथा जिस आत्मा

के जानने द्वारा पुरुष यह तीनों आश्चर्यरूप हैं। तिस परम दुर्विज्ञेय आत्मा को तूं विना ही प्रयत्न तैं किस प्रकार जाण सकेगा। किंतु प्रयत्न तैं विना ता आत्मा को जानना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार उपदेश करनेहारे ब्रह्मवेत्ता पुरुष के अभाव तैं भी आत्मा दुर्विज्ञेय है। काहे तैं जो विद्वान पुरुष आप आत्मा को अपरोक्ष जानेहै। सो विद्वान पुरुष ही दूसरे अधिकारी पुरुषों के प्रति तिस आत्मा का उपदेश करसके हैं। और जो पुरुष आप ही आत्मा को नहीं जानता है। सो अज्ञानी पुरुष दूसरे किसी के प्रति आत्मा का उपदेश करसके नहीं। और जो विद्वान पुरुष आत्मा को अपरोक्ष जाने हैं। सो विद्वान पुरुष विशेष करके तौ समाधि युक्त ही होवे हैं। यातैं सो समाधि विषे जुड्या हुआ ब्रह्मवेत्ता पुरुष दूसरे अधिकारी पुरुषों के प्रति किस प्रकार आत्मा का उपदेश करेगा। किंतु नहीं करेगा। जिस कारण तैं चित्त की बाह्य वृत्ति तैं विना उपदेश करना संभवता नहीं। और जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष का चित्त ता समाधि तैं व्युत्थान को प्राप्त हुआ है। सो ब्रह्मवेत्ता पुरुष यद्यपि अधिकारी पुरुषों के प्रति आत्मा के उपदेश करने विषे समर्थ है, तथापि सो ब्रह्मवेत्ता पुरुष दूसरे अधिकारी पुरुषों को जानना कठिन है। और जो कदाचित्त यह अधिकारी पुरुष जिस किसी प्रकार करके ता ब्रह्मवेत्ता पुरुषों को जाने भी तौ भी सो ब्रह्मवेत्ता पुरुष लाभ पूजा ख्याति आदिक प्रयोजन की अपेक्षा करे नहीं। यातैं सो ब्रह्मवेत्ता पुरुष ता अधिकारी पुरुष के प्रति आत्मा का उपदेश नहीं करेगा। और सो ब्रह्मवेत्ता पुरुष जो कदाचित्त जिस प्रकार तैं कृपा मात्र करके ता अधिकारी पुरुष के प्रति आत्मा का उपदेश करे भी तौ भी ऐसा कृपालु ब्रह्मवेत्ता पुरुष ईश्वर की न्याईं अत्यन्त दुर्लभ है। या प्रकार के अभिप्राय करके श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन के प्रति कहे है। (आश्चर्य वद्वदति तथैव चान्यः) हे अर्जुन! इस आत्मादेव को अन्य पुरुष आश्चर्य की न्याईं कथन करे हैं। ईहां (चान्यः) या शब्द करके सर्व अज्ञानी जनों तैं विलक्षण पुरुष का ग्रहण करना। कोई आत्मा के जाननेहारे पुरुष तैं भिन्न पुरुष का ग्रहण नहीं करना। काहे तैं जो पुरुष जिस वस्तु को जाने है। सो पुरुष ही तिस वस्तु का कथन करे है। तिस वस्तु के जाने तैं विना तिस वस्तु का कथन संभवै नहीं। तहां श्रुति—

तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ॥३८६॥

नृसिंह पूर्वतापिनी उ० खं० ९ ॥

अर्थ—जिस वस्तु को पुरुष मन करके (अभिगच्छति) चिंतन करता है तिसको वाणी से कथन करता है ॥४८६॥

यातैं आत्मा के जाननेहारे पुरुष से भिन्न पुरुष का जो अन्य शब्द करके ग्रहण करिये तो वाद तो व्याघात दोष की प्राप्ति होवेगी ईहां भी (एनं) या शब्द करके कथन करा जो आत्मा रूप कर्म है। तथा (वदति) या शब्द करके कथन करी जो वदनरूप क्रिया है। तथा (अन्यः) या शब्द करके कथन करा जो ता वदन रूप क्रिया का कर्त्ता है या तीनों का ही आश्चर्यवत यह विशेषण जानना। तहां आत्मा रूप कर्म विषे तथा विद्वान पुरुष रूप कर्त्ता विषे आश्चर्यवत रूपता। इसी श्लोक विषे पूर्व कथन कर आये हैं। सो ईहां भी जानलेना।

अब वदन रूप क्रिया विषे आश्चर्यवत रूपता निरूपण करे हैं । हे अर्जुन ! सर्व शब्दों का आवाच्यरूप जो आत्मादेव है ता आत्मादेव का जो कथन है सो कथन है सो भी आश्चर्य वत है । तहां श्रुति । (यतो वाचो निवर्त्तंते अप्राप्य मनसा सह) अर्थ—मन सहित वाणी भी जिस आत्मा को ना प्राप्त होइके जिस आत्मा तैं निवृत्त होइ आवै हैं । तात्पर्य यह है अविद्या अन्तःकरणादिक विशिष्ट अर्थ विषे है शक्ति जिनों की तथा भाग साग लक्षणा करके कल्पित है सम्बन्ध जिनों का ऐसे जो तत्त्वं आदिक शब्द हैं । तिन शब्दों करके सर्व धर्मों तैं रहित शुद्ध आत्मा का जो निर्विकल्पक साक्षात्कार रूप प्रतिपादन है सो असन्त आश्चर्यरूप अर्थ का शब्द बोधन करता नहीं । अथवा सुषुप्त पुरुष के उठावने हारे वचन की न्याईं इन तत्त्वमसि आदिक वाक्यों ने शक्तिरूप संबन्ध तैं ही तथा लक्षणारूप सम्बन्ध तैं विना ही तथा अन्य किसी सम्बन्ध तैं विना हीं जो शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करता है । सो असन्त आश्चर्यवत है । जिस कारण तैं शब्द का सामर्थ्य किसी पुरुष तैं भी चिंतन करा जावे नहीं ।

शंका—हे भगवन ! शक्ति लक्षणादिक सम्बन्ध तैं विना ही सो शब्द कदाचित आपने अर्थ का बोधन करता होवे तो तिस शब्द तैं किसी दूसरे पदार्थ का भी बोध होना चाहिये । ता शब्दके सम्बन्ध का अभाव सर्व पदार्थों के विषे तुल्य ही है । समाधान—यह दोष लक्षणा अंगीकार पक्ष विषे भी तुल्य ही है । काहेतैं शक्य अर्थ के संबंध का नाम लक्षणा है । सो शक्य संबंध रूप लक्षणा भी अनेक पदार्थों विषे रहै है । या तैं तिन सर्व पदार्थों का बोध होना चाहिये । जैसे गंगा विषे ग्राम है । या वचन विषे स्थित जो गंगापद है ता गंगापद की तीर में लक्षणा होवै है । तहां गंगापद का शक्यार्थ जो जल का प्रवाह है ता जल के प्रवाह का जैसे तीर के साथ संयोग संबंध है । तैसे ता जल विषे रहने हारे मत्स्य नौकादिक अनेक पदार्थों के साथ संयोग संबंध है ।

शंका—यद्यपि शक्यार्थ का संबंध अनेक पदार्थों के साथ होवै है । तथापि जिस अर्थ के बोध करावने विषे वक्ता का तात्पर्य होवै है । तिसी ही अर्थ का ता शब्द तैं बोध होवै है । तिस तैं अन्य अर्थ का बोध होवै नहीं । समाधान—सो वक्ता का तात्पर्य भी सर्व श्रोता पुरुषों के प्रति तुल्य ही है । या तैं तिन सर्व श्रोता पुरुषों को ता वक्ता के तात्पर्य तैं तिसी अर्थ का बोध होना चाहिये सो ऐसा देखने विषे आवता नहीं ।

शंका—तिन सर्व श्रोता पुरुषों विषे कोई एक श्रोता ही ता वक्ता पुरुष के तात्पर्य विशेष को निश्चय करै है ते सर्व श्रोता पुरुष तिस तात्पर्य को निश्चय करिसकै नहीं । सामाधान—या तुमारे कहने तैं यह अर्थ सिद्ध होवै है । ता श्रोता पुरुष विषे जो कोई निर्दोषत्व रूप विशेष धर्म है सो धर्म ही ता वक्ता पुरुष के तात्पर्य का निश्चय करावै है । सो तात्पर्य का निश्चय निर्दोषत्व रूप विशेष धर्म हमारे मत विषे भी किसी सैं निवृत्त होवै नहीं । या तैं जिस शुद्ध अंतःकरण वाले अधिकारी पुरुष वक्ता के तात्पर्य निश्चय पूर्वक भाग साग लक्षणा करिकै तत्त्वमसि आदिक महावाक्य के अर्थ का बोध तुमनैं अंगीकार किया है । तिसी शुद्ध अंतः-

करण वाले अधिकारी पुरुष को ही तत्त्वमसि आदिक शब्द विशेष शक्ति लक्षणादिक रूप संबंध तैं बिना ही अखंड चैतन्य वस्तु का साक्षात्कार उत्पन्न करै है । या तैं इस हमारे शक्ति लक्षणादिक संबंध कै अनंगीकार पक्ष विषे तो किंचितमात्र भी दोष की प्राप्ति होवै नहीं। उलटा इस हमारे पक्ष विषे। (यतो वाचो निवर्त्तंते) या श्रुति का अर्थ भी संकोच तैं विना ही सिद्ध होवै है। और लक्षणा अंगीकार पक्ष विषे तो या श्रुति का जिस आत्मा को शक्ति वृत्ति करिकै वचन बोधन नहीं करै है । या प्रकार का संकोच करना होवै है। यह ही भगवान का अभिप्राय वार्तिककार सुरेश्वराचार्य नैं भी कथन करा है। तहां श्लोक—

अगृहीत्वैव संबंध मभिधानाभिधेययोः । हित्वा निद्रां प्रबुध्यंते सुषुप्तेर्बोधतः परैः ॥४८८॥

अर्थ—शब्द की अचिंत्य शक्ति होवै है या तैं जैसे सुषुप्ति को प्राप्त हुये पुरुषों को ता काल विषे शब्द अर्थ या दोनों के शक्ति लक्षणादिक संबंधों का ज्ञान होवै नहीं । तथापि ते सुषुप्त पुरुष अन्य पुरुषों नैं हे देवदत्त! इत्यादि शब्दों करिकै बोधन करै हुये ता सुषुप्ति तैं जाग्रत को प्राप्त होवै है । तैसे यह शुद्ध अंतःकरण वाले अधिकारी पुरुष भी शक्ति लक्षणादिक संबंध कै ज्ञान तैं बिना ही तत्त्वमसि आदिक वाक्यों तैं अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार करै हैं ४८८

इस तैं आदि लेकै अनेक प्रकार की आश्चर्य वत रूपता ता वदन रूप क्रिया विषे है । या तैं यह अर्थ सिद्ध भया। वचन का विषय आत्मा तथा ता वचन का वक्ता विद्वान पुरुष तथा सा वचन रूप क्रिया यह तीनों अत्यंत आश्चर्यवत रूप हैं। या कारण तैं आत्मा देव अत्यंत दुर्विज्ञेय हैं। अब श्रोता पुरुष की दुर्लभता को कथन करिकै भी ता आत्मा की दुर्विज्ञेयता को निरूपण करै हैं। (आश्चर्य वच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद) हे अर्जुन! आत्मा को साक्षात्कार करने हारा तथा आत्मा का कथन करने हारा जो मुक्त पुरुष है। ता मुक्त पुरुष तैं भिन्न जो मुमुक्षु जन है। सो मुमुक्षु जन समत्पाणी होइ कै विधि पूर्वक ब्रह्म वेत्ता गुरु के समीप जाय के जो इस आत्मा को श्रवण करै है । क्या सर्व वेदांत वाक्यों के तात्पर्य का विषय रूप करिकै निश्चय करै है। तहां श्रुति—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि गच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियंब्रह्मनिष्ठम् ॥४८९॥

मुंडकोप० द्वितीयः खं० २ मं० १२॥

यस्य श्रवणेन सर्वबंधाः प्रविनश्यंति । यस्य ज्ञानेन सर्व रहस्यं विदितं भवति । तत्स्वरूपं कथमिति ॥४९०॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषत् अ० १॥

अर्थ—जिस शुद्ध ब्रह्म के श्रवण करिकै सर्व बंधों का नाश होता है । तथा जिस ब्रह्म के ज्ञान करिकै सर्व वेद शास्त्र का रहस्य विदित होता है । तिस ब्रह्म के स्वरूप को आप मेरे प्रति कथन करो ॥४९०॥

शांतो दांतोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिण पूर्वकं दण्डवत्प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसङ्गम्य भगवन गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्यवक्तव्य-

मिति ॥४९१॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० अ० १ ॥

अर्थ—महा विष्णु उवाच—हे ब्रह्मा! शम दमादिक चतुष्टय साधन युक्त अति विरक्त शुद्ध अंतःकरण वाला गुरु का भक्ति तथा तप में निष्ठा वाला जो शिष्य है ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर आदर सहित प्रदक्षिणा पूर्वक दण्डवत प्रणाम करिकै दोनों हाथ जोड़ कै विनय सहित समीप बैठ कै प्रार्थना करै। हे भगवन हे गुरो मैं परमतत्त्व परमरहस्य को पूछना चाहता हूं आप कृपा करिकै मेरे प्रति विवेचन के सहित कथन करो इति ॥४९१॥

सो भी आश्चर्यवत है। और ता ब्रह्मवेता गुरु के मुख तैं आत्मा का श्रवण करके भी मनन निदिध्यासन की परिपक्वता करके जो आत्मा का साक्षात्कार करना है। सो भी आश्चर्यवत है। सो साक्षात्कार की आश्चर्य रूपता (आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं) या वचन करके पूर्व कथन कर आये हैं। और पूर्व की न्याई इहां भी श्रवण का विषय आत्मा तथा श्रवणरूप क्रिया तथा श्रवणकर्त्ता पुरुष या तीनों का ही आश्चर्यवत यह विशेषण जानना। तहां आत्मा विषे तथा श्रवणरूप क्रिया विषे तो पूर्व उक्त आश्चर्यवत रूपता ही जान लेनी। और श्रवण करता पुरुष विषे तो यह आश्चर्य रूपता है। पूर्व अनेक जन्मों विषे अनुष्ठान करे जो पुण्य कर्म हैं। तिन पुण्य कर्मों करके निवृत्त हो गया है पापरूप मल जिसके मन का तथा गुरुशास्त्र के वचनों विषे अत्यंत है श्रद्धा जिसकी ऐसे उत्तम अधिकारी पुरुषों की जो इस लोक विषे दुर्लभता है। सा दुर्लभता ही श्रोता पुरुष विषे आश्चर्यरूपता है।

शंका—हे भगवन्! जो अधिकारी पुरुष ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख तैं वेदांतशास्त्र को श्रवण मनन निदिध्यासन करेगा। सो अधिकारी पुरुष ता आत्मा को अवश्य करके साक्षात्कार करेगा। या के विषे क्या आश्चर्य है। ऐसी अर्जुन की शंका के हुये श्रीकृष्ण भगवान उत्तर कहे हैं। (न चैव कश्चित्) या वचन विषे स्थित जो चकार है सो चकार पूर्व वचन विषे स्थित (एनं वेद) या दोनों के अनुषंग वास्ते हैं। पूर्व वचन विषे स्थित पद का उत्तर वचन विषे सम्बंध करने का नाम अनुषंग है। या तैं यह अर्थ सिद्ध भया। कोईक पुरुष ब्रह्मवेत्ता गुरु के मुख तैं श्रवणादिकों को करते हुये भी किसी विघ्नरूप प्रतिबंध के वश तैं इस आत्मा को जान सकता नहीं। जभी श्रवणादिकों को करते हुये भी कोईक पुरुष इस आत्मा को नहीं जान सके हैं। तब श्रवणादिकों को नहीं करने हारे पुरुष इस आत्मा को नहीं जाने हैं याके विषे क्या कहना है। तहां श्लोक—

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्ताद्धि बंध परिक्षयात्। असावपि च भूतो वा भावी वा वर्त्ततेऽथवा ॥४९२॥ सुरेश्वराचार्य

अर्थ—आत्मा का ज्ञान किस से प्राप्त होवे है। ऐसी शंका के हुये सो आत्मा का ज्ञान प्रतिबंध के नाश तैं प्राप्त होवे है। सो प्रतिबंध भी भूत प्रतिबंध भावी प्रतिबंध वर्तमान प्रतिबंध यह तीन प्रकार का होवे है। तहां श्रवणादिक कालविषे पूर्व दृष्ट अनात्मा पदार्थों का बारंबार स्मरण होना। या १। नाम भूत प्रतिबंध है। और जन्मादिकों की प्राप्ति करने हारे जो कोईक प्रबल अदृष्ट विशेष हैं। ताका नाम भावी प्रतिबंध है। और विषयाशक्ति मंदबुद्धि कुतर्क विपरीत

अर्थ विषे दुराग्रह यह चारों प्रकार का वर्तमान प्रतिबंध है। या तीनों प्रतिबंधों विषे एक प्रतिबंध भी जिस अधिकारी विषे है सो अधिकारी श्रवणादिकों को करता हुआ भी आत्मा को जान सकता नहीं। जैसे वामदेव को भावी प्रतिबंध के वश तैं श्रवणादिकों को करकै तिस जन्म विषे ज्ञान हुआ नहीं। किंतु दूसरे जन्म विषे माता के उदर विषे ता प्रतिबंध के नाश तैं ता वामदेव को आत्मज्ञान की प्राप्ति होई है ४९२

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः॥

या स्मृति ने पाप कर्मरूप प्रतिबंध के नाश तैं अनंतर ही या अधिकारी पुरुषों को ज्ञान की प्राप्ति कथनकरी है। और तिन प्रतिबंधकों का नाश होना अत्यंत दुर्लभ है। या कारण तैं यह आत्मादेव दुर्विज्ञेय है। अथवा (न चैव कश्चित्) या अंश के वचन का काश्चित् एनं न पश्यति कश्चित् एनं न वदति कश्चित् एनं न शृणोति काश्चित् श्रुत्वापि एनं न वेद। या प्रकार सर्वत्र सम्बंध करना ता करकै यह पंच प्रकार सिद्ध होवे है। (१) कोईक पुरुष इस आत्मा को जाने ही हैं। कथन कर सके नहीं। (२) और कोईक पुरुष तो इस आत्मादेव को जाने भी हैं तथा कथन भी करे हैं। (३) और कोईक पुरुष तो वचन को श्रवण भी करे हैं तथा ता वचन के अर्थ को भी जाने हैं। (४) और कोईक पुरुष वचन को श्रवण करके भी ता के अर्थ को जानते नहीं। (५) और कोईक पुरुष तो दर्शन कथन श्रवण इन सर्व तैं बहिरभूत होवे हैं।

शंका—हे भगवन्! वेद में लक्षणावृत्ति का अंगीकार नहीं है। महावाक्यों में लक्षणा के अंगीकार करने से दोष होवेगा। किंतु श्रवण मात्र से ही अखंड वस्तु का बोध होवेगा। या के विषे यह दोष है। जो केवल महावाक्य के श्रवण मात्र से ही अखंड वस्तु का बोध मानोगे तो अखंड वस्तु दृश्य होवेगा। या तैं अखंड वस्तु भी नाशी होवेगी। जो किसी विचार सहित महावाक्य तैं अखंड वस्तु का बोध मानोगे तो महावाक्य को पौरषेय भाव की प्राप्ति होवेगी। काहे तैं ईश्वर की वाणी को अपौरषेय वाणी कहे हैं। और जीव की वाणी को पौरषेय वाणी कहे हैं। अपौरषेय वाणी श्रवण मात्र से ही बोध होवे है। यातैं महावाक्य भी यदि विचार सहित अखंड वस्तु के बोध को उत्पन्न करेगी तब पौरषेय भाव की प्राप्ति होवेगी। पूर्व उक्त दोनों प्रकारसे ही अखंड वस्तु का बोध महावाक्य से असंभव है। समाधान—महावाक्य में पदपदार्थ के सम्बंधरूप शक्तिवृत्ति का अंगीकार नहीं है। किंतु महावाक्य में अचिंत शक्ति हमने धारण करी है। तिस अचिंत शक्ति से अखण्ड वस्तु का बोध होवे है। यातैं महाक्य में विचार की कुछ अपेक्षा नहीं। पद पदार्थ के सम्बन्ध रूप शक्ति से जिस वस्तु का बोध होवे है। सो वस्तु दृश्य होवे है। महावाक्य में पद का पदार्थ के साथ सम्बन्ध रूप शक्ति का अङ्गीकार नहीं है। यातैं महावाक्य से सिद्ध हुआ अखण्ड वस्तु दृश्य होवे नहीं। और विचार से विना केवल अचिंत शक्ति युक्त महावक्य से अखण्ड वस्तु का बोध होवे है। यातैं महावाक्य को पौरषेय भाव की प्राप्ति होवे नहीं। इस अभिप्राय से वेदों में लक्षण का अङ्गीकार नहीं करा। और विशिष्ट में वाल्मीकि नैं अचिंत शक्ति को ही नेत करके कथन करा है। हे भरद्वाज! अकाश नैं शून्य ही होना है। वायु ने स्पर्श ही होना है। अग्नि ने उष्ण ही होना है। जल ने द्रवत्व

ही होना है। पृथ्वी ने कठोर ही होना है। यह ईश्वर की नेत है। तैसे महावाक्य के श्रवण मात्र से अखण्ड वस्तु का बोध होना यह ईश्वर की नेत है नेत नाम वस्तु के स्वभाव का है। या ही को अचिंत शक्ति भी कहे हैं। वेदव्यास वेद के वेत्ता आचार्यों का यह मत है।

शंका—हे भगवन्! जो कदाचित यह मत समीचीन है तो सर्व मुमुक्षु को महावाक्य के श्रवण मात्र से बोध हुआ चाहिये। अधिक विचार की अपेक्षा नहीं। और अधिक विचार करने वाले जिज्ञासु देखीते हैं। यातैं केवल महावाक्य के श्रवण से बोध होवे है। यह कथन असंगत है जो महावाक्य से ही बोध मानोंगे तो वेद वेत्ता जो शंकराचार्य हैं। तिन के अनुसारी अचार्यों ने महावाक्यों में लक्षण अङ्गीकार करी है। सो कथन असंगत होवेगा। इस रीति से दोनों प्रकार से महावाक्य के श्रवण मात्र से अखंड वस्तु का बोध होवे नहीं। समाधान—हे देवताओ! मुमुक्षु तीन प्रकार के होवे हैं। उत्तम मध्यम कनिष्ट। विवेक वैराग्य षट संपाति मुमुक्षु ता जो इन चारी साधनों करके युक्त होवे है सो उत्तम अधिकारी होवे है। ताको महावाक्य के श्रवण मात्र से अखण्ड वस्तु का निरसंदेह बोध होवे है। यातैं ता को पुनः विचार की कुछ अपेक्षा नहीं है। और बोध तो उत्तम मध्यम कनिष्ट मुमुक्षु को भी होवे है। परन्तु मध्यम कनिष्ट अधिकारी को ऐसी शंका फुरे हैं। ब्रह्म सर्व शक्तिमान है। जीव अल्प शक्तिमान है। ब्रह्म सर्वज्ञ है जीव अल्पज्ञ है ब्रह्म-व्यापक है। जीव परिच्छिन्न है। तिन दोनों की एकता महावाक्य से संभवे नहीं। ऐसी शंका होइके उत्तर क्षण विषे विपरीत भावना होवे है। जीव ब्रह्म का परस्पर वास्तव भेद है। जिसतैं जीव ब्रह्म के परस्पर धर्म विरुद्ध हैं। इस पुरुषपराध की निवृत्ति वासतैं लक्षणारूप विचार अङ्गीकार करी है। जिस प्रकार लक्षणा मानी है सो प्रकार दिखावे हैं। तत्त्वमसि महावाक्य में तत् पदका वाच्यार्थ ईश्वर है। और त्वंपद का वाच्यार्थ जीव है। तिन दोनों की एकता का बोधक पद असि पद है। समष्टि मूलाज्ञान विशिष्ट चेतन ईश्वर है। व्यशिष्टि अज्ञान विशिष्ट चेतन जीव है। समष्टि माया और व्यष्टि अविद्यारूप तीनों शरीर रूप उपाधि करके जीव ईश्वर का भेद है। समष्टि व्यष्टि उपाधियों को त्याग करके चेतन मात्र में किसी प्रकार का भेद नहीं है। चेतन स्वरूप से ही अखण्डरूप करके स्थित है। एकता के विरोधी भाग त्याग करके अविरोधी चिन्मात्र की जिस करके लक्षिता होवे सो भाग त्याग लक्षणा है। जिस तैं इस पक्ष में सम्पूर्ण वाच में जड़ भाग को त्याग करके चेतनमात्र को जानिये है। इस स्थान में जहिति भाग त्याग लक्षणा का अङ्गीकार है। इस रीति से पुरुषापराध की निवृत्ति होवे है। यातैं लक्षणा निष्फल नहीं और लक्षणा में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होवे है। किंतु महावाक्य के श्रवण से ही ज्ञान की उत्पत्ति होवे है।

दृष्टांत—जैसे सूर्य के उदय मात्र से ही भारत खण्ड की रात्रि की निवृत्ति होवे है रात्रि की निवृत्ति वासतैं पुनः कुछ कर्त्तव्य नहीं परन्तु सूर्य के उदय मात्र से रात्रि की निवृत्ति के साथ ही शीत की निवृत्ति जिन देशों में भई है। तिन देशों में स्थित पुरुषों को अग्नि प्रज्वलित की कुछ अपेक्षा नहीं है। और जिन देशों में रात्रि की निवृत्ति होने से भी शीत

की निवृत्ति नहीं भई। तिन देशों में स्थित पुरुषों को अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये। अग्नि के जलावने का रात्रि की निवृत्ति में उपयोग नहीं। जिस से रात्रि की निवृत्ति सूर्य के उदयमात्र से ही निवृत्ति होजावे है। किंतु सूर्य के उदय से विशेष आरामदारी की प्रतिबन्धक जो शीत है। ता की निवृत्ति अग्नि से होवे है। यातैं अग्नि का जलावणा भी सफला है रात्रि की निवृत्ति केवल सूर्य के उदय मात्र से ही होजावे है। यातैं सूर्य की स्वयम् प्रकाशता का अभाव नहीं। तैसे महावाक्य के श्रवण मात्र से ही अखण्ड वस्तु का बोध होवे है। परन्तु या को असंभावना विपरीत भावना होवे ताको ज्ञान का फल जो त्रिगुणातीत मोक्ष है ताको प्राप्त होवे नहीं। यातैं मोक्ष के प्रतिबन्धक जो असंभावना विपरीत भावना है ता की निवृत्ति वास्तैं लक्षणारूप विचार चाहिये। ज्ञान की उत्पत्ति में लक्षणा उपयोगी नहीं। जिस से ज्ञान की उत्पत्ति महावाक्य के श्रवण मात्र से होवे है। यातैं महावाक्य स्वतंत्र हैं। और ज्ञान के मोक्ष रूप फल के प्रतिबंधक जो असम्भावना विपरीत भावना हैं। ताकी निवृत्ति लक्षणा से होवे है। यातै लक्षणा भी सफल है।

शंका—हे भगवन! यदि भाग त्याग लक्षणा सें ही अखंड वस्तु का निःसंदेह बोध होवै है। लक्षणा सें अनंतर अद्वयानंद को प्रत्येक बोध में मिलावना और और प्रत्येक बोध को अद्वयानंद में मिलावना यह जो ओत प्रोत भाव रूप विचार करना निष्फल है।

दृष्टांत—जैसे एक पुरुष पिंड में पुत्र की दृष्टि सें पितापन तथा पौत्र की दृष्टि सें पिता महापन प्रतीत होवै है। और पौत्र की दृष्टि त्यागने सें न पितापन है न पिता महापन है। केवल पुरुष का पिंडमात्र है। ता में विचार की अपेक्षा नहीं। तैसे एक ही चेतन में माया रूप उपाधि करिकै ईश्वरपना है। अविद्या रूप उपाधि करिकै जीवपना प्रतीत होवै है। और माया तथा अविद्या को त्याग करिकै न जीव भाव है न ईश्वर भाव है। ना अपरोक्ष है न परोक्ष है। केवल अखंड चिन्मात्र रूप करिकै स्थित है। या तैं पुनः ओत प्रोत भाव की अपेक्षा नहीं है। समाधान—जिन के मत में भाग त्याग लक्षणा करने सें अखंड वस्तु का निःसंदेह बोध होवै है। तिन के मत में ओत प्रोत भाव का अंगीकार नहीं है। और जिन के मत में ओत प्रोत भाव का अंगीकार है। तिन के मत में भाग त्याग लक्षणा करने सें भी अखंड वस्तु का निःसंदेह बोध होवै नहीं। किंतु जीव ईश्वर के स्वरूप सें निकस के अविद्या संकोच भाव को प्राप्त होवै है। सो संकोच को प्राप्त हुई अविद्या जीव ईश्वर के अभेदता में रहै है।

दृष्टांत—जैसे देहली के ऊपर दीपक के रखने सें गृह का अंधकार संकोच करिकै एक कोने में रहि जावै है। तैसे भाग त्याग लक्षणा करने सें भी अविद्या जीव ईश्वर की अभेदता को अच्छादन करिकै अद्वयानंद में परोक्षता भ्रांति को उत्पन्न करै है। और प्रत्यक्ष बोध में परिच्छिन्नता भ्रांति को उत्पन्न करै है। तिस अविद्या की निवृत्ति वास्तैं ओत प्रोत भाव का अवश्य ही अंगीकार करना चाहिये। जिस प्रकार ओत प्रोत भाव का अंगीकार का प्रकार है सो दिखावै हैं। ततपद का लक्ष्यार्थ जो अद्वयानंद है। ताकी त्वंपद के लक्ष्यार्थ के साथ एकता करनी। और त्वंपद के लक्ष्यार्थ की ततपद के

लक्ष्यार्थ के साथ एकता करनी । इस प्रकार परस्पर मिलावने करिकै अभेदता विशेषण के आश्रित रही हुई जो अविद्या का अभाव होवै है। और अविद्या का कार्य भूत जो परोक्षता परिच्छिन्नता भ्रांति ता का भी अभाव होवै है। तदनंतर सजातीय विजातीय स्वगत भेद तैं रहित विद्वान की स्थिति होवै है। ऐसी अखंडाकार वृत्ति का नाम सम्यक बोध है।

अखंडैकरसं दृश्यमखंडैकरसं जगत। अखण्डैकरसं भावमखण्डैकरसं स्वयम् ॥४९३॥ तेजोबिंदूप० अ० २ मं० १ ॥

अर्थ—यह जो दृश्य है सो अखंड एक रस है तथा सर्व जगत अखंड एक रस ब्रह्म है। तथा यावत भाव पदार्थ है सो सर्व अखंड एक रस है तथा मैं भी अखंड एक रस हूं ॥४९३॥

अखण्डैकरसो मंत्र अखंडैकरसा क्रिया । अखंडैकरसं ज्ञानमखंडैकरसं जलम् ॥४९४॥ तेजोबिंदूप० अ० २ मं०२॥

अर्थ—अखंड एक रस ओंकार मंत्र है। तथा अखंड एक रस क्रिया है तथा अंखड एक रस ज्ञान है। तथा अखंड एक रस जल है ॥४९४॥

अखंडैकरसं ब्रह्मचाखण्डैकरसं व्रतम् । अखण्डैकरसो जीव अखण्डैकरसो ह्यज ॥४९५॥ तेजोबिंदूप० अ० २ मं० ४॥

अर्थ—अखंड एक रस ब्रह्म है तथा अखंड एक रस जीव है तथा अखंड एक रस अज है ४९५

अखण्डैकरसो ब्रह्म अखण्डैकरसो हरिः। अखण्डैकरसो रुद्र अखण्डैकरसो ऽस्म्यहम् ॥४९६॥

तेजोबिंदूपनिषद अ० २ मं ५॥

अर्थ—अखंड एक रस ब्रह्मा जी है तथा अखंड एक रस हरि विष्णु भगवान हैं तथा अखंड एक रस रुद्रमहादेव जी हैं तथा अखंड एक रस मैं हूं ॥४९६॥

शंका—हे भगवन ! अद्वयानंद को प्रत्यक बोध के साथ मिलावने सें दोनों की अभेदता निरावर्ण होवै है। या तैं पुनः प्रत्यक बोध को अद्वयानंद के साथ मिलावना निष्फल है। तथा प्रत्यक बोध को अद्वयानंद के साथ मिलावना तथा अद्वयानंद को प्रत्यक बोध के साथ मिलावना निष्फल है। समाधान—सूक्ष्म विचार करिकै देखीये तो भाग त्याग लक्षणा करने सें भी जीव ईश्वर के स्वरूप सें अविद्या की अत्यंत निवृत्ति होवै नहीं। काहे तैं ततपद में लक्षणा करने सें ईश्वर के स्वरूप में उत्पत्ति पालन संहार रूप भ्रांति की निवृत्ति होवै है । या तैं ईश्वर में अक्रिय रूपता की निरावणता होवै है । परंतु ईश्वर के स्वरूप में प्रत्यक्षता की निरावरणता होवै नहीं । या तैं संकोच भाव को प्राप्त हुई अविद्या ईश्वर के स्वरूप में प्रत्यक्षता विशेषण के आश्रित रहै है । और त्वंपद में लक्षणा करने सें जीव ईश्वर के स्वरूप में कर्तृत्व भोक्तृत्व भ्रांति की निवृत्ति होवै है । या तैं जीव में अक्रिय विशेषण की निरावरणता होवै है। परंतु जीव के स्वरूप में भी अपरिच्छिन्नता विशेषणता की निरावरणता होवै नहीं । या तैं संकोच भाव को प्राप्त हुई अविद्या जीव के स्वरूप में भी अपरिच्छिन्नता विशेषण के आश्रित रहै है । अद्वयानंद को प्रत्यक बोध के साथ मिलावने सें दोनों की अभेदता निरावरण होवै है। या तैं अद्वयानंद में प्रत्यक्षता विशेषण की भी निरावरणता होवै है। परंतु प्रत्यक बोध में भी

अपरिच्छिन्नता विशेषण की निरावरणता होवै नहीं। ता के आश्रित रही जो अविद्या ता की निवृत्ति वास्तैं पुनः प्रत्यक बोध को अद्वयानंद के साथ मिलावणा चाहिये। तदनन्तर प्रत्यक बोध में भी अपरिच्छिन्नता की निरावरणता होवे है। इस प्रकार परस्पर मिलावने से अविद्या की सर्वथा निवृत्ति होवे है। यातैं ताका कार्य भूत जो परोक्षता भ्रांति अद्वयानन्द में और परिच्छिन्नता भ्रांति प्रत्यक बोध में होवे है। ताकी भी निवृत्ति होवे है। तदनन्तर निरसंदेह अखण्डरूपता करके स्थित रूप मोक्ष होवे है। पूर्व उक्त प्रकार से वेदवादी अचार्यों के मत से उत्तम अधिकारी को भी अखण्ड वस्तु का बोध होवे है। और लक्षणा वादि के मत में मध्यम मुमुक्षु को भी अखण्ड वस्तु का बोध होवे है। और ओत प्रोत भाववादि के मत से कनिष्ठ अधिकारी को भी बोध होवे है। यातैं अधिकारी भेद तैं मत के भेद हैं। वास्तव नहीं। काहेतैं अखण्ड वस्तु के प्रतिपादक जो प्रकार हैं ताका भेद है और प्रतिपाद्य जो अखंडवस्तु सो एक ही है। तहां श्रुति—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेत्ता केवलो निर्गुणश्च ॥४९७॥ गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत् मं० १८ ॥

शंका—हे भगवन ! पूर्व जो तीन प्रकार से अखंड वस्तु का बोध कथन किया है। सो संभवै नहीं। काहेतैं ज्ञान करकै जिस अखंडवस्तु का बोध होवे है सो अखंड वस्तु सौपाधिक है। वा निरूपाधिक है जो प्रथम पक्ष अङ्गीकार करोगे तो लक्षणा रूप विचार व्यर्थ है। काहेतैं एकत्व के विरोधी जो समष्टि व्यष्टि तीनों शरीर तिनके त्याग वास्तैं लक्षणा का अंगीकार है। जो लक्षणा के अङ्गीकार करने से भी अखंड वस्तु में उपाधि की निवृत्ति न हुई तो लक्षणा किस वास्तैं अङ्गीकार करनी है केवल शक्ति वृत्ति से ही सौपाधिक अखंडवस्तु का बोध होवेगा। जो द्वितीय पक्ष अङ्गीकार करोगे तौ भी निरूपाधिक अखंडवस्तु में लक्षणा बनैं नहीं। काहेतैं निरूपाधिक मन वाणी से अतीत है ताकी मन वाणी करके लक्षणा संभवै नहीं। समाधान—हे देवताओ ! समष्टि व्यष्टि तीनों शरीर रूप उपाधियों से रहित चिन्मात्र अखंड वस्तु निरूपाधिक है। इस वास्तैं लक्षणा रूप विचार भी सफल है। या सत् चिदानन्द रूप चिन्मात्र अखंडवस्तु लक्ष्यरूप उपाधियों से रहित ही प्रत्यक्ष होवे है। इस वास्तैं लक्षणा संभवै है। तहां श्लोक—

द्वा विमौपुरुषौ लोकेक्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कुटस्थोऽक्षर उच्यते ॥४९८॥ गी० अ० १५ श्लोक १६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! इस लोक में तथा वेद में दो ही पुरुष हैं। एक क्षर कहिये नाशवान् दूसरा अक्षर आप ने कार्य की अपेक्षा करकै कुटस्थ जो माया है सो नाश रहित है ४९८

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥४९९॥ गी० अ० १५ श्लोक १७

अर्थ—हे अर्जुन ! पुनः इन क्षर तथा अक्षर दोनों पुरुषों तैं उत्तम जो चिन्मय पुरुष दोनों से अन्य है। कहिये भिन्न है। तथा जो तीनों लोकों में व्यापक है अथवा जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप तीनों लोकों में व्यापक है और

लोकों में प्रवेश होकर जाग्रतादिक तीनों अवस्थाओं में विद्यमान जो वृत्तियां हैं तिन वृत्तियों को अपनी चेतनरूप सत्ता को दे करकै चेतन करता है तथा अव्यय है तथा ईश्वर है तथा परमात्मा इस नाम से कहा जाता है ॥४९९॥

शंका—हे भगवन् ! सत्चिदानन्द विशेषणों का अर्थ भिन्न भिन्न है। अथवा एक ही है। जो प्रथम पक्ष अङ्गीकार करोगे तो अखंडवस्तु में सजातीय भेद की प्राप्ति होवेगी। और जो द्वितीय पक्ष अंगीकार करो तो पुनरुक्ति दोष की प्राप्ति होवेगी। काहे तैं जिस अखंडवस्तु को सत् विशेषण कथन करे है। तिसी को चेतन तथा आनन्द विशेषण कथन करे है। यातैं अधिक विशेषणों का उच्चारण निष्फल है इस निष्फलता का नाम ही पुनुरुक्ति दोष है।

दृष्टांत—जैसे घट कलश इन शब्दों की न्याईं एकट्ठा उच्चारण करने से पुनरुक्ति दोष की प्राप्ति होवे है। जिस से घट पदार्थ की तौ सिद्धि एक घट शब्द के उच्चारण से होवे है। यातैं अधिक शब्द का उच्चारण करना निष्फल है। समाधान—हे देवताओ ! सत् चित् आनन्द विशेषणों करके निरावरण हुआ जो अखंडवस्तु है। सो एक ही है यातैं सजातीय भेद की प्राप्ति होवे नहीं। और तीन विशेषण अति व्याप्ति दोष की निवृत्ति वास्तैं कथन किये हैं। यातैं पुनरुक्ति दोष की प्राप्ति होवे नहीं। जो सत् वस्तु है सोई अखंडवस्तु है। ऐसा लक्षण करते तौ इस लक्षण का लक्ष्य जो अखंडवस्तु है। तिस में वर्त करके अलक्ष्य जो अकाश प्रधानादिक हैं। तिन में भी वरते है। काहेतैं न्यायक मत में आकाश मनादिक नित्य माने हैं। और सांख्य मत में प्रधान को नित्य माने हैं। यातैं आकाश मन प्रधानादिक पदार्थ भी नित्य हुए चाहिये। इसका नाम अतिव्याप्ति दोष है। तिनकी व्यावृत्ति के निमित चेतन विशेषण का उच्चारण किया है। आकाशमन प्रधानादिक चेतन नहीं किंतु जड़ हैं। जो चेतन है सोई अखंडवस्तु है। यदि ऐसा ही लक्षण करते तो बुद्धि सूर्यादिक भी अखंडवस्तु हुए चाहिये। काहेतैं विज्ञान वादी बुद्धि को स्वयम् प्रकाशमानैं हैं। और सूर्य के उपासक सूर्य को स्वयं प्रकाशमानै हैं। और सांख्य मत वाले पुरुष को असंग स्वयम् प्रकाश मानै हैं। तिन से व्यावृत्ति के वास्तैं आनन्द विशेषण का उच्चारण किया है। बुद्धि सूर्यादिक पुरुष आनंद रूप नहीं। इस रीति सें अन्य मत सें भिन्नता करिकैं अखंड वस्तु को तीनों विशेषण लखावै हैं। या तैं तीनों विशेषणों का उच्चारण निष्फल नहीं। किंतु जिस में तीनों विशेषण नहीं हैं। सो संपूर्ण अनात्मा होने तैं मिथ्या हैं। और जो वस्तु तीनों विशेषणों के सहित है। सो अखंड वस्तु है।

दृष्टांत—जैसे कटु सुगंध शीतल यह तीन चंदन के विशेषण हैं। तिन के उच्चारण करने सें पुनरुक्ति दोष की प्राप्ति होवै नहीं। काहे तैं जो कटु है सोई चंदन है। यदि ऐसा ही लक्षण करते तौं कटु नीमादिक पदार्थ भी हैं। सो भी चंदन हुये चाहिये। या तैं नीमादिकों सें व्यावृत्ति के वास्तैं सुगंध विशेषण का उच्चारण किया है। जो सुगंध रूप है। सोई चंदन है। यदि ऐसा ही लक्षण करैते तौ सुगंध रूप पुष्पादिक भी पदार्थ हैं। सो भी चंदन हुये चाहिये। या तैं तिन सें व्यावृत्ति के वास्तैं शीतल विशेषण का उच्चारण किया है। इस प्रकार अन्य

पदार्थों से व्यावृत्ति के निमित्त तीनों विशेषणों का उच्चारण है। या तैं पुनुरुक्ति दोष नहीं। तैसे सतचिदानंद विशेषण भी अन्य मतों सें तथा असत जड दुःख रूप अनात्मा सें अखंड वस्तु से भिन्न करिके लखावै है। या तैं तिस में भी पुनरुक्ति दोष नहीं है।

शंका—हे भगवन ! सत् चिदानंद वास्तव हैं। वा कल्पित हैं। यदि प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तो सजातीय भेद की प्राप्ति होवैगी। काहे तैं एक अखंड वस्तु वास्तव हुआ दूसरा सत चिदानंद लक्षण वास्तव हुये और जो द्वितीय पक्ष अंगीकार करोगे तो सत् चिदानंद लक्षण सें अखंड वस्तु का बोधना हुआ चाहिये।

दृष्टांत—जैसे कल्पित स्वप्न के सूर्य सें भारत खंड का अंधकार निवृत्त होवै नहीं। तैसे कल्पित सत चिदानंद सें भी अखंड वस्तु का बोध होवै नहीं। समाधान—हे देवताओ ! सत चिदानंद लक्षण आचार्यों नैं उपदेश के वास्तैं कल्पे हैं। वास्तव में नहीं हैं। या तैं सजातीय भेद की प्राप्ति होवै नहीं। और कल्पित सत चित आनंद विशेषण अविद्या तत् कार्य असत जड दुःख रूप हैं। तिन को निषेध करै हैं। अखंड वस्तु के ज्ञान को उदय नहीं करते। जिस सें अखंड वस्तु बोध स्वरूप है। जैसे सूर्य के अग्र भाग में आये जो मेघ तिन को वायु निवृत्त करै हैं। और सूर्य को वायु प्रकाशे नहीं। जिस तैं सूर्य स्वयं प्रकाश है। जैसे देव तैसी बली यह लोकों का कथन भी सफल हुआ काहे तैं जैसे अविद्या तत कार्य कल्पित हैं। तैसे तिस के निषेधक विशेषण भी कल्पित ही चाहिये।

शंका—हे भगवन ! अखंड वस्तु का ज्ञान साक्षी को होवै है। वा जड बुद्धि को होवै है। जो प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तो चेतन विकारी होवैगा। और जो द्वितीय पक्ष अंगीकार करोगे सो बनैं नहीं। काहेतैं जैसे जड शिला में किसी पदार्थ का ज्ञान बनैं नहीं। तैसे जड बुद्धि में भी अखंड वस्तु का ज्ञान बनैं नहीं। समाधान—हे देवताओ ! ना केवल चेतन को ज्ञान होवै है। ना केवल बुद्धि को ज्ञान होवै है। किंतु अंतःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति में अरूढ फल चेतन सहित वृत्ति को अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान होवै है।

दृष्टांत—जैसे सीसे में स्थित नेत्रों का ज्ञान ना अपने करिकै होवै है। ना अन्य वस्तु करिकै ज्ञान होवै है। किंतु दर्पण में स्थित होई कैं नेत्र ही आप को देखें हैं। तैसे अखंडाकार वृत्ति में अरूढ होई कै विशेष चेतन ही अपने आप को देखे हैं। अथवा चेतन की सहायता सें वृत्ति विषय करै हैं। वा वृत्ति की सहायता से चेतन विषय करै है। वृत्ति में अरूढ चेतन को फल चेतन कहै हैं। और वृति सें रहित सत्ता मात्र चेतन को समान चेतन कहै हैं। समान चेतन में सत्तास्फुर्त्ति देने विना और कोई कार्य बनैं। जो बंधमोक्षादिक कार्य हैं सो फल चेतन में ही हैं या तैं ज्ञान भी विशेष चेतन में ही होवै है। अब चेतन की सप्त प्रकारता लिखतैं है।

शुद्धमीश्वर चैतन्यं जीव चैतन्य मेव च। प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ॥५००॥ कठरुद्रोपनि० मं० ३७

अर्थ—जीव ईश्वर विभाग सें रहित शुद्ध ब्रह्म चैतन्य (१) माया विशिष्ट ईश्वर चैतन्य (२) अविद्या विशिष्ट जीव चैतन्य (३)

सभास अंतःकरण विशिष्ट प्रमाता चैतन्य (४) वृत्ति उपहित प्रमाण चैतन्य (५) विषया विच्छिन्न प्रमेय चैतन्य (६) वृत्ति में अरूढ फल चैतन्य (७) अर्थात घटपटादिक जड विषय का प्रकाशक चेतन फल चेतन है ॥५००॥

शंका—हे भगवन! अखंड वस्तु मन वाणी का अविषय है अथवा विषय है। जो प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तौ अखंड वस्तु दृश्य होवैगा। काहेतैं जो मन वाणी का विषय होवै है सो दृश्य होवै है तथा नाशी होवै है। या तैं अखंड वस्तु भी नाशी होवैगा। और वेद में ऐसा कथन है कि ब्रह्ममनवाणी का अविषय है वेद सें विरोध होवैगा। (यतो वाचो निवर्त्तंतै अप्राप्य मनसासह) जो द्वितीय पक्ष अंगीकार करोगे तौ महावाक्य का उपदेश निष्फल होवैगा और मुमुक्षु को ज्ञान ना हुआ चाहिये जब ज्ञान ना हुआ तब वेदांत सम्प्रदाय का उच्छेद होवैगा। और ब्रह्म उपनिषद सें गम्य है तथा आत्मा मन करिकै जानने योग्य है। ता सें भी विरोध होवैगा। समाधान—हे देवताओ! महा वाक्य शक्ति वृत्ति करिकै अखंड चिन्मात्र वस्तु को बोधन करै नहीं। इस अभिप्राय तैं ही ब्रह्म मन वाणी का अविषय कहा है। और एकता के विरोधी जो समष्टि व्यष्टि तीनों शरीर हैं तिन को साग करिकै लक्षणा वृत्ति सें अखंड वस्तु का ज्ञान होवै है। इस अभिप्राय तैं आत्मा मनवाणी का अविषय कहा है। और महावाक्य के श्रवण सें उत्पन्न हुई जो अखंडाकार वृत्ति है। सो वृत्ति आत्मा आश्रय आवरण को भंग करै है। इस अभिप्राय सें आत्मा मन का विषय कथन किया है। और वृत्ति में अरूढ जो फल चेतन है। तिस फल चेतन का अखंड वस्तु घटादिकों की न्याईं विषय नहीं है। जिस तैं अखंड वस्तु स्वयं प्रकाश है। इस अभिप्राय सें आत्मा मन का अविषय कथन करा है।

दृष्टांत—जैसे कूंडे के नीचे दीपक ढका हुआ होवै तब दंड सें कूडे को तोड देने सें। तिस दीपक के निरावरण हुये सें अनंतर अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं जिस तैं दीपक स्वयं प्रकाश है। तैसे वृत्ति अखंड वस्तु का आवरण भंग करै है। पुनः किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं। इस वास्तैं ब्रह्म मनवाणी का अविषय है अथवा विषय है यह दोनों प्रकार संभवै है। कोई विरोध नहीं।

दृष्टांत—जैसे श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण सीता जी नैं दशरथ जी की आज्ञा को पाय करिकै बन में प्रवेश किया था। तब चित्रकूट में जो वाल्मीकि का आश्रम था तिस में प्राप्त हुये। जिस वाल्मीकि ऋषि के आश्रम विषे श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की अभिलाषा वाले अनेक ऋषि मुनियों का समाज एकत्र हो रहा था। तब श्री रामचन्द्र लक्ष्मण वाल्मीकादिक सर्व ऋषियों के समाज को प्रणाम करिकै तिन ऋषियों के अग्रभाग में स्थित हुये। और जनक कुमारी सर्व ऋषियों को दूर सें ही प्रणाम करिकै ऋषियों की अंगनाओं के समाज में प्राप्त होती भई। तब सर्व ऋषियों की अंगनाओं को ऐसा परोक्ष ज्ञान हुआ कि इन दोनों में ही श्री रामचन्द्र जी हैं परंतु अमुक श्रीरामचन्द्र जी हैं। ऐसा अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ। तब जनक कुमारी सीता सें ऋषियों की स्त्रीयों नैं प्रश्न किया कि हे जगज्जननी इन दोनों में रामचन्द्र कौन हैं। तब सीता जी तिन के प्रश्न का उत्तर देती भई।

सीता उवाच—हे देवीयो! सावधान हो

के तुम श्रवण करो जो वाम अंग में गौर मूर्ति है सो मेरे देवर लक्ष्मण जी हैं । इस प्रकार सीता जी उपदेश करिकै मौन होती भई। तब ऋषि अंगनों नैं ऐसा निश्चय किया जो श्याम-सुंदर मोहनी मूर्त कमल नयन रामचन्द्र जी हैं। इस रीति सें श्रीरामचन्द्र जी सीता के वाक्य का विषय भी हैं तथा अविषय भी हैं । जिस सें सीता जी के वचनों नैं साक्षात लक्ष्मण को ही विषया किया है । श्रीरामचन्द्र को विषय नहीं किया । श्रीरामचन्द्र जी के ज्ञान का विरोधी लक्ष्मण था। तिस के निषेध सें श्रीराम-चन्द्र जी का भी ज्ञान होता भया । या तैं जनक कुमारी के वचन का श्रीरामचन्द्र विषय भी हुये । और ऋषियों की अंगनाओं को श्रीरामचन्द्र जी का ज्ञान नेत्रों सें नहीं हुआ। काहे तैं श्रीरामचन्द्र जी की व्यक्ति सें नेत्रों का संबंध सीता के उपदेश तैं पूर्व भी था । किंतु सीता जी के उपदेश सें नेत्र द्वारा निकसी जो अंतःकरण की वृत्ति तिस वृत्ति सें श्रीरामचन्द्र जी का ऋषि अंगनों को निरावरण ज्ञान होता भया । इस प्रकार केवल नेत्रों सें श्रीरामचन्द्र जी का ज्ञान नहीं हुआ । या तैं नेत्रों के भी अविषय हैं। और नेत्र संबंधी अंतःकरण की वृत्ति सें श्रीरामचन्द्र जी का साक्षात्कार हुआ है । इस वास्तैं नेत्रों का विषय भी हैं । तैसे सीता रूप जो ब्रह्म श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरू तिस की शरण को प्राप्त हुये ऋषि अंगना रूप मुमुक्षु नम्रता पूर्वक प्रश्न करतै भये, भो भगवन ! हमारा वास्तव स्वरूप आत्मा कौन है । जिस स्वरूप के साक्षात्कार सें परमानंद रूप मोक्ष की प्राप्ति होवै है । या स्थान में श्रीरामचन्द्र जी की न्याईं सत चिदानंद रूप ब्रह्म है । और लक्ष्मण की न्याईं नाम रूप प्रपंच है । तिन की तद्रूपता हो रही है । सर्व के अंतर बाह्य ब्रह्म-व्यापक है। यह वार्ता श्रवण करिकै मुमुक्षु को ऐसा परोक्ष ज्ञान होता भया । परंतु मैं ब्रह्म रूप हूं ऐसा अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ । इस वास्तैं गुरू के समीप जाय के प्रश्न करता भया। तब गुरू नैं समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण जो तीनों शरीर हैं सो तेरा स्वरूप नहीं । इस प्रकार उपदेश करिकै मौन को प्राप्त होता भया। तब शिष्य को शेष जो ब्रह्म रूप सत्ता समान का अनायास ही निरावरण ज्ञान होता भया। इस रीति सें अखंड ब्रह्म गुरू के वचन का अविषय हैं । काहे तैं वचनों करिकै द्वैत प्रपंच का निषेध किया है। और अखंड वस्तु के ज्ञान का प्रतिबंधक जो द्वैत है। ता के निषेध सें अखंड वस्तु का बोध भी हुआ है। इस प्रकार अखंड वस्तु वाणी का विषय भी है। और महा वाक्य के श्रवण से उत्पन्न भई जो अखंडाकार वृत्ति है सो वृत्ति अखंड वस्तु के आश्रित आवरण का नाश करे है। इस वास्ते ही कहा है कि अपने आप करके अपना आप पाइता है। यातैं मनका विषय भी है। और अखंड वस्तु के प्रकाश में वृत्ति की अपेक्षा नहीं। इतने अंश में मन का अविषय भी है। जैसे बत्ति में आरूढ होइके अग्नि अंधकार का नाश करे है। तिस तैं अनंतर बत्ती का कुछ प्रयोजन नहीं है।

शंका—हे भगवन् ! अखंड वस्तु का बोध होने तैं सर्व अनात्म वस्तु का बोध हुआ चाहिये। काहे तैं सर्व अनात्म जगत ब्रह्म में अध्यस्त है। या तैं सर्व तत्त्ववेत्ता सर्वज्ञ हुये चाहिये। और सर्व ब्रह्मानंद की प्राप्ति से सर्व आनंदों की प्राप्ति हुई चाहिये । काहे तैं सर्व आनंद ब्रह्म के

अंतर्गत हैं । अखंड वस्तु के बोध से अनात्मा रूप जगत का बोध मानोंगे तो तत्त्ववेत्ता को अनात्मता की प्राप्ति भई । और अनात्म वस्तु के ज्ञान से पुनः कुछ कर्तव्य की अपेक्षा होवेगी । और सर्व आनंदों की प्राप्ति न भई तब तत्त्ववेत्ता की आप्त कामना का अभाव हुआ तिन आनंदों की प्राप्ति वास्ते पुनः कर्त्तव्य की अपेक्षा होनी चाहिये । समाधान—हे देवताओ ! तत्त्ववेता परिमार्थदर्शी होवे है । जैसे रज्जु का सर्परूप करके ज्ञान भ्रमरूप है । सो भ्रमरूप ज्ञान भ्रमी को होवे है । और रज्जु के ज्ञाता को सर्प का रज्जुरूप करके ज्ञान होवे है । तैसे तत्त्ववेत्ता पुरुष को सर्व अनात्म पदार्थों का आत्मारूप करके ज्ञान होवे है । यातैं अनात्म पदार्थों के ज्ञान वास्ते पुनः कुछ कर्तव्यता नहीं । और आत्मा से भिन्नता करके किसी पदार्थ की प्रतीती होवे नहीं इस कारण तैं तत्त्ववेत्ता में सर्वज्ञता होवे नहीं । अथवा यह ही सर्वज्ञता है जो आत्मा से भिन्न किंचिव मात्र भी नास्ति है । और सर्व आनंदों की भी आत्मरूप करके ही प्राप्ति होवे है । यातैं तिनकी प्राप्ति वासतैं कुछ कर्तव्य नहीं है । और आत्मा से भिन्नता करके किसी आनन्द की प्राप्ति तत्त्ववेत्ता को होवे नहीं । यातैं तत्त्ववेत्ता में सर्व आनन्द देखते नहीं ।

दृष्टांत—जैसे स्वप्न में जागे पुरुष को सर्व स्वप्न के पदार्थों की तथा आनन्दों की आत्मरूपता करके ज्ञात तथा प्राप्ति होवे है । तैसे अज्ञानरूप निद्रा से जाग्या जो तत्त्ववेत्ता पुरुष है ताको यह अनुभव हुआ है । मेरे मैं तीनकाल द्वैत प्रपञ्च का सम्वन्ध नहीं । यातैं मैं सर्वदा काल स्वयं प्रकाशरूपता करके स्थित हूं । इस प्रकार तत्त्ववेत्ता के स्वरूप में कोई शंका बने नहीं । तहां श्रुति—

अखंडैकरसो देह अखंडैकरसं मनः । अखंडैकरसं चित्तमखण्डैकरसं सुखम् ॥५०१॥ तेजोविंदूप० अ० २ मं० ७ ॥

अर्थ—अखंड एक रस पञ्च भौतिक देह है । तथा पञ्च भौतिक अन्तःकरणरूप मन अखंड एक रस है । तथा चित्त भी अखंड एक रस है तथा सर्व सुख भी अखंड एक रस हैं ५०१

अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः । अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैक रसं परम् ॥५०२॥ तेजोविंदूप० अ० २ मं० ८

अर्थ—ब्रह्म विद्या अखंड एक रस है । तथा ब्रह्मविद्या से प्राप्त अव्यय वस्तु अखंड एक रस है । तथा नित्य वस्तु भी अखंड एक रस है । सर्व का परारूप ब्रह्म भी अखंड एक रस है ५०२॥

अखण्डैकरसं किंचिद् खण्डैकरसं परम् । अखण्डैकरसादन्यन्नास्ति षडानन् ॥५०३॥ तेजोविंदूपनिषत् अ० २ मं० ९ ॥

अर्थ—यत किंचित पदार्थ हैं सर्व ही अखंड एक रस हैं । तथा पर भी अखंड एक रस है । तथा हे षडानन अखंड वस्तु से अन्य किंचित् मात्र भी नहीं है ॥५०३॥

अखण्डैकरसं स्थूलं सूक्ष्मं चाखण्ड रूपकम् । अखण्डैकरसं वेद्य मखण्डैकरसो भवान् ॥५०४॥ तेजोविंदू० अ०२ मं०११

अर्थ—स्थूल सूक्ष्म चराचर जगत् अखंड एक रस है । तथा नाम रूप अखण्ड एक रस

है। तथा साक्षात्कार अखंड एक रस है। तथा आप भी अखण्ड एक रस है ॥५२४॥

शंका—हे भगवन्! तत्त्ववेत्ता की स्थिति रूप मोक्ष का साधन जो ज्ञान है। तिसका स्वरूप किया है और तिस ज्ञान का फल रूप मोक्ष तिस का भी स्वरूप कृपा करके कहो। समाधान—हे देवताओ! सत्तामात्र चेतन एक है। यातैं सजातीय भेद नहीं। अविद्या तत्कार्य का परमार्थ से असन्ताभाव है। यातैं विजातीय भेद नहीं। और सत्तामात्र चेतन निरवयव है। यातैं स्वगत भेद नहीं। इस रीती से अखंड रूपता करके आपने आप को निरूपण करने वाली जो सभास अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति है तिस वृत्ति को सम्यक बोध कहे हैं। तिस बृत्ति सम्बन्ध तैं रहित निर्विकल्परूप करके स्थिति ताको मोक्ष कहे हैं।

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्क्रमेत्। छिन्न पाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥५०५॥

क्षुरिकोपनिषत् मं० २२॥

अर्थ—जैसे हंस पक्षी की पाश कटजाने से निःशंक होईके आकाश मार्ग में गवन करता है। तैसे जीव के संचितक्रियमान कर्म तथा चित जड़ ग्रन्थिरूप पाश छिन्न हो जाती है तव सदैवकाल के लिये संसार से परते पर पारब्रह्म में अभेद रूप से स्थित होता है ॥५०५॥

यथा निर्वाणकालेतु दीपो दग्ध्वा-लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगिदग्ध्वालयं व्रजेत् ॥५०६॥

क्षुरिकोपनिषत् मं० २३॥

अर्थ—जैसे गृह के भीतर दीपक जलकर निर्वाण काल में लय हो जाता है। तैसे सर्व कर्मों को ज्ञानाग्नि से दग्ध्वा दग्ध करके योगी कहिये तत्त्ववेत्ता परब्रह्म में अभेद रूप से लय व्रजेत लय होता है ॥५०६॥

अमृतत्वं स माप्नोति यदा कामात्स मुच्यते। सर्वेषणा विनिर्मुक्तश्छित्त्वा तंतु न बध्यत ॥५०७॥

क्षुरिकोपनिषत् मं० २५॥

अर्थ—जिस काल में यह विद्वान सर्व कामनाओं तैं रहित होवेगा। तव अमृतत्वं कहिये मोक्ष को प्राप्त होता है। तथा तीन प्रकार की एषणा को छित्त्वा काटेगा तब सो विद्वान मुक्त है न बध्यत कहिये बन्ध नहीं है ॥५०७॥

शंका—हे भगवन! अखण्ड वस्तु को निर्विकल्प कहिना संभवै नहीं। काहेतैं अखण्डत्व विशेषणरूप उपाधि रहे है। विकल्प नाम त्रिपुटी का है त्रिपुटी को सविकल्प कहे है। और त्रिपुटी रहित को निर्विकल्प कहे हैं। सभास अन्तःकरण रूप ज्ञाता तथा सभास अन्तःकरण की अखण्डाकार वृत्तिरूप ज्ञान तथा अखण्डत्व रूप विशेषण विशिष्ट अखण्ड वस्तु ज्ञेय। इस त्रिपुटी रूप उपाधि का अभाव ना होने तैं अखण्ड वस्तु सविकल्प है। जो अखण्ड वस्तु को सविकल्प ही अङ्गीकार करोगे तो अखण्ड वस्तु में अनात्मता की प्राप्ति होवेगी। समाधान—हे देवताओ! असत जड़ दुःख रूप अविद्या तत कार्य्य के निषेध के वासतैं सतचिदानन्द विशेषणों की कल्पना करी है। अविद्या तत्कार्य के अभाव होने तैं विशेषणों का भी साथ ही अभाव होजावे है। तैसे खण्ड रूप जगत् के अभाव होने तैं अखण्डत्व रूप

विशेषण का भी अभाव होवे है। इस रीति से अविद्या तत् कार्य के निषेध वासतैं सर्व विशेषणों की कल्पना करी है। अविद्या तत कार्य के अभाव होने से सर्व विशेषणों का भी अभाव हो जावे है। परन्तु ज्ञेयत्व विशेषण का अभाव होवे नहीं। काहेतैं ज्ञेयत्व विशेषण अखण्डाकार वृत्ति में कल्पया है। जितना काल स्वरूप में किसी धर्म रूप कलंक की प्रतीती होवे है। तितना काल बृत्ति में अरूढ़ चेत नहीं तिनका निषेध करे है। जब सर्व विशेषणों का निषेध हुआ तब बृत्ति भी शांत होजावे हैं। वृत्ति के शांत होने से सभास अन्तःकरणरूप ज्ञाता का भी अभाव होवे है। ज्ञाता ज्ञान का अभाव होने तैं ज्ञेय का भी अभाव होवे है।

दृष्टांत—जैसे वस्त्र की मैल निवृत्ति वासतैं सज्जी साबूनरूप मैल पावे हैं। वस्त्र के धोने से मैल की निवृत्ति के साथ ही सज्जी साबून रूप मैल भी निवृत्त होजावे है। परन्तु किंचित जल आशा से मिल्या जो साबून है सो कोईक क्षण पीछे वस्त्र के शोषण होने से स्वभावक ही निवृत्त होजावे है। तैसे अविद्या तत् कार्य की निवृत्ति वासतैं अनेक विशेषणों की कल्पना करी है। अविद्या तत कार्य के अभाव होने तैं अखण्डाकार वृत्ति का अभाव होवे नहीं। काहे तैं सतचिदानन्दादिक विशेषण भी सूक्ष्म द्वैत हैं। तिसी कारणतैं अविद्या सहित सर्व विशेषणों का अभाव होने तैं उत्तर क्षण में ज्ञेयत्व विशेषण सहित स्वभावक ही ज्ञाता ज्ञान का अभाव होवे है। इस रीति से त्रिपुटी का अभाव होने से विद्वान की स्थिति सविकल्प नहीं। और तिस को निर्विकल्प भी नहीं कथन कर सकतैं। काहे तैं सविकल्प की अपेक्षा करके निर्विकल्प कथन होता है। यातैं विद्वान की स्थिति परम मौन रूप है। तहां श्रुति—

अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत्। चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं परम् ॥५०८॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० २ मं० २४॥

अर्थ—यह सर्व दृष्टि गोचर पदार्थ अखंड एक रस चिन्मात्र यह भावना करो। यह सर्व चिन्मात्र ही हैं पर वस्तु भी अखण्ड एक रस चिन्मात्र है ॥५०८॥

भववर्जित चिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेवहि। इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं चिन्मयमेवहि ॥५०९॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० २ मं० २५॥

अर्थ—संसार से रहित चिन्मात्र है सर्व चिन्मात्र ही है। तथा यह सर्व चिन्मात्र मय है चिन्मय ही है ॥५०९॥

अखण्डैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेवहि। भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं चिन्मात्रमेवहि ॥५१०॥ तेजोविंदूप० अ० २ मं० २८॥

अर्थ—यह सर्व अखण्ड एक रस चिन्मात्र है। यतयत चिन्मात्र ही है। भूत भव्य वर्तमान भविष्यत में जो कुछ भी है सो सर्व चिन्मात्र ही है ॥५१०॥

शंका—हे भगवन्! ज्ञाता ज्ञान के अभाव होने तैं शून्यवाद की प्राप्ति होवेगी। काहे तैं या स्थान में अखण्ड वस्तु को ज्ञेय कहे हैं। ज्ञाता ज्ञान के अभाव होने तैं ज्ञेय का भी अभाव होवे है। यातैं शेष शून्य ही अङ्गीकार करना

होवेगा। समाधान—हे देवताओ ! ज्ञाता ज्ञान के अभाव होने तैं आत्मा का अभाव होवे नहीं। काहे तैं ज्ञाता ज्ञान की अपेक्षा करके ज्ञेयत्व विशेषण की कल्पिना करी है। ज्ञेयत्व विशिष्ट आत्मा को ज्ञेय कहे हैं। ज्ञाता ज्ञान के अभाव होने से ज्ञेयत्व विशेषण का भी अभाव होवे है।

दृष्टांत—जैसे घट विशिष्ट अकाश को घटाकाश कहे हैं। जब दण्ड के परिहार से घट का ध्वंस होवे है। तब घटाकाश नास्ति ऐसे व्यवहार होवे है या स्थान में विशेषण जो घट ताका नाश होवे हैं। और विशेष जो अकाश ताका नाश होवे नहीं। परन्तु घट के नाश होने तैं अकाश का नाश गौण करके प्रतीत होवे है। तैसे ज्ञेयत्व विशेषण के अभावतैं आत्मा का अभाव भी प्रतीत होवे है। परन्तु आत्मा का अभाव होवे नहीं। जिस कारणतैं सर्व के अन्त का साक्षीरूप करके स्थित है। यातैं शुन्यवाद की प्राप्ति होवे नहीं।

परब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानंद मस्म्यहम्। केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥५११॥ तेजोविंदूप० अ० ३ मं० १॥

अर्थ—मैं परब्रह्मरूप हूं मैं परमानन्दरूप हूं। मैं केवल ज्ञानरूप हूं मैं केवल परमरूप हूं ५११

केवलं शांतरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम्। केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥५१२॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० ३ मं० २॥

अर्थ—मैं केवल शांतरूप हूं मैं केवल चिन्मयरूप हूं। मैं केवल नित्यरूप हूं मैं केवल शाश्वतरूप हूं ॥५१२॥

केवलसत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाहमस्म्यहम्। सर्वहीन स्वरूपोऽहं चिदाकाश मयोऽस्म्यहम् ॥५१३॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० ३ मं० ३॥

अर्थ—मैं केवल सत्त्वरूप हूं मैं अहंकार को परित्याग करके केवल हं रूप हूं। सर्व से रहित स्वरूप हूं मैं चिदाकाश मय रूप हूं ॥५१३॥

केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः। सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानंदमयोऽस्म्यहम् ॥५१४॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० ३ मं० ४॥

अर्थ—मैं केवल तुर्यारूप हूं तथा केवल तुर्या तीत हूं। मैं सदा चैतन्यरूप हूं मैं चिदानन्दमय हूं ॥५१४॥

केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा। केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलं प्रियमस्म्यहम् ॥५१५॥

तेजोविंदूपनिषत् अ० ३ मं० ५॥

अर्थ—मैं केवलाकार रूप हूं। मैं सदैवकाल शुद्ध स्वरूप हूं। मैं केवल ज्ञानरूप हूं। मैं केवल प्रियरूप हूं ॥५१५॥

निर्विकल्पस्वरूपोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरामयः। सदाऽसंग स्वरूपोऽस्मि निर्विकारोऽहमव्ययः ॥५१६॥

तेजोविंदू० अ० ३ मं० ६॥

अर्थ—मैं निर्विकल्प स्वरूप हूं। मैं निरीह हूं निरामय हूं सदैव काल असंग स्वरूप हूं मैं निर्विकार हूं अव्यय हूं ॥५१६॥

सदैकरसरूपोऽस्मि सदा चिन्मात्र विग्रहः। अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि ह्यखण्डा-

नंदरूपवान् ॥५१७॥

तेजोबिंदूप० अ० ३ मं० ७ ॥

अर्थ—मैं सदैव काल एक रस रूप हूं तथा सदैव काल चिन्मात्र विग्रह हूं। मैं अपरिच्छिन्न रूप हूं मैं अखंडानंद रूपवाला ही हूं ॥५१७॥

शंका—हे भगवन्! अखंडाकार वृत्ति के अभाव का कारण आत्मा है वा अविद्या तत कार्य है। वा वृत्ति है। जो प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तौ संभवै नहीं काहे तैं समान चेतन किसी पदार्थ का विरोधि नहीं।

दृष्टांत—जैसे समान अग्नि अंधकार का विरोधी नहीं। जो द्वितीय पक्ष अंगीकार करोगे तौ सम्भवै नहीं। काहे तैं अविद्या तत्कार्य का वृत्ति के अभाव सें प्रथम ही अभाव हुआ है। जो तीसरा पक्ष अङ्गीकार करोगे तो आत्मा आश्रय दोष की प्राप्ति होवैगी। काहे तैं आप वृत्ति अभाव का कारण भई। और आप ही अभाव होने वाली हुई। यह वार्ता असन्त असम्भव है।

दृष्टांत—जैसे आप ही मृत्यु और आप ही मृत्यु होने वाला हुआ। इस की न्याई विरुद्ध है। यदि दूसरी वृत्ति का अङ्गीकार करोगे तो तिस की निवृत्ति वास्तैं तीसरी वृत्ति अङ्गीकार करनी होवैगी। तीसरी वृत्ति के निवृत्ति वास्तैं चतुर्थ वृत्ति अङ्गीकार करनी होवैगी। या तैं अनुवस्था दोष की प्राप्ति होवैगी। इस रीती सें वृत्ति के आभव का कोई कारण बनै नहीं। या तैं वृत्ति सत्य है वृत्ति के सत्य होने सें सभास अन्तः करण रूप ज्ञाता भी सत्य है। ज्ञाता ज्ञान के सत्य होने सें ज्ञेयत्व विशेषण भी सत्य है। इस त्रिपुटी के सत्य होने सें तत्त्व वेत्ता की स्थिति सविकल्प हुई। जो सविकल्प वस्तु होवै है सो नाशी होवै है। या तैं आत्म वेत्ता की स्थिति का भी अभाव हुआ चाहिये जब स्थिति का अभाव हुआ तब शून्य ही शेष रहा सोई परम तत्त्व है। समाधान—ना वृत्ति के अभाव का कारण आत्मा है ना अविद्या है। ना ततकार्य है। ना वृत्ति आपनैं अभाव का आप कारण है। किंतु असत जड दुःख रूप अविद्या ततकार्य तथा तिस के निषेधक जो सत चिदानन्दादिक विशेषण हैं तिन संपूर्ण का अभाव ही वृत्ति के अभाव का कारण है। वृत्ति के अभाव होने सें ज्ञाता का भी अभाव होवै है। ज्ञाता ज्ञान के अभाव होने सें ज्ञेयत्व विशेषण के सम्बन्धी रूप जो ज्ञेयता का भी अभाव होवै है। शेष रहा जो त्रिपुटी के अभाव का साक्षी सो शून्य रूप कैसे होवैगा। वोही तत्त्व वेता की स्थिति है।

दृष्टांत—जैसे मैल युक्त जल में कत्तकरेनू के पावने सें मैल का अभाव होवै है। और मैल के अभाव के साथ ही निरमली का भी अभाव होवै है। तैसे सतचिदानन्द मैं ब्रह्म जल की न्याई हूं। अविद्या ततकार्य मैल की न्याई है। तिस अविद्या तत्कार्य तथा मैं ब्रह्म की तद्रूपता हो रही है। और अखण्डाकार वृत्ति निरमली की न्याई है। तिस वृत्ति के उत्पन्न होने सें आविद्या तत्कार्य और तिस के निशेधक जो अनेक विशेषण हैं ता का भी अभाव होवै है। तिन सर्व के अभाव के साथ ही अखण्डाकार वृत्ति का भी अभाव होवै है।

अन्य दृष्टांत—जैसे किसी पुरुष को निद्रा करिकै स्वप्न की प्राप्ति होती भई। तिस को स्वप्न में सिंघ प्रतीत हुआ। तिस सिंघ नैं स्वप्न अवस्था विषे भयानक शब्द करिकै स्वप्ना वी पुरुष की निद्रा का तथा स्वप्न प्रपंच का अभाव कर दिया। तिस निद्रा के साथ ही स्वप्न प्रपंच तथा

सिंघ आप भी अभाव हो जावै है। तैसे अज्ञान रूपी निद्रा करिकै स्वप्न रूपी जाग्रत जगत प्रतीत होवै है। अखण्डाकार वृत्ति सिंघ की न्याईं है। तिस के उदयमात्र से ही द्वैत प्रपंच का कारण सहित अभाव होवै है। तिस प्रपंच के अभाव के साथ ही अखण्डाकार वृत्ति का भी अभाव होवै है।

अन्य दृष्टांत—जैसे किसी राजा नैं अपने शत्रु के मारने वास्तैं तिस के गढ को सुरंग लगा करिकै तहां एक घायल पुरुष को स्थापन कर दिया। तिस घायल पुरुष के हाथ में एक पलीता पकड़ा दिया और तिस गढ के नीचे अनेक कुप्पे बारूद के गाड दिये। तब तिस घायल पुरुष को राजा नैं हुक्म दिया कि जब हम अपनैं गढ में जाय के स्थित होवैंगे तब तुम नैं बारूद को पलीता लगा देना तब घायल पुरुषनैं ऐसा ही किया। पलीता के लागने सें ही शत्रु के सहित ही गढ का अभाव हो गया। और गढ के अभाव साथ ही घायल पुरुष तथा पलीता का भी अभाव हो गया। तब तिस स्थान में केवल अकाश ही रह गया। इस रीती सें राजा निज शत्रु को मार करिकै निष्कंटिक राज्य को प्राप्त हुआ। तैसे अहंकार रूपी शत्रु का पांच कोश रूपी गढ है। तिस गढ़ के नाश वास्तैं मुमुक्षु रूपी राजा है गुरुशास्त्र रूपी घायल पुरुष की कृपा सें। अखंडाकार वृत्ति रूपी पलीता संपादन करता भया। अखण्डाकार वृत्ति के उदय होने सें ही समष्टि व्यष्टि पांच कोश रूपी गढ और अहंकार रूपी राजा तथा द्वैत के निषेधक जो सत् चित् आनन्दादिक विशेषण हैं। तिन सर्व का अभाव हुआ। तिन के अभाव के साथ ही घायल पुरुष रूप गुरुशास्त्र तथा पलीता रूपी अखण्डाकार वृत्ति का भी अभाव हुआ। अखण्डाकार वृत्ति के अभाव होने सें ज्ञेयत्व विशेषण का भी अभाव होवै है। ज्ञेयत्व विशेषण के अभाव होने सें तिस का सम्बन्ध रूप जो ज्ञेयता का भी अभाव होवै है। सर्व के अभाव का जो साक्षी मैं आत्मा हूं ता का अभाव होवै नहीं। इस रीती से तत्त्ववेत्ता की स्वयं प्रकाश स्थिति रूप निष्कंटिक राज्य को प्राप्त होवै है। अर्थात द्वैत प्रपंच सें रहित प्रकाश रूप होइ कै स्थित होवै है। तहां श्रुति—

सच्चिदानंद मात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्। कालो नास्ति जगन्नास्ति माया प्रकृति रेव न ॥५१८॥

तेजोबिंदूप० अ० ६ मं० ६३॥

अर्थ—मैं सत्‌चिदानन्द स्वरूप मात्र हूं। यह नाम रूप जगत मेरे में तीन काल उत्पन्न ही हुआ है। तथा मेरे में भूत भविष्यत वर्तमान तीनों काल भी नहीं हैं। तथा प्रकृति तथा प्रकृति का कार्य जगत भी तथा माया मेरे विषे नहीं हैं ॥५१८॥

अहमेव हरिः साक्षादहमेवसदाशिवः। शुद्धचैतन्यभावोऽहं शुद्ध सत्त्वानुभावनः ॥५१९॥ तेजोबिंदूप० अ० ६ मं० ६४॥

अर्थ—मैं साक्षात हरि हूं तथा मैं साक्षात् शिव हूं तथा मैं शुद्ध चैतन्य रूप हूं। तथा शुद्ध सत्य भाव हूं ॥५१९॥

अद्वयानंद मात्रोऽहं चिद्घनैकरसोऽस्म्यहम्। सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥५२०॥ तेजोबिंदूप० अ० ६ मं० ६५॥

अर्थ—मैं अद्वैतानन्द मात्र हूं तथा मैं चिद्घ-

नानन्द हूं तथा एक रस हूं। सर्व ब्रह्म एक रस हूं सर्व केवल ब्रह्म ही है ॥५२०॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव चेतनम्। सर्वांतर्यामीरूपोऽहं सर्व साक्षी त्व लक्षणः ॥५२१॥ तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ६६॥

अर्थ—सर्व ब्रह्म ही है एक रस ब्रह्म चिन्मात्र ही है। मैं सर्वांतर्यामी स्वरूप हूं तथा सर्व का साक्षी रूप लक्षण हूं ॥५२१॥

परमात्मा परं ज्योतिः परंधाम परा गतिः। सर्व वेदांत सारोऽहं सर्वशास्त्रेषु निश्चितः ॥५२२॥ तेजोविंदूप० अ० ६ मं० ६७

अर्थ—मैं साक्षात परमात्मा स्वरूप हूं तथा परम ज्योति रूप हूं तथा परमधाम परागति रूप हूं। तथा सर्व वेदांत शास्त्र का सिद्धांत सार रूप हूं। तथा सर्व शास्त्र का निश्चय रूप हूं ५२२

शंका—हे भगवन! द्वैत का अभाव चेतन है वा जड़ है। जो प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तौ तत्त्ववेत्ता की स्थिति में विजातीय भेद की प्राप्ति होवैगी। काहेतैं एक आत्मा और दूसरा द्वैत का अभाव हुआ। यदि द्वितीय पक्ष अंगीकार करोगे तौ द्वैत के अभाव सें अखण्डाकार वृत्ति का अभाव बनै नहीं। काहे तैं द्वैत का अभाव जड है। जैसे जड शिला सें कोई कार्य होवै नहीं। येन केन करिकै जड रूप द्वैत के अभाव सें ही अखण्डाकार वृत्ति का अभाव अंगीकार करोगे तौ विजातीय भेद की प्राप्ति होवैगी। काहे तैं एक चेतन रूप आत्मा दूसरा जड रूप द्वैत का अभाव शेष रहै है। जिस तैं अखण्डाकार वृत्ति का अभाव करिकै तिस अभाव के नाश का हेतु कोई है नहीं। इस रीति सें दोनों प्रकार की तत्त्ववेत्ता की स्थिति में साखण्डता की प्राप्ति होवै है। जो साखण्ड वस्तु होवै है। सो नाशी होवै है। या तैं तत्त्ववेत्ता की स्थिति भी नाशी होवैगी। जब तत्त्ववेत्ता की स्थिति का अभाव हुआ तब शून्य अवश्य ही अंगीकार करना होवैगा। समाधान—हे देवताओ! अविद्या तत्कार्य का अभाव केवल चेतन ही है। या तैं सजातीय भेद की प्राप्ति होवै नहीं। जड के भाव सहित जो चेतन है सो अखण्डाकार वृत्ति तिस चेतन के साथ अभेद होइ कै स्थित होवै है। या तैं केवल जड नहीं। इस वास्तैं वृत्ति का अभाव करै है। अखण्डाकार वृत्ति का अभाव करिकै साथ आप भी समान चेतन के साथ अभेद होवै है। या तैं विजातीय भेद की प्राप्ति होवै नहीं।

दृष्टांत—जैसे नदी के प्रवाह में बहने वाला जो पुरुष है। ता को कोई दयालु पुरुष देखी के नदी सें निकालने की इच्छा करिकै नदी में प्रवेश करिकै ता का हाथ पकडता भया तब वोह पुरुष नदी के भय करिकै व्याकुल हुआ तिस दयालु पुरुष के गले को लिपट जाता भया। और सो दयालु पुरुष तिस के गले को लिपट जाता भया। इस रीती सें परस्पर मिल करिकै नदी के प्रवाह में डूब जाते भये। तैसे सच्चिदानन्दादिक विशेषणों सहित अविद्या तत्कार्य का अभाव जब अखण्डाकार वृत्ति में निश्चय हुआ। तिस तैं अनन्तर वृत्ति में यह विचार होवै है कि द्वैत का अभाव भी एक पदार्थ है। तिस अभाव की आत्मा सें भिन्न सत्ता नहीं है। या तैं द्वैत के अभाव का अभाव वृत्ति में अभेद होवै है। तिस तैं अनन्तर वृत्ति में यह विचार होवै है कि अभावि के अभाव का भी चिन्तन नास्ति है। तिस तैं अनन्तर

द्वैत के अभाव के साथ मिल करिकै अखण्डाकार वृति का अभाव होवै है । इस रीती सें द्वैत का अभाव तथा अखण्डाकार वृत्ति परस्पर मिल करिकै नाश को प्राप्त होवै हैं। यह विचार तत्त्व वेत्ता को स्पष्ट होवै है। यातैं अन्तर मुख्य वृत्ति करिकै विचारना योग्य है । जो सर्व के अभाव होने सें सर्व के अभाव का जो मैं अधिष्टान आतमा हूं । सो शुन्य रूप कैसे होवैगा। तिस तैं कल्पित वस्तु का अभाव अधिष्ठान रूप ही होवै है। तहां श्रुति—

साक्षय न पेक्षऽहं निजमहिम्नि संस्थोऽहमचलोऽहम् । अजरोऽहमव्ययोऽहं पक्ष विपक्षादि भेद विधुरोऽहम् ॥५२३॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ३ ॥

अर्थ—मैं साक्ष्य की अपेक्षा सें रहित हूं जानि महिमा में स्थित हूं अचल हूं । तथा मैं अजर हूं अव्यय हूं । पक्ष विपक्ष के भेद सें रहित हूं ॥५२३॥

अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानंदैक सिंधुरेवाहम् । सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलित गुणा जालकेवलात्माहम् ॥५२४॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ४ ॥

अर्थ—मैं बोध स्वरूप एक रस हूं मैं मोक्षानंद एक सिंधु ही हूं। सूक्ष्म हूं अक्षर हूं रजो सतो तमो तीन गुणरूप जाल गलत हो गए हैं जिसके ऐसा केवल आतमा हूं ॥५२४॥

निस्त्रैगुण्य पदोऽहं कुक्षिस्थानेक लोककलनोऽहम् । कूटस्थ चेतनोऽहं निष्क्रिय धामाहमप्रतर्क्योऽहम् ॥५२५

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ५ ॥

अर्थ—मैं तीन गुणों से रहित पद हूं। मायारूप कुक्षि में स्थित अनेक लोकों की कल्पिना करने वाला हूं। कूटस्थ चेतन हूं मैं निष्क्रिय धाम हूं मैं सर्व तर्कों से रहित हूं ॥५२५

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मल निर्वाणमूर्त्तिरेवाहम् । निरवयवोऽहमजोऽहं केवल सन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥५२६॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ६ ॥

अर्थ—मैंसजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित एक हूं विकल हूं निर्मल निर्वाण मूर्त्ति ही हूं। निरवयव हूं अज हूं केवल सत्तामात्र सारभूत हूं ॥५२६॥

शुद्धोऽहमांतरोऽहं शाश्वत विज्ञान सम रसात्माहम् । शोधित परतत्त्वोऽहं बोधानंदैक मूर्त्तिरेवाहम् ॥५२७॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १० ॥

अर्थ—मैं शुद्धरूप हूं सर्व के अन्तर हूं शाश्वत कहिये एक रस हूं विज्ञानरूप सम रसात्मा हूं। मैं तत् त्वं पदार्थ शोधित परम तत्त्व रूप हूं मैं बोधानन्द एक मूर्त्ति ही हूं ॥५२७॥

निवृत्तोऽपि प्रपंचो मे सत्यवद्भाति सर्वदा। सर्पादौ रज्जु सत्तैव ब्रह्म सत्तैव केवलम् । प्रपंचा धाररूपेणवर्ततेऽतो जगन्नहि ॥५२८॥ आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १२

अर्थ—मेरे मैं तीनकाल प्रपञ्च नहीं है सदैव काल ही निवृत भी है तौ भी सर्वदा सत्य की न्याई भासता है। जैसे रज्जु के साक्षात्कार से सर्पादिक निवृत्त होजाते हैं रज्जु ही सत्त है तैसे ब्रह्म भिन्न आतमा के साक्षात्कार से अनंतर केवल ब्रह्म ही सत्त है प्रपञ्च का अधाररूप

करके वर्तमान हूं जगत नहीं है ॥५२८॥

यथेक्षुरस संव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा। अद्वय ब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत्रयम् ॥५२९॥ आत्माप्रबोधो० मं० १३ ॥

अर्थ—मैं जैसे गन्ना (इक्षु) में रस व्याप्त है तथा जैसे मिश्री में मिठास व्याप्त होकर वर्तमान है। तैसे ही मैं अद्वितीय ब्रह्म निश्चय करके तीन प्रकार के जगत् में व्याप्त होकर मैं स्थित हूं ५२९॥

ब्रह्मादि कीटपर्यंताः प्राणिनो मयि कल्पिताः। बुद्बुदादि विकारां तस्तरङ्गः सागरे यथा ॥५३०॥ आत्मप्रबोधो० मं० १४

अर्थ—ब्रह्मा से आदि लैके कीट पर्यंत सर्व प्राणी मैं अधिष्ठान आत्मा में रज्जु सर्प की न्याईं कल्पित हैं। जैसे बुदबुदादिक विकार तरङ्ग सागर में कल्पित हैं ॥५३०॥

शंका—हे भगवन्! वृत्ति से आदि लैके सर्व का अभाव अङ्गीकार करने से तत्त्ववेत्ता की स्थिति प्रसिद्ध कैसे होवेगी। काहे तैं वस्तु की प्रासिद्धि मनवाणि करके होवे है। और तत्त्ववेत्ता की स्थिति में मनवाणी का सम्बन्ध नहीं। जब तत्त्ववेत्ता की स्थिति प्रसिद्ध ना हुई तब शशे के शृंग की न्याईं असत होवेगी। और तत्त्ववेत्ता की स्थिति में मनवाणी का अभाव अङ्गीकार करने से वेदांत सम्प्रदाय का भी अभाव होवेगा। जिसतैं मुमुक्षु को उपदेश मनवाणी करके होवे है। मनवाणी के अभाव होने से उपदेश का अभाव उपदेश के अभाव से ज्ञान का अभाव ज्ञान के अभाव से तत्त्ववेत्ता की स्थिति का अभाव अवश्य अङ्गीकार करना होवेगा। तब शून्य वाद की प्राप्ति कैसे ना होवेगी। समाधान—हे देवताओ! तत्त्ववेत्ता की स्थिति में मनवाणी का अभाव होवे है। यह कथन तुमारा समीचीन है। परन्तु ऐसी स्थिति में स्थित हो करके पुनः वृत्ति आदिक त्रिपुटी की कल्पिना करके और तिस वृत्ति में आरूढ हो करके स्थिति को कथन करे है। यातैं तत्त्ववेत्ता की स्थिति लोक में प्रसिद्ध है। और तिसी वृत्ति में अरूढ होई के मुमुक्षु को भी उपदेश करे है। तिस उपदेश को प्राप्त हुए मुमुक्षु ज्ञान को प्राप्त होवे हैं। ज्ञान को प्राप्त हो करके तत्त्ववेत्ता की स्थिति को प्राप्त होवे हैं।

दृष्टांत—जैसे किसी धनी पुरुष की स्त्री की मुच्चे मोतियों करके युक्त नाथ कूप में गिर-जाती भई। तब तिस धनी पुरुष की स्त्री ने झीवर को कहा कि इस कूप में हमारी नाथ गिर पड़ी है। और नाथ बहुत कीमत की है। तुम निकाल दो तुम को हम पांच रुपये देवांगी। तव झीवर तत्काल ही कूंआ में प्रवेश करता भया। और कूप में प्रवेश करके जल के नीचे जाय के कूप में हाथ फेरता भया। तब तिस के हाथ से नाथ का स्पर्श होता भया। हाथ से स्पर्श होते ही तात्काल नाथ का ज्ञान तथा पांच रुपये लेने की खुशी होती भई। परन्तु कथन नहीं हो सकता जिससे उस जगा में सर्व इन्द्रियों का जल से निरोध हुआ है। और सिठानी को नाथ प्राप्ति का ज्ञान नहीं हुआ। और जल से निकस करके कथन किया कि मेरे को नाथ मिल गई है। तब सिठानी को ऐसा ज्ञान हुआ जो नाथ अब मिल गई है। और नाथ तौ कथन से प्रथम ही प्राप्त हो रही थी। तैसे अखण्डाकर वृत्ति के अभाव से तत्त्व-वेत्ता सर्व उपाधियों से रहित ही स्थित होवे

है। परन्तु तिस स्थिति को कथन नहीं करसक्ता। जिस से दूसरे का अभाव है। और पुनः वृत्ति को कल्प करके और तिस में अरूढ हो करके स्थिति को ऐसे कथन करे है। हमारे स्वरूप में ना अध्यारोप है तथा ना अपवाद है ना अज्ञान है ना ज्ञान है ना बन्ध है ना मोक्ष है ना गुरू है ना शिष्य है केवल सत्ता समान चिन्मात्र परमार्थ रूप हूं। मुमुक्षु पुरुष सद्विचार से जानतें हैं कि इस तत्त्ववेत्ता को पूर्वले महान पुण्यों के प्रताप से इस जन्म में परमानन्द की प्राप्ति भई है। और जिस स्थान विषे स्थित होई के कथन करे है। तिस स्थिति में मनवाणी की गम्य नहीं है। तथा वृत्ति से रहित तत्त्ववेत्ता की स्थिति को शून्य रूप कहिना संभवै नहीं। तहां श्रुति—

यस्य लिंगं प्रपंचं वा ब्रह्मैवात्मा न संशयः। नास्ति यस्य शरीरं वा जीवो वा भूत भौतिकः ॥५३१॥

तेजोविंदूप० अ० ५ मं० १० ॥

अर्थ—ऋभु ऋषि राजा निदाघ को उपदेश करते हैं। हे राजा! चिन्मात्र वस्तु में प्रपञ्च नहीं है तथा जिस चिन्मात्र ब्रह्म में प्रपञ्च के बोधक कोई लिंग भी नहीं हैं। सर्व ब्रह्मरूप आत्मा ही है इस में संशय नहीं है। तथा चिन्मात्र वस्तु में जीवभाव तथा भूत भौतिक शरीर भी नहीं है॥५३१॥

नामरूपादिकं नास्ति भोज्यं वा भोगभुक्च वा। सद्वा सद्वा स्थितिर्वापि यस्य नास्ति क्षराक्षरम् ॥५३२॥

तेजोविंदूप० अ० ५ मं० ११ ॥

अर्थ—तथा चिन्मात्र ब्रह्मा में नाम रूपात्मक प्रपञ्च नहीं है। तथा भोगने योग्य भोग भी नहीं है। तथा सत्य असत्य स्थिथि भी नहीं है। तथा जिस चिन्मात्र में क्षर भौतिक प्रपञ्च तथा अक्षर भौतिक प्रपञ्च का कारण प्रकृति भी नहीं है॥५३२॥

गुणं वा विगुणं वापि सम आत्मा न संशयः। यस्य वाच्यं वाचकं वा श्रवणं मननं च वा ॥५३३॥

तेजोविंदूप० अ० ५ मं० १२ ॥

अर्थ—जिस चिन्मात्र ब्रह्म में रजो सत्त्वो तमो यह तीन गुण भी नहीं हैं। तिस चिन्मात्र ब्रह्म में निर्गुण रूपता भी नहीं तथा तिस में समरूपता भी नहीं है। सर्व अस्ति भाति प्रियरूप आत्मा ही स्थित है। इस में संशय नहीं है। तथा जिस चिन्मात्र ब्रह्म का ओं से आदि लैके कोई अक्षररूपी वर्ण वाचक भी नहीं। तथा सो ब्रह्म भी किसी अक्षर का वाच्य नहीं है। तथा तिस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन श्रवण मननादिक भी कोई नहीं है॥५३३॥

गुरु शिष्यादि भेदं वा देवलोकाः सुरासुराः। यत्र धर्ममधर्म वा शुद्धं वाशुद्धमणवपि ॥८३४॥

तेजोविंदूपनि० अ० ५ मं० १३ ॥

अर्थ—जिस चिन्मात्र ब्रह्म में गुरू शिष्यादिक भाव नहीं है। तथा देवलोकादिक भी नहीं हैं। तथा देवता तथा असुर भी नहीं है। तथा जिस चिन्मात्र ब्रह्म में धर्म तथा अधर्म नहीं है। तथा तिस ब्रह्म में शुद्धपणा तथा अशुद्धपणा अणुमात्र भी नहीं है॥५३४॥

यत्र कालमकालं निश्चयः संशयो नही। यत्र मंत्रममंत्रं विद्या विद्ये न

विद्यते ॥५३५॥ तेजोबिंदूप० अ० ५ मं० १४ ॥

अर्थ—हे निदाघ जिस चिन्मात्र ब्रह्म में भूत भविष्यत वर्तमान काल नहीं है। तथा जिस में अकाल भी नहीं है। तथा जिस में निश्चय तथा संशय नहीं है। तथा जिस ब्रह्म में गायत्री आदिक मन्त्र नहीं है। तथा जिस ब्रह्म में गायत्री आदिक मन्त्रों का अभाव भी नहीं है। तथा जिस चिन्मात्र ब्रह्म में ब्रह्म विद्या आदिक विद्या नहीं है। तथा जिस ब्रह्म में अविद्या भी नहीं है ॥५३५॥

बंधमोक्षादयो नास्ति सद्धासद्धा सुखादिवा। जातिर्नास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ॥५३६॥

तेजोबिंदूप० अ० ५ मं० १५ ॥

अर्थ—हे निदाघ नबन्ध है न मोक्ष है न सुख है न दुःख है तथा न जाति है न किसी वस्तु की प्राप्ति ही है। न वर्ण है न आश्रम ही है तथा न लौकिक ही है न अलौकिक ही है ॥५३६॥

जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्याख्याऽवस्था या भाति देहिनाम्। तस्यापि महादेवः साक्षी भिन्नः स्वयं प्रभः ॥५३७॥

ब्रह्मगीता अ० ६ श्लोक २६ ॥

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्था में जीवात्मा भासमान है। सो निश्चय करके महादेव ही स्वयम् प्रकाश साक्षी है तथा इन अवस्था से भिन्न है ॥५५७॥

यथा मृत्स्वविकारेषु तत्तद्रूपेण संस्थिता। तथा सर्वत्र तत्साक्षी तत्तद्रूपेण संस्थितः ॥५३८॥

ब्रह्मगीता अ० ६ श्लोक ३३ ॥

अर्थ—जैसे मृतिका आपने घट शरावादिक कार्य विषे तिस तिसरूप करके स्थित है। तैसे सो साक्षी ही सर्वत्र तिसातिस रूप करके स्थित है ५३८॥

शंका—हे भगवन! तिस वृत्ति की पुनः उत्पत्ति का कारण आत्मा है वा जगत् है। वा वृत्ति ही आप है। जो प्रथम पक्ष अङ्गीकार करोगे तौ संभवै नहीं। काहे तैं समान चेतन किसी व्यवहार का साधक नहीं है। जो द्वितीय पक्ष अङ्गीकार करोगे तौ भी संभवै नहीं। काहेतैं जगत् वृत्ति से उत्तर क्षण विषे होने वाला है। जो तीसरा पक्ष अङ्गीणार करोगे तौ आत्माश्रय दोष की प्राप्ति होवेगी। आप ही वृत्ति कारण और आप ही वृत्ति उत्पन्न होने वाली। यह वार्ता असन्त विरुद्ध है। यातैं वृति की उत्पति का कोई कारण संभवै नहीं। यातैं वृति की नास्ति होने से तत्त्ववेता की स्थिति भी नास्ति है। येन केन करके वृति की उत्पति अङ्गीकार करोगे तौ इसके अपवाद वासते पुनः तत्त्ववेता को कर्तव्य की प्राप्ति होवेगी। निर्दोष स्थिति वाले तत्त्ववेता को पुनः कर्तव्य के अङ्गीकार करने से ताकी निर्दोष रूप स्थितिका कैसे अभाव न होवेगा। इस रीति से दोनों प्रकार करके कारिकै तत्त्व वेत्ता की स्थिति का अभाव निश्चय हुआ। शून्यवाद ही परम तत्त्व है। समाधान—हे देवताओ! पुनः वृत्ति की उत्पति का कारण ना आत्मा है ना जगत है ना वृत्ति ही है। परन्तु अविद्या तत्कार्य के अभाव होने सें लेश विद्या शेष रहै है।

दृष्टांत—जैसे लशुन के पात्र में सें लशुन को निकाल लेने सें पीछे भी सूक्ष्म गंधि रहै है। तैसे अविद्या के नाश होने सें शेष लेशाविद्या रहै है। सोई वृत्ति की उत्पति का कारण है। जैसे कोई काल पात्र के वर्तमान करने सें लशुन

की गंध स्वभाव कही निवृत्त हो जावै है। तैसे वृत्ति को अरोप करिकै तत्त्व वेत्ता कुछक काल उपदेशादिक व्यवहार करै है। पुनः लेशाविद्या के अभाव तैं वृत्ति आदिक व्यवहार का सहज ही अभाव हो जावै है। ता में कर्त्तव्य की अपेक्षा नहीं।

अन्य दृष्टांत—जैसे किसी बाजीगर का पुत्र राजा का स्वांग लियावने के वास्तैं वस्त्र भूषण शस्त्र पहिर करिकै तथा अपने बाजीगर भाव को विस्मरण करिकै राजा की विभूति का लोभ करिकै व्या मोह को प्राप्त हुआ वस्त्रोऽहं अस्मि भूषणोऽहं अस्मि शस्त्रोऽहं अस्मि इस प्रकार आप को वस्त्र भूषण शस्त्र मानता भया। तब तिस का पिता ऐसे उपदेश करता भया हे पुत्र तूं वस्त्र भूषण शस्त्र रूप नहीं हैं। तुम तो हमारा पुत्र बाजीगर हैं। पिता के वचन को श्रवण करिकै ऐसे कहता भया। कि हे पिता मैं तौ पुरुष पना तथा बाजीगर पना कभी देखा सुना नहीं हैं। तुम किस वास्तैं झूठ बोलते हो मैं तो वस्त्र भूषण शस्त्र रूप ही हूं। तब तिस के पिता नैं पुनः उपदेश किया। हे पुत्र मैं सत्य वादी हूं हम कभी झूठ नहीं बोलते तुम तो हमारा पुत्र हैं। वस्त्र भूषण शस्त्र रूप तूं नहीं है। तब कुछक संदेह को प्राप्त हुआ तथा पूछता भया। हे पिता तूं जो बारंबार कहता है कि तुम मनुष्य है तूं वस्त्र भूषण शस्त्र नहीं। मै किसी रीती सें मनुष्य हूं तथा बाजीगर हूं। तब वृद्ध बाजीगर यह उपदेश करता भया। बाजीगर पने के अच्छादिक वस्त्र भूषण शस्त्रों को उतार देवो। तब पिता के कहिनें सें वस्त्र भूषण शस्त्र उतारता भया। तब पीछे सें शीशा हाथ विषे देता भया। जब शीशा में आपनैं मुख को देखा तौ ता को ज्ञान हुआ कि मैं मनुष्य हूं मैं बाजीगर हूं। मेरे में वस्त्र भूषणादिकों का तीन काल में भी संबंध नहीं है। तैसे शुद्ध चेतन ब्रह्म अपनी माया करिकै आच्छादित होने सें अन्तर्यामी तथा प्राज्ञ अभिमान को धारण करता भया। तिस तैं अनन्तर सूक्ष्म समष्टि के साथ मिल के हिरण्यगर्भ तैं जस अभिमान को धारण करता भया। तिस तैं अनन्तर स्थूल समष्टि के साथ मिल करिकै विराट विश्व अभिमान को धारण करता भया। और तिस अनात्म अभिमान करिकै जन्म मरण रूप अनेक अनर्थ को प्राप्त होता भया। तहां श्रुति—

जागरित स्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल भुग्वैश्वानरः प्रथमःपादः ॥५४१॥

मांडूक्योपनिषत् मं ३॥

अर्थ—आत्मा के चार प्रकार के अभिमान कैसे हैं सो कहितैं हैं। जो जागरित अवस्था है अभिमान जिस का ऐसा जागरित स्थान है। बाह्य प्रज्ञा वाला है। तथा सप्ताङ्ग वाला है तथा उंनीस मुख वाला है तथा स्थूल भोगों का भोक्ता है विराट तथा विश्व नाम वाला है प्रथम पाद है ॥५३९॥

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयःपाद ॥५४०॥ मांडूक्यो० मं० ४॥

अर्थ—स्वप्न स्थान वाला समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमान करने वाला। तथा अन्तर प्रज्ञा वाला तथा सूक्ष्म भोगों को भोगने वाला अर्थात वासना मय भोग वाला है। तथा सप्ताङ्गों वाला तथा उंनीस मुखों वाला हिरण्यगर्भ तैंजस नाम वाला द्वितीय पाद है ॥५४०॥

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनंदमयोह्यानंदभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयःपादः ॥५४१॥

मांडूक्योपनिषत् मं ५ ॥

अर्थ—सुषुप्ति रूप स्थान अभिमान वाला एक ही रूप है द्वितीया नास्ति प्रज्ञा जिस की घन हो गई है। इस प्रकार आनन्द मय ही है तथा आनन्द का भोक्ता है तथा चेतो मुख है प्राज्ञ ईश्वर नाम वाला है तृतीया पाद है ॥५४१॥

सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवंतियाः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहंबीजप्रदः पिता ॥५४२॥ गी० अ० १४ श्लोक ४ ॥

अर्थ—हे कौंतेय देवादिक सर्व योनियों विषे जे शरीर उत्पन्न होवै हैं तिन शरीरों का सो माया ही माता रूप है मैं परमेश्वर तौ गर्भाधान का कर्ता पिता रूप हूं ॥५४२॥

इस प्रकार दुःखी हुआ कदाचित ब्रह्म श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ गुरू की दृष्टि गोचर होता भया। तब गुरु पूछता भया। हे प्रिय तूं कौन हैं तब गुरु के वचन को श्रवण कारिकै ऐसा कहिता भया। मैं अज्ञानी मनुष्य हूं। सुखी दुःखी करता भोक्ता संसारी जीव हूं। तब ब्रह्म निष्ठ गुरु ऐसे उपदेश करता भया। हे प्रिय तुम तौ शुद्ध सत्तामात्र व्यापक ब्रह्म हैं। तुमारे विषे जीव भाव कदाचित हुआ नहीं। तब ऐसे कहिता भया आप सरीखे महात्मा पुरुष अन्यथा सम्भाषण नहीं करते। या तैं आप ऐसे मत कहो। जो तूं शुद्ध सत्तामात्र ब्रह्म हैं। मैं तौ शुद्ध सत्तामात्र ब्रह्म कभी देखा सुना नहीं। या तैं मैं अनेक अनर्थों का पात्र जीव हूं। जब कभी भगवत् कृपा करैगा। तब मेरा कल्याण हो जावैगा। तत्त्ववेत्ता पुनः उपदेश करता भया। हे प्रिय! तुमारे स्वरूप में जीव ईश्वरभाव तीनकाल में हुआ नहीं। तुम विचार करके देखो हम सत् कहते हैं। अन्यथा नहीं कहते। तुमारा स्वरूप केवल शुद्ध सत्तामात्र ब्रह्म है। तब कुछेक संदेहयुक्त होइके प्रश्न करता भया। आप जो वारंवार कथन करते हो तूं ब्रह्म है व्यापक है। मैं किस रीति से ब्रह्म हूं। तब ब्रह्मवेत्ता गुरु ऐसे कहते भये। स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर तूं नहीं। इस प्रकार तिन शरीरों का निषेध करके पीछे से महावाक्यरूप शीशा दिखवाता भया। तात्पर्य यह है। कारण कार्य के निषेध करने से पीछे से शेष रहा जो शुद्ध सत्तामात्र व्यापक ब्रह्म है। सो तूं हैं तिस तुमारे स्वरूप में न जीव है न ईश्वर है न जन्म है न मृत्यु है केवल स्वयं प्रकाश चिन्मात्र सत्ता है। तिस स्वरूप करके स्थित हो। तुमारे सर्व क्लेश दूर होवेंगे। इस प्रकार गुरु के उपदेश को श्रवण करके सत्तामात्र अपने स्वरूप ब्रह्म को निरावरण करके ऐसे कहता भया। हे गुरो! मेरे स्वरूपमें असत जड दुःखरूप संसार का तीनकाल विषे अभाव है। तिस के अभाव होने से सत चिदानंद विशेषणों का भी अभाव है। सर्व अनात्म पदार्थोंका अभाव भी एक पदार्थ है या तैं सो भी नास्ति है। सर्व के निषेध का चिंतन भी नास्ति है। इस रीति से वृत्ति आदिक सर्व का निषेध करके प्रथम मौनरूप स्थिति में स्थित होता भया। जैसे बाजीगर पुनः वस्त्र भूषणादिकों को पहर करके अपनी जीवका के निमित्त राजा के स्वांग को ल्यावता भया। परंतु प्रथम की न्याई भ्रम को नहीं प्राप्त होता भया। काहे तैं बाजीगरपना ता को भूलता नहीं। और जब इच्छा होती है। तब स्वभाविक ही वस्त्रादिक

त्याग करके अपने बाजीगर भाव से ही स्थित होवे है। या तैं प्रथम की न्याईं प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। तैसे ही तत्त्ववेत्ता भी लेश विद्या से वृत्ति को पुनः कल्प करके और तिस वृत्ति में आरूढ होई करके कुछेक काल उपदेशादिक व्यवहार करे है। परंतु प्रथम की न्याईं देहोऽहं ऐसा भ्रम होवे नहीं। क्योंकि अपना स्वरूप स्वयं प्रकाश करके ताको स्पष्ट है। पुनः लेश विद्यासे आदि लेके वृत्ति पर्यंत स्वाभाविक ही शांत हो जावे है। या तैं वृत्ति आदिक की निवृत्ति वास्ते कुछ कर्तव्य की अपेक्षा नहीं। इस रीति से सर्व अनात्म पदार्थों के अभाव की सीमा जो विद्वान की स्थिति है। ताको शून्यरूपता कहना संभवे नहीं। क्योंकि कल्पित का अभाव अधिष्ठान चेतन में ही होवे है। तहां श्रुति—

यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चंद्रमा भाति। यत्र न नक्षत्राणि भांति यत्र नाग्निर्दहाति यत्र न मृत्युः प्रविशति ॥५४३॥ नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्

अर्थ—विद्वान की स्थिति को श्रुति भगवती प्रतिपादन करे है। जिस विद्वान की स्थिति को सूर्य भी नहीं प्रकाशमान कर सक्ता। तथा वायु भी नहीं जिसको स्पर्श कर सक्ता तथा जिसको चंद्रमा भी नहीं प्रकाश कर सक्ता तथा जिसको नक्षत्र भी नहीं प्रकाश कर सक्ते हैं। तथा जिसको अग्नि दाह नहीं कर सक्ती तथा जिस स्थिति में मृत्यु भी नहीं प्रवेश कर सक्ती है॥५४३॥

यत्र न दुःखं सदानंदं परमानंदं शांतं शाश्वतं सदा शिवं ब्रह्मादि वंदितं योगिध्येयं परमंपदं यत्र गत्वा न निवर्तंते योगिनः। तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यंति सूर्यः ॥५४४॥

नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषत् पंचमोपनिषत्॥

अर्थ—जिस विद्वान की स्थिति में दुःख नहीं है। सदानन्द परमानन्द है शांत शाश्वत है सदाशिव रूप है ब्रह्मादिक कथन करते हैं इसका योगी ध्यान करतैं हैं। परमपद रूप है। जिस जगा में प्राप्त हुये योगि लोक नहीं निवृत्त होते हैं सो विष्णु का परमपद है सदा सूर्य देखता है ॥५४४॥

शंका—हे भगवन! अखण्डाकार वृत्ति का अभाव अंगीकार करने सें विद्वान को पुनः अज्ञान की प्राप्ति होवैगी। काहे तैं अज्ञान के अभाव का नाम ज्ञान है। और ज्ञान के अभाव का नाम अज्ञान है। जब ज्ञान का अभाव अंगीकार किया तब अवश्य ही विद्वान में अज्ञान की प्राप्ति होवैगी। और तिस अज्ञान निवृत्ति वास्तैं पुनः कर्तव्य की प्राप्ति होवैगी। जब विद्वान में पुनः कर्तव्य की प्राप्ति हुई तब ता की निर्दोष रूप स्थिति का अभाव हुआ। एक बार महावाक्य सें उदय हुआ जो तत्त्व बोध है। सो किसी अवस्था में नाश होता नहीं। ऐसा शास्त्र में कथन किया है। ता सें भी विरोध होवैगा। और जो अखण्डाकार वृति रूप बोध को अवनाशी अंगीकार करोगे तो विद्वान की स्थिति में सविकल्पता की प्राप्ति होवैगी जिस तैं वृति के होने सें सर्वथा कलंक की निवृति होवै नहीं। किंतु किसी विशेषण रूप कलंक सहित ही आत्मा को साक्षात्कार करना होवैगा। जो कलंक सहित वस्तु होवै सो नाशी होवै है। या तैं आत्मा भी नाशी हुआ चाहिये। दोनों प्रकार सें विद्वान की स्थिति का अभाव प्रसंग होने सें शेष शून्य ही सिद्ध होवै है। समाधान—हे देवताओ! ब्रह्म

ज्ञान का जो फल है सो अवरण की निवृति अधिष्ठान ब्रह्म रूप है। काहे तैं कल्पित वस्तु का अभाव अधिष्ठान रूप होवै है। जैसे कल्पित सर्प का अभाव रज्जु रूप है। तैसे अविद्या तत्कार्य का अभाव ब्रह्म रूप है सो ब्रह्म तीन काल विषे सत्य रूप होने सें अवनाशी है। इस रीती सें ज्ञान का फल जो दुःख सम्बन्ध तैं रहित ब्रह्म रूपता करिकै स्थिति रूप मोक्ष सो सत्य है। ता को सत्य होने तैं तिस का साधन जो ज्ञान है। ता में भी गौनता सें अवनाशी शब्द का प्रयोग होवै है या तैं कोई विरोध नहीं।

दृष्टांत—जैसे किसी का पिता मरजाता है। तब तिसके पुत्र को लोक ऐसा कहते हैं कि अमुक का पिता जीता है। तिस कथन से कोई विरोध नहीं है। और ज्ञान आपना अभाव करके उत्तर क्षण में परमानन्दतारूप मोक्ष करके स्थित होवे है। इस अभिप्राय से भी ज्ञान को सत्यरूप करके कथन करा है। जैसे राजा के पुत्र को भी चक्रवर्ती राजा के योग होने से राजा कहे हैं। तैसे ज्ञान के अभाव होने से अज्ञान की उत्पत्ति पुनः होवे नहीं। जिससे ज्ञान करके अज्ञान का अभाव जान लिया है। और अज्ञान का अभाव हुआ नहीं यातैं अज्ञान पुनः उत्पन्न होवेगा सो शंका बने नहीं। और अज्ञान को अवनाशी अङ्गीकार करने से आत्मा में कलंक की प्राप्ति होवे है। यह कहिना यद्यपि सत्य है। काहेतैं वृत्ति में किसी विशेषणारूप उपाधिवाला ही आत्माको जाना है। जब लग उपाधि विशिष्ट आपने आपका ज्ञान है। तब लग सूक्ष्म अहंकार रूप कर्त्तव्यका अभाव होवे नहीं। तथापि जब वृति का अभाव अङ्गीकार किया तब सर्व कर्तव्य का अभाव होवे है।

दृष्टांत—जैसे कोई चमार महाजनों के साथ मिल करके हरीद्वार के स्नान को जाता भया। तहां जाकर लोकों ने स्नान किया। तथा दान किया। तथा कोई फल छोड़ा। तब चमार भी तिन लोकों की तरफ देख करके विगार को छोड़ता भया। तिसतैं अनन्तर आपने गृह में आ करके चमारपने के कर्मों को करता रहा। तब कोईक दिन व्यतीत होने से कोई राजपुरुष विगार के वास्ते तिसी चमारको आज्ञा देता भया। तब वोह चमार कहने लगा कि हमने विगार हरीद्वार में छोड़ दिया है। तब राजपुरुष कहने लगा कि अब तुम कौन हैं। तब चमार कहने लगा कि मैं चमार हूं। तब राजपुरुष ने ताडना की और बोझा उठवाके आगे लगा लिया तब चमार बोझा उठाके दूसरे ग्राम में पहुंचा करके जब आपने ग्राम में आया तब जिनके साथ गंगा जी में जा करके विगार छोड़ी थी उनको कहने लगा कि मैंने आप लोगों के सामने हरीद्वार में विगार को छोड़ा है। अब हम को राजपुरुष विगार के वास्ते क्लेश क्यों देते हैं। तब ग्रामवासी लोकों ने कहा कि जब तुमारे को राजपुरुष ने आ करके विगार के वासतैं कहा था कि हमारा बोझा दूसरे ग्राम में पहुंचादे। तब तुमने क्या उत्तर दिया था। तब चमार बोला कि मैं विगार हरिद्वार में छोड़ आया हूं। यह कहा था तब उस राजपुरुष ने कहा कि अब तुम कौन हैं। तब मैंने कहा कि मैं चमार हूं। तब उस राज पुरुष ने बलातकार से बोझा उठवा लिया। तब ग्रामवासी लोगों ने कहा कि हे नीच! जैसे तुम ने विगार का त्याग किया था। तैसे तुमने चमारपने का त्याग नहीं किया। इस वासतैं ही तुम को फल प्राप्त हुआ है। तब उस चमार ने नम्रता से प्रश्न

किया कि हे महाराज जी! अब मैं कौन उपाय करूँ जिस करके मेरा क्लेश निवृत होवे। सो उपाय आप कृपा करके कहो। तब ग्रामवासी लोक महाजन कहने लगे कि जब पुनः कोई राजपुरुष तुमारे को बोझा के वास्तैं कहे तौं तुमने चमारपने का अभिमान छोड़के। और किसी जाति का भी अभिमान नहीं करना। किंतु मौन को धारण करके पृथ्वी पर दण्ड की न्याईं लेट जाना। तब चमार लोकों का उपदेश श्रवण करके आपने गृह में आया तब कुछ दिन व्यतीत होनेसे अनन्तर पुनः कोई राजपुरुष आ करके कहने लगा कि हे चमार तुम हमारा बोझा उठा। तब चमार बोला कि मैं चमार नहीं हूं। तब राजपुरुष ने कहा तुम कौन हो। जाट हो चमार ने कहा नहीं। पुनः तुम ब्राह्मण हो चमार ने कहा नहीं। पुनः क्षत्रिय हो चमार ने कहा नहीं। पुनः तुम वैश्य हो चमार ने कहा नहीं। पुनः तुम शूद्र हो चमार ने कहा नहीं। इस प्रकार सर्व का निषेध करने लगा। परन्तु जब तक निषेध करता रहा तब तक राजपुरुष बुलाता ही रहा। तब चमार आपनी वाणी को त्याग करके भूमी के ऊपर दण्ड की न्याईं लंबा पड़गया। तब राजपुरुष चमार को त्याग के चला गया। तैसे सत्संग रूपी हरिद्वार में प्राप्त हो करके तत्त्ववेता के उपदेश को श्रवण करके अनेक मुमुक्षुजन वीतराग हुए विचरते हैं। तिनको देख करके कनिष्ठ अधिकारी भी स्थूल सूक्ष्म कारण समष्टि व्यष्टि तीनों शरीर हैं। तिनके अभिमान रूप विगार को त्याग करके। और सतचित आनन्द विशेषणों विशिष्ट ब्रह्म को आपना आप निश्चय करता भया। तब कोईक काल पीछे यह मनोराज करता भया। हम ब्रह्मज्ञानी हैं। यातैं हम को जीवन्मुक्ति के सुख वास्तैं तत्त्वज्ञान मनो नाश वासनाक्षय का अभ्यास करना योग्य है। तिसतैं अनन्तर अहंकार रूपी राज पुरुष ने समाधि के यम नियमादिक साधनों में प्रवृत्ति कर दिया। समाधि का कर्तव्यरूपी बोझा है। काहेतैं जैसे भारक्लेश का हेतु होवे है। तैसे समाधि का साधन भी क्लेश का हेतु होवे है। यातैं बोझा ही है। इस प्रकार साधनों के करने से कोई वासनाक्षय होवे है कोई नहीं होवे है। परन्तु सर्वथा वासनावों का क्षय होना संभवै नहीं। जिसते वासना अन्तःकरण का सहिज धर्म है। यातैं ऐसा पश्चाताप होवे है। इतना काल हमने समाधि का अभ्यास किया है। अब पर्यंत हमारा मन शांत नहीं हुआ। इसमें क्या कारण है। इस प्रकार संशय युक्त हुआ। वेदांत के पारगामी जो तत्ववेत्ता महात्मा पुरुष हैं। तिनके समीप जाय कै इस प्रकार प्रश्न करता भया हे भगवन! आत्म वेत्ता महात्मा पुरुष शोक रहित होवै हैं। मैं तो ब्रह्मज्ञान को सम्पादन करिकै भी शोक सहित हूं। इस में कौन कारण हैं। आप कृपा करिकै कोई उपाय कहो। तहां श्रुति—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥५४५॥

ईशोपनिषत् मं० ७ ॥

अर्थ—जिस काल विषे सर्व भूतों को आत्मा रूप ही जानता है। तिस विद्वान को एक रूप देखने वाले को क्या मोह है तथा क्या शोक है अर्थात विद्वान को शोक मोह दोनों ही नहीं होते हैं। यह श्रुति का तात्पर्य है ॥५४५

तब तत्त्ववेत्ता महात्मा कहने लगे कि हे साधो! तुम अपने आप को क्या मानते हो तब वोह संशय युक्त पुरुष कहनैं लगा कि मैं सद्

चिदानन्द ब्रह्म का ज्ञाता हूं। तब तत्त्ववेत्ता महात्मा पुरुष कहने लगे हे साधो ! जैसे अविद्या तत्कार्य का त्याग किया था। तैसे ज्ञानीपनैं का त्याग किस वास्तै नहीं किया। इस वास्तैं अहंकार रूपी राज पुरुष नैं समाधि के साधन रूप बोझा तुम को चुकवा दिया है। या तैं तुम नें विज्ञान मय कोश के साथ अभिमान अर्थात तद्रूपता करि है। काहे तैं कर्तव्य अकर्तव्यादिक संपूर्ण धर्म विज्ञानमय कोश में हैं। आत्मा में किसी धर्म का सम्बन्ध नहीं है। तब वोह संशययुक्त पुरुप नम्रता सहत प्रश्न करता भया। हे भगवन ! अब हमारे को क्या कर्तव्य है जिस कर्तव्य करिकै हमारे संपूर्ण शोक निवृत्त होवैं। सो कृपा करिकै आप कहो। तब तत्त्ववेत्ता महात्मा उपदेश करताभया। हे प्रिय : तुम स्थूल शरीर तैं आदि लै कै अखण्डाकार वृत्ति पर्यंत सर्व अनात्म पदार्थों का परित्याग करिकै सत्तासमान चेतन रूपी भूमि के ऊपर स्थित होवो। जिस तैं कर्तव्य रूपी बोझा तुमारे अन्तः करण रूपी सीस तैं निवृत्त होवै। तब संशय युक्त पुरुष इस प्रकार उपदेश को श्रवण करिकै एकांत में स्थित हो करिकै ऐसा विचार करता भया। अविद्या तत्कार्य का मेरे स्वरूप में तीन काल में सम्बन्ध नहीं। मैं सत्चिदानन्द ब्रह्म हूं। भाव यह है कि सत्चिदानन्द विशेषणों सहित अपने आप को जानता भया। तिस तैं अनन्तर इस प्रकार का विचार करता भया। कि असत् जड दुःख रूप द्वैत का मेरे स्वरूप विषे सम्बन्ध नहीं। तिसी कारण तैं जो तिन के निषेधक सत्चिदानन्द विशेषण हैं। तिन का भी मेरे स्वरूप में सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सर्व विशेपणों का निषेध करता भया। तिस तैं आनन्तर ऐसे विचार करता भया। मेरे स्वरूप में सर्व द्वैत प्रपंच के अभाव का भी सम्बन्ध नहीं। तात्पर्य यह है कि अभाव का भी अभाव करता भया। तिस तैं अनन्तर विचार करता भया कि अभाव के अभाव का चिंतन रूप जो वृत्ति ताका भी मेरे स्वरूप में सम्बन्ध नहीं। अर्थात अखण्डाकार वृत्ति को भी त्यागता भया। इस रीती सें परम मौन रूप स्थिति को प्राप्त होता भया। तब सर्व संशयादिकों सें रहित हुआ। काहे तैं कर्तव्य अकर्तव्यादिक अनर्थ मनवाणी मैं होवै हैं। और विद्वान की स्थिति में मनवाणी का तीन काल में सम्बन्ध नहीं। या तैं किसी प्रकार की शंका विद्वान की स्थिति में संभवै नहीं। और विद्वान की स्थिति शून्य रूप भी नहीं। क्योंकि शून्य की सिद्धि भी मनवाणी सें होवै है। और विद्वान की स्थिति में मनवाणी का प्रवेश नहीं। तहां श्रुति—

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्य मग्राह्यमलक्षणमचिंत्य-मव्यपदेश्य मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचो-पशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यंते स आत्मा स विज्ञेयः ॥५४६॥

मांडूक्योपनिषत् मं० ७॥

अर्थ—तत्त्व वेत्ता की स्थिति को साक्षात् श्रुति भगवती प्रतिपादन करै है। तिस स्थिति में स्थित विद्वान की बुद्धि ना अन्तर ना बाहिर है ना दोनों ओर बुद्धि है न बुद्धि है न बुद्धि घनरूप है। बुद्धि वाला भी नहीं है। बुद्धि सें रहित भी नहीं है। मनवाणी का अविषय है। स्थिति में कोई व्यवहार नहीं है। तथा ग्रहण का विषय नहीं है। अलक्षण है चिंतन का विषय

नहीं उपदेश का विषय नहीं । सजातीय विजातीय स्वगत भेद सें रहित एक आत्मा है सर्व प्रत्ययों का प्रकाशक सार रूप है । तथा तिस विद्वान की स्थिति में प्रपंच का अभाव है शांत है शिव रूप है अद्वैत है चतुर्थ अवस्था है ऐसा शास्त्र में लिखा है सो आत्मा है सो जानने योग्य है ॥५४६॥

ना तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तंते तद्धाम परमं मम् ॥५४७॥ गी० अ० १५ श्लोक ६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस पद को प्राप्त होइ कै तत्त्व वेत्ता पुरुष नहीं आवृत्ति को प्राप्त होवै है । तिस पद को सूर्य भी नहीं प्रकाश करिसकै है । तथा चन्द्रमा भी नहीं प्रकाश करिसकै है । तथा अग्नि भी नहीं प्रकाश करिसकै है । जिस कारण तैं मैं विष्णु का स्वरूप भूत सो पद सर्व तैं उत्कृष्ट स्वयं प्रकाश स्वरूप है ॥५४७॥

न तत्र सूर्यश्चंद्रश्च तारका विद्युतोऽनलः। विभांति शंकरे साक्षात्स्वयंभाने चिदात्मके ॥५४८॥ ब्रह्मगीता अ०७१ श्लोक४५

अर्थ—तिस विद्वान की स्थिति को सूर्य भी नहीं प्रकाश करिसकै है । तथा चन्द्रमा भी नहीं प्रकाश करिसकै है तथा तारागण भी नहीं प्रकाश करिसकै है तथा विद्युत भी नहीं प्रकाश करिसकै तथा अग्नि भी नहीं प्रकाश करिसकै है । किंतु शंकरे साक्षात स्वयं प्रकाश चिदात्मा के प्रकाश सें सर्व का प्रकाश होवै है ॥५४८॥

शंका—हे भगवन् ! विद्वान की स्थिति रूप मोक्ष की ज्ञान से उत्पत्ति होवे वा नहीं । जो प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तो विद्वान् की स्थिति रूप मोक्ष का अभाव होवेगा । काहे तैं जो उत्पत्ति वाली वस्तु होवे है । सो नाशवान होवे है । यदि दूसरा पक्ष अङ्गीकार करोगे तो ज्ञान निष्फल होवेगा और ज्ञान को निष्फलता होने से श्रवणादिक साधन निष्फल होवेंगे । जब साधन निष्फल हुए तब विद्वान् की स्थिति रूप मोक्ष किसी को प्राप्त नहीं होवेगी । या तैं भी मोक्ष का अभाव हुआ जब मोक्ष का अभाव हुआ तब अवश्य ही शून्यवाद का अङ्गीकार हुआ । समाधान—हे देवताओ ! ज्ञान मोक्ष की उत्पत्ति नहीं करता जिस तैं मोक्ष नित्य सिद्ध है । और नित्य सिद्धि मोक्ष को लखाय देता है । काहे तैं अविद्या तत्कार्य की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहे हैं । ज्ञान परमानन्द की प्राप्ति करता नहीं जिस तैं परमानन्द आपना स्वरूप है । या तैं नित्य सिद्ध है । तिस की प्राप्ति को लखाय देता है । और ज्ञान अविद्या तत्कार्य की निवृत्ति भी करे नहीं । जिस तैं अविद्या तत्कार्य का आत्मा में अत्यन्त अभाव है । और तिस के अभाव को लखाय देता है ।

दृष्टांत—जैसे नेत्र सूर्य में तम के अभाव को तथा सूर्य की भात्र रूपता को लखाय देते है । और सूर्य को उत्पन्न नहीं करते । जिस तैं सूर्यतम सम्बन्ध तैं रहित स्वयं प्रकाश रूपता करिकै स्थित है । तैसे अखण्डाकार वृत्ति रूप ज्ञान द्वैत सम्बन्ध तैं रहित परमानन्द स्वरूप आत्मा को लखाय देता है । या तैं निष्फल नहीं । और नित्य मुक्त रूप विद्वान की स्थिति रूप को उत्पन्न नहीं करता । इस वासतैं विद्वान की स्थिति का अभाव प्रसंग होवे नहीं । और जो कुछ कथन होवे है । अज्ञान को अंगीकार करके ही होवे है । और विचार करके देखिये तौ आत्मा में अध्यारोप अपवाद की गन्ध भी नही

है। काहे तैं अखण्डाकार वृत्ति के अभाव तैं उत्तर क्षण में स्वभाव कही स्फुर्त्ति होवे है। मेरे स्वरूप में कभी भी अज्ञान हुआ नहीं। या तैं ज्ञान भी नहीं। और मेरे स्वरूप में कभी भी वन्ध नहीं हुआ। या तैं मोक्ष भी नहीं। और मेरे स्वरूप में कभी भी सविकल्पिता हुई नहीं। या तैं निर्विकल्पिता भी नहीं। मुझ को आपना आप नित्य प्राप्त है। या तैं किसी साधन कर के मेरे स्वरूप की प्राप्ति हुई नहीं। इस वाणी रूप कथन कामी सम्बन्ध नहीं इस रीति से आपना आप स्वयं प्रकाश रूपता करके सर्वदा काल स्थित है। इस गुह्य अभिप्राय के जानने से विना अनेक शंका समाधान का करता भी कोई नहीं। पूर्व उक्त प्रकार से विदेह मुक्ति प्रथम होवे है। और जीवन्मुक्ति उत्तर होवे है अखण्डकार वृत्ति के अभाव को विदेह मुक्ति कहे हैं। और अखण्डाकार वृत्ति के भाव को जीवन्मुक्ति कहे हैं।

शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः। नित्यानंदः प्रसन्नात्माह्यन्य चिंताववर्जितः ॥५४९॥

तेजोविंदूप० अ० ४ मं० ६॥

अर्थ—मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूं मैं सर्व के संग तैं रहित हूं। मैं नित्यानन्द रूप हूं मैं प्रसन्न आत्मा अन्य चिंता विवर्जित हूं ॥५४९॥

किंचिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते। नमेचित्तं नमेबुद्धिर्नाहंकारो नचेंद्रियम् ॥५५०॥

तेजोविंदूप० अ० ४ मं० ७॥

अर्थ—मेरे में किंचिद मात्र भी कोई वस्तु नही है जो ऐसे निश्चय करता है सो जीवन्मुक्त है। न मेरा चित्त है न मेरी बुद्धि है न मेरा अहङ्कार है न मेरे इंद्रिय हैं ॥५५०॥

नमेदेहः कदाचिद्वानमेप्राणादयः कश्चित्। नमेमाया नमेकामो नमेक्रोधः परोऽस्म्यहम् ॥५५१॥

तेजोविंदूप० अ० ४ मं० ८॥

अर्थ—कदाचित् भी मेरी देह नहीं है। अथवा मेरे प्राणादिक भी कदाचिव नहीं हैं। ना मेरे में माया ही है न मेरे में काम क्रोधादिक हैं। मैं सर्व से परे हूं ॥५५१॥

नमेकिंचिदिदं वापि नमेकिंचित्कचिज्जगत्। नमेदोषो नमेलिंगं नमेचक्षुर्नमेमनः ॥५५२॥

तेजोविंदूप० अ० ४ मं० ९॥

अर्थ—मेरे में यह किंचित मात्र भी नहीं है। ना मेरे में किंचित मात्र भी जगत् है। ना मेरे में कोई दोष है न मेरा कोई लिंग ही है मेरे में चक्षु नहीं है मेरे में मन भी नहीं है ५५२

नमेश्रोत्रं नमेनासा नमेजिह्वा नमेकराः। नामेजाग्रन्नमेस्वप्नं नमेकारणमण्वपि ॥५५३॥ तेजोविंदूप० अ० ४ मं० १०॥

अर्थ—न मेरे में श्रोत्र है न मेरे में नासका हैं न मेरे में जिह्वा है न मेरे में हाथ हैं। न मेरे में जाग्रत है न मेरे में स्वप्न है न मेरे में कारण शरीर अणु मात्र भी नहीं है ॥५५३॥

नमेतुरीयः मिति यः स जीवन्मुक्त उच्यते। इदं सर्वं नमेकिंचिदयं सर्वं नमेक्कचित् ॥५५४॥

तेजोविंदूप० अ० ४ मं० ११॥

अर्थ—न मेरे में तुरीया अवस्था है इस

प्रकार जो जानता है सो जीवन्मुक्त है यह सर्व मेरे में किंचिद मात्र भी नहीं है यह सर्व मेरे में कुछ भी नहीं है ॥५५४॥

शङ्का—हे भगवन ! अखण्डाकार वृत्ति सत्य है वा असत्य है। जो प्रथम पक्ष अंगीकार करोगे तो विद्वान की स्थिति में सखण्डता की प्राप्ति होवेगी। काहे तैं एक तो चेतन रूप विद्वान की स्थिति सत्य हुई। दूसरी जड़ रूप वृत्ति सत्य हुई। यातैं विजातीयभेद की प्राप्ति होवेगी। जो सखंड वस्तु होवे है सो नाशी होवे है। यातैं विद्वान की स्थिति नाशी हुई चाहिये। जो द्वितीयपक्ष अंगीकार करोगे तो वेदांत संप्रदाय का उच्छेद होवेगा। काहे तैं मुमुक्षु को उपदेश मन वाणी से होवे है। और विद्वान के मन वाणी का अज्ञान की निवृत्ति के साथ ही अभाव होवे है। तब मुमुक्षु को उपदेश कैसे होवेगा। जब उपदेश न हुआ तो मुक्त कैसे होवेगा। यातैं मुक्ति का अभाव प्रसंग हुआ शेष शून्य ही परमतत्त्व है। समाधान—हे देवताओ ! अज्ञान की निवृत्ति के समकाल ही अखंडाकारवृत्ति का अभाव होवे नहीं। यातैं मुमुक्षुजनों को उपदेशादिक व्यवहार हो सकता है। इस वास्ते वेदांत संप्रदाय का उच्छेद होवे नहीं। और ज्ञान करके अज्ञान का स्वरूप बाध होवे है। और स्थूल सूक्ष्म शरीर का सत्यत्व बाध होवे है। और सूक्ष्म शरीर में होने वाली जो अखंडाकार वृत्ति है ताका भी सत्यत्व बाध होवे है। यातैं ज्ञान भी सफल है। जो मिथ्या वस्तु होवे है सो अधिष्ठान से भिन्न नहीं होवे है। किंतु अधिष्ठान रूप ही होवे है। जैसे अकाश में नीलता अकाशरूप ही है। तैसे अखंडाकारवृत्ति आदिक व्यवहार भी आत्मारूप ही हैं। यातैं विद्वान की स्थिति सखंडरूप नहीं। इस रीति से सर्व के भावाभाव का अधिष्ठान जो विद्वान की स्थिति सो शून्यरूप कैसे होवेगी।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांत कृद्वेदविदेव चाहम्॥५५५॥

गी० अ० १५ श्लो० १५॥

अर्थ—पुनः मैं परमात्मादेव ही सर्व प्राणियों के बुद्धि विषे जीवात्मा रूप होई के प्रविष्ट हुआ हूं। इस कारणतैं मैं आत्मादेव तैं ही तिन सर्व प्राणियों को स्मृति तथा ज्ञान तथा तिस स्मृति ज्ञान दोनों का अभाव होवे है तथा सर्व वेदों करके मैं परमेश्वर ही जानने योग्य हूं। तथा वेदांत अर्थ के सम्प्रदाय का प्रवृत्तक हूं तथा मैं परमेश्वर ही सर्व वेदों के अर्थ का वेत्ता हूं ॥५५५॥

शंका—हे भगवन्! अधिष्ठान के ज्ञान होने से कल्पित की निवृत्ति होवे है। यह नियम है। जैसे अधिष्ठान शुक्ति के ज्ञान से कल्पित रजित की निवृत्ति होवे है। तैसे कल्पित जगत का अधिष्ठान जो सत चिदानन्द ब्रह्म है ता का आत्मत्वरूपता करके ज्ञान होने से स्थूल शरीर से आदि लैके अखण्डाकार वृति पर्यंत सर्व का अभाव हुआ चाहिये। जब सर्व आत्मवस्तु का अभाव हुआ तब जीवन्मुक्ति का अभाव होवेगा। और वेदांत सम्प्रदाय का भी अभाव होवेगा। और यदि ब्रह्म ज्ञान करके कल्पत द्वैत अनात्मा का अभाव अङ्गीकार न करोगे तब ज्ञान निष्फल होवेगा। द्वैत की निवृत्ति वास्तैं विद्वान को किसी और कर्तव्य की प्राप्ति होवेगी। जब तत्त्ववेत्ता को पुनः कर्तव्य हुआ तब ताकी स्थिति रूप मोक्ष का

अभाव होवेगा। यदि विद्वान की स्थिति का अभाव हुआ तब शून्य वाद की प्राप्ति होवेगी। समाधान—हे देवताओ! भ्रम दो प्रकार का होवे है। एकतो सौपाधिक भ्रम होवे है। दूसरा निरूपाधिक भ्रम होवे है।

दृष्टांत—जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति निरूपाधिक भ्रम है। और जल के तीर में स्थिति जो पुरुष है सो जल में उलटा हो करके प्रतीत होवे है। सो सौपाधिक भ्रम है। जिस अधिष्ठान के ज्ञान से कल्पित वस्तु का स्वरूप से बाध होवे है। सो निरूपाधिक भ्रम होवे है। जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठान के ज्ञान से रजत का स्वरूप बाध होवे है। यातैं रजत का निरूपाधिक मिथ्या भ्रम है। और जिसके अधिष्ठान ज्ञान से भी स्वरूप बाध नहीं होवे है। किंतु मिथ्यत्वता का निश्चय होवे है। सो सौपाधिक भ्रम होवे है। जैसे जल के तीर में स्थित पुरुष को जब निज शरीर का बोध हुए भी जल में उलटापन जो मिथ्यात्वता का बाध होवे है। यातैं उलटापन का जल में सौपाधिक भ्रम है। और जब जल तथा पुरुष के सम्बन्ध रूप उपाधि का अभाव होवे है। तब उलटापन की प्रतीति का स्वरूप बाध होवे है। तैसे ही जगत का आत्मा में सौपाधिक भ्रम है। काहेतैं जो प्रारब्ध रूप कर्म उपाधि सहित अविद्या का कार्य है। सो मैं परमात्मादेव से अभिन्न आत्मा के बोध होने से अविद्या का स्वरूप बाध होवे है। और स्थूल सूक्ष्म जगत का स्वरूप बाध होवे नहीं। किंतु ससत्व बाध होवे है। यातैं जगत का आत्माविषे सौपाधिक भ्रम है। जब प्रारब्धरूप उपाधि का भोग करके अभाव होवे है। तब स्थूल सूक्ष्म शरीर से आदि लेके अखंडाकारवृत्ति पर्यंत सर्व का अभाव होवे है। इसका नाम विदेहमुक्ति है। इस रीति से ब्रह्मज्ञान करके जगत का सत्यत्व बाध होवे है। यातैं ज्ञान भी सफल है। और ज्ञान के समकाल में जगत का स्वरूप से बाध होवे नहीं यातैं उपदेशादिक व्यवहार का भी अभावसंभवे नहीं। और प्रारब्धकर्म शांत होने से स्वभावक ही अखंडाकारवृत्ति पर्यंत सर्व का अभाव होवे है। यातैं विद्वान को पुनः जगत की निवृत्ति वास्ते अन्य कर्तव्य की अपेक्षा नहीं। इस प्रकार सर्व के अभाव का अधिष्ठान जो विद्वान की स्थिति ताको शून्य रूपता कथन असंभव है। तहां श्रुति—

परब्रह्म स्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम्। केवलं ज्ञान रूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥५५६॥

तेजोविन्दूप० अ० ३ मं० १॥

अर्थ—मैं परब्रह्म स्वरूप हूं परमानंद अस्मि हूं। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं मैं केवल सर्व से परे हूं ॥५५६॥

केवल शांतरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम्। केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥५५७॥

तेजोविन्दूप० अ० ३ मं० २॥

अर्थ—मैं केवल शांत रूप हूं मैं केवल चिन्मय अस्मि हूं। मैं केवल नित्य रूप हूं मैं केवल शाश्वत रूप हूं ॥५५७॥

केवलं सत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाहमस्म्यहम्। सर्वहीन स्वरूपोऽहं चिदाकाश मयोऽस्म्यहम् ॥५५८॥

तेजोविन्दूप० अ० ३ मं० ३॥

है । तब संसार तैं सदैव काल के लिये तरते हैं अर्थात अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२७०॥

यथा निर्वाण कालेतु दीपो दग्ध्वा-लयं व्रजेत् । तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥२७१॥

क्षुरकोपनिषत् मं० २३ ॥

अर्थ—जैसे दीपक निर्वाण काल में दग्ध्वा जल करिकै लयभाव को प्राप्त होता है । तैसे सर्व कर्मों को ज्ञान रूपी अग्नि सें दग्ध करिकै योगी चिन्मय ब्रह्म सें ऐसे लय होता है जैसे जल में जल घृत में घृत दूध में दूध घटाकाश महाकाश में ऐसे लय होवै है ॥२७१॥

किंवा इस तत्त्व वेत्ता पुरुष नैं सर्व प्रकार तैं विषय लंपट पुरुषों के संग तैं रहित ही होना।

तस्माच्चरेतवैयोगीसतां धर्म मगर्ह-यन् । जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव संगतिम् ॥२७२॥

अर्थ—यह तत्त्ववेत्ता पुरुष श्रेष्ठ पुरुषों के धर्म को नहीं दूषित करता हुआ इस प्रकार तैं लोक विषे विचरे जैसे यह विषयासक्त लोक अपमान करते हुये संगति को नहीं प्राप्त होतै हैं ॥२७२॥

अहेरिवगणाद्भीतः सन्मानान्नर-कादिव। कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२७३॥

अर्थ—जैसे देह अभिमानी पुरुष सर्प तैं भय को प्राप्त होवैं हैं । तैसे जो विद्वान पुरुष लोकों के समूह तैं भय को प्राप्त होवै है । और जैसे लोक नरक तैं भय को प्राप्त होवैं हैं । तैसे जो विद्वान पुरुष सन्मान तैं भय को प्राप्त होवै है । और जैसे लोक मृत्यु के शरीर तैं भय को प्राप्त होवे हैं । तैसे जो पुरुष स्त्रीजनों तैं भय को प्राप्त होवै है । तिस विद्वान पुरुष को देवता ब्राह्मण कहे हैं । अर्थात जीवन्मुक्त कहे हैं २७३

संगं त्यजेत मिथुन व्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिंद्रियाणि । एकश्चरन्रहसि चित्तमनंत ईशे युंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत प्रसंगः ॥२७४॥

श्रीभागवत ॥

अर्थ—मुमुक्षुजन विषयासक्त स्त्री पुरुषों के संग को सर्व प्रकार तैं परित्याग करे तथा चक्षु आदिक एकादश इन्द्रियों को बाह्य रूपादिक विषयों विषे प्रवृत्ति नहीं करे । किंतु यह मुमुक्षु जन एकांत देशविषे एकाकी स्थित होइके अप-रिछिन्न ईश्वर विषे चित्त को जोड़े अर्थात निरंतर ब्रह्म का ध्यान करे । और जो कदाचित् सो चित अपने चंचल स्वभाव तैं ता परब्रह्म विषे स्थित नहीं होवै तो ता परब्रह्म विषे प्रीति वाले जे महात्मा हैं तिनों का संग करे ॥२७४॥

अहमास्मि परंब्रह्म वासुदेवाख्य-मव्ययः । इति यस्य स्थिराबुद्धिः स मुक्तो नात्र संशयः ॥२७५॥

अर्थ—वासुदेव है नाम जिसका ऐसा जो उत्पत्ति विनाश तैं रहित परब्रह्म है सो परब्रह्म मैं हूं । इस प्रकार की स्थिरता बुद्धि है जिस पुरुष की सो पुरुष मुक्त ही है । इस अर्थ विषे किंचितमात्र भी संशय नहीं ॥२७५॥

स कामिदमहं च वासुदेवः परम-पुमान्परमेश्वरः स एकः । इति मति

रचला भवत्यनंते हृदये गते व्रजतं विहाय दूरात् ॥२७६॥

अर्थ—यह सर्व जगत तथा मैं वासुदेवरूप ही है। सो वासुदेव परमपुरुष है तथा परमेश्वर है तथा एक अद्वितीय है। इस प्रकार की अचल बुद्धि जिस पुरुष की हृदय देशविषे स्थित परमात्मादेव विषे होवै है। हे मृत्यु! तिन पुरुषों को तुम नैं दूर तैं परित्याग करके चलना। अर्थात परब्रह्म के ध्यान परायण पुरुषों को पुनः मृत्यु की प्राप्ति होवै नहीं ॥२७६॥

या तैं यह सिद्ध भया। जो पुरुष विषयासक्त स्त्री पुरुषों के संग का परित्याग करके ब्रह्म का चिंतन करे है तिस पुरुष की ते सर्व मलिन वासना निवृत्त होवै है॥

साक्ष्य न पेक्षोऽहं निजमहम्नि संस्थोऽहमचलोऽहम्। अजुरोऽहं मव्ययोऽहं पक्ष विपक्षादिभेद विधुरोऽहम् ॥२७७॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ३॥

अर्थ—मैं निरपेक्ष साक्षी हूं। सोयं महिम्नि से स्थित हूं मैं अचल हूं। अजर हूं अव्यय हूं पक्ष वा पक्षादि भेद तैं रहित हूं॥२७७॥

अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानंदैक सिंधुरेवाहम्। सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलित गुणजाल केवलात्माहम् ॥२७८॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ४॥

अर्थ—बोधस्वरूप एकरस हूं मोक्षानन्द एक सिंधुरूप ही हूं। सूक्ष्म हूं अक्षररूप हूं रजो सत्त्वो तमोगुण जाल से रहित केवल आत्मारूप हूं॥२७८॥

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्त्तिरेवाहम्। निरवयवोऽहमजोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥२७९॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ६॥

अर्थ—मैं एक हूं कला रहित हूं निर्मल निर्गुण निर्वाण मूर्त्ति ही हूं। निर्वयव हूं अज हूं केवल सत मात्र सारभूत हूं॥२७९॥

शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञान समरसात्माहम्। शोधित परतत्त्वोऽहं बोधानंदैक मूर्त्तिरेवाहम् ॥२८०॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १०॥

अर्थ—मैं शुद्ध हूं सर्व से अन्तर हूं मैं एक रस व्यापक विज्ञान स्वरूप एक रस आत्मा हूं। भाग त्याग लक्षणा करके शोधित परम तत्त्व हूं बोधानन्द एक मूर्त्ति ही हूं॥२८०॥

निवृत्तोऽपि प्रपंचो मे सत्यवद्भाति सर्वदा। सर्पादौ रज्जु सत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्। प्रपंचाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि ॥२८१॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १२॥

अर्थ—मेरे विषे प्रपञ्च नित्य निवृत्त भी है परन्तु सत्य की न्याईं सर्वदा काल प्रतीत होता है। जैसे रज्जु में सर्प प्रतीती से प्रथम रज्जु ही सत्यरूप थी। तैसे प्रपञ्च का अधार रूप करके वर्तमान केवल ब्रह्म ही सत्य है जगत नहीं है॥२८१॥

यथेक्षुरस संव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा। अद्वय ब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वैजगत्त्रयम् ॥२८२॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १३॥

अर्थ—जैसे इक्षु में रस व्याप्त है तथा जैसे

शक्कर में मिठास वर्तमान है। तैसे मैं ब्रह्मरूप अद्वितीय रूप से तीन प्रकार के जगत में मैं निश्चय करके व्यापक हूं ॥२८२॥

ब्रह्मादिकीटपर्यंताः प्राणिनो मयि कल्पिताः। बुद्बुदादि विकारांतस्तरङ्ग सागरे यथा ॥२८३॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १४॥

अर्थ—मेरे विषे ब्रह्मा से आदि लैके कीट पर्यंत सर्व प्राणिमात्र कल्पित हैं। जैसे समुद्र में बुद्बुदा तथा तरंग विकार कल्पित हैं २८३

तरङ्गस्थं द्रवं सिंधु र्न वांच्छति यथा तथा। विषयानंद वाञ्छामे माभूदानंद रूपतः ॥२८४॥ आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १५

अर्थ—जैसे तरङ्ग में स्थित हुआ द्रव सिंधू की बांच्छा नहीं करता। तैसे मैं भूमानन्द स्वरूप हुआ विषयानन्द की वाञ्छा नहीं करता ॥२८४॥

दारिद्र्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम। ब्रह्मानंदे निमग्नस्य विषयाशान तद्भवेत् ॥२८५॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १६॥

अर्थ—जैसे लक्ष्मीवान पुरुष को दारिद्र्य की आशा नहीं होती। तैसे ब्रह्मानन्द में निमग्नको विषयाशा नहीं होती ॥२८५॥

विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्। आत्मानमपि दृष्ट्वाहम नात्मानं त्यजाम्यहम् ॥२८६॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १७॥

अर्थ—जैसे विष के देखने से तथा अमृत के देखने से बुद्धिमान पुरुष विष का ही त्याग करेगा। तैसे ही आत्मा के साक्षात्कार से मैं अनात्मा का ही त्याग करोंगा ॥२८६॥

घटवभासको भानुर्घट नाशेन नश्यति। देहावभासकः साक्षी देहनाशेन नश्यति ॥२८७॥ आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १८॥

अर्थ—जैसे घटका प्रकाशक सूर्य घट के नाश से नाश नहीं होवे है। तैसे देह का प्रकाशक साक्षी देह के नाश से नाश नही होवे है ॥२८७॥

न मे बन्धो न मे मुक्ति र्न मे शास्त्रं न मे गुरुः। मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः ॥२८८॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १९॥

अर्थ—मेरे विषे बन्ध नहीं है तथा मेरे विषे मुक्ति भी नहीं है न मेरे वासतैं शास्त्र है तथा न गुरू ही है। हमारे शरीर से लैके ब्रह्मा पर्यंत माया के कार्य होने तैं मिथ्या हैं मैं माया से अतीत अद्वितीय हूं ॥२८८॥

प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामै र्वा हन्यतां मनः। आनंद बुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत् ॥२८९॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २०॥

अर्थ—तिन प्राणों का धर्म चलना है कामना करनी वा कामनाओं से रहित होना मनका धर्म है। तथा आनन्दमय कोश तथा बुद्धि में मैं पूर्ण हूं मेरे को दुःख कैसे होवे है २८९

आत्मामञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायिताम्। कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित् ॥२९०॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २१॥

अर्थ—मैंने आत्मा को प्रकाशक शुद्ध जाना

है अब कोई पता नहीं मिलता जो अज्ञान कहां भाग गया है। मेरे विषे कर्तृत्व भी नष्ट हो गया है। तथा कर्तव्य भी मेरे विषे कुचतमात्र भी नहीं है ॥२९०॥

ब्राह्मण्यं कुल गोत्रे च नाम सौन्दर्य जातयः। स्थूल देहगता एते स्थूला-द्भिन्नस्य मे नहि ॥२९१॥

आत्मप्रबोधोपनिषद् मं० २२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादिक जाति कुल तथा गोत्र तथा नाम तथा सौन्दर्य ताईं यह सर्व धर्म स्थूल देह के ही हैं मैं स्थूल देहादिकों से भिन्न के नहीं है ॥२९१॥

क्षुत्पिपासान्ध्य बाधिर्यकामक्रोधा-दयोऽखिलाः। लिङ्गदेहगता एतेह्य-लिङ्गस्य न सन्ति हि ॥२९२॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २३ ॥

अर्थ—क्षुत्पिपासा अन्धापणा बधिर्यपणा तथा काम क्रोधादिक संपूर्ण यह सर्व लिङ्ग देह के धर्म हैं मैं लिङ्ग देह नहीं हूं ॥२९२॥

जडत्व प्रिय मोदत्व धर्माः कारण देहगाः। न सन्ति मम नित्यस्य नि-र्विकार स्वरूपिणिः ॥२९३॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २४ ॥

अर्थ—जड़त्वपणा प्रिय मोदपणा यह सर्व धर्म कारण देह के हैं। मैं नित्य के तथा निर्विकार स्वरूप के नहीं हैं ॥२९३॥

उल्लूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्र-तीयते। स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते ॥२९४॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २५ ॥

अर्थ—जैसे उलूक को सूर्य के उदय होने से अन्धकार ही प्रतीति होता है। तैसे स्वयं प्रकाश परमानन्द के प्रकाश के होने से भी मूढ़ पुरुषों को अन्धकार ही प्रतीत होता है ॥२९४॥

चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रे सूर्योनास्तीति मन्यते। तथा ज्ञानावृतो देही ब्रह्मना-स्तीति मन्यते ॥२९५॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २६ ॥

अर्थ—जैसे चतुर पुरुष दृष्टि के निरोध करने से अकाश में सूर्य नास्ति इस प्रकार मानते हैं। तैसे ज्ञान रूप आत्मा के अवृत हुए ब्रह्मरूप देही नहीं है। ऐसा मानते हैं ॥२९५॥

यथाऽमृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न-लिप्यते। न स्पृशामि जडाद्भिनो जड-दोषा प्रकाशतः ॥२९६॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २७ ॥

अर्थ—जैसे अमृत विष तैं भिन्न है विषके दोषों से लिपायमान नहीं होता। तैसे जड़ों का प्रकाशक आत्मा जड़ के दोषों से तथा जड़ से भिन्न होने से जड़ के दोष स्पर्श नहीं करते २९६

स्वल्पापि दीप कणिका बहुलं नाश-येत्तमः। स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशयेत्तमः ॥२९७॥

आत्मप्रबोधोप० मं० २८ ॥

अर्थ—जैसे स्वल्प भी दीपक का प्रकाश बहुत अन्धकार को नाश कर देता है तैसे थोड़ा भी आत्मा का प्रकाश बहुत अज्ञान जन्य तम को अर्थात् आवरण को नाश करदेता है ॥२९७॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहि-नाम्। सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः

सर्वोपकारकः ॥२९८॥ कामै रहित धीर्दांतो मृदुः शुचिरकिंचनः। अनीहो मितभुक् शांतः स्थिरोमच्छरणो मुनि ॥२९९॥ अप्रमतो गंभीरात्मा धृति मान्जितषड्गुणः। अमानीर्मानदःकल्पोमैत्रः कारुणिकः कविः ॥३००॥
एकादश भागवत अ० ११ श्लोक २९-३०-३१ ॥

अर्थ—परा ये दुःख को नहीं सहने वाला किसी प्राणि का द्रोह नहीं करने वाला क्षमावान सत्य सन्ध इर्ष्यादिक से रहित सुख दुःख में समान यथा शक्ति सर्व का उपकार करने वाला२९८ तथा कामना रहित जितेन्द्रिय कोमल चित्त सदाचार वाला संग्रह तैं रहित इस लोक के भोगार्थ पुरुषार्थ रहित मित्त भोजन करने वाला शांत स्वधर्म में स्थिर मेरी श्रवणागत तथा मनन शील ॥२९९॥ तथा सावधान निर्विकार कष्ट के समे में भी धैर्य रखने वाला क्षुधा पिपासा शोक मोह जरा मृत्यु को आपने स्वरूप में नहीं मानने वाला एषणा रहित दूसरे को मान देने वाला आप अमानी ज्ञान देने में चतुर किसी को ठगने वाला नहीं कारुणिकः और सम्यक ज्ञानवान मैत्री वाला ॥३००॥

अब सत्संग को वासना की निवृत्त द्वारा मोक्ष की साधनता का प्रतिपादिक वचन कहे हैं। तहां श्लोक—

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम्। माहांतस्ते समाचिताः प्रशांता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥३०१॥

अर्थ—जो विद्वान् पुरुष महात्मा पुरुषों की सेवा को मुक्ति का साधन कहे हैं और स्त्रियों के संगी पुरुषों के संग को नरक के प्राप्ति का साधन कहे हैं। तहां महत्पुरुष किस का नाम है। जो पुरुष समाचित है अर्थात सम ब्रह्म विषे है चित्त जिन्हों का अथवा शत्रुमित्र विषे है सम चित्त जिन्हों का तथा जो पुरुष अतिशय करिकै शांत स्वभाव वाले हैं तथा क्रोध तैं रहित है तथा सुहृद है अर्थात् अनुपकारी पर भी उपकार करने हारे हैं। तथा साधु हैं अर्थात शम दम करिकै सम्पन्न है ऐसे गुण वाले पुरुष ही महात्मा पुरुष तथा महत्पुरुषों का जो श्रद्धा भक्ति पूर्वक संग है सो संग भी ता मलिन वासना की निवृत्ति द्वारा मोक्ष का ही साधन होवे है ॥३०१॥

मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावना ताश्चितप्रसादनम् ॥३०२॥ योगसूत्र ॥

अर्थ—मैत्री १ करुणा २ मुदिता ३ उपेक्षा ४ यह चारो प्रकार की शुभ वासना होवे है। सुखी प्राणियों विषे यह सर्व हमारे ही हैं। या प्रकार की जो भावना है ताका नाम मैत्री है और दुःखी प्राणियोंविषे जैसे हमारे को दुःख मत होवे तैसे इन प्राणियों को भी दुःख मत होवे या प्रकार की जो भावना है ताका नाम करुणा है। और पुण्यवान् पुरुषों को देखिके जो प्रसन्नता है ताका नाम मुदिता है। और पापी पुरुषों तैं जो उदासीनता है ताका नाम उपेक्षा है। इस प्रकार मैत्री आदिक चारी भावना वाले पुरुषों की रागद्वेष असूया मद मात्सर्य आदिक सर्व मलिन वासना निवृत्ति होइ जावे है। तिस तैं इस पुरुष का चित्त शुद्ध होवे

है ॥३०२॥ तहां श्लोक—

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्चस्वाध्याय स्तप आर्जवम् ॥३०३॥

अर्थ—हे अर्जुन अभयं अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान योग दोनों विषे स्थिति दान तथा दम तथा यज्ञ स्वाध्याय तप आर्जव यह सर्व दैवी संपदा रूप हैं ॥३०३॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्। दयाभूतेष्वलोलुपत्व मार्जवं ह्रीरचापलम् ॥३०४॥

अर्थ—तथा अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शांति अपैशुन सर्व भूतों विषे दया अलोलुपत्वमार्दव ह्रीर अचापल यह दैवी संपदा रूप हैं ॥३०४॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३०५॥

गी० अ० १६ श्लोक १-२-३ ॥

अर्थ—हे भारत तेज क्षमा धृति शौच अद्रोह नाति मानिता यह सर्व सत्त्वगुण मय वासना को संपादन करिकै जन्मे हुये पुरुष को प्राप्त होवै हैं ॥३०५॥

इस प्रकार सो विद्वान संन्यासी जभी संकल्प पूर्वक तिन मैत्री आदिक शुभ वासनाओं को तथा दैवी संपदा को तथा अमानित्वादिक धर्मों को अभ्यास करिकै संपादन करै हैं। तभी सूर्य के उदय हुये जैसे तम निवृत्त होवै है। तैसे ता विद्वान संन्यासी की ते पूर्व उक्त सर्व मलिन वासना निवृत्त होवै हैं। तिस ते अनंतर यह नाम रूप आत्मक सर्व जगत चैतन्य विषे कल्पित होने तैं स्वतः सत्ता स्फुरण तैं रहित है। या तैं ता अधिष्ठान चैतन्य के सत्ता स्फुरण पूर्व कही ता का सत्ता स्फुरण होवै है। इस प्रकार जगत के विषे नाम रूप दोनों अंशों के मिथ्यात्व निश्चय तैं उपेक्षा करिकै सर्वत्र परिपूर्ण अस्ति भाति प्रिय रूप अधिष्ठान चैतन्य मैं हूं या प्रकार की जो निरंतर भावना है ता का नाम चिन्मात्र वासना है। सा चिन्मात्र वासना भी दो प्रकार की होवै है। एक तो कर्ता कर्म करण इस त्रिपुटी के स्मरण पूर्वक चिन्मात्र वासना होवै है। दूसरी त्रिपुटी के स्मरण तैं रहित केवल चिन्मात्र वासना होवै है। तहां इस सर्व जगत को मैं अपने मन करिकै चिन्मात्र रूप को जानता हूं। इस प्रकार तैं करी हुई जो भावना है सो भावना तौ प्रथम त्रिपुटी पूर्वक चिन्मात्र वासना है इस चिन्मात्र वासना का संप्रज्ञात समाधि कोटि विषे अंतर भाव है अर्थात इस प्रथम चिन्मात्र वासना को ही योग शास्त्र विषे संप्रज्ञात समाधि कहै हैं। और कर्त्ता कर्म करण इस त्रिपुटी के स्मरण तैं रहित मैं चिन्मात्र हूं या प्रकार की भावना है साभावना केवल चिन्मात्र वासना कही जावै है। इस केवल चिन्मात्र वासना का असंप्रज्ञात समाधि कोटि विषे अंतर भाव है। अर्थात इस केवल चिन्मात्र वासना को ही योग शास्त्र विषे असंप्रज्ञात समाधि कहै हैं। तहां श्लोक—

चिदिहास्तहि चिन्मात्रं सर्वचिन्मयमेव तत्। चित्त्वं चिदहमेते चलोश्चिदिति संग्रह ॥३०६॥ यो० वा० उपशमप्र० ॥

अर्थ—हे राजन इस सर्व जगत विषे चैतन्य

ही अधिष्ठान रूप तैं व्याप्य करिकै रह्या है । या तैं यह सर्व जगत चैतन्य मात्र ही है । तूं भी चैतन्य रूप ही हैं तथा मैं भी चैतन्य रूप हूं तथा यह सर्व लोक भी चिन्मात्र रूप ही है ३०६

इस प्रकार चिन्मात्र वासना के दृढ़ अभ्यास किये हुए पूर्व उक्त सर्व मलिन वासना निवृत्त होवे है । यह ही वासना क्षय का अभ्यास है । अब मनोनाश कहने वास्ते प्रथम मन का स्वरूप कहे हैं । लाक्षा सुवर्णादिकों की न्यांई सवयव तथा कामादिक वृत्ति रूप करिकै परिणाम वाला जो अन्तःकरण है सो अन्तःकरण ही मन रूप होने ते मन कह्या जावे है । सो मन सत्त्व रज तम यह तीन गुण रूप होवे है । काहे तैं सत्वरज तम इन तीन गुणों के यथा क्रम तैं विकार रूप जे सुख दुःख मोह यह तीन धर्म हैं । ते तीनों धर्म ता मन के आश्रित हुए प्रतीत होवे हैं । यां तैं ता मन विषे सत्त्वादिक त्रिगुण रूपता ही सिद्ध होवे है । सो मन राजस तामस वृत्तियों करिकै वृद्धि को प्राप्त हुआ अति स्थूल होवे है । सो स्थूल मन आत्मा के साक्षात्कार वास्ते योग होवे नहीं । काहे तैं दुर्विज्ञेय होने तैं आत्मा अति सूक्ष्म है ।

यत्तदद्रेश्य मग्राह्यमगोत्रमवर्ण मचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसुक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः ॥३०७॥ मुण्डकोपनिषत् मं० ६ ॥

अर्थ—जो सो आत्मा अदृश्य है अर्थात सर्व ज्ञानेंद्रियों का अविषय है । और आग्राह्य है सर्व कर्म इंद्रियों का अविषय है । और अगोत्र है वंश रहित है । तथा अवर्ण है ब्राह्मणादिक चारों वर्णों सें रहित है । चक्षु श्रोत्र का विषय नहीं काहे तैं चक्षुश्रोत्र रूप को तथा शब्द को ही विषय करै हैं । आत्मा रूप नहीं तथा शब्द नहीं है । सो आत्मा हाथ सें ग्रहण नहीं होता तथा पादरहित है । पाद सें गमन क्रीया का विषय नहीं तथा नित्य है विभु है सर्वगत है सो आत्मा अति सूक्ष्म है अर्थात अति इंद्रय है सो आत्मा अव्यय है तथा सो आत्मा सर्व भूतों की योनि है ऐसे आत्मा को धीर पुरुष परिपश्यंति साक्षात्कार करिकै इस दुःख रूप संसार सें परपार मोक्ष को प्राप्त होता है ॥३३७॥

ऐसे सूक्ष्म आत्माको स्थूल मन करिकै साक्षात्कार संभवता नहीं। जैसे स्थूल कुदाल करके सूक्ष्म वस्त्र का सीवना संभवता नहीं । किंतु सूक्ष्म सूचि सें ही ता सूक्ष्म वस्त्र का सीवना संभवै है । तैसे सूक्ष्म मन करिकै ही ता सूक्ष्म आत्मा का साक्षात्कार संभवै है । राजसीतामसी गुण युक्त मन सें आत्मा का साक्षात्कार संभवै नहीं । तहां श्लोक—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३०८॥ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३०९॥ गी० अ० १८ श्लोक ३१-३२ ॥

अर्थ—हे पार्थ यह पुरुष जिस बुद्धि करके धर्म को तथा अधर्म को तथा कार्य को तथा अकार्य को अयथावत नहीं जानता है । सो बुद्धि राजसी कही जावे है ॥३०८॥ हे पार्थ तम करके आवृत्त हुई जो बुद्धि है सो अधर्म को धर्म इस प्रकार माने है । तथा दूसरे भी

सर्व अर्थों को विपरीत ही माने है। सो बुद्धि तामसी कही जावे है ॥३०९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्या कार्ये भयाभये। बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३१०॥

गी० अ० १८ श्लोक ३० ॥

अर्थ—हे पार्थ यह विवेकी पुरुष जिस बुद्धि करके बन्धन का हेतु प्रवृत्ति को तथा मोक्ष का हेतु निवृत्ति को तथा करने योग्य कार्य को तथा नहीं करने योग्य अकार्य को तथा भय तथा अभय को तथा वन्ध को तथा मोक्ष को जो बुद्धि जानती है सो बुद्धि सात्त्विकी कही जावे है ३१०

इन भगवान के वचनों से रजो तमो गुणों करके मन उपलक्षित्त बुद्धि स्थूल भाव को प्राप्त हुई यथावत् पदार्थों को नहीं जानती है यातैं आत्मा के साक्षात्कार वासतैं मन की सूक्ष्मता अवश्य अपेक्षित है। सामन की सूक्ष्मता राजस तामस वृत्तियों के निरोध करके ही सिद्धि होवे है। यातैं तिन वृत्तियों के निरोध करके जो मन को सूक्ष्मता का सम्पादिन है यह ही ता मन का नाश है। तात्पर्य यह है सो मन का नाश अरूप नाश १ स्वरूप नाश २ इस भेद करके दो प्रकार का होवे है। ता मन का पुनः उत्थान तैं रहित जो स्वरूप नाश है ता को अरूप नाशक हैं। और स्वरूप तैं ता मन के विद्यमान हुए भी उपाय करके जो ता मन के वृत्तियों का नाश है ता को स्वरूप नाश कहे हैं। मन के अरूप नाश करके तो इस तत्त्ववेत्ता पुरुष को विदेह मुक्ति की प्राप्ति होवे है। और मन के स्वरूप नाश करके जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होवे है। यातैं मनोनाश शब्द करके तो स्वरूप नाश ही विवक्षित है।

संकल्पादिकं मनोबंधहेतु। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ॥३११॥

मण्डलब्राह्मणोपनिषत् अ० २ मं० ४ ॥

शंका—हे भगवन! राजस तामस वृत्तियों के निरोध करके मन की सूक्ष्मता के सम्पादिन को आपने मानो नाश कह्या हैं। सो वृत्तियों का निरोध किस उपाय तैं होवे है। समाधान—ता वृत्ति निरोध के उपाय वासिष्ठ जी नैं चारी प्रकार के कहे हैं। तहां श्लोक—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधु संगम एव च। वासना संपरित्यागः प्राणसंपद निरोधनम् ॥३१२॥ यो० वा० उपशमप्रकरण॥

अर्थ—यह चारों प्रकार के उपाय चित्त के जय करने के वासतैं प्रवल कारण हैं प्रत्येक आत्मा को ब्रह्मरूप करके कथन करने हारी जो विद्या है ताका नाम अध्यात्म विद्या है। ता अध्यात्म विद्या की जो प्राप्ति है ताका नाम अध्यात्म विद्याधिगम है। सो भी चित्त के जय का साधन है। काहे तैं यह नाम रूपात्मक सर्व जगत मिथ्या ही है। मैं ही सर्वत्र परिपूर्ण हूं परमानन्द एक रस हूं। मेरे तैं भिन्न कोई भी कारण वा कार्य नहीं है। मैं ही सर्वरूप हूं। या प्रकार की अध्यात्म विद्या प्राप्त हुए यह तत्त्ववेत्ता पुरुष सर्व दृश्य प्रपञ्च को मिथ्यारूप करके जानै है। यातैं ता विद्वान पुरुष का मन ता दृश्य प्रपञ्च विषे भी प्रवृत्त होवे नहीं। और आत्मा तो मन वाणी का अविषय है। यातैं ता आत्मा विषे भी सो मन प्रवृत्त होवे नहीं। इसप्रकार अन्तर बाहिर प्रवृत्ति तैं रहित हुआ सो मन सर्व वृत्तियों के अनुदय तैं ईंधन रहित अग्नि की न्याईं आपने अधिष्ठानरूप कारण

लिंगयते सुता ॥५८५॥

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ५१॥

अर्थ—सर्व मानसिक वाचिक कायक कर्मों में भावतीर्थ परमतीर्थ है इस में श्रुति प्रमाण है ॥५८५॥

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्टादि निर्मितान । योगिनो न प्रपूज्यंते स्वात्म प्रत्ययकारणात् ॥५८६॥

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ५२॥

अर्थ—सर्व तीर्थों में जल पूर्ण है तथा देवता काष्ठ तथा पषाण कर के निर्मित्त हैं। विद्वान नहीं पूजन करे आपने आत्मा के अकार प्रत्यय करने वासते बाह्य तीर्थ का परित्याग करे ॥५८६॥

बाहिस्तीर्थात्परंतीर्थ मंतस्तीर्थं महा-मुने । आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यतीर्थ निरर्थकम् ॥५८७॥

श्रीजावालदर्शनोपनि० खंड ४ मं० ५३॥

अर्थ—बाह्य तीर्थों तैं परम पवित्रता का हेतु है सांकृति महामुने तीर्थ अन्तर आत्मा रूप तीर्थ ही अत्यन्त पवित्र है। आत्मा तीर्थ महा-तीर्थ है आत्मा से भिन्न सर्व तीर्थ निरर्थक हैं ५८७

चित्तमंतर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्धयति । शतशोऽपि जलैर्धौतं सुरा भाण्डमिवा शुचि ॥५८८॥.

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ५४॥

अर्थ—यदि अन्तर चित्त दुष्ट है तो तीर्थ स्नान करके शुद्ध नहीं होवे है। जैसे शत शौ वार भी जल से धोने से सुरापात्र की न्याई शुद्ध नहीं होवे है ॥५८८॥

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्टे पाषाणके सदा । शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥५८९॥

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ५७॥

अर्थ—तीर्थों में दान जप यज्ञ मूर्त्ति काष्ट की पाषाण की ही सदैव काल है आपनी देह में स्थित जो सदाशिव हैं तिसशिव को मूढात्मा नहीं देखते हैं ॥५८९॥

अंतस्थं मां परित्यज्यबाहिष्टं यस्तु सेवते । हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहे-त्कूर्परमात्मनः ॥५९०॥

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ५८॥

अर्थ—चतुर्भुज विष्णु भगवान सांकृति नामक महामुनि को उपदेश करते हैं कि हे महामुने! आपने अन्तर स्थित मैं परमात्मादेव को परित्याग करके बाह्य ईष्ट को जो सेवते हैं। जैसे हाथ में स्थित मखन के पिण्ड को परित्याग करके झूठा आत्मा हाथ को चाटता है ॥५९०॥

शिवमात्मनि पश्यंति प्रतिमासु न योगिनः। अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥५९१॥

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ५९॥

अर्थ—जो विद्वान शिवरूप आत्मा को साक्षात्कार करता है। प्रतिमा को इष्ट नहीं मानता। अज्ञानी पुरुषों की भावना वासतैं प्रतिमा की कल्पिना करी है ॥५९१॥

अपूर्वमपरं ब्रह्मस्वात्मानं सत्यमद्व-यम्। प्रज्ञान घनमानंदं यः पश्यति स पश्यति ॥५९२॥

श्रीजावालदर्शनोप० खंड ४ मं० ६०॥

अर्थ—आगे पीछे दक्षण उत्तर आत्मारूप ब्रह्म ही सत्यरूप अद्वितीयरूप स्थित है। प्रज्ञानघन आनंदस्वरूप को जो देखता है सोई ही यथार्थ देखता है ॥५९२॥

अशरीरं शरीरेषु महांतं विभुमीश्वरम्। आनंदमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥५९३॥

श्रीजाबालदर्शनोप० खंड ४ मं० ६२ ॥

अर्थ—शरीर से रहित जो सब चिदानंद परमात्मादेव है सो अपने शरीर विषे है देशकाल वस्तु प्रच्छेद से रहित महांत है तथा विभू है ईश्वर है आनंदमय है नाश से रहित अक्षर है ऐसे आत्मा को साक्षात्कार करने वाले धीर पुरुष शोच को प्राप्त नहीं होते ॥५९३॥

विभेदजनकेऽज्ञाने नष्टेज्ञानबलवान्मुने। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसंतं किं करिष्यति ॥५९४॥

श्रीजाबालदर्शनोप० खंड ४ मं० ६३ ॥

अर्थ—हे सांकृति मुने! आत्मा ब्रह्म के भेद का जनक जो अज्ञान के नष्ट हो जाने से बहुत बलवान ज्ञान के उत्पन्न होने से असत्य भेद किया करेगा। किंतु कुछ भी नहीं कर सक्ता ॥५९४॥

न दण्ड धारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्ति। ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते॥ काष्टदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवार्जितः। स याति नरकान्घोरान्महारौरव संज्ञितान ॥५९५॥ प्रतिष्टा सूकरीविष्टा समागीता महर्षिभिः। तस्मादेनां परित्यज्यकीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥५९६॥ नारदपरिव्राजकोप० उपदेश ५ मं० २–३ ॥ अर्थ स्पष्ट है॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्। तं तमेव स माप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम्॥५९७

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ५ ॥

अर्थ—जिस २ इष्ट को सिमिरन करता हुआ शरीर को परित्याग करता है। तिस २ इष्टदेव को ही सो प्राप्त होता है श्रुति की शासना अन्यथा नहीं है ॥५९७॥

अब अनात्मा पदार्थों की निवृत्ति का निरूपण करे हैं। हे देवताओ! मैं अद्वितीय आत्मा तैं भिन्न जितनेक लोक प्रसिद्ध अनात्म पदार्थ हैं। तथा तिन अनात्म पदार्थों को प्रतिपादन करने हारे जितनेक शास्त्र हैं। तथा तिन अनात्म पदार्थों की प्राप्ति करने हारे जितनेक साधन हैं ते संपूर्ण पदार्थ जो कदाचित् शास्त्र करके निषध नहीं भी होवे तो भी ते अनात्म पदार्थ चिंतन करने हारे पुरुष के वाकादिक इंद्रियों को परिश्रमरूप की ही प्राप्ति करनेहारे हैं। या कारण तैं तिन अनात्मा पदार्थों का तथा तिन अनात्म पदार्थों के प्रतिपादन करने हारे शास्त्रों का या मुमुक्षुजनों ने परित्याग ही करना। तहां श्रुति—

सर्वेजीवाः सुखैर्दुःखै मायाजालेन वेष्टिताः। तेषां मुक्तिः कथंदेव कृपया वदशंकर ॥५९८॥ योगशिखोपनि० मं० १॥

अर्थ—ब्रह्मा उवाच–हे शंकर स्वामी सर्व जीव मायाजाल करके सुखदुःख से वेष्टित हैं। तिनों की मुक्ति कैसे होवेगी हे देव! कृपा करके कथन करो ॥५९८॥

सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजाल नि-

कृन्तनम्। जन्ममृत्यु जराव्याधि नाशनं सुखदं वद ॥५९९॥

योगशिखोपनिषत् मं० २॥

अर्थ—हे महादेव जी! तथा सर्व सिद्धि कर मुक्ति के देने वाला मार्ग कथन करो। और माया जाल के निवृत्ति का मार्ग कथन करो। तथा जन्म मृत्यु जरा व्याधि के निवृत्ति का तथा निस सुख के देने वाले मार्ग कों कथन करो ॥५९९॥

इति हिरण्यगर्भः पप्रच्छ सहोवाच महेश्वरः। नाना मार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ॥६००॥

योगशिखोपषित् मं० ३॥

अर्थ—इस प्रकार ब्रह्मा जी के प्रश्न करने से, महेश्वर जी उत्तर देते हैं। हे ब्रह्मा जी! नाना प्रकार के मार्गों से कैवल्य परमपद को प्राप्त होना दुष्प्राप्त है ॥६००॥

सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्म संभव। पतिताः शास्त्र जालेषु प्रज्ञया तेनमोहताः ॥६०१॥

योगशिखोपनिषत् मं० ४॥

अर्थ—हे पद्म से उत्पन्न ब्रह्मा जी! अंतःकरण की शुद्धिरूप जो सिद्धि है तिस सिद्धि मार्ग करके मुक्ति को प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। जो पुरुष शास्त्ररूपी जाल में पतित है तिस शास्त्र से ही तिस विद्वान की बुद्धि मोह को प्राप्त हो रही है ॥६०१॥

स्वात्म प्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते। निष्कलं निर्मलं शांतं सर्वातीतं निरामयम् ॥६०२॥

योगशिखोपनिषत् मं० ५॥

अर्थ—हे ब्रह्मा जी! अपना आत्मा प्रकाश रूप है तिस आत्मा का शास्त्र करके क्या प्रकाश होगा। आत्मा निष्कल है निर्मल है शांत है सर्व से अतीत है निरामय है ॥६०२॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातु मिच्छति। अपिवर्ष सहस्रायुः शास्त्रां तं नाधि गच्छति ॥६०३॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० ४ मं० १६॥

अर्थ—इस का मेरे को ज्ञान हो जावे यह मैं जान लेवौं जितनी भारतखंड की विद्या हैं तिस सर्व के जानने की इच्छा करनी। अपि कहिये निश्चय करके हम कहते हैं कि हजार वर्ष की आयु पर्यंत भी यदि विद्या पढ़ता रहे तो भी शास्त्रों का अंत प्राप्त नहीं होता ॥६०३॥

विज्ञेयोऽक्षर तन्मात्रो जीवितं वापि चञ्चलम्। विहाय शास्त्र जालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥६०४॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० ४ मं० १७॥

अर्थ—तत्त्व रूप अक्षरमात्र को अर्थात चिन्मात्र को जान करिकै तथा अपने जीवन को असंत चंचल जान करिकै शास्त्र जाल को परित्याग करिकै जो सत्य वस्तु है तिस की उपासना करै ॥६०४॥

पुत्रदारादि संसारः पुंसां संमूढ चेतसां। विदुषां शास्त्र संभारः सद्योगाभ्यास विघ्नकृत् ॥६०५॥ अग्निपुराण॥

अर्थ—पुत्र स्त्री आदिक संसार सें पुरुषों का चित्त मूढता को प्राप्त हो जाता है। और विद्वानों को शास्त्र के भार सें चित्त मूढ हो जाता है इन दोनों पुरुषों को यह दोनों दोष योगाभ्यास में विघ्न करने वाले हैं ॥६०५॥

इदं ज्ञेय मिदं ज्ञेयं यः सर्वं ज्ञातु मिच्छति। अपि वर्ष शते नापि शास्त्रां तं नाधिगच्छति ॥६०६॥ अग्निपुराण॥

अर्थ—यह भी मैं जान लेवौं यह भी मैं जान लेवौं जो सर्व भारत खण्ड की विद्या के जानने की इच्छा करता हैं निश्चय करिकै शत वर्ष की आयु पर्यंत भी शास्त्र के अन्त को प्राप्त नहीं होता है ॥६०६॥

विज्ञाया क्षरतन्मात्रं जीवितं चापि सञ्चलम्। विहाय शास्त्र जालानि पार-लौकिक माचरेत् ॥६०७॥ अग्निपुराण॥

अर्थ—इस जीव का जीवन असंत चंचल है अर्थात क्षण भंगर है। तत्त्व वस्तु अक्षर चिन्मात्र को जान करिकै तथा शास्त्र जाल को परित्याग करिकै पारलौकिक में आचरेत् अर्थात परिमार्थ रूप आत्मा में विश्रांति वाला होवै ६०७

हे देवताओ! जैसे या लोक विषे भार को उठाने वाला गर्द्धभ परम दुःख को प्राप्त होवै है। तैसे वर्तमान विषयों की चिंता करिकै व्याकुल हुआ यह पुरुष परम दुःख को ही प्राप्त होवै है। तात्पर्य यह है। वर्तमान विषयों की चिंता करिकै भी यह पुरुष जभी परम दुःख को प्राप्त होवै है। तभी भूत भविष्यत विषयों की चिंता करिकै यह पुरुष परम दुःख को प्राप्त होवै है। या के विषे क्या कहना है। और मैं आनन्द स्वरूप आत्मा के चिंतन का परित्याग करिकै यह पुरुष तिन विषयों का ही चिंतन करै है। ते विषय जो कदाचित शास्त्र करिकै निषिद्ध नहीं भी होवै हैं। तौ भी ते विषय ता पुरुष की प्रवृत्ति द्वारा ता पुरुष के वाकादिक इंद्रियों को केवल परिश्रम रूप दुःख की ही प्राप्ति करै हैं। तात्पर्य यह है। शास्त्रनैं विधान करै जो पाणिगृहीत स्त्री के संभोगादिक विषय हैं। ते विषय भी जभी या पुरुष को दुःख की प्राप्ति करै हैं। तभी शास्त्रनैं निषेध करै जो पर स्त्री गमनादिक विषय हैं। ते निषिद्ध विषय या पुरुष को परम दुःख की प्राप्ति करै हैं। या के विषे क्या कहना है। या तैं यह मन जैसे पुनः दुःख को प्राप्त नहीं होवै है। तैसे यह पुरुष सर्व विषयों का परित्याग करिकै ता मन को अन्तर मैं आत्मा विषे एकाग्र करै। यह सर्व दुःखों की निवृत्ति का उपाय है। या प्रकार शमदमादिक साधनों करिकै तथा श्रवणादिक साधनों करिकै तथा अन्नमयादिक पंच कोशों के विचार करिकै जिन अधिकारी पुरुषों नैं मैं अद्वितीय आत्मा विषे मन को एकाग्र किया है। ते अधिकारी पुरुष ही मैं अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार को प्राप्त होवै हैं। या तै यह अर्थ सिद्ध भया अनात्म पदार्थों के चिंतन का परित्याग करिकै अन्तर मैं आत्मा विषे जो चित्त की एकाग्रता है। सो एकाग्रता ही आत्म साक्षात्कार का साधन है। तहां श्रुति—

देह वासनां शास्त्र वासनां लोक वासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव। प्रवृत्तिं सर्वहेयं मत्वासाधन चतुष्टय संपन्नो यः संन्यस्याति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥६०८॥

संन्यासोपनिषत्॥ अर्थ स्पष्ट—

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते। तस्माच्चित्तं स्थिरी कुर्यात्प्रज्ञया परया विधे ॥६०९॥

योगशिखोपनिषत् अ० ६ मं० ५८॥

अर्थ—चित के चलायमानता से जन्म

मरण रूप संसार होता है । और आत्मा में मन के एकाग्र होने सें मोक्ष होती है। तिस कारण तैं हे परम बुद्धिमान ब्रह्मा चित्त को स्थिर करो ६०९

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम् । तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥६१०॥

योगशिखोपनिषत् अ० ६ मं० ५९ ॥

अर्थ—सर्व पदार्थों का कारण चित्त है तिस मन के सद्भाव सें तीनों जगत हैं । तिस चित्त के क्षीणता सें जगत क्षीणता को प्राप्त होता है । तिस चित्त की अति प्रयत्न सें चिकित्सा करनी चाहिये ॥६१०॥

दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा । ज्ञानाग्नि दग्धदेहस्य नच श्राद्धं नच क्रिया ॥६११॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० ४ मं० ७ ॥

अर्थ—दग्ध को दहन करना नास्ति जैसे पकाये को पकाना है तैसे ज्ञान रूपी अग्नि सें जिस की देह दग्ध हो गई है । उस विद्वान के वास्तें न श्राद्धं है न क्रिया ही है । ६११॥

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किंप्रयोजनम् । एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ॥६१२॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० ४ मं० ९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अमृत करिकै तृप्त हुआ है उस के वास्तें दुग्ध पान करनें मैं क्या प्रयोजन है । इसी प्रकार आपनैं आत्मा के ज्ञान सें अनन्तर वेदों का पढना क्या प्रयोजन है ॥६१२॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोधमे । समासे नैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥६१३॥

गी० अ० १८ श्लोक ५० ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! आपने वर्णाश्रम के धर्मों को करिकै तथा अन्तर्यामी ईश्वर का अराधन करिकै तिस ईश्वर के प्रसाद सें उत्पन्न हुई जो सर्व कर्मों के त्याग पर्यंत तथा ज्ञान उत्पत्ति की योगता रूप अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्ध है । ऐसी सिद्धि को प्राप्त हुआ यह अधिकारी पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त होवै है । अर्थात जिस प्रकार करिकैं प्रत्यक् अभिन्न शुद्ध ब्रह्म को साक्षात्कार करै है । तिस प्रकार को तूं अर्जुन अनुष्ठान करने वास्तैं मेरे वचनतैं निश्चय कर ॥६१३॥

शंका—हे भगवन ! बहुत विस्तार करिकै कथन करा हुआ सो प्रकार हमारी बुद्धि विषे कैसे अरूढ होवैगा । ऐसी अर्जुन की शंका के हुए श्रीकृष्ण भगवान कहै है । (समासेनैव) इति हे अर्जुन श्रवण मनन रूप विचार करिकै उत्पन्न भया जो आत्मज्ञान है । तिस ज्ञान की जो परिसमाप्ति रूप निष्ठा है अर्थात तिस निष्ठा तैं अनन्तर दूसरा कोई साधन अनुष्ठान किया जावै नहीं । कैसी है सो निष्ठा परा है अर्थात अत्यंत श्रेष्ठ है । अथवा साक्षात् मोक्ष का हेतु होने तैं जो निष्ठा सर्व के अन्त विषे स्थित है । हे अर्जुन ! तिस पूर्व उक्त सिद्धि को प्राप्त हुये पुरुष की इस प्रकार की जो ब्रह्म की प्राप्ति रूप परा ज्ञान निष्ठा है । तिस ज्ञान निष्ठा का भी तूं मेरे वचन तैं संक्षेप करिकै निश्चय कर ।

बुद्ध्या विशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च । शब्दादिन्विषयां स्त्यक्त्वा-राग द्वेषौव्युदस्य च ॥६१४॥

गी० अ० १८ श्लो० ५१ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! सर्व संशय विपर्ययों तैं शून्य होने तैं विशुद्ध ऐसी जो अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार के वेदांत वाक्यों तैं जन्य ब्रह्मात्म ऐक्य विषयक बुद्धि की वृत्ति है ता बुद्धि की वृत्ति करिकै सर्वदा युक्त हुआ यह अधिकारी पुरुष धैर्य रूप धृति करिकै शरीर इंद्रिय संघात रूप आतमा को नियम करिकै अर्थात तिस संघात को शास्त्र निषिध मार्ग की प्रवृत्ति तैं निवृत्ति करिकै। अंतर आतमा परायण करै तथा शब्दादिक विषयों को परित्याग करिकै अर्थात शब्दादिक जे पांच विषय हैं। जे शब्दादिक विषय आपने भोग करिकै इस भोक्ता पुरुष के बन्धन करने विषे समर्थ हैं। तथा जो शब्दादिक विषय ज्ञान निष्ठा की प्राप्ति वासतैं शरीर की स्थिति मात्र रूप प्रयोजन विषयों को भी उपयोगता नहीं हैं। तथा जे शब्दादिक विषय शास्त्र करके भी निषद्ध नहीं हैं। ऐसे शब्दादिक विषयों को भी परित्याग करे। और जो शब्दादिक विषय इस शरीर की स्थिति मात्र विषे उपयोगी हैं। तिन विषयों विषे भी रागद्वेष को परित्याग करके। इस प्रकार विशुद्ध बुद्धि कर के युक्त हुआ यह अधिकारी पुरुष धृति से संघात को नियम्य कर के। तथा शब्दादिक विषयों का परित्याग कर के। तथा राग द्वेषादिकों का परित्याग कर के विविक्त सेवी आदिक विशेषणों कर के युक्त होवे। सो अधिकारी पुरुष ब्रह्म निष्ठा रूप साक्षात्कार वासते समर्थ होवे है ६१४

विविक्त सेवी लघ्वाशी यतवाक्काय मानसः। ध्यानयोग परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥६१५॥

गी० अ० १८ श्लोक ५२॥

अर्थ—जनों के संसर्ग तैं रहित तथा पवित्र ऐसा जो कोईक स्थान है ताका नाम विविक्त देश है ऐसे विविक्त देश के सेवन करने का है स्वभाव जिस का ताका नाम विविक्त सेवी है अर्थात् चित्त की एकाग्रता की सिद्धि वास्ते जो पुरुष तिस चित के विक्षेप करने हारे पदार्थों के संसर्ग तैं रहित है। तथा जो पुरुष लघ्वाशी है। तहां परमित हित पवित्र ऐसे अन्न के भोजन करने का है स्वभाव जिस का ताका नाम लघ्वाशी है। अर्थात् जो पुरुष निद्रा आलसादिक रूप चित्त के लय करने हारे आहार के सेवन तैं रहित है। तथा जो पुरुष यतवाक्काय मानस है। तहां बहिर्मुख प्रवृत्ति तैं निरुद्ध करे हैं। वाक काय मन यह तीनों जिस ने ताका नाम यतवाक्काय मानस है। अर्थात् जो पुरुष यम नियम आसन इत्यादिक साधनों कर के सम्पन्न है। तथा जो पुरुष नित्य ही ध्यान योग परायण है। तहां चित्त विषे आत्माकार वृत्तियों की जो आवृत्ति है ताका नाम ध्यान है अर्थात् विजातीय वृत्तियों के व्यवधान तैं रहित आत्माकार सजाती वृत्तियों का जो प्रवाह है ताका नाम ध्यान है। और तिस ध्यान कर के चित्त का जो सर्व वृत्तियों तैं रहितपने का संपादन है ताका नाम योग है। इसी प्रकार का योग का स्वरूप (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः) इस सूत्र करके पतञ्जली जी ने भी कथन करा है। जो पुरुष इस प्रकार के ध्यान के तथा योग के नित्य ही अनुष्टान परायण होवे है। तिस ध्यान योग को छोड़ के जो पुरुष कदाचित् भी मंत्र जप तीर्थ यात्रादिकों के अनुष्टान परायण होता नहीं। तथा जो पुरुष वैराग्य को प्राप्त हुआ है। इस लोक के विषयों विषे तथा

परलोक के विषयों विषे स्पृहा का विरोधी जो चित्त का परिणाम विशेष है ताका नाम बैराग्य है ऐसे वैराग्य को जो पुरुष विवेक पूर्वक प्राप्त हुआ है। सो पुरुष ब्रह्म साक्षात्कार वास्तैं समर्थ होवे है ॥६१५॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥६१६॥

गी० अ० १८ श्लोक ५३॥

अर्थ—तहां मैं महान कुल विषे उत्पन्न हुआ हूं। तथा महान पुरुषों का मैं शिष्य हूं। तथा मैं अति विरक्त हूं। दूसरा कोई हमारे सामान है नहीं। इस प्रकार का जो अभिमान है ताका नाम अहंकार है। और श्रुति स्मृति रूप शास्त्र तैं विरुद्ध जो असत आग्रह है ताका नाम बल है। यद्यपि बहुत स्थल विषे शरीर के समर्थ्य को बल कहा है। तथापि इहां बल शब्द कर के सो शरीर का बल नहीं ग्रहण करना। जिस कारण तैं स्वभावक होने तैं सो शरीरक बल त्यागने को अशक्य है। तथा आत्मज्ञान के साधनों के सम्पादन करने में अनुकूल है। और हर्ष कर के जन्य तथा धर्म के अतिक्रमण करने का कारणरूप ऐसा जो मद है ताका नाम दर्प हैं। यह वार्ता स्मृति विषे भी कथन करी है।

हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममति क्रामति।

अर्थ—हर्ष को प्राप्त हुआ यह पुरुष धर्म का अतिक्रमण करे है। इस लोक के अथवा परलोक के विषयों की जो अभिलाषा है ताका नाम काम है। और द्वेष का नाम क्रोध है। और स्पृहा के अभाव हुये भी शरीर के रक्षण वास्ते दूसरे लोकों ने प्राप्त करे हुये जो बाह्य भोग के साधन है तिनों का नाम परिग्रह है। ऐसे अहंकार को तथा बलको तथा दर्प को तथा काम को तथा क्रोध को तथा परिग्रह को परित्याग करके तथा शास्त्र की विधि पूर्वक शिखा सूत्रादिकों को परित्याग करके तथा शरीर के निर्वाह वास्ते शास्त्र विहित दंड कमंडलु कौपीन कंथा आदिकों को ग्रहण करके निर्मम हुआ अर्थात् देह के जीवन मात्र विषे भी जो पुरुष ममता अभिमान तैं रहित है ॥६१६॥

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वेपदे बंधमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ॥६१७॥ वराहोपनि० अ० २ मं०४३

अर्थ—मोक्ष के वास्ते नियम करके महात्मालोक अहंब्रह्म इस प्रकार का अभ्यास करे। द्वेपद में बंध तथा मोक्ष है निर्ममेति मोक्ष है तथा ममता से बंध है ॥६१७॥

ममेति बध्यते जंतुर्निर्ममेति विमुच्यते। बाह्य चिंता न कर्तव्या तथैवांतर चिंतका॥ सर्व चिंतां समुत्सृज्य स्वस्थो भव सदा ऋभो ॥६१८॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ४४॥

अर्थ—हे ऋभो! ममता से जीव बंधायमान होते हैं और ममता से रहित मुक्ति को प्राप्त होते हैं। बाह्य चिंता नहीं करने योग्य है। तैसे अंतर की चिंता भी नहीं करने योग्य है। सर्व चिंता का परित्याग करके सदैवकाल स्वस्थ होवौ ॥६१८॥

इस प्रकार तैं ही अहंकार ममता करके अभाव करके हर्ष विषाद तैं रहित होने तैं जो पुरुष शांत है अर्थात् चित्त के सर्व विक्षेपों तैं रहित है। इस प्रकार का परमहंस संन्यासी ही

ज्ञान साधनों के परिपाकक्रम करके ब्रह्म साक्षात्कार वासतैं समर्थ होवे है । अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार के ब्रह्मसाक्षात्कार को प्राप्त होवे है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥६१९॥

गी० अ० १८ श्लोक ५४ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो अधिकारी पुरुष ब्रह्मभूत है अर्थात जो पुरुष वेदांत शास्त्र के श्रवण मनन के अभ्यासतैं अहंब्रह्मास्मि इस प्रकार के दृढ़ निश्चय वाला है तथा जो प्रसन्नात्मा है अर्थात शम दमादिक साधनों के अभ्यास तैं जो पुरुष शुद्ध चित्त वाला है । इस कारणतैं ही जो पुरुष नष्ट हुए पदार्थ का शोक नहीं करे है । तथा अप्राप्त हुए पदार्थ की इच्छा नहीं करे है । इसी कारणतैं ही निग्रह अनुग्रह के आरम्भ तैं जो पुरुष सर्वभूतों विषे सम है । अर्थात जैसे आपने को सुख प्रिय होवे है । तथा दुःख अप्रिय होवे है । तैसे जो पुरुष आपने आत्मा की न्यांई सर्व प्राणिमात्र के सुख को तो प्रिय देखे है । तथा दुःख को अप्रिय देखे है । इस प्रकार का ज्ञान निष्ठ संन्यासी में परमात्मादेव की भक्ति को प्राप्त होवे है । अर्थात मैं निर्गुण शुद्ध ब्रह्म विषयक जो विजातीय वृत्तियों के व्यवधानतैं रहित सजातीय चित्तवृत्तियों की आवृत्ति रूप उपासना है । जिस उपासना को परिपाक निदिध्यासन कहते हैं । तथा जो उपासना श्रवण मनन के अभ्यास का फलरूप है । ऐसी निदिध्यासन रूप मेरी भक्ति को सो अधिकारी पुरुष प्राप्त होवे हैं । कैसी है सो मेरी भक्ति परा है अर्थात् व्यवधानतैं रहित है ब्रह्म साक्षात्कार रूप फल का जनक होने तैं अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥६१९॥

इस प्रकार की पराभक्ति वाला पुरुष श्री भागवत विषे भी कथन करा है । तहां श्लोक—

सर्वभूतेषु ये नैकं भवगद्भावमीक्षते । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥६२०॥

अर्थ—जिस करके यह पुरुष स्थावर जंगम रूप सर्वभूतों विषे एक भागवत भाव को देखे है । अर्थात (ब्रह्मै वेदं सर्वम्) इस श्रुति प्रमाणतैं सर्वभूतों विषे अस्ति भांति प्रियरूप ब्रह्म को ही व्यापक देखे है । तथा सर्व प्राणियों का आत्मारूप जो भगवान परब्रह्म है तिस परब्रह्म विषे तिन सर्वभूतों को कल्पित रूप से देखे है । इस प्रकार का तत्त्ववेत्ता पुरुष ही सर्व भगवतभक्तों विषे उत्तम भक्त है ॥६२०॥

अब व्याकरणादिक शास्त्रों ने कथन करे जो अनात्मा पदार्थ हैं । तिनका निरूपण करे हैं । हे देवताओ ! जैसे रोगी पुरुष को कुपथ्य अन्न का भक्षण दोष का ही कारण होवे है । तैसे मुमुक्षु पुरुषों को व्याकरणादिक अनात्म शास्त्रों का अध्ययन भी बहिर्मुखता का ही कारण होवे है । प्रथम व्याकरण शास्त्र के पदार्थों का निरूपण करे हैं । पाणिनीय ऋषि कृत अष्टाध्यायी तैं आदि लैके जो व्याकरण के ग्रन्थ हैं तिनों विषे या प्रकार के पदार्थों का निरूपण करा है । शक्ति गौणि लक्षणा यह तीन प्रकार की वृत्ति होवे है । पदों का जो आपने आपने अर्थ के साथ सम्बन्ध है ता सम्बन्ध का नाम वृत्ति है । तहां शक्ति वृत्ति दो प्रकार की होवे है । एक तो योगशक्ति होवे है । और दूसरी रूढ़ि शक्ति होवे है । तहां पदके अवयवों विषे रहिनेहारी जो शक्ति है

ताका नाम योगशक्ति है। ता योगशक्ति वाले पदों का नाम योगरू है। जैसे पाचक या पदके विषे दो अवयव हैं। एक तो पच्च धातु रूप अवयव है। और दूसरा अक प्रत्ययरूप अवयव हैं। तहां पच धातु रूप अवयव की पाकरूप अर्थ विषे शक्ति है। और अक प्रत्ययरूप अवयव की कर्त्तारूप अर्थ विषेशक्ति है। ते दोनों अवयव मिलके पाक कर्त्ता पुरुष का बोधन करे हैं। और पदों के अवयवों का जो समुदाय है। तासमुदाय विषे रहनेहारी जो शक्ति है ताका नाम रूढ़िशक्ति है। तारूढिशक्ति वाले पदों का नाम रूढ़ है। जैसे विप्र गौ घट इत्यदिक पदों के जो अवयव हैं। तिन अवयवों के समुदाय के विषे ही ब्राह्मणादिक अर्थ के बोधन करणे की शक्ति रहे है। शक्ति वाले पद का नाम शक्त पद है। और पद के वाच्यार्थ विषे वर्तमान जो गुण हैं। तागुण द्वारा ता पद का अवाच्यार्थ के साथ जो संबंध है ताका नाम गौणि वृत्ति है। तागौणि वृत्ति वाले पदों का नाम गौणपद है। जैसे किसी पुरुष ने कहा यह बालक अग्नि है। ता अग्नि विषे तेजस्वीपणा गुण रहे हैं सो तेजस्वीपणा गुण ताबालक विषे रहे है। यातैं अग्नि पद की ता बालक विषे भी गौणी वृत्ति है। और पद के वाच्यार्थ का जो अवाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध है। ताका नाम लक्षणा वृत्ति है। ता लक्षणा वाले पदका नाम लाक्षिणक पद है। सो लक्षणा भी तीन प्रकार की होवे है। एक तो जहत लक्षणा होवे है। और दूसरी अजहत लक्षणा होवे है। और तीसरी लक्षित लक्षणा होवे है। तहां जिस स्थल विषे पदके वाच्यार्थ का परित्याग करके अवाच्यार्थ का ग्रहण होवे है। तहां जहित लक्षणा होवे है। जैसे किसी पुरुष ने गंगा विषे ग्राम है या प्रकार का वचन उच्चारण किया। या वचन विषे गंगा पदका वाच्यार्थ जो जल का प्रवाह है। ताके विषे ग्राम की स्थिति संभवै नहीं। या कारण तैं जल का प्रवाह रूप वाच्यार्थ का परित्याग करके ता प्रवाह का सम्बन्धी जो तीर है। ताके विषे गंगा पद की लक्षणा होवे है। जिस स्थल विषे पद के वाच्यार्थ का ना परित्याग करके। अवाच्यार्थ का ग्रहण होवे है। तहां अजहत लक्षणा होवे है। जैसे किसी पुरुष ने काकों तैं दधि की रक्षा करनी या प्रकार का वचन किसी अन्य पुरुष के प्रति कह्या तहां सो पुरुष ता वचन को श्रवण करके काक तैं आदि लेके जितनेक दधि के भक्षिक श्वानादिक पशु हैं। तिन सम्पूर्ण विषे काक शब्द की लक्षणा करे है। और पद के वाच्यार्थ का अवाच्यार्थ के साथ जो परंपरा संबंध है ताका नाम लक्षित लक्षणा है। जैसे किसी पुरुष ने द्विरेफ शब्द करे हैं। या प्रकार का वचन उच्चारण किया। या वचन विषे द्विरेफ पदका वाच्यार्थ दो रकार है। तिन वर्णरूप दो रकारों विषे शब्द की कारणता संभवे नहीं। यातैं द्विरेफ पदकी मधकर व्यक्ति विषे लक्षणा होवे है। तहां द्विरेफ पदके वाच्यार्थरूप दो रकारों का मधुकर व्यक्ति के साथ साक्षात् संबंध नहीं संभवे है। किंतु स्वघटित पदवाचत्वरूप परंपरा संबंध संभवे है। यहां स्वशब्द करके दो रकारों का ग्रहण करना। तां दो रकारों करके घटित जो भ्रमरपद है ता भ्रमरपद का वाच्यार्थ मधुकर व्यक्ति है। इस प्रकार व्यारकण शास्त्र विषे पाचकादिक पदों विषे शक्ति आदिक वृत्तियां

कथन करी हैं। और ते व्याकरणकर्त्ता पुरुष पुनः या प्रकार के पदार्थों को कथन करे हैं। शुकः इत्यादिक पदों विषे प्रवृत्ति अर्थ प्रधान होवे है। और पाचकः इत्यादिक पदों विषे प्रत्यय का अर्थ प्रधान होवे है। और कर्त्ता कर्म करण संप्रदान अपादान अधिकरण यह षट प्रकार के कारक होवे हैं। और पचादिक धातुवों के अर्थ का नाम क्रिया है। और तंडुलादिक पदार्थों का नाम कर्म है। और पचादिक धातु सकर्मक हैं। और सुप्तादिक धातु अकर्मक हैं। और यह णिच प्रत्यय प्रयोजक पुरुष के व्यापार का कथन करे हैं। और यह प्रकृति प्रत्यय दोनों इकट्ठे ही उच्चारण करे जावे हैं। और सुऔजस् इत्यादिक प्रत्ययों का नाम सुप्रत्यय है। ते सुप्रत्यय जिस पद के अंत विषे होवे है। ताका नाम सुबंतपद है। और तिप् तिस् झि इत्यादिक प्रत्ययों का नाम तिङ प्रत्यय है। ते तिङ प्रत्यय जिस पद के अंत विषे होवे हैं। ताका नाम तिङंत पद हैं और यह ही सुप् तिङ् प्रत्यय जहां विद्यमान होवे हैं। तहां दूसरा कोई प्रत्यय प्राप्त होई सकै नहीं। और यह तद्धित प्रत्यय हैं। और यह कृदंत प्रत्यय है। और यह कृत्य प्रत्यय है। और यह अव्ययीभाव तत्पुरुष द्विगुद्वंद्व कर्मधारी बहुव्रीहि यह षट प्रकार का समास है। और यह नाम धातु है। और यह स्त्री प्रत्यय है। और यह प्रत्यय भाव विषे हैं। और यह प्रत्यय कर्ता विषे हैं। इसतैं आदि लेके व्याकरण शास्त्र अनेक प्रकार के शब्द कथन करे हैं। ते संपूर्ण शब्द अनात्म पदार्थों का बोधन करे हैं। या कारण तैं तिन शब्दों को चिंतन करने तैं यह अधिकारी पुरुष परममोह को प्राप्त होवे है। यह वार्ता वार्तिक ग्रंथ के कर्ता सुरेश्वराचार्य ने भी कथन करी है। तहां श्लोक—

कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तुन वीक्ष्यते। शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारक व्यावृत्तिस्तथा ॥६२१॥

अर्थ—कर्ता करण इत्यादिक कारकों के व्यवहारों के हुये भी शुद्ध आत्म वस्तु नहीं देखी जावे है। और शुद्ध आत्मवस्तु के सिद्ध हुये तिन सर्व कारकों की निवृत्ति हो जावे है ॥६२१

अब जैमनि ऋषि कृत पूर्वमीमांसा शास्त्र के पदार्थों का निरूपण करे हैं। तहां ककारादिक वर्णों के समुदाय का नाम पद है। और तिन पदों के समुदाय का नाम वाक्य है। (ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः) इत्यादिक वाक्यों विषे स्थित जो पद हैं। ते पद एक दूसरे का परित्याग करके शब्दबोध को उत्पन्न करे नहीं। यां कारण तैं ते पद परस्पर अकांक्षा वाले हैं। (ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः) या वाक्य विषे स्थित जो पदों का समूह है तथा उदभिदाय जेत या वाक्य विषे स्थित जो पदों का समूह है। तिन दोनों समूहों को परस्पर अकांक्षा है नहीं। या तैं ते दोनों वाक्य परस्पर भिन्न हैं। और एक बार उच्चारण किया हुआ पद तथा वाक्य एक ही अर्थ को बोधन करे हैं। और जिस स्थल विषे सो पद तथा वाक्य दूसरे भी अर्थ को बोधन करै है। तहां वाक्य भेद की प्राप्ति होवै है। और जैसे माया विशिष्ट परमात्मा तैं अकाशादिक भूत उत्पन्न होवै हैं। तैसे ककारादिक वर्ण भी उत्पन्न होवै हैं। या प्रकार पूर्व मीमांसा शास्त्र के कर्ता कथन करै हैं। ककारादिक वर्ण विभु हैं तथा नित्य हैं। या तैं तिनों की उत्पत्ति नाश सभवै नहीं।

शंका—हे भगवन ! ककारादिक वर्ण जो नित्य होवैं तो तिन ककारादिक वर्णों की सर्वदा प्रतीती होनी चाहिये। समाधान—जैसे अकाश विषे विद्यमान हुये भी नक्षत्र दिन विषे प्रतीत होवै नहीं । किंतु रात्रि विषे ते नक्षत्र प्रतीत होवै है। या तैं रात्रि ता नक्षत्रों का अभिव्यंजक है। तैसे सर्वदा विद्यमान हुये भी ककारादिक वर्ण कंठ तालू आदिकों के सम्बन्ध तैं विना प्रतीत होवैं नहीं। किंतु कंठ तालू आदिकों के सम्बन्ध तैं अनन्तर ही ते ककारादिक वर्ण प्रतीत होवै हैं । या तैं अन्तर वायु करिकै सम्बन्ध जो उरुकण्ठ शिर जिह्वा मूल दन्त नासिका ओष्ट तालू यह अष्ट स्थान हैं । तथा स्पष्टादिक जो प्रयत्न हैं । तैसे संपूर्ण तिन ककारादिक वर्णों के अभिव्यंजक हैं। या प्रकार तिन स्थानों करिकै अभिव्यक्ति को प्राप्त हुये ते ककारादिक वर्ण जभी श्रोता पुरुषों के श्रवण विषे प्राप्त होवैं हैं । तभी ते ककारादिक वर्ण पद संज्ञा को तथा वाक्य संज्ञा को प्राप्त होवैं हैं । और तिन पदों के तथा वाक्यों के अन्त विषे स्थित जो वर्ण हैं । सो वर्ण ही पूर्व वर्णों के अनुभव जन्य संस्कारों करिकै सहकृत हुआ पदार्थ ज्ञान तथा वाक्यार्थ ज्ञान का कारण होवै है । और पदों के साथ तथा वाक्यों के साथ जो अर्थ का बोध्य बोधक भाव सम्बन्ध है। सो सम्बन्ध नित्य है । और सो बोध्य बोधक भाव सम्बन्ध घटादिक पदों का घटत्वादिक जातियों विषे ही है । या तैं घटादिक शब्दों तैं घटत्वादिक जातियों का ही शब्द बोध होवै है और घटादिक व्यक्तियों का ज्ञान अर्थापति रूप अक्षेप तैं होवै है । (ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः) इत्यादिक वाक्यों विषे स्थित जो पद हैं। ते पद अपने अपने अर्थों का स्मरण करावै हैं । या कारण तैं ते पद अभिदायक हैं । यद्यपि वाक्यार्थ ज्ञान वास्तैं ही तिन पदों की प्रवृत्ति होवै है। तथापि पदार्थों के ज्ञात तैं विना वाक्यार्थ का ज्ञान होवै नहीं । या तैं ते पद अपने २ अर्थ का भी अवश्य बोधन करैं हैं। और सब चिदानंद स्वरूप आत्मा है इत्यादिक वाक्यों विषे स्थित जो पद हैं। तिन पदों नैं स्मरण कराय जो अपने अपने अर्थ हैं । ते अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ को बोधन करै है । और जितनेक पदार्थों की परस्पर आकांक्षा होवै है। तिन संपूर्ण पदार्थों का तिस वाक्यार्थ विषे सम्बन्ध होवै है। और कर्ता कर्म इत्यादिक पदार्थों के विद्यमान हुये भी क्रिया पदार्थ तैं विना वाक्यार्थ की पूर्णता होवै नहीं। या तैं क्रिया पदार्थ ही वाक्यार्थ की पूर्णता करै है और जो वाक्य दूसरे वाक्य की अपेक्षा नहीं करै ता का नाम वाक्य है। या कारण तैं एक वाक्य विषे एक ही क्रिया पद होवै है । एक वाक्य विषे अनेक क्रिया पद होवै नहीं । और जहां एक वाक्य दूसरे वाक्य की अपेक्षा करैं तहां प्रकरण रूप प्रमाण होवै है । और तिन क्रिया पद घटित वाक्यों विषे भी लिङ् लोट् लेट् तव्यता आदिक कृत्य प्रत्यय यह संपूर्ण प्रत्यय विधि का बोधन करै हैं। और लोक विषे तथा वेद विषे जो पदार्थ प्रत्यक्षादिक प्रमाणों करिकै ज्ञात नहीं होवै हैं। सो अज्ञात पदार्थ ही लिङादिक विधि प्रत्ययों का अर्थ होवै है । और आपौरुषेय वाक्यों के समूह का नाम वेद है। सो वेद भी दो प्रकार का होवै है । एक तो मन्त्र भाग रूप वेद होवै है। और दूसरा ब्राह्मण भाग रूप वेद होवै है । और विधि वाक्यों के

यज्ञादिक रूप अर्थ की स्तुति करिकै जो वेद वाक्य अधिकारी पुरुषों को तिन यज्ञादिक कर्मों विषे प्रवृत्ति करै हैं। सो वेद के वाक्यार्थ वाद रूप होवै हैं। सो अर्थ वाद भी तीन प्रकार का होवै है। एक तो गुणवाद होवै है। दूसरा अनुवाद होवै है। तीसरा भूतार्थ वाद होवै। और जिस वाक्य विषे क्रिया पद नहीं होवै। तिस वाक्य तैं अथवा उत्तर वाक्य तैं क्रिया पद का अनुषंग करना। इस प्रकार जिस वाक्य विषे कर्ता कर्मादिक कारकों के वाचक पद नहीं होवै हैं। तिस वाक्य विषे भी पूर्व उत्तर वाक्यों तैं तिन पदों का अनुषंग करना और जिस वाक्य विषे जो पद अपेक्षत होवैं। और जो पद कदाचित पूर्व उत्तर वाक्यों विषे होवै नहीं। तो तिस वाक्य विषे ता पद का अध्याहार करना। और आकांक्षा योग्यता आदिकों के वश तैं पदों का तथा वाक्यों का परस्पर व्यसय भाव करना और पदों का जो अर्थ के साथ सम्बन्ध है। सो लोक विषे वृद्ध पुरुषों के व्यवहार करिकै जान्या जावै है। या तैं जो लौकिक शब्द हैं तेई ही वैदिक शब्द हैं। यद्यपि लोक विषे तथा वेद विषे पदों की तथा पदार्थों की समानता नहीं है। तथापि वेद विषे वाक्यों का अर्थ अपूर्व ही होवै है। तहां पूर्व कांड विषे वाक्यों का धर्म रूप अर्थ है। और उपनिषद रूप उत्तर कांड विषे वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म रूप अर्थ है। ते दोनों प्रत्यक्षादिक लौकिक प्रमाणों कर के ज्ञात नहीं है। या तैं ते दोनों अपूर्व हैं। और विधि वाक्यों का जो यज्ञादिक रूप अर्थ है। ता अर्थ की स्तुति कर के तथा तिस अर्थ तैं भिन्न अर्थ की निन्दा कर के अर्थ वाद रूप वचन ता अर्थ विषे अधिकारी पुरुषों की प्रवृत्ति करावे हैं। और मन्त्र रूप वचन देवतादिकों का स्मरण करावे हैं। या तैं ते अर्थवाद तथा मंत्र विधि वाक्य के अर्थ विषे ही प्रमाण हैं। और ते विधि वाक्य भी चार प्रकार के होवे हैं। एक तो विनियोग विधि होवे है। और दूसरी प्रयोग विधि होवे है। और तीसरी उत्पत्ति विधि होवे है। और चतुर्थ आधि क्रिया विधि होवे है। और भावना को प्रतिपादन करने हारा जो विधि वाक्य होवे है। ता वाक्य के अर्थ विषे साधन साध्य इति कर्तव्यता यह तीनों उपयोगी होवे है। और स्वर्ग कामों यजेत या वाक्य के अर्थ ज्ञान तैं अनन्तर तिन यज्ञादिक कर्मों के अनुष्ठान तैं धर्म रूप अपूर्व उत्पन्न होवे है। जिस धर्म रूप अपूर्व कर के या पुरुष को स्वर्ग की प्राप्ति होवे है। और ते वेद प्रतिपादित कर्म भी दो प्रकार का होवे है। एक तो प्राकृत कर्म होवे है। और दूसरा वैकृत कर्म होवे है। तहां यह कर्म इसी प्रकार करना या प्रकार विधान किया हुआ कर्म प्राकृत्य होवे है। और यह कर्म इस कर्म की न्याई करना या प्रकार विधान किया हुआ कर्म वैकृत कर्म होवे है। और शब्दांतर अभ्यास संज्ञा संख्या गुण प्रकरणांतर इनों कर के ते कर्म भिन्न भिन्न होवे है। तिन कर्मों विषे भी कोई कर्म अंग रूप होवे है। और कोई कर्म अंगी रूप होवे है। तिन कर्मों के अंग अंगीभाव के निश्चय तैं अनन्तर इयत्ता रूप परिमाण श्रुति अर्थ पाठ स्थान मुख प्रवृत्ति या षट प्रमाणों कर के जान्या जावे है। कैसा है सो कर्मों का प्रमाण यत्न करके युक्त जो त्रैवर्णिक अधिकारी पुरुष हैं। तिनों विषे एक कर के तथा अनेकों

कर के व्यवस्था पूर्वक करने योग्य है। और यज्ञादिक कर्मों विषे उपयोगी जे द्रव्य हैं तथा देवता हैं। तिनों को देख कर के विवेकी पुरुषों ने यह कर्म इस कर्म की विकृति है या प्रकार यज्ञादिक कर्मों का परस्पर प्रकृति विकृति भाव निश्चय करना। और विकृति यज्ञों विषे बुद्धिमान पुरुषों ने पदादिकों की ऊहा करनी। और सर्व कर्मों के पूर्ण हुए ता विकृति कर्मों विषे प्रकृति कर्मों के अंगों का निवृत्ति रूप बाध जानना। और जहां अन्य किसी वास्ते किया जो अंग ता अंग कर के किसी अन्य का ही उपकार होवें है। ताका नाम प्रसंग है। और एक वार किया हुआ जो कर्म नाना कर्मों का अंग रूप होवे है। ताका नाम मंत्र है। इस तैं आदि लैके अनेक प्रकार के पदार्थ पूर्व मीमांसा शास्त्र विषे जैमिनी ऋषि ने कथन करे हैं। तिन पदार्थों का अभ्यास कर के इदानी काल के पुरुष आपने को पण्डित माने हैं। और ज्ञानवानों की सभा में स्थित होइके ते पुरुष तिन पूर्वमीमांसा के पदार्थों का कथन करे हैं। और ते पुरुष अभिमान कर के या प्रकार के वचन कहे हैं। उत्तर मीमांसा को भी हम ही जानते हैं। उत्तर मीमांसा विषे ब्रह्म के ज्ञान तैं मोक्ष की प्राप्ति कही है। और ता ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति विषे यज्ञादिक कर्मों तैं आदि लैके अनेक प्रकार के साधन कहे हैं। तिन संपूर्ण कर्मों को हम ही भली प्रकार जानते हैं। या प्रकार मीमांसा शास्त्र के अनात्मा पदार्थों का चिंतन कर के ते बहिर्मुख पुरुष नाना प्रकार के व्यामोह को प्राप्त होवे हैं।

शंका—हे भगवन्! जो व्याकरण तथा पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा तथा न्याय आदिक शास्त्रों के ज्ञाता पुरुषों को पंडित शास्त्र विषे नहीं कहा तो शास्त्र विषे पंडित किस साधन के संपादिन करने से होवे है। समाधान—हे देवताओ! सर्व व्यवहार तथा कार्य कारण की सिद्धि विषे शास्त्र ही प्रमाण है। तहां श्लोक—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ॥

अर्थ—हे अर्जुन तिस कारण तैं तैं अर्जुन को कार्य तथा अकार्य की व्यवस्था विषे शास्त्र ही प्रमाण है। या तैं तिस पंडित पने विषे शास्त्र प्रमाण है. अन्यथा पंडित नहीं। तहां श्रुति—

आत्मान मरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञान निर्मथनाभ्यासात्पापं दहिति पण्डितः ॥६२२॥

कैवल्योप निषत् मं० ११ ॥

अर्थ—आत्मा को नीचे की अरणि करके और ओंकार को ऊपर का काष्ट कर के। और बारम्बार जो अभ्यास है सो मध्य का काष्ट कर के ज्ञान रूपी अग्नि से जो संचित क्रियमान कर्मरूपी पापों को दग्ध करता है सो पंडित है ६२२

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणां तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥६२३॥

गी० अ० ४ श्लोक १९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन जो पुरुष सर्व कर्म काम संकल्प तैं रहित है। तथा ज्ञान रूप अग्नि कर के दग्ध हुए हैं कर्म जिस के तिस पुरुष को ब्रह्म वेत्ता पंडित कहे हैं ॥६२३॥

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥६२४॥ गी० अ० ५ श्लोक १८

अर्थ—हे अर्जुन जो ज्ञानवान पंडित पुरुष विद्या विनय युक्त ब्राह्मण विषे तथा गौ विषे तथा हस्ति विषे तथा श्वान विषे तथा चण्डाल विषे समदर्शी है। सोई ही पंडित होवे है। अन्यथा तिलक के धारण से तथा सीधी पगड़ी बांधने से तथा ब्राह्मणोंके गृहविषे जन्म लेनेसे पंडित नहीं है।

सर्वभूतस्थिमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥६२५॥

कैवल्योपनिषत् मं० १०॥

अर्थ—जो सर्व स्थावर जंगम चारों खाणि को अपने आत्मा में देखता है। तथा अपने आत्मा को सर्वभूतों में स्थित देखता है। इस प्रकार परमब्रह्म को सर्वत्र सम देखता है। सो परम पद को प्राप्त होता है अन्य हेतु मुक्ति होने का नहीं तथा पंडित होने का नहीं है ॥६२५॥

आचार्य्योऽरणिराद्यः स्यादंते वा स्युत्तरारणिः। तत्संधानं प्रवचनं विद्या संधिः सुखावहः ॥६२६॥

अर्थ—गुरुरूप नीचे की अरणि करके तथा शिष्य ऊपर की अरणि करके तथा उपदेश रूप मंथन का काष्ठ करके इनसे ब्रह्मविद्यारूप परमसुखदायक अग्नि उत्पन्न होती है ॥६२६॥

वैशारदी सातिविशुद्ध बुद्धिर्धुनोति मायांगुण संप्रसूताम् ॥६२७॥

श्रीभाग० स्कंध ११ अ० १० श्लोक १२-१३

अर्थ—जिस समय बुद्धिमान गुरु से चतुर बुद्धि वाला शिष्य यह ब्रह्मविद्या को प्राप्त होता है। तब यह अविद्या गुणों को कार्यरूप संसार को भस्म करके काष्ठ रहित अग्नि के समान आप भी शांत हो जाता है। सो पण्डित है ६२७॥

अब गौतम ऋषि कृत न्याय शास्त्र के पदार्थों का निरूपण करते हैं। तहां प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण या तीन अवयवों का समुदायरूप जो वाक्य है। ता करके पदार्थ का अनुमान होवे है। या प्रकार मीमांसक माने है। और उदाहरण उपनय या दो अवयवों का समुदायरूप वाक्य है ता करके पदार्थ का अनुमान होवे है। या प्रकार बौद्ध मानैं हैं। यह दोनों मत असंगत हैं। किंतु प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय निगमन या पंच अवयवों का समुदाय रूप जो वाक्य है। ता करके ही पदार्थों का अनुमान होवे है। और ते न्यायिक दूसरे शास्त्र वाले पुरुषों के मत विषे। या प्रकार के दूषण कहे हैं किन्तु हमारे मत विषे यह आत्मा आश्रयरूप तर्क प्राप्त होवे है। और तुमारे मत विषे यह अन्योन्याश्रय रूप तर्क प्राप्त होवे है। और तुमारे मत विषे यह चक्र का रूप तर्क प्राप्त होवे है। और तुमारे मत विषे यह अनुवस्थारूप तर्क प्राप्त होवे है। और तुमारे मत विषे यह व्याघातरूप तर्क प्राप्त होवे है। और तुमारे मत विषे यह प्रतिबन्धी रूप तर्क प्राप्त होवे है। और यह तुमारा तर्क इष्टापत्तिरूप दूषण करके ग्रस्त है। यातैं असत्य है और यह तुमारा तर्क प्रतिवादी के अनिष्ट को करता नहीं यातैं असत्य है। और यह तुमारा तर्क। विपरीत है यातैं असत्य है। और यह तुमारा तर्क अनुग्राहक प्रमाण तैं रहित है। यातैं अप्रयोजक है। और यह तुमारा हेतु व्याप्ति पक्ष धर्मतातैं रहित है। यातैं हेत्वाभास है। और यह तुमारा साध्य आश्रयतैं रहित है। तथा प्रसिद्धि तैं रहित है। और या तुमारे अनुमान विषे कोई दृष्टांत समीचीन नहीं। और या अनुमान विषे तुमनैं

उदाहरण व्यर्थ कहा है। और या अनुमान विषे तुमने विगमन व्यर्थ कह्या है। इसतैं आदि-लैके अनेक प्रकार के अनात्म पदार्थों को न्याय शास्त्र विषे कथन करा है। हे देवताओ! इस प्रकार व्याकरण शास्त्र विषे तथा पूर्व मीमांसा विषे तथा न्याय शास्त्र विषे अनेक प्रकार अनात्म पदार्थों का कथन किया है। तिन अनात्म पदार्थों विषे असक्ति करके इदानी काल के बहिर्मुख पुरुष या प्रकार के वचन कहे हैं। या सम्पूर्ण अर्थों को हम ही जानते हैं। हमारे तैं विना दूसरा कोई पुरुष या अर्थ को जानता नहीं। या प्रकार आपने को सर्व तैं उत्कृष्ट मान के ते बहिर्मुख पुरुष व्यर्थ ही क्रोध को प्राप्त होवे हैं। जैसे अनेक श्वानों करके वेष्टत हुआ श्वान क्रोध करके आपने दांतों को दिखावे है। तैसे क्रोध करके युक्त हुए तैं बहिर्मुख पुरुष भी आपने दांतों को दिखावे हैं। हे देवताओ! वेदांत शास्त्र के विचार को परित्याग करके जो पुरुष पूर्व उक्त अनात्म शास्त्रों का विचार करे हैं। ते पुरुष यद्यपि लोक विषे शास्त्र वेत्ता कहे जावे हैं। तथापि तिन पुरुषों विषे इतर अज्ञानी जीवों तैं किंचितमात्र भी विशेषता नहीं। काहे तैं या लोक विषे जितनेक देहधारी जीव हैं तिनों विषे क्षुधा पिपासा निद्राभय इत्यादिक धर्म समान ही हैं। और जो तुम यह कहो अनात्म शास्त्रों के विचार करने हारे पुरुष दूसरे जीवों तैं अधिक संभाषण करे हैं। इस वासतैं दूसरे जीवों तैं तिनों विषे विशेषता है। सो यह तुमारा कहणा भी संभवै नहीं। काहे तैं बहुत बोलने करके क्रोष्ट नाम को प्राप्त हुए जो शृंगाल हैं तिन शृंगालों तैं तिन बहिर्मुख पुरुषों विषे विशेषता नहीं है। किंतु बहुत संभाषण करने हारे ते बहिर्मुख पुरुष शृंगालों के ही समान हैं। और हे देवताओ! अनात्म पदार्थों का विचार करने हारे जे बहिर्मुख पुरुष हैं। ते बहिर्मुख पुरुष मैं ब्रह्म भिन्न आत्मा का विचार करने हारे विद्वान महात्मा पुरुषों का विना ही प्रयोजन तैं निरादर करे हैं। तथा शास्त्र के व्याख्यान करने हारे महात्मा पुरुषों का उपहास करे हैं यातैं भी ते बहिर्मुख पुरुष शोक के ही विषय हैं। और या लोक विषे कोई दुर्जन पिशुन पुरुष दोष तैं रहित महात्मा पुरुषों विषे दोषों का अरोपण करके तिन दोषों का कथन करे हैं। यातैं भी ते बहिर्मुख पुरुष शोक के ही विषय हैं। तैसे अनात्म पदार्थों के विचार करके असन्त अभिमान को प्राप्त हुए ते बहिर्मुख पुरुष ऋषियों विषे भी या प्रकार के दोष अरोपण करे हैं कि पाणिनीय ऋषि ने यह जो सूत्र रचा है सो विचार तैं विना ही रचा है। और व्यास भगवान् ने यह जो सूत्र रचा है। सो विचार तैं विना ही रचा है। काहे तैं पूर्व सूत्र करके अथवा उत्तर सूत्र करके या अर्थ की सिद्धि होइसके है। या तैं यह सूत्र व्यर्थ ही है। और यह वेद का वचन उन्मत्त पुरुष के वचन की न्याईं असंगत प्रतीत होता है। या तैं यह जान्या जावे है यह वचन परमेश्वर कर के रचत नहीं। किंतु यह वचन किसी धूर्त पुरुष ने वेद विषे पाया है। या तैं यह वचन व्यर्थ है अथवा यह वचन परमेश्वर करके रचित है। या तैं व्यर्थ नहीं किंतु सार्थक है। परन्तु या वचन के अर्थ को एक हम ही जानते हैं। हमारे तैं विना दूसरा कोई पुरुष या वचन के अर्थ को जानता नहीं। या प्रकार तैं बहिर्मुख पुरुष तिन ऋषियों के शास्त्रों को पढ़ के बुद्धिमान होवे है।

तथा जिन महात्मा की संगत से पदपदार्थ का ज्ञान होवे है। तिन महात्माओं तथा तिन ऋषियों विषे ही नाना प्रकार के दूषणों का अरोपण करे हैं। ईहां यह स्वर चाहिये था। और यहां यह क्रम चाहिये था। ते स्वर वर्णादिक इन ब्राह्मणों ने उच्चारण करे नहीं। या तैं इन ब्राह्मणों नै वेदों को ही नष्ट कर दिया है। या प्रकार ते बहिर्मुख पुरुष वेद पाठिके साधु ब्राह्मणों की निंदा ही करे है। या तैं भी बहिर्मुख पुरुष शोक के ही विषे है। और ते बहिर्मुख पुरुष पुनः या प्रकार के वचन कहे हैं। कि शास्त्र के विचार विषे जैसी हमारी बुद्धि कुशल है। ऐसी तीक्षण बुद्धि हमारे गुरु की भी नहीं। और ब्रह्मा की भी ऐसी तीक्षण बुद्धि नहीं तथा अन्य विद्वान् पुरुषों की भी ऐसी तीक्षण बुद्धि न पूर्व हुई है न अभी वर्तमान है न आगे होवेगी। और जैसे समुद्र तैं नाना प्रकार की लहरीयां उत्पन्न होवे हैं। तैसे हमारे मुख रूप समुद्र तैं व्याकरण मीमांसा न्याय शास्त्र के अनुसार नाना प्रकार की विचित्र वाणीयां निकसें हैं। हे देवताओ! जैसे भार कर के आतुर हुआ गर्द्धभ नाना प्रकार के शब्दों को करे है। तैसे अनात्म शास्त्र रूप भार कर के आतुर हुए ते बहिर्मुख पुरुष नाना प्रकार के शब्दों को उच्चारण करे हैं। या कारण तैं ते बहिर्मुख पुरुष अत्यन्त दुर्जन है।

भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं चरागिणः। अशांतस्य मनोभारो भारोऽज्ञानात्मविदो वपुः॥६२८॥

महोपनिषत् अ० ३ मं० १५॥ तहां श्लोक—

अधीत्य चतरो वेदान्सर्व शास्त्र विशारदाः। आत्मज्ञानं न जानन्ति दर्वीपाक रसं यथा॥६२९॥

मुक्तिकोपनिषत् अ० ४ मं० ६५॥

अर्थ—जो पुरुष चारों वेदों का वक्ता भी है तथा अन्य सर्व शास्त्रों विषे कुशल भी है। परन्तु आत्मा के ज्ञान से रहित है सो पुरुष जैसे दर्वी सर्व क्षीरादिक पदार्थों में रहती है। तिन के रस को नहीं जानती है। तैसे अनात्म शास्त्र को पठन कर के जो पुरुष ब्रह्म भिन्न आत्मा के ज्ञान तैं रहित है। सो पुरुष करछी की न्याईं है६२९

अधीत्य चतरो वेदान्सर्वशास्त्राण्यनेकशः। ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥

स्वरूपानुसंधान व्यतिरिक्तान्य शास्त्राभ्यासै रुष्ट्र कुंङ्कमभार वद्यर्थो। नयोग शास्त्र प्रवृत्तिर्न सांख्य शास्त्राभ्यासो न मन्त्र तन्त्र व्यापारः। इतर शास्त्र प्रवृत्तिर्य ते रस्ति चेच्छवालंकार वच्चर्मकारवदाति॥६३०॥

परिव्राजकोपनिषत् उपदेश ५॥

ईश्वर उवाच—हे देवताओ! या लोक विषे स्त्री धन पुत्र इत्यादिक पदार्थों का परित्याग करना यद्यपि अत्यन्त कठिन है। तथापि कोई पुरुष तिन स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थों का परित्याग करके संन्यास आश्रम को धारण करिकै भी विद्या अभिमान तथा आश्रमादिकों के अभिमान का परित्याग करते नहीं। जैसे या लोक विषे कोई भारवाही पुरुष अपने मस्तक ऊपर स्थित जो दधि ओदनादिक अन्नका भार है। जिन अन्नादिकों के भक्षण करके क्षुधादिकों की निवृत्ति होवे है। ऐसे अन्नरूप भार को परित्याग करके पाषाण का भार अपने मस्तक ऊपर उठावे है। सो भारवाही पुरुष अत्यत मूढ बुद्धि

है। तैसे सुख के साधन जे स्त्री धन पुत्रादिक पदार्थ हैं। तिनों का परित्याग कर के संन्यास आश्रम को धारण कर के भी जो पुरुष विद्या के अभिमान को तथा आश्रम अभिमान रूप भार को उठावे हैं। ते पुरुष भी अत्यन्त मूढ़ बुद्धि जानने। या तैं जिस अधिकारी पुरुष को आपने कल्याण की इच्छा होवे। सो अधिकारी पुरुष वेदांत शास्त्र के विचार को छोड़ के दूसरे अनात्म शास्त्रों का विचार कदाचित् भी नहीं करें। काहे तैं सो अनात्म पदार्थों का विचार या पुरुष के वाक्कादिक इन्द्रियों को केवल परिश्रम की ही प्राप्ति करने हारे हैं। तथा अभिमान की उत्पत्ति करने हारे हैं। तहां श्रुति—

नानुध्यायद्बहूं शब्दान्वाचोविग्लापनं हि तत् ॥६३१॥

अर्थ—बहुत अनात्मा पदार्थों का चिंतन या पुरुष के वाक्कादिक इन्द्रियों को परिश्रम की ही प्राप्ति करने हारे हैं। इस वासते यह अधिकारी पुरुष तिन अनात्म पदार्थों का चिंतन नहीं करे। किंतु यह अधिकारी पुरुष निरन्तर वेदांत शास्त्र का ही चिंतन करें। जिस कारण तैं अनात्मपदार्थों के चिंतन करने से इस पुरुष का मन शत्रु है। और आत्मा का चिंतन करने वाला मन इस पुरुष का मित्र है॥६३१॥तहां श्लोक—

बन्धुरात्मात्मानस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वेवर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६३२॥

गी० अ० ६ श्लोक ६॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिस आत्मा ने यह संघात विषयक युक्त मन कर के ही जीत्या है। तिस आत्मा का स्वरूप आत्मा का बन्धु है। और अजित आत्मा के शत्रु भाव विषे बाह्य शत्रु की न्याई आपना आत्मा ही वर्त्ते है ६३२

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मासमाहितः। शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयो ॥६३३॥

गी० अ० ६ श्लोक ७॥

अर्थ—हे अर्जुन! शीत उष्ण सुख दुःख के प्राप्त हुये भी तथा मान अपमान के प्राप्त हुये भी जो आत्मा जितात्मा है तथा प्रशांत है। तिस आत्मा का ही परमात्मा समाधि का विषय होवै है ॥६३३॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६३४॥ गी० अ० ६ श्लोक ५॥

अर्थ—हे अर्जुन! यह अधिकारी पुरुष अपने जीवात्मा को विवेक युक्त मन करिकै इस संसार तैं उद्धार करै ता जीवात्मा को संसार समुद्र विषे नहीं डुबावै। जिस कारण तैं अपना आत्मा ही आत्मा का बंधु है तथा आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ॥६३४॥

हे देवताओ! इस जीवात्मा नैं माता के गर्भ विषे हमारे साथ प्रतिज्ञा आत्मा के साक्षात्कार की की हुई है। तहां श्रुति—

जातश्चैव मृतश्चैव जन्मचैव पुनः पुनः। जन्मया परिजनस्यार्थेकृतं कर्म शुभाशुभम् ॥६३५॥ एकाकी तेन दह्येऽहंगतास्ते फलभोगिनः। अहो दुःखो दधो मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥६३६॥ यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प-

पद्ये महेश्वरम् । अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम् ॥६३७॥ यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यासे। अशुभ क्षयकरतारं फलमुक्ति प्रदायकम् ॥६३८॥ यदि योन्याः प्रमुच्यामि ध्यामे ब्रह्मसनातनम् ॥६३९॥

गर्भोपनिषत् ॥

अर्थ—गर्भाशय में स्थित हुआ जीवात्मा अपने मन में पश्चाताप कारता है। और ईश्वर के साथ प्रीति करता है । मैं जन्मता हूं तथा मृत्यु को प्राप्त होता हूं । तथा बारंबार जन्मता हूं मरता हूं। जिन स्त्री पुत्रादिक संबंधियों के वास्तैं शुभाशुभ कर्म करतां था सो स्त्री आदिक संबंधि इस गर्भाशय में मेरी कोई भी सहायता नहीं कर सकते हैं ॥६३५॥ इस गर्भाशय में स्थित हुआ मैं एकला ही माता की जठराग्नि सें दग्ध होता हूं । तथा मैं एकला ही सर्व गर्भ के दुःख रूपी फल को भोगता हूं । अहो बड़ा आश्चर्य है दुःख रूपी समुद्र में मैं डूबा हुआ हूं। सिवाय दुःख के और दूसरी क्रिया मैं नहीं देखता हूं ॥६३६॥

हे ईश्वर ! यदि इस योनि सें मैं बाहिर निकसोंगा तब मैं महेश्वर परमात्मा की शरण को प्राप्त होवौंगा । वा महेश्वर को साक्षात्कार करूंगा। कैसा महेश्वर है । शरणागत के सर्व अशुभ को क्षय करने वाला है तथा मुक्ति रूप फल को देने वाला है ॥६३७॥

पुनः हे परमात्मा यदि मैं इस योनिसें मुक्त होवौंगा तब मैं नारायण की शरण को प्राप्त होवौंगा। अथवा नारायण को साक्षात्कार करूंगा। कैसा सो नारायण है । अपने साक्षात्कार सें वा शरणागत के सर्व अशुभ को क्षय करने वाला है। तथा मुक्ति रूपी फल को देने वाला है ॥६३८॥ पुनः हे ईश्वर ! यदि मैं इस योनियंत्र सें बाहिर निकसूंगा तब सांख्य शास्त्र कहिये वेदांत शास्त्र का अभ्यास करूंगा। कैसा है सांख्य शास्त्र तथा योग शास्त्र विचार कर्ता पुरुष के सर्व अशुभ को क्षय करने वाला है। तथा मुक्ति रूप फल को देने वाला है ॥६३९॥ पुनः हे परमात्मा देव! जब मैं इस गर्भ सें मुक्त होवौंगा तब मैं सनातन ब्रह्म का ध्यान करूंगा।

अब ता आत्मा के साक्षात्कार के शमदमादिक साधनों का निरूपण करै हैं । हे देवताओ ! इस काल तैं पूर्व काल विषे जो अधिकारी पुरुष हुये हैं। ते अधिकारी पुरुष आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति वास्तैं शमदमादिक साधनों को संपादन करिकै संपूर्ण वासनाओं का परित्याग रूप संन्यास आश्रम को ही ग्रहण करते भये हैं । या तैं इदानी काल के अधिकारी पुरुष नैं भी शमदमादिक साधनों का संपदान करिकै आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति वास्तैं संपूर्ण वासनों का परित्याग रूप संन्यास आश्रम को ही ग्रहण करना। बालक की न्याईं या मन को रागद्वेषादिक विकारों तैं रहित करना या का नाम शम है। और वाकादिक इंद्रियों को अपने अपने विषयों तैं रहित करना या का नाम दम है । और प्रारब्ध कर्म के योग तैं जो शास्त्र विहित पदार्थ प्राप्त होवै ता पदार्थ करिकै अपने शरीर का निर्वाह करना तथा प्रिय वस्तु की प्राप्ति करिकै हर्ष को नहीं प्राप्त होना । और अप्रिय वस्तु की प्राप्ति करिकै द्वेष को नहीं प्राप्त होना । या प्रकार के संतोष का नाम उपरति है। तहां श्रुति—

अशेषेण परित्यागो वासनायां य-उत्तमः। मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः ॥६४०॥

महोपनिषत् अ० २ मं० ३९॥

अर्थ—जो विद्वान अशेष करिकै वासनाओं का परित्याग करता हैं सो उत्तम विद्वान है। इस विमल क्रम सें सद्यों मोक्ष होती है इति ६४०

ये शुद्ध वासनाभूयो न जन्मानर्थ भागिनः। ज्ञातज्ञेयास्तु उच्यंते जीवमुक्ता महाधियः ॥६४१॥ महोपनिषत् अ० २ मं० ४०

अर्थ—यह जो शुद्ध वासना है तिन शुभ वासना सें पुनः जन्म मरण रूप अनर्थ का भागि नहीं होवैगा जिस कारण तैं सो वासना त्यागी विद्वान ज्ञात ज्ञेय हैं तथा महान बुद्धिमान पुरुष जीवन्मुक्त हैं ॥६४१॥

पदार्थ भावनादार्ढ्यंबंध इत्यभिधीयते। वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥६४२॥ महोपनिषत् अ० २ मं० ४१

अर्थ—जो पदार्थों की भावना दृढ़ है बन्ध इत्यभिधीयते बन्ध विधानकरी है। हे ब्रह्म की न वासना के अभाव को मोक्ष इस प्रकार कथन करे हैं ॥६४२॥

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले। यः करोत्यन पेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६४३॥

महोपनिषद् अ० २ मं० ४९॥

अर्थ—जो रागद्वेष सुख दुःख फल अफल से रहित है। जो करने योग कार्य को करता है परन्तु फल की इच्छा से रहित है। सो जीवन्मुक्त है ॥६४३॥

मौन वान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः। यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६४४॥

महोपनिषद् अ० २ मं० ५०॥

अर्थ—वाणी से मौन है अहंकार से रहित है निर्मान चित्त है मत्सरसे रहित है। करने योग कार्य को करता है परन्तु उद्वेगता से रहित है सो जीवन्मुक्त है ॥६४४॥

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः। निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६४५॥

महोपनिषद् अ० २ मं० ५१॥

अर्थ—जिस विद्वान के सर्वत्र स्नेह गत हो गये हैं तथा सर्व इच्छा से रहित हुआ सर्व कार्य में वर्तमान है और जो साक्षि की न्याईं स्थित है सो जीवन्मुक्त है ॥६४५॥

चिन्मात्रं चैत्य रहित मनंत मजरंशिवम्। अनादि मध्य पर्यंतं यदनादि निरामयम् ॥६४६॥

महोपनिषद् अ० २ मं० ६८॥

अर्थ—चिन्मात्र रूप से स्थित है अनन्त अजर शिव रूप से स्थित है। आदि मध्य अंत से रहित जो अनादि है निरामय है इत्यादिक विशेषण युक्त ब्रह्म रूप से स्थित चिंतन से रहित मूक की न्याईं बधर की न्याईं स्थित है ६४६

यतेंद्रिय मनोबुद्धि र्मुनिर्मोक्ष परायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥६४७॥ गी० अ० ५ श्लोक २८॥

अर्थ—जीते हुये हैं इंद्रिय मन बुद्धि जिस

नें तथा निवृत्त हुए हैं इच्छा भय क्रोध जिसके तथा सर्व विषयों तैं विरक्त ऐसा जो मननशील संन्यासी है सो संन्यासी सर्वदा मुक्त ही है ६४७

संकल्प प्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वान शेषतः। मनसैवेंद्रिय ग्रामं विनियम्य समंततः ॥६४८॥ गी० अ० ६ श्लोक २४ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! यह अधिकारी पुरुष संकल्प जन्य सर्व कामों को वासना सहित परित्याग करके तथा मन करके ही इंद्रियों के समूह को सर्व विषयों तैं रोकि करके मनका निरोध करे ॥६४८॥

इस संपूर्ण दैवी संपत्ति गुणों का संपादन करके आत्मा का चिंतन करना। तहां श्लोक—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः। दानंदमश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥६४९॥ गी० अ० १६ श्लोक १ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! अभय अंतःकरण की शुद्धि ज्ञान योग दोनों विषे स्थिति दान तथा दम तथा यज्ञ तथा स्वाध्याय तप आर्जव यह सर्व दैवी संपदरूप हैं ॥६४९॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांति रपैशुनम्। दयाभूतेष्व लोलुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥६५०॥ गी० अ० १६ श्लो० २

अर्थ—हे अर्जुन ! अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शांति अपैशुन सर्व भूतों विषे दया विषयों में लोलपता से रहित मार्दव अर्थात क्रूरस्वभाव तैं रहित पणे का नाम मार्दव है। ह्री अचपलता यह सर्व देवी सम्पदरूप हैं ॥६५०॥

तेजः क्षमाधृतिः शौच मद्रोहो नाति मानिताः। भवंति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥६५१॥ गी० अ० १६ श्लो० ३

अर्थ—हे भारत ! तेज क्षमा धृति शौच "अद्रोहो नाति मानिता" यह सर्व सत्त्वगुणमयी वासना को सम्पादन करके जन्मे हुए पुरुष को को प्राप्त होवे है ॥६५१॥

अबक्षमा रूप तितिक्षा के स्वरूप का निरूपण करे हैं। यह अधिकारी पुरुष या प्रकार का विचार करके। क्षमारूप तितिक्षा को करे। सो विचार यह है शरीर करके तथा मन करके तथा वाणी करके दुष्ट पुरुषों ने करी जो पीड़ा है। सो पीड़ा हमारे वास्तव स्वरूप विषे तीन काल मैं नहीं है। किन्तु हमारे शरीर अन्तःकरण इन्द्रियों विषे सो पीड़ा है। और मैं तिन सर्व शरीरादिकों तैं सर्वदा असंग हूं या प्रकार का विचार करके सो अधिकारी पुरुष तिन दुष्ट पुरुषों के ऊपर क्षमा ही करे क्रोध नहीं करे। सो अधिकारी पुरुष आपनी निंदा को श्रवण करके तिन निंदिक पुरुषों के ऊपर या प्रकार का विचार करके क्षमा करे। सो विचार यह है हमारी निंदा को करने हारे जो यह निंदक पुरुष हैं। ते निंदक पुरुष हमारे शत्रु नहीं हैं। किंतु ते निंदक पुरुष हमारे परम मित्र हैं। काहे तैं या लोक विषे जो पुरुष जिस पुरुष के ऊपर उपकार करे हैं। सो उपकार करनेहारा पुरुष तिस पुरुष का मित्र होवे है। सो या प्रकार का मित्र का लक्षण इन निंदक पुरुषों विषे भी घटै है। काहे तैं दुःखरूप फल के देनेहारे जो हमारे पाप कर्म हैं तिन पाप कर्मों को यह निंदक पुरुष अपने विषे ले जावे है। अथवा यह निंदक पुरुष हमारी माता से भी अधिक उपकारी हैं।

काहे तैं माता पुत्र का मलमूत्र हाथों से उठावे है। और यह निंदक पुरुष तो जिस पुरुष की निंदा करे है। तिस पुरुष के पापरूप मलमूत्र को अपनी जिह्वा से उठावे हैं। इस तैं परे कोई दूसरा उपकार है नहीं। ऐसे परम उपकार को करने हारे यह निंदक पुरुष हमारे परम मित्र हैं। किंवा या निंदक पुरुषों को यद्यपि लोक शत्रु कहे हैं। तथापि यह निंदक पुरुष हमारे तो मित्र ही है। काहे तैं हमारे दोषों को चिंतन करके यह निंदक पुरुष अपने मन को तथा वाणी को परिश्रम की प्राप्ति करै हैं। तथा हमारे पाप कर्मों को अपनी जिह्वा सें उठाय करिकै अपने विषे ग्रहण करिकै यह निंदक पुरुष तिन पाप कर्मों के दुःख रूप फल को आप भोगे हैं। या तैं जैसे समुद्र के मथन के करने तैं उत्पन्न भया जो हलाहल विष ता हलाहल विष को श्री महादेव नैं अपने कण्ठ विषे धारण किया था तै सें हमारे को दुःख की प्राप्ति करने हारे जे हमारे पाप कर्म हैं। तिन पाप कर्मों को यह निंदक पुरुष कृपा करिकै अपने विषे धारण करै हैं। परन्तु लोक विषे तथा शास्त्र विषे श्रीमहादेवजी को सज्जन कहै हैं। और या निंदक पुरुषों को दुर्जन कहै हैं। यह वार्ता श्रवण करिकै हमारे को बहुत आश्चर्य होवै है। हे देवताओ! या प्रकार का विचार करिकै ते अधिकारी पुरुष तिन निंदक पुरुषों के ऊपर भी क्षमा ही करै। और तिन अधिकारी पुरुषों को जभी कोई दुष्ट पुरुष पीडा देवै तो तभी ते अधिकारी पुरुष या प्रकार का विचार करिकै तिन दुष्ट पुरुषों के ऊपर क्षमा ही करै। यह पुरुष किस कारण तैं हमारा हनन करै हैं। हमारे दुःख रूप अनिष्ट के चिंतन करने करिकै इन पुरुषों को चण्डाल योनि की प्राप्ति मत होवै। या प्रकार की इच्छा मैं करता हूं। यह वार्ता मनु जी नैं भी कथन करी है। तहां श्लोक—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथानिष्टानि चिंतयन्। वितथाऽभिनिवेशीच जायतेऽन्त्यासु योनिषु ॥६५२॥

अर्थ—जो पुरुष पराये धन स्त्री आदिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करै हैं। तथा जो पुरुष पराई निंदा करै हैं। तथा जो पुरुष वेद विरुद्ध पाखंड मतों विषे दुराग्रह करै है। सो पुरुष मर करिकै चंडाल योनि विषे उत्पन्न होवै है ॥६५२॥

यथा सुनिपुणः सम्यक परदोषेक्षणेरतः। तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बंधनात् ॥६५३॥

वराहोपनिषत् अ० ३ मं० २५॥

अर्थ—जैसे परदोषों में सम्यक इच्छा सें प्रीती करने में निपुण है तैसे यदि आपनैं दोषों में निपुण होवै तो जन्म मरण बन्धनों सें कौन मुक्त नहीं हो सकता किन्तु सर्व ही हो सकते हैं ६५३

या तैं हमारे अनिष्ट के चिंतन करने हारे इन पुरुषों को चंडाल योनि की प्राप्ति मत होवै। किंवा जैसे अपने दोनों हस्तों का तथा दोनों पादों का आप ही ताडन करना अनुचित है। तैसे मेरे शरीर का भी ताडन करना इन पुरुषों को उचित नहीं हैं। काहे तैं हमारे शरीर विषे तथा इन पुरुषों के शरीर विषे तथा अन्य पुरुषों के शरीर विषे आत्मा एक ही है। या तैं अपने शरीर के ताडन करिकै जैसे हमारे को दुःख होवै है। तैसे हमारे शरीर के ताडन करिकै इन जीवों को दुःख की प्राप्ति नहीं होवै। या

प्रकार की इच्छा मैं करता हूं । किंवा या ताडन करने हारे पुरुष हमारे को दुःख की प्राप्ति नहीं करै हैं । किंतु जो हमनै पूर्व पाप कर्म करै हैं । ते पाप कर्म ही इदानी काल विषे हमारे को दुःख की प्राप्ति करै हैं । या तैं इन पुरुषों का कोई अपराध नहीं है ! किंवा जैसे यह प्रसिद्ध शरीर मैं आत्मा का है । तैसे यह संपूर्ण शरीर मैं आत्मा के हैं । या प्रकार गुरु शास्त्र के उपदेश तैं हमनैं अन्तर्यामी आत्मा का निश्चय किया है। या तैं इस ताडन काल विषे जो दुःख हमारे शरीर विषे होवै है । सो दुःख इन ताडन करने हारे पुरुषों के शरीर विषे मत होवै । किन्तु यह संपूर्ण देहधारी जीव सर्वदा सुखी होवैं । तथा सर्व रोग तैं रहित होवैं । और मेरे शरीर के ताडन करिकै किसी जीव को पाप की प्राप्ति मत होवै । या प्रकार का विचार करिकै ते अधिकारी पुरुष तिन ताडन करने हारे पुरुषों के ऊपर क्षमा ही करैं या का नाम तितिक्षा है। और शरीर के ताडना सें आत्मा का ताडन होवै नहीं । तथा शरीर के मृत्यु तैं आत्मा का मृत्यु होवै नहीं । जैसे घट का प्रकाश जो सूर्य है घट के नाश तैं सूर्य का नाश होवै नहीं । तैसे शरीर का प्रकाशक जो साक्षि आत्मा है। शरीर के नाश तैं तथा ताडन तैं आत्मा का नाश तथा ताडन होवै नहीं । तहां श्रुति—

घटावभासको भानुर्घटनाशेन नश्यति । देहावभासकः साक्षी देहनाशेन नश्यति ॥६५४॥ आत्मबोधोपनिषत् मं० १८ ॥

अर्थ—जैसे घट का प्रकाशक सूर्य है घट के नाश तैं सूर्य का नाश होवे नहीं । तथा घट के ताडन तैं सूर्य का ताडन होवे नहीं। तैसे ही इस देह का प्रकाशक जो साक्षी आत्मा है इस देह के नाश तैं आत्मा का नाश होवे नहीं। तथा देह के ताडन तैं आत्मा का ताडन होवे नहीं ॥६५४॥

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मल निर्वाणमूर्ति रेवाहम् । निरवयवोऽहमजोऽहं केवल सन्मात्र सारभूतोऽहम् ॥६५५॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० ६ ॥

अर्थ—मैं सजातीय विजातीय स्वगतभेद तैं रहित एक हूं । सर्व कलाओं तैं रहित हूं निर्मल हूं निर्वाण मूर्ति ही हूं । अर्थात सर्व दुःखों से रहित हूं । मैं निरवयव हूं मैं अज हूं मैं केवल कहिये अद्वितीय हूं मैं सर्व का सारभूत सत्ता मात्र हूं ॥६५५॥

न मे बंधो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः । मायामात्र विकासात्मायातीतोऽहमद्वयः ॥६५६॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० १९ ॥

अर्थ—मेरे मैं न बंध है न मोक्ष है मेरे में न शास्त्र है न मेरे विषे गुरु है । यह यावत नाम रूपात्मक विकार है सो सर्व माया मात्र हैं मैं इन सें अतीत अद्वितीय हूं ॥६५६॥

यह वार्ता बुद्ध गौतम संहिता विषे भी कथन करी है । तहां श्लोक—

क्षमाऽहिंसा क्षमाः धर्माः क्षमा चेंद्रिय निग्रहः । क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमा धैर्य मुदाहृतम् ॥६५७॥ क्षमा वान्प्राप्नुयात्स्वर्गं क्षमावान्प्राप्नुयाद्यशः । क्षमावान्प्राप्नुयान्मोक्षं क्षमा वांस्तीर्थ मुच्यते ॥६५८॥

अर्थ—जो क्षमा है यह अहिंसा है। तथा जो क्षमा है यह परम धर्म रूप है। तथा जो क्षमा है यह इंद्रियों का निग्रह है तथा जो क्षमा है यह दयारूप है तथा जो क्षमा है यह सर्व यज्ञों तैं उत्तम यज्ञ रूप है। तथा यह जो क्षमा है धैर्य रूप कहा है॥ ६५७॥ क्षमावान पुरुष स्वर्ग को प्राप्त होता है। तथा क्षमावान पुरुष ही यश को प्राप्त होता है तथा क्षमावान पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है। तथा क्षमावान पुरुष तीर्थ रूप है॥६५८॥

अब समाधान श्रद्धा या दोनों का निरूपण करै हैं। हे देवताओ। आत्मा के साक्षात्कारवास्तैं जो चित्त की सावधानता है ता का नाम समाधान है। और गुरुशास्त्र के उपदेश विषे जो विश्वास है ताका नाम श्रद्धा है।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शांति मचिरेणाधि गच्छति॥६५९॥

गी० अ० ४ श्लोक ३९॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष श्रद्धावान है तथा गुरु की उपासना विषे तत्पर है तथा जितेन्द्रिय है सो पुरुष ही आत्म ज्ञान को प्राप्त होवे है। ता आत्मज्ञान को प्राप्त होई के शीघ्र ही कैवल्य मुक्ति को प्राप्त होवै है॥६५९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥६६०॥

गी० अ० ४ श्लोक ४०॥

अर्थ—हे अर्जुन! अज्ञानी तथा श्रद्धा से रहित पुरुष तथा संशययुक्त पुरुष विनाश को ही प्राप्त होवे हैं। तिस संशय युक्त पुरुष को यह मनुष्य लोक भी नहीं सिद्ध होवे है। तथा स्वर्गादिक रूप परलोक भी नहीं सिद्ध होवे है तथा भोजनादिक कृत सुख भी नहीं प्राप्त होवे है॥६६०॥

इस प्रकार शम दम उपरति तितिक्षा समाधान श्रद्धा या षट साधनों करके युक्त हुआ यह अधिकारी पुरुष ब्रह्मश्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ गुरु मुख तैं वेदांत शास्त्र का श्रवण करे। अर्थात् श्रवण तैं अनन्तर यह अधिकारी पुरुष श्रुति अनुकूल नाना प्रकार की युक्तियों कर के ता श्रवण करे अर्थ का मनन करे। तिस मनन तैं अनन्तर यह अधिकारी पुरुष अन्तर आत्मा के विषे चित्त की वृत्तियों का निरन्तर प्रवाह रूप निदिध्यासन को करे। तिस तैं अनन्तर यह अधिकारी पुरुष गुरु उपदिष्ट महावाक्य रूप प्रणम करके सहकृत जो शुद्ध मन है ता शुद्ध मन कर के स्वयं ज्योति मैं आनन्द स्वरूप आत्मा को साक्षात्कार करे है। तहां श्रुति—

मुमुक्षवः पुरुषाः साधन चतुष्टय सम्पन्नाः श्रद्धावंतः सुकुलभवं श्रोत्रियं शास्त्र वात्सल्यगुण वंतमकुटिलं सर्वभूतहितेरतं दयासमुद्रं सद्गुरुं विधिवदुपसंगम्यो पहारपाणियोऽष्टोत्तर शतोपानिषदं॥६६१॥ विधि वदधीत्य श्रवण मनननिदिध्यासानानि नैरंतयेण कृत्वा प्रारब्धक्षयाद्देहत्रयभङ्गं प्राप्योपाधि विनिर्मुक्त घटाकाशवत्परिपूर्णता विदेह मुक्ति सैव कैवल्यमुक्तिरिति॥६६२॥ मुक्तिकोपनिषद् अ० १॥

अर्थ—मुमुक्षु पुरुष साधन चतुष्टय सम्पन्न हो करके श्रद्धावंत होवे श्रेष्ठकुल में उत्पन्न होवे श्रोत्रिय शास्त्र के अनुसार गुण वाला होवे अकुटल होवे सर्वभूतों विषे प्रीती वाला होवे दया का समुद्र होवे सद्गुरू की विधिवत् उपासना करके विधि वद उपसंगम्यो जाकर भेटा हाथ में लेकर गुरू के समीप जाकर दण्डवत प्रणाम करके विधवत् अष्टोत्तर शतोपनिषद् को ॥६६१॥ विधिवत अधीत श्रवण मनन निदिध्यासनों को निरंतर करके प्रारब्धक्षयतैं तीनों शरीरों के नाश द्वारा उपाधियों से रहित घटाकाश वत परिपूर्ण ब्रह्म में विदेह मुक्ति को प्राप्त होवे है। सो इही कैवल्य मुक्ति है इति ६६२॥

येना श्रुत ँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स अदेशो भवतीति ॥६६३॥ छान्दोग्योपनिषत् अ० ६ मं० ३ ॥ इति प्रश्न ॥ यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥६६४॥ छान्दोग्योपनि० अ० १ मं ४ ॥ उत्तर इति ॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोह मयं विज्ञात ँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोह मित्येव सत्यम् ॥६६५॥ छान्दोग्योप० अ० ६ मं० ५ ॥ यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णाय सं विज्ञात ँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं कृष्णाय स मित्येव सत्यमेव ँ सोम्य स अदेशो भवतीति ॥६६६॥ छान्दोग्योप० अ० ६ मं ६॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६६७॥

गी० अ० २ श्लोक ६९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन वेदांत वाक्यों कर के जन्य जो मैं ब्रह्म रूप हूं या प्रकार की साक्षात्कार या प्रज्ञा है सा प्रज्ञा अज्ञानी पुरुषों को अप्रकाश रूप है या तैं सो आत्मसाक्षात्कार रूप प्रज्ञा तिन अज्ञानी पुरुषों के प्रति लोक प्रसिद्ध रात्रि की न्याईं रात्रि रूप है। ता ब्रह्म विद्या रूप सर्व अज्ञानी जीवों की रात्रि विषे मन सहित इन्द्रियों के संयम वाला स्थित प्रज्ञ पुरुष अज्ञान रूप निद्रा तैं जाग्रत हुआ सावधान वर्ते हैं। और जिस द्वैत दर्शन रूप अविद्या रूप निद्रा विषे सोया हुआ यह अज्ञानी पुरुष स्वप्न की न्याईं नाना प्रकार के व्यवहारों को करे हैं। सो अविद्या आत्म साक्षात्कारवान स्थित प्रज्ञ की लोक प्रसिद्ध रात्रि की न्याईं रात्रि रूप है ६६७

तात्पर्य यह है। जब पर्यंत यह पुरुष निंद्रा तैं जाग्रत नहीं होता तब पर्यंत ही नाना प्रकार के स्वप्न का दर्शन होवे हैं। ता निंद्रा तैं जाग्रत हुये तैं अनंतर स्वप्नों का दर्शन होवे नहीं। काहे तैं बाध पर्यंत ही भ्रम की विद्यमानता होवे है बाध के उत्तर काल में सो भ्रम रहे नहीं। जैसे यह सर्प नहीं है या प्रकार के बाध पर्यंत ही ता सर्प भ्रम की स्थिति होवै है । ता बाध के हुये तैं सो सर्प भ्रम रहै नहीं। तैसे या अधिकारी पुरुष को जब पर्यंत तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं भई । तब पर्यंत ही यह संसार भ्रम रहै है। यह वार्ता वार्तिक कार सुरेश्वराचार्य ने भी

कथन करी है। तहां श्लोक—

काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः। यानिशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः ॥६६८॥ बुद्धतत्त्वोऽपि लोकोयं जडोन्मत्तपिशाचवत्। बुद्धतत्त्वोऽपिलोकस्य जडोन्मत्तपिशावत् ६६९

अर्थ—किंवा जैसे काकपक्षी की जो यह लोक प्रसिद्ध रात्रि है। सो रात्रि उलूक पक्षी की है नहीं किन्तु उलूक पक्षी ता लोक प्रसिद्ध रात्रि विषे नाना प्रकार के खान पानादिक व्यवहार करै है। और ता उलूक पक्षी की जो या लोक प्रसिद्ध दिन रूप रात्रि है। सो दिन ता काक पक्षी की रात्री नहीं है। किन्तु ता दिन विषे सो काक नाना प्रकार के खान पानादिक व्यवहार करै है। तैसे ही अज्ञानी पुरुष को तथा आत्मवेत्ता पुरुष को यह संसार है यह वार्ता (या निशा सर्व भूतानां) या वचन करिकै श्रीकृष्ण भगवान आप ही कथन करते भये हैं ॥६६८॥ किंवा जिस पुरुष नैं अपने वास्तव स्वरूप को जान्या है। तिस विद्वान पुरुष को यह सर्व लोक जड उन्मत्त पिशाच की न्याईं प्रतीत होवै हैं। और तिन सर्व लोकोंको भी सो विद्वान पुरुष जड उन्मत्त पिशाच की न्याईं प्रतीत होवै हैं ॥६६९॥

शंका—हे भगवन्! ता आत्म साक्षात्कार करिकै या अधिकारी पुरुष को किस फल की प्राप्ति होवै है। समाधान—हे देवताओ! मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप हूं या प्रकार का अभेद ज्ञान जिस अधिकारी पुरुष को प्राप्त भया है। तिस पुरुष की अविद्या रूप माया निवृत्त हो जावै है। कैसी है सो माया अवर्णशक्ति करिकै तथा विक्षेप शक्ति करिकै युक्त है। ऐसी अविद्या रूप माया आत्म साक्षात्कार करिकै एक वार नाश को प्राप्त हुई पुनः उत्पन्न होवै नहीं। और मैं विभु आत्मा विषे जो परिच्छिन्नपना प्रतीत होता था। सो अविद्या रूप माया करिकै ही प्रतीत होता था। मैं आत्मा के साक्षात्कार हुये तैं अनन्तर यह विद्वान पुरुष ता परिच्छिन्न भाव का परित्याग करिकै अपने आत्मा को सर्व जीवों का आत्मा रूप करिकै देखे है। या तैं अविद्या निवृत्ति पूर्वक सर्व आत्म भाव की प्राप्ति ही आत्म साक्षात्कार का फल है। इस प्रकार गुरु वेदांत शास्त्र के उपदेश तैं जिस अधिकारी पुरुष नैं आत्मा को साक्षात्कार किया है। तिस विद्वान पुरुष के असंग स्वरूप रूप को पुण्य पाप रूप कर्म तरसकै नहीं। तथा ता विद्वान पुरुष को ते पुण्य पाप रूप कर्म तपायमान करि सकै नहीं। किंतु जैसे नौका समुद्र को तरै है। तथा जैसे हनुमान समुद्र को तरता भया है। तथा जैसे आकाश तैं उत्पन्न भया विद्युत रूप अग्नि तुलादिकों को दग्ध करै है। तैसे यह विद्वान पुतुष आत्म साक्षात्कार के प्रभाव तैं तथा ज्ञान रूप अग्नि करिकै यह विद्वान पुरुष तिन पुण्य पाप रूप कर्मों को दग्ध करे है। तिन पुण्य पाप कर्मों को दग्ध करै है। और श्रोत्रादिक इंद्रियों तैं जो जो शब्द स्पर्श रूप रस गंध रूप विषयों का साक्षात्कार करता है। सो सो सर्वत्र आत्म भावना ही करता है। तथा जहां जहां मन करिकै पदार्थों का ग्रहण करता है। तहां तहां आत्म भावना ही करै है तहां श्लोक—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्म-

सात्कुरुते तथा ॥६७०॥

गी० अ० ४ श्लोक ३७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्टों को भस्मी भूत करै है तैसे ज्ञान रूप अग्नि सर्व कर्मों को भस्मी भूत करै है ॥६७०॥

यस्य सर्वे समारंभाः काम संकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥६७१॥

गी० अ० ४ श्लोक १९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन जिस पुरुष के सर्व कर्म काम संकल्प तैं रहित हैं तथा ज्ञान रूप अग्नि करिकै दग्ध हुए हैं कर्म जिस के तिस पुरुष को ब्रह्म वेत्ता पुरुष पंडित कहै हैं ॥६७१॥

मुमुक्षुः परहंसाख्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनम् । अभ्यसेद्ब्रह्म विज्ञानंवेदांत श्रवणादिना ॥६७२॥

नारदपरिव्राजकोप० उपदेश ६ मं० २१ ॥

अर्थ—मुमुक्षु परमहंस के वास्ते साक्षात एक मोक्ष का साधन है। अभ्यास ब्रह्म ज्ञानका ही वेदांत श्रवण मनन निदिध्यासन सें करै ६७२

ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाध्रियः । शांति दांत्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितोभवेत् ॥६७३॥

नारदपरिव्राजकोप० उपदेश ६ मं २२ ॥

अर्थ—ब्रह्म ज्ञान के लाभ तैं परमहंसों की समाधिय होती हैं। तथा शमदमादिक सर्व साधनों के सहित होता है ॥६७३॥

वेदांताभ्यासनिरतः शांतो दांतो जितेंद्रियः निर्भयो निर्ममो नित्यो निर्द्वन्द्वोनिष्परिग्रहः ॥६७४॥

नारदपरिव्राजकोप० उपदेश ६ मं २३ ॥

अर्थ—केवल वेदांत शास्त्र का ही अभ्यास करता है शमदमादिक साधन सम्पन्न है तथा जितेंद्रिय है। तथा निर्भय है तथा निर्मम है तथा निर्द्वन्द्व है तथा नित्य ही संग्रह सें रहित है ६७४

सन्मानं नं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः । प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत् ॥६७५॥ नारदपरिव्राजकोपनि० उपदेश ४ मं० ८ ॥ यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेतिभावयेत् । यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥६७६॥ योगतत्त्वप० मं० ६९ ॥

अर्थ—जो जो श्रोत्रों सें श्रवण करता है। सो सो अद्वितीय आत्मा की ही भावना करता है। तथा जो जो चक्षु सें देखता है। सो सो अद्वितीय आत्मा की ही भावना करता है ॥६७६॥

लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत्। जिह्वया यद्रसंह्यति तत्तदात्मेति भावयेत् ॥६७७॥

योगतत्त्वोप० मं० ७० ॥

अर्थ—जो जो नासकाओं सें गंध दुर्गंध को ग्रहण करता है सो सो अद्वितीय आत्मा की ही भावना करता है। तथा जो जो रसना इंद्रिय सें मधुरादिक रसों को ग्रहण करता है। सो सो अद्वितीय आत्मा की ही भावना करता है ॥६७७॥

त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥६७८॥ योगतत्त्वोप० मं० ७१ ॥

अर्थ—जो २ कोमल कठिनादिक त्वचा सें विद्वान पुरुष स्पर्श करता है। सो २ अद्वितीय आत्मा की ही भावना करता है। ऐसी जो मन की धारणा रूप स्थिति है। सो धारणा परम उत्कृष्ट है ॥६७८॥

यत्रयत्र मनोयाति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्। मनसाधारणं चैव धारणा सापरामता ॥६७९॥

तेजोबिंदूपनि० अ० १ मं० ३५॥

हे देवताओ! पूर्वोक्त शमदमादिक साधनों करिकै युक्त यह विद्वान पुरुष जिस मैं आनन्द स्वरूप आत्मा को प्राप्त होवै है। सो मैं आत्मा देव कैसा हूं। वास्तव तैं पुण्य पाप रूप कर्मों तैं रहित हूं। तथा माया रूप अविद्या तैं रहित हूं। तथा संशय तैं रहित हूं। ऐसे मैं असंग आत्मा को जो अधिकारी पुरुष अद्वितीय ब्रह्म रूप करिकै जानै है सो विद्वान पुरुष या शरीर के विद्यमान हुये भी ब्रह्म रूप होवै है तथा सर्व शोक मोहादिकों तैं रहित होवै है।

ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।

अर्थ—ब्रह्म को जो अपना आत्मा रूप करिकै जानने हारा ब्रह्म वेत्ता विद्वान पुरुष ब्रह्म रूप ही होवै है।

यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजनतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥६८०॥

ईशावा० उ० मं० ७॥

अर्थ—जिस काल विषे संपूर्ण स्थावर जंगम जीवों को यह विद्वान् पुरुष अपना आत्मा रूप करिकै जानता है। तिस काल विषे सर्व भूतों को अपना आत्मा रूप जानने हारे विद्वान पुरुष को क्या मोह है तथा क्या शोक है ६८०

अब तिस माया को नदी रूप करिकै कथन करै हैं। हे देवताओ! इस संसार रूप चक्र का उपादान कारण यो माया रूप महान नदी है। ता माया रूप नदी का या प्रकार का स्वरूप है। श्रोत्रत्वक चक्षु रसना घ्राण या पांच ज्ञान इंद्रियों के रहिने के स्थान जो पांच गोलक हैं। ते पांच गोलकों के स्थान या माया रूप नदी के पांच स्रोत हैं। जल बहने के जे स्थान विशेष हैं। तिनों का नाम स्रोत है। और जैसे प्रसिद्ध नदियों के जल तिन स्रोत स्थानों तैं चले हैं। तैसे यह श्रोत्रादिक इंद्रिय भी या माया रूप नदी के पांच प्रकार के जल हैं। और जैसे प्रसिद्ध नदियों के जलों के मेघ कारण होवै हैं। तैसे आकाश वायु तेज जल पृथ्वी यह पांच भूत ता इंद्रिय रूप जलों का तथा ता गोलक रूप स्रोतों का कारण हैं। और जैसे वर्षा काल विषे लोक प्रसिद्ध नदियों के कुटिल प्रवाह होवै हैं। तैसे काम क्रोधादिक आसुरी संपदा वाले प्रमादि जीवों विषे श्रोत्रादिक पांच इंद्रियों करिकै उत्पन्न भये जो पांच प्रकार के ज्ञान हैं। ते पांच ज्ञान या माया रूप नदी के असंत उग्र तथा कुटिल पांच प्रवाह हैं। अथवा जैसे लोक प्रसिद्ध नदियों विषे जल का भ्रमण रूप जो चक्र होवै हैं। ते चक्र या जीवों को नीचै ले जावै हैं। तैसे शास्त्र संस्कार रहित प्रमादि पुरुषों विषे श्रोत्रादिक पांच इंद्रियों करिकै उत्पन्न भये जे पांच प्रकार के ज्ञान हैं। ते ज्ञान भी तिन प्रमादी पुरुषों को कीट पतंगादिक योनियों की प्राप्ति रूप अधोगति को प्राप्त करै हैं। या तैं ते पांच प्रकार के ज्ञान या माया रूप नदी के पांच उग्र चक्र हैं। और जैसे लोक

प्रसिद्ध नदियों विषे नाना प्रकार के तरंग होवै हैं। तैसे प्राण अपान समान व्यान उदान यह पांच प्राण या माया रूप नदी के महान तरंग हैं। और जैसे लोक प्रसिद्ध नदियों के मूल होवै हैं। तैसे शब्द स्पर्श रूप रस गंध या पांचों का विषय करने हारे जे शास्त्र विहित अथवा शास्त्र निषिद्ध पांच प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होवै हैं। तथा पांच प्रकार की इच्छा उत्पन्न होवै है। ते पांच ज्ञान तथा पांच इच्छा संस्कार द्वारा या माया रूप नदी के पांच मूल हैं। और जैसे लोक प्रसिद्ध नदीयों विषे नाना प्रकार के अवर्त होवै हैं। जिन अवर्तों विषे प्राप्ति हुये यह जीव बाहिर निकस सकै नहीं। तैसे शब्द स्पर्श रूप रस गंध यह पांच विषय या माया रूप नदी के पांच महान अवर्त हैं। तहां श्रुति—

पंच स्रोतोम्बुं पंचयोन्युग्रवक्त्रां पंचप्राणोर्भि पंचबुद्ध्यादि मूलाम्। पंचावर्त्तां पंचदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां पंचपर्वामधीमः ॥६८१॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् मं० ५॥ **पंचस्रोतोम्बुं पंचयोन्युग्रवक्रां पंचप्राणोर्भि पंचबुद्ध्यादि मूलाम्। पंचावर्तां पंचदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां पंचपर्वामधीमः ॥६८२॥** नारद परिव्राजकोप० उपदेश ९ मं० ४॥

जैसे लोक प्रसिद्ध नदियों तैं जीवों को पार उतारने हारे जो नाविक पुरुष हैं। सो नाविक पुरुष भी जो कदाचित् तिन नदियों के अवर्तों विषे प्राप्त होवै हैं। तो सो नाविक पुरुष भी ता नदीके अवर्तों तैं अपने को निकासने में समर्थ होता नहीं। तैसे अधिकारी पुरुषों को शास्त्र का उपदेश करिकै माया रूप नदी तैं पार करने हारा जो नाविक विद्वान पुरुष है। सो विद्वान पुरुष भी जो कदाचित् या विषय रूप अवर्तों विषे प्राप्त होवै है। तो सो विद्वान पुरुष भी ता विषय रूप अवर्तों तैं अपने को बाहिर निकासने विषे समर्थ नहीं होवै हैं। और जैसे सो नाविक पुरुष अन्य लोकों को नदी तैं पार करिकै जभी आप ता नदी के अवर्तों विषे प्राप्त होवै है। और ता नदी के अवर्तों तैं अपने को निकासने में समर्थ नहीं होवै हैं। तभी ता नाविक पुरुष नैं जिन लोकों को ता नदी तैं पार किया था। ते लोक ता नाविक पुरुष को नदी के अवर्तों विषे प्राप्त हुआ देख के कोईक लोक तो ता नाविक पुरुष का शोक करै हैं। और कोईक लोक ता का उपहास करै हैं। तहां ता नाविक पुरुष के उपकार को जानने हारे जैसे सज्जन पुरुष हैं ते सज्जन पुरुष तोता नाविक पुरुष का शोक करै हैं। और ता नाविक पुरुष के उपकार को नहीं जानने हारे जे कृतघ्न लोक हैं। ते कृतघ्न लोक तो ता नाविक पुरुष का उपहास करै है। तैसे जो विद्वान पुरुष शास्त्र का उपदेश करिकै या अधिकारी पुरुषों को या माया रूप नदी तैं पार करै हैं। सो विद्वान पुरुष जभी ता विषय रूप अवर्तों विषे प्राप्त होइ कै ता विषय रूप आवर्तों तैं अपने को निकासने में समर्थ नहीं होवै हैं। तभी ता विद्वान पुरुष जिन अधिकारी पुरुषों को या माया रूप नदी तैं पार किया था। ते आधिकारी पुरुष या विद्वान पुरुष को विषय रूप अवर्तों विषे प्राप्त हुआ देखि के कोई सज्जन पुरुष तो ता विद्वान पुरुष का शोक करै हैं। और कोईक कृतघ्न पुरुष तो ता विद्वान पुरुष का उपहास करै हैं। यातैं

हे देवताओ ! या विद्वान पुरुष नैं भी ऐसा अभिमान कदाचित नहीं करना। जो हम विद्वान पुरुष शास्त्र का उपदेश करिकै सर्व जीवों को या माया रूप नदी तैं पार करने हारे हैं। या तैं हम विद्वानों को यह विषय रूप आवर्त क्या करैंगे। या प्रकार का अभिमान करिकै सो विद्वान पुरुष जो कदाचित तिन विषय रूप अवर्तों विषे प्राप्त होवैगा। तो विद्वान पुरुष भी लोकों के उपहास का तथा शोक का विषय होवैगा। या तैं करामलक की न्याईं जिन पुरुषों को आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त भया है। ऐसे विद्वान पुरुषों नैं भी या विषय रूप अवर्तों तैं सर्वदा भय ही करना। और जैसे लोक प्रसिद्ध नदियों के आवर्त नाविक पुरुष को तथा अन्य पुरुषों को अत्यंत दुस्तर होवै है। तैसे माया रूप नदी के विषय रूप आवर्त भी विद्वान पुरुषों को तथा अविद्वान पुरुषों को अत्यंत दुस्तर होवै है।

शंका—हे भगवन ! जिन विषय रूप आवर्तों विषे प्राप्त हुआ यह विद्वान पुरुष भी तिन विषय रूप आवर्तों तैं बाहिर नहीं निकस सकतैं। ऐसे विषय रूप आवर्तों तैं रक्षा करने हारा जो कोईक उपाय है। तो हमारे प्रति कृपा करिकै कथन करो। समाधान—ईश्वर उवाच—हे देवताओ! या विषय रूप आवर्तों तैं रक्षा करने हारा एक ही उपाय शास्त्र विषे कथन करा है। सो तुम श्रवण करो। जैसे लोक प्रसिद्ध नदियों विषे चलने हारे नाविक पुरुष जभी ता नदी के आवर्तों को अपने वाम भाग की ओर अथवा दक्षण भाग की ओर परित्याग करिकै चलैं हैं। तभी ही ते नाविक पुरुष तिन आवर्तों तैं निकस सकता हैं। तैसे जो विद्वान पुरुष तथा मुमुक्षु जन शास्त्र विचार केवल तैं या विषय रूप आवर्तों को दूरतैं ही परित्याग करै हैं। सोई ही पुरुष या विषय रूप आवर्तों विषे प्राप्त नहीं होवै है। या तैं विषयों विषे दोष दृष्टि करिकै तिन विषयों का संग ही नहीं करना। यह ही तिन विषय रूप आवर्तों तैं रक्षा का उपाय है। या को परित्याग करिकै जो कदाचित् विद्वान पुरुष भी तिन विषय रूप आवर्तों विषे प्राप्त होवैगा। तो सो विद्वान पुरुष भी तिन विषय रूप आवर्तों तैं अपने को निकासने विषे समर्थ नहीं होवैगा।

सर्वसंसार निवृत्य दारेषणा धनेषणा लोकेषणात्मक देहवासनां। शास्त्रवासना लोकवासनां त्यक्त्वावमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वासाधन चतुष्ट संपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥६८३॥ नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ५॥

अर्थ—सर्व संसार निवृत्य अर्थात संसार से उदासीन उपराम होवै स्त्री की इच्छा सें रहित धन की इच्छा से रहित लोक इच्छा से रहित देह वासना से रहित। शास्त्र वासना से रहित लोक वासना से रहित इन पूर्वोक्त सर्व वासनाओं को वमन अन्न की न्याईं परित्याग करिकै तथा प्रकृति के सहित प्रकृति के कार्य प्रपंच सर्व को परित्याग वाला चुतुष्टय साधन संपन्न हो कर जो संन्यास को ग्रहण करता है सोई ही ज्ञान संन्यासी है ॥६८३॥

स्वरूपानुसंधान व्यतिरिक्तान्य शास्त्राभ्यासैरुष्ट्रकुङ्कमभारवद्व्यर्थो न योगशास्त्र प्रवृत्ति र्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्र तन्त्रव्यापारा। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यते-

रस्ति चेच्छ्वालंकारवच्चर्मकारवदति ॥६८४॥ नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ५॥

अर्थ—अपने स्वरूपानुसंधान से अतिरिक्त अर्थात् स्वरूप के चिंतिन को परित्याग करके अन्य जो न्यायशास्त्र का अभ्यास करता है सो कैसा पुरुष है। जैसे उष्ट्र के ऊपर कुङ्कुम के भार की न्याईं व्यर्थ ही है। अपने स्वरूप के चिंतन को छोड़ के न योगशास्त्र में प्रवृत्त होवे तथा न सांख्य शास्त्र में प्रवृत्त होवे तथा न मंत्र न तंत्र का व्यापार करे। यदि यति की इतर शास्त्र में प्रवृत्ति होवेगी तो जैसे छत्र को शृंगार करना तथा जैसे चर्मकार की न्याईं है ॥६८४॥

संसारदोष दृष्टयैव विरक्तिर्जायते सदा। विरक्तस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशयः ॥६८५॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत् उपदेश ६ मं० २०॥

अर्थ—संसार में दोष दृष्टि वाला और सदैवकाल विरक्ति संपन्न होवे विरक्त को ही संसार तैं संन्यास ग्रहण करना योग है अन्यथा पतित होवेगा इस में संशय नहीं है ॥६८५॥

और जभी यह विद्वान पुरुष भी तिन विषयरूप अवर्तों विषे प्राप्त होई के तिन आवर्तों तैं अपने को निकासने में समर्थ नहीं होवे है। तभी अविद्वान पुरुष तिन विषयरूप अवर्तों तैं अपने को निकासने विषे किस प्रकार समर्थ होवेगा। यातैं तिन विद्वान पुरुषों ने तथा मुमुक्षु जनों ने यह विषयरूप आवर्त दूर तैं ही परित्याग करने योग्य हैं। या संग का परित्यागरूप उपाय को छोड़ के दूसरा कोई उपाय तिन विषयरूप आवर्तों तैं रक्षा का है नहीं। या तैं यह शब्दादिक विषय या माया रूप नदी के पांच अवर्त हैं। और तिन शब्दादिक पांच विषयों तैं या जीवों के विषे जो पांच प्रकार का सुख उत्पन्न होवे है। सो विषय सुख नाशवान हैं। तथा भय का कारण हैं। या तैं मधुविष युक्त अन्न की न्याईं ते विषय जन्य सुख दुःखरूप ही हैं। ऐसे पांच प्रकार के दुःखों का जो रात्रि दिन विषे निरंतर प्रवाह है। सो पांच प्रकार के दुःखों का प्रवाह या मायारूप नदी का पांच प्रकार का वेग है अथवा गर्भदुःख जन्मदुःख जरादुःख व्याधिदुःख मरणदुःख यह पांच प्रकार का दुःख ता माया रूप नदी के पांच वेग हैं। और अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश यह पांच प्रकार के क्लेश या मायारूप नदी के पांच पर्व हैं। इहां विभाग का नाम पर्व है। यातैं यह अर्थ सिद्ध भया। पंच इंद्रियों के गोलक १, पांच श्रोत्रादिक इंद्रिय २, अकाशादिक पांचभूत ३, पांच ज्ञान ४, प्राण ५, पांच बुद्धि ६, पांच इच्छा ७, पांच विषय ८, पांच दुःख ९, पांच क्लेश १०, या पचास ५० भेद करके सो मायारूप नदी पचास भेद वाली है। अब नदीरूप जो माया है तिस माया को अजारूप करके कथन करे हैं। सो अजारूप माया तें तेज जल पृथ्वी याती न कार्यरूप करके तीन प्रकार के रूपवाली होवे है। तहां अग्निरूप करके सा माया लोहितरूप वाली होवे है। और जलरूप करके सो माया शुक्लवर्ण वाली होवे है। और पृथ्वीरूप करके सो माया कृष्णवर्ण वाली होवे है। तहां श्रुति—

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स रूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेतेजहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥६८६॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् अ० ४ मं० ५॥

अर्थ—इस प्रकार लोहित शुक्ल कृष्णा या तीन प्रकार के रूप वाली सो माया तीन रूपों करिकै अपने समान सर्व जगत को उत्पन्न करै है। जैसे या लोक विषे प्रसिद्ध जो रक्त शुक्ल कृष्ण वर्ण वाली अजा है । सो अजा अपने समान रूप वाले अजों को ही उत्पन्न करै है। तैसे सो माया रूप अजा भी अपने समान रूप वाले जगत को उत्पन्न करै है। और जैसे या लोक विषे प्रसिद्ध अजा के भोगने की इच्छा वाला जो अज है सो अज ता अजा का सेवन करै है। और ता अजा के भोगने की इच्छा तैं रहित जो निष्काम अज है। सो निष्काम अज ता अजा का परित्याग करै है। तैसे त्वं पद का वाच्यार्थ या जीवात्मा रूप अज ता माया रूप अजा के भोगने की इच्छा वाला है । इस वास्तैं सो जीव रूप अज ता माया रूप अजा का सेवन करै है । ता सेवन करिकै सो जीव रूप अज बंधायमान होवै है। और तत् पद का वाच्यार्थ रूप जो मैं ईश्वर रूप अज हूं । ता माया रूप अजा का परित्याग करूं हूं । या कारण तैं ही मैं ईश्वर जीव के शरीर में साक्षी रूप तैं वर्तमान हुआ नित्य मुक्त हूं ॥६८६॥ तहां श्रुति—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥६८७॥

श्वेताश्वतरोपनि० अ० ४ मं० १० ॥

अर्थ—पुनः माया प्रकृति अविद्या तथा माया वाला महेश्वर है । तिस के अंगों से उत्पन्न हुआ सर्व यह पंच भौतिक जगत महेश्वर से व्याप्त है ॥६८७॥

द्वासुपर्णा सुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति ६८८

मुंड० उ० तृतीयमुंडके० खं० १ मं० १ ॥

अर्थ—जीव तथा ईश्वर ये दोनों शोभा युक्त गमन वाले होने तैं अर्थात् चिदाभास रूप जीव को अज्ञानी होने तैं नियम से रखने के योग्य होने तैं और ईश्वर को सर्वज्ञ होने तैं नियामक पने के योग्य तैं जीव ईश्वर इन दोनों का नियम्य और नियामक भाव की प्राप्ति रूप गमन संभवै है। वा पक्षी के समान होने तैं शरीर रूप बृक्ष को आश्रय करने तैं पक्षी हैं । ते जीव ईश्वर पक्षी सर्वदा साथ ही वर्तमान हैं। अर्थात जैसे दर्पण में मुख का प्रति बिंब तथा मुख सर्वदा युक्त ही होवे है। तैसे व्यष्टि अज्ञान उपरित विभु चेतन और विभुचेतनका व्याष्टि अज्ञान में प्रति बिंब रूप जीव यह दोनों जीव ईश्वर सर्वदा अधाराधेय रूप सें अंतःकरण में ही वर्तमान हैं । या तैं तुल्य प्रख्याति वाले हैं। तथा तुल्य प्रकाश के कारण हैं यातें परस्पर सखा हैं। इस प्रकार के हूये तिनों के ज्ञान का स्थान जो एक देह रूप बृक्ष है। सो छेदन रूप धर्म की समानता तैं शरीर रूप बृक्ष है। तिस देह रूप बृक्ष के सुख दुःख रूप फल के भोगने की इच्छा करके तिस देह रूप वृक्ष को ते दोनों जीव ईश्वर पक्षी की न्याई अलिंगन करे हैं। तिस देहरूप वृक्ष को आश्रय करके तिन दोनोंके मध्य एक जो लिंग शरीर रूप उपाधि वाला क्षेत्रज्ञ है । सो वृक्ष को आश्रय करके आपने कर्मजन्य सुख दुःख भय अनेक प्रकार की पीड़ा को अनुभव रूप स्वादु फल को अविवेक तैं भोगता है। और अन्य जो नित्य शुद्ध नित्य बुद्ध नित्य मुक्त स्वभाव वाला सर्वज्ञ शुद्धसत्त्व गुण प्रधान माया उपाधि वाला

ईश्वर है। सो भोगता नहीं। या तैं यह ईश्वर नित्य साक्षीपने की सत्तामात्र तैं भोग्य तथा भोक्ता इन दोनों का प्रेरक है। या तैं सो साक्षी रूप ईश्वर देह रूप वृक्ष सें न्यारा होय के केवल देखिता ही है। ता का प्रकाश मात्र सें ही राजा की न्याई प्रेरकपना प्रसिद्ध ही है ॥६८८॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥६८९॥ श्वेताश्वतरो० अ०४ मं०६॥ द्वौ सपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ। तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥६९०॥ केवलं साक्षीरूपेण विनाभोगो महेश्वरः। प्रकाशते स्वयंभेदः कल्पितो मायया तयोः ॥६९१॥ अन्नपूर्णोपनिषत् अ० ४ मं० २२-२३॥ द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सहस्थितौ। तयो जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥६९२॥ केवलं साक्षीरूपेण विनाभोगं महेश्वरः। प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥६९३॥ यथा काशो घटाकाशमहाकाशप्रभेदतः। कल्पितः परचिज्जीवः शिवरूपेण कल्पितः ॥६९४॥ ब्रह्मगी० अ० ७ श्लोक ४९, ५०, ५१॥

अर्थ-पर ब्रह्म रूप चेतन में जीव कल्पित है।

कार्य कारणोपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेदोऽपि दृश्यते। कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ॥६९५॥

त्रिपाद्विभूतिमहानाराय० अ० ४॥

अर्थ—कार्य कारण उपाधि के भेद तैं जीव ईश्वर का भेद भी प्रतीत होता है। कार्य उपाधि इस जीव की है और कारण उपाधि ईश्वर की है ॥६९५॥

ईश्वरस्य महामाया तदाज्ञावशवर्तिनी। तत्संकल्पानुसारिणी विविधानंत महामाया शक्ति संसेवितानंतमहामाया जालजननमन्दिरा महाविष्णोः क्रीडा शरीर रूपिणी ब्रह्मादिनामगोचरा ॥६९६॥

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० अ० ४॥

अर्थ—ईश्वर की उपाधि महामाया है तिस ईश्वर की आज्ञा में वश में वर्तने वाली है। तिस ईश्वर के संकल्प के अनुसार रहिने हारी है। तिस महामाया की नाना प्रकार की अनन्त शक्ति हैं तिस अनन्त शक्ति प्रधान महामाया को ईश्वर संसेवित है अर्थात भोगता है। सो माया इंद्रजाल की न्याई इस ब्रह्मांड रूप मंदिर को उत्पन्न करति है। और सो ईश्वर के क्रीडा शरीर रूप महामाया महाविष्णो ब्रह्मा शिव के अगोचर हैं ॥६९६॥

एतां महामाया तरन्त्येव ये विष्णुमेव भजंति नान्ये तरंति कदाचिन। विविधो पायैरपिअविद्याकार्यण्यन्तःकरणान्यतत्य कालानन्तु तानिजायंते ६९७

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० अ० ४॥

अर्थ—यह महामाया को वोह पुरुष तरेंगे जो विष्णु को ही भजते भजेगें अर्थात विना

विष्णु की भक्ति से इस माया को कदाचित भी अन्य उपाय से नहीं तरेंगे । और विविध उपाओं से भी अविद्या का कार्य अन्तःकरण नहीं नाश होगा काल की गति अनुसार उत्पन्न होता ही रहैगा ॥६९७॥

ब्रह्म चैतन्यं तेषु प्रतिबिंबितं भवति । प्रतिबिंबा एव जीवा इति कथ्यते ६९८

त्रिपाद्विभूतिमहानारायोप० अ० ४ ॥

अर्थ—तिस अन्तःकरण में ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिंब होता है । प्रतिबिंब को ही जीव इस नाम से कथन करते हैं ॥६९८॥

अन्तःकरणोपाधिकाः सर्वे जीवा इत्येवं वदंति । महाभूतोत्थसूक्ष्मङ्गो-पाधिकाः सर्वे जीवा इत्येकेवदंति ६९९

त्रिपाद्विभूति० अ० ४ ॥

अर्थ—अन्तःकरण उपाधि वाला जीव है सर्व लोक इस प्रकार ही कथन करै हैं । और शब्द स्पर्श रूप रस गंध रूप सूक्षम महा भूतों की उपाधि वाले सर्व जीव है इस प्रकार एक कथन करते हैं ॥६९९॥

बुद्धि प्रतिबिंबित चैतन्यं जीवा इत्यपरे मन्यंते । एतेषामुपाधिनामत्यंत भेदो न विद्यते । सर्व परिपूर्णो ना-रायणः ॥७००॥

अर्थ—बुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिंब जीव है इस प्रकार कोईक मानते हैं । इस प्रकार उपाधियों का अत्यंत भेद नहीं है । सर्वत्र नारायण परिपूर्ण हैं ॥७००॥

प्रकृति त्वं ततः सृष्टं सत्त्वादिगुण साम्यतः । सत्यमा भाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिंबवत् ॥७०१॥

सरस्वतीरहस्योपनिषत् मं० १२ ॥

अर्थ—इस संसार को सत्त्वो आदिक गुणों करके प्रकृति ही तिस जगत को उत्पन्न करे है । जैसे दर्पण में प्रतिबिंब की न्याईं प्रकृति में चेतन की छाया कहिये चेतन का प्रतिबिंब सें सत्य की न्याईं प्रतीत होती है ॥७०१॥

तेन चित्प्रतिबिंबेन त्रिविधा भाति स पुनः । प्रकृत्य वच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्चते ॥७०२॥

अर्थ—तिस प्रकृति विषे चेतन के प्रतिबिं[illegible] करके तीन प्रकार की पुनः सो माया प्रती[illegible] होनेलगी । प्रकृति वच्छिन्न पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता भया ॥ ७०२ ॥

शुद्ध सत्त्व प्रधानायां मायायां बिंबितो ह्यजः । सत्त्वप्रधाना प्रकृति-र्मायेति प्रतिपाद्यते ॥७०३॥

सरस्वतिरहस्योप० मं० १४ ॥

अर्थ—शुद्ध सत्त्वो गुण की प्रधानता सें माया बिंब तें अज । सत्त्व गुण की प्रधानता सें प्रकृति माया इस नाम सें कथन करते हैं ॥ ७०३ ॥

सा माया स्ववशोपाधिः सर्वज्ञस्ये-श्वरस्य हि । वश्यमायत्वमेकत्व सर्व-ज्ञत्वं च तस्य तु ॥७०४॥

सरस्वती रहस्योप० मं० १५ ॥

अर्थ—सो माया ईश्वर का उपाधि रूप होने से ईश्वर के अधीन है । सो माया उपाधि वाला ईश्वर सर्वज्ञ है । ईश्वर के माया वश्य वर्ति होने से माया एक है तिस ईश्वर में सर्वज्ञता है ७०४

सात्त्विकत्वात्समष्टि त्वात्साक्षित्वा-

जगतामपि । जगत्कर्तुमकर्तुं वा चान्यथा कर्तुमीशते ॥७०५॥

सरस्वतीरहस्योप मं० १६ ॥

अर्थ—सत्त्वोगुण होने तैं समष्टि रूप होने तैं सर्व जगत का साक्षि रूप होने तैं भी। जगत का कर्ता और अकर्ता अथवा अन्यथा करने को जो समर्थ होवे सो ईश्वर है ॥७०५॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः ॥७०६॥ तृतीय मुण्डको० खण्ड १ मं०२

अर्थ—उक्त प्रकार के शरीर रूप एक वृक्ष विषे पुरुष जो भोक्ता जीव है । सो अविद्या काम कर्म के फल रागादिक रूप बड़े बोझा से दुःखी हुआ समुद्र में तूंबें की न्याई निमग्न भया है कि देह विषे आत्मभाव को प्राप्त भया है । और मैं अमुक का पुत्र हूं । अमुक का पौत्र हूं । पतला हूं मोटा हूं गुण वाला हूं गुण रहित हूं । सुखी हूं । दुःखी हूं । इस प्रकार का ज्ञान जिस को होवे है । इस तैं अन्य ज्ञान नहीं । या तैं मोह को प्राप्त हुआ अनेक प्रकार के अनर्थों से अविवेकी होने तैं मैं किसी भी कार्य के करने विषे समर्थ नहीं हूं । मेरा पुत्र मर गया है मेरी भार्या मर गई है अब मुझ को जीवने से किया प्रयोजन है । इस प्रकार की दीन भाव अनीशा से सन्ताप रूप शोक को प्राप्त होता है । ऐसे कभी शुभ कर्म के निमित्त तैं किसी दयालु गुरु ने दिखाये योग मार्ग विषे अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य सर्व का त्याग शम दमादिक साधन युक्त एकाग्रचित्त वाला हुआ जिस काल विषे सेवन किये देह वृक्ष रूप उपाधि के लक्षण तैं अन्य विलक्षण क्षुधा तृषा शोक मोह जरा मरण से रहित असंसारी ईश्वर को आपना आत्मा रूप कर के साक्षात्कार करता है । तब मैं सर्व जगत का आत्मा हूं सर्व में समान हूं सर्व जगत मेरे में ही स्थित है तथा मेरा ही स्वरूप है । इस प्रकार की विभूति कहिये आपनी महिमा को देखिता है तब वीत शोक होवे है ॥७०६॥

अहमात्मागुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्चमध्यं च भूतानामंत एव च ॥

गी० अ० १० श्लोक २० ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः ॥७०७॥ श्वेतश्वतरोपनि० अ० ४ मं० ७

लोहित शुक्ल कृष्ण गुणमयि गुणसाम्यानिर्वाच्या मूल प्रकृतिरासीत । तत्प्रतिबिंबितं यत्तत्साक्षि चैतन्यमासीत ॥७०८॥ पैङ्गलोपनिषत् अ०१ ॥

अर्थ—लोहित शुक्ल कृष्ण इन तीन गुणमयि माया सम गुण वाली तथा अनिर्वचनीय है तथा मूल प्रकृति इस नाम वाली है तिस में प्रतिबिम्बित जो है सो साक्षी चैतन्य है ॥७०८॥

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्यावरण शक्तिरासीत । तत्प्रतिबिंबतं यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत ॥७०९॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० १ ॥

अर्थ—सो सम गुण वाली प्रकृति ईश्वर इच्छा से पुनः विकृति रूप को प्राप्त होती भई । शुद्ध सत्त्वोगुण मय अव्यक्त माया शक्ति है । तिस में चैतन्य का प्रतिबिम्बित यत्तत ईश्वर चैतन्य है ॥७०९॥

स स्वाधीनमायाः सर्वज्ञः सृष्टिस्थिति लयानामादि कर्ता जगदङ्कुर-रूपो भवति। स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगदविर्भावयति ॥७१०॥

पैङ्गलोपनिषत् अ० १॥

अर्थ—तिस ईश्वर के सो माया स्वाधीन है तथा ईश्वर सर्वज्ञ है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि का करता है। जगत का अंकुर रूप होता है। प्रलय काल में आपने में ही सर्व को लय कर लेता है। फिर उत्पत्ति काल में अविर्भाव कर देता है ॥७१०॥

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सहस्थितौ। तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥७११॥

रुद्रहृदयोपनिषत् मं० ४१॥

अर्थ—इस शरीर रूपी वृक्ष में जीव ईश्वर दो पक्षी एकट्ठे ही स्थित हैं तिन दोनों में शुभाशुभ कर्म का फल सुख दुःख जीव भोक्ता है और महेश्वर नहीं भोक्ता ॥७११॥

केवलं साक्षि रूपेण विना भोगं महेश्वरः। प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयो ॥७१२॥

रुद्रहृदयोपनिषत् मं० ४२॥

अर्थ—महेश्वर तो केवल साक्षि रूप करिकै विना भोग के स्थित प्रकाशमान ही है। तिन दोनों जीव ईश्वर का भेद माया करिकै कल्पित है ॥७१२॥

घटाकाश मठाकाशौ यथाकाशप्रभेदतः। कल्पितौ परमौ जीव शिवरूपेण कल्पितौ ॥७१३॥ रुद्रहृदयोपनिषत् मं० ४३॥

अर्थ—जीव ईश्वर का भेद घटाकाश मठाकाश का भेद जैसे महाकाश में भेद कल्पित है। तैसे परम शिव रूप में जीव कल्पित है ७१३

सुपर्णा वेतौ सदृशौसखायौ यदृच्छैयै तौ कृतनीडौ च वृक्षे। एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न मन्यो निरन्नोऽपिबलेन भूपान ॥७१४॥

अर्थ—दोनों पक्षी चेतन रूप से समान हैं दोनों मित्र हैं अपनी इच्छासे एक देह रूप वृक्ष में बैठे हैं इन में एक तो इस देह के फल को भोगता है दूसरा साक्षी हुआ देखता है भोगता नहीं। तौ भी ज्ञान शक्ति से अति बलिष्ठ है इस प्रकार एक ही रूप दोनों है कर्म विरुद्ध करते हैं ॥७१४॥

आत्मानमन्यं च सवेद विद्वान पिप्पलादौ न तु पिप्पलादः। योऽविद्यया युक्स तु नित्यबद्धो विद्यामया यः स तु नित्यमुक्तः ॥७१५॥

श्रीभाग० स्कंध ११ अ० ११ श्लोक ६,७॥

अर्थ—जो परमात्मा ईश्वर साक्षी है वह अपने स्वरूप को तथा जीव के स्वरूप को भी जानता है। और जीवात्मा ना आप को जानता है। न ईश्वर को जानता है। वह जीव अज्ञ है इस लिये जो अविद्या युक्त है सो नित्य ही बद्ध है। जो विद्या संयुक्त है सो नित्य मुक्त है ७१५

तथा मैं पूर्वोक्त ईश्वर ही सर्व जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूं। जैसे ऊर्णनाभि जंतु अपने मुख तैं तार को सृजता है। तथा ग्रहण कर लेता है। तैसे मैं ईश्वर भी सर्व स्थावर जंगम रूप जगत को अपनी माया रूप शक्ति द्वारा उत्पन्न करिकै कल्प के अन्त में सर्व

को अपने विषे लय कर लेता हूं। तहां श्रुति—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णाति च यथा पृथिव्यामौषधयः संभवंति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवंतीह विश्वम् ॥७१६॥

मुंडक प्रथमः खंडा मं० ७॥

अर्थ—जैसे लोक विषे प्रासिद्ध ऊर्णनाभि नामक कीट किसी अन्य कारण की अपेक्षा से विना ही अपने मुख तैं शरीर तैं अभिन्न तंतुयों को सृजता है। तदनंतर ग्रहण करता है। तथा जैसे पृथिवी विषे तंडुल सें आदि लै कै वृक्षादिक रूप स्थावर पर्यंत जो औषधियां हैं। ते सर्व पृथिवी के स्वरूप सें अभिन्न ही उत्पन्न होवै हैं। तथा जैसे जीव ते हुये पुरुष तैं नख केश तथा रोम विलक्षण उत्पन्न होवै हैं। इस दृष्टांत की न्याईं। तैसे ही अन्य निमित्त की अपेक्षा सें विना ही सतचिदानन्द स्वरूप परमात्मा देव रूप अक्षर तैं इस संसार मंडल विषे विपरीत लक्षण वाला और समान लक्षण वाला संपूर्ण विश्व उत्पन्न होवै है ॥७१६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृहणते च सुरर्षभाः। यथा पृथिव्यामौषधयः संभवंति यथासत्तः ॥७१७॥ पुरुषात्केशलोमानि यथा चैवाक्षरात्सुराः। विश्वं संभवतीहैव तत्सर्वं स्वपनोपमम् ॥७१८॥

ब्रह्मगीता अ० ७ श्लोक ८, ९ अर्थस्पष्ट॥

अब आत्मज्ञान की प्राप्ति वास्तैं योग रूप साधनों का निरूपण करै हैं। हे देवताओ! जिस अधिकारी पुरुष को आत्मा के साक्षात्कार की इच्छा होवै है। सो अधिकारी पुरुष प्रथम या चारी अवस्था वाले योग को करै। तिन चारी अवस्थाओं विषे प्रथम अवस्था यह है। जो मन सुख की कामना करिकै श्रोत्रादिक पांच ज्ञान इंद्रियों को तथा वाकादिक पांच कर्म इंद्रियों को अपने अपने व्यापारों विषे प्रवृत्त करै है। ता मन विषे यह अधिकारी पुरुष तिन श्रोत्रादिक इंद्रियों को लय करै। तात्पर्य यह है। श्रोत्रादिक इंद्रियों को व्यापारों तैं रहित केवल मन का जो व्यापार है। यह ही श्रोत्रादिक इंद्रियों का मन विषे लय है। या प्रकार की ता योग की प्रथम अवस्था है।

दृष्टांत—जैसे या लोक विषे अश्वों को शिक्षा करने हारा पुरुष तिन दुष्ट अश्वों को ज्ञा बाह्य भूमी तैं लियाय कै। अन्तर अश्व शाला विषे बांधे है। तहां तिन दुष्ट अश्वों का जो बाह्य भूमी विषे नाना प्रकार का व्यापार था तिस सर्व व्यापार का निरोध होवै है। केवल ता अश्वों के शरीर मात्र का चलन रूप व्यापार बाकी रहै है। तैसे यह अधिकारी पुरुष जभी तिन श्रोत्रादिक इंद्रियों को अन्तर मन विषे लय करै है। तभी ता मन का पूर्व श्रोत्रादिक इंद्रिय रूप करिकै जो बाह्य नाना प्रकार का व्यापार था सो संपूर्ण व्यापार निरोध होवै है। किंतु ता मन का केवल शरीर करिकै अन्तर ही व्यापार रहै है। अब ता योग की दूसरी अवस्था का निरूपण करै हैं। सो मन कैसा है। यह वस्तु हमारे को प्राप्त होवै यह वस्तु हमारे को नहीं प्राप्त होवै। या प्रकार की इच्छारूप मन है। तथा सो मन गर्व युक्त है। इस वास्तैं प्रमत्त हस्ति की न्याईं सो मन बलात्कार सें सर्वदा प्रमाद करने विषे ही उद्यम करै है। और जैसे या लोक विषे महावत पुरुष ता प्रमत्त हस्ति को लोह

के तीक्ष्ण अंकुश करिकै अपने वशवर्ति करै है। तैसे अधिकारी पुरुष भी ता मन रूप प्रमत्त हस्ति को वैराग्य युक्त निश्चयात्मक बुद्धि रूप अंकुश करिकै अपने वशवर्ति करै तात्पर्य यह है। ता इच्छा रूप मन का निश्चय रूप बुद्धि विषे लय करै। अब तीसरी चतुर्थ या दोनों अवस्थओं का निरूपण करै हैं। ता निश्चय रूप व्यष्टि बुद्धि को यह अधिकारी पुरुष हिरण्य गर्भ की महतत्त्व रूप समष्टि बुद्धि विषे लय करै। कैसी है सामहतत्त्व रूप समष्टि बुद्धि अस्मिया समान ज्ञान रूप है। तथा समान रूप करिकै सर्व जगत को विषय करने हारी है। या कारण तैं ही विशेष रूप करिकै जगत को विषय करने हारी या जो व्यष्टि बुद्धियां हैं तिन सर्व व्यष्टि बुद्धियों का समष्टि बुद्धि कारण रूप है। और ता समान ज्ञान रूप समष्टि बुद्धि को यह अधिकारी पुरुष मैं आनन्द स्वरूप आतमा विषे लय करै। हे देवताओ! यह अधिकारी पुरुष श्रोत्रादिक इंद्रियों को मन विषे लय करै हैं। और ता समष्टि बुद्धि को मैं परमात्मा देव विषे लय करै। या प्रकार की योग की चारी अवस्था जो श्रुति नैं संक्षेप तैं कथन करी हैं। तिन चारी अवस्थाओं के स्पष्ट करने वास्तैं शास्त्र वेत्ता बुद्धिमान पुरुष या प्रकार की युक्तियां कथन करै हैं। श्रोत्रादिक पांच ज्ञान इंद्रिय तथा वाकादिक पांच कर्म इंद्रिय या दोनों प्रकार के इंद्रियों की जो शुभाशुभ व्यापार विषे प्रवृत्ति होवै है। सो सुख की प्राप्ति की कामना करिकै ही प्रवृत्ति होवै है। तहां इंद्रियों के प्रवृत्ति का कारण रूप जो यह सुख के प्राप्ति की इच्छा है। तथा ता इच्छा के उत्पत्ति का कारण रूप जो यह वस्तु रमणीक है। या प्रकार का स्मृति रूप ज्ञान है। ते दोनों केवल मन का विलास रूप करिकै ही स्थित हैं। या तैं ते दोनों मन तैं भिन्न नहीं या कारण तौं श्रोत्रादिक इंद्रियों का मन विषे लय संभवै है।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चराति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शांति मधिगच्छति ॥७१९॥

गी० अ० २ श्लोक ७१॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष सर्व कामनओं को परित्याग करिकै निःस्पृह हुआ तथा निर्मम हुआ तथा निरहंकार हुआ विचरै है सो स्थित प्रज्ञ ता शांति को प्राप्त होवै है ॥७१९॥

यः सर्वत्रानभि स्नेहस्तत्तत्प्राप्यशुभाशुभम्। नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥७२०॥

गी० अ० २ श्लोक ५७॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो विद्वान पुरुष देहादिक सर्व पदार्थों विषे स्नेह तैं रहित है तथा तिस तिस प्रिय अप्रिय विषय को प्राप्त होइकै नहीं प्रशंसा करै है। नहीं द्वेष करै है तिस विद्वान पुरुष की प्रज्ञास्थिति होवै है ॥७२०॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः। इंद्रियणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥७२१॥

गी० अ० २ श्लो० ५८॥

अर्थ—हे अर्जुन! जैसे कूर्म अपने शिरपादादिक अंगों को संकोच करै है। तैसे यह विद्वान पुरुष जिस काल विषे आपने सर्व इंद्रियों को शब्दादिक विषयों तैं पुनः संकोच करै है तिस काल विषे तिस विद्वान पुरुष की प्रज्ञा स्थित होवै है ॥७२१॥

इस प्रकार सुख की इच्छा रूप तथा स्मृति ज्ञान रूप जो मन है। ता मन की उत्पत्ति निश्चय रूप बुद्धि तैं विना होवै नहीं। किंतु निश्चय रूप बुद्धि तैं ही ता इच्छा रूप मन की उत्पत्ति होवै है। काहे तैं जिस पुरुष को पूर्व सो निश्चय रूप बुद्धि नहीं भई। तिस पुरुष को सो सुख की इच्छा तथा ता इच्छा का कारण रूप सो स्मृति रूप ज्ञान होवै नहीं। किंतु पूर्व अनुभव रूप निश्चय ही संस्कार द्वारा ता स्मृति ज्ञान का तथा इच्छा का कारण होवै है। इस वास्तैं ता मन का निश्चय रूप बुद्धि विषे लय संभवै है। और सो मन का कारण रूप व्यष्टि बुद्धि अपनी उत्पत्ति विषे ता हरण्यगर्भ की समष्टि बुद्धि की अपेक्षा करै है। या तैं ता हरण्य गर्भ की समष्टि रूप समान्य बुद्धि या व्यष्टि रूप विशेष बुद्धि का कारण होवै है जैसे तलावादिकों के जलों का मेघों विषे स्थित जल कारण होवै है। तैसे हरण्य गर्भ की इच्छा का कारण रूप जो समष्टि समान बुद्धि है। ता समष्टि बुद्धि इन सर्व जीवों के व्यष्टि बुद्धि का कारण होवै। तात्पर्य यह है। जैसे निद्रा विषे सोया हुआ पुरुष अपने बुद्धि के बल तैं अकाशादिक पांच भूतों को उत्पन्न करै है। तथा जरायुज अंडज स्वेदज उद्भिज्ज या चारी प्रकार के शरीरों को उत्पन्न करै है। इस प्रकार तिन सर्व शरीरों को उत्पन्न करै है। सो स्वप्न द्रष्टा पुरुष ही तिन सर्व पदार्थों विषे स्थित होवै है। तैसे हरण्य गर्भ भगवान भी अपने समष्टि बुद्धि के बल तैं या जड चेतन रूप जगत को उत्पन्न करिकै ता स्थावर जंगम रूप शरीरों विषे आप ही स्थित होवै है। या तैं जैसे मठाकाश विषे स्थित घटाकाश मठाकाश रूप ही होवै है। तैसे इन जीवों की व्यष्टि बुद्धि ता हरण्य गर्भ की समष्टि बुद्धि रूप ही होवै है। या कारण तैं व्यष्टि बुद्धि का तथा समष्टि बुद्धि का मयाविशिष्ट मैं परमात्मा देव ही उपादान कारण हूं। या कारण तैं ता समष्टि बुद्धि का मैं माया विशिष्ट ईश्वर विषे लय संभवै है। और जैसे या लोक विषे त्वचा रूप कंचक करिकै विशिष्ट जो ब्रीही है। तिन ब्रीहयों विषे ही बीज रूपता होवै है। त्वचा रूप कंचुक तैं रहत तिन ब्रीहीयों विषे बीज रूपा ता संभवै नहीं। तैसे अविद्या रूप कंचुक करिकै विशिष्ट जो मैं आत्मादेव हूं। अविद्या करके विशष्ट मैं आत्मा विषे ही या जगत् की कारणरूपता होवे है। अविद्यारूप कंचुकतैं रहित शुद्ध मैं आत्मा विषे या जगत की कारण ता संभवै नहीं। और मैं अद्वितीय ब्रह्म रूप हूं। या प्रकार के आत्म साक्षात्कार करके जभी ता अविद्यारूप कंचुक का नाश होवे है। तहां श्रुति—

तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा। नश्यति क्रिय्या विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥७२२॥

महोपनिषद् अ० ५ मं० १८५॥

अर्थ—जैसे तण्डुलों के ऊपर तुष्यरूप चर्म होता है। तथा जैसे तांम्र में कालापन होता है। जैसे क्रिया से हे विप्र तुष तथा तांम्र का कालापन भी निवृत्त हो जाता है। तैसे पुरुष के स्वरूप में अविद्यारूप मल अवरण है ७२२

जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्। नश्यत्येव न संदेहस्तस्माद् घोगवानभवेत् ॥७२३॥

महोपनि० अ० ५ मं० १८६॥

अर्थ—जीवके स्वरूप में तण्डुलों की न्याईं

अवरण है ज्ञान से निवृत्त होता है। इसमें संदेह नहीं है नाश हो जाता है। तिस कारण तैं तुम उद्योग वाला ही होवे ॥७२३॥

तभी ता हिरण्यगर्भ की समष्टि बुद्धि का माया विशिष्ट मैं ईश्वर कारण हूं। या प्रकार का चिंतन जो अधिकारी पुरुष सर्वदा करे है। तथा जिस अधिकारी पुरुष नैं व्यष्टि अभिमान का परित्याग करके समष्टि अभिमान को धारण किया है। तथा जिस अधिकारी पुरुष के अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों करके सम्पूर्ण पाप कर्म रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति भई है। तहां श्रुति—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयो नावुपशांम्याति। तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यात्ति ॥७२४॥

मैत्रायण्युपनिषद् ४ परपाठक मं० १॥

अर्थ—जैसे काष्ट रहित अग्नि स्वभाविक ही शांति को प्राप्त हो जाती है। तैसे मन की सर्व वृत्तियां क्षय होजाने से चित स्वभावक ही शांति को प्राप्त हो जाता है ॥७२४॥

स्वयो नावुपशांतस्य मनसः सत्यगामिनः। इन्द्रियार्था विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥७२५॥

मैत्रायण्युपनिषद् परपाठक ४ मं० २॥

अर्थ—जब मन स्वभाविक शांति को प्राप्त होता है तब मन सत्यमार्ग में गामि होता है। और इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त मन मूढ़ता को प्राप्त होता है तथा असत्य को ग्रहण करता है तथा शुभाशुभ कर्मों के अधीन होता है ७२५॥

चित्तमेव हिसंसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत। यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥७२६॥

मैत्रायण्युपनिषद् परपाठक ४ मं० ३॥

अर्थ—यह चित्तरूप ही संसार है तिस चित्त को अत्यन्त प्रयत्न करके शोधन करो। जैसा चित्त होता है तदरूप ही होता। यह गुह्य सनातन धर्म है ॥७२६॥

चित्तस्यहि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥७२७॥

मैत्रायण्युपनिषद् परपाठक ४ मं० ४॥

अर्थ—मन के प्रसाद करके ही सर्व शुभाशुभ कर्मों को नाश करता है। जब निशकाम कर्मों से मन की मल निवृत्त होवे है। तब प्रसन्नात्मा स्वरूप में स्थित हुआ अव्यय सुख को प्राप्त होता है ॥७२७॥

समासक्तं यदा चित्तं जंतो विषय गोचरे। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्कोन मुच्येत् बन्धनात् ॥७२८॥

मैत्रायण्युपनिषद् परपाठक ४ मं० ५॥

अर्थ—जैसे जीवों का मन शब्दादिक विषय में असक्त है। तैसे ही विषयों की न्यांई ब्रह्म में असक्त होवे तो कौन पुरुष बन्धनों तैं मुक्त नहीं होता किन्तु सर्व ही मुक्त होजावे ७२८

मनोहि द्विविधंप्रोक्तं शुद्धं चा शुद्धमेवच। अशुद्धंकाम सकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम् ॥७२९॥

मैत्रायण्युपनिषद् परपाठक ४ मं० ६॥

अर्थ—मन दो प्रकार का ही श्रुति कथन करे है। शुद्ध तथा अशुद्ध है अशुद्ध मन काम संकल्प युक्त है। और काम संकल्प से रहित

मन शुद्ध है ॥७२९॥

लयविक्षेप रहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्। यदायात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥७३०॥

मैत्रायण्युपनिषद् परपाठक ४ मं० ७॥

अर्थ—मन के एकाग्रता के विरोधि जो लय है विक्षेप हैं तिन से मन को रहित करके निश्चल करो। जिस काल में मन अमनी भाव को प्राप्त होवेगा तिसकाल में सो विद्वान परम पद को प्राप्त होता है ॥७३०॥

यदा सर्वेप्रमुच्यंते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः। अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥७३१॥

बृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मण मं० ७॥

अर्थ—जिसकाल विषे जो इस जीव के हृदय में स्थित सर्व कामना नाश भाव को प्राप्त होवे हैं। तब जन्म-मरण को प्राप्त होता हुआ यह जीव अमृत भाव को प्राप्त होता है सो घटाकाश की न्याईं व्यापक ब्रह्म को अभेदरूप से प्राप्त होता है ॥७३१॥

ऐसे उत्तम अधिकारी पुरुष को ही गुरू शास्त्र के उपदेश तैं मैं अद्वितीय ब्रह्मरूप हूं या प्रकार का आत्मज्ञान प्राप्त भया है। कैसा है सो आत्मज्ञान भेद दर्शन रूप पर्वतों को इन्द्रके वज्र के समान भेद न करने हारा ही है। तहां श्रुति—

अहंब्रह्मास्मि मंत्रोऽयमनात्मासुर मर्दनः। अहंब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्मा ख्यगिरीन् हरेत् ॥७३२॥

तेजोबिंदूप० अ० ३ मं० ७१॥

अर्थ—अहंब्रह्मास्मि यह मन्त्र अनात्मारूप असुरों को मर्दन करने वाला है। तथा अहंब्रह्मास्मि यह जो वज्र है। अनात्मारूप पर्वतों को नाश करने वाला है ॥७३२॥

हे देवताओ! मैं ब्रह्मरूप हूं या प्रकार का ब्रह्मज्ञान जिसकाल विषे या अधिकारी पुरुष को प्राप्त होवे है। तिस कालविषे या अधिकारी पुरुष की आत्माश्रय अविद्या का नाश होवे है। और जिस काल विषे ता अविद्या कारण का नाश होवे है। तिस कालविषे ता समष्टि बुद्धि का नाश होवे है। और जिस कालविषे ता समष्टि बुद्धिरूप कारण का नाश होवे है। तिसी कालविषे या व्यष्टि बुद्धि का नाश होवे है। और जिस काल विषे ता व्यष्टि बुद्धिरूप कारण का नाश होवे है। तिसी कालविषे या इच्छारूप मन के प्रवृत्ति का अभाव होवे है। और जिस कालविषे इच्छा रूप मन के प्रवृत्ति का अभाव होवे है। तिसी कालविषे श्रोत्रादिक इंद्रियों के प्रवृत्ति का अभाव होवे है। और शब्दादिक विषयों विषे जो श्रोत्रादिक इंद्रियों की प्रवृत्ति है सो प्रवृत्ति ही या जीवों को अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त करे है। यातैं जिस कालविषे तिन श्रोत्रादिक इंद्रियों के प्रवृत्ति का अभाव होवे है तिसी काल विषे या अधिकारी पुरुष को किंचितमात्र भी दुःख की प्राप्ति होवे नहीं। तिस तैं अनंतर यह अधिकारी पुरुष मन वाणी का अविषय जो मैं आनंदस्वरूप स्वयं ज्योति अद्वितीय आत्मा हूं। मैं अद्वितीय आत्मा को अभेदरूप करके प्राप्त होवे है। मैं अद्वितीय आत्मा की प्राप्ति करके ही या विद्वान पुरुष को शास्त्रवेत्ता पुरुष कुशल अंतदेह आश्चर्य या नामों करके कथन करे हैं।

अब सूर्य के दृष्टांत करके अविद्या की निवृत्ति का निरूपण करे हैं। जैसे या लोक विषे सूर्य के उदय हुये रात्रि की निवृत्ति होवे है। तैसे ब्रह्मानंदरूप सूर्य का है उदय जिस विषे ऐसी जो ब्रह्माकारवृत्ति है। ता ब्रह्माकारवृत्तिके उत्पन्न हुये यह कारण अविद्या सहित संसार दुःखरूप रात्रि की निवृत्ति होवे हैं। तात्पर्य यह है। जैसे सूर्य उदयाचलपर्वत ऊपर अरूढ होइके रात्रि के अंधकार की निवृत्ति करे है। तैसे मैं आनंद-स्वरूप स्वयं ज्योति आत्मारूप सूर्य भी अंतः-करण की वृत्तिरूप उदयाचल पर्वत के ऊपर अरूढ होइके अविद्यारूप अंधकार का नाश करूं हूं। ऐसे स्वयं ज्योति मैं आनंदस्वरूप आत्मा को सूर्य चंद्रमा तारागण विद्युत अग्नि इत्यादिक तेज प्रकाश कर सके नहीं। किंतु उलटा मैं स्वयं ज्योति-आत्मादेव ही तिन सूर्यादिकों को प्रकाशक करूं हूं। जैसे स्वभाव तैं अप्रकाशरूप लोह का पिंड प्रकाशमान अग्नि को आश्रय कर के पश्चात् प्रकाशमान होवे है। तैसे यह जड चेतनरूप जगत भी स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को आश्रयण करके ही पश्चात प्रकाशमान होवे है। और जैसे स्वभाव तैं प्रकाश शक्ति तैं रहित जो तैल वत्ती आदिक पदार्थ हैं। ते तैल वत्ती आदिक पदार्थ दीपक शिखा के प्रकाश तैं अनंतर ही प्रतीत होवे है। तैसे स्वभाव तैं प्रकाशशक्ति तैं रहित जितना बुद्धि आदिक जगत है। ते संपूर्ण जगत भी स्वयं ज्योति मैं आत्मा के प्रकाश तैं अनंतर ही प्रतीत होवे है। तहां श्रुति-

न तत्र सूर्य्योभाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः। तमेव भांत मनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥७३३॥

मुंडकोप० द्वि० मु० खं० २ मं० १० ॥

अर्थ—जिस अपने आत्मारूप ब्रह्म को सर्व का प्रकाशक सूर्य भी भासता नहीं कहिये प्रकाशता नहीं। सो सूर्य तिसी ही ब्रह्म के प्रकाश तैं इतर अनात्मा के समूह को प्रकाशता है। तैसे तिस आत्मा को चंद्रमा भी भासता नहीं। तथा तारागण भी भासता नहीं। और यह विजलियां भी भासतियां नहीं। तब यह हमारे चक्षु का विषय जो अग्नि है सो कहां से भासेगा। बहुत क्या कहैं यह सर्व जगत आत्मा के प्रकाश से पीछे प्रकाशता है। तिस आत्मा के प्रकाश से ही यह सर्व जगत तथा सूर्यादिक ज्योति भासते हैं ॥७३३॥

न तत्र सूर्योभाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः। तमेव भांत मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥७३४॥ श्वेताश्वतरोपनिषत् अ० ६ मं० १४॥ **न तत्र सूर्यश्चंद्रश्च तारका विद्युतोऽनलः। विभांति शंकरे साक्षात्स्वयंभाने चिदात्मके ॥७३५॥ तमेव सकलं भांत मनुभाति स्वभावतः। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति तत एव हि ॥७३६॥** ब्रह्मगीता अ० ७ श्लोक ४५-४६ ॥ **तेषामेवानुकंपार्थ महमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपे न भास्वता ॥७३७॥** गी० अ० १० श्लोक ११ ॥

अर्थ—हे अर्जुन तिन भक्तजनोंके अनुग्रह अर्थ तिनों के आत्माकार वृति विषे स्थित हुआ

में परब्रह्म चिदाभास युक्त तिस वृत्ति ज्ञान रूप दीपक करके तिनों के अज्ञान जन्य आवरणरूप तम को नाश करूं हूं ॥ ७३७ ॥

शंका—हे भगवन! जो पदार्थ अप्रकाशमान होवे है। सो पदार्थ ही अपणे प्रकाश वास्तैं दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करे हैं। जैसे घटादिक पदार्थ अप्रकाशमान हैं। यातैं ते घटादिक अपणे प्रकाश वास्तैंसूर्यादिक प्रकाशों की अपेक्षा करे हैं और यह सूर्यादिक तेज तो आप ही प्रकाश रूप है यातैं तिन सूर्यादिक तेजों को दूसरे किसी प्रकाश की अपेक्षा नहीं संभव है ॥ समाधान—हे देवताओ! एक प्रकाश दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं होवै है। या प्रकार का नियम सर्वत्र संभवै नहीं। काहे तैं जैसे तेज रूप जो चक्षु इंद्रिय है। सो चक्षु इंद्रिय सूर्यादिक तेज की अपेक्षा करै है और सूर्यादिक तेज भी स्वयं ज्योति मैं आत्मा की अपेक्षा करिकै ही पदार्थों का प्रकाश करै। तात्पर्य यह है। जड तेज रूप करिकै सूर्य के समान जाति वाले जो चक्षु इंद्रिय हैं। सो चक्षु इंद्रिय जभी घटादिक पदार्थों के प्रकाश करने वास्तैं सूर्यादिक रूप जड तेज की अपेक्षा करै हैं। तभी जड रूप करिकै मैं चेतन आत्मा तैं विलक्षण जो सूर्यादिक तेज हैं ते सूर्यादिक जड तेज अपने व्यवहार की सिद्धि वास्तैं मैं चेतन रूप प्रकाश की अपेक्षा करै है। या के विषे क्या कहना है। इतने करिकै मैं अद्वितीय आत्मा रूप ब्रह्म विषे स्वयं ज्योति रूपता[1] निरूपण करी। अब विषयों विषे राग के अभाव सें ज्ञान की नियम करिकै उत्पत्ति होवै है विषयों में राग के सदभाव सें ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव कथन करै हैं। या जीवों के चित्त विषे उत्पन्न भया जो विषयों का राग है। सो राग जब पर्यंत ता विषयों को नहीं प्राप्त होवै है। तब पर्यंत सो राग या जीवों के चित्त को सर्व ओर तैं निरुद्ध करिकै स्थित होवै है। ता चित्त विषे दूसरे विषय का प्रवेश होने देवै नहीं। जैसे लोक विषे स्त्री के उदर विषे जब पर्यंत बालक रहै है। तब पर्यंत सो बालक ता स्त्री के उदर विषे दूसरे बालक का प्रवेश होने देवै नहीं। किंतु सो बालक जभी ता स्त्री के उदर तैं बाहिर निकसै है। तभी ही ता स्त्री के उदर विषे दूसरे बालक का प्रवेश होवै है। तैसे या जीवों के चित्त विषे भी जब पर्यंत एक विषय का राग होवै है। तब पर्यंत ता चित्त विषे दूसरे विषय के राग को प्रवेश होने देवै नहीं। तात्पर्य यह है। या चित्त विषे एक विषय के राग के हुये जभी लोक प्रसिद्ध विषय भी प्रवेश नहीं कर सकै हैं तभी ता विषय रागवान के चित्त विषे अलौकिक मोक्ष की इच्छा किस प्रकार प्रवेश होवैगी। किंतु नहीं प्रवेश होवैगी। किंवा जैसे मद करिकै प्रभिन्न हुआ गंड स्थल जिस का ऐसा जो षष्टि वर्ष की अवस्था वाला कोईक युवान हस्ति है। किसी महान वन के सूक्ष्म मार्ग विषे विचिर्ता हुआ। जभी ता सूक्ष्म मार्ग के द्वार देश को निरुद्ध करिकै स्थित होवै हैं। तभी सो प्रमत्त हस्ति दूसरे मृगादिक वन के पशुवों को ता मार्ग द्वारा ता वन विषे प्रवेश करने देवै नहीं। तैसे चित्त रूपी वन के द्वार विषे जब पर्यंत यह विषयों का राग रूपी हस्ती विद्यमान है। तब पर्यंत मोक्ष की इच्छा रूप मृगादिकों को ता चित रूप वन विषे प्रवेश होने देवै नहीं। अब या अर्थ को स्पष्ट करने वास्ते प्रथम लौकिक विषयों के राग विषे दूसरे लौकिक विषयों के राग की

प्रति वंधक ता दृष्टांत। करिकै निरूवण करै है। हे देवताओ ! जैसे अनेक स्त्रीयों के मध्य विषे स्थित हुआ जो मंदोदरी का पति रावण था सो रावण जभी सीता के राग करिकै युक्त हुआ। तभी ता सीता तैं विना लोकवर्ति पदार्थों की भी इच्छा नहीं करता भया। किंतु ता एक सीता के प्राप्ति की ही इच्छा करता भया। और जैसे नलराजा विषे है संलग्न हृदय जिस का ऐसी जो दमयंती नामा स्त्री थी। सो दमयंती नामा स्त्री स्वयंवर विषे प्राप्त हुये इंद्रादिक देवताओं को भी नहीं वरती भई। किंतु सो दमयंती नामा स्त्री स्वयंवर विषे नलराजा को ही वरती भई है। इस प्रकार राग करिकै अंध हुई है बुद्धि जिनों की ऐसे दूसरे भी अनेक जीव पूर्व हुये हैं। तथा अब वर्तमान है तथा आगे होवैंगे। ते संपूर्ण रागी जीव जिस विषय के राग करिकै युक्त होवै हैं। तिन विषयों तैं विना दूसरे किसी भी विषय की इच्छा नहीं करते भये हैं। या तैं यह जान्या जावै है या जीवों के चित विषे जब पर्यंत एक विषय का राग रहै है। तब पर्यंत ता चित विषे दूसरे विषय का राग होवै नहीं। जभी जा चित्त विषे एक विषय के राग हुये दूसरे विषय का राग संभवै नहीं। तभी ता विषय रागवान चित विषे मोक्ष की इच्छा किस प्रकार होवैगी। किंतु नहीं होवैगी। अब ता आत्मा के श्रवणादिकों की दुर्लभता का निरूपण करै हैं। हे देवताओ ! अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश या पांच प्रकार के क्लेशों करिकै मोह को प्राप्त भये जो कोई पापात्मा पुरुष है तिन पापात्मा पुरुषों को तो यह आत्मा देव श्रवण करने वास्तैं भी प्राप्त होवै नहीं। या तैं सो आत्मा का श्रवण भी दुर्लभ है। और सुषुप्ति अवस्था विषे तथा मरण अवस्था विषे यह संपूर्ण जीव हृदय देश विषे स्थित मैं सत्य रूप परमात्मा के साथ अभेद भाव को प्राप्त होवै हैं। या प्रकार वेदांत वचनों का श्रवण करिकै भी कोईक पुरुष किसी प्रतिबंध के वश तैं ता आत्मा को निश्चय करिसकै नहीं। जैसे या लोक विषे किसी सत्यवादी पुरुष नैं उपदेश किया जो कोई कार्य है। ता कार्य के महान पनैं को मूढ बालक जांनि सकै नहीं। तैसे ते पुरुष आत्मा को जानि सकै नहीं। या तैं या आत्मा देव का ज्ञान भी अत्यंत दुर्लभ है। तहां श्रुति—

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्व दर्शनम्। दुर्लभासहिजाऽवस्थासद्गुरो करुणां विना ॥७३८॥

वराहोपनिषत् अ० २ मं० ७६ ॥

अर्थ—इस संसार में शब्दादिक विषयों का त्यागी पुरुष दुर्लभ है। तथा विषय त्यागी पुरुष तैं तत्त्वदर्शी पुरुष दुर्लभ है। तथा तत्त्वदर्शी पुरुषों से सहजा अवस्था वाला महात्मा दुर्लभ है। यह संपूर्ण पदार्थ सद्गुरु की कृपा से विना प्राप्त होवै नहीं ॥७३८॥

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं तत्रापि नर-विग्रहम्। ब्राह्मण्यंच महाविष्णोर्वेदांत श्रवणादिना ॥७३९॥

वाराहोपनिषत् अ० २ मं० ५ ॥

अर्थ—इस जंबुदीप भारत खण्ड में मनुष्य शरीर की प्राप्ति दुर्लभ है। तिस में भी मनुष्य शरीरों विषे भी ब्राह्मण शरीर अत्यन्त दुर्लभ है ब्राह्मणों में भी जो वेदांत के श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा महा विष्णु का विचार

करने वाला ब्राह्मण अत्यन्त दुर्लभ है ॥७३९॥

एवं जितेन्द्रियोभूत्वा सर्वत्र ममतामतिम् । विहाय साक्षि चैतन्येमयि कुर्यादहंमतिम् ॥७४०॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ४॥

अर्थ—इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर सर्वत्र ममता युक्त बुद्धि को परित्याग करके वाराह भगवान अज्ञा देते हैं कि मैं चिन्मात्र व्यापक ब्रह्माकार वृत्ति की स्थितिऽहंब्रह्मास्मि साक्षी रूप से स्थित होवे ॥७४०॥

अतिवर्णाश्रमंरूपं सच्चिदानन्द लक्षणम् । योन जानाति सोऽविद्वान्कदा मुक्तो भवष्यति ॥७४१॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ६॥

अर्थ—जो सवचिदानन्द लक्षण युक्त ब्रह्मरूप को जो विद्वान जानता हैं सो विद्वान अति वर्णाश्रमी है। और इस प्रकार जो जानता नहीं सो अविद्वान है कदाचित् भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होवेगा ॥७४१॥

इस प्रकार आत्मा को जान करके निर्मम हुआ तथा निरहंकार हुआ आपने गुण को न प्रगट करता हुआ संसार में वायु की न्याईं विचिरे। तहां श्रुति—

नापृष्टः कस्य चिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ॥७४२॥

संन्यासोपनिषद् अ० २ मं० १०२॥

अर्थ—नहीं किसी ने कोई प्रश्न किया तो भी आपने आप आपने गुण को मत प्रगट करो। तथा न्याय पूर्वक नहीं पूछता अर्थात परीक्षा अर्थ पूछता है तौ भी आपने गुण को प्रगट ना करो। विद्वान आपनी बुद्धि में सर्व प्रकार से विद्वान जानता भी है तौ भी जडकी न्याईं संसार में विचरे ॥७४२॥

हे देवताओ! मैं आनन्द स्वरूप आत्मा मन वाणी का अविषय हूं। यातैं जो पुरुष ऐसे अद्वितीय आत्मा का उपदेश अपने शिष्यों के प्रति करे है। सो आत्माका वक्ता पुरुषभी आश्चर्य रूप है। और ऐसे निर्गुण आत्मादेव को जो पुरुष ता गुरू के उपदेश तैं साक्षात्कार करे है। सो आत्मा के जानने हारा लब्धा पुरुष भी अत्यन्त कुशल जानना। मैं अद्वितीय आत्मा का प्रतिपादन तथा ज्ञान यह दोनों आश्चर्य रूप हैं। या कारण तैं ता प्रतिपादन करने हारा वक्ता पुरुष को तथा ज्ञाता पुरुष को श्रुति भगवति आश्चर्य रूप कहे है। और गुरू उपदिष्ट महावाक्य तैं उत्पन्न भया जो निर्विकल्पिक ज्ञान है। तानिर्विकल्पिक रूप सूक्ष्म ज्ञान तैं मैं आत्मादेव प्राप्त होवे हूं। यातैं ता आत्मज्ञान वाले पुरुष को श्रुति कुशल कहे है। मैं आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान वाला जो गुरू है। सो ब्रह्म वेत्ता गुरू जभी या अधिकारी पुरुषों के प्रति आत्मा का उपदेश करे है। तभी ही यह अधिकारी पुरुष ता आत्मा के वास्तव स्वरूप को जाने है। परोक्ष ज्ञान वाले गुरू के उपदेश तैं या अधिकारी पुरुषों को अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होवे नहीं। जिन पुरुषों को ता ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरू के उपदेश तैं आत्मा का साक्षात्कार नहीं भया है। ऐसे अज्ञानी पुरुष जो कदाचित् किसी शिष्य के प्रति बहुत काल पर्यंत भी आत्मा का उपदेश करे हैं। तौ भी ता आज्ञानी पुरुषों के उपदेश तैं ता शिष्य को आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान कदाचित् भी होवे

नहीं। और ता ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरू के उपदेश तैं विना पुरुष आपने नाना प्रकार के तर्कों करके आत्मा का चिंतन करे है। ता पुरुष को भी आत्मा का साक्षात्कार होवे नहीं। जैसे महान वन विषे स्थित हुआ कोई पुरुष आपने ग्राम के मार्ग को ना जानता हुआ किसी दूसरे पुरुष तैं ता मार्ग को पूछै है। और आगेतैं सो दूसरा पुरुष भी ता ग्राम के मार्ग को ना जानिता हुआ ता पुरुष के प्रति किसी अन्य मार्ग का उपदेश करि देवे। ता पुरुष के वचन विषे विश्वास करके सो पुरुष जो कदाचित् तिस मार्ग विषे गमन करे है। तो सो पुरुष आपने ग्राम को प्राप्त होवे नहीं। किंतु उलटा ता मार्ग के चलने तैं सो पुरुष दुःख को ही प्राप्त होवे है। तैसे या संसार रूप महान वन विषे स्थित हुआ यह अधिकारी पुरुष जभी किसी अज्ञानी कर्मी पुरुष तैं आत्म ज्ञान रूप मोक्ष के मार्ग को पूछै है। तभी तिन अज्ञानी कर्मी पुरुषों के उपदेश तैं यह अधिकारी पुरुष ता आत्म ज्ञान रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त होवे नहीं। किंतु उलटा ता अज्ञानी कर्मी पुरुषों के उपदेश तैं सो अधिकारी पुरुष विषय रूप संसार मार्ग को ही प्राप्त होवे है। यातैं जिन पुरुषों को मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा होवे। तिन मुमुक्षु पुरुषों नैं आत्म ज्ञान की प्राप्ति वास्तैं ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरू को ही खोजना। तिस ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरू के उपदेश तैं ही या मुमुक्षु जनों को आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति होवे है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता कुशल वक्ता पुरुष सर्व जगत् के आत्मारूप मैं ब्रह्मको मैं ब्रह्मरूप हूं। या प्रकार आपने आत्मा तैं अभिन्नरूप करके जाने हैं। तहां श्रुति—

इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमे तादिहोच्यते। अहंसत्यं परंब्रह्ममत्तः किंचिन्न विद्यते ॥७४३॥

वराहोपनिषद् अ० २ मं० ३८ ॥

अर्थ—इदं सत्य कहिये ब्रह्मरूप है। यह सर्व ब्रह्मरूप है यह सर्व ही ब्रह्मरूप है मैं रूस परम ब्रह्मरूप हूं मेरे से भिन्न ब्रह्म क्िंचितमात्र भी नहीं है ॥७४३॥

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः। तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यातुषाभावे न तण्डुलः ॥७४४॥

स्कन्दोपनिषद् मं० ६ ॥

अर्थ—या कारण तैं सो ब्रह्मवेत्ता कुशल पुरुष सर्व जगत तैं अभिन्न होवे है। ऐसा ब्रह्मवेत्ता गुरु जभी या अधिकारी पुरुषों के प्रति आत्मा का उपदेश करे हैं। तभी ता ब्रह्मवेत्ता गुरु को ता आत्म ज्ञान करके जो मैं अद्वितीय ब्रह्म भाव की प्राप्ति रूप फल भया है। सोई ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति रूप फलता शिष्य को भी होवे है। या तैं ऐसे ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरु के उपदेश तैं ही यह शिष्य सर्वात्म भाव को प्राप्त होवे है। परन्तु ऐसा ब्रह्मवेत्ता गुरु या लोक विषे दुर्लभ है। तहां श्रुति।

भगवंतं महाविष्णु ब्रह्मा परिपृच्छति। भगवन् परम तत्त्व रहस्यं मे ब्रूहीति। परमतत्त्वरहस्य वक्तात्वमेव नान्यः कश्चिदस्ति तत्कथं मिति। तदेवोच्यते ॥७४५॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषत् मं० १ ॥

अर्थ—ब्रह्मा उवाच–हे भगवन्! महाविष्णु

मैं आप से पूछता हूं । हे भगवन् ! परम तत्त्व रहस्य को मेरे प्रति कथन करो । परम तत्त्व रहस्य के वक्ता आप ही हैं आप से अन्य और कोई तिस तत्त्व को कथन करने वाला नहीं है। सो महा विष्णु भगवान कथन करे हैं ॥७४५॥

त्वमेव सर्वज्ञः । त्वमेव सर्व शक्ति। त्वमेव सर्वाधारः। त्वमेव सर्वस्व रूपः। त्वमेव सर्वेश्वरः। त्वमेव सर्व प्रवर्तकः७४६

त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० मं० २ ॥

अर्थ—महाविष्णु उवाच–हे ब्रह्म तु म ही सर्वज्ञ हो तथा तुम ही सर्व शक्तिमान हो तथा तुम ही सर्व का अधार हो तथा तुम ही सर्व स्वरूप हैं तथा तुम ही सर्वेश्वर हो। तुम ही सर्व का प्रवर्तक हो ॥७४६॥

त्वमेव सर्वनिवर्तकः । त्वमेव सदसदात्मकः । त्वमेव सदसद्विलक्षणः। त्वमेवांतर्बहि र्व्यापिकः ॥७४७॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० मं० ३ ॥

अर्थ—तुम ही सर्व निवर्तक हो तथा तुम ही सत असत का आत्मा हो। तथा तुम ही सत असत् से विलक्षण हो । तथा तुम ही सर्व नाम रूप प्रपंच के अन्तर बाहिर व्यापक हो ॥७४७॥

हे देवताओ ! या जीवों का आत्मा सूक्ष्म पदार्थों तैं भी अति सूक्ष्म है। या तैं ऐसा दुर्विज्ञेय आत्मा केवल आपने तर्क कर के जान्या जावे नहीं। किन्तु ता ब्रह्मवेत्ता कुशल गुरु के उपदेश तैं ही सो आत्मा जान्या जावे है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश तैं जिस अधिकारी पुरुष की आत्माकार मति हुई है। ता मति को यह अधिकारी पुरुष किसी कुतर्क कर के दूर करे नहीं। अब ओंकार को धनुष रूप कर के कथन करे हैं । महावाक्य रूप वेदांत है उदर विषे जिस के। ऐसा जो ओंकार रूप प्रणव मन्त्र है । सो प्रणव मन्त्र तो धनुष रूप है। और ध्यान कर्ता पुरुष का जो शोधित कूटस्थ आत्मा बाण रूप है। और मैं ब्रह्म रूप हूं। या प्रकार जो महावाक्य के अर्थ का चिंतनता प्रणव रूप धनुष का आकर्षण रूप है। और शुद्ध ब्रह्म लक्ष स्वरूप है । जिस शुद्ध ब्रह्म रूप लक्ष विषे प्राप्त हुआ यह कूटस्थ आत्मा रूप बाण ता लक्ष्य स्वरूप होवे है । तहां श्रुति ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरंह्युपासा निशितं संधीयत । आयम्य तद्भाव गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥७४८॥

मुण्डक उ० खं० २ मं० ३ ॥

उपनिषद विषे प्रसिद्ध धनुष रूप महान अस्त्र को लैके अर्थात् ग्रहण करके । तिस धनुष विषे निरन्तर ध्यान से तीक्ष्ण संस्कार युक्त कर के बाण को सन्धान करना । या तैं ईहां हस्त से ही धनुष का आकर्षण सम्भवै नहीं। या तैं जिस अक्षर ब्रह्म रूप लक्ष्य विषे भावना को प्राप्त हुए चित्त से इंद्रियसहित अन्तःकरण को आपने विषय तैं निवृत्त कर के लक्ष्य रूप ब्रह्म विषे ही एकाग्रता रूप धनुष का आकर्षण कर के । हे सोम्यप्रिय तिसी ही उक्त लक्षण वाले अक्षर रूप शुद्ध ब्रह्म कों वेधन करे। अर्थात सर्व उपाधियों तैं रहित चिन्मात्र अस्ति भांति प्रिय रूप ब्रह्म विषे चित्त की एकाग्रता करे ॥७४८॥

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्य मुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्

न्मयोभवेत् ॥७४९॥ मुंडक उ० खं० २ मं० ४॥

अर्थ—ओंकार रूप धनुष है। जैसे धनुष जो है सो लक्ष्य निशाना विषे वाण के प्रवेश का कारण है। तैसे कूटस्थ रूप वाण का परमात्मा रूप लक्ष्य विषे प्रवेश का कारण ओंकार है। जैसे अभ्यास करके धनुष से संस्कार युक्त और तिस धनुष रूप आश्रय वाला हुआ वाण लक्ष्य विषे स्थित होवे है। तैसे अभ्यास कर के ओंकार से संस्कार युक्त तथा तिस ओंकार रूप आश्रय वाला हुआ। आत्मा प्रतिबन्ध के अभाव तैं ब्रह्म विषे स्थित होवे है। या तैं ओंकार जो है सो धनुष की न्याईं धनुष है। और आत्मा रूप बाण है। तात्पर्य यह है। उपाधि के सम्बन्ध तैं लक्ष्य ब्रह्म ही जलगत सूर्य के प्रतिबिम्बि की न्याईं इस देह विषे सर्व बुद्धि कीं वृत्तियों का साक्षि रूप तैं प्रवेश किया है। ऐसा पूर्व निरूपण किया है। और आत्मा की प्राप्ति के वास्ते तृष्णा तथा प्रमाद तैं रहित तथा सर्व तैं विरक्त जितेंद्रिय तथा एकाग्रचित्त कर के वेधने के योग्य जो व्यापक ब्रह्म सो लक्ष्य है। तदनन्तर वाण की न्याईं तत्स्वरूप ही होवे है अर्थात ब्रह्म रूप ही होवे है। जैसे बाण को लक्ष के साथ एक रूपता फल होवे है तैसे देहादिक अनात्माकार वृत्तियों के तिरस्कार से ज्ञेय रूप शुद्ध ब्रह्म के साथ एक रूपतामय फल होवे है ॥७४९॥

इस प्रकार जभी गुरु का उपदेश श्रवण किया। तभी श्रद्धा करके युक्त सो शिष्य गुरू का ईश्वर की न्याईं अर्चन पूजन करता भया। और पुनः या प्रकार का वचन कहता भया। हे भगवन आपनें कृपा करके हमारे सर्व संशयों को छेदन करा है। और हमारे को ईश्वर की माया से पार निर्गुण ब्रह्म का दर्शन कराय के आपनैं कृतार्थ किया है। हे भगवन आपके उपदेश करके मैं ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ हूं। मैं आज दिन विषे आपसे ब्रह्म वित्त रूप करके उत्पन्न हुआ हूं। काहेतें ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः इत्यादिक श्रुतियों विषे ब्रह्म विद्या की प्राप्ति करके ही मुख्य ब्राह्मण भावकी प्राप्ति कथन करी है। यातैं आप ही हमारे पिता हो तथा आप ही हमारी माता हो। हे भगवन ! आप से विना दूसरा कोई हमारा माता पिता नहीं है काहेतें यह लोक प्रसिद्ध माता पिता तैं या शरीर रूप मिथ्या आत्मा की ही उत्पत्ति होवे है। या शरीर के संबंध तैं हम जीवों को अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होवे है। तहां श्रुति —

तेतमर्चयं तस्त्वंहि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परंपारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥७५०॥ प्रश्न उ० प्रश्न ६ मं० ८॥

अर्थ—तिस गुरू के प्रति उपकार को ना देखते हुये तिस गुरू को दोनों पादन विषे पुष्पांजलीको देते हुये तथा मस्तक चरण कमलों के ऊपर राख के प्रणिपात सें पूजन करते हुये कहते भये। हे भगवन ! आप हमारे नित्य अजर अमर अभय ब्रह्म रूप शरीर के विद्या सें जनक होणे तें पिता हो। आप ही जन्म मरण जरा रोग तथा अध्यात्मादिक दुःख रूप मकरों करके युक्त अविद्या रूप महान समुद्र तैं उपदेश रूप नौका सें महान समुद्र के पार की न्याईं। अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष रूप तीर में हमको लगाया है। यातैं मिथ्या आत्मा रूप शरीर के जनक पिता से आप को

अधिक पितापन है। जब मिथ्या आत्म रूप शरीर के जनक लोक में पूजने योग्य हैं। तब सतचित्तानंद मुख्य आत्मा रूप शरीर के अत्यंत अभय के दाता गुरू रूप पिता के पूजने की योग्यता विषे मन वाणि से बाह्य है यातैं ब्रह्म विद्या के संप्रदाय के करता परम ऋषियों को नमस्कार होवे परमऋषियों को नमस्कार होवे ७५१

शंका—हे भगवन! षोडश कला संयुक्त पुरुष कौन है आप कृपा करके हमारे प्रति कहो तहां समाधान की श्रुति॥

स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्। मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मंत्राः कर्म्मलोका लोकेषु च नाम च॥७५१॥

प्रश्नोपनिषत् प्रश्न ६ मं० ४॥

अर्थ—तीन काल वर्त्ती वस्तुवों को विषय करने वाले ज्ञान रूप ईक्षणा को करके सर्व के प्राणरूप समष्टि प्राणरूप हिरण्य गर्भ नामक सर्व प्राणियों के करणों के आधार रूप अंतरात्मा को पूजता भया। इस प्राण तैं सर्व प्राणियों की शुभ कर्म विषे प्रवृत्ति की कारण रूप श्रद्धा को उत्पन्न करता भया। तदनंतर कर्म फल के उपभोग के साधन रूप देह को अधिष्ठान तथा कारण रूप पंचीकृत पंच महाभूतोंको सृजता भया। अकाश वायु तेज जल पृथिवी को सृजता भया श्रोत्र त्वचा चक्षु रसना घ्राण वाक वाणी पाद उपस्थ वायु। तथा मन को सृजता भया। तदनंतर अन्न को सृजता भया अन्न तैं वीर्यबल को सृजता भया। वीर्य तैं अनंतर तप को तदनंतर ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वणवेद रूप मंत्र को सृजता भया। तिन वेदों से अग्निहोत्रादि रूप कर्म होताभया। तिस कर्म तैं कर्म फल रूप चतुर्दश लोकों को सृजता भया। तिन लोकों विषे उत्पन्न भये प्राणियों के देवदत्त यज्ञदत्तादिक रूप नाम होते भये॥ ७५१॥

भोभगवन कीदृशं मोक्षस्वरूपम्। स यथेमा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छंति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एव मेवास्य परिद्रष्टुरिमाः। षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छंति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति॥ तदेष श्लोकः॥७५२॥

प्रश्नोपनिषत् प्रश्न ६ मं० ५॥

अर्थ—जैसे लोक प्रसिद्ध ये नदियां वहन करती हुई और समुद्र है आयन आत्मा भाव जिन का ऐसी हुई समुद्र को प्राप्त होय के नाम रूप को परित्याग करके अस्तभाव को प्राप्त होवे है। और अस्त को प्राप्त भई तिन नदियों के गंगा तथा यमुना आदि नाम और रूप येह दोनों का अत्यंता भाव होवे है। तिन नाम रूप के अभाव तैं समुद्र रूप सें ही स्थित होवे हैं तो ऐसी ही इस परिद्रष्टा की यह प्राणादिक षोडश कला है पूर्वोक्त षोडश कला नदियों के आयन रूप समुद्र की न्याईं पुरुष हैं आयन आत्मभाव की प्राप्ति जिन कला की ऐसे हुये पुरुषरूप आत्मभाव को प्राप्त होयके नामरूप को परित्याग करके अस्त को प्राप्त होवे है। तिन प्राण रूप कला नामरूप नाश को प्राप्त होवे हैं। सो ब्रह्म ही पुरुष ऐसे कहा जावे है। सो यह पुरुष

अविद्या काम कर्म से जन्म प्राण आदिक कला को विद्या से कहिये आत्म साक्षात्कार सें सर्व कलायों के नाश हुए तैं अनन्तर कला रहित होवे है। अमृत जन्म-मरण तैं रहित होवे है तिस अर्थ विषे यह श्लोक है ॥७५२॥

उत्पादक ब्रह्म दात्रोर्गरीयात्ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्थ प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥७५३॥ मनु०॥

अर्थ—या स्थूल शरीर की उत्पत्ति करने हारा जो पिता है। तथा ब्रह्म भाव की प्राप्ति करने हारा जो गुरु रूप पिता है। तिन दोनों विषे ब्रह्म भाव की प्राप्ति करने हारा गुरु रूप पिता असंत श्रेष्ट है। काहे तैं या अधिकारी पुरुष का ता ब्रह्म उपदेश से गुरु तैं जो ब्रह्म वित्त्व रूप करिकै जो जन्म है। सो ब्रह्म वित्त्व रूप जन्म ही या जीवत अवस्था विषे तथा मरण तैं अनन्तर सर्व काल विषे नित्य है। ता ब्रह्म वित्त्व जन्म का कदाचित भी नाश होवै नहीं ॥७५३॥

हंस विद्यामृतेलोके नास्ति नित्यत्व साधनम्। यो ददाति महाविद्यांहं साख्यां पारमेश्वरीम् ॥७५४॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० २६॥

अर्थ—हंस कहिये ब्रह्म विद्या अमृत सें इस लोक में मुक्ति वास्तैं नित्य साधन है और कोई नहीं जो गुरु इस ब्रह्म विद्या को देता है महाविद्या हंस रूप पारमेश्वरी को ॥७५४॥

तस्य दास्यं सदाकुर्यात्प्रज्ञया परया सह। शुभं वाऽशुभमन्यद्वायदुक्तं गुरुणाभुवि ॥७५५॥

ब्रह्मविद्योपनिषत् मं० २७॥

अर्थ—तिस गुरु का दास भाव सदा करना योग है परम प्रज्ञा के सहत जो मुमुक्षु है। इस पृथ्वी मण्डल में शुभाशुभ किसी कार्य को भी गुरु कहै सो कार्य शिष्य को करना ही योग्य है ७५५

नरकस्तम उन्नाहो बंधुर्गुरुरहं सखे। गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥७५६॥

भाग० स्कंध ११ अ० १९ श्लोक ४३॥

अर्थ—तमोगुण अधिक होवै है जिस विषे सोई नरक है और नरक नहीं है। और माता पिता भ्राता पुत्रादिक बंधु गुरु है। सो गुरु मैं हूं। मनुष्य का शरीर ही घर है और घर नहीं है। जो गुरु संपन्न है सोई धनी है सुवर्णादिकों सें धनी नहीं है। इस ब्रह्म विद्या का उपदेश देने वाला गुरु ही माता पिता से असंत श्रेष्ट है ॥७५६॥

गुरुरेवपरोधर्मो गुरुरेव परागतिः एकाक्षर प्रदातारं योगुरं नाभि नंदति। तस्य श्रुतं तथा ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत ॥७५७॥ शाठ्यायनीयोपनिषत् मं० ३६॥

अर्थ—इस शिष्य का गुरु ही परम धर्म है। तथा इस अधिकारी का गुरु ही परमगति मुक्ति रूप है। एकाक्षर प्रदातारं दाता को जो अधिकारी गुरु को सेवा से प्रसन्न नहीं करता है। तिस विद्वान की श्रवण की हुई विद्या तथा ज्ञान ऐसे स्रव जावैगा जैसे जल सें भरा हुआ घट स्रव जाता है ॥७५७॥

हे भगवन! काम क्रोधादिक मकरों करिकै युक्त जो यह अविद्या रूप दुस्तर समुद्र है। ता अविद्या रूप समुद्र तैं अपने ब्रह्म विद्या रूप महान नौका करिकै हमारे को पार करा है।

या आप के महान उपकार की निवृत्ति वास्तैं हम तीन लोक विषे कोई पदार्थ देखते नहीं। जो पदार्थ आप को दे करिकै हम आप के ऋण से मुक्त होवैं। या तैं आप ब्रह्म वेत्ता गुरुओं के प्रसन्न करने वास्तैं हमारा सर्वदा नमस्कार होवै। ता हमारे नमस्कार मात्र को अंगीकार करिकै ही आप प्रसन्न होवैं। इस प्रकार गुरु का ईश्वर की न्याईं पूजन करिकै तथा पूर्व उक्त प्रकार गुरु की स्तुति करिकै ज्ञात ज्ञेय होई करिकै अर्थात समाधि विषे स्थित हुआ।

ईश्वर उवाच—हे देवताओ! जो पुरुष शमदमादिक साधनों तैं रहित होवै। तथा जिस पुरुष का चित विषयों विषे असक्त होवै। ऐसा विषयासक्त पुरुष जो कदाचित किसी दयालु ब्रह्म वेत्ता गुरु के आगे ब्रह्म विद्या की प्रार्थना भी करै तौ भी ता ब्रह्म विद्या युक्त ब्रह्म वेत्ता गुरु नैं ता विषयासक्त पुरुष के प्रति ता ब्रह्म विद्या का उपदेश कदाचित भी नहीं करना। और सो पुरुष जो कदाचित् शमदमादिक साधनों करिकै संपन्न ता ब्रह्म विद्या का अधिकारी भी होवै। परन्तु सो अधिकारी पुत्र भाव तैं तथा शिष्य भाव तैं रहित होवै। तौ भी ता ब्रह्म वेत्ता गुरु नैं ता पुत्र भाव तैं रहित तथा शिष्य भाव तैं रहित पुरुष को या ब्रह्म विद्या का उपदेश कदाचित भी नहीं करना। जो कदाचित सो ब्रह्म वेत्ता गुरु किसी प्रतिज्ञा आदिक निमित्त करिकै परवश हुआ होवै। तौ भी ता ब्रह्म वेत्ता गुरु नैं गुरु भक्ति तैं रहित पुरुष के प्रति ता ब्रह्म विद्या का यथार्थ तात्पर्य कदाचित भी नहीं कहना। तहां श्रुति—

इदमष्टोत्तरशतं नदेयं यस्य कस्यचित्। नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै ॥७५८॥ मुक्तिकोपनिषत् मं० ४७॥

अर्थ—यह अष्टोत्तर शत उपनिषत जैसे तैसे हरि एक के प्रति उपदेश नहीं देना योग है। जो पुरुष नास्तिक है तथा कृतघ्न है तथा दुराचार में प्रीती वाला है ॥७५८॥

मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते। गुरुभक्ति विहीनाय दातव्यं न कदाचन ॥७५९॥

मुक्तिकोउपनिषत् अ० १ मं० ४८॥

श्री रामचन्द्र उवाच—हे पवन पुत्र हनुमान जी इस ब्रह्म विद्या का उपदेश जो पुरुष मेरी भक्ति से विमुख है तथा शास्त्रगर्त विषे ही मोह को प्राप्त हुआ है। तथा गुरु की भक्ति से विमुख है ऐसे दुष्ट गुण युक्त पुरुषों को कदाचित भी उपदेश देने योग्य नहीं है ॥७५९॥

सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते। मद्भक्तायसुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे ॥७६०॥ मुक्तिकोपनिषत् अ०१ मं०४९

अर्थ—जो शिष्य सेवापरायण होवे तथा जिस विषे शिष्य भाव होवे तथा पुत्र की न्याईं हित करने वाला होवे। हे मारुते मेरा भक्त होवे तथा सुशील सुभाव होवे। उत्तम कुल का होवे तथा बुद्धिमान होवे। ऐसे अधिकारी को उदेश करना ॥७६०॥

और जो पुरुष विवेक वैराग्य शमादि षट सम्पत्ति मुमुक्षुता या चारी साधनों कर के युक्त होवे। तथा प्रमाद तैं रहित होवे। तथा जो पुरुष साक्षात्परमेश्वर की न्याईं ब्रह्मवेत्ता गुरु को देखता होवे। ऐसे गुरु भक्त अधिकारी के प्रति सो ब्रह्मवेत्ता गुरु या ब्रह्म विद्या का उपदेश करे। और ऐसा गुरु भक्ति युक्त

अधिकारी ही ता ब्रह्म विद्या के मोक्ष रूप फल को प्राप्त होवे है। और जो पुरुष गुरु भक्ति तैं रहित है सो पुरुष जो कदाचित् किसी दैव-योग्य तैं ता ब्रह्म विद्या का अध्यन भी करे है। तौ भी ता गुरुभक्ति तैं रहित पुरुष को ता ब्रह्म विद्या के श्रवण का फल होवे नहीं। उलटा ता गुरु भक्ति तैं रहित पुरुष को अनर्थ की ही प्राप्ति होवे है। यह वार्ता पुराणादिक ग्रन्थों विषे श्री वेदव्यास भगवान ने कथन करी है। तहां श्लोक—

गुरुं यो मान वैरन्यैः समं पश्यति मोहतः। न तस्यास्मिन्भवेल्लोके सुखं नैव परत्र वा ॥७६१॥

अर्थ—जो पुरुष आपने गुरु ब्रह्म विद्या के उपदेश करने हारे को जो शिष्य प्रमाद कर के दूसरे मनुष्यों के समान देखता है। तिस पुरुष को इस लोक विषे तथा परलोक विषे किंचित् मात्र भी सुख की प्राप्ति होवे नहीं। किंतु ता पुरुष को दोनों लोक विषे दुःख की ही प्राप्ति होवे है ॥७६१॥

कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नैव मन्यते। सयाति नरकान घोरान महा रौरव संज्ञितान् ॥७६२॥

अर्थ—जो पुरुष मनवाणी शरीर कर के ब्रह्म विद्या प्रदाता गुरु की अवज्ञा करे है सो पुरुष महान घोर रौरव नरकों को प्राप्त होवे है। ईहां आपने शरीर कर के गुरु को खेद की प्राप्ति करनी। या का नाम शरीर कृत अवज्ञा है। और आपने मन विषे ता गुरु के दूषणों का चिंतन करना या का नाम मन कृत अवज्ञा है। और आपनी वाणी कर के ता गुरु की निन्दा करनी। याका नाम वाणी कृत अवज्ञा है। और सहस्र वृश्चिक के समान विष वाले अनेक जन्तुओं कर के पूर्ण जो नरक है। ताका नाम रौरव नरक है। ऐसे नरक विषे सो गुरु की अवज्ञा करने हारा शिष्य प्राप्त होवे है॥७६२

एकाऽक्षर प्रदातारं गुरुं यो नैव मन्यते। स मूढो नरकं याति यावदा भूत संप्लवम् ॥७६३॥

अर्थ—ब्रह्म विद्या के एक अक्षर मात्र का उपदेश करने हारा जो गुरु है ता गुरु को जो मूढ शिष्य नहीं माने है। सो मूढ शिष्य या जगत के प्रलय पर्यन्त रौरव नरक विषे निवास करे है। तात्पर्य यह है। ब्रह्म विद्या के एक अक्षर मात्र का उपदेश करने हारे गुरु को नहीं मानने हारा शिष्य भी जभी प्रलय पर्यन्त नरक विषे निवास करे है। तभी संपूर्ण ब्रह्म विद्या के उपदेश करने हारे गुरु को नहीं मानने हारा शिष्य अनेक प्रलय पर्यन्त नरक विषे रहे है या के विषे क्या कहना है ॥७६३॥

कृतघ्नानांहि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम्। मृत्वा तानभिसंयाति गुरु द्रोह परोनरः ॥७६४॥

अर्थ—करे हुए उपकार का ना मानने हारे जो कृतघ्न पुरुष हैं। तथा ब्राह्मणों का हनन करने हारे जो ब्रह्म हत्यारे पुरुष हैं। ते कृतघ्न पुरुष तथा ब्रह्म हत्यारे पुरुष मरि कर के जिन नरकादिक लोकों को प्राप्त होवे हैं। तिन नरकादिक लोकों को यह गुरु द्रोही शिष्य मरि कर के प्राप्त होवे है ॥७६४॥

स महापातकी ज्ञेयस्तथोप पाति-

कीत्यपि । गत्वा कल्प सहस्रांते विष्टायां जायते कृमिः ॥७६५॥

अर्थ—ब्रह्म विद्या का उपदेश करने हारा जो गुरु है । ता गुरु के साथ जो पुरुष द्रोह करे है । सो गुरु द्रोही शिष्य ही महा पातकी जानना तथा उपपातकी जानना । इहां ब्रह्म हत्या मदिरा पान सुवर्ण की चोरी गुरु की स्त्री के साथ गमन । इन पापकर्मों को करने हारे पुरुष का नाम महापातकी है । और गोवधादिक पाप कर्मों को करने हारे पुरुष का नाम उपपातकी है । ऐसा गुरु द्रोही रौरवादिक नरकों को प्राप्त होवे है । तथा तिन नरकों विषे सहस्र कल्पि पर्यंत निवास करे हैं । तिस तैं अनन्तर सो गुरु द्रोही शिष्य विष्टा विषे कृमि शरीर को प्राप्त होवे है ॥७६५॥

किंवा शास्त्र विषे जितनी विद्या हैं । तिन सर्व विद्याओं की प्राप्ति विषे यह गुरु ही कारण है । इस वासते या अधिकारी पुरुष ने महादेव की न्याईं ता गुरु का पूजन करना । किंवा या अधिकारी पुरुष ने शिव के पूजन तैं भी गुरु का अधिक पूजन करना । तहां श्लोक

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौरुष्टे शिवो नहि । शिवादप्यधिकस्तस्माद्गुरुं यत्नेन पूजयेत् ॥७६६॥

अर्थ—शिव भगवान के क्रोध हुए या अधिकारी शिष्य की गुरु रक्षा कर सके है । और गुरु के क्रोध हुए या अधिकारी शिष्यों की शिव रक्षा नहीं करे है । या कारण तैं यह अधिकारी शिष्य शिव के पूजन तैं भी गुरु का अधिक पूजन करे । किंवा जो शिष्य अभिमान कर के आपने गुरु की अवज्ञा करे है । तिस शिष्य के पाप कर्म की निवृत्ति करने हारा कोई प्रायश्चित्त या लोक विषे है नहीं । काहे तैं ब्रह्म हत्यादिक पाप कर्मों की निवृत्ति करने के प्रायश्चित्त धर्म शास्त्रों विषे देखती हैं । परन्तु गुरु-द्रोही शिष्य के पाप कर्मों की निवृत्ति का प्रायश्चित किसी शास्त्र विषे देखने में आवता नहीं ॥७६६॥

नृदेह माद्यं सुलभं सुदुर्लभ प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् । मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान भवाब्धिं न तरेत स आत्महा ॥७६७॥

अर्थ—मनुष्य शरीर असन्त दुर्लभ है । संसार समुद्र के पार तरने को नौका है । गुरू मलाहा हैं । मैं अनुकूल पवन हूं । ऐसे साधन को प्राप्त होकर जो संसार समुद्र से न तरे सो आत्मघाति है । किंवा परलोक विषे अन्य पापी जीवों तैं ब्रह्महत्यारा पुरुष अधिक पापी होवे है । और ता ब्रह्महत्यारे तैं भी करै हुए उपकार को नहीं मानने हारा कृतघ्न पुरुष अधिक पापी होवे है । और कृतघ्न पुरुष तैं भी यह गुरू का द्रोह करने हारा शिष्य अधिक पापी होवे है । काहेतैं या अधिकारी पुरुषों का गुरू ही माता पिता है । तथा गुरू ही देव है । तथा गुरू ही बंन्धु है । तथा गुरू ही मित्र है । तथा गुरू ही उपकार करने हारा सुहृद है । ऐसे गुरू के साथ द्रोह करने हारा शिष्य कृतघ्न पुरुष तैं भी अधिक पापी है । या के विषे कोई आश्चर्य नहीं है ॥७६७॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाच्युतः । नगुरोराधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥७६८॥

अर्थ—गुरू ब्रह्मारूप है गुरू विष्णुरूप है गुरू परमदेव रूप हैं। गुरू से कोई त्रिलोकी में अधिक नहीं है ॥७६८॥

दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्। पूजयेत्परयाभक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत ॥७६९॥

अर्थ—दिव्यज्ञान के उपदेश करने वाला देशिक्ष परमेश्वररूप है। पूजयेती परमभक्ति से गुरू का पूजन करता है तिस पुरुष को ही ज्ञान का फल होवेगा ॥७६९॥

यथा गुरू स्तथैवेशो यथैवेश स्तथा गुरूः। पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥७७०॥

योगशिखोपनिषद् अ० ५ मं० ५६।५७।५८॥

अर्थ—जैसे गुरू है तैसे ईश्वर है जैसे ईश्वर है तैसे गुरू है। तिस गुरू का परम भक्ति करके पूजन करो अन्य भेद नहीं है ॥७७०॥

नाद्वैत वादं कुर्वीत गुरूणा सह कुत्राचित्। अद्वैतं भावयेद्भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः ॥७७१॥

योगशिखोपनिषद् अ० ५ मं० ५०॥

अर्थ—गुरू के साथ द्वैत भाव न करे किसी काल में भी द्वैत न करे। अद्वैत भाव ही गुरू के साथ परमभक्ति से करे गुरू सर्व का आत्मा रूप हैं ॥७७१॥

किंवा ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

या श्रुति विषे ब्रह्मवेत्ता पुरुष को ब्रह्म रूप कह्या है। यातैं यह अधिकारी शिष्य आतम ज्ञान करके जिस ब्रह्म को प्राप्त होवे है। सो ब्रह्म ब्रह्मवेत्ता की अवज्ञातैं ब्रह्म की ही अवज्ञा होवे है। और (अयमात्मा ब्रह्म) या श्रुति विषे ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्मरूप कह्या है। तथा आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद कह्या है। यातै ता ब्रह्म की अवज्ञाते या आत्मा की ही अवज्ञा होवे है। और (एतदात्म्यमिदं सर्वम्) इत्यादिक श्रुतियों विषे या सम्पूर्ण जगत को आत्मा रूप कह्या है। यातैं ता आत्मा की अवज्ञातैं सर्व जगत् की अवज्ञा होवे है। और सो अवज्ञारूप हनन शस्त्र के हनन से भी असन्तदारूण है। काहेतैं शस्त्र करके हनन किया हुआ पुरुष क्षणमात्र दुःख को प्राप्त होवे है। कदाचित नहीं भी प्राप्त होवे है। अवज्ञारूप शस्त्र करके हनन किया हुआ यह पुरुष स्मृति द्वारा मरण पर्यंत दुःख को प्राप्त होवे है। यातैं गुरू के हनन करके सर्व जगत को हनन करने द्वारा जो गुरू द्रोही शिष्य है। ता गुरू द्रो ही शिष्य को सुख की प्राप्ति होनी असन्त दुर्लभ है। या तैं जिस अधिकारी शिष्य को आपने कल्याण करने की इच्छा होवे तिस अधिकारी शिष्य नैं मनवाणी शरीर करके ता ब्रह्मवेत्ता गुरू की प्रसन्नता ही करनी और जैसे यह अधिकारी पुरुष शिवादिक देवताओं के पूजन को सावधान होई के करे है। तैसें ही या अधिकारी पुरुषों नैं सावधान होइके गुरू का पूजन करना। और सो ब्रह्मवेत्ता उपदेशकर्ता गुरू या शिष्य के प्रति जो शुभाशुभ कार्य कहे। ता शुभाशुभ कार्य को ता शिष्य ने प्रसन्न मन होइके करना। ता कार्य के करने विषे ता शिष्यनैं आपनैं शरीर की रक्षा की चिंता नहीं करनी। और ता शिष्यनैं आपने कर्णों करके ता गुरू की सर्वदा कीर्ति ही श्रवण करनी। और ता शिष्य नैं आपने मुख

करके सर्वदा ता गुरू की स्तुति को ही करना। और ताशिष्य के समीप जो कोई दुष्ट पुरुष ता ब्रह्मवेत्ता गुरू के दोषों को कथन करे है । तो ता शिष्य ने ता निंदक दुष्ट पुरुष का यथाशक्ति निरादर ही करना । और ता निंदक दुष्ट पुरुष के निरादर करने विषे जो कदाचित् सो शिष्य समर्थ नहीं होवे । तो जिस स्थान विषे दुष्ट पुरुष निंदा करते होवें । तिस स्थान तैं सो शिष्य दूर चला जावे। और सो शिष्य जो कदाचित् तिस स्थान तैं दूर जाने विषे समर्थ नहीं होवे । तो सो बुद्धिमान शिष्य ता स्थान विषे आपने कर्णों को निरोध करके स्थित होवे । ता करके आपने गुरू की निंदा श्रवण करने विषे नहीं आवै । यातैं यह अर्थ सिद्ध भया । जिस अधिकारी शिष्य को आपने कल्याण की इच्छा होवे । तिस अधिकारी शिष्य नैं शिवादिक देवताओं की भक्ति की न्याईं रात्रिदिन विषे सावधान होइके आपने गुरू की भक्ति करनी । ता गुरू की भक्ति करके या अधिकारी शिष्य को मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होवे है । तहां श्रुति—

यस्य देवे पराभक्ति र्यथादेवे तथागुरौ । तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥७७२॥

श्वेताश्व० उ० अ० ६ मं० २३ ॥

अर्थ—जिस अधिकारी शिष्य की परमात्मा देव विषे परम भक्ति है । और जैसी परमात्मा देव विषे परम भक्ति है तैसी ही परम भक्ति गुरु विषे है । तिस गुरु भक्त शिष्य को ही यह वेदांत शास्त्र के पदार्थ बुद्धि विषे प्रकाश करै हैं ॥७७२॥

तावत्परिचरेद्भक्तिः श्रद्धावाननसूयकः । यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥७७३॥

भाग० स्कंध ११ अ० १८ श्लोक ३९ ॥

अर्थ—जब तक ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होवै तब तक श्रद्धा भक्ति से ईर्षा का परित्याग करिकै गुरु को मेरा ही स्वरूप जान कर अत्यंत आदर पूर्वक सत्कार से गुरु की सेवा करै ॥७७३॥

तथा तिस गुरु भक्त शिष्य को ही धर्म अर्थ काम मोक्ष यह चारी प्रकार का पदार्थ प्राप्त होवै है । किंवा जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम विषे यह पुरुष ईश्वर के अराधन विषे तथा वेद के अध्ययनादिकों विषे सावधान हुआ वर्त्ते है । तैसे ही या अधिकारी शिष्य नैं गुरु की भक्ति विषे सावधान रहना । काहे तैं यह अधिकारी शिष्य जो कदाचित ब्रह्मचर्यादिक साधनों तैं भ्रष्ट भी होवै है । तौ भी ता शिष्य के ऊपर जो कदाचित गुरु की प्रसन्नता होवै । तो सो गुरु ता शिष्य को प्रायश्चित्तादिक उपायों करिकै शोधन करिसकै है । और यह अधिकारी शिष्य जभी गुरु की भक्ति तैं भ्रष्ट होइकै ता गुरु तैं विमुख होवै है । तभी ता गुरु से विमुख शिष्य के रक्षा करने हारा कोई भी प्रायश्चित्तादिक उपाय नहीं है । तहां श्लोक—

गुरौ विमुखतांयाते विमुखाः सर्व देवताः । भवंतिक्रियमाणं च पुण्य पापं हि जायते ॥७७४॥

अर्थ—ब्रह्म विद्या का उपदेश करने हारा जो गुरु है । ता गुरु तैं जभी यह शिष्य विमुख होवै है । तभी ता गुरु विमुख शिष्य तैं संपूर्ण देवता विमुख होवै हैं । और गुरु तैं विमुख

हुआ सो शिष्य जो कदाचित पुण्य कर्म भी करै है । तौ सो पुण्य कर्म भी पाप रूप ही हो जावै हैं ॥७७४॥

आयुः श्रियं यशो धर्मलोकानां शिषएव च । हंति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदातिक्रमः ॥७७५॥

भाग० स्कंध १० अ० ५ श्लोक ४६ ॥

अर्थ—सत्पुरुषों से द्वेष रखने वाले पुरुष की आयु धन यश परलोक सुख महात्माओं का आशीर्वाद और मंगल इन सर्व का नाश हो जाता है ॥७७५॥

संकल्पमादौ कुर्वीत सिद्धयर्थं कर्मणांसुधीः । स्वगुरुं पूजयेद्भक्त्या मद्बुद्धया पूजकोमम ॥७७६॥

रामगीता ॥

अर्थ—पूजा पाठ के आरम्भ में उस स्वच्छ बुद्धिवान शिष्य को सर्व कर्मों की सिद्धि के वास्तैं मैं पूजन करता हूं । ऐसा संकल्प करना चाहिये । और अपने गुरु में यह मेरे गुरु रामचन्द्र जी हैं । ऐसी बुद्धि से गुरु की भक्ति पूर्वक गुरु का आराधन पूजन करना चाहिये ॥७७६॥

किष्किंधाकाण्ड में लक्ष्मण को उपदेश श्री रामचन्द्र जी का ।

यः श्रद्धया परिपठेद्गुरुं भक्तियुक्तो । मद्रूपमेति यदिमद्वचनेषु भक्ति ॥७७७॥

रामगी० श्लोक ६२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य गुरु की भक्ति में विश्वास करिकै गुरु में श्रद्धा के सहित पूजा पाठ करै है । और गुरु को मेरा ही स्वरूप जानै है । और मेरे में भी भक्ति वाला होवै । और मेरे वचनों में श्रद्धा होवै । तो उस को मेरे स्वरूप की प्राप्ति होवैगी ॥७७७॥

इंद ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचिन । न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥७७८॥

गी० अ० १८ श्लोक ६७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तुमारे हित वास्तैं हमने कथन किया हुआ यह गीता शास्त्र इंद्रियों के निग्रहते रहित पुरुष के ताईं कदाचित भी उपदेश देने योग नहीं है । तथा गुरु की भक्ति तैं रहित पुरुष के ताईं भी नहीं उपदेश करने योग्य है । तथा गुरु की सेवा तैं रहित पुरुष के ताईं भी नहीं उपदेश करने योग्य है । तथा जो पुरुष मैं परमेश्वर विषयक असूया करै है । तिस के ताईं भी नहीं उपदेश करने योग्य है ॥७७८॥

या तैं जिन अधिकारी शिष्यों को धर्म अर्थ काम मोक्ष या चार प्रकार के पदार्थों के प्राप्ति की इच्छा होवै । तिन अधिकारी शिष्यों नैं सर्व प्रकार तैं देवता की न्याईं गुरु का पूजन करना । किंवा शम दमादिक गुणों करिकै युक्त तथा आत्म साक्षात्कार करिकै युक्त जो जीवन्मुक्त परम हंस संन्यासी हैं । तिन सर्व जीवन्मुक्त परम हंसों नैं भी सर्व प्रकार करिकै अपने गुरुवों का पूजन करना । तहां श्रुति—

(यावदायुस्त्रयो वंद्या वेदांतो गुरुरीश्वरः ।)

अर्थ—जब पर्यंत यावत विद्वान की आयुष होवै तब पर्यंत ता विद्वान पुरुष को भी यह तीनों अवश्य बन्दना करने योग्य हैं । एक तो वेदांत शास्त्र दूसरा वेदांत शास्त्र के उपदेश करने हारा गुरु । और तीसरा ईश्वर । तात्पर्य यह

है । जभी विधि निषेध तैं रहित जीवन्मुक्त परम हंस संन्यासीयों नैं भी गुरु का पूजन अवश्य करने योग्य है । तभी अन्य आश्रम वाले पुरुषों नैं गुरु का अवश्य पूजन करना या के विषे क्या कहना है । अब ब्रह्माकार वृत्ति का अवश्य संपादन करना ब्रह्माकार वृत्ति से विना यावत् वेदांत शास्त्र का अध्ययन करना है । तथा संन्यास आश्रम का ग्रहण करना है । सो सर्व ही निष्फल है । इस वास्तैं ब्रह्माकार वृत्ति का यत्न से संपादन करना ता का निरूपण करैं हैं । तहां श्रुति—

येहि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम् । वृथैव ते तु जीवंति पशुभिश्चसमा नराः ॥७७९॥

तेजोविंदुप० अ० मं० ४३ ॥

अर्थ—जो पुरुष परम पवित्र तथा सर्व तैं उत्कृष्ट ब्रह्माकार वृत्ति का परित्याग करे है वह पुरुष इस संसार विषे वृथा ही पशुओं की न्याईं जीवे हैं ॥७७९॥

ये तु वृत्तिं विजानंति ज्ञात्वा वै वर्धयंति ये । तेवै सत्पुरुषा धंन्या वंधा स्ते भुवनत्रये ॥७८०॥ तेजोविंदूपनि० अ० १ मं० ४४ ॥

अर्थ—पुनः जो पुरुष ब्रह्माकार वृत्ति के स्वरूप को जानता है । तथा जान करके जो ब्रह्माकार वृत्तिं की वृद्धि करता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि पर्यंत वृत्ति की स्थिति होती है ते ब्रह्मनिष्ट ही सत्पुरुष हैं । तथा वन्दना करने योग हैं तथा तीनों लोकों विषे धन्यवाद के योग्य हैं ॥७८०॥

येषां वृत्तिः समावृद्धा परिपक्वा च सा पुनः । तेवै सद्ब्रह्मतां प्राप्तानेतरे शब्दवादिनः ॥७८१॥

तेजोविंदूपनि० अ० १ मं० ४५ ॥

अर्थ—जिन पुरुषों की ब्रह्माकार वृत्ति वृद्धि को प्राप्त होवे है । अर्थात् सर्वत्र चिन्मय ही दृष्टि की स्थिति होवे है । तथा यह चिन्मय दृष्टि जिन महात्माओं की परिपक्व होवे हैं । अर्थात् निश्चलदीपक शिखा की न्याईं अचल ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति जिन महात्माओं की होवे है । उन महात्मा पुरुषों को ही ब्रह्म भिन्न आत्मा का साक्षात्कार होवे है । और जो बाह्य मुखी पुरुष वाक् इन्द्रिय से ही अहंब्रह्मास्मि बकवाद करतैं हैं अर्थात् वाचिक तथा बध्यज्ञानी हैं, ऐसे बध्यज्ञानी पुरुषों को ब्रह्म के साक्षात्कार की प्राप्ति किसी काल में भी नहीं होवे है ॥७८१॥

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः । तेऽप्यज्ञान तयानूनं पुनरायांति यांति च ॥७८२॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ४६ ॥

अर्थ—जो पुरुष ब्रह्माकार वृत्ति से रहित है और ब्रह्मपना वाक् इन्द्रिय से ही प्रकाश करे है अर्थात् ब्रह्म कि यां वार्त्ता करने में बहुत कुशल है । ऐसे वाचिक ज्ञानी बाह्यमुखी पुरुष अज्ञान के वश हुए बारम्बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होवे हैं। मुक्ति को नहीं प्राप्त होवे हैं॥७८२॥

निमिषार्द्धं न तिष्ठंति वृतिं ब्रह्ममयीं विना । यथा तिष्ठंति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादियः ॥७८३॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं० ४७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ब्रह्मादिक देवगण

तथा सनकादिक मुनि गण तथा शुक्रादिक ब्रह्म परायण गण सर्व काल विषे ब्रह्म में ही निमग्न रहे हैं। तिसी प्रकार मोक्ष की इच्छावान् पुरुष भी ब्रह्माकार वृत्ति से विना अर्द्धनिमेष भी न स्थित होवे हैं। अर्थात सर्व काल विषे ब्रह्माकार वृत्ति में ही तत्पर रहे हैं ॥७८३॥

भाव वृत्त्याहि भावत्वं शून्यवृत्त्याहि शुन्यताः। ब्रह्मवृत्त्याहि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥७८४॥

तेजोबिंदूप० अ० १ मं० ४२॥

अर्थ—जिस पुरुष की वृत्ति घटपटादिक भाव पदार्थाकार होवे है तिस पुरुष को तिन घटादिक पदार्थों की ही प्राप्ति होवे है। और जिस पुरुष की वृत्ति शून्याकार होवे है। तिस पुरुश को मृत्यु तैं अनन्तर शून्य की ही प्राप्ति होवे है। इस प्रकार जिस पुरुष की चित्तवृत्ति ब्रह्माकार होवे है। तिस पुरुष को शरीर त्याग तैं अनन्तर पूर्णब्रह्म की ही प्राप्ति होवे है। यातैं ब्रह्म का ही सर्वदा काल बारम्बार अभ्यास करना योग्य है ॥७८४॥

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च। तेसर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्य किंकराः ॥७८५॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० २४॥

अर्थ—जो पुरुष संसार में धन करके वृद्ध हैं। तथा जो पुरुष आयुष करके वृद्ध हैं। तथा जो पुरुष न्याय मीमांसा सांख्य योग ज्योतिष व्याकरणादिक विद्या करके वृद्ध हैं। ते सर्व वृद्ध पुरुष आत्म ज्ञान वृद्धि करके सम्पन्न पुरुष के किंकर हैं तथा तिन आत्म ज्ञान निष्ट पुरुषों के शिष्यों के भी किंकर हैं ॥७८५॥

यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेदसः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥७८६॥

केनोपनि० खं० २ मं० २२॥

अर्थ—जिस पुरुष को ऐसा निश्चय है कि हम को ब्रह्मज्ञान नहीं है। तिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को ब्रह्म का संम्यक ज्ञान है और जो पुरुष वाचिक ज्ञानी है अर्थात् जो वाणी से ही ज्ञान कथन करे है। कि मैं ब्रह्म को जानता हूं सो ब्रह्म को नहीं जानता है ॥७८६॥

वाचो यस्मिन्निवर्त्तंते तद्वक्तुं केन शक्यते। प्रपंचो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्द विवर्जितः ॥७८७॥

तेजोविंदूप० अ० १ मं २१॥

अर्थ—जिस ब्रह्म में वाणी की गम्य नहीं है। अर्थात वाणी का विषय नहीं है। तिस ब्रह्म को वाणी से कथन करना अशक्य है। यदि प्रपंच वाणी से कथन करोगे तो सो प्रपंच भी रज्जु में सर्प की न्याईं स्वतः सत्ता शुन्य होने तैं शब्द का विषय नहीं है ॥७८७॥

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते। प्रतिबिम्बत शाखाग्र फलास्वादनमोदवत् ॥७८८॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० २२॥

अर्थ—जो बाह्य मुखी मूढ पुरुष ब्रह्म के साक्षात्कार ज्ञान से रहित है। और वाणी से ही कथन कर के वृथा ब्रह्मपना प्रकाश कर के प्रसन्न होवे है। ऐसे बाह्य मुख मूढ पुरुषों को प्रसन्नताई इस प्रकार की है जैसे जल के किनारे में वृक्ष की शाखा के अग्र भाग में स्थित जल

गत प्रबिंबित फल के भक्षण से जैसे स्वाद का अनुभव तथा क्षुधा की निवृत्ति होवे है तैसे ही है ॥७८८॥

मृता मोह मयी माता जाता बोध-मयः सुतः। सूतकद्वय संप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥७८९॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० १३॥

अर्थ—मोहरूपी माता मृत्यु को प्राप्त हुई है। तथा ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह दो प्रकार का सूतक भली प्रकार से प्राप्त हुआ है। हम किस प्रकार से सन्ध्या उपासना करें ॥७८९॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदाभासति भासति। नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥७९०॥

मैत्रे० उ० अ० २ मं० १४॥

अर्थ—हमारे हृदय काश विषे ब्रह्माभिन्नात्माचेतन सूर्य उदय हुआ है। न अस्त होता है। न उदय होता है सर्वदा काल एक रस प्रकाशमान है। हम किस प्रकार सन्ध्या उपासना करें ॥७९०॥

शंका—हे भगवन् ! परापरा विद्या का भेद कैसे है अर्थात् पराविद्या किस को कहे हैं तथा अपरा विद्या किस को कहे ॥ उत्तर—

द्वे विद्ये वेदीतव्ये इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥७९१॥

अर्थ—दो प्रकार की विद्या जानने योग्य है। इस प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष परा तथा अपरा विद्या कथन करते हैं ॥७९१॥

तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तदक्षरमधि गम्यते ॥७९२॥

अर्थ—तिन दोनों विद्याओं में से अपरा विद्या यह वक्षमान कथन करते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति। यह षट अंगों के सहित चारवेद अपराविद्या है। अथ परा जो है तत अक्षर है क्षर भाव से रहित अक्षर चिन्मात्र व्यापक शुद्ध ब्रह्म परा विद्या को प्राप्त होते हैं सो मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥७९२॥

अब ब्रह्मकारवृत्ति की निवृत्ति में दृष्टांत का निरूपण करे है। अविद्या की निवृत्ति से उत्तर काल में तत्त्वज्ञान की निवृत्ति के असम्भव तैं। विद्या की निवृत्ति काल में ही तत्त्वज्ञान की निवृत्ति या रीती से होवे है। जैसे जल में प्रक्षिप्तकत्तकरज तैं जल गत पंक का विश्लेष होवे है। ताके साथ ही कतकरज का भी विश्लेष होवे है। कतकरज के विश्लेष में साधनांतर की अपेक्षा नहीं। और तृण कूट में अंगार के प्रक्षेप तैं तृण कूट का भस्म होवे जब तब ताके साथ ही अंगार का भी भस्म होवे है। तैसे कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति होवे जब तब ताके साथ ही तत्त्वज्ञान रूपवृत्ति की भी निवृत्ति होवे है। या तैं तत्त्वज्ञान की निवृत्ति में साधनांतर की अपेक्षा नहीं है। और ज्ञानवान का किसी जगा में जाना आना नहीं है। शरीर के अधिष्ठान चेतन विषे विद्या तत्कार्य का लय होवे है जैसे रज्जु में सर्प का लय होवे है। तहां श्रुति—

न तस्य प्राणा उत्क्रामं त्यत्रैव सम वलीयंन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं

वेद ॥७९३॥ सुबालोपनिषत् खण्ड ३ ॥

अर्थ—तिस विद्वान् के प्राण शरीर से बाह्य लोकांतर को गमन नहीं करे हैं। तिस आत्मा में ही लय भाव को प्राप्त होवे हैं। जो विद्वान ब्रह्म को आपना आत्मा रूप कर के साक्षात्कार करे है। सो विद्वान ब्रह्म रूप हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥७९३॥

य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्त काम आत्म कामो। न तस्य प्राणा उत्क्रामं त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येत्यथैष ॥७९४॥

नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् खंड ५ ॥

अथवा ज्ञान का अज्ञान मात्र से विरोध है। अज्ञान के कार्य से ज्ञान का विरोध नहीं होने तैं तत्त्व ज्ञान से केवल अज्ञान की ही निवृत्ति होवै है। अज्ञान की निवृत्ति से उत्तर काल में उपादान के अभाव तैं कार्य की निवृत्ति होवै है। परन्तु देहादिक कार्य की निवृत्ति में प्रारब्ध कर्म प्रतिबंधक हैं। या तैं उक्त रीती से अविद्या लेश रहै है। जितने काल तक जीवन्मुक्त को देहादिकों की प्रतीति भी संभवै है। जब प्रारब्ध रूप प्रतिबंध का अभाव हुआ तब देहादिक और तत्त्व ज्ञान की निवृत्ति होवै है। या प्रकार में प्रारब्ध के अभाव सहित अविद्या की निवृत्ति ही तत्त्व ज्ञान की निवृत्ति का हेतु है। जिस तत्त्व ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होवे है। तिस तत्त्व ज्ञान के दो साधन हैं। उत्तम अधिकारी को तो श्रवणादिक साधन हैं। और मध्यम अधिकारी को निर्गुण ब्रह्म का अहं ग्रह उपासना ही तत्त्व ज्ञान का साधन है। यह सकल अद्वैत शास्त्र का सिद्धान्त हैं। परन्तु दोनों पक्ष में तत्त्व ज्ञान का कारण रूप प्रमाण प्रसंख्यान है यह कितने ग्रन्थकारों का मत है। वृत्ति के प्रवाह को प्रसंख्यान कहे हैं। जैसे मध्यम अधिकारी को निर्गुण ब्रह्माकार निरन्तर वृत्ति रूप उपासना कर्तव्य है। सोई ही प्रसंख्यान है तैसे उत्तम अधिकारी को भी मनन से उत्तर निदिध्यासन रूप प्रसंख्यान ही ब्रह्म साक्षात्कार का कारण है। यद्यपि षडविविध प्रमाण में प्रसंख्यान के अभाव तैं। ताको प्रमा की कारणता संभवै नहीं। तथापि सगुण ब्रह्म के ध्यान को निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की कारणता सकल श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है। जैसे व्यहित कामिनी के प्रसंख्यान को कामिनी के साक्षात्कार की कारणता लोक में प्रसिद्ध है। या तैं निदिध्यासन रूप प्रसंख्यान भी ब्रह्म साक्षात्कार का कारण संभव है। यद्यपि प्रसंख्यान जन्य ब्रह्म ज्ञान को प्रमाण जन्यता के के अभाव तैं प्रमाव का असंभव है। तथापि संभवादि भ्रम की न्याईं विषय के अबाध तैं प्रमात्व संभवै है। और निदिध्यासन रूप प्रसंख्यान का मूल शब्द प्रमाण है। या तैं भी ब्रह्म ज्ञान को प्रमात्व संभवै है। वृत्ति के प्रयोजन का कथन जीव चेतन से विषय का सम्बन्ध वृत्ति का प्रयोजन है। अज्ञान में प्रतिबिंबि जीव है। या पक्ष में जीव चेतन घटादिकों से सर्वदा सम्बन्ध है। परन्तु वीज के सामान्य सम्बन्ध से विषय का प्रकाश होवे नहीं। या तैं विषय के प्रकाश का हेतु जीव से विजातीय सम्बन्ध से वृत्ति का प्रयोजन है। जीव चेतन का विषय से सम्बन्ध सर्वदा है। परन्तु वह सम्बन्ध विषय प्रकाश का हेतु नहीं। वृत्ति विशिष्ट जीव का विषय तैं सम्बन्ध होवे तो

विषय का प्रकाश होवे है। या तैं प्रकाश का हेतु सम्बन्ध वृत्ति के अधीन है। सो प्रकाश का हेतु जीव का विषय तैं सम्बन्ध अभिव्यंजक अभिव्यंग्य भाव है। विषय में अभिव्यंजकता है। जीव चेतन में अभिव्यंग्यता है। जा में प्रतिबिंब होवे ता को अभिव्यंजक कहे हैं। जाका प्रतिबिंब होवे सो अभिव्यंग्य कहिये है। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिंब होवे है। जहां तहां दर्पण अभिव्यंजक है मुख अभिव्यग्य है। तैसे घटादिक विषयों में चेतन का प्रति बिंब होवे है। या तैं घटादिक अभिव्यंजक हैं। चेतन अभिव्यंग्य है। इस रीती से प्रतिबिंब ग्रहण रूप व्यंजकता घटादिक विषयों में है। प्रति बिंब समर्पण रूप व्यंग्यता चेतन में है। घटादिकों में स्वभाव से प्रति बिंब ग्रहण की सामर्थ्य नहीं किंतु स्वाकार वृत्ति सम्बन्ध तैं चेतन प्रति बिंब के ग्रहण के योग्य होवे हैं। जैसे दर्पण सम्बन्ध विना कुड्य में सूर्य का प्रतिबिंब होवे नहीं दर्पण सम्बन्ध से होवे है। यातैं सूर्य के प्रतिबिंब ग्रहण की योग्यता कुड्य में दर्पण सम्बन्ध से होवे है। जैसे दृष्टांत में सूर्य प्रभा का कुड्य से सर्वदा सामान्य सम्बन्ध है। और अभिव्यंजक अभिव्यंग्य भाव सम्बन्ध दर्पणाधीन है। तैसे जीव चेतन का विषय तैं सर्वदा सम्बन्ध है परन्तु वृत्ति सम्बन्ध तैं घटादिकों में जीव चेतन के प्रति बिंब ग्रहण की योग्यता होवे है। या तैं जीव चेतन घटादिकों से अभिव्यंजक अभिव्यंग्य भाव सम्बन्ध भी वृत्ति के अधीन है। इस रीती से जीव चेतन से घटादिकों के विलक्षण सम्बन्ध की हेतु वृत्ति है। यातैं विषय सम्बन्धार्थ वृत्ति है। ता सम्बन्ध तैं विषय का प्रकाश होवे है। जीव चेतन विभु है या पक्ष में विलक्षण सम्बन्ध की जनक वृत्ति है। और अंतःकरण विशिष्ट चेतन जीव है। पक्ष में तो वृत्ति विना जीव चेतन तैं घटादिकों का सर्वथा सम्बन्ध नहीं। इंन्द्रिय विषय के सम्बन्ध से अंतःकरण की वृत्ति घटादिक देश में जब जावे तब जीव चेतन का घटादिकों तैं सम्बन्ध होवे है। वृत्ति के बाह्य गमन विना अन्तर जीव का बाह्य घटादिकों तैं सम्बन्ध होवे नहीं। इस रीती से अंतःकरणावच्छिन्न परिच्छिन्न जीव है। या पक्ष में विषय सम्बन्धार्थ वृत्ति है। उक्त प्रयोजन वाली इन्द्रिय जन्य अन्तःकरण की वृत्ति जाग्रत अवस्था में होवे है इंन्द्रिय से अजन्य जो विषय गोचर अंतःकरण की अपरोक्ष वृत्ति है। ता की अवस्था को स्वप्नावस्था कहे हैं। स्वप्न में ज्ञेय और ज्ञान अंतःकरण का परिणाम है। सुख गोचर अविद्या गोचर अज्ञान का साक्षात्परिणाम रूप वृत्ति की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहे हैं। सुषुप्ति में अविद्या की वृत्ति सुख गोचर और अज्ञान गोचर होवे है। यद्यपि अविद्या गोचर वृत्ति जाग्रत में अहं न जानामि इस रीती से होवे है। तथापि यह वृत्ति अंतःकरण की है। अविद्या की नहीं यातैं सुषुप्ति के लक्षण की जाग्रत में अति व्याप्ति नहीं। तैसे प्राति भासिक रजताकार वृत्ति जाग्रत में अविद्या का परिणाम है। सो अविद्या गोचर नहीं। तैसे सुखार वृत्ति जाग्रत में है। सो अविद्या का परिणाम नहीं है। इस रीती से सुख गोचर और अविद्या गोचर अविद्या की वृत्ति की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहे हैं सुषुप्ति में अविद्या को वृत्ति में अरूढ साक्षी अविद्या को प्रकाशे है। और स्वरूप सुख को प्रकाशे है। सुषुप्ति अवस्था में सुखाकार अविद्याकार

परिणाम जिस अज्ञानांश का हुवा है। जिस अज्ञानांश में जिस पुरुष का अंतःकरण लीन है। जाग्रत काल में तिस अज्ञानांश का परिणाम अन्तःकरण होवे है। यातैं अज्ञान की वृत्ति से अनुभूत सुख की जाग्रत में स्मृति होवे है। उपादान का और कार्य का भेद नहीं होने तैं अनुभव स्मरण को व्यधिकरणता नहीं। इस रीती से तीन अवस्था हैं। मरण का और मूर्च्छा का भी कोई सुषुप्ति में अन्तर भाव कहे हैं। कोई पृथक् कहे हैं। यह अवस्था का भेद वृत्ति के अधीन है। जाग्रत स्वप्न में तो अन्तःकरण की वृत्ति है। जाग्रत में इन्द्रिय जन्य है। स्वप्न में इन्द्रिय अजन्य है। सुषुप्ति में अज्ञान की वृत्ति है। अवस्था का अभिमान ही बन्ध है। भ्रम ज्ञान को अभिमान कहे हैं। सो भी वृत्ति विशेष है। यातैं वृत्ति कृत बन्ध ही संसार है। और वेदांत वाक्य से अहं ब्रह्मास्मि ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति होवे है। ता से प्रपञ्च सहित अज्ञान की निवृत्ति होवे है। सोई मोक्ष हैं। यातैं वृत्ति का संसार दशा में तो व्यवहार सिद्धि प्रयोजन है। और परम प्रयोजन मोक्ष है। कल्पत की निवृत्ति अधष्टान रूप होवे है। यातैं संसार निवृत्ति मोक्ष है। या कहने तैं ब्रह्म रूप मोक्ष है। यह सिद्ध होवे है। यातैं कल्पित की निवृत्ति को कल्पित का ध्वंस मानि के मोक्ष में द्वैता पति दोष का कथन अज्ञान प्रयुक्त है। तहां श्रुति—

स्वप्ने जाग्रितं नास्ति जागरे स्वप्नता नहि। द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्यनयोर्न च ॥७९५॥

योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० ११॥

अर्थ—स्वप्न में जाग्रत नहीं है जाग्रत में स्वप्न नहीं है। द्वैत का लय नहीं है लय का भी अन्य में नहीं ॥७९५॥

त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रय विनिर्मितम्। अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येष चिदात्मकः ॥७९६॥

योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १२॥

अर्थ—जाग्रतादिक तीनों अवस्था मिथ्या ही हैं तीन गुणों से उत्पन्न होने तैं। इन तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा गुणों से अतीत है तथा नित्य है तथा यह द्रष्टा चिदात्मारूप है ॥७९६॥

यद्वन्मृदि घटभ्रांतिः शुक्तौ हि रजतस्थिति। तद्वद्ब्रह्मणि जीवत्वं वीक्षमाणे विनश्यति ॥७९७॥

योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १३॥

अर्थ—जैसे मृतिका में घट की भ्रांति है तथा शुक्ति में जैसे रजत स्थित है। तैसे ही ब्रह्म में जीव स्थित है विचार करने से जीव पना नाश हो जाता है ॥७९७॥

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा। शुक्तौहि रजतख्याति र्जीवशब्दस्तथापरे ॥७९८॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १४॥ **यथैव व्योम्ननीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले। पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥७९९॥** योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १५॥ **यथैव शून्यो वेतालो गंधर्वाणां पुरं यथा। यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थिति ॥८००॥** योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १६॥ **यथा तरंग कल्लो लैर्जलमेव स्फुरत्यलम्। घटनाम्ना**

यथा पृथवी पटनाम्नाहि तंतवः ॥८०१॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १७ ॥ जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैवकेवलम् । यथा बन्ध्या सुतो नास्ति यथा नास्ति मरौ जलम् ॥८०२॥ योगशिखोप० अ० ४ मं० १८॥ यथा नास्ति नभो वृक्षस्तथा नास्ति जगत्स्थितिः । गृह्यमाणे घटेयद्वन्मृत्तिका भाति वैबलात् ॥८०३॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० १९ ॥ वीक्ष्यमाणे प्रपंचेतु ब्रह्मैवाभाति भासुरम् । सदैवात्मा विशुद्धोऽस्मि ह्य शुद्धोभाति वैसदा ॥८०४॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० २० ॥ यथैव द्विविधा रज्जुज्ञानिनोऽज्ञानीनोऽनिशम् । यथैवमृन्मयः कुम्भतद्वद्देहोऽपिचिन्मयः ॥८०५॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० २१ ॥ आत्मानात्म विवेकोऽयं मुधैव क्रियतेबुधैः । सर्पत्वेन तथा रज्जु रजतत्वेन शुक्तिका ॥८०६॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० २२ ॥ विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता । घटत्वेन यथा पृथ्वी जलत्वेन मरीचिका ॥८०७॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० २३ ॥ गृहत्वेन हि काष्ठानि खड्गत्वेनैव लोहता । तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञान योगतः ॥८०८॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० २४ ॥ चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्तो न कर्हिचित् । जीवत्वं च तथा ज्ञेयंरज्वां सर्पग्रहो यथा ॥८०९॥ योगशिखोपनिषद् अ० मं० १ ॥ रज्जज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी । भाति तद्विच्चिति :साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥८१०॥ योगशिखोपनिषद् अ० ४ मं० २ ॥ नास्ति चित्तं न चाविद्या न मनो न च जीवकाः ब्रह्मैवैकना द्यंतमाब्धि वत्प्रविजृम्भते ॥८११॥

अन्न पूर्णोपनिषद् अ० ५ मं १०॥

अर्थ—चित्त नहीं है तथा अविद्या नहीं है तथा मन नहीं है तथा जीव भी नहीं है। आदि अंत सें रहित एक ब्रह्म ही है जैसे समुद्र में से तरंग उत्पन्न होते हैं। तैसे जगत रूप हुआ है ॥८११॥

यस्य श्रवण मात्रेणा श्रुत मेव श्रुतं भवेत । अमतं च मतं ज्ञातं मविज्ञातं च शाकल ॥ ८१२ ॥

पञ्च ब्रह्मोपनिषद् मं० २८ ॥

अर्थ—हे शाकल ! जिस एक वस्तु के श्रमण मात्र करके अश्रुति वस्तु का भी श्रवण होता है। तथा आमनन वस्तु का भी मनन होता है। तथा अज्ञात पदार्थों का भी ज्ञान होता है ॥८१२

एकेनैव तुपिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम ॥ विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम् ॥ ८१३ ॥

पंच ब्रह्मोपनिषद् मं० २९ ॥

अर्थ—जैसे एक ही मृतिका के पिंड के ज्ञान से यावत मृत्तिका के कार्य हैं हे गौतम सर्व मृण्मय यही हैं मृत्तिका से अभिन्न ही सर्व कार्य हैं ॥८१३॥

अच्युतोऽहमचिंत्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम् । अप्राणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥८१४॥

ब्रह्मविद्योपनिषद् मं० ८१ ॥

अर्थ—मैं अच्युत हूं मैं अचिंत्य हूं मैं तर्क का विष नहीं हूं । मैं अज हूं मैं प्राणों से रहित हूं । मैं शरीर रहित हूं । मैं अंगों से रहित हूं । तथा मैं भय रहित हूं ॥८१४॥

अशब्दोऽहमरूपोऽहम स्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः । अरसोऽहमगंधोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥८१५॥

ब्रह्मविद्योपनिषद् मं० ८२ ॥

अर्थ—मैं शब्द रहित हूं तथा रूप रहित हूं तथा मैं स्पर्श रहित हूं तथा मैं अद्वितीय हूं तथा मैं अरस हूं तथा मैं गंध रहित हूं तथा मैं अनादि हूं अमृतरूप हूं अर्थात मुक्तरूप हूं ८१५॥

अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम् । अप्राणोऽहममूकोऽहमचिंत्योऽस्म्य कृतोऽस्म्यहम् ॥८१६॥

ब्रह्मविद्योपनिषद् मं० ८३ ॥

अर्थ—मैं अक्षय हूं मैं अलिंग हूं अर्थात् चिन्ह रहित हूं । तथा मैं अजर हूं कला रहित हूं । तथा मैं प्राण रहित हूं तथा मैं अमूक हूं अचिंत्यरूप हूं तथा मैं अकृतम रूप हूं ॥८१६॥

अंतर्याम्य हमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः । अगोत्रोऽहमगात्रोःहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥८१७॥

ब्रह्मविद्योपनिषद् मं० ८४ ॥

अर्थ—मैं सर्व चराचर जीवों के हृदय देश में स्थित अन्तर्यामी हूं । मैं अग्राह्य हूं मैं सर्व उपदेश का अविषय हूं मैं सर्व लक्षण शून्य हूं । मैं गोत्र रहित हूं मैं गात्र रहित हूं मैं चक्षु रहित हूं मैं अवाग हूं इंद्रिय से रहित हूं ॥७१७॥

ब्रह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः । स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि ॥८१८॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादिक जाति तथा गोत्र तथा कुल तथा सुन्दर नाम यह सर्व स्थूल देह के धर्म हैं मैं स्थूलादिक शरीरों से भिन्न हूं यह धर्म मेरे नहीं हैं ॥८१८॥

क्षुत्पिपासान्ध्य बाधिर्यकामक्रोधादयोऽखिलाः । लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न संत्तिहि ॥८१९॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २३ ॥

अर्थ—क्षुधा पिपासा अन्धता बधर्ता काम क्रोधादिक यह सर्व धर्म लिङ्ग देह के हैं मैं सूक्ष्म शरीर का प्रकाशक तथा भिन्न हूं मेरे ये नहीं हैं ॥८१९॥

जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारण देहगाः । न संति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः ॥८२०॥

आत्मप्रबोधोपनिषत् मं० २४ ॥

अर्थ—जडत्वप्रिय मोदत्वधर्म कारण देहगत हैं । मैं नित्य स्वरूप के निर्विकार स्वरूप के नहीं हैं ॥८२०॥

उलुकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते । स्वप्रकाशेपरानंदेतमो मूढस्य जायते ॥८२१॥

आत्मप्रबोधेपनिषद् मं० २५ ॥

अर्थ—जैसे उलूक पक्षी को सूर्य के उदय हुए अन्धकार ही प्रतीत होता है । तैसे स्वयं प्रकाश परमानन्द आत्मा में मूढ पुरुषों को तम उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है ॥८२१॥

तीर्थे श्वपच गृहे वा तनुं विहाय जत्याति कैवल्यम् । प्राणानवकीर्यया़ति यः कैवल्यम् ॥८२२॥

पैङ्गलोपनिषद् अ० ४ मं० ५ ॥

अर्थ—विद्वान का शरीर तीर्थों में छूटे अथवा चंडाल के गृही में छूटें वा किसी अन्य स्थान में छूटे विद्वान सर्वथामुक्त ही है ॥८२२॥

अबविद्वान के निश्चय का निरूपण करे हैं—

अनुवन्धपरे जंताव संसर्ग मनाः सदा । भक्ते भक्त समाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥८२३॥ बालो बालेसु वृद्धेषु वृद्धोधीरेषु धैर्यवान् । युवा यौवन वृत्तेषु दुःखीतेषु सुदुःखधीः ॥८२४॥ धीरधीरूदिताऽऽनन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः । प्राऽऽज्ञःप्रसन्न मधरो दैन्यादपि गताऽऽशयः ॥८२५॥

अन्नपूर्णोपनिषद् मं० २९।३०।३१ ॥

अर्थ—यह उक्ततीनों श्रुति जीवन्मुक्त विद्वान के व्यवहार को स्पष्ट करके निरूपण करे है । तात्पर्य यह है । जब विद्वान महात्माओं को संसारी जनों का संसर्ग होवे तो भक्तों में भक्त होवै । और मूर्खों में मूर्खों की न्याईं स्थित होवै ॥८२३॥ तथा बालकों विषे बालक होवै । तथा वृद्धों विषे वृद्ध होवै तथा धैर्यवानों विषे धैर्यवान होवै । तथा युवा अवस्था वालों विषे यौवन अवस्था वालों की न्याईं होवै । तथा व्रतधारीयों में व्रतधारी होवै । तथा दुःखियों विषे दुःखी होवै ॥८२४॥ तथा धैर्यवान तथा प्रगट ब्रह्मानन्दमय मूर्त्ति तथा कोमल चित तथा पुण्यात्माओं का यश करने वाला तथा बुद्धिमान अर्थात् चिन्मय दृष्टि युक्त तथा प्रसन्न चित्त मधुरवाणी तथा दीनता से रहित गत आशय अर्थात् तीन प्रकार की एषणा से रहित होवै ॥८२५॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न न च साधिकः । न मुमुक्षु र्न वैमुक्त इत्येषां परमार्थता ॥८२६॥

अर्थ—निरोध प्रलय नहीं है तथा उत्पत्ति नहीं है । तथा कोई बद्ध कहिये संसारी जीव बन्ध भी नहीं है । तथा मुमुक्षु भी कोई नहीं है । तथा मुक्त भी कोई नहीं है । किंतु यह सर्व जगत परमार्थ चिन्मय ब्रह्म रूप है ॥८२६॥

इस प्रकार प्रजा सनकादिक महा मुनियों के उपदेश को श्रवण करिकै अपने आत्मा को ब्रह्म रूप निश्चय करिकै सनकादिक मुनियों का ईश्वर की न्याईं पूजन करिकै सनकादिक मुनियों का धन्यवाद करते हुये अपने २ गृह को जाते भये और अपने २ वर्णाश्रम के अनुसार कर्मों को करते हुये अपने शरीर के प्रारब्ध को भोग के शरीर त्याग तैं अनन्तर विदेह मुक्ति को प्राप्त हुये । और ईश्वर अन्तरःयामी परमात्मा देव के उपदेश को श्रवण करिकै सूर्यादिक देवता अपने आत्मा को ब्रह्म रूप निश्चय करिकै ईश्वर परमात्मा का पूजन करते हुये धन्यवाद किया और ईश्वर परमात्मा की आज्ञानुसार स्वस्व गोलकों में स्थित होइकै ज्ञातज्ञेय हुये चिन्मय दृष्टि को आश्रय करिकै प्रलय पर्यंत सृष्टि के व्यवहार के निर्वाहक हुये

हैं । यह वार्ता लोक में तथा शास्त्र में प्रसिद्ध ही है कि देवता इंद्रियों के प्रेरक हैं। और सृष्टि की मर्यादा के निर्वाहक हैं ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया। ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा ॥८२७॥

यत्पूर्णानन्दैक बोधस्तद्ब्रह्मैवाह-मस्मीति । कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति ॥८२८॥ परमहंसोपनिषद् ।

यत्र यत्र म्रियेद्वापि न स भूयो-ऽभिजायते न स भूयोऽभिजायते ८२९

अमृतनादोपनिषद् मं० ३१ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठा स्त-त्परायणाः । गच्छत्य पुनरावृतिं ज्ञान निर्धूत कल्मषाः ॥८३०॥

गी० अ० ५ श्लो० १७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तिस परब्रह्म विषे है बुद्धि जिनों की तथा सो परब्रह्म ही है आत्मा जिनों का तथा तिस परब्रह्म विषे ही है। निष्ठा जिनों की तथा सो परब्रह्म ही है प्राप्त होने योग्य जिनों को तथा ज्ञान करके निवृत्त हुए हैं पुण्य पाप कर्म जिनों के ऐसे विद्वान संन्यासी अपुनुरा वृत्ति को प्राप्त होवे हैं ८३०॥

इदं ज्ञान मुपाश्रित्य ममसाधर्म्य-मागताः । सर्गेपि नोपजायंते प्रलये नव्यथंति च ॥८३१॥ गी० अ० १४ श्लो० २॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

ओं तत्सत् ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

इति श्रीमत्स्वामी जेठासिंह पूज्यपाद शिष्य श्रीस्वामी गूजरसिंह विरचितः । ईश्वर देवता सम्वाद ग्रन्थः समाप्तः । सम्वत् १९७७ चैत्र ८ मंगल दिन कृष्णपक्ष द्वादशी १२ तिसी को द्वितीय आवृत्ति का सम्वत् १९८५ आश्वन प्रविष्टाः १४ शुक्ला पक्ष पूर्णमासी दिन शनी ॥ इति ॥

ब्रह्मा का एक दिन जिसको कल्प कहते हैं उसके।

चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति । तावता कालेन पुनस्तस्य रात्रि र्भवति ॥८३२॥

अर्थ—हजार चौकड़ी युगों की व्यतीत जाने से ब्रह्मा जी का एक दिन होता पुनः उतना ही काल व्यतीत जाने से तिस की रात्रि होती है ।

द्वे अहोरात्रे एकं दिनं भवति । तस्मिन्नेकस्मिन्दिने आसत्यलोकान्त मुदय स्थितिलया जायन्ते ॥८३३॥ पंच दश दिनानि पक्षो भवति। पक्षद्वयंमासो भवति । मासद्वय मृतुर्भवति। ऋतुत्रय मयनं भवति ॥८३४॥ अयनद्वयंवत्सरो भवति । वत्सरशतं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः परमायुः प्रमाणम् । तावत्कालास्तस्य स्थिति रुच्यते ॥८३५॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् अ० ३ ॥

सहस्रयुग पर्यंत महर्यद्ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रांतांतेऽहोरात्र विदोजनाः ॥८३६॥ गी० अ० ८ श्लोक १७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष ब्रह्मा के चतुर्युग सहस्र पर्यंत दिन को जाने है तथा चतुर्युग सहस्र पर्यंत रात्रि को भी जाने हैं ते योगीजन ही

दिन रात्रि को जानने हारे हैं। जो एक दिन है सो हजार चौकड़ी युग तक अवधि वाला है और रात्रि भी हजार चौकड़ी युग तक अवधि वाली है जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं अर्थात् काल करिकै अवधि वाला होने से ब्रह्म लोक को भी अनित्य जानते हैं। वे योगी जन काल के तत्त्व को जानने वाले हैं

तहां सत्रह लक्ष अठाइस सहस्र वर्ष १७२८००० सत्य युग का परिमाण होवै है। और बारह लक्ष छियानवें सहस्र वर्ष १२९६००० त्रेता युग का परिमाण होवै है। आठ लक्ष चौसठ सहस्र वर्ष ८६४००० द्वापर युग का परिमाण होवै है। और चारी लक्ष बत्तीस सहस्र वर्ष ४३२००० कलियुग का परिमाण होवै है। यह चारों युग जभी एक सहस्र वार व्यतीत होवे हैं तभी प्रजापति नामा ब्रह्मा का एक दिन होवे है। इसी प्रकार यह चारीयुग जभी एक सहस्र वार व्यतीत होवे हैं। तभी तिस ब्रह्मा की एक रात्रि होवे है। यह ही ब्रह्मा के दिन रात्रि का परिमाण (चतुर्युग सहस्रं तु ब्रह्मणो दिन मुच्यते) इत्यादिक पुराण के वचनों विषे भी कथन किया है इति।

चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति। तावता कालेन पुनस्तस्य रात्रि र्भवति ॥८३७॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् अ० ३॥

अट्ठाईस चौकडी युग व्यतीत चुके हैं। यह अट्ठाईसवां कलियुग है जिस युग के सम्वत् १९८५ तक ५०३० वर्ष व्यतीत चुके हैं छः मन्वंतर व्यतीत चुके हैं। सातवां मन्वंतर वर्तमान है। इति॥

तदाजीवः सर्वे प्रकृतौ प्रलीयंते। प्रलये सर्व शून्यं भवति ॥८३८॥

त्रिपाद्विभू०

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा॥

स्वामी गुज्जरसिंह।

शुद्धि पत्र ।

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			भूमिका ।	
३	२	१५	(आयनाय)	(अयनाय)
३	२	१७	तत्त	तत्व
३	२	२८	सांख्येन न कर्मणा	सांख्येन कर्मणा
३	२	२९	विद्याया	विद्यया
४	१	२	ही ही	ही
४	२	८	यः	याः
६	२	१	निरतिशयं	निरतिशय
७	१	२	नारायणाहि०	नारायणाद्धि०
७	२	३	काल होवे	का लय होवे है
७	२	२१	मूर्तीमूर्ते	मूर्तामूर्ते
१२	१	१७	ब्रह्माणमुवाच	ब्रह्मोवाच
१२	१	२०	शरभोपनिषत	शरभोपनिषत् मं.३२
१३	१	२७	बाह्यवृात्तयों	बाह्यवृत्तियों
१४	१	२४	ोक्ष	मोक्ष
१४	१	२७	यत्न	प्रयत्न
१४	२	१५	अभिष्वंग	अनभिष्वंग
१७	१	१०	ब्रह्म गी०अ०१८	ब्रह्म गी० अ० ११
१७	१	१८	अ०९२ श्लोक ३४	अ० १२ श्लोक ३५
१८	२	७	अ० ५ मन्त्र ५७	अ० ५ मन्त्र ५८
१८	२	२०	यथैवेस्तथागुरुः	यथैवेशस्तथागुरुः
२१	१	१७	तात्पर्थे	तात्पर्य
२१	१	१९	आत्मज्ञाव	आत्मज्ञान
२१	१	२३	पहुचाता है	पहुंचता है
२१	२	१३	दैत्योंका	दैत्योंको
२४	१	१३	त्याथ	साथ
२४	२	१३	हत्कुशेशय	हृत्कुशेशय
२६	१	२०	प्राणात्प्रयतरं	प्राणात्प्रियतरं
२६	२	११	श्रुत्वा स्पृष्ट्वः	श्रुत्वा स्पृष्ट्वा
२६	२	१४	सुना कर	सुन कर
२९	२	२५	अज्ञान ज्ञान	ज्ञान
३०	१	९	अज्ञा	अज्ञान
३०	२	४	चैतन्यस्यैकक	चैतन्यस्यैक
३०	२	२५	सर्प	सर्वं
३१	२	१५	स्वाभिक	स्वभाविक
३३	२	८	मालिनी	मलिना
३३	२	२९	विकालयस्य	विकलयस्य
३६	१	२२	महशया	महाशया
३६	२	८	चिंतनयं	चिंतनीयं
३६	२	२१	वेदवदांत	वेदवेदां
३७	१	१	ह्यतम्	ह्यितम्
३७	२	३	ना नेकेषु	ना ऽनेकेषु
४७	२	८	जिस	तिस
४७	२	१६	पुरुष ताई	पुरुष के ताई
४७	२	२२	नामा	मा मा
४७	२	२२	अवीर्यवति	वीर्यवति
४७	२	२२	ऽयतायन	शठाय
४७	१	२७	तत्त्वाय	तत्त्वाया
४८	२	२२	न्या	अन्य
५३	१	२१	कर्म पंच	कर्म इंद्रिय पंच
५९	१	२९	वाली की	वाली पृथ्वी की
६०	२	१८	मायांत	मायांतु
६०	२	२१	अ० ५	अ० ४
६४	२	४	माणो	मापो
६५	१	१०	सोद्धय	सोऽद्धय
६७	१	११	प्रापर्ते	प्रापतं
६७	१	११	स्तमशानाया	स्तमशना
६८	१	१२	पवमब्रु०	पनमब्रुव०
६८	१	१४	अन्नमदीमति	अन्नमदामेति
७२	२	७	ताक्षुधाता	ताक्षुधा तथा
७४	२	२	त्रैकालवाच्य	त्रैकालावाध्य
७४	२	४	होवे ना	होवे
७६	१	१७	तदेतदभिसृष्टम्	तदेतत्सृष्टम्
७६	२	३०	तत्वचा	त्वचा
७७	१	२८	सै पषो	सैषो

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१	३२	हैं	कहें
८६	२	१७	यद्यपि रात सौ	यद्यति स्तै
९४	१	९	याकार	प्रकार
१०२	२	२६	जैनेव	जैनवै
१२२	१	१९	क्षान	ज्ञान
११५	२	१२	आपकाशाकार	आकाशाकार
[illegible]१७	१	८	ले	लेके
[illegible]२७	२	१२	देषे प्राप्त	देश की प्राप्ति
[illegible]२	१	१३	यस्त्व	यस्तु
[illegible]	१	१६	अधाष्ठ	अधिष्ठान
[illegible]	२	१६	वर्थता	व्यर्थता
[illegible]	२	१७	अभ्यासभ्य	अभ्यागस्य
[illegible]	२	१२	सुषुप्त्यारि	सुषुप्त्यादि
[illegible]	[illegible]	१	दूसरे को	दूसरे शरीर को
[illegible]	[illegible]	१	होवे हैं	विद्वान के खान पान व्यवहार होवे हैं
[illegible]	२	२४	रूपोयज्ञं	तपोयज्ञं
[illegible]	२	१६	मतं पस्थ	मतं मतं यस्य
[illegible]	२	१६	नहीं	ही
[illegible]	१	६५	भी तमी	भी
[illegible]८	२	३०	क	कर्म
२७६	१	५	त्सक्त	त्यक्त
२९३	२	६	शालारूपी शालाके	शाला के
२९६	१	२५	यक्ष	क्षय
३०१	२	४	करने	करने से
३०१	२	८	पुरं	परं
३१२	२	१	अस्मन्येव	आत्मन्येव
३३०	१	१९	आपा मापो	अपामपो
३३७	१	३२	करकै	करकै पद
३५७	१	४	मपि	मयि
३६०	२	२७	प्रद्धिद	प्रसिद्ध
३६१	१	२१	का	के
३६१	१	२१	अभाव	अभावका ज्ञान
३६४	२	२३	निरोहि	निरोधो हि
३७४	१	१	शुण	गुरु
३७६	१	४	कथन है सो भी	कथन भी
३७९	१	१०	क्षपा	क्षया
३७९	२	१८	महाक्य	महा वाक्य
३८५	२	२३	बनै	बनै नहीं
३९५	१	११	पेक्षऽहं	पेक्षोऽहं
३९५	१	१६	जनि	अपनी
४०३	१	२३	नया	गया
४०५	१	२८	होवै	होवै है
४१२	२	५	वर्ण आश्रमा	वर्णाश्रमा
४२३	२	१८	परिव्राज०	नारद परिव्राजः
४३४	२	६	ध्यामे	ध्याये
४३५	१	२०	हे ब्रह्म	ब्रह्म
४३५	१	२१	न वासना	वासना
४४५	२	१३	विम	मिव
४६४	१	२०	पूजता	खुजता
४६४	१	२६	वाणी	पाणी
४६४	१	२७	वादु	पायु
४६५	२	१३	गुरु	गुण
४६६	२	२४	उदेश	उपदेश
४६८	२	४	देखती	देखीते
४७१	२	८	षडविविध	षडविध
४७५	२	१६	संभब	संभवै
४७१	२	१८	के के अभाव	के अभाव
४७५	२	२६	बीज	जीव
४७६	२	२	पक्ष	यां पक्ष
४७६	२	२६	सुखार	सुखाकार
४७८	२	३	रज्ज	रज्जु
४७८	२	२५	थिन्नं	भिन्नं